उत्तमा परीक्षोपयोगी

साहित्यरत्न प्रश्न-पत्र उत्तर सहित

प्रथम पत्र

सं० २००२ से २००६ तक



लेखक

श्री सुगण चन्द शास्त्री, साहित्यरत्न



प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली।

प्रथम संस्करण   सं० २००७   मूल्य २॥)

प्रकाशक—
श्री रामचन्द्र गुप्त,
व्यवस्थापक
रीगल बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली।

सूचना

साहित्यरत्न के अन्य सात प्रश्न-पत्र भी उत्तर सहित विभिन्न २ विद्वानों द्वारा प्रणीत तैयार हो गए हैं। आवश्यकता अनुसार आर्डर दें।

मुद्रक—
ईश्वर चन्द, बी० ए०,
स्वतन्त्र भारत प्रेस,
४२२, कूचा दुलाकी बेगम,
ऐस्प्लेनेड रोड, दिल्ली।

उत्तमा परीक्षा (सं० २००२)

प्रथम पत्र (हिन्दी साहित्य)

प्र० १. निम्न लिखित अवतरणों में से केवल चार की व्याख्या सन्दर्भ सहित लिखिये और उनमें आये अलंकारों का भी निर्देश कीजिये ।

नोट—सूर, कबीर विद्यापति, नन्ददास और केशव के पद्य-संग्रह इस वर्ष बदल कर नवीन नियत हुए हैं । अतः उनके पद्यों के अर्थ छोड़ दिये गये हैं ।

उत्तर—(ख) दसन चौक..............दरकि ।

यह पद्य पद्मावत के नख-सिख खण्डका है । तोता राजा के आग्रह पर पद्मावती के नख-शिख का वर्णन करता है । इस पद्य में पद्मावती की दन्त-पंक्ति का वर्णन हुआ है ।

दांतों का चौक (पहिले ऊपर नीचे के दो दो दांतों को चौक कहा गया है) ऐसा है, मानो हीरे (श्वेत रत्न) जड़े हों और उनके बीच-बीच में गहरा श्याम वर्ण है, जैसे भाद्रपद मास की (काली) रात में बिजली दिखाई पड़ती है, ऐसे ही वह सुन्दर दांतों की पंक्ति चमक उठती है । वह चमक हीरे को भी निष्प्रभ कर देती है, बल्कि हीरे की जाति तो उसकी (दन्तद्युति की) परछाहीं-सी है । जिस दिन यह दन्तद्युति बनाई गई थी, (उस दिन) उस ज्योति (चमक) से अनेक ज्योतियां (उत्पन्न) हो गईं (उस ज्योति से अनेक पदार्थ चमकने लगे) । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र (तारे) और अन्य रत्न माणिक मोती आदि पदार्थ उसी की ज्योति (कान्ति) से चमकने हैं । (यहां जायसी के आध्यात्मिक प्रियतम का संकेत मिलता है, जिसके तेज से रवि शशि प्रकाश करते हैं) । जहां-जहां भी खूब हंसकर हंसी शोभित हुई, वहीं-वहीं, छिटक कर (बिखरकर) ज्योति विकसित हो गई । विद्युत्

की चमक भी उसकी समानता को नहीं पहुँचती, फिर उस ज्योति जैसी दूसरी ज्योति और कौन हो सकती है? (जायसी के प्रिय की ज्योति सब मे अतीत है। पद्मावती के नख-शिख-वर्णन से आध्यात्मिक प्रिय के रूप का संकेत दिया गया है।)

हँसते में दांत ऐसे चमक उठते हैं, मानो (मूल्यवान्) पत्थर (हीरे आदि रत्न) झलक उठे हों। अनार जो इनकी समता नहीं कर सका, इसीलिए उसका हृदय दरक कर फट गया (अनार खूब पकने पर ऊपर से स्वयमेव फूट या फट जाता है)।

नोट—प्रश्न पत्र में 'नदरकि' पाठ अशुद्ध है, 'दरकि' चाहिए।

उपर्युक्त पद्य में जायसी के आध्यात्मिक संकेतों के अतिरिक्त अनेक सादृश्यमूलक अलंकारों की बहार है। प्रथम पंक्ति या अर्द्धाली में उत्प्रेक्षा है, मानो हीरे जड़े हों।

दूसरी पंक्ति में उपमा है, दन्तद्युति बिजली जैसी चमकती है। तीसरी में व्यतिरेक है, दांतों के सामने हीरा कुछ नहीं। पांचवीं चौथी में अतिशयोक्ति है असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना की है। सातवीं मे उपमान का ही निषेध किया गया है। दोहे में हेतूत्प्रेक्षा है। अहेतु को हेतु मानकर संभावना की गई है।

(घ) जो पै रहनि........................अलोने॥

विनय-पत्रिका का पद्य है। तुलसी राम से विमुख जीवन को व्यर्थ बताते हैं।

यदि राम से रति नहीं है, तो मनुष्य गधे, कुत्ते और सूअर के समान ही जगत् में वृथा जीता है (विषयासक्त होकर)। कामैषणा, क्रोध, अहंकार लोभ, नींद, भय, भूख और प्यास का सभी (पशु पक्षी मनुष्य) अनुभव करते हैं। मनुष्य शरीर की जो देवता और साधु पुरुष सराहना करते हैं, सो वह (केवल) सीतावर श्रीराम के स्नेह से ही। (राम-भक्त होकर ही मनुष्य जीवन देवता आदि की प्रशंसा का पात्र बनता है।) पुत्र शूर हो, चतुर हो, सुलक्षणों वाला भी हो, और जिसके गुण-गौरव का भी चाहे

सम्मान किया जाता हो, किन्तु यदि वह राम-भक्ति से रहित है तो इन्द्रायण (एक कटु फल) के फल के समान है, जो अपनी कटुता नहीं छोड़ता। यश, वंश, बड़े कार्य, बड़ा ऐश्वर्य, अच्छा स्वभाव और सुन्दर रूप, तुलसी कहते हैं, ये सब प्रभु (राम) के भजन के बिना ऐसे हैं, जैसे बिना नमक के सालन का साग (बढ़िया भी सब्जी बिना नमक के अच्छी नहीं लगती, एवं कीर्ति आदि भी राम भजन के बिना किसी काम की नहीं) ।

प्रस्तुत पद्य में महाकवि तुलसी ने उपमा का—लुप्तोपमा पूर्णोपमा मालोपमा का—अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग किया है, जिससे भाव अधिक विशद और प्रभावक हो जाता है।

(ङ) (च) (छ) पद्य परीक्षा में नहीं हैं।

(ज) मीरां लागी··················न होई ॥

प्रस्तुत पद्य मीरा की पदावली का है। मीरा ने अपनी अनन्य रति का वर्णन किया है।

मीरा को तो हरि का रंग (हरा रंग और कृष्ण का प्रेम) चढ़ गया है, (इसलिए अब) और रंगों के लिए अटक (बाधा) पड़ गई है (हरे या नीले रंग पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता)। हमारी तो चूड़ियाँ (सुहाग का चिन्ह) इस समय तिलक और माला (भक्ति के चिन्ह) हैं और शृङ्गार शील (सच्चरित्रता) एवं व्रत (नियमाचरण) हैं [संसार छोड़ कर भक्ति-मार्ग में आगई है)। और कोई भी शृङ्गार हमें अच्छा नहीं लगता, हमारे तो गुरु का ज्ञान यही है। कोई निन्दा करे, चाहे कोई स्तुति करे, मैं तो गोविन्द के गुण गाऊँगी। जिस मार्ग से हमारे स्वामी जायेगे, उसी मार्ग से मैं जाऊँगी। चोरी नहीं करूंगी, किसी जीव को नहीं सताऊँगी, कोई हमारा क्या करेगा? हाथी से (राज्य कुल) से उतर कर गधे पर नहीं चढ़ूंगी, यह बात तो कभी नहीं हो सकती (इतने उच्च पद से उतर कर कोई नीच कार्य नहीं होगा, कोई ऊँचा धर्म कृत्य ही होगा)।

पद्य में, काव्य लिङ्ग, रूपक, लोकोक्ति अलङ्कार हैं, जो स्वतः भाव-प्रकाशन के लिए स्वाभाविक रूप में आये हैं, हठाकृष्ट नहीं।

प्रश्न—निर्गुण और सगुण उपासना के दृष्टि-कोण की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये और दोनों मार्गों के अन्तर्गत भक्ति-मार्ग की रूप-रेखा स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—वीरगाथा काल के अन्त पर, हिन्दी साहित्य में, प्राचीन काल से चली आती हुई, श्रीमद्भागवत-प्रतिपादित भक्ति-पद्धति की भिन्न धाराएँ [illegible] दो रूपों में होकर चली थी। अवश्य ही भक्ति के इस द्विविध रूप का कारण तात्कालिक दशा-विशेष ही थी। इसी परिस्थिति के वश होकर पहिले वह धारा बही, जो ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप का आश्रय लेकर चली और दूसरी पश्चात् वह चली, जो भगवान् के प्रत्यक्ष स्वरूप अवतारी रूपों को लिये थी। पहिली का आधार वेदान्त का शुद्धाद्वैतवाद था और दूसरी का भागवत-प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवाद या द्वैतवाद था। पहिली को निर्गुण धारा कहा जाता है और दूसरी को सगुण।

निर्गुण धारा का प्रधान सिद्धान्त है, ब्रह्म एक है, सत्य है और इसके अतिरिक्त जो कुछ है असत्य है, जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं (जीवो ब्रह्मैव नापरः)। जीव ब्रह्म का माया-विशिष्ट सीमित रूप है और माया [illegible] असत्य है। वास्तव में दोनों में कोई भेद नहीं। जीव ज्ञान और [illegible] द्वारा अपनी सीमितावस्था को त्यागकर असीमावस्था को प्राप्त हो सकता है। यही इसके मत में मोक्ष दशा है। यद्यपि ये लोग भी निराकार ब्रह्म के साकार रूप की सत्ता स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि ब्रह्म माया [illegible] होकर विश्व में पदार्पण कर सकता है, तथापि ये उसे सर्व व्यापक पूर्ण ब्रह्म नहीं मानते और उसकी उपासना को भी अज्ञान-जनित मानते हैं। वस्तुतः ये भागवत-वर्णित अवतारवाद के इन अवतारों में आस्था न रखकर निर्गुण ब्रह्म को ही अपनी आस्था का आधार बनाते हैं। [illegible] (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं)। अत-एव [illegible] उसको अज्ञानमूलक मानकर [illegible] सदाचारपूर्ण आचरण [illegible] अद्वैत दृष्टि में ऊँच-नीच [illegible] अतएव ये जातिविशेष सबको

[illegible]

भक्ति का अधिकारी समझते थे। सदाचरण के साथ ये योग मार्ग के सिद्धांतों को भी मानते थे और उनके द्वारा शरीर-चित्त-शोधन को भगवल्लाभ में सहायक मानते थे। अतएव निर्गुणी भक्तों की वाणी में योग के अंगों का भी वर्णन मिल जाता है।

किंतु कोरे ज्ञानवाद को ले लेने से तो भक्ति मार्ग नहीं बन जाता। उसके लिए मन की रागात्मिका वृत्ति की आवश्यकता है। भक्ति का लक्षण है, देवता आदि विषयक रति को भक्ति कहते हैं। अर्थात् स्त्री पुरुष विषयक प्रेम में केवल माधुर्य भाव रहता है और देवता विषयक प्रेम मे श्रद्धा और धार्मिकता मिलजाती हैं, इससे माधुर्य के साथ पूज्य भावना भी उसमे रहती है। अतः ये ज्ञानमार्गीय संत ज्ञान के साथ-साथ प्रेम का भी आश्रय लेते थे। ये ज्ञान द्वारा ब्रह्म सृष्टि की एकता को मानते हुए भी प्रेम के द्वारा उस अनन्त प्रेममय सत्ता के पास पहुंचना चाहते थे। अर्थात् इनके मत में ज्ञान और प्रेम दोनों से परमात्मा का लाभ हो सकता है। किंतु प्रेम जैसी स्थूल वृत्ति अनन्त निराकार ब्रह्म में कैसे स्थिर हो सकती है? उसके लिये तो कोई ऐसा आधार चाहिए जो साकार हो, सीमित हो। अतः इन्हें भी निराकार का प्रेमोपासना के लिए कोई न कोई रूप कल्पित करना ही पड़ता था। किसी ने उसे प्रिय के रूप में और किसी ने प्रिया के रूप में देखा। इसी प्रकार पुत्र-पिता, बन्धु, गुरु आदि के सम्बन्धों से भी देखा। अभिप्राय यह है कि कोई निश्चत रूप स्थिर किये बिना उसकी उपासना असम्भव थी। इस दृष्टि से सगुण भक्तों से इतना मात्र अन्तर है कि सगुण भक्त परमात्मा के अवतारी रूपों मे उतनी ही आस्था रखता है, जितनी कि उसके निराकार रूप में, किंतु निर्गुण भक्त ईश्वर के एक ही निराकार रूप में विश्वास रखते हुए उसके अन्य अवतारों में विश्वास नहीं रखते और मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं। परन्तु आकार-कल्पना—चाहे वह किसी भी रूप में हो—उन्हें भी अपने एक ईश्वर की करनी पड़ती है। क्योंकि अन्यथा भक्ति के लिए कोई मार्ग नहीं।

निश्चय ही ये उपर्युक्त प्रेमवाद और एकेश्वरवाद मुसलमानी सूफी धर्म के प्रभाव से आये हैं। मुसलमान आक्रान्ताओं से पहिले ही, सिन्ध में

अनेक मुसलमान सूफी फकीर आ गये थे और वे यहां के धार्मिकों में खूब मिल रहे थे। उन्होंने जब भारतीय अद्वैतवाद का और योग का अध्ययन किया तो उन्हें अपने सिद्धान्तों से इनकी बहुत उच्चता मिली। फलस्वरूप उस समय एक ऐसी उपासना-पद्धति का जन्म हुआ जो हिन्दु मुसलमान दोनों के लिए ग्राह्य थी, जिसका आधार अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद और पैगंबरी खुदा वाद था, जिसमें बिना किसी भेद-भाव के सबको प्रेम-भाव से ईश्वरोपासना का अधिकार था। यद्यपि यह प्रेमोपासना भारत में भी अनन्तकाल से प्रचलित थी, जिसको भक्ति मार्ग कहा जाता था, तो भी उस भारतीय भक्ति और इस सूफी प्रेमवाद में अन्तर था। पहिली भावना में श्रद्धा और माधुर्य दोनों हैं और दूसरी पद्धति में केवल माधुर्य की मादकता है। इस नवीन समान पद्धति में जिस प्रेम तत्व का ग्रहण हुआ, वह सूफियों का ही प्रेम तत्व था। इसी को हिन्दी के निर्गुण पन्थियों ने स्वीकार करके इसका आगे विकास किया। कबीर से भी पहिले नामदेव, ज्ञानदेव आदि निर्गुण भक्त हो चुके थे। कबीर ने इसी को और परिष्कृत रूप दे निर्गुण पंथ को अधिक जोर से चलाया। उनके पश्चात् तो इस पंथ के आगे अनेक विकास हुए और यह सर्वत्र फैला।

इनका दृष्टिकोण भी नवीन परिस्थिति के अनुकूल ही था। हिन्दु मुसलमान, ऊँच नीच के भेद-भाव को मिटाना, इसके उत्पन्न करने वाले धर्म और समाज के स्थूल आचार धर्मों को मिटाना, विषय वासना, हिंसा, कठोरता आदि का नाश करना, स्थूल आडम्बरों से परे रह कर सदाचारमय जीवन बिताना, सत्य, दया आदि मानव धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना आदि इनके लक्ष्य थे। अपने विरोधियों का या अनभिमत सिद्धांतों का कटु खण्डन करना, जगत् और उसके व्यवहार की निन्दा करके अन्तः साधना और अन्तः शोधन पर ही बल देना, त्याग तपस्या और योग के साधनों का आश्रय लेना आदि इनके प्रतिपाद्य विषय थे। सर्वत्र स्त्री पुरुष, ऊँच-नीच, धर्मी विधर्मी सबको एक भाव से देखने का इनका उपदेश था। शब्द, नाम, गुरु, ब्रह्म, जीव, माया, जगत् आदि इनके विशेष प्रतिपाद्य विषय थे।

इसके विपरीत, सगुण भक्त ब्रम्ह के निर्गुण रूप में भी विश्वास रखते हुए, उपासना या भक्ति के क्षेत्र में उसके केवल साकार सगुण रूप का ही आधार लेकर चले। भगवान् के निराकार रूप को वे केवल ज्ञानियों की वस्तु ही मानते थे। क्योंकि निराकार ब्रम्ह रूप स्थूल मन की स्थूल प्रेम भावना का आश्रय नहीं बन सकता। ज्ञान के द्वारा उस रूप के दर्शन कोई विशेष ज्ञानी ही कर सकता है। सर्वसाधारण नहीं। अतः सगुण भक्तों ने भगवान् के भागवत-वर्णित साकार अवतार रूपों को लेकर ही सर्व-साधारण के लिए भक्ति धर्म का उत्थापन किया। वे लोग अवतारवाद में विश्वास करने वाले, भगवान् के निराकार रूप को तिरोहित और अवतार रूप को प्रत्यक्ष मानते हैं। प्रत्यक्ष को छोड़कर तिरोहित के पीछे क्यों भागा जाय ?

ये लोग मानते हैं प्रकृति (माया, जो रूप-गुण सम्पन्न और अतएव द्रष्टव्य है) और पुरुष (ब्रम्ह जो निराकार है और अतएव अद्रष्टव्य है) दोनों ही अनादि हैं, अन्त में भी दोनों की सत्ता रहती है। भगवान् के यदि दर्शन होते हैं, तो माया सम्वलित रूप मे ही, क्योंकि रूप और गुण माया के धर्म हैं जो इन्द्रिय-गोचर होते हैं। ब्रम्ह तो अलक्ष्य चैतन्य रूप है, जिसकी केवल अनुभूति ही हो सकती है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन माया का आश्रय लेकर ही सम्भव है। अवतार भगवान् के ऐसे ही मायाश्रित प्रत्यक्ष रूप हैं। अतः उनकी उपासना ही वस्तुतः भगवान् की उपासना है, जोकि सर्व सुलभ है। इनकी भक्ति में रति के साथ श्रद्धा भी पूर्ण रहती है। माधुर्य और मस्ती के साथ इष्टदेव के प्रति पूज्य भावना कहीं नहीं छूटती। अतएव निर्गुण-पंथियों के प्रेम के समान इनके प्रेम में कोरी मादकता ही नहीं रहती, प्रत्युत उसमें श्रद्धा भी रहती है, जिससे भक्ति और प्रेम की मर्यादा बनती है। इन्होंने, पिता पुत्र, स्वामी सेवक आदि की पूज्य भावनाओं से अपने इष्ट देव की उपासना की है। इनके मत में भक्ति की मर्यादा का पालन करता हुआ, जीव आत्म समर्पण द्वारा अपनी जीव दशा खोकर भगवल्लाभ कर सकता है। जीव को चाहिए वह अपना प्रत्येक कृत्य भगवान् के लिए

करे, अपने लिए कुछ न करे और इस प्रकार के निरन्तर आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णतया भगवदर्पित हो जाय। उसकी मुक्ति हो जायगी।

दृष्टि-कोण इनका भी अनेक अंशों में निर्गुण भक्तों का सा ही था। ये लोग भी, सत्य, अहिंसा, सदाचरण, परोपकार, दया, पवित्रता आदि साधु स्वभावों पर बल देते थे और इनसे रहित जीवन को भगवद् भक्ति के अनुपयुक्त समझते थे। स्वामी रामानन्द के पश्चात् सगुण भक्तों में भी जाति धर्म, ऊँच नीच, पुरुष स्त्री आदि का भेद भाव नष्ट हो गया था और वे लोग निर्विशेष सब को दीक्षा देते थे। किन्तु साथ ही ये अमर्यादा या उच्छृ-ङ्खलता के विरोधी भी थे। ज्ञानमार्गीय भक्त धर्म समाज आदि की मर्यादा को व्यर्थ बता कर केवल अन्तः साधना पर बल देते थे, किन्तु सगुण भक्त साथ में जगत् की और धर्म की मर्यादा की भी रक्षा चाहते थे। वे भक्ति की मर्यादा और जगत् की मर्यादा दोनों का निर्वाह चाहते थे। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को आवश्यक मानते थे। अब से पहिले पहिले, शङ्कर के ज्ञान-वाद, बौद्धों के सिद्धिवाद एव नाथों के योगवाद और पश्चात् मुसलमानी अत्याचारों से धर्म समाज और जाति की मर्यादा का प्रायः लोप हो चुका था। सगुण भक्तो ने उसकी भी स्थापना करनी चाही। कबीर आदि सन्तों ने कर्म की इस विकृत दशा को सुकृत करने की अपेक्षा कर्म मात्र का खण्डन किया था। आडम्बर बता कर उनसे विमुख रहने का उपदेश दिया था, किंतु इन सगुण भक्तो ने ऐसा नहीं किया। इन्होंने कुकर्म का खण्डन कर के सुकर्म का मण्डन किया। संसार धर्म समाज आदि की मर्यादाओं को नष्ट करने की अपेक्षा उन्हें सुव्यवस्थित और परिष्कृत करने की ओर ही इनका विशेष प्रयत्न था। और आडम्बर से इनका भी द्वेष था। पाप-पुण्य, नर्क-स्वर्ग, और अन्य ऐसी ही शास्त्रीय मर्यादाओं में पूर्ण आस्था रखते थे, जो कि निर्गुणी भक्त नहीं रखते थे। इनकी भक्ति में आत्म-साधना के साथ-साथ लोक-संग्रह की भावना भी रहती थी। ये संसार से विरक्त होते हुए भी विमुख नहीं थे, जैसे कि निर्गुणी संत इसको मिथ्या बता कर इसको ओर थे। सन्त लोग पिता, पुत्र, भाई, मा, बाप आदि ससार के नातों को असत्य,

बता कर इनको मानते ही नहीं थे। पर सगुण भक्त इनका आदर्श रूप में निर्वाह करने में मंगल देखते थे। इस प्रकार अन्य बातें भी।

एवं, समय की दो परिस्थितियों के कारण से, समय की दो आवश्यकताओं की पूर्तियों को लक्ष्य बना कर, हिंदी साहित्य में थोड़े बहुत समान भिन्न रूपों को लेकर, भक्ति गंगा की दो अमर धाराएं बहीं, जिनसे हिन्दी साहित्य का कोना सदैव सरस रहेगा।

अथवा

कबीर और जायसी के ईश्वरोन्मुख प्रेम की पद्धति क्या है? इस सम्बन्ध में उनके अध्यात्मवाद सम्बन्धी रूप को स्पष्ट करिये।

उत्तर—कबीर और जायसी दोनों ने ही उपासना मार्ग में प्रेम का आश्रय लिया था। शुद्ध प्रेम तत्व का आधार लेकर ही उन्होंने ईश्वर की आराधना की थी। किन्तु दोनों के प्रेम तत्व मूलतः एक होते हुए भी, दोनों की शिक्षा दीक्षा, मानसिक स्तर, पद्धति और दृष्टिकोण के भेद के कारण, परस्पर कुछ भिन्न हैं।

जायसी सूफी मुसलमान थे और एकेश्वरवादी थे। वे मानते थे, एक सर्वोच्च सत्ता है, जिसने यह समस्त सृष्टि अपने ही अंश से बनाई है। जीव भी ब्रम्ह का ही एक कनिष्ट रूप है। परमात्मा अनन्त प्रेम रूप है, जीव भी प्रेम की साधना द्वारा उसकी प्राप्ति कर सकता है, ईश्वर से मिल सकता है। संसार उसी का अध्यास या प्रतिबिम्ब है। अत उसके साथ प्रेम करते-करते अनन्त प्रेम-भण्डार की प्राप्ति की जा सकती है।

किन्तु ये सिद्धान्त पैगम्बरी एकेश्वरवाद, वेदान्त के शुद्धाद्वैत वाद से भिन्न हैं। सूफी सिद्धान्त प्रकृति पुरुष और जीव इन तीनों को ही नित्य और अनादि मानता है। अत इस मत में जीव केवल सायुज्य (सामीप्य) मुक्ति प्राप्त कर सकता है। तदाकार नहीं हो सकता, उसकी पृथक् सत्ता बनी रहती है। यह मत भारतीय विशिष्टाद्वैत वाद से तो मेल खाता है शुद्धाद्वैत वाद से नहीं। जायसी प्रधानतया सूफी होते हुए भी वेदान्त के पूर्ण अद्वैत-वाद को भी मानते थे। अत एव उनकी कविताओं में दोनों ही वादों के व्यंजक

उद्धरण मिलते हैं। जायसी संसार में भगवान् की झलक देखते थे। प्रत्येक पार्थिव सौन्दर्य में उन्हें उसी अनन्त सौन्दर्य-भण्डार की झलक दिखाई देती थी। इसी लिए सृष्टि की प्रत्येक वस्तु इन्हें प्रिय थी। वे प्रत्येक से प्रेम करते थे और प्रेम करते-करते अकस्मात् अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करके मस्त (हाल की दशा में) हो जाते थे। पद्मावत में यत्र तत्र पार्थिव सौन्दर्य का वर्णन करते-करते वे ईश्वरीय सौन्दर्य का दर्शन करने लगते हैं। पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते-करते झट से दिव्य सौन्दर्य का वर्णन करने लगते हैं। प्रेम उनके मन का सर्व प्रधान भाव था। घृणा द्वेष आदि कुत्सित भावों का इन्होंने विनाश कर दिया था। जब सृष्टि ईश्वरमय है तो राग का भाव ही रह जाता है, द्वेष आदि नहीं रहते। पद्मावत में द्वेष आदि का वर्णन उन्होंने महाकाव्य के नाते किया अवश्य है, किन्तु वह भी प्रेम के अंग रूप में ही।

उनके प्रेम में मादकता थी, लौकिक प्रेमियों जैसी ही। वैसी ही टीस थी और वैसा ही माधुर्य था। वे अपने प्रियतम को पाने के लिए उतने ही व्याकुल रहते थे, जितना कि कोई लौकिक प्रेमी अपने लौकिक माशूक के लिए रहता है। सूफी पद्धति में प्रेम का आरम्भ पुरुष से होता है, वही अधिक व्याकुल होता है और वही अन्त में अनेक आपत्तियां उठा कर प्रयत्न करके उसे प्राप्त करके आनन्द लाभ करता है। किन्तु भारतीय प्रेम पद्धति में व्याकुलता अधिकतया स्त्री में दिखाई जाती है। प्रयत्न पुरुष ही करता है उस से मिलने का। किन्तु आकुलता अधिकतया स्त्री में होती है। अतएव भारतीय साहित्य में पुरुष के विरह का इतना विशद और अनुभूतिपूर्ण वर्णन नहीं हुआ है, जितना कि स्त्रियों के का। जायसी ने दोनों ही पद्धतियों में सामन्जस्य बिठाने का प्रयास किया है। पद्मावत में प्रथम राजा व्याकुल होकर जोगी बनकर सिंघलद्वीप पहुँचता है। परन्तु मिलनोत्तर पद्मिनी भी अत्यन्त व्याकुल हो जाती है उसके लिए। प्राण तक छोड़ने को तैयार हो जाती है उसके लिए। एक लौकिक प्रेमी के समान ही व्याकुल और अधीर हो कर ही जायसी ने अपने दिव्य प्रियतम (प्रिय-माशूक) के पास पहुँचने का प्रयास किया है।

कबीर ने भी अपनी उपासना में सूफियों के इसी प्रेम तत्व का ही ग्रहण किया था, ऐसे ही शुद्ध माधुर्य भाव से पूर्ण, श्रद्धा या पूज्यभावना से रहित प्रेम को ईश्वरोपासना के लिए अपनाया था। किन्तु उनके ज्ञान का स्तर जायसी से भिन्न प्रत्युत उच्च था। वे विशिष्टाद्वैतवादी नहीं थे, शुद्ध अद्वैतवादी थे। जीवो ब्रम्हैव नापरः को मानने वाले थे। ब्रह्म जीव और माया में भेद नहीं समझते थे, इन दोनों का ब्रह्म में ही लय और उद्‌गम मानते थे। चराचर जीव मात्र को वे ज्ञान द्वारा परब्रम्ह का ही अंश देखते थे। वे मानते थे शुद्धाचरण, योग, वैराग्य की सहायता से ज्ञान मार्ग से चल कर जीव ब्रम्हत्व की प्राप्ति कर सकता है। बस उनकी पारमार्थिक दृष्टि यही थी। ज्ञान के सिद्धान्त के रुप में वे चराचर को ब्रम्ह रूप मानते थे, किन्तु उनके प्रति उनके हृदय में वह प्रेमानुभूति नहीं होती थी, जो जायसी को होती थी। जायसी प्रधानतया भावुक थे, और कबीर प्रधानतया ज्ञानवादी। जगत् के सौन्दर्य का कबीर ने कहीं वर्णन नहीं किया और नाहीं उसे देख कर उसमें उन्हें कभी उस अनन्त सौन्दर्यमय के ही दर्शन हुए। जगत् की वे अधिकतर कठोर आलोचना, खण्डन आदि ही करते थे। जायसी में यह प्रवृत्ति नहीं थी। वे तो प्रत्येक से समन्वय—प्रेम—के ही इच्छुक थे। उन्होंने कभी किसी पर कटु आक्षेप, किसी का खण्डन मण्डन नहीं किया। उनकी कठोरता भी कोमलता में बदली हुई है। किसी को कडुवा बोलना उस अनन्त प्रेम के पथिक के लिए अज्ञात था। वे तो सृष्टि सौन्दर्य में तन्मय हो कर, हाल की दशा में अपने प्रियतम के दर्शन करते थे और फिर सदैव उसी आनन्दानुभूति की मस्ती में मस्त रहते थे। कटुता कहां रह सकती है ऐसे व्यक्ति के पास? कबीर भी प्रियतम के दर्शन करते थे, उसी प्रकार की हाल की दशा या समाधि दशा में भी हो जाते थे। किन्तु एक तो उनकी यह ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति अपनी आन्तरिक साधना के बल पर व्यक्तिगत थी और दूसरे वहां भी ज्ञान का दृष्टिकोण उनका साथ नहीं छोड़ता था। उनकी ऐसी अनुभूति-पूर्ण अच्छी से अच्छी कविताओं में भी ज्ञान के या योग के रूपक आ खड़े होते हैं। कहीं वे, "एकै कुआं पाँच पनिहारी" कहते हैं, तो कहीं "कउए को चिड़िया लै उड़ गई"। कहीं वर्षा के रूपक द्वारा उस आनन्दानुभूति का

वर्णन किया है, तो कहीं शून्य के महल में शैया बिछाकर, चारों ओर के किवाड़ लगा कर अपने प्रिय के दर्शन किये हैं। अभिप्राय यह कि गहरी से गहरी ईश्वरानुभूति में भी उन्होंने ज्ञान या योग का पल्ला नहीं छोड़ा, वह दृष्टिकोण उनका बना रहा। इसमें कारण था। वेदान्त का शुद्धाद्वैतवाद कोरे चिन्तन से उद्भूत है, तर्क मनन और निदिध्यासन मे उसकी उत्पत्ति हुई है और सूफियों का एकेश्वरवाद एक रहस्यात्मक अनुभूति से उत्पन्न है। वे इस एकेश्वरवाद की तर्कपूर्ण वेदान्त के ढंग मे निष्पत्ति नहीं कर सके थे। उनके यहां इस गंभीर वाद का उतना वैज्ञानिक तर्कपूर्ण विवेचन नहीं है जितना कि वेदान्त में। अत एव उनके यहाँ अनुभूति की ही प्रधानता रही। जायसी मुख्यतः सूफी थे, अतः उनकी प्रेमोपासना में अनुभूति माधुर्य और मादकता या विस्मृति अधिक थी। कबीर प्रधानतया वेदान्तानुयायी ज्ञानी सन्त थे। निराकार निरञ्जन ईश्वर की उपासना के लिए उन्होंने सूफी प्रेम को अवश्य स्वीकार किया था, किन्तु वह उन्हें उनका योग ज्ञान नहीं भुला सका और न उनकी खण्डन मण्डन की कटु प्रवृत्ति को ही दूर कर सका। जायसी सदैव प्रेम की मस्ती में रहते थे, कबीर कभी-कभी उस दशा को प्राप्त होते थे। कबीर की मस्ती अधिकतर अन्तर्मुखी व्यक्तिगत थी, वाह्य उनके लिये मायारूप मिथ्या था। किन्तु जायसी की सार्वजनिक वाह्य-आन्तर दोनों-मुखी थी। कबीर की अनुभूति से केवल कुछ ही साधना-सम्पन्न या विशेष रूप से उस सम्प्रदाय या मार्ग में दीक्षित व्यक्तियों को ही आनन्द आ सकता है, किन्तु जायसी का प्रेम वर्णन प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द देगा।

और भी है, जायसी ने प्रधानतया सूफी प्रेम पद्धति का आश्रय लिया है और परमात्मा को प्रियतमा (माशूक) मानकर स्वयं प्रेमी के समान व्याकुलता का अनुभव किया है। किन्तु कबीर ने शुद्ध भारतीय प्रेम पद्धति का अनुगमन किया है और परमात्मा को पतिरूप में देख कर स्वयं पत्नी बन कर अपनी व्याकुलता और मिलन का वर्णन किया है। वे राम की 'बहुरिया' बनने में अधिक आनन्द उपलब्ध करते थे। उद्वेग और पीड़ा उभयत्र समान रहती है, परन्तु पुरुष की व्याकुलता। जिसमें कि समर्थता और उद्योग का भाव

रहता है, में और स्त्री की व्याकुलता, जिसमें असमर्थता और निरीहता रहती है, में पर्याप्त अन्तर है। स्त्री को आत्मसमर्पण में जितना आत्मतोष होता है उतना पुरुष को नहीं, प्रत्युत पुरुष को कई एक अवस्थाओं में आत्मसमर्पण अखरता ही है। अत एव भारतीय मत में प्रेम या विरह की आत्यन्तिक अभिव्यक्ति जितनी स्त्री में मानी है उतनी पुरुष में नहीं।

इस प्रकार, कबीर और जायसी के ईश्वरोन्मुख प्रेम में तत्त्वतः कोई अन्तर न होते हुए भी, उनके तर्क ज्ञान, अनुभूति और दृष्टिकोण के भेद से दोनों के प्रेम में पर्याप्त अन्तर है।

प्रश्न ३—संभव है, तुलसीदास का रूपान्तर में अद्वैतवाद प्रतिपादित महावाक्यों में विश्वास रहा हो, पर सिद्धान्त रूप से तो उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद को ही स्वीकार किया है।"

इस मत से आप कहां तक सहमत हैं? विनयपत्रिका के पदों के उद्धरणों से अपने मत की पुष्टि कीजिये।

उत्तर—तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्त के विषय में वियोगी हरि जी के इस मत से सहमत होना ही पड़ता है। कारण, चाहे तुलसी के टीका-सम्प्रदाय की दृष्टि से और चाहे उनकी रचनाओं में प्रतिपादित उनके सिद्धान्तों की दृष्टि से, देख लिया जाय, तुलसी शुद्ध रूप में विशिष्टाद्वैतवादी सगुण राम के अनन्य भक्त ही सिद्ध होते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

तुलसी जिस सम्प्रदाय में दीक्षित थे, वह रामानन्दी वैष्णवों का श्री सम्प्रदाय था। वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को मानने वाला था। विशिष्टाद्वैत-वाद में चिदचिद् विशिष्ट ब्रम्ह की सत्ता स्वीकार की जाती है अर्थात् ये लोग ब्रम्ह माया और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। माया और ब्रम्ह दोनों सत्य हैं, अनादि हैं। जीव माया बद्ध हैं, ईश्वर माया से स्वतन्त्र है, प्रत्युत माया ईश्वर के वशगत है। तभी ये लोग सतोगुणी माया से युक्त भगवान् के अवतारी रूप को प्रत्यक्ष वत् ही मान कर उसकी उपासना करते हैं। तुलसी भी इसी मत के अनुयायी थे और सदैव भगवान् से सीता के साथ हृदय में निवास करने को कहते हैं। वे संसार को "सियाराममय" देखते थे, कोरा 'राममय' नहीं। वे भक्ति को सर्वोच्च स्थान देते थे और सदैव राम से

अविचल भक्ति का ही वरदान मांगते थे, मोक्ष का नहीं। भक्ति पाकर वह नरक में भी आनन्द पा सकते थे। भक्ति के सामने वे ज्ञान और मोक्ष को भी नीचा दर्जा देते थे। वे अनन्य भक्त थे और अन्त तक, बल्कि मृत्यूपरान्त भी, वे यही रहना चाहते थे। उनकी इस अविचल और शाश्वत भक्ति के प्रकटन में विनय पत्रिका की ये निम्न पंक्तियां प्रमाण हैं:—

१. राम नाम नवनेह मेह को मन हठि होइ पपीहा।
२. राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
३. मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं॥
४. राम चरण अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥
५. राम प्रेम बिनु जानिबे जैसे सर-सरिता बिन बारि। आदि—

इस प्रकार, तुलसी की एकान्त साधना केवल राम पद प्रेम के लिए है, उन्हीं के आदि से अन्त तक अनुरागी बने रहना वे चाहते हैं। सो उन के और कुछ (ज्ञानी आदि) होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

उनकी रचनाओं में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उनसे भी उनका विशिष्टाद्वैतवादी सगुण भक्त होना ही सिद्ध होता है, शुद्धाद्वैतवादी होना कहीं भी नहीं। उन्होंने प्रकृति के साथ ही पुरुष की सत्ता भी स्वीकार की है, उसके बिना नहीं। वे राम की सीता के साथ ही आराधना करते हैं, उससे रहित की नहीं। अतः शुद्धाद्वैत की बजाय विशिष्टाद्वैत की ध्वनि निकलती है। विनय पत्रिका उनका सिद्धान्त ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने अपनी भक्ति की सारी पद्धति का दिग्दर्शन कराया है, तथा अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। उसमें कहीं पर भी शुद्धाद्वैत-परक वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत शुद्धाद्वैत के प्रति अरुचि ही व्यक्त होती है। देखिये निम्न पदांश में वे कर्म ज्ञान आदि को पसन्द नहीं करते.—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्प तरु कलि कल्यान फरो।
करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भांति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥

के कवियों ने प्रेम और सौंदर्य का चित्रण किया है। ये कवि अत्यंत भावुक कलाकार थे, जिनकी दृष्टि गहरी और सूक्ष्म होती थी सौन्दर्य की परख में। यह शृंगार और सौन्दर्य का चित्रण दो ढंगों मे किया गया है। कुछ ने राधा कृष्ण को नायिका-नायक के सिंहासन पर बिठाकर लौकिक शृंगार और सौंदर्य का वर्णन किया है और कुछ ने उनका नाम लिये बिना लौकिक नायक नायिका आदि के मधुर रूप और भाव चित्र उतारे। ये कवि वस्तुतः भाव और सौंदर्य के चितेरे थे।

इस काल मे भी अधिकतर मुक्तक लिखने की ही परिपाटी रही। प्रबन्ध काव्य भी यद्यपि अनेक लिखे गये, आश्रदाताओं के जीवन सम्बन्धी और और पुराण या इ [illegible] भी, तथापि मुख्यतया मुक्तक काव्य में शृंगार वर्णन ही [illegible] प्रवृत्ति रही। अन्य रसों का भी वर्णन बहुत रूप [illegible] शृंगार की तुलना में अत्यल्प। मुक्तक के लिए [illegible], बरवै, छप्पय, आदि छन्द विशेष हैं।

[illegible] भाषा ही रही। वही अब काव्य के [illegible], परिष्कृत और सौन्दर्य-सम्पन्न [illegible] ने अभिव्यंजना की सामर्थ्य दी [illegible] चाँद लगा दिये। किन्तु इतना [illegible] भाषा में व्याकरण की व्यवस्था [illegible] नियमों का सभी पालन करते। [illegible] ने स्वच्छन्दता बरती है। अन्य [illegible] कवि लोग कर देते हैं। फारसी

[illegible] दोनों की दृष्टि से रीतिकालीन [illegible] सौंदर्य और प्रेम का इतना [illegible] दुर्लभ है।

[illegible] साथ कवियों ने प्रकृति-चित्रण

भी अत्यन्त सुन्दर किया है। रीति सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति रस का उद्दीपन विभाव होती है। रीति काल के कवियों ने प्रकृति का इसी भावोद्दीपक रूप में बड़ा विशद चित्रण किया है। यद्यपि शैली प्राचीन ही है तो भी वर्णन से इनके प्रकृति निरीक्षण का तो अनुमान हो ही जाता है। षड्ऋतु वर्णन रीति-कालीन काव्य का विशेष अंग रहा है।

रीति काल की प्रमुख विशेषताएं ये ही हैं।

७.—सेनापति ने प्रकृति वर्णन उद्दीपन रूप में ही किया है, परन्तु उसकी ऋतु सम्बन्धी रचना को देखने से यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि प्रकृति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।" इस कथन की विवेचना यथा संभव उदाहरण देते हुए कीजिये।

उत्तर—सेनापति रीति-कालीन कवि थे। अतः रीति-कालीन परिपाटी के अनुसार ही इन्होंने भी प्रकृति को रसों या भावों की सहायक ही मानकर उसका वर्णन किया है। इन का प्रकृति वर्णन भी भावनाओं का उद्दीपक होकर ही आया है। किन्तु तो भी, जितना विशद सूक्ष्म और स्वाभाविक इन्होंने प्रकृति-चित्रण किया है, उसे देखते हुए इनका प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग व्यक्त हुए विना नहीं रहता। सेनापति ने प्रकृति का पास से, गहन, सूक्ष्म और विस्तृत निरीक्षण किया था। वैसा ही चित्रात्मक उसका चित्रण भी हुआ है। सेनापति का षड्ऋतु वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। यह स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन है। कवि ने विविध ऋतुओं के रूपों का परम स्वाभाविक वर्णन किया है—प्रकृति का स्थूल रूप कैसा है, लोगों के मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है और वे कैसा आचरण करते हैं आदि आदि। एक प्रकार से, इस ऋतु वर्णन में कवि ने प्रकृति के साथ मानव-हृदय का परम मधुर सामञ्जस्य दिखाया है, जो अत्यन्त स्वाभाविक और अनुभूति पर आश्रित है। देखिये वसन्त वर्णन का क्या सुन्दर प्राकृतिक रूपक बांधकर उत्प्रेक्षा की है —

सत कुटज, घन चंपक, पलास वन
फूलीं सब साखा, जे हरति जन चित हैं।
त, पीत, लाल फूल-जाल हैं बिसाल तहां

मय है कि भाव चित्र आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। ऊपर से इनमें संगीत का संयोग स्वर्ण में सुगन्धि उत्पन्न कर देता है। विद्यापति की भाव-कोमलता के साथ उनके शब्द-चयन का विशेष महत्व है। उनके जैसी पद-मधुरता संस्कृत के जयदेव को छोड़ अन्य किसी में उपलब्ध नहीं होती। उनके पद इतने मधुर होते थे कि कहते हैं श्री चैतन्य महाप्रभु उन्हें सुनने २ तन्मयदशा में विभोर हो जाते थे, अपनी सुधबुध खो देते थे। विद्यापति ने इन मुक्तक गीतिकाव्यों में राधा और कृष्ण के सुमधुर रूप-चित्र, भावचित्र, दशाचित्र संयोग और वियोग के चित्र उतारे हैं। प्रकृति वर्णन भी किया है। शृंगार की सहायक प्रकृति की विभिन्न ऋतुओं के बहुत ही सुन्दर मनोमोहक विशद चित्र उतारे हैं। प्रतिपद में रस या भाव का चित्र साकार हो उठता है। वैसी ही कोमल, संगीत मय मधुर नृत्य करती हुई उनकी मैथिली भाषा है। शृंगार रस के उनके गीत इन्हीं कारणों से अपना विशेष स्थान रखते हैं। गीत निर्माण पद्धति उनकी भी वही है जो औरों की।

मीरा ने भी गीत लिखे हैं—उसी प्रकार टेक रख कर और विभिन्न राग रागनियों में बांध कर। मीरा की भाषा मिश्रित है, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, ब्रजभाषा सभी के पद उनमें मिलते हैं। किसी-किसी पद में इन चारों का मिश्रण भी पाया जाता है। पदलालित्य उतना नहीं है, जितना विद्यापति का। भाषा राजस्थानी के प्रभाव में है, उसका विशेष प्रयोग है। मीरा संगीत का भी अच्छा ज्ञान रखती थी। अतएव उसके पद विभिन्न राग रागनियों में बंधे हुए श्रोताओं को मुग्ध किये बिना नहीं रहते।

मीरा के पदों की मुख्य विशेषता उनकी एकान्त भावमयता है। मीरा के काव्य में सर्वत्र मीरा के व्यक्तित्व का स्फुरण है। प्रायः गीतों में भगवान् के किसी रूप के चित्रण की, या किसी दशा विशेष के चित्रण की, अथवा ज्ञानोपदेश करने की, जगद्व्यवहार की निन्दा करने की, भगवान् से प्रार्थना विनय आत्मसमर्पण आदि करने की पद्धति थी। परन्तु मीरा ने अपने गीतों को अपनी भावनाओं के प्रकाशन का साधन बनाया था। उसने उनमें अपने ही अन्तर् के अनुभूतिपूर्ण मार्मिक चित्र उतारे। मीरा स्त्री थी, कृष्ण की अनन्य प्रेमिका थी। अतएव उसने स्त्री-सुलभ भावनाओं को लेकर

कृष्ण को पति रूप में स्वीकार किया था और उसके विरह में तड़पी थी। इन पदों में वस्तुतः उसके अपने ही हृदय की विरह व्याकुलता, तड़प मिलेगी। कुछ पदों में भगवान् के अपने को प्रिय लगने वाले रूपों का चित्र उतारा गया है और अपने को दासी के रूप में अर्पित करके उद्धार की प्रार्थना की गई है। कुछ पदों में अपनी विरहविधुर दशा का अनुभूति पूर्ण चित्र है। अपनी विविध अनुभूति दशाओं का चित्रण है। भगवान् के दर्शनों का वर्णन है, अपनी मस्ती और एकान्त आनन्द दशा का चित्रण है। साथ ही ज्ञानमार्गियों के प्रभाव में आकर ज्ञान वैराग्य, जगत् के मिथ्यात्व आदि का भी वर्णन है। मीरा के गीतों की मुख्य विशेषता उसकी तीव्र और कोमल अनुभूति ही है, जो स्त्री सुलभ होने से अत्यन्त मार्मिक है। श्रोतागण भाव-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहते। कवित्व और काव्य चमत्कार तो ऐसी अनुभूतिपूर्ण रचनाओं में स्वतः स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं। वस्तुतः मीरा के गीत मीरा के ही गीत हैं, उनमें उसकी आन्तरिक सत्य अनुभूति की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है, जो कि उसके गीतिकाव्य का प्राण और उसकी प्रधान विशेषता है।

सूर ने भी सगुण भक्ति के गीतों की रचना की है और इतनी की है, जितनी कि किसी साहित्य में अन्य किसी कवि ने नहीं की होगी। उन्होंने वल्लभ स्वामी की आज्ञा के अनुसार भागवत के विविध प्रसंगों का मुक्तक गीतों में अनुवाद किया था। ये गीत मुक्तक और गाने के उद्देश्य से लिखे गये थे। सूर स्वयं भी गाते थे, वे संगीत के परम आचार्य थे। यह बात उनके गीतों के रागविधान को देखने से सिद्ध हो जाती है। उन्होंने असंख्य राग-रागनियों का उपयोग इन गीतों में किया है, जिनमें से अनेकों का तो अब कोई नाम भी नहीं जानता। इससे पता लगता है कि सूर संगीत के कितने पारंगत थे। उन्होंने गीत के प्रसङ्ग और विषय के अनुकूल ही विभिन्न राग रागनियों का विधान किया है। भाषा इन गीतों की व्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत, पूर्वी अवधी आदि के शब्द भी कहीं-कहीं आ मिले हैं। सूर भाषा, काव्य, और संगीत के परम आचार्य थे। अतएव गीति काव्य के इन तीनों [illegible]ओं के समन्वय से उनके गीतिकाव्य अपने क्षेत्र में अनुपम हैं।

इन गीतों में प्रधानतया सूर ने भागवत के विविध प्रसंगो के चित्र उतारे हैं। कृष्ण लीला के अनेक मौलिक प्रकरणों को कवि ने गीतों का विषय बनाया है। शृङ्गार के संयोग और वियोग पक्ष का जितना सुन्दर चित्रण इन गीतों में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। बाल लीला के मधुर पद गाने पर श्रोता विमुग्ध हो जाते हैं। गोपिकाओं के विविध शृङ्गारों का, क्रीडाओं का विरह-व्यथाओं का विशद चित्र इन सरस पदों में मिलेगा। साथ ही सूर ने कृष्ण के विविध आकर्षक रूपों के मधुर और विशद चित्र भी ध्यान के लिए इन पदों में उतारे हैं। अनेक उनके आत्मविनय और प्रार्थनाओं से भरे हैं, जो सत्य अनुभूति से उद्गत हैं। अनेक पदों में भक्ति का प्रतिपादन, ज्ञान वैराग्य की बातें, जगद्व्यवहार का वर्णन, आदि भी आये हैं। इसी प्रकार के प्रकृति के, उसकी विविध ऋतुओं के, दशाओं के भी आकर्षक और विशद चित्र इन गीतों में मिलेंगे। शृङ्गार-संयोग और विशेषतः वियोग-और वात्सल्य तो इन गीतों में उमड़ा पड़ता है। इस प्रकार सूर अपने इस क्षेत्र में किसी की तुलना में नहीं आसकते। वे अनुकरणीय हैं। काव्य के क्या भाव, क्या कला और क्या संगीत पक्ष की दृष्टि से सूर के गीतों का महत्व अत्युच्च है।

तो भी विद्यापति की सी पदमाधुरी और शब्द-चयन सूर में नहीं मिलेंगे और न मीरा की व्यक्तिगत अनुभूति की भावनाएँ ही उनमें दृष्टिगत होंगी। वस्तुतः तो ये तीनों ही गीतिकार अपने क्षेत्र में अनुपम हैं, कोई किसी की तुलना में नहीं आ सकता। प्रत्येक अपनी-अपनी विशेषता रखता है, जिसका संक्षेप में वर्णन ऊपर आ चुका है। वैसे गीत पद्धति सब की एक सी है, तीनों ने मुक्तक काव्य लिखे हैं।

९. इस प्रश्न का पूर्वभाग, नन्द दास का भ्रमर गीत, अब परीक्षा में नहीं है। अतः उसका उत्तर छोड़ दिया जाता है।

अथवा

किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये।

(अ) कबीर की उलट-बांसियां।

उत्तर—उलट-बांसियां कबीर की उन रचनाओं को नाम दिया गया है जिनमें उन्होंने उलटी पुलटी लगने वाली बातों से आध्यात्मिक रहस्यों या अपने पंथ के

सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये उक्तियां परस्पर-विरुद्ध भाव प्रकट करने वाली रहस्य पूर्ण पहेलियां-सी लगती हैं, किन्तु विचार करने पर उनका अर्थ समझ में आ जाता है। ये उलट-बांसियां कबीर पंथ में प्रचलित हैं और इनका अर्थ गुरु-गम्य ही माना जाता है। वास्तव में कबीर ने इन रहस्योक्तियों मे, जीवन के अध्यात्म के और अन्य सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन किया है। पं० अयोध्यासिंह जी के मत से कबीर ने इस प्रकार की उक्तियां उस समय लिखी थीं, जब उनके हृदय में अपना पंथ चलाने की इच्छा उद्‌गत हुई और इस प्रकार की उक्तियों में उन्होंने अपने पंथ के गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन किया, जिससे वे प्रत्येक की समझ में न आ सकें तथा गुरु से समझे जा सकें और इस प्रकार पंथ की गुरु-परम्परा चलती रहे। दूसरे मत से, कबीर ने ऐसी ऊत पटाग शैली में उन रहस्यमय अनुभूतियों तथ्यों और उलझनों को प्रतिपादित किया है, जिनका प्रतिपादन सीधी सादी भाषा में नहीं हो सकता था। कुछ भी हो ये बांसियां बड़े गूढ़ रहस्यों से भरी हैं, जिनका अर्थ प्रथम असम्भव या परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है, परन्तु अन्त में विचार करने पर खुल जाता है। जैसे, "एकै कुंआं पांच पनिहारी" में अकेले मन के साथ पांचों इन्द्रियों के संयोग का वर्णन है। इसी प्रकार "कउवे को चिरिया लै उड़ गई" वाली भी उक्ति समझिये। इसमें भी पर-ब्रह्म स्वरूप जीव की मायावशता का वर्णन है।

(आ) तुलसी के राम।

तुलसी के राम साक्षात् परब्रह्म थे, जो माया-सम्वलित हो जगत् की मर्यादा की स्थापना और भूमि का भार हरने के लिए उत्पन्न हुए थे। वे वाल्मीकि के राम के समान पुरुष से पुरुषोत्तम नहीं हुए थे, प्रत्युत पुरुषोत्तम से पुरुष रूप में आए हुए थे। संसार की समस्त लीलाओं का निर्वाह उन्होंने किया। वे हंसते भी थे, रोते भी थे, ज्ञानी भी थे, संसारी भी थे और सर्व-शक्तिमान् भी थे। माया के वश होकर उन्होंने अनेक कष्ट भी सहे, पर तुलसी किसी भी स्थान पर उनकी भगवत्ता को नहीं भूलते। राम ने भाई, पत्नी, माँ, बाप, राजा, प्रजा, शत्रु, मित्र आदि सभी जागतिक सम्बन्धों का परिपालन कर उनकी मर्यादाएँ स्थापित कीं। वे आदर्श थे, प्रत्येक

दिशा में। संसार से पाप का नाश करने और पुण्य का प्रचार करने को ही उन्होंने अवतार धारण किया था। भक्त उन्हें अपने से भी अधिक प्रिय थे। रामावत सम्प्रदाय को चलाने वाले रामानन्द और तुलसी जिस समय हुए थे, उस समय संसार की मर्यादाओं का लोप-सा था, पाप अत्याचार बढ़ा हुआ था और रक्षक नहीं था। ऐसी दशा में राम जैसा ही मर्यादा पालक, पापियों का संहारक, गौ ब्राह्मण और भक्त जनों का रक्षक ही अवतार रूप पूजित हो सकता था। अतः स्वामी रामानन्द और तुलसी को विष्णु का राम रूप ही भक्ति और लोक-मङ्गल के उपयुक्त जान पड़ा। तुलसी ने ऐसे ही गुणों से युक्त राम का चित्रण किया है, जिसमें वे पूर्ण सफल हुए। इस विषय में तुलसी पर वाल्मीकीय और अध्यात्म दोनों रामायणों का प्रभाव पड़ा था।

(३) मीरां के पदों में घटना-वर्णन का अभाव।

उत्तर—मीरा के पदों में यद्यपि उसके अपने जीवन की अनेक घटनाओं का भी वर्णन मिलता है तथापि वे व्यक्तिगत अनुभूति ही लिए हुए हैं और केवल संकेत रूप में हैं। अपनी या पराई किसी विशेष घटना का उसने सांगोपांग वर्णन नहीं किया। उसकी कविता अधिकतर भावात्मक है, जिस में उसके स्त्री हृदय की व्याकुलता और कोमलता बिखरी पड़ती है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूति ही उसकी कविताओं का प्रधान विषय था। ज्ञान, वैराग्य, जगत् की निस्सारता का योग-पंथियों के अनुकरण पर वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त स्थूल घटनात्मक वर्णन उसकी कविता में नहीं के बराबर है।

(ऊ) जायसी पर सूफी मत का प्रभाव।

जायसी स्वयं ऊँचे दर्जे के पहुँचे हुए सूफी फकीर थे। अतः उनकी उपासना पद्धति सूफी रङ्ग में रंगी हुई थी। उनका प्रेम सूफियों का सा मादक और व्याकुलता पूर्ण था। परमात्मा को भी उन्होंने सूफियों के समान ही प्रियतम या माशूक के रूप में देखा। सूफियों का सा ही उनकादृष्टि-कोण रहा। संसार में उस अनन्त प्रेम मय के दर्शन कर हाल की दशा में होना आदि सूफी मत का ही प्रभाव है। साधक की विभिन्न स्थितियों दशाओं का व्यञ्जन रत्नसेन की जीवन घटनाओं से होता है। यद्यपि जायसी पर

भारतीय योगदर्शन और वेदान्त दर्शन का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा था और इनकी झलक पद्मावत में यत्र तत्र मिल भी जाती है तो भी जायसी मूलत' सूफी थे, और उसी पद्धति पर चलकर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी। विरह को वीभत्स वर्णन तक पहुंचा देना, सूफी मत का ही प्रभाव था। इस-प्रकार निर्विवाद रूप से जायसी मुख्यतः सूफी मत से प्रभावित थे।

हिन्दी साहित्य रत्न परीक्षा

साहित्य प्रश्न पत्र १ (सं०२००३)

प्रश्न १. नीचे लिखे अवतरणों में से केवल चार की व्याख्या प्रसंग बताकर कीजिये और उनमें आये अलकारों का भी निर्देश कीजिये।

(क) माई री !·· ············· ············· ·कौ कौल ॥

प्रस्तुत गीत मीरा की पदावली का है। मीरा अपनी अनन्यभक्ति का वर्णन कर रही है।

हे माई ! (सखी !) री ! मैंने तो गोविन्द को मोल लिया है (घर-बार राज्य-पाट दुनियादारी का मूल्य देकर)। कोई कहता है छुपकर और कोई कहता है चौडे में (मोल) लिया है। मैंने तो री ! ढोल बजाकर (सब के सामने ढंके की चोट से) लिया है। कोई कहता है (सौदा) मंहगा है और कोई कहता है सस्ता है, (परन्तु) मैंने तो री ! तराजू पर तोल कर लिया है। कोई कहता है काला है और कोई कहता है गोरा है, मैंने तो री ! एक अमूल्य लाल लिया है। इस (बात) को सब लोग जानते हैं, मैंने तो री ! आँखें खोलकर लिया है। हे प्रभु ! मीरा को दर्शन देना, पूर्व जन्म की प्रतिज्ञा है (कृष्ण ने गोपियों को वचन दिया था कि वे एक बार उनसे फिर मिलेंगे। मीरा ने इस पंक्ति में, पूर्व जन्म में अपने गोपी होने का संकेत दिया है)।

अलंकार रूपक तो स्पष्ट है ही, कृष्ण में अमोल रत्न का आरोप सांग रूपक मानना चाहिये, मोल लेना, मोल और तराजू तक आ गया है। शब्दालंकारों में अन्त्यानुप्रास भी स्पष्ट है।

(ख) परीक्षा मे नहीं रक्षा यह ग्रन्थ। अतः यह पद्य नहीं लिखा जाता।

(ग) ऐसो को · · · ··· · ······ · कृपानिधि तेरो ॥

प्रस्तुत पद्य विनय-पत्रिका का है। तुलसी ने राम की उदारता और वदान्यता का वर्णन किया है।

संसार में ऐसा कौन उदार है (जैसे श्रीराम)? जो बिना सेवा के दीन जन पर करुणार्द्र होता है, ऐसा राम के समान संसार में कोई नहीं है। जो गति (दशा) योग और वैराग्य के यत्न करके भी मुनि और ज्ञानी लोग नहीं प्राप्त करते, वही गति (मुक्तदशा) गीध जटायु और शबरी भिलनी को देते हुए प्रभु ने अपने हृदय में बहुत नहीं समझी। जिस सम्पत्ति को दशों सिर अर्पण करने के पश्चात् रावण ने शंकर से प्राप्त किया था, उसे विभीषण को श्रीराम ने बहुत संकोच के साथ दिया (कि क्या तुच्छ-सी वस्तु दे रहा हूँ। और वह थी भी उसी की वंश सम्पत्ति)। तुलसी कहते हैं, हे मेरे मन! यदि तू सब प्रकार से सुख चाहता है, तो राम को भज, (वे) कृपानिधि तेरे सब काम पूरे कर देंगे।

यहाँ राम को उदारता में अनुपम, अद्वितीय बताया गया है। उपमान का निषेध कर दिया गया है। अतः लुप्तोपमा होना चाहिये।

(घ) काज कहा ····························संभार्यो॥

प्रस्तुत पद्य भी विनय-पत्रिका का है। तुलसी अज्ञानी संसारी जीव की ताड़ना कर रहे हैं।

मनुष्य शरीर धारण करके (तूने) क्या काम पूरा किया? जो श्रुति-(वेद) का सारभूत है, उस परोपकारी को (तूने) कभी भूल से भी नहीं विचारा। द्वैतभाव (अज्ञान मूलक भेद भाव) की जड़ वाला, भय के कांटों वाला और दुःख के फल वाला यह संसार रूपी वृक्ष (अय) उखाड़े से नहीं उखड़ता (बड़ा मजबूत है)। (तू ने) उसका राम भजन (भक्ति) रूपी तेज कुल्हाड़ा लेकर काट नहीं गिराया। संशय (भ्रम, सन्देह) के समुद्र में, राम-नाम रूपी नौका का भजन (आश्रय ले) कर के (तू ने) अपनी आत्मा को नहीं पार उतारा (उद्धार नहीं किया) और ज्ञान रहित बना अनेक जन्मों में अनेक योनियों में भटकता हुआ भी (तू) नहीं थका। दूसरे की स्वाभाविक सम्पत्ति को देखकर (तूने) ईर्षा या द्वेष की अग्नि में अपने मन को जलाया, (किन्तु) शान्ति, इन्द्रिय दमन, दया और परोपकार (दीनपालन) से शीतल बने (अपने) हृदयमें(कभी) हरि (राम) की सुधि नहीं ली (स्मरण नहीं किया)।

इस पद में सांग रूपक का चमत्कार है। प्रथम संसार में फल, कांटों और जड़ के साथ वृक्ष का आरोप है, फिर भजन में कुठार का और फिर संसार में समुद्र का और नाम में नौका का आरोप है।

(च) केशव का यह ग्रन्थ अब पाठ्य ग्रन्थों में नहीं है।

(छ) विद्यापति का यह संग्रह भी अब परीक्षा में नहीं है।

(ज) यह भी अब परीक्षा में नहीं है।

२. सूर और तुलसी की कवित्वशक्ति और विचारों की परस्पर तुलना कीजिये।

उत्तर—सूर और तुलसी दोनों हिन्दी साहित्य के सूर्य चन्द्र हैं, दोनों महात्मा हैं, सगुण भक्त हैं। दोनों काव्य कला के आचार्य महा कवि हैं, दोनों के रस सिद्ध हैं, भाषा वश में है, संगीत के पारखी आचार्य हैं, अत्यन्त भावुक कवि का हृदय रखते हैं, दोनों की अभिव्यंजना शक्ति असीम है, दोनों पहिले भक्त हैं पीछे कवि हैं, दोनों ने प्रभूत प्रमाण में रचना की है, दोनों वेद शास्त्र के ज्ञाता उच्च ज्ञानी हैं, दोनों ने ही भक्ति के ही उद्देश्य से कविता की है, दोनों ही जीवन की और अध्यात्म की सत्य अनुभूति रखते हैं, मन के गहरे से गहरे और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों के पारखी चित्रकार हैं। दोनों का पथ एक है, उद्देश्य भी बहुत अंशों में एक भगवान् का सायुज्य ही है और दोनों का साधन भक्ति भी एक ही है। किन्तु तो भी दोनों स्वतन्त्र विकास वाले, स्वतन्त्र महान् प्रतिभा वाले, स्वतन्त्र दृष्टि वाले, महान् अननुकरणीय अमर कलाकार थे। एक दूसरे को नहीं पहुँचता था। दोनों के क्षेत्र भिन्न थे, रुचि भिन्न थी, शक्ति और शैली भिन्न थी और महान् व्यक्तित्व भी भिन्न थे। अतएव स्वभावतः उनकी कृतियाँ भी भिन्न थीं।

तुलसी की कुल मिलाकर २०-२५ रचनाएं कही जाती हैं और सूर के नाम में भी २०—२५ रचनाएँ गिनाई जाती हैं, यद्यपि सर्वाधिक प्रामाणिक और मुख्य इनमें तीन—सूर सागर, सूर सारावली और साहित्य-लहरी ही मानी जाती हैं।

दोनों में अपार प्रतिभा शक्ति थी, किन्तु सूर प्रधानतया मुक्तक लिखने वाले कवि थे और तुलसी में प्रबन्ध शक्ति भी अनुपमेय प्राप्त

होती है। सूरने प्रमुखतया गीतों मे रचना की और तुलसी ने अपने समय में प्रचलित मुख्य-मुख्य सभी काव्य-पद्धतियों में—दोहा चौपाई, कवित्त, छप्पय, गीत, आदि में। तुलसी प्रबन्ध पटु महाकवि थे और उनका मानस प्रबन्ध-कला का एक अद्भुत नमूना है। इसलिए आवश्यक रूप से उन्होंने सर्वाङ्ग अच्छे बुरे जीवन का पूर्ण चित्र उतारा है और अपने महाकाव्य में समस्त रसों का सन्निवेश किया है। किन्तु सूर ने नहीं किया। सूर मुक्तक गीतों के कवि थे। उनके गीत दो प्रकार के हैं—एक भागवत के पद्यो के छायानुवाद रूप और दूसरे स्वतन्त्र। अतः प्रबन्ध पटुता का प्रश्न ही नहीं। उनके गीतों में यद्यपि श्रीकृष्ण का कथानक चलता है, किन्तु वह विशृंखलित, अपुष्ट, संकेतरूप और अतएव प्रबन्ध काव्य के अनुपयुक्त है। वस्तुतः वे मुक्तक गीतों के रचयिता थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीकृष्ण के मधुर रूप को ही प्रधानतया अपनाया है। मुख्यतया उनका विषय शृंगार है—संयोग और वियोगरूप। इसी के अन्तर्गत वात्सल्य भी आ जाता है। अतएव उन्होंने कृष्णके व्रजवाले-बाल और किशोर रूप को ही अपनाया है, जिनमें इन दोनों ही रसों—शृंगार और वात्सल्य—का पूर्ण परिपाक है। इन दोनों ही रसों के निष्पादन में वे अपनी उपमा नहीं रखते, उनको कोई नहीं—तुलसी भी नहीं—पहुंच सकता। मन के इन दो कोमलतम और मधुरतम भावों के क्षेत्र का ऐसा कोई भी गुप्त से गुप्त और सूक्ष्म से सूक्ष्म कोना नहीं है, जिसका विशद चित्र इन्होंने अपने गीतों में न उतारा हो। बालक और युवा मन के गहन से गहन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का भी इस अन्ध महाकवि ने अत्यन्त स्वाभाविक और विस्मृतिदायक चित्रण किया है। इस प्रकार यदि तुलसी दास दसों रसों के सफल निष्पादयिता थे तो सूर शृंगार और वात्सल्य के अधीश्वर थे और तुलसी को बहुत पीछे छोड़ गये थे। शृंगार वर्णन तो दास्य भक्ति की मर्यादा में बंधे तुलसी सूर जैसा कर ही कैसे सकते थे? वात्सल्य वर्णन में भी वे स्थूल रूप का ही अधिक चित्रण कर पाये, 'बालक के मानसिक पक्ष का नहीं'।

भाव के अनुरूप मधुर कोमलकान्त पदावली रखने में दोनों प्रवीण थे। दोनों की भाषा विषयानुरूप बदलती चली है।

काव्य के उपादानों और कलाविधान के वे दो वेधा थे। काव्य के उपादानों—अलंकार आदि-ने दोनों के भावों को चार चाँद लगा दिये हैं, वे उनका आवरण नहीं बने। तुलसी ने काव्य के और पिंगल के प्रत्येक नियम का विधान का यथावत् पालन किया है। सूर ने भी अलंकार आदि की व्यवस्था यथोचित की है, किन्तु छन्द छोड़ कर राग रागनियों का आश्रय लिया है। क्योंकि उनके पद विशेषतया गाने के लिए ही बनाये गये थे।

दोनों ही महाकवि आन्तर् और वाह्य जीवन के वर्णन में सिद्ध-हस्त हैं। दोनों ही जीवन के विशेष मार्मिक स्थलों के पूरे पारखी हैं। जीवन के ऐसे अनेक मर्म स्थलों के विशद-चित्र 'मानस' और 'सागर' में यत्र तत्र बिखरे मिलेंगे। अवश्य ही तुलसी का दृष्टिकोण विस्तृत था, उन्होंने समस्त जीवन का गहरा दर्शन करके, उसका चित्रण किया था, अतः उनके काव्य में ऐसे आन्तरिक मार्मिक स्थलों का विशेष अवसर था। राम चरित मानस में असंख्य ऐसे स्थल हैं। सूर के संकुचितक्षेत्र में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं है। बाह्य जीवन या स्थूल वस्तु वर्णन में भी दोनों कवि पूर्ण हैं। सूर ने भ्रमर-गीत में जहाँ आन्तरिक मानसिक अनुभूति पक्ष का इतना विशद चित्रण किया है, वहाँ ब्रज, ब्रज की वस्तुओं, गोप गोपिकाओं के सौन्दर्य और यमुना, निकुंज आदि स्थूल प्रकृति का भी रसमय चित्रण किया है। कृष्ण और गोपिकाओं के स्थूल सौन्दर्य के चित्र लिये असंख्य पद हैं, जिन्हें श्रवण कर रूप प्रत्यक्ष खड़ा हो जाता है। और तुलसी के लिए तो स्थूल वर्णन अत्यन्त अपेक्षित था, क्योंकि वे प्रबन्ध काव्यकार थे, जहां स्थूल घटना वर्णन ही मुख्य होता है। तुलसी ने भी राम, सीता आदि के स्थूल रूप का, अयोध्या आदि का स्वाभाविक और सजीव चित्रण किया है।

दोनों ही महाकवियों ने प्रकृति का सुभग सुन्दर और रसमय वर्णन किया है। सूर का प्रकृति चित्रण रसोद्दीपन के अंग रूप में हुआ है। उनके काव्य के दृश्यों का प्रारंभ अधिकतर प्रकृति के कुंजों में ही होता है, वे स्वयं भी प्रकृति सौन्दर्य में रहते थे, अतः उनके काव्य में ब्रज की प्रकृति के

स्वाभाविक चित्र मिलते हैं। यद्यपि सूर ने प्रकृति का उतना विशद चित्रण नहीं किया जितना कि मानव और उसके मन का, किन्तु ब्रज भाषा में उस समय में उन्हीं ने इतने विशाल परिमाण में प्रकृति-चित्रण किया था। यद्यपि उसमें अधिकतर लगी बंधी परिपाटी से, उपमा रूपकों द्वारा ही प्रकृति चित्रण हुआ है, तो भी वह सजीव हैं। तुलसी ने तो स्वयं पास से प्रकृति का निरीक्षण किया था, अतः उनके प्रकृति-चित्र अधिक विशद, अधिक सूक्ष्म और स्वाभाविक और अतएव अधिक सजीव हैं। उन में कहीं कहीं विरसता भी आ जाती है, जहां तुलसी, प्रकृति की उपमाओं से नाना उपदेश देने लगते हैं।

दोनों में नवीन प्रसंगोद्भावना की प्रवृत्ति थी। सूर में यह प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। उनके असंख्य ऐसे पद मिल जायंगे, जिनमें भागवत से स्वतंत्र रूप में राधाकृष्ण के अनेक नवीन कल्पित प्रसंग उपस्थित किये गये हैं। तुलसी में यह प्रवृत्ति कम है। मानस में यद्यपि अनेक छोटे-छोटे कल्पित प्रसंग अवश्य मिल जायंगे, किन्तु वे प्रसंग ऐसे प्रबन्ध काव्य को देखते हुए कम हैं। वस्तुतः तुलसी प्रचलित प्रसंगों को ही लेकर चलने वाले कवि थे, नवीन कल्पना करने की रुचि उनमें कम थी। अपनी गीतावली में उन्होंने सूर के अनुकरण में कुछ नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है और राम को झूला झूलते और रास रचते दिखाया है, पर इसमें वे सफल नहीं हुए। राम के गंभीर चरित्र की स्वाभाविकता जाती रही है।

दोनों ही पहिले भक्त थे पीछे कवि, कविता करना दोनों का प्रधान उद्देश्य नहीं था। सूर परम ब्रह्म कृष्ण की लीलाओं को दिव्य मानकर ही उनका गान करते थे। तुलसी भी श्री राम के प्रत्येक पद में उनके ईश्वरत्व की झलक देखते थे। किन्तु सूर की भक्ति एकान्त मधुर केवल प्रेम-लक्षणा थी, अतः उनके शृङ्गार में अधिक चमत्कार और विशदता है। सूर बालकृष्ण के सेवक थे और युवा कृष्ण के सखा थे। अतएव युवा कृष्ण का विशद शृंगार चित्रण अधिक स्वतंत्रता से कर गये। सख्य भाव की भक्ति में खरी खोटी-व्यंग्य-भी सुना गये। किन्तु तुलसी की भक्ति सेव्य-सेवक भाव की थी। उनकी आँखों से राम का स्वामित्व कभी ओझल नहीं होता। वीर में,

शृङ्गार में, प्रायः सर्वत्र ये संकेत देते रहते हैं कि ये भगवान् हैं, लीला कर रहे हैं। ऐसी जगह भक्ति का वाच्य रूप में अंग बन जाने पर किसी भी रस का पूरा परिपाक नहीं होता। भक्तिभाव या श्रद्धा-भाव की इसी अधिकता के कारण उनका शृङ्गार वर्णन संयत मर्यादित और भक्ति की सीमा में ही हुआ है। सूर ने इस सीमा का इतना ध्यान नहीं रखा।

भाषा पर दोनों का अधिकार था। तुलसी का ब्रज और अवधी दोनों पर पूर्णाधिकार था और दोनों में उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। किन्तु सूर का केवल ब्रजभाषा पर अधिकार था, जिसे उन्होंने परिमार्जित कर शुद्ध साहित्यिक रूप दिया। दोनों की भाषाएँ विषयानुरूप होकर चली हैं।

दोनों के ही ग्रंथ अपनी अपनी विशेष अर्चना-पद्धतियों का सांगोपांग वर्णन उपस्थित करते हैं।

दोनों की रचनाओं में अनेकत्र भाव-साम्य और रूप-साम्य भी मिलता है। किन्तु इस समता का कारण नकलवृत्ति नहीं, अपितु सम-सामयिक समान विचारों से प्रभावित होना ही है। दोनों एक दूसरे से प्रभावित अवश्य हुए थे, किन्तु सूर बड़े थे और तुलसी छोटे। इसलिए, तुलसी का ही सूरकाव्य से प्रभावित होना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। तुलसी ने जब काव्य-क्षेत्र में पांव रखा था, उस समय सूर ख्याति पा चुके थे। रूप-साम्य का कारण प्रतिलिपिकार—लिखने वाले—हैं।

विचारों की दृष्टि से दोनों संसार से विरक्त, भगवदनुरक्त, आत्माराम, ज्ञानी सन्त महात्मा थे। सूर शुद्धाद्वैतवादी पुष्टि मार्ग में दीक्षित थे और तुलसी रामानन्द के विशिष्टाद्वैत वाद में। सूर अन्तः साधना पर बल देने वाले, संसार से विमुख होकर भजन कीर्तन द्वारा आत्मतुष्टि में आसक्त थे, अतएव उन्होंने कृष्ण के द्वारिकाधीश वाले लोकपालक रूप को न लेकर उनके ब्रजविहारी क्रीडामय रूप को लिया। किन्तु तुलसी की भक्ति में लोक-संग्रह का भी समावेश रहा। उन्होंने वस्तुतः भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय उपस्थित किया है। उनके राम लोक-धर्म के रक्षक और पालक के रूप में आते हैं। शास्त्र की लोक की और धर्म की मर्यादा का तुलसी को सदैव ध्यान रहता है। अन्तः साधना और लोक पक्ष दोनों को मिला कर ही

तुलसी चलते हैं। संसार के कटु और विषमरूपों का परिहार और सद्-रूपों की स्थापना उनका विशेष विषय रहे। सांसारिक जीवन के सभी रूपों का उन्नत आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। धर्म का पल्ला तो वे सदैव पकड़े रहते हैं, व्यक्ति धर्म, समाज धर्म, वर्णाश्रम धर्म की उन्हें सदैव चिन्ता रहती है। इस प्रकार सूर की साधना जहां केवल अन्तर्मुखी थी, वहां तुलसी की अन्तर्बाह्य उभय-मुखी। दोनों ही पहुँचे हुए भक्त थे, जिन्होंने अपने-अपने इष्टदेव के दर्शन करने का वर्णन किया है। तुलसी में सुधारक की प्रवृत्ति अधिक है, सूर में कम। तुलसी संसार में घुलकर भी उससे निर्लेप रहते हुए लोक-कल्याण करना चाहते हैं और सूर संसार से एक ओर हटकर मस्ती में अपने इष्ट देवता का दर्शन चाहते हैं। सूर के कृष्ण भी मर्यादा पालक नहीं प्रतीत होते, बल्कि उसे तोड़ने ही प्रतीत होते हैं। सूर भी सांसारिक मर्यादाओं को एक ओर रख कर संसार को कृष्ण प्रेम में डुबा देना चाहते हैं। ज्ञान के समक्ष दोनों ही भक्ति को ऊंचा पद देने वाले हैं।

बस, ये ही इन दो महान् भक्त और अनुपमेय कलाकारों में समानताएं या विशेषताएं हैं।

प्रश्न—अन्य हिन्दी कवयित्रियों से तुलना करते हुए मीरांबाई की विशेषताएं दिखलाइये।

उत्तर—मीरा से प्रथम की किसी भी ऐसी हिन्दी कवियत्री का नाम नहीं मिलता, जिससे मीरा की तुलना हो सके। हां, मीरा के बाद में कई-एक कवयित्रियां हुईं, जिनसे मीरा की तुलना हो सकती है।

मीरा अत्यन्त भावुक, संस्कृत और कोमल हृदय की कवयित्री थी। साथ ही कृष्ण की अनन्य प्रेमिका भक्तिन भी थी। उसकी भक्ति मधुर भाव की थी। वह स्वयं को गोपी मान कर और कृष्ण को पति मान कर उपासना करती थी। यही माधुर्य भाव है। दास्य भाव, सख्य भाव आदि की भक्ति-भावनाओं में आत्म-समर्पण, तन्मयता, माधुर्य भाव होने अवश्य हैं, किन्तु उतने नहीं, जितने कि पति-पत्नी भाव में। संसार के सम्बन्धों में यह सबसे अधिक मधुर है। सो यही लौकिकपति विषयक प्रेम जब भगवदुन्मुख हो

जाता है, तब इसकी परम माधुर्य भाव संज्ञा हो जाती है। मीरा ने इसी भाव में भगवान् को भजा था। दूसरी विशेषता मीरा के काव्य की है, उसकी व्यक्तिगत अनुभूति दशा। मीरा की भावनाएं उसके भुक्त-भोगी हृदय से स्वाभाविक रूप से उद्भूत होती थीं और पूर्व की स्मृतियां और अनुभूतियां उनके विकासमें सहायक होतीं थीं। मीरा उनमें पूर्ण तन्मय होकर अपने आपको भूल ऐसे कार्य करती थी, मानों भगवान् साक्षात् ही उसकेसाम ने हों। उसके हृदय में अपने अलक्ष्य प्रियतम के लिए वैसी ही अधीरता, व्याकुलता और तन्मयता है, जैसी कि लौकिक प्रेमिका के मन में होती है। उनके सामने नाचती थी, गाती थी, रोती थी और हंसती थी। यह एकान्त तन्मयता उसकी कविता की तृतीय विशेषता है। ये सब भावनायें या दशाएं जैसे स्वाभाविक रूप में उदित होतीं थीं, उसी रूपमे इनका अभिव्यञ्जन भी हुआ। मीरा ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे उनका प्रकाशन किया है। यह निरछल स्वाभाविकता उसके काव्य की अन्य विशेषता है। यद्यपि अलंकार आदि काव्योपादान भी भावानुकूल सुन्दर रूप में कविता में आए हैं, तो भी मीरा ने उनके लिए मुख्य परिश्रम नहीं किया। वे स्वतः भाव के साथ ही आ गये हैं। मीरा की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर उसकी अन्य कवयित्रियों से तुलना की जाती है।

मीरा के पश्चात् के काल में अट्ठारहवीं ईस्वी शती में कबीरपंथी श्री चरणदास के सम्प्रदाय में सहजोबाई और दया बाई दो सन्त कवयित्रियां हुईं। ये दोनों गुरु बहिनें थीं। सहजोबाई की भक्ति प्रेम-मूलक थी। उसने श्रीकृष्ण प्रेम में अपने दीवानेपन का वर्णन किया है, जो बहुत मधुर है, अनुभूतिपूर्ण है और मीरा के साहित्य से बहुत प्रभावित है। किन्तु इस पर सन्तमत का विशेष प्रभाव है। पंथ के अनुसार इसने अपने गुरु श्री चरणदास को भगवान् से भी ऊंचा दर्जा दिया है। इसकी वाणी सन्त सिद्धांत से विशेष प्रभावित होने के कारण, हृदय पक्ष का उतना मार्मिक चित्रण इसकी कविता में नहीं हो पाया, जितना कि मीरा की-कविता में। इसकी अनुभूति और हार्दिक भावनाओं की स्वाभाविकता और गंभीरता में, मीरा की तुलना में, बहुत कमी है। दया बाई ने तो मुख्यतया विरक्ति और सन्त-

सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया है। अतः उसकी कविताओं की तुलना में मीरा की अनुभूतिपूर्ण भावात्मक कविताएं नहीं आ सकतीं, हां वे आ सकती हैं, जो मीरा ने पहले पहले निर्गुण सन्तों के प्रभाव मे इस प्रकार की ज्ञान वैराग्य की की थीं। उनमें भी अन्त में कृष्ण प्रेम की ही दुहाई है और वे अत्यल्प हैं। अतः दयाबाई के साथ तुलना का विशेष अवसर नहीं होता। दयाबाई के हृदय में माधुर्य का अभाव-सा ही है, जब कि मीरा के काव्य की वह विशेष विशेषता है। इनके अतिरिक्त रसिक बिहारी, बनीठनी जी और सुन्दर कुंवरिबाई के नाम आते हैं, जो ईस्वी की अट्ठारहवीं सदी में ही हुई थीं। बनीठनी जी भक्तवर नागरी दास की दासी थीं और सुन्दर कुंवरिबाई नागरीदास की बहिन थी, अतः दोनों ननद भावज थीं। इन्होंने प्रेम-भाव की अच्छी कविताएं की हैं। दोनों पर मीरा की शैली का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, किन्तु दोनों ही उस तक नहीं पहुँच पाई हैं। बनीठनी जी की भाषा परिमार्जित है और उसने मीरा के समान ही उसी शैली में अपने हृदय की प्रेमानुभूति का वर्णन करने का प्रयास किया है। किन्तु वह मीरा की अनुभूति, गंभीरता और भाव-तन्मयता को नहीं पहुँच पाई है। सुन्दर कुंवरिबाई को जीवन घटनाओं की मीरा की जीवन-घटनाओं से बहुत समानता पाई जाती है। उसके भी मातृगृह के और श्वसुरगृह के जीवन मे अनेक आपत्तियां, कष्ट और यातनाएं थीं। किन्तु उन सबका फल उस पर वैसा नहीं पड़ा जैसा मीरा पर। मीरा तो इन विपत्तियों को झेलकर जगन्मुक्त हो भक्तिन हो गई थी, किन्तु कुंवरिबाई में वैराग्य और भक्ति की वह सच्ची अनुभूति उद्गत नहीं हो पाई। कविता में भी भावात्मकतत्व की नितांत कमी है। उसने अधिकांश मे अपने काव्यकौशल के प्रदर्शन के साथ भगवान् की लीलाओं का वर्णन किया है। अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। किंतु उसकी कविता उतनी प्रतिभा और प्रभाव-पूर्ण नहीं, जितनी मीरा की। लीला-वर्णन भी उतना अच्छा नहीं जितना होना चाहिये था। भाव-पक्ष की तुलना का तो उतना अवसर ही नहीं है। भगवल्लीलाओं की वर्णयित्री इसके पहिले स० १६६८ में एक अन्य गंगाबाई नामक कवियित्री हुई हैं, जो वल्लभ सम्प्रदाय की दीक्षिता थीं और जिसने सुन्दर कुंवरिबाई से

कहीं अधिक सुन्दर लीला-वर्णन किया है। कहते हैं इन्हें लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। अतएव इनके लिए भी अधिक [illegible] होते थे। किन्तु इनका लीला-वर्णन के अतिरिक्त और कोई काव्य उपलब्ध नहीं होता। अतः मीरा की भावानुभूति और निवेदन का उनमें अभाव है। इनके समय की ही एक अन्य प्रेम-कवयित्री शेख का नाम आता है, जिसने कृष्ण प्रेम के पद लिखे हैं और लीला-वर्णन भी किया है। इसकी कविता में कवित्व और चमत्कारक उक्तियों के होने पर भी वास्तविक अनुभूति की गहराई जितनी उतनी नहीं है। अलौकिक प्रेम की बजाय उसमें लौकिकता की ही अधिक झलक आती है। लीला-वर्णन में मौलिकता नहीं है, वही ढंग परिपाटी पर किया गया है।

इनके पश्चात् मीरा की तुलना में, आधुनिक काल की दो अन्य महान् कवयित्रियों के नाम आते हैं, जिन्होंने नारी सुलभ कोमल वात्सल्य प्रेम आदि भावनाओं को लेकर, हृदयाभिव्यक्ति की है। ये नाम हैं, सुभद्राकुमारी चौहान और महादेवी वर्मा। भावों की कोमलता, सरलता, स्वाभाविकता और भाषा के प्रवाह की दृष्टि से मीरा और सुभद्रा में बहुत साम्य है। तन्मयता भी उभयत्र समान है। सुभद्राकुमारी ने नारी-सुलभ प्रेम, श्रद्धा, वात्सल्य और देश-प्रेम से पूरित कविताएँ प्रधानतया लिखी हैं और भाव में डूब कर तन्मय होकर लिखी है। मीरा के समान ही इनका हृदय भी भावुक है। मीरा के समान ही इनके भाव भी सरल और स्वाभाविक हैं और उनका प्रकाशन भी सरल स्वाभाविक और प्रवाहमय है। प्राचीन स्मृतियों के उदय के संकेत और त्याग की भावनाएं भी इनकी कविता में मीरा के समान ही मिलती हैं। किन्तु तो भी मीरा से वैषम्य भी है। मीरा जिस अनन्त विरह की व्याकुलता का अनुभव करती थी, वह इनमें नहीं है। इनकी विरह वेदना 'किसी ठुकराई हुई प्रेमिका' की है, जिसमें पुनः संयोग की भी आशा है। मीरा के व्यापक विरह में जो आत्मिक प्रफुल्लता, मादकता, तन्मयता और अलौकिकता व्यक्त होती है, वह इनकी कविता में नहीं है। महादेवी का भी मीरा से अनेक अंशों में साम्य है। मीरा की रसीली (मधुर) भक्ति तो अपनी अनूठी है ही, जिसकी समता इन में नहीं है। किन्तु मीरा के समान ही महादेवी भी जगत् को अपने मनोनुकूल न

पाकर, उससे विरक्त हैं और "अपने एक नये कल्पनामय छायालोक की सृष्टि कर उसमें रमण करना चाहती हैं।" इनके मन में भी मीरा के समान ही व्यापक वेदना है, जिसमें उल्लास भी है और मादकता भी। भावानुभूति की मीरा के समान ही इनमें भी प्रधानता है। किन्तु महादेवी मीरा से कहीं अधिक चिन्तनशील हैं, दार्शनिक सिद्धान्तों के वश में हैं, वे भावचित्र की बजाय भाव विश्लेषण अधिक करने लगती हैं, दार्शनिक सिद्धान्त के प्रकाशन के लिए क्लिष्ट-कल्पनाएं भी करने लगती हैं, अतः इनकी कविता में भाव दब-से जाते हैं, उतने स्वाभाविक सरल नहीं रहते और माधुर्य भी उतना नहीं रहता, उसके स्थान पर दार्शनिक शुष्कता-सी आ जाती है। ऐसे स्थानों पर अनुभूति भी कम हो जाती है। मीरा के समान ही महादेवी की भी वृत्ति अधिकतर अन्तर्मुखी है, दोनों को ही बाह्य जगत् में सुख नहीं मिलता, अतएव अपने कल्पना-लोक का आश्रय लेती हैं। किन्तु मीरा अपने कल्पना-लोक का स्पष्ट प्रत्यक्षवत् दर्शन करके उसके आनन्द में डूब जाती है और महादेवी का स्वप्न लोक या प्रियतम अस्पष्ट धुन्धला सा, रहस्यमय छायामय-सा रहता है। अतः आलम्बन के अस्पष्ट रहने से इनमें इतनी तन्मयता और विस्मृति नहीं है, जितनी मीरा में। महादेवी मीरा के समान अपनी भावनाओं को उद्गमित तो कर लेती हैं, पर उनमें तन्मयता से डूब नहीं पातीं, वहाँ उनकी दार्शनिकता और विचारशीलता आड़े आ जाती है। कहीं तो कल्पना इनकी इतनी अधिक होती है कि स्वाभाविक भाव का पूर्ण परिपाक नहीं होता। महादेवी की कविता में भी मीरा के समान कहीं कहीं भाव-संगीत और शब्द-संगीत मिलता है, पर प्रधानतया ये एक 'वैराग्य भावित' महिला हैं। इनकी कविताएं इनकी अनुभूत भावनाओं का एकत्रीकरण-सा है। और उधर मीरा की कविता उसके अपने हृदय की अनुभूत मार्मिक अभिव्यंजना है, जो स्वाभाविक और सरल है।

अथवा

श्रीमद्भागवत के भ्रमर गीत और नन्ददास के भ्रमर गीत की तुलना कीजिये। (नन्ददास का भ्रमर गीत अब पाठ्यग्रन्थ नहीं रहा।)

२. भक्ति मार्ग क्या है ? उसके गुण दोषों पर विचार कीजिये।

उत्तरः—धर्म के ज्ञान कर्म भक्ति आदि समस्त अंगों का मूल वेद से ही चलता है। समय-समय पर युगानुरूप इनमें से प्रत्येक का बलाबल रहा है। इन समस्त मार्गों का निरूपण गीता उपनिषद् पुराणों आदि में हुआ है। विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न अंगों का ग्रहण कर अपने-अपने को सर्वोत्तमसिद्ध करने का प्रयास किया है और उसी के आधार पर वेद उपनिषद् दर्शन आदि की व्याख्याएं की हैं।

बौद्धमत की प्रबलता मे, प्राचीन सनातन वैदिक धर्म का लोप हो जाने की दशा उपस्थित होने पर, श्रीमच्छंकराचार्य ने अपने अद्वैत मत की स्थापना करके बौद्धमत का खण्डन किया और तदनुसार ही दर्शनोपनिषद् गीता आदि धर्म ग्रन्थों की व्याख्या की। उन्होंने पारमार्थिक सत्ता केवल एकमात्र शुद्ध ब्रह्म की स्थापित की और इस समस्त सृष्टि को भ्रम, मिथ्या, अध्यास आदि बताया। उनके मत में केवल ब्रह्म ही सत् चित् आनन्दरूप है, अन्य सब मिथ्या है। किन्तु सब कुछ के मिथ्या होने पर और केवल ब्रह्म की ही सत्ता रहने पर, भ्रम किस वस्तु में और क्यों होता है? इसका उत्तर देने के लिए उन्होंने माया शक्ति की उद्भावना की। उनके मत से जीव भी ब्रह्म रूप ही है। किन्तु माया के कारण भ्रम-ग्रस्त होकर सांसारिक कष्ट भोगता है। मायाजनित इस भ्रम से छूटने पर जीव भी ब्रह्म रूप हो जायगा। और, माया से छूटने का साधन या कारण उन्होंने ज्ञान को बताया है, अर्थात् ज्ञानाचरण द्वारा जीव जीवदशा खोकर 'सोहम्' की ब्रह्म दशा प्राप्त कर सकता है। माया का विशेष वर्णन वे नहीं कर सके, उसे अनिर्वचनीय कह कर छोड़ गये। उनका ब्रह्म एक, अनादि, अनन्त, चैतन्यरूप, निर्विकार, निर्गुण शुद्ध रूप है। यद्यपि उन्होंने ब्रह्म की सगुण सत्ता को भी माना है, किन्तु इस सत्ता को माया-पिहित अतएव अज्ञान-परक कहा है और इसे ब्रह्म से निम्न स्थान दिया है।

किन्तु उनका यह शुद्धाद्वैतवाद या मायावाद केवल विशेष शिक्षित और उच्च मानसिक स्तर वाले व्यक्तियों के ही काम की वस्तु थी, सर्व साधारण के लिये यह विषय अशक्य था, इसलिए उनके इस मत का सार्वजनिक ग्रहण नहीं हुआ। ऐसी ही स्थिति में दक्षिण में श्रीमद् रामानुजाचार्य का उदय

हुआ। उन्होंने शांकर मत के मायावाद या शुद्धाद्वैत मत का खंडन करके कुछ विशिष्टता के साथ भागवत धर्म की पुनः स्थापना की। उन्होंने अपना नया वाद विशिष्टाद्वैतवाद चलाया। इस मत में माया को अनिर्वचनीय कह कर नहीं छोड़ा गया है, अपितु उसे परब्रह्म की ही अनादि शक्ति मान लिया गया है, जो जड़ रूप है। शक्ति और शक्ति वाले का क्योंकि अभेद होता है, इसलिए इन्होंने ब्रह्म के ही दो अंशों की कल्पना की—एक जड़ माया या प्रकृतिरूप, अचित् और दूसरा ब्रह्मरूप, चित्। इन दोनों ही रूपों से युक्त ब्रह्म को इन्होंने सृष्टि का कारण माना है। माया ब्रह्म की वशवर्तिनी सत्ता है और पुरुष अधिष्ठाता है। इस प्रकार से, इन्होंने चित् और अचित् से विशिष्ट ब्रह्म को मान कर अपना विशिष्टाद्वैतवाद चलाया। इस मत में ब्रह्म सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना गया है। निमित्त कारण कार्य से पृथक् रह कर कार्य को उत्पन्न करता है, जैसे घड़े को चक्र चीवर कुम्हार आदि बनाते हैं। उपादान कारण से कार्य उत्पन्न ही होता है, जैसे मिट्टी से घड़ा। इस मत में ब्रह्म में निमित्त और उपादान इन दोनों ही कारणों की विशेषताएँ अभिन्न (व्याप्त) हैं। वह सृष्टि में व्याप्त भी है और पृथक् सत्ता भी रखता है। अतः अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इस मत में भी परब्रह्म की दोनों सत्ताएं—निर्गुण और सगुण, स्वीकार की गई है, किन्तु निर्गुण को ये केवल ज्ञान का ही विषय मानते हैं, अनुभूति का नहीं और नाहीं उसको सर्व साधारण के लिये ग्राह्य समझते हैं। अतः इन्होंने ब्रह्म के सगुण रूप पर ही विशेष बल दिया। इनका मत है कि निर्विकारी पुरुष ही जब मायावश होकर नहीं, प्रत्युत संसार में धर्म आदि की हानि देखकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के वश होकर, अपनी शक्ति माया को साथ ले, प्रत्यक्ष रूप में अवतार लेता है, तो अपने पूर्ण प्रकट दर्शन देता है। अतः वही ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप है, उसी की उपासना करनी चाहिये। जो अप्रत्यक्ष है, निर्गुण-निराकार है, उसे स्थूल प्राकृतिक रागात्मक भाव का कैसे आधार बनाया जा सकता है? अतः इनकी दृष्टि में अलक्ष्य परब्रह्म से उसके अवतार रूप प्रत्यक्ष रूपों का अधिक महत्त्व है।

इनके मत में भी जीव और ब्रह्म में केवल अज्ञान या मायाकृत

अन्तर है, अन्य कुछ नहीं। और भी अंशी ब्रह्म से उत्पन्न, उसके ही अंश हैं, जो मोहाधिक होकर नाना कष्ट भोगते हैं। इस मत में, ब्रह्म के अपने रूपों में से, यथारुचि, किसी एक की उपासना करके, जीव माया जाल से पार होकर, सामीप्य, सायुज्य आदि मोक्षदशा का लाभ कर सकता है, जो कि उसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। यही विशिष्टाद्वैतवाद के आधार से चलने वाला भक्ति मार्ग है।

भक्ति का साधारण लक्षण होता है, "ईश्वरादिविषयक रति (प्रेम) भक्ति होती है।" मनुष्य के अलौकिक देवतादि आलम्बन के विषय के अनुराग को भाव या भक्ति कहते हैं। यह अनुराग कई सम्बन्धों में और कई ढंगों से हो सकता है। पिता पुत्र के रूप में, बन्धु के रूप में, बेटे के रूप में, गुरु शिष्य और स्वामी सेवक के रूप में और पति पत्नी के रूप में। इनमें से जीव को अपनी रुचि के अनुसार रूप स्वीकार करके इष्टदेव का भजन करना चाहिये। जीव को संसार से नाता रिश्ता तोड़कर, भगवदभिमुख होकर सब कार्य करके, उन्हें उसी के अर्पण कर देना चाहिये, जिस से कर्म संस्कार से बचा रहा जा सके। और, या फिर भगवत् सदार्चना के अतिरिक्त और कुछ कार्य ही नहीं करने चाहियें। इस प्रकार से जीव थोड़े प्रयास से भक्ति के अनुरूप सदाचरण करता हुआ सामीप्यलाभ या मोक्ष लाभ कर सकता है। इनके मत से भक्ति का यह मार्ग अन्य ज्ञान कर्म योग आदि के मार्गों से बहुत सरल है।

किन्तु इस मत में पथ-भ्रष्ट होने के भी अनेक अवसर हैं। संसार से विमुख होने पर व्यक्ति अकर्मण्य बन सकता है, साधारण कोटि के भक्त प्रायः ऐसे हो जाते हैं। उपासना में अंगरूप से बाह्यार्थ विधान अर्थात् धूप-दीप पूजा, प्रसाद, भजन, गानवाद्य, नृत्य आदि भोग की वस्तुओं की विद्यमानता रहती है, जिससे साधारण भक्त के भोग की आसक्ति में फंस जाने का अधिक अवसर रहता है। और भी, केवल भाव या देवतादि विषयक रति का ही आलम्ब लेने से, अज्ञान, अन्ध-विश्वास उत्पन्न होने का खतरा है। अतएव सद् भक्तों ने भक्ति का आलम्बन लेते हुए भी ज्ञान का साथ नहीं छोड़ा। इन आलस्य, अकर्मण्यता, आसक्ति और अन्ध विश्वास की मात्र-

नाओं से बच कर ही कोई भक्त अपने चरमलक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। अन्य खतरा भक्ति में सम्प्रदायवाद के संकुचित दृष्टिकोण का है। इस संकुचित दृष्टिकोण से शिव-भक्तों और विष्णु-भक्तों में और राम-भक्तों और कृष्ण भक्तों आदि में संघर्ष उपस्थित हो सकता है। इन दुर्गुणों से बचकर ही कोई भक्त अपने गन्तव्यस्थल पर पहुंच सकता है।

अथवा

तुलसी मत क्या है? उसकी विशेषताएं बताइये।

उत्तर—तुलसी का सिद्धांत विशिष्टाद्वैतवाद था रामानुज का। उनकी रचनाओं के अन्तः साक्ष्य से यह बात उचित रूप में सिद्ध हो जाती है। वे दीक्षित भी सगुणभक्त वैष्णवों के श्री सम्प्रदाय में थे। अतः स्वभावत उनका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत ही था। वे चिदचिद् विशिष्ट को ही ब्रह्म मानते थे। उनके मत में ईश्वर जीव और माया तीनों की पृथक् सत्ता है। इन तीनों का ही उन्होंने वर्णन भी किया है। उन्होंने संसार को ब्रह्म और मायामय ही कहा है, वे सियाराममय सब जग को जानते थे। उनके काव्य में यद्यपि यत्र तत्र, वैराग्य के, ज्ञान के, कर्म और योग के प्रतिपादक भी वाक्य मिल जायगे, पर सिद्धांतरूप में उन्हें विशिष्टाद्वैत ही स्वीकृत था, यह उनकी रचनाओं विशेषतया विनय पत्रिका के अध्ययन से सम्यक्तया व्यक्त हो जाता है। ज्ञान वैराग्य आदि के भाव उनकी भक्ति के अंग हैं।

तुलसी रामस्वरूप के उपासक थे। उनके मत में, राम सच्चिदानन्द परमब्रह्म ही थे, जो भूमि का भार हरने, धर्म स्थापना के लिए और लुप्त होती हुई लोकमर्यादा के पालन के लिए, भूमि पर चरित्र करने आये थे। उनके साथ उनकी अन्य शक्तियां भी आई थीं। वे संसार की मर्यादा के पालन के हेतु मायाधीश्वर होते हुए भी मानो मायाधीन होकर चरित्र कर रहे हैं। समस्त जीव उन्हीं के अंश से उद्भूत तद्रूप ही हैं, जो अपने माया के अभिमान को छोड कर सारूप्य (मोक्ष दशा इस मत में) लाभ कर सकते हैं। माया के पंजे से छूटने को मायापति श्रीराम की उपासना करनी चाहिये। उन्हीं के ऐश्वर्य गुण आदि का गान, कीर्तन, भजन, उनकी लीलाओं में निरंतर रमण करते हुए, ज्ञान, वैराग्य, सत्कर्म पूर्वक पवित्र जीवन

यापना करते हुए जीव का कल्याण हो सकता है। तात्कालिकी अमर्यादित लोक दशा में उनको रामरूप ही मँगलदायक प्रतीत हुआ, अतः उन्होंने उसी की अनन्य भक्ति की। तुलसी वस्तुतः ज्ञानी नहीं थे शुद्धाद्वैतवादी; वे तो परमभक्त अनन्य रामचरणानुरागी थे। उन्होंने राम से सदैव भक्ति का ही वरदान मांगा है। रामभक्ति के साथ उन्हें नर्क भी सुखदायक और उसके बिना स्वर्ग भी दुःखदायक लगता हैं। अनेक स्थलों पर उन्होंने भक्ति को सर्वसुलभ बताया, ज्ञान को उसके बराबर का दर्जा नहीं दिया है। कृष्ण का गान भी उन्होंने किया है, किन्तु इष्ट देव उनके राम ही थे, जिनको छोड उन्हें और कोई नहीं भाता था। कृष्ण का गान उनकी आन्तरिक ज्ञान की अभेद दृष्टि का परिचायक है, जिसके द्वारा वे विष्णुत्व को कृष्ण में भी देखते थे। और, विष्णुत्व के आ जाने का अभिप्राय था, कृष्ण में रामत्व का भी आ जाना, क्योंकि राम भी विष्णु रूप ही थे। वस्तुतः प्रधान इष्ट उनके मर्यादापालक राम ही थे।

तुलसी की भक्ति सेव्य सेवक भाव की थी। वे राम को स्वामी और अपने को या संसार को उनका सेवक मानते थे। सेवक जैसे अपने जीवन का भार स्वामी पर छोडकर, केवल उसीके लिए जीवन व्यापार(कार्य)करता हुआ निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही तुलसी भी राम पर अपनी सब चिन्ता छोड कर, अनन्य भाव से उन्हीं के निमित्त करते थे, जो करते थे। समर्पण, रामार्पण ही उनका मूल मंत्र था। सेव्य सेवक भाव में स्वामी में पूर्ण श्रद्धा, विश्वास, उसके ऐश्वर्य के प्रति आश्चर्य और आदर, उसकी असीम शक्ति में अटल भरोसा, उसके सौन्दर्य, शील, उदारता आदि गुणों के प्रति अमित अनुराग आदि भाव होते है। अपने विषय में दास अत्यन्त हीनता, तुच्छता, अयोग्यता, निरभिमानता आदि का अनुभव करता है। संसार की आसक्ति से उसका कुछ प्रयोजन नहीं होता है, क्योंकि ऐसा करने पर उसके दास्य कर्म (प्रभु सेवा) में बाधा पहुँचेगी। उपर्युक्त भावनाएं तुलसी की रचनाओं मे, विशेषतः विनयपत्रिका में, प्रचुर परिमाण में प्राप्त होगी। अतः तुलसी सेवक भाव से राम को भजते थे।

इसके अतिरिक्त, तुलसी की भक्ति एक बड़ा भारी समन्वय है, जोकि

उसकी अन्यों से विशेषता है। उसमें अनेक असमन्वित पदार्थों के समन्वय उपस्थित किये गये हैं। तुलसी की भक्ति ज्ञान से रहित नहीं है। ज्ञान का समन्वय उसके साथ सदैव रहता है। ज्ञान दृष्टि की उदारता से ही वे किसी भी देवता में, पशु-पक्षी में भेद नहीं देखते। उनकी भक्ति में सबके लिए समान स्थान है। यहाँ तक कि पशु और पक्षी और मनुष्य तक में भेद नहीं। मानस के प्रसंगों मे अनेक पशु-पक्षी राम-भक्ति से गति प्राप्त करते हैं। इसी ज्ञान दृष्टि से वे सम्प्रदाय के संकुचित भाव से भी दूर रहे। उन्होंने राम कृष्ण में केवल भक्त की रुचि का भेद देखा, पारमार्थिक नहीं। उन्होंने ब्रह्मा विष्णु महेश, इन तीनों देवताओं का भी समन्वय उपस्थित किया, इन तीनों को इन्होंने एक ही देव की मूर्ति बताया। राम शिव की उपासना करते हैं, शिव राम की। इस प्रकार ज्ञान के सहयोग से ही इन्होंने यह सम्प्रदाय विरोध का भी समन्वय उपस्थित किया। किन्तु रामभक्ति के बिना कोरा ज्ञानवाद ये व्यर्थ बताते हैं। ऐसे पाखंडी ज्ञानियों की इन्होंने बहुत निन्दा की है। ज्ञान के साथ इन्होंने कर्म को भी नहीं छोड़ा है। इनकी भक्ति संसार से विमुख करके अकर्मण्य बनाने वाली नहीं, अपितु कर्म, सत्कर्म की प्रबल प्रेरणा भी देती है—रावण के समान आचरण नहीं करो, राम के समान करो। सांसारिक सम्बन्धों में, सब का आदर्श उपस्थित किया है। मर्यादा का तुलसी को विशेष ध्यान रहा है। शास्त्रीय, वैदिक, स्मार्त मर्यादाओं के साथ उन्हें लोक मर्यादा का भी पूर्ण ध्यान रहा है। अतः तुलसी की भक्ति अकर्मण्य नहीं, प्रत्युत मर्यादित कर्म वाली है। तुलसी ने अपनी भक्ति में अध्यात्म और लोक दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। उनकी भक्ति कृष्ण भक्तों के समान केवल अन्तर्मुखी, अपनी ही व्यक्तिगत साधना में परायण नहीं है, अपितु उसमें लोक-संग्रह की भी उतनी ही उदात्त भावना है, जितनी कि व्यक्तिगत अन्तः साधना की। इस प्रकार भक्ति में तुलसी ने सत्कर्म का परित्याग नहीं किया। साथ ही योग और वैराग्य का साथ भी नहीं छोड़ा। योग के यमनियमादि के अपालन से भक्त कर्तव्यच्युत होकर भटक सकता है। इसलिए योग का भक्ति के साथ समन्वय है। वैराग्य के बिना भी भक्त भोग की

आसक्ति में फँस सकता है, अतः तुलसी ने वैराग्य को भक्ति के साथ रखा है। भक्त के सिर पर ज्ञान और वैराग्य का अंकुश न रहने से, वह कर्तव्य-भ्रष्ट हो सकता है।

धर्म का और तुलसी की भक्ति का कहीं साथ नहीं छूटता। धर्म उसका प्राण है। धर्म की मर्यादा सर्वोच्च है। राम एक पग भी धर्म की मर्यादा से बाहर नहीं जाते, क्योंकि धर्म संस्थापनार्थ ही तो उनका अवतार हुआ है। इस प्रकार तुलसी की धर्म भक्ति की प्रतिमूर्ति सी सांगोपांग निरूपित हुई है उनकी कृतियों में।

अपने इसी व्यापक और उदार दृष्टिकोण से, तुलसी की भक्ति भक्ति के उपरोक्त अनेक दुर्गुणों में से बची रह कर, भक्ति मार्ग का भी एक आदर्श रूप उपस्थित करती है, जिसमें लोक और परलोक दोनों सिद्ध होते हैं। ऐसी भक्ति के बिना वे जगत् को मिथ्या बताते हैं।

४. निम्नलिखित दो पर आलोचनात्मक विचार प्रकट करिये :—

(क) तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों का जितना यथातथ्य, स्पष्ट और बहुत कुछ पूर्ण परिचय हमें विनय पत्रिका के पदों से मिल सकता है, उतना कदाचित उनकी अन्य रचनाओं में किसी से नहीं।

उत्तर—विनय पत्रिका वस्तुतः तुलसी का सिद्धान्त-ग्रन्थ है। मुक्तक है, गाने योग्य पदों में लिखा गया है। प्रत्येक पद का विषय स्वतन्त्र है। अतः उसमें अपने आध्यात्मिक विचारों के प्रकाशन का जितना अवसर था उतना, मानस में नहीं। तुलसी ने इस विनय पत्रिका में सभी विषयों का समावेश किया है। राम के रूपों का वर्णन है। भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन है। ज्ञान वैराग्य, धर्म, कर्म, आचार आदि का वर्णन है। भगवान् के प्रति भक्त के आवेदन हैं, अपनी लघुता, पाप आदि का कथन है, आत्मग्लानि, पश्चात्ताप आदि के पद हैं, भगवान के ऐश्वर्य का, जगत की निस्सारता आदि का वर्णन है। कलियुग के पाप और अत्याचारों का वर्णन है और उनको देखकर एक परितप्त भक्त के मन में जो भी भाव उठ सकते हैं, वे सब विनय पत्रिका में मिलेंगे। विशेषतः उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का तो स्पष्ट और सांगो-

पांग वर्णन किया है। ब्रह्म, माया, जीव, जगत् से लेकर ज्ञान कर्म उपासना, योग, वैराग्य आदि सभी विषयों पर अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया है। उनका परिशीलन करके बड़ी सुविधा और निश्चय-पूर्वक तुलसी के आध्यात्मिक विचारों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अतः विनय-पत्रिका के विषय में प्रश्नगत उक्ति सर्वथा ठीक ही है। विनय पत्रिका तुलसी के आध्यात्मिक विचारों का वस्तुतः बहुत शुद्ध संकलन है, जोकि उनकी प्रौढ़ काल की रचना है और अतएव जिसमें उनके विचार बहुत परिपक्व और परिमार्जित रूप में प्राप्त हो सकते हैं। विनय पत्रिका वस्तुतः तुलसी-पद्धति का दर्शन है, जिसमें सूत्र रूप में उनकी समस्त पद्धति का निरूपण है।

(ख) हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है।

उत्तर—सूर वस्तुतः भाव प्रधान कवि थे। मानव-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की भी उन्हें पूरी परख थी। उनकी भक्ति क्योंकि माधुर्य भाव की थी, शुद्ध प्रेम लक्षणा, अतएव उन्होंने हृदय के मधुर पक्ष का ही अधिकतर चित्रण किया। उनका प्रधान रस शृंगार था, जिसे उन्होंने महारस कहा है। यह दो वियुक्त हृदयों की सम्बन्ध भावना का ही रूप है। सृष्टि का चरम माधुर्य इसी सम्बन्ध भावना में निहित है। सूर ने इसीको लिया। इस सम्बन्ध भावना में जितना माधुर्य हो सकता है, अन्य किसी में नहीं। सूर ने इस सम्बन्ध भावना या शृंगार के दोनों रूपों का ही सर्वाधिक चित्रण किया है। संयोग और वियोग दोनों का सूर ने अनुपम वर्णन किया है। संयोग का अनुपम रूप उनके लीला वर्णन या रास वर्णन में मिलता है और वियोग का विशद और व्यापक रूप कृष्ण-विरहणी गोपिकाओं में मिलता है, भ्रमर गीत जिसका अनुपम चित्र है। कहना नहीं होगा, भाव पक्ष के लिए भ्रमर गीत, सूर सागर का सार माना जाता है। इस मधुर सम्बन्ध भावना के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के माधुर्य की ओर भी सूर निरपेक्ष नहीं रहे। इस सम्बन्ध भावना में वात्सल्य भी आ जाता है। यशोदा और नन्द के स्नेह में ममत्व का कैसा सुन्दर चित्रण

हुआ है ! इसी प्रकार गोप ग्वालों का सख्य भाव भी कितना प्रस्फुटित हुआ है ! किन्तु विशेष रूप से सूर ने रति-भाव का ही वर्णन किया है, क्योंकि इससे मधुरतर सम्बन्ध भावना सृष्टि में अन्य नहीं हो सकती। कृष्ण के जीवन के उन्हीं अंशों का विशेष चित्रण किया है, जिनमें इस सम्बन्ध भावना का प्रामुख्य है। अतः सूर ने सम्बन्ध भावना का अच्छा प्रसार दिखाया है, यह कहना उचित ही है। इस सम्बन्ध भावना की सूक्ष्मता, गंभीरता और विशदता में सूर को अन्य कोई कवि नहीं पा सकता। वे इस क्षेत्र में अनुपम हैं।

(ग) सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीतकाव्यों की शैली पर है।

उत्तर—सूर से पहिले गीति-परम्परा हिन्दी में चालू हो चुकी थी। हिन्दी में यह परम्परा सर्वप्रथम वीर-गीतों के रूप में वीरगाथा काल में होती है। भाट चारण लोग मुक्तक गीतों में अपने आश्रयदाता राजा के शौर्य वीर्य आदि का गान गाने योग्य मुक्तक गीतों में किया करते थे। इसके पश्चात् यही गीत-पद्धति वीरगाथा काल के संघर्ष के अन्त हो जाने पर भक्तों द्वारा भी अपना ली जाती है। भक्तों मे पहिले ज्ञानमार्गीय आदि और योगपंथी सन्त नाथ लोग ब्रह्मज्ञान और वैराग्य विषयक सिद्धान्तों या उपदेशों का ऐसे ही गाने योग्य गीतों में प्रतिपादन किया करते थे। भक्तों मे सर्व प्रथम विस्तृत रूप में इस पद्धति का प्रयोग जयदेव, विद्यापति चण्डीदास ने किया है। इनमें से जयदेव ने संस्कृत मे गीत गोविन्द की रचना की। गीत गोविन्द में कृष्ण चरित विषयक राग रागनियों में पद लिखे गये हैं। विद्यापति ने मैथिली हिन्दी में कृष्ण राधा के प्रेम के सुमधुर चित्र गेय पदों में उतारे हैं और चण्डीदास ने बंगला में कृष्ण प्रेम के गीत लिखे हैं। गीत पद्धति में एक टेक या ध्रुवपद रख कर बाद में अन्य यथेच्छ-संख्यक पद जोड दिये जाते हैं।

सूर ने इसी पद्धति का अनुकरण किया है। उन्होंने इतने परिमाण में गीत लिखे हैं, जितने अन्य किसी ने नहीं लिखे। पद्धति उन्होंने भी यही रखी, एक टेक रखकर बाद मे अन्य पद जोड़े हैं और सारा का सारा

पद किसी न किसी राग या रागनी में बँधा हुआ है। किन्तु अपनी प्रतिभा, काव्यकौशल, कल्पनाशक्ति और मनोविज्ञान की परख के बल पर सूर अपने इन पूर्ववर्ती कवियों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। जयदेव में संगीत, पद-लालित्य और भाव की रसमयता तो अवश्य है, किन्तु सूर की-सी वर्णन-विविधता नहीं है। उनके समस्त पदों में एक ही ढंग-सा बरता गया है, सूर के समान विविध प्रसंगों की उद्भावना कर वे उसमें विचित्रता नहीं ला सके हैं। विद्यापति ने भी यद्यपि जयदेव के समान ही मुक्तक मधुर पदों में राधा कृष्ण के विविध प्रेम प्रसगों का वर्णन किया है, जो अत्यन्त मधुर होते हुए भी सूर के समान अलौकिक नहीं हो पाया। विद्यापति ने वस्तुतःलौकिक शृंगार का ही वर्णन किया है, जो अनेकत्र भक्ति की मर्यादा से बाहर चला जाता है। अतः विद्यापति के कृष्ण प्रेम में लौकिकता ही रहती है, सूर के समान आध्यात्मिकता उनमें नहीं रहती। चण्डीदास ने भी बंगला में ऐसी ही कोमल-कान्तपदावली में कृष्ण प्रेम के ऐसे ही सुन्दर और मधुर गीत लिखे हैं, किन्तु उनमें लीला-वर्णन का अभाव है। सूर ने लीलाओं का भी उतना ही विशद वर्णन किया है, जितना कृष्णविषयक प्रेमभाव का। इस प्रकार से जयदेव आदि कवि सूर के आदर्श होते हुए भी सूर अपनी मौलिकता और प्रतिभा के बल से उनसे कहीं आगे बढ़ गये हैं। सूर ने अपने गीतों में वस्तुतः अपने आदर्शभूत इन कवियों की समस्त सद् विशेषताओं को लाकर, अपनी मौलिकता और प्रतिभा से, उन्हें अनुपम बना दिया है।

(ब) भ्रमरगीतसार का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः निर्गुणवाद का खण्डन और गुणवाद का प्रतिपादन है।

उत्तर—(भ्रमरगीतसार अब परीक्षा में नहीं है, तो भी कुछ संकेत दिये जाते हैं) भ्रमरगीत सूर सागर का सर्वाधिक रसमय प्रसंग है। इसमें भ्रमर नाम से उद्धव को सम्बोधित कर गोपियां अपने तर्क और अनुभव के आधार पर उसके ज्ञानवाद का खण्डन करती हैं। सूर ने इस प्रसंग से दो काम निकाले हैं। एक तो वियोगपक्ष की अत्यन्त मधुर अभिव्यंजना की है, पद-पद में, गोपियों की विरहानुभूति का सागर उमड़ता है और दूसरे ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। ज्ञानमार्ग को शुष्क तर्कवाद

और अव्यवहार्य बता कर उसका खण्डन किया गया है। सूर के समय में ज्ञानमार्गियों द्वारा भक्ति की बड़ी छीछालेदर की जा रही थी। ज्ञानी सन्त और नाथों ने भक्ति का बुरी तरह खण्डन किया था और आये दिन पुनरुद्‌गत भक्ति मार्ग वालों से उनके शास्त्रार्थ विवाद हुआ करते थे। सूर ने भी अपने सागर में भ्रमरगीत की उद्‌भावना कर, ज्ञान को भक्ति के समक्ष पराजित किया है। उद्धव को भी श्री कृष्ण इसी लिये व्रज भेजते हैं कि उसकी ज्ञान की असम्पूर्ण शुष्कता दूर होकर वह प्रेमरसिक हो जाय। उनका गुप्त उद्देश्य यही था, क्योंकि वह सदैव उनके साथ रहता हुआ भी नीरस बातें करता था और कृष्ण अपने प्राचीन व्रज प्रेम का वर्णन किसी को सुना नहीं पाते थे। उसकी इसी शुष्कवृत्ति को सरस करने को उन्होंने उसे गोपी-गुरुओं के पास भेजा था। उद्धव-भ्रमर शुष्क ज्ञानवाद का प्रतीक है। उसकी समस्त उक्तियां तर्क और विचार की उक्तियां हैं, जो कोरी हैं, शुष्क हैं, जिनमें प्रेम के नाम को कुछ नहीं। गोपियां उन सब का अपनी प्रेम कसौटी, एकान्त सरस प्रेमानुभूति के बल पर खण्डन करती हैं। बीच-बीच में व्यंग्य की चोटें भी चलती हैं। और, अन्त में उद्धव की बोलती बन्द हो जाती है और उसे कोई उत्तर नहीं सूझता। वह गोपियों के पांव पकड़ कर उनके मार्ग का अनुगामी बन जाता है। स्पष्ट ही यह भक्ति-मार्ग की ज्ञान मार्ग पर एकान्त विजय ही है। तर्क से अनुभूति को ऊँचा दर्जा दिया गया है और इस प्रकार अशिक्षित ग्रामीण किन्तु प्रेम-योगिनी गोपियों से एक प्रसिद्ध ज्ञानी योगी सन्त को मुंह की खानी पड़ती है। वह कान पकड़ कर, ज्ञानवाद को भ्रम और संशय बताता है और भक्त बन कर मथुरा जाता है।

सूर ने स्पष्ट रूप में इस प्रसंग की उद्‌भावना करके, निर्गुण ज्ञानवाद का खण्डन करके, अनुभूतिमूलक सगुण वाद का प्रतिपादन किया है।

(८) उक्ति वैचित्र्य और अर्थ गौरव का कैसा जीता जागता वर्णन विनय-पत्रिका में मिलता है, वह देखते ही बनता है।

उत्तर—वियोगी हरि जी की विनय पत्रिका के विषय में यह उक्ति सर्वथा सत्य है। इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता। कारण, विनयपत्रिका

गोस्वामी जी की प्रौढ़ रचना है, प्रौढ़ काल की, जबकि वे रामचरित मानस जैसे महा-काव्य की रचना कर चुके थे। अतः इस में उक्ति-वैचित्र्य अर्थ-गंभीर्य और गौरव सबसे अधिक मिलना स्वाभाविक ही है। तुलसी महाकवि थे, अतः उनकी रचना में भरती के पद बहुत कम मिलेंगे। एक एक शब्द से, एक-एक लहजे से, उन्होंने बड़े-बड़े व्यंग्य अर्थों का अभिव्यंजन किया है। विनयपत्रिका में इन दो गुणों के प्रदर्शक असंख्य पद मिलेंगे। दो चार उदाहरणार्थ यहां दिये जाते हैं। देखिये, निम्न पंक्ति में, भगवान् का कैसा सार्थक नाम पुकारा जाता है, प्रकरण के अनुकूल—

तुलसिदास भव व्यालग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी !

संसार रूपी सर्प से जकड़े हुए, तुलसी सर्प-भोजी गरुड़ का वाहन रखने वाले प्रभु का आवाहन करते हैं। भगवान् को कष्ट नहीं देना चाहते। उनका गरुड़ ही भवव्याल को खाकर उन्हें मुक्त कर देगा। अतः तुलसी का उरगरिपुगामी पद का चुनाव बहुत ही साभिप्राय है। देखिये, इस पद में कितना गंभीर और उदार अर्थ है—

हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बांधि है, सहि न जात मोपै परिहास एते॥

हे राम! अब तक तो आप की करतूत मैं देखता रहा, पर आप चेते नहीं, पर मैं अब पुतला बांधूंगा, क्योंकि अब मेरे से इतने परिहास सहे नहीं जाते। बाजीगर को खेल दिखाने पर भी जब पैसे नहीं मिलते, तो वह सूम का पुतला बनाकर उस का अपमान किया करता है, जिससे सूम (जिसने उसे कुछ न दिया हो) लज्जित होकर उसे कुछ दे दे। इस पुतले बांधने के कार्य का तुलसी ने कैसा प्रयोग किया है! तुलसी की लोग हंसी उड़ाते हैं कि यह राम-सेवक की कैसी दशा है, यह अपने स्वामी की झूठी ही बड़ाई करता है। इसकी कोई नहीं सुनता, आदि। तुलसी इस से तंग आकर ही भगवान् का पुतला बांधने चले हैं जिससे सूम भगवान् को लज्जित होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार निम्न पक्ति में देखिये सीधी सादी बात को किस भंगी से किस विचित्रता से कहा गया है!

हौं सनाथ ह्वै हौं, सही तुमहुँ अनाथपति, जो लघुतहिं ना भितै हौ।

में भी सनाथ हो जाऊंगा और आप भी सच्चे अर्थों में अनाथपति हो जायें, यदि आप (मेरी) लघुता से न भीत हों। बड़े लोग छोटों से घबराया करते हैं, क्योंकि उनकी संगति से उनका दर्जा कम होता है, दूसरे कुछ मांग न बैठे, यह डर भी रहता है। तुलसी ने कैसी मार्मिक वचन-भंगी से इन्हें कही है इसी तरह—

विनय पत्रिका दीन की, बाप! आप ही बांचो।

में 'बाप' शब्द देखिये कितना उचित रखा है, जो अत्यन्त गहन सम्बन्ध का द्योतक है। राजदरबारों में राजा को पत्रिका पढ़ कर सुनाई जाती है। यहाँ तुलसी उन्हें स्वयं बांचने को कहते हैं, क्योंकि दीन की पत्रिका को मुसाहब लोग इधर उधर फेंक देते हैं। इसी पद की अगली पंक्ति में उन्हें, पढ़ कर स्वीकृति के हस्ताक्षर करके फिर पँचों से पूछने को कहते हैं। उन्हें, डर है कि कहीं पँच दीन की प्रार्थना में भाजी न मार दें। किन्तु यह सब 'बाप' शब्द के बल पर कहने का साहस हो रहा है। राजा या स्वामी से तो इतना कहने की रचना करने का कौन साहस करेगा? और, करने पर भी विपरीत फल मिलने की ही अधिक संभावना है।

इस प्रकार के उक्तिरत्नों से विनय पत्रिका में ढेर लगे पड़े हैं। ये दो चार ही पर्याप्त हैं।

४ किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(क) रास पंचाध्यायी में कृष्ण का स्वरूप। (नन्ददास का यह ग्रन्थ अब परीक्षा में नहीं रहा है।)

(ख) नन्ददास के दार्शनिक विचार। (यह कोर्स बाहर हो गया है)

(ग) सूर की विशेषताएं।

उत्तर—सूर गुसाईं महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे और कृष्ण के मधुर रूप के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने गुरु श्री भागवत के कथनानुसार भागवत का सुन्दर पदों में अनुवाद किया था, जो सूर सागर के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में कृष्ण के समस्त चरित्र का विशेष वर्णन न करके, सूर ने वात्सल्य, मधुर और प्रेम लक्षणा, भक्ति के उपयुक्त, उनके [illegible] और किशोर रूप का ही विशेष चित्रण किया है। सूर ने

ये पद वस्तुतः राग रागनियों में बांध कर गाने के लिये लिखे हैं। पदों में कृष्ण के रूप-वर्णन से लेकर उनकी बाल-क्रीड़ा, यौवन-लीला, रासलीला, प्रार्थना-विनय आदि विषय रखे हैं।

सूर महाकवि थे और संगीताचार्य भी। अतः उनके काव्य में भाव और संगीत का समन्वय "सुवर्ण गन्ध योग." को चरितार्थ करता है। सूर का प्रधान रस शृंगार रहा है और उसीके दोनों पक्ष संयोग और वियोग का उन्होंने सांगोपांग विशद वर्णन किया है। साथ में वात्सल्य भी आया है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों की भी अवतारणा सूर ने की है, किन्तु बहुत कम। नहीं तो, मुख्यतया उन्होंने शृंगार की ही मधुर २ अभिव्यञ्जना की है। सूर का शृंगार अलौकिक है। उस में लौकिकता की गंध नहीं आती। सूर ने इस रस में जो कुछ लिख दिया है, उस तक कोई नहीं पहुँच सकता। संयोग, वियोग और वात्सल्य का कोई भी कोना सूर ने बिना झांके नहीं छोड़ा है। अतः अन्यों के वर्णन को सूर की जूठन माना जाता है। सूर मधुर भावनाओं के कवि थे और उन्होंने मधुरतया ही उनका अभिव्यंजन किया है जिससे श्रोता झूमे बिना नहीं रहता।

सूर बाल कृष्ण के सेवक थे और युवा कृष्ण के सखा थे। अतः सूर ने इन दोनों भावों—सेव्य सेवक भाव और सख्यभाव—से भक्ति की है।

सूर की भाषा शुद्ध व्रजभाषा थी, जो पहिले से साहित्य में चल चुकी थी, परन्तु जिसे सूर ने सुन्दर परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया था। सूर की व्रजभाषा में संस्कृत, अरबी, फारसी, अवधी आदि के शब्द भी मिश्रित मिलते हैं। परन्तु मूल रूप में वह शुद्ध व्रज है, जिस में ठेठ बोलचाल की व्रजभाषा की छटा भी बिखरी हुई है। सूर की भाषा वशवर्तिनी थी और विषयानुरूप रूप-परिवर्तन करती चलती थी।

सूर संगीत के भी आचार्य थे। उन्होंने असंख्य राग रागनियों में बाँध कर पद लिखे हैं। उनमें से अनेक रागों का तो अब कोई नाम भी नहीं जानता, लक्षण तो दूर।

भाव-सौन्दर्य के साथ सूर काव्य कला के भी परम आचार्य थे। काव्य के सभी उपादानों—रस रीति अलंकार आदि—का यथोचित सुन्दर

समावेश उन्होंने किया है। काव्य की कला ने उनके भावों को अनावश्यक दबाया नहीं, अपितु उनका शृंगार किया है। कोरा काव्य-कौशल भी सूर ने साहित्य-लहरी में दिखाया है, जो इसीलिये दुरूह हो गई है।

सूर ने प्रकृति-वर्णन भी किया है, परन्तु अपने रस के अङ्ग रूप में। तो भी उसमें मौलिकता है, चमत्कार है। विभिन्न ऋतुओं में शरद्, वर्षा और वसन्त का विशेष वर्णन किया है, क्योंकि शृंगार में उद्दीपन का कार्य विशेषतः ये ही ऋतुएँ करती हैं।

सूर की प्रमुख विशेषताएँ ये ही हैं। इनके अतिरिक्त छोटी मोटी अन्य भी अनेक विशेषताएँ हैं, पर उनके लिये यहां स्थान नहीं है।

(घ) रास पंचाध्यायी अथवा पद्मावत का कथानक। (कोर्स बाह्य है)

(ङ) जायसी पर सूफीमत का प्रभाव। (देखिये प्रश्न पत्र १म स० २००२ प्रश्न ५ (ऊ) भाग)

(च) रास और मुरली का महत्व।

उत्तर—कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय या वल्लभ-सम्प्रदाय में रास और मुरली का विशेष महत्व है। सूर ने भी इनमें अपनी मौलिक प्रतिभा के सयोग से अलौकिकता उत्पन्न कर दी है। पुष्टि मार्ग में रास और मुरली को आध्यात्मिक रूपक दिया गया है। कृष्ण परब्रह्म हैं, मुरली उनकी योगमाया है, जो अपने गम्भीर और आकर्षक स्वर से समस्त जीवों का आह्वान करती है, उनकी मोह निद्रा तोड़ कर, उन्हें जागरूक करती है। गोपियाँ जीवों की प्रतीक हैं। उन्हें कृष्ण अपनी योगमाया मुरली के स्वर से अपने पास बुलाते हैं। वे उसके आकर्षण को सँभाल नहीं सकतीं और तत्काल गृह व्यापार को छोड़ कर उनके पास जा पहुँचती हैं। रूपक द्वारा, मुरली का आकर्षण समस्त जगत् से नाता तुड़वा देता है और भगवत्सामीप्य प्राप्त करा देता है। इसी आध्यात्मिक रूपक के आधार पर सूर आदि महाकवियों ने मुरली के अलौकिक प्रभाव का वर्णन किया है। भागवत में उसी का वेणुवादन रूप में वर्णन हुआ है। रास का भी इसी प्रकार आध्यात्मिक रूप है। सूर ने रास को गान्धर्व विवाह बताया है। रास का आध्यात्मिक अर्थ, इसी प्रकार, जीव और ब्रह्म का आध्यात्मिक संयोग या सारूप्य बताया

है। परब्रह्म कृष्ण अपनी योगमाया रूपी मुरली से गोपी रूप समस्त जीवों का आह्वान करते हैं और वे उनके समीप एकत्रित होकर आनन्द-लाभ करते हैं। रास में गोपियां कृष्ण को सर्वस्व समर्पण कर, उनकी हो रहती हैं, अतः परकीया न रह कर स्वकीया हो जाती हैं। सवभावेन इस प्रकार पूर्ण आत्मसमर्पण कर भगवदर्पण हो जाना ही वस्तुतः रास से अभिप्रेत है। लौकिक संयोग के रूपक से आध्यात्मिक संयोग का ही अभिप्राय है। वहां जाने पर आनन्द की एकान्त तन्मयता की दशा उपस्थित हो जाती है। जब किसी के हृदय में अभिमान व्यक्त होता है तो कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं और जब विरह में व्याकुलता अत्यन्त बढ़ जाती है तो पुनः प्रकट हो जाते हैं, जैसा कि उन्होंने राधा के साथ किया। इससे भी आध्यात्मिक रूपक ही स्पष्ट हो जाता है। अभिमान में आत्मसमर्पण नहीं होता, अतः भगवान् दूर रहते हैं और जब अनन्य प्रेम जनित विरह वेदना जागृत होती है तो फिर अपना लेते हैं। रास के इसी आध्यात्मिक रूपक के महत्व को समझते हुए सूर आदि ने रास को अत्यधिक महत्व दिया है। आचार्य वल्लभ ने कृष्ण भक्त की अन्तिम प्रशान्ति, तन्मयता रास में ही मानी है। इस लिए, प्रायः सभी कृष्ण भक्तों ने रास का खूब वर्णन किया है। वस्तुतः पुष्टि मार्ग में रास और मुरली को यही आध्यात्मिक प्रतीक स्वीकार करके उनको इतना अधिक महत्व दिया गया है।

(छ) कबीर और तुलसी के जन्मकाल की विवेचना।

उत्तर—भारतीय सन्त महात्मा कवियों आदि के वृत्त के विषय में प्रायः सन्देह ही रहता है। क्योंकि, उन्होंने अपने लघुता के भाव में आकर अपने जन्म की घटनाएँ आदि लिखना व्यर्थ समझा है। और, अन्य कोई ऐसा प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं होता, जिसमें इन महात्माओं के जीवन वृत्त प्रामाणिक ढग से लिखे हों। अत इन महात्माओं के जीवन आदि के विषय में अधिकतर अनुमान से ही काम चलाना पड़ता है। कबीर और तुलसी के जन्म सम्वतों के विषय में भी अन्तर्बाह्य साक्ष्य के आधार

पर खोज करके ऐतिहासिकों ने जो मत स्थिर किये हैं, उनका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जाता है।

कबीर के जन्म संवत् के विषय में कबीर के पंथी शास्त्रों से कुछ पता नहीं लगता। उनमें तो कबीर को सत्पुरुष के अवतार के रूप में उन्होंने अलौकिक माना है, अतः जन्म तिथि का प्रश्न ही नहीं रहता। कबीर-सम्प्रदाय के केवल एक ग्रन्थ 'कबीर चरित्र बोध' में कबीर की जन्म तिथि विक्रमी सं० १४५५ जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार दी है। किन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में सन्देह है। अतः अन्य साक्षियों पर विचार करना चाहिये। सं० १६४२ में नाभादास द्वारा लिखित भक्त माल में कबीर का वर्णन है। इस में इनके रामानन्द का शिष्य होने और सिकन्दर लोदी द्वारा इन पर अत्याचार करने का उल्लेख है। इसमें लिखा है कि मुसलमानी धर्म की निन्दा करने या विधर्म प्रचार करने से क्रोधित होकर लोदी ने कबीर को हाथी से कुचलवाने और जंजीरों से बांध कर गंगा में फिकवाने के दण्ड दिये थे और कबीर अपने भक्तिबल से साफ बच गये थे। भक्त माल में जन्म तिथि का उल्लेख न होने पर भी इतना निश्चित हो जाता है कि ये नाभादास से पूर्व हुए थे और लोदी के समकालीन थे। दूसरा उल्लेख अकबर काल में अबुलफजल द्वारा लिखित 'आइन अकबरी' इतिहास में भी कबीर का जो उल्लेख हुआ है। इसी समय के लगभग हुए महाराष्ट्रीय सन्त तुकाराम ने भी कबीर का स्मरण किया है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि कबीर इन से पूर्व ही हुए। इसके पश्चात् विक्रम संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में हुए अनन्तदास ने कई भक्तों की 'परचइयां' लिखीं, कबीर भी उनमें से एक हैं। उन्हों ने विस्तार से कबीर का वृत्त लिखा है। इसमें भी जन्म तिथि नहीं है, किन्तु रामानन्द के शिष्य होने, बघेल राजा वीरसिंह देव और सिकन्दरशाह लोदी के समकालीन होने का वर्णन है। साथ में यह भी है कि कबीर १२० वर्ष की लम्बी आयु भोगकर निधन को प्राप्त हुए। संवत १६६१ में श्री गुरु अर्जुन देव ने श्री गुरु ग्रन्थ साहब का जो संकलन किया, उसमें कबीर के भी 'रागु' और 'श्लोकु' का संग्रह है, जिससे कबीर का उनसे पूर्व होना ही निश्चित होता है। सं० १७०२ में सन्त प्रिया दास ने भक्त माल पर टीका की। उसमें भी कबीर

के रामानन्द के शिष्य होने और सिकन्दर के समकालीन होने का उल्लेख है। इन वर्णनों के आधार पर कबीर का लोदी का समकालीन होना निश्चित हो जाता है।

कबीर ने स्वयं कहीं भी अपने को स्पष्ट रूप में रामानन्द का शिष्य होना नहीं कहा है, किन्तु बादशाह की आज्ञा से काजी द्वारा हाथी से कुचलवाये जाने और गंगा में फिकवाये जाने का उल्लेख किया है। कबीर ने यद्यपि स्पष्ट रूप से सिकन्दर लोदी का भी नाम नहीं लिया है, तो भी ये घटनाएँ भक्तमाल और आइन अकबरी के विवरणों से मेल खाजाती हैं, अतः निश्चित माननी चाहियें। भारतीय और आंग्ल इतिहासकारों ने सिकन्दर का समय सं० १५४५ से १५१४ तक माना है। किसी-किसी ने दो चार वर्ष का अन्तर डाल कर माना है। अतः कबीर भी इसी समय के आसपास होने चाहियें। किन्तु आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया में लिखा है, जि० बस्ति मे आमी नदी के तट पर एक बिजलीखां नामक मुसलमान सर्दार ने स० १५०७ में कबीर का रौजा बनवाया था, जिसकी मरम्मत उसके १२७ वर्ष बाद नवाब फिदाईखां ने करवाई। अब यदि उसके आधार पर कबीर का निधन काल स० १५०७ माना जाय तो कबीर लोदी के समकालीन नहीं ठहरते। डा० रामकुमार ने इसका परिहार यों किया है कि वह वस्तुतः कबीर के जन्मकाल में ही बना उनका स्मारक था, रौजा नहीं। कबीर की मृत्यू-परान्त वह स्मारक रौजे के रूप में मान लिया गया। अतः उनका लोदी का समकालीन होना निर्बाध रहता है।

कबीर ने जयदेव और नामदेव का भी बड़े आदर-पूर्वक स्मरण किया है। जयदेव का जन्मकाल ऐतिहासिक ईसा की १२वीं सदी मानते हैं और नामदेव का १३वीं का अन्त या १४वीं का प्रारम्भ। निश्चय ही कबीर इनके पश्चात् ही होने चाहियें। इनके बाद सं० १५८२ में भक्तवर पीपादास ने भी कबीर का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। अतः मानना चाहिये, कबीर या तो इनसे पहिले हो गये थे और या इनके समकाल मे ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन से कबीर का विक्रम की १५वीं सदी के मध्य मे ही होना निश्चित होता है, जो कबीर

चरित्र बोध के संवत से भी मेल खाता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इण्डियन क्रोनौलौजी के आधार पर गणना करके भी कबीर चरित्र बोध की तिथि को ही सिद्ध किया है कि विक्रम सं० १४५५ की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है। अतः इस समस्त विवेचना और प्रमाणों के आधार पर कबीर के जन्म का यही संवत ठीक प्रतीत होता है।

गो० तुलसीदास के जन्म संवत् के विषय में भी ऐसा ही सन्देह उपस्थित होता है। तुलसीदास के दो शिष्यों द्वारा लिखे दो जीवन-चरित्र उपलब्ध होते हैं—एक बाबा वेणीमाधवदास का गोसांई चरित और दूसरा रघुवरदास का तुलसी चरित्र। इन दोनों ही चरित्र-ग्रन्थों में गोस्वामी जी का जन्मकाल १५५४ दिया है। बाबा वेणीमाधवदास ने तो श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दे दी है। इन चरित्रों के आधार पर गोस्वामीजी की आयु १२६-७ वर्ष ठहरती है जो एक महात्मा के लिए असम्भव नहीं। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् १५८३ दिया गया है। पं० रामगुलाम द्विवेदी ने जनश्रुति के आधार पर स० १५८६ जन्म संवत् माना है, जिससे जार्ज ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु भी सहमत हैं। इन सभी मतों के आधार पर तुलसीदास की आयु अधिक से अधिक १२६ वर्ष और कम से कम ९१ वर्ष की ठहरती है। किन्तु अभी तक भी पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाया है कि किसे ठीक माना जाय। अतएव बा० श्यामसुन्दरदास ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तुलसी निर्विवाद रूप से विक्रम की १६वीं सदी में हुए और दीर्घ आयु भोग कर दिवङ्गत हुए।

—०:०—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

उत्तमा हिन्दी साहित्य—प्रश्न पत्र १ सं० २००४

१. निम्नलिखित अवतरणों मे से किन्हीं चार की व्याख्या उन के काव्यगत सौंदर्य को स्पष्ट करते हुए कीजिए:—

(अ) नवपौरी पर दशवॅ दुवारा...... ..... 'ढरो जनम गा बीति॥

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण पदमावत के सिंघलद्वीप वर्णन खण्ड से लिया गया है। जायसी सिंघलगढ़ का वर्णन कर रहे हैं।

नौ प्रवेश द्वारों के ऊपर (अन्त में) दशम द्वार है। वहां पर शाही घड़ियाल (घण्टा) बजता है। घड़ियाल बजाने वाले घड़ियाली बैठे, प्रहर प्रहर तक (अपने अपने समय में) अपनी अपनी बारी में घड़ी को गिनते हैं। जब घड़ी पहुंचती है (पूर्ण होती है) वे उसमें मारते हैं और यों घड़ी २ (बार बार प्रत्येक घड़ी बीतने पर) घड़ियाल बोल उठता है। (प्राचीन काल में, एक पानी की नाँद में, सुराख करके कटोरी डाल दी जाती थी, जिसके भरने और खाली होने में एक घड़ी (अढ़ाई घण्टे) लग जाते थे। उस कटोरी को घड़ी कहा जाता था। उसी की ओर जायसी का संकेत है।) जब घड़ियाल पर) डण्डा पड़ता है, तो समस्त जगत् पर मानो डण्डा पड़ता है (वह एक दम चौकन्ना हो जाता है)। तू मट्टी के भांडे! (मनुष्य!) क्या कैसे) निश्चिन्त हो रहा है? तुम उस कच्चे चाक पर चढ़े हो (तुम्हारा निर्माण ऐसे कच्चे कारण से हुआ है) कि तू (ससार में) आने पर नहीं रहेगा और न स्थिर होकर बचेगा जन्म लेने पर नष्ट अवश्य होना है)। एक घड़ी जो भर गई (घड़ी बीत गई) तो (उतनी ही) तुम्हारी आयु घट गई। (इसलिए) हे पथिक! तू क्या निश्चिन्त होकर सो रहा है? प्रत्येक प्रहर पर गजर (घण्टे का शब्द) नित्य बजता है, किन्तु तेरा हृदय वज्र का है, मन जागता नहीं है, सोता है (ज्ञान नहीं करता, मोह में डूबा रहता है)।

मुहम्मद जायसी कहते हैं, जीवन रूपी जल का भरना रॅहट और उसकी घड़ियाँ (रॅहट की हण्डियों) की रीति से होता है। (रॅहट की) घड़िया ज्योंही भरी (ऊपर) आती है, (त्यों ही) खाली हो जाती है, इसी प्रकार

जीवन भी बीतता जाता है (मनुष्य जीवन घड़िया के जल के समान अचिर-स्थायी है)।

जैसा कि मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक संकेतों से प्रकट होता है, यहाँ गढ़ के वर्णन में जायसी ने रूपक द्वारा, योग वर्णित मनुष्य शरीर के निर्माण की व्यंजना की है। जैसे जीवन में जल का आरोप है, ऐसे ही गढ़ में शरीर का रूपक व्यजित होता है। नव द्वार शरीर की इन्द्रियाँ हैं। दशम द्वार ब्रह्म रंध्र होता है, जहां पर योगियों को अनहद नाद सुनाई पड़ता है। घण्टा बजने से यही व्यंजित होता है। प्रत्येक घड़ी के साथ जीवन के बीतने की सूचना मिलती है पर मनुष्य पत्थर दिल किए अचेत रहता है। वह नहीं समझता कि मनुष्य जीवन रहँट की घड़ियों के जल के समान अचिर-स्थायी है। जायसी ने रूपक के द्वारा यही आध्यात्मिक वैराग्य और भक्ति का अर्थ ध्वनित किया है।

(आ) हरि तुम बहुत अनुग्रह कीनो·····जोइ बांध्यो सोइ छोरै॥

उत्तर—प्रस्तुत पद्य विनय पत्रिका का है। तुलसीदास भगवान् से उद्धार करने की प्रार्थना करते हैं।

हे हरि! (राम!) तुमने (मेरे ऊपर) बहुत अनुग्रह किया है कि समस्त (आत्म-मोक्ष के) साधनों का स्थान (क्योंकि मनुष्य शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी भी जन्म में जीव को अपने मोक्ष का अवसर नहीं मिलता) और देवताओं के लिए भी दुर्लभ यह शरीर मुझ को कृपा करके दिया है। प्रभु के एक एक उपकार का करोड़ मुखों से भी वर्णन नहीं किया जा सकता। तो भी, हे नाथ! कुछ और मांगता हूँ, हे परम उदार! दीजियेगा (परम उदार ही मांगने पर कभी भी इन्कार नहीं करेगा, अत परम उदार पद बहुत साभिप्राय है)। विषयरूपी जल से मेरा मन रूपी मत्स्य कभी एक पल को भी वियुक्त नहीं, होता, इस कारण से, मैं अत्यन्त कठोर आपत्तियां (कष्ट) झेलता हूँ और अनेक योनियों जन्म लेता हूँ। (आप) दया की डोरी, अपने चरणों के अंकुश (के चिन्ह) की बंशी (मछली पकड़ने का कांटा) और परम प्रेम (अनन्य भक्ति, संतृप्ति) को कोमल चारा जो मछली को लुभाने को कांटे में लगाया जाता है) बनाकर, इस प्रकार

मेरा दुःख दूर करिये (मेरे मन मत्स्य को अपने प्रेम का लोभ देकर विषय जल से बाहर खींच लीजिये), हे राम ! तुम्हारा मन बहलाव का साधन हो जायगा (और मेरा काम हो जायगा)। वेद में समस्त (उद्धार के) साधन और अनेक देवता प्रसिद्ध हैं किन्तु यह दीन (मैं) किस किस की खुशामद करे (मुंह जोहे) ? तुलसीदास कहते हैं, जीव के इस मोह के पाश को, जिसने बांधा है, वही खोलेगा (जिसने जीव को कर्म बन्धन में बांधा है, वही खोलेगा, और कोई नहीं)।

यह पद तुलसीदास का सिद्धान्ती पद है। आत्मनिवेदन करके तुलसी भगवान् से विषयों से मुक्ति देने की प्रार्थना करते हैं। किन्तु विषयों से मुक्ति पाकर वे मोक्ष प्राप्त करना नहीं चाहते, वे तो अपने मन को राम पद के अनन्य प्रेम से बन्धा रखना चाहते हैं। राग और विराग का कितना सुन्दर सामञ्जस्य है ! तुलसी संसार से विराग और राम चरण से अनुराग चाहते हैं। परम प्रेम आत्यन्तिक आनन्द की सन्तृप्त दशा है, जिसमें मन लुब्ध हुए बिना नहीं रह सकता। महाकवि तुलसी ने मछली पकड़ने का कितना पूर्ण और सुन्दर रूपक बांधा है, देखते ही बनता है ! रूपक अर्थ पर भार भूत नहीं अपितु उसका विशदयिता है। स्यात् तुलसी रूपक के बिना इतने प्रभावपूर्ण और पूर्ण ढंग में भाव व्यक्त कर ही नहीं पाते।

(इ) इस पद वाला ग्रन्थ अब इस पत्र में नहीं रहा।

(ई) केशव का यह पद भी अब इस पत्र में नहीं है।

(उ) यह भी परीक्षा बाह्य है।

(ऊ) मैं गिरधर रँगराती।.........गावै मीरा दासी॥

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण मीरा की पदावली से है। मीरा कहती है, उसके प्रिय उसके हृदय में ही हैं। वह उन्हें मिलने जा रही है, झिरमुट के खेल में।

मैं गिरधर (श्री कृष्ण) के रंग (प्रेम) में रंग गई हूँ। पाँच रंगों का (पंच महाभूतों से बना) चोला (शरीर और ढीला लम्बा कुर्ता) पहिन कर झिरमिट खेलने जाती हूं (झिरमिट के खेल में वस्त्र से अपने को

छुपाया जाता है, फिर उसे दूसरा ढूंढता है और पकड़ता है)। उस झिरमिट मे (मुझे) सांवरा प्रियतम मिल गया और मैं शरीर की गाती (शरीर पर से गले में वंधी गाती जैसी साधु लोग बांधते हैं) खोल कर उनसे मिली (आध्यात्मिकता में, मोह का आवरण त्याग कर प्रियतम से एकाकार हो गई)। जिनके प्रिय परदेश में रहते हैं वे लिख लिखकर पातियां भेजती हैं, किन्तु मेरा तो प्रिय मेरे हृदय में ही निवास करता है, इसलिए मै कहीं नहीं आती जाती (मेरा प्रिय कृष्ण परब्रह्म हृदय में ही निवास करता है। अतः वहीं ध्यान करती हूँ)। चन्द्रमा नष्ट हो जायगा, सूर्य भी नष्ट होगा, पृथ्वी और आकाश भी नहीं रहेंगे और पवन एवं पानी भी नष्ट हो जायेंगे, अटल (स्थायी) रहेगा केवल वही अविनाशी (मेरा प्रियतम)। (अतः) सुरति (प्रिय का ध्यान) और निरति (विरक्ति) का दीपक जलाले, वासना (इच्छा) की बत्ती बनाले (वासनाओं के जलने से ही ज्ञान का उद्योत होता है), एवं श्रीकृष्ण प्रेम का तेल मंगवाले (जिसके सहारे बत्ती जलती रहे) और इस प्रकार वह दिन रात जलता रह सकता है। सद्गुरु मिला, सारा सन्देह (अज्ञान) भाग गया और उसने सच्चा संकेत (रहस्य) बता दिया (ज्ञान सुझाया)। (कृष्ण की) दासी मीरा गाती है, यह घर (शरीर) न मेरा है और न तेरा है।

मीरा ने इस पद में रूपकों के द्वारा अपनी आध्यात्मिक प्रियदर्शन की अनुभूति के साथ ज्ञान और वैराग्य की उक्तियां भी कही हैं। साथ में प्रिय का ध्यान करने की विधि भी बताई है। गुरु के द्वारा भ्रम निवारण का भी वर्णन किया है। मीरा की निजी अनुभूति पद मे चुई पडती है। काव्य सौन्दर्य की रूपकों में छटा बिखरी हुई है।

(ए) विद्यापति के इस पद का अन्वय भी इस पत्र में नहीं रहा है।

(ऐ) माधव जल की पियास न जाई··········मिलु अंत की वेला ॥

उत्तर—प्रस्तुत पद सन्त कबीर से उद्धृत है। कबीर ने विविध रूपों में अपना ब्रह्म से सम्बन्ध बताया है।

माधव (भगवान्) के जल (आनन्द या प्रेम रस) की प्यास नहीं

बुझती। जल में ही अधिकाधिक अग्नि उठती है (अर्थात् कृष्ण प्रेम से तृप्ति नहीं होती, ज्यों ज्यों पियो प्यास बढ़ती है, विरहाग्नि भड़कती है, जैसे जल में बाडवाग्नि जलती है)। तुम समुद्र हो और मैं (उस) जल का मीन हूँ (मीन की उत्पत्ति जल से है और जीव की परमात्मा से), परन्तु जल में रहता हुआ भी जल के बिना दुःखी (खिन्न) हूँ (समस्त संसार का परमात्मा में निवास है, पर वह उसको पाये बिना व्याकुल रहता है)। तू पिंजरा है और मैं उसमें का तोता हूँ, सो यम रूपी बिलाव मेरा क्या करेगा (मेरी तो रक्षा पिंजरारूपी आप कर रहे हैं)? तू वृक्ष है और मैं उस पर रहने वाला पक्षी हूँ, किन्तु मन्द भाग्य हैं कि तेरा दर्शन नहीं होता (जीव की ब्रह्म में स्थिति है पर उसका दर्शन नहीं कर पाता)? तू सद्गुरु है और मैं (तेरा) नूतन शिष्य हूँ (पुराना शिष्य होता तो दर्शन हो चुका होता), अतः, कबीर कहते हैं, अन्त समय में तो मिल जा (दर्शन दे दे)।

विभिन्न रूपकों के द्वारा कबीर ने इस पद में अपना भगवान् के साथ अनेक रूपों में सम्बन्ध स्थापित किया है और दर्शनों की प्रार्थना की है। पद्य में जितना भावगाम्भीर्य है उतना ही काव्य सौन्दर्य भी है। विलक्षण पद है।

प्रश्न—२. "कबीर और तुलसी के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों, स्वभाव, संस्कार, और दृष्टिकोण मे एक दूसरे से भिन्न थे।" इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए

उत्तर—यह कथन अक्षरशः ठीक है। देखने से यही सिद्ध होता है। कबीर और तुलसी युग की आवश्यकतानुरूप दो महान् विभूतियां थीं, जिन्होंने अपने अपने समय में उदित होकर लोक-मंगल का मार्ग दिखाया। दोनों संसार-विरक्त, लोक हित रत, साधना-सम्पन्न भक्त महात्मा थे, जिनकी कोई तुलना या विशेषता नहीं हो सकती। दोनों ही अपने अपने युग में महान् थे। एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता था और न एक दूसरे के युग की आवश्यकता की पूर्ति ही कर सकता था। दोनों, शुद्ध, निर्मल,

परोपकार, दया, संयम, सत्यमय महात्मा थे, जिनका आत्म-कल्याण के साथ लोक कल्याण भी प्रधान जीवनोद्देश्य था। किन्तु दोनों ने अपने अपने ध्येय की पूर्ति अपने अपने ढंग में, अपने अपने दृष्टिकोण और प्रयत्न से की। दोनों नितान्त भिन्न थे। स्वभावतः इस विभेद के कारण, उनका युग विशेष, उनकी शिक्षा दीक्षा, उनकी वंशमर्यादा, स्वभावगत विशेषताएँ और जातीय संस्कार आदि ही थे। उनके जीवन दर्शन भी, अतएव, परस्पर भिन्न हुए। दोनों का व्यक्तित्व भी भिन्न ही प्रकार का हुआ।

कबीर किसी अज्ञात—संभवतः मुसलमान—वंश के थे, तुलसी श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल के। कबीर अनपढ़ थे और तुलसी प्रकाण्ड शिक्षित। कबीर का स्वभाव साधुपने का, अक्खड़ पने का था, वे अधिकतया डांट डपट से उपदेश देते थे, और तुलसी अत्यन्त नम्र, निरभिमान वृत्ति के थे जो विरोधी को भी कटु नहीं बोलना चाहते। कबीर स्पष्ट वक्ता थे, साफ कहते थे, किसी को बुरी लगे चाहे अच्छी और तुलसी ऐसे ढंग से, जिससे किसी को बुरा न लगे। कबीर किसी भी प्रकार की मर्यादा से दूर रहना चाहते हैं, किन्तु तुलसी को अपने इष्ट देव के समान ही पद पद पर शास्त्र धर्म और लोक आदि की मर्यादाओं का ध्यान रहता है। कबीर के जातीय संस्कार मुसलमान परिवार के थे और तुलसी के संस्कार श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल के, दोनों में महान् अन्तर था। कबीर का दृष्टिकोण ज्ञान मार्गीय सन्तों का था और तुलसी का वैष्णव सगुण भक्तों का। कबीर शुद्ध ब्रह्मवादी, ब्रह्म प्रेम में मस्त रहने वाले थे और तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी राम की भक्ति में। कबीर ईश्वर की सूफियों के से प्रेम भाव से उपासना करते थे और तुलसी ईश्वर रुप राम की शुद्ध भारतीय भक्ति से। कबीर शास्त्रीय ज्ञान को इतना महत्त्व नहीं देते थे किन्तु तुलसी वेद शास्त्र आदि के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखते थे। कबीर उच्च कोटि के कवि नहीं थे किन्तु तुलसी महा कवि थे। कबीर की साधना प्रेम मार्गी सन्तों की सी थी और तुलसी की शुद्ध भक्तों की सी। कबीर का युग ऐसा था जिस समय ज्ञान मार्ग का ही बोलबाला था और वही वस्तुतः उपयोगी भी था और तुलसी का ऐसा था, जिसमें सगुण भक्ति का प्रवाह बह रहा था और ज्ञान के अन्ध प्रचार के कारण बढ़ रही सब प्रकार

की अव्यवस्था को मर्यादित करने वाली राम-भक्ति की ही आवश्यकता थी। फलतः युगानुरूप दोनों महानुभावों के व्यक्तित्व में महान् विभेद उपस्थित हुआ। समय ने वस्तुतः अपनी दो दशाओं में दो ऐसे ही भिन्न प्रकार के महात्माओं की मांग की, जो पूरी हुई।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण का मत सर्वथा ठीक प्रतीत होता है।

अथवा

"कबीर आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय दैनंदिनं दुनियां को छोड़ नहीं जाते और मानव जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं, उनके महिमा समन्वित और आवेगमय विचार बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियन्त्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं।" इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिये।

उत्तर—कबीर ने अलक्ष्य साधना के लिए प्रेमतत्व सूफियों से लिया था, जिसमें आत्मविस्मृति और नितान्ततन्मयता होती है, जहां साधक को 'हाल' की दशा में स्वपर के भाव—जगत्—का ज्ञान नहीं रहता। जायसी आदि सूफी संत ईश्वर का जगद्रूप में अनुभव करते थे, तभी वे लौकिक सौंदर्य में अलौकिक सौंदर्य का दर्शन कर प्रेम-विस्मृति की दशा में हो जाते थे। जायसी पार्थिव पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन करते, लोकान्तर में पहुंच जाते हैं, जगत् पीछे छूट जाता है और केवल अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करने लगते हैं। उनका हृदय अत्यन्त भावुक है जो क्षण में आंसू डालने लगता है। किन्तु कबीर में यह बात नहीं थी। कबीर भी वैसे प्रेमानुभूति करते थे किन्तु वे इतने विभोर नहीं होते थे कि वे इस संसार से बिल्कुल दूर हो जायँ। उनकी भावुकता इतनी कोमल नहीं थी। उसमें सदैव ज्ञान की कठोरता रहती थी। वे सूफियों के समान प्रेम में कहीं इतने विव्हल नहीं हुए, न वे उनके समान ही उन्माद से तड़पे भी। उनके प्रेम के मूल में उनके शुद्धाद्वैतवाद की भावना थी, जो उन्हें गहरी से गहरी अनुभूति में भी नहीं छोड़ती थी। अतएव कबीर के गहन प्रेमानुभूतियों से पूर्ण पदों में भी वे ही ज्ञान और योग के—शरीर आदि के—रूपक उपमाएँ आदि आए

है। उन्होंने अपनी विशुद्ध प्रेमानुभूति को ऐसे ही योग ज्ञान के रूपकों, प्रतीकों, संकेतों से प्रकट किया है। कबीर वस्तुतः शुद्ध सात्विक प्रेम मे मस्त रहने वाले थे, जिसका ज्ञान के साथ सहज संयोग रहता है, अतएव उनके प्रेम में सूफियों के रागात्मक प्रेम की सी उन्माद दशा नहीं मिलती। जगत् भी उनसे पीछे नहीं छूटता। अपनी अनेक अनुभूतियों का वर्णन उन्होंने अपने दैनिक जीवन के रूपकों के द्वारा भी किया है। चादर का रूपक, ताने बाने का रूपक, कुंआ पनिहारी का रूपक चर्खे का रूपक आदि दैनिक जीवन के रूपक हैं। कबीर मौजी जीव थे और मौज में ही लिखते थे। उनकी मौज का आधार ज्ञानियों का फक्कडपन था। अतः झुकने का, हीनता का, व्याकुलता का उनका भाव नहीं था। उनमें आत्मज्ञान और विश्वास का भाव था, जो लघुता से दूर रहता है। कहीं कहीं तो उन्होंने अपने आराध्य देव से भी अकड कर बात की है। अतएव उनके प्रेम में व्याकुलता के स्थान में आत्म-संतृप्ति ही अधिक दिखाई दी है। उन्होंने वियोग की बात भी उतनी ही मौज से कही है जितनी से कि संयोग की। उनकी विस्मृति ज्ञान-विरहित नहीं है अपितु ज्ञान-प्रेरित है। उनके विचार ज्ञान की प्रेरणा में चलते हैं और उनकी अनुभूति ज्ञानोत्थ है, ज्ञान सदैव उसके साथ रहता है। यह विशेषता किसी उच्चकोटि के कवि में ही होती है। केवल अनुभूति का आधार लेकर कोई सत्कवि नहीं बन सकता, जब तक कि उस के साथ बुद्धि तत्त्व-विचारों का-संयोग, न हो। कबीर की अनुभूति भी इसी प्रकार की थी। अतएव इस उपर्युक्त कथन की सत्यता या प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं होना चाहिये।

प्रश्न ३—गीतिकाव्य मे कवि अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करता है और बाह्य जगत् को अपने अंतःकरण में ले जाकर, उसे अपने भावों में रंजित करता है।" इस कथन के आधार पर मीरा के गीतों की आलोचना कीजिये।

उत्तर—गीति काव्यों की इस विशेपता के आधार पर यदि मीरा के पदों की समीक्षा की जाय तो मीरां के पदों में उपर्युक्त विशेषता शतांशों में पायी जायगी। मीरा के काव्य की मुख्य विशेषता उसकी व्यक्तिगत आत्मिक

अनुभूति और तन्मयता ही है। मीरां ने वस्तुतः अपनी हृदय की बात ही कही है सीधे सादे रूप में, यद्यपि अलंकार आदि भी उसमें स्वतः आ गये हैं। मीरा का प्रत्येक गीत उसकी आन्तरिक अनुभूति या भावना का चित्र है। उसके हृदय में जो भी कुछ अनुभव हुआ, उसने उसे गा दिया। मीरां के जीवन में दो भावों की मुख्यता रही—विषाद और प्रेम लालसा की। ये दोनों ही भावनाएँ मीरा के समस्त पदों में ओत प्रोत पाई जाती हैं। ठीक गीति काव्य-कार के अनुरूप मीरा ने संसार को अपनी आत्मा के रंग में देखा और दिखाया—गाया सुनाया। चाहे उसका वस्तु वर्णन ले लीजिए, चाहे प्राकृतिक वर्णन और चाहे जीवन की प्रेम, विरह, मिलन, विवाह आदि की घटनाओं के वर्णन को ले लीजिए, वे सब मीरा की प्रेम-विधुरा आत्मा के रंग में रंगे पायेंगे। मीरा का व्यक्तित्व प्रतिपद में प्रदर्शित होता है। स्त्री-सुलभ कोमल कान्त भावानाएं मीरा के व्यक्तिगत आत्मिक सम्पर्क से और भी कोमल और कान्ततर हो उठती हैं। घर, बाहर, प्रेम विरह, प्रिय मिलन आदि और उनके सम्बन्ध की सभी वस्तुओं को मीरा ने अपनी आत्मा के रंग में रंगकर उपस्थित किया है। प्रिय-मिलन मीरा ने अपने स्वभाव के अनुरूप साधनों से किया है। शृंगार के साधन उसके अपने हैं। प्रिय से मिलकर कुछ न कह सकी, उसका अपना संकोच है। शय्या शूलमय प्रतीत होती है विरह में, चांद और चांदनी अच्छी नहीं लगती मेघ जो संयोग में रस बरसाते थे, अब वेदना को बढ़ाने वाले हैं पपीहे की बोली में प्रिय का संदेश प्रतीत होता है। बादल संयोग में कभी मतवाले बने दिखते हैं, कभी निरुद्देश्य दिखाई देते हैं। इसी प्रकार एक एक ऋतु का वर्णन भिन्न भिन्न मानसिक दशाओं में भिन्न भिन्न रंगों में रंगा हुआ है। काग की बोली भी कभी अच्छी लगती है कभी बुरी। घटनाओं के वर्णन में भी यही समझना चाहिये। होली, वंशी, नाग, चीरहरण, मिलन, पनघट आदि लीलाओं के वर्णन मीरा की अपनी आत्मिक अनुभूति में रंगे हुए हैं। संक्षेपतः मीरा की वृत्ति पहिले स्वयं अन्तर्मुखी होती है फिर संसार को भी उसी के रंग में रंग कर देखती है। मीरा की इस व्यक्तिगत अनुभूति और एकरसता को निकाल दीजिये, मीरा के पदों का कोई

विशेष महत्त्व नहीं रह जायगा, क्योंकि मीरा के काव्य की ये वास्तविक जीवातु हैं। मीरा के अधिकांश पद इसके स्पष्ट साक्षी हैं। गीतिकाव्य की भी यही मुख्य विशेषता होती है। अतः इस दृष्टि से मीरा के पद गीति-काव्य का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जो अपने ढंग में अनुपम हैं।

अथवा

"मीरां का विरह मार्मिक एवं गम्भीर है। उसमें विद्यापति की भांति सम्भोग शृंगार की वासना की छाया तक नहीं।" इस कथन के सम्बन्ध में अपना तर्कयुक्त मत प्रकट करिये।

उत्तर—यह कथन सर्वांशतः ठीक है। वास्तव में मीरा का विरह ऐसा ही महान् था। मीरा का विरह अलौकिक था, इसलिए ही नहीं कि उसका आलम्बन अलौकिक था, प्रत्युत इसलिए भी कि वह सचमुच अलौकिक था। मीरा का प्रेम इस लोक की वस्तु नहीं थी। उसका अनुराग पूर्व जन्म का था। वह स्वयं को पूर्व जन्म की कृष्ण प्रेमिका गोपी मानती थी। इस जन्म में भी उसने उसी गोपीभाव से प्रेम किया। मीरा का विरह संयोग के बिना ही पूर्वानुराग से प्रारम्भ हो जाता है और अन्त तक चलता है। विद्यापति की राधा का प्रथम दर्शन से और सूर की राधा का बालक्रीडा से प्रेम पड़ता है। किन्तु मीरा का प्रेम तो आध्यात्मिक है, उसे स्थूल दर्शन की अपेक्षा नहीं। मीरा का विरह प्राकृतिक उद्दीपनों से उत्तेजित नहीं होता और न उसे अपने विरह में प्रकृति जलती दृष्टिगत होती है। वह तो अथाह समुद्र है, जिसमें हवा से छोटी छोटी तरंगें उठती हैं किन्तु भीतर एक गम्भीर प्रवाह बह रहा है। उसके विरह में अंगताप नहीं, उन्माद नहीं, विरह की शारीरिक दशाएँ भी नहीं हैं, है केवल एक अन्तहीन विरह की मानसिक वेदना, जिसके कारण उसे कुछ भी नहीं भाता, दुनियां सोती है, वह जागती है और 'विरह दिवाणी' बनी आंसुओं की माला पोह रही है। उसके विरह के अन्त होने की कोई अवधि भी निश्चित नहीं है, किन्तु वह नित्य उठकर, ऊपर चढ़कर बाट देखती है और कभी भी खीझती नहीं है। उसके विरह में अनन्त प्रेम की मधुर भावना है। उसमें न देह जलती है, न ताप होता है, अन्दर मन में विरहाग्नि प्रच्छन्न रूप से

जलती है और उसमें हृदय की समस्त वासनाएँ जल चुकी हैं, वासना कोई शेष है तो केवल प्रिय दर्शन की। मीरां ने लोकभय से, वासना के वशीभूत होकर, लुक छिपकर प्रेम का सौदा नहीं किया था, न कभी अभिसार ही किया, उसने तो 'चौंड़े' में ठोक बजाकर किया था। अतः उसे किसी की चोरी नहीं, घर संसार छूट गया छूट जाय। उसका प्रेम नारी की शुद्ध आत्म समर्पण और त्याग की भावना है, वासना का लेश भी नहीं। उधर विद्यापति की नायिकाओं का विरह लौकिक है, उसमें वासना की उत्तेजना है। जब तक काव्य के नायिका भेदों के लक्षण न जान लिये जायँ तब तक उस वर्णन का पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता। विद्यापति की राधा आदि का तन जलता है, कामज्वर चढ़ता है और उसकी वे शान्ति लुक छिप कर कर लेती हैं, किन्तु मीरा का मन जलता है, उसके विरह में शरीर-ताप का अभाव है। उसे कभी कभी स्वप्न में अथवा अपनी भाव-कल्पना में प्रिय के दर्शन भी हो जाते हैं और कभी कभी तो प्रिय के आने की आवाज सुनकर ही प्रेममग्न हो जाती है। किन्तु ऐसे क्षण बहुत कम ही होते हैं नहीं तो गम्भीर विरह वेदना का समुद्र ही ठाठें मारता है। इस मिलने में केवल मानसिक सन्तृप्ति या शान्ति ही होती है, वासना का नाम नहीं है। प्रिय-मिलन पर न मीरा कुछ कह सकती है, न प्रिय ही। फिर विरह दशा प्रारम्भ हो जाती है और मीरा को सूनी सेज पर नींद नहीं आती। मीरा के विरह में एकान्त वेदना और माधुर्य है विरह में भी मस्ती का साम्राज्य है। विद्यापति के विरह में साक्षात् वासनाओं की उत्तेजना स्थित है। राधा कृष्ण का अलौकिक आलम्बन होते हुए भी विद्यापति का विरह अलौकिक नहीं हुआ। विरहिणियों की वे ही समस्त विरह दशाएं होती हैं, जैसी कि लौकिक प्रेमियों की। प्रकृति उनके विरह को प्रदीप्त करती है और उन्हें अपने साथ प्रकृति भी जलती दिखती है, उन्माद और शारीरिक उत्ताप में। ऐन्द्रिकता का साथ नहीं छूटता। अतएव कुछ आलोचकों ने विद्यापति के प्रेम को या रतिभाव को भक्ति की संज्ञा न देकर शृंगार की ही संज्ञा दी है। किन्तु मीरा का प्रेम तो शुद्ध आध्यात्मिक, अनादि, अनन्त, एकरस, देशकाल और जन्म की सीमाओं से परे, अगाध गंभीर है, जिसकी परिपुष्टि महत्ता अनन्त

विरह से सर्वदा होती रहती है। विरहाग्नि में समस्त लौकिक वासनाएँ जल गईं हैं, उनके स्थान में केवल अलौकिक वेदनामय माधुर्य रह गया है। मीरा ने स्वयं अपनी विरह पीर का वर्णन किया है—

अंगि अगि व्याकुल भइ मुख पिय पिय वानी हो ।
अन्तर वेदन विरह की वह पीर न जानी हो।
म्हारे जनम मरण के साथी थानै नहीं बिसरूं दिन राती ।
ऊंची चढ़ चढ़ पंथनिहारूं रोय रोय अंखियाँ राती ।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि मीरां का प्रेम गम्भीर मार्मिक था और विद्यापति का वासनात्मक शृंगारी। मीरां के विरह का आधार एकान्त मानसिक व्यापार था और विद्यापति का स्थूल शारीरिक भी। पहिले में वासना की छाया तक भी नहीं और दूसरे में अधिकतया वासना का ही उद्दाम उत्ताप है। अतएव प्रथम अलौकिक है और दूसरा पूर्णतया नहीं तो अधिकांश में लौकिक।

अथवा

सिद्ध कीजिये कि सूर के पदों में काव्य के अन्तरंङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हुए हैं ।

उत्तर—सूर एक महान् भक्त तो थे ही, साथ ही महा कवि भी । अतः भक्ति की दृष्टि से उनके पदों का जितना महत्त्व है, काव्य की दृष्टि से भी उस से कम नहीं है। काव्य कला सूर के पदों में उनकी अगाध भक्ति का सात्विक स्वाभाविक शृंगार—जो उसके रूप को समुज्ज्वल करता है—करती सी प्रतीत होती है। सूर जैसे आध्यात्म की उच्चभूमि को पहुँचे हुए थे वैसे ही काव्य कला की भी। केवल बाह्य काव्य कौशल का अन्दाज लगाने के लिए उनकी साहित्य लहरी ही पर्याप्त है, उसमें उनका प्रधान उद्देश्य अपना बाह्य काव्य कौशल ही दिखाने का है । उसे काव्य कला से पूर्ण परिचित ही व्यक्ति समझ सकता है।

किन्तु उनके पदों में उनके स्थूल काव्य कौशल और अनुभूति के भाव पक्ष दोनों का चरम उत्कर्ष लक्षित होता है। भाव पक्ष या कला पक्ष, दोनों की दृष्टि से उनके पद ध्वनि काव्य हैं। सूर ने काव्य के बाह्य और अन्तरङ्ग

दोनों ही काव्य-पक्षों का यथोचित समन्वय किया है, भाव प्रधान है, जैसा कि प्रत्येक ध्वनि काव्य में होना चाहिये और स्थूल कला पक्ष गौण है और भाव का सहायक या सेवक है। सूर की स्थूल काव्य कला उसकी भावाभिव्यंजना के पीछे पीछे चेरी बनी चलती है जैसा कि उसका कर्तव्य है।

सूर मानव हृदय के परम पारखी थे। उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म घात प्रतिघातों के वे पूर्ण विज्ञ थे। साथ ही उनको प्रकट करने की भी उनमे अद्भुत सामर्थ्य और कुशलता थी। उसका अन्दाज उनके वर्णित विविध प्रसंगों से लग जाता है। उन्होंने विशेषतया मानव हृदय के रति पक्ष को ही लिया है। रति के जितने भी मधुर और मधुरतर प्रसंग होते हैं, उन्होंने उन सब का विस्तृत वर्णन किया है। उनका मुख्य विषय शृंगार है, जिसके साथ वात्सल्य भी आबद्ध है। मुख्य रस उनके ये ही दो रहे हैं, बीच बीच में सख्य भाव क भी नोक झोंक के मधुर प्रकरण आ जाते हैं। इन क्षेत्रों में उन्होंने अपने जैसे गहरे मनोविज्ञान का विशद परिचय दिया है, वैसा अन्य किसी कवि ने नहीं। बाल वर्णन करने में उनसे बालक की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाएं भी अज्ञात नहीं है। उन्होंने वात्सल्य के प्रत्येक रूप का वर्णन किया है—मचलने का, जिद्द करने का, खेलते खाने फिरने का, भोलेपन का, विवाह के प्रति उत्सुकता का, आदि। माता या पिता के मन की क्या दशा होती है, इसका भी सूर ने विशद वर्णन किया है भय, आशंका, डांट डपट एकान्त स्नेह आदि का परम स्वाभाविक वर्णन है। शृंगार रस में भी वे अनुपम हैं। यौवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेतों से वे पूर्ण परिचित हैं। संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का उन्होंने परम मधुर और स्वाभाविक वर्णन किया है। संयोग वर्णन का चरमोत्कर्ष उनके रास वर्णन में मिलता है जहां अनुभूति की परम दशा है। विरह की मार्मिक भावानुभूति का चरम सौंदर्य उनके भ्रमर गीत में मिलता है, जिसमें गोपियों का विरह-विधुर हृदय प्रवाहित हो रहा है। वैसे तो उनके सारे ही काव्य मे ये भावनाएं ही ओत

प्रीत मिलेगी परन्तु उपर्युक्त प्रसंगों में तो ये अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची हुई हैं। सूर वस्तुतः परम भावुक हृदय के मनोविज्ञानी महाकवि थे। उनके काव्य में अनुभूति ही प्रधान है। रूप और सौंदर्य के साथ सूर भाव के भी विविध और रसमय चित्र उतारने में पूर्ण सिद्धहस्त रहे हैं।

इस सब के साथ उनके पदों में काव्य के बाह्य कला पक्ष का भी अनुपम सौंदर्य उपस्थित मिलता है। काव्य के भाव तत्त्व रस आदि का तो अद्भुत विकास है ही, साथ ही काव्य का स्थूल सौन्दर्य भी प्रत्येक पद में खिला पड़ता है। अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग में सूर आचार्य हैं। कोई ही ऐसा अलंकार होगा जिसका उन्होंने प्रयोग न किया हो। अलंकारों के साथ रीति गुण आदि अन्य साधनों का भी मार्मिक विधान है। उनके काव्य में प्रधानतया माधुर्य और प्रसाद गुण का साम्राज्य है, जिस से उनके मधुर और विशद भाव और भी मधुरतर और विशदतर हो जाते हैं। लक्षणा और व्यंजना से ही उन्होंने अधिकतर काम लिया है; उनके रूप-चित्र उतारने में यद्यपि अभिधा का भी उतना ही चमत्कार है, जो कि उनके शब्द चयन और योजन में भरा पड़ा है। उनकी वृत्तियां और गुण भावानुगामी बने हुए भावानुरूप रूप परिवर्तन करते हुए चलते हैं। काव्य के इन समस्त बाह्य उपादानों का उन्होंने यथोचित, अद्भुत चमत्कार भरे ढंग से अधिकार पूर्ण प्रयोग किया है। काव्य के अन्य बाह्य अंग संगीत का माधुर्य भी सूर के पदों में अपने चरम सौन्दर्य को पहुँचा हुआ है। यद्यपि सूर के पद छन्दोबद्ध नहीं हैं तथापि मधुर रसमय संगीत—बद्ध हैं। सूर राग विद्या के भी आचार्य थे। उन्होंने जितने राग रागनियों का नियोग किया है अपने पदों में, उनमें से अनेकों का तो अब किसी को नाम-ज्ञान भी नहीं है, स्वरूप-ज्ञान तो दूर। उनके प्रत्येक पद में भावानुरूप राग रागनी का विधान हुआ है, जिससे उनके भाव का चित्र और भी मधुरतर

होकर श्रोता को मन्त्र-मुग्ध सा कर देता है । यही कारण है कि निर्विशेष भाव से हिन्दू मुसलमान गायनाचार्य उन्हें समान तन्मयता से झूम झूम कर गाते देखे जाते हैं।

इस प्रकार सूर के पदों में काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही पक्षों का स्वाभाविक और चरम उत्कर्ष मिलेगा, जिससे उनका काव्य अपने क्षेत्रों में किसी की उपमा नहीं रखता । काव्य अपने दोनों तत्वों के सामञ्जस्य से सूर के पदों में खिला पड़ता है।

प्र. ५—एक प्रबन्धकाव्य के भीतर, शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष, जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर, आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता हुआ दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है।" इस कथन की सत्यता सप्रमाण स्थापित की जाये।

उत्तर—जायसी की प्रेम पद्धति सूफियों की प्रेमपद्धति थी। उसमें जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक भेद नहीं माना जाता किन्तु साधक ईश्वर की अपने प्रेमाश्रय के रूप में भावना करता है और इस संसार को उसी की विभूति समझ कर उसमें उसको देखता है। पद्मावत में भी जायसी ने इसी पद्धति को प्रकट किया है। जायसी ने इस प्रेम प्रबन्ध में लौकिक वस्तु वर्णन से आध्यात्मिक ईश्वरपरक भाव ही व्यंजित किया है। समस्त काव्य एक आध्यात्मिक रूपक है, जिसका वर्णन कवि ने 'तन चित उर' आदि पद्य में कर दिया है। अतः एक लौकिक सौन्दर्य वर्णन में अकस्मात् कवि को अलौकिक छटा दिखाई दे जाती है और वह उसी परम सौन्दर्य का वर्णन करने लगता है। यही बात जायसी के प्रेम की भी है। जायसी ने लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत रूप में आध्यात्मिक अनन्त प्रेम की ही अभिव्यंजना की है। यद्यपि प्रेम या रति का वर्णन हिन्दी के अन्य असंख्य कवियों ने भी किया है और बहुत सुन्दर किया है, तथापि ऐसा गम्भीर और अनन्त प्रेम की ऐसी उदात्त भावना, जो लोक से उठकर परलोक या अध्यात्म लोक में जाती हो, उसमें नहीं मिलती। सूफी प्रेम ऐसा ही होता है। वह लोक से प्रारम्भ होकर ईश्वर तक पहुंचता है। जायसी का प्रेम भी ऐसा ही है। वह लौकिक होते हुए भी व्यंग्य रूप में अलौकिक है,

सांसारिक वर्णन में ससीम होता हुआ भी असीम है, उसका मूल लोक में होते हुए भी उसकी शाखाएँ ब्रह्म तक पहुंचती हैं, वह मानव हृदय से उद्भूत है, किन्तु उसका लक्ष्य ईश्वर है। जायसी अपने इस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना पद्मावत प्रबन्ध काव्य के द्वारा करने में पूर्ण सफल हुए हैं। प्रबन्ध काव्य में प्रधानता लौकिक स्थूल वर्णन की रहती है, उसी के लिए कवि विशेष सचेष्ट रहता है। किन्तु पद्मावत में लोक वर्णन की विशदता और पूर्णता रहते हुए भी उससे अलौकिक परमार्थ की अभिव्यंजना होती है। कवि ने पद्मावती को बुद्धि या ईश्वर के रूप में, नागमती को दुनियां दारी के रूप में और राजा को सच्चे प्रेम साधक के रूप में चित्रित किया है। उनके वर्णनों में सर्वत्रैव कवि ने अप्रस्तुत रूप में अलौकिक भावों की अभिव्यंजना की है। राजा की व्याकुलता में, विरह में सच्चे अलौकिक प्रेम पथिक के भावों का व्यंजन होता है। यही बात पद्मावती के विरह के विषय में भी है। लौकिक पात्रों का विरह वर्णन करते करते कवि को अलौकिक अनन्त विरह का आभास होने लगता है और उसे चन्द्र सूर्य, सारी सृष्टि ही विरह ताप में जलती हुई प्रतीत होने लगती है, "विरह की आगि सूर जरि काँपा। रातिउ दिवस जरै ओहि तापा॥" इसी प्रकार संयोग की दशा में भी—रत्नसेन, पद्मावती के मिलन में भी, दोनों प्रेमियों की विस्मृति दशा में साधक की ईश्वर दर्शन की विभोर दशा का अनुभव होता है। पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करते करते कवि को अनन्त सौंदर्य की अनुभूति होने लगती है और उसे अपने उसी अलौकिक प्रिय की सौंदर्य आभासे से पृथ्वी, आकाश, सूर्य चन्द्रमा चमकते नजर आने लगते हैं। इस प्रकार जायसी का शुद्ध प्रेम-भाव इस महान् प्रबन्ध काव्य में लौकिक पात्रों में विकास पाता हुआ उन्हें भूल कर हठात् ईश्वर के पास पहुँच जाता है। प्रेम का यह उदात्त ऊर्ध्वगन्ता रूप किसी अन्य प्रबन्ध काव्य में इतना उत्कृष्ट नहीं मिलता। जायसी का अपने इस प्रबन्ध को लिखने का भी यही उद्देश्य था कि कैसे लौकिक प्रेम साधना के द्वारा ईश्वराभिमुख हो सकता है, यह दिखाया जाय और जायसी की प्रमुख विशेषता भी यही है। इस विशेषता या गुण में अन्य प्रबन्ध काव्यकारों में जायसी निरुपम हैं।

अतएव आचार्य श्री शुक्ल जी ने उपर्युक्त मत प्रकाशित किया है।

अथवा

नीचे लिखे हुए किन्हीं तीन विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(अ) तुलसी की भक्ति-पद्धति।

उत्तर—तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी, भगवान् के राम रूप के अनन्यभक्त थे। यद्यपि वे राम की पारमार्थिक ब्रह्म रूप निराकार निर्गुण सत्ता को भी स्वीकार करते थे, तथापि भक्ति के लिए उसे अव्यवहार्य समझते थे। अतः वे सगुण राम रूप की ही सेव्य-सेवक भाव से आराधना करते थे। राम के सिवाय उनके अन्य कोई उपास्य नहीं थे। वे राम के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति एकरस थी, जिसकी वे सदैव कामना करते थे। वे भगवान् से मोक्ष नहीं मांगते, बल्कि अटल भक्ति मांगते हैं, जिससे बड़ा पदार्थ उन्हें कोई नहीं दिखता। उनकी भक्ति अपने शास्त्रीय रूप को रखती हुई भी सम्प्रदायबद्ध नहीं थी और न संकीर्ण ही थी प्रत्युत बड़ी उदार थी। वे राम के अतिरिक्त भगवान् के कृष्ण आदि अन्य रूपों से द्रोह नहीं रखते थे और न अन्य देवताओं से ही उनका विरोध था। पारमार्थिक दृष्टि से वे सब को ईश्वर की ही विभूति भी मानते थे। वे वेद शास्त्र पुराण स्मृति आदि की मर्यादाओं के परम पक्षपाती थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे पशु पक्षियों तक में भी भेद नही देखते, शूद्र आदि की तो बात दूर है। उनकी भक्ति कोरी अन्तरमुखी नहीं थी, केवल आत्म-साधना में निरत, प्रत्युत उसमें लोक-संग्रह का भाव भी रहता है। तुलसी की आंखों से लोक मंगल कभी भी ओझल नहीं होता। तुलसी की भक्ति का निर्माण केवल भक्ति-मार्ग से ही नहीं हुआ था, प्रत्युत उसमें ज्ञान और कर्म का भी संयोग रहता था। तुलसी ज्ञान के बिना भक्ति और भक्ति के बिना ज्ञान को अकारथ समझते थे। क्योंकि भक्ति के साथ ज्ञान का सहयोग न रहने से वह अन्धविश्वास-मूलक और विभिन्न सम्प्रदायवाद जन्य विरोध की उत्पादक हो सकती है। ज्ञान दृष्टि न रहने पर भक्त का दृष्टि-कोण संकुचित होकर वह राम कृष्ण आदि में भेद देख सकता है।

तुलसी अपने तत्त्व-ज्ञान के आधार पर द्वन्द्व-भाव से बच गये। साथ ही वे योग का भी महत्त्व स्वीकार करते हैं। योग के यम नियम आदि भी उनकी भक्ति के साधक ही हैं। क्योंकि असंयम से भक्त कर्तव्यच्युत हो सकता है। वैराग्य-भावना भी साथ रहती है, जिससे भक्त उपासना के आवश्यक अंग उपभोग की सामग्री धूप, दीप, नैवेद्य, नृत्य, गान, स्वादिष्ट भोजन आदि—जो भगवत्-पूजा के लिए होते हैं—में आसक्ति से बचा रह सके। तुलसी कर्म या कर्तव्य भावना पर भी उतना ही बल देते हैं। उनकी भक्ति अकर्मण्य नहीं, जो संसार से विमुख करके भक्त को काहिल निकम्मा कर देती है। उनकी भक्ति कभी कर्म का निषेध नहीं करती, अपितु सत्कर्म का उपदेश देती है। तुलसी वस्तुतः एक बड़े भारी समन्वय-वादी थे। अतएव उनकी भक्ति-पद्धति में अनेक समन्वय हुए हैं—लोक परलोक का, अन्तर् और बाह्य का, राग और विराग का, ज्ञान और अनुरक्ति का, चिन्तन और कर्म का, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत-वाद का, उपासना और योग का, विभिन्न देवताओं का आदि आदि। तुलसी की भक्ति की प्रधान विशेषता यही समन्वयवाद है। वह शास्त्रीय भी है, उसमें मर्यादा भी है और तुलसी की अपनी मौलिकता और स्वतंत्रता भी है। वस्तुतः तुलसी ने इन उपर्युक्त तत्त्वों से अपने समय के अनुरूप ही अपनी भक्ति का रूप निश्चित किया था और इस प्रकार एक आदर्श भक्ति-पद्धति का प्रतिष्ठापन किया था।

(ख) केशव की रामचन्द्रिका अब इस पत्र का पाठ्य ग्रन्थ नहीं है।

(ग) सूफी मत का उद्भव।

उत्तर—सूफी शब्द की व्युत्पत्ति या निकास के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। एक मत है, मदीना में मसजिद के सामने एक चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहा गया, उनके मत का आधार 'सुफ्फा' शब्द है, जिसका अर्थ चबूतरा होता है। दूसरा मत सूफी शब्द का निकास 'सफ' शब्द से मानता है, जिसका अर्थ पंक्ति होता है। इनका कहना है कि कयामत के दिन जो लोग अपने सत् और पवित्र आचरण के कारण अन्य

साधारण लोगों से अलग एक पंक्ति में खुदा के सामने खड़े किये जायेंगे, उनको सूफी कहा गया। तीसरा मत 'सफा' शब्द से सूफी शब्द का निकास मानता है। सूफी महात्मा अधिकतर साफ शुद्ध निर्मल चरित्र के होते हैं, इसलिए उन्हे सूफी, कहा गया। चौथा मत सूफी शब्द को ज्ञान-परक 'सोफिया' शब्द का अपभ्रंश मानता है। सूफी मत मे ज्ञान प्रधान होता है, अतः वह सूफी कहलाया। पांचवां मत मानता है कि सूफी लोग अधिकतर ऊनी पहनावा पहिनते थे, इसलिए उनके वेश की विशेषता के आधार पर उन्हें सूफी कहा गया। इस पांचवें मत को ही अधिक विद्वान् मानते हैं।

नाम के समान सूफी मत के उद्भव के विषय में भी अनेक मत हैं। अन्यों को छोडकर स्वयं मुसलमानों मे ही, प्रत्युत स्वयं सूफियों में ही, मत-भेद है। कुछ सूफी इसलाम धर्म के प्रवर्तक अन्तिम रसूले-पाक मुहम्मद साहब को मानने वाले ऐसे हैं, जो उन्हीं को सूफी धर्म का भी प्रवर्तक मानते हैं। मुहम्मद साहब ने यद्यपि इस गुप्त विद्या या आन्तरिक साधना के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा है तो भी वे मानते हैं कि रसूलेपाक ने इस गुह्य ज्ञान के रहस्य के उद्घाटन का भार अली पर डाला था, जिसने कुछ ऐसी गुह्य ज्ञान की बातें कही हैं। दूसरे सूफी, जो मुहम्मद के प्रवृत्तिमार्ग (मुहम्मद संयत प्रवृत्ति या संभोग के पक्षपाती थे) और सूफीमत के निवृत्ति-मार्ग में परस्पर विरोध देखते हैं, आदम को ही सर्व-प्रथम सूफी मानते हैं, जिसने सब से पहिले हव्वा को प्रेम करके सहज रति का अनुभव किया। सूफियों का आधार भी यही सहज रति या प्रेम है, जो विरह से परम पद को प्राप्त हो जाता है। अनेक कट्टर मुसलमानों को सूफीमत में अहिंसा, मूर्तिपूजा, निवृत्ति आदि की इसलाम विरोधी भावनाओं की बू आती है अतः वे इसको इसलाम से थोड़ा भिन्न मानते हैं। इसी प्रकार अनेक यूरोपीय विद्वानों ने सूफी मत का उद्भव मसीहा और अफलातून के सिद्धान्तों से माना है और कुछ ने भारतीय अद्वैत दर्शन से ही बताया है। इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त और एकांगी धारणाएँ प्रचलित हैं और प्रधानतया इसे इसलाम धर्म के ग्रन्थ कुरान से उद्भूत मान लिया गया है, जो कि पूर्णांश में ठीक नहीं है।

कारण, यह ठीक है कि खींचातानी कर के सूफीमत के कुछ सिद्धान्त कुरान में से भी निकल आते हैं एवं सूफी सन्तों की व्याख्या शैली पर भी मुहम्मद साहब या कुरान की पद्धति का विशेष प्रभाव पड़ा है और सूफी इस्लाम के विशिष्ट व्यक्तियों को भी मानते हैं और उचित श्रद्धा रखते हैं उनमें, तो भी सूफियों के मूलभूत सिद्धान्त कुरान में नहीं मिलते। प्रथम तो, मुहम्मद स्वयं संयत उपभोग के पक्षपाती प्रवृत्तिमार्गीय थे। उनका कहना था कि मूसा और मसीह के भक्तों ने प्राचीन परम्परा से प्राप्त इस्लाम धर्म में निवृत्ति मार्ग का मिलान कर भ्रष्ट कर दिया है, इसलिए उसके संशोधन के लिए उन्हें भेजा है। अतः उन्होंने प्रवृत्ति मार्ग का अवलम्बन किया। युद्ध किये, रक्तपात किया और स्वाभाविक वासनात्मक प्रेम का भी संयत आनन्द लिया। और, एतद् विपरीत, सूफी निवृत्ति या विरक्ति भाव पर मूल आधार रखते हैं, वे सांसारिक विषय भोग से दूर रहकर ही अलौकिक मार्ग में चलते हैं। स्वाभाविक मानव हृदय के राग या प्रेम का आधार उनका भी होता है, परन्तु वह निरन्तर साधना या विरह में तपकर परम पद को प्राप्त हुआ होता है। उसमें नैसर्गिक भाव तो रहता है, पर लौकिकता नहीं रहती, उसका आलम्बन अलौकिक ईश्वर होता है। इस्लाम धर्म के एकेश्वर-वाद को सूफियों ने भी ग्रहण किया है, किन्तु इसलाम का पुरुष-विशेष सूफियों के प्रेम का आधार बनकर बहुत कुछ साकार रूप में आ जाता है, जिसमें मूर्तिपूजा का सा आभास होने लगता है। इनके अतिरिक्त सूफियों की अहिंसा वृत्ति, अन्तमुखी चिन्तन की वृत्ति, अनन्त व्याकुलता, उन्माद, उल्लास या मस्ती के भाव कुरान में प्रायः नहीं है। इस प्रकार से पूर्णांश में कुरान सूफी मत का स्रोत नहीं सिद्ध होता। किन्तु, जैसा कि स्वयं मुहम्मद साहब ने स्वयं कहा है, इसलाम का प्रवर्तन कुरान से प्रारम्भ नहीं होता, अपितु वह धर्म पहिले से चला आता है, अतः कुछ सूफी मानते हैं कि सूफी मत का "बीज आदम में, अंकुर नूह में, कली इब्राहीम में विकास मूसा में, परिपाक मसीहा में और मधु मुहम्मद में हुआ।" दूसरे इसी आधार पर चलते हुए मानते हैं कि सूफी मत के आठ गुणों का विकास इब्राहीम, इसहाक आदि मुहम्मदान्त विभिन्न विभूतियों में पृथक् पृथक् रूप से हुआ।

किसी में सारे गुण नहीं हुए। इस प्रकार वे इसलाम धर्म से इसका उद्भव मान लेते हैं।

इसी प्रकार मसीहियों ने अपने काल में इन्हें मसीही सिद्ध करने की चेष्टा की। मसीहा सम्प्रदाय में और सूफी मत में प्रथम केवल निवृत्ति भावना की समानता थी, सहज रति की नहीं। क्योंकि मसीही पंथ में अनुरक्ति नहीं थी, विरक्ति ही थी। किन्तु बाद में, जब कि यूरोप में सूफी मत के प्रेम प्रचार का प्रभाव बढ़ रहा था, मसीहा धर्म में भी रति आ गई। मसीही सन्त मसीहा और कुमारी मरियम के विरह में तड़पने लगे। अतः उन्होंने भी सूफियों को अपने में से ही सिद्ध करने की चेष्टा की। इन प्रयत्नों का कारण वास्तविक यह था कि अब से पहिले सूफीमत का उद्गम भारतीय अद्वैत प्रेम ही समझा जाता था। इस मत का खण्डन करने के लिए ही इन थ्योरियों (सिद्धान्तों) का निर्माण होता रहा। किन्तु अन्त में भारतीय वेदान्तवाद से सूफी धर्म का विकास न मानने पर भी बाद के सूफी सन्तों पर वेदान्त का विशेष प्रभाव स्वीकार करना ही पड़ा।

वस्तुतः सूफी धर्म का मूल स्रोत अभी भी पूरी तरह से अवगत नहीं हुआ है। और ना ही इसका उद्भव किसी एक धर्म के सिद्धान्तों को लेकर एक शास्त्र के रूप में ही हुआ है। सूफी मत की चिन्ता-धारा मुहम्मदी धर्म से भी पुरानी माननी चाहिये। यह मत सदियों के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन का फल है। इसमें अनेक जातियों के, सम्प्रदायों के मत और विचार अथवा चिन्ता-धाराओं के तत्त्वों का सम्मिश्रण और विकास है। सूफी मत के मुख्य सिद्धान्त कहीं एक स्थान से नहीं आये।

सूफियों का प्रधान तत्त्व मन की रागात्मक स्वाभाविक वृत्ति या (पुरुष स्त्री विषयक) रति है, जिसमें उन्माद है, उल्लास या मस्ती है। यह तत्त्व कहाँ से आया ? मुहम्मद और मसीहा से पहिले शामी जातियों में इस सहज रति का विरोध होता था। क्योंकि आदम का पतन इसी सहज रति के कारण हुआ था। मसीहा धर्म का प्रधान तत्त्व विरक्ति है। किन्तु सूफियों के प्रभाव में जब योरुप

में प्रेम का प्रवाह बहा तभी मसीहियों ने भी रति का ग्रहण कर लिया। किन्तु शामियों के भय से वे उसे कुछ अलौकिक गुह्य रूप देकर व्यक्त करते थे। इस अलौकिक विरह में वे तड़पते थे। काम-वासना विरह में तप कर प्रखर प्रेम का रूप धारण करती है। मसीही सन्तों के प्रेम का भी यही हाल हुआ। इस समय अफलातून ने यूनानी गुह्य टोलियों की इस वासनात्मक सहज रति को परम रति का पद दिया। इन सभी कारणों से सूफियों की इस प्रेम-पद्धति के विकास मे सहायता मिली। वे तो 'इश्क मिजाजी' को 'इश्क हकीकी में आवश्यक मानते हैं। किन्तु वे अन्य लौकिक साधन से अपने इश्क को सन्तुष्ट कर उसे हीन नहीं बनाते, बल्कि निरन्तर विरह में तपता तपता वही इश्क हकीकी बन जाता है। अलौकिक आलम्बन से उसमें भी अलौकिकता आ जाती है। इस प्रकार यह सहज रति विरह मे तप तप कर अलौकिक आलम्बन पाकर परम रति के पद को प्राप्त हो गई, जिसका सूफी मत में पूर्ण विकास हुआ। किन्तु यह विरह-व्यापकता कहाँ से आई? यह भी उन्हीं शामी जातियों मे से आई। शामी जातियां अपनी सन्तानों को मन्दिरों में अर्पित कर देती थीं। वहाँ स्त्री पुरुष की रति का निषेध था और वे सन्तानें अपने अज्ञात प्रेमाश्रय की प्रतीक्षा में सदैव तड़पती रहती थीं। सूफियों के व्यापक विरह का तत्त्व इन्हीं से लिया प्रतीत होता है। किन्तु यह उल्लास या मादन (मस्ती) भाव और इलहाम या हाल-दशा कहाँ से आए? ये भी इन्हीं शामी जातियों से आईं। इन मन्दिरार्पित देवदासों और देवदासियों में भ्रष्टाचार होने लगा था, जिसको रोकने के लिए यहोवा (एक देव विशेष) और उसके अनुयायियों ने बल प्रयोग किया था। इस बल प्रयोग से सहज रति ने—मन्दिरों के पवित्र व्यभिचार ने—गुप्त रूप ले लिया, जिस से इस रति के साथ गुह्यता और आ गई। यहोवा के अनुयाइयों में नबी, जो कि इसलाम के भाग्य विधाता थे, भी थे, ये बल प्रयोग द्वारा इस सहज रति का निषेध करते थे।

किन्तु विशेष अवसरों पर ये मन्दिर में जाकर ऐसा आचरण करते थे, जैसे किसी में कोई देवता आ गया हो। ये वहाँ नाचते थे कूदते थे मण्डलिया बनाकर। इस मादन भाव या उल्लास भाव के लिए उन्हें किसी मादक द्रव्य सुरा आदि का भी सहारा लेना पड़ता था, जिसके नशे में वे यह सब नाच गान उछल कूद करते थे। इसी मादन भाव में उछल कूद करते २ वे अन्त में मूर्छित की सी दशा में हो जाते थे। उस दशा में वे जो कुछ ऊत पटांग बोलते थे, वह इलहाम —कोई न कोई धार्मिक सन्देश—माना जाता था। सूफियों में मादन भाव और हाल की दशा इन्हीं से लिये गये। बाद में इन उदार सूफियों ने अन्य धर्मों के—विशेषतया भारत के—दर्शन ग्रन्थों के आधार पर अपने मत का उचित परिष्कार निर्वचन किया। इस प्रकार विभिन्न चिन्तन-परम्पराओं या साधना-पद्धतियों से उनके सर्व सुन्दर तत्वों का ग्रहण और विकास हुआ।

इस उपर्युक्त विवरण के सारांश रूप में—संक्षिप्त टिप्पणी रूप में—

सूफी शब्द का अर्थ सूफ (ऊन) आदि के वस्त्र पहिनने वाले मुसलमान सन्त लिया गया है। किन्तु कुछ विद्वान् इसका अन्य शब्दों से भी निकास बताते हैं। सूफी मत के उद्‌भव के विषय में भी अनेक धारणायें और विश्वास प्रचलित हैं। प्रधानतया यह मत इसलाम की ही एक शाखा या धारा मानी जाती है, जिसका आधार अधिकतर चिन्तन और अन्तर्मुखी वृत्ति पर है। किन्तु मुहम्मदी धर्म या कुरान शरीफ के धर्म में सूफियों के पूरे तत्व उपलब्ध नहीं होते, यद्यपि वे उसकी व्याख्यान शैलि से पूर्ण प्रभावित हैं। मुहम्मदीय धर्म वस्तुत: 'प्रवृत्तिमार्ग' कहलाता है, उसमें संयत शारीरिक उपभोगों का ग्रहण है। सूफीमत एकान्तत: अन्तर्मुख और निवृत्ति का मार्ग है। अतएव कुछ सूफी विद्वान् सूफी सिद्धान्तों का प्रारम्भ आदम तक ले जाते हैं, जिसने कि सर्व प्रथम सूफियों की सहज रति हव्वा के प्रति प्रेम (आकर्षण) का अनुभव किया। कुछ सूफी विद्वान् मुहम्मद साहब के साथी अली के वाक्यों में सूफियों के तत्व पाते हैं। अभिप्राय यह है कि मुहम्मद साहब में इलहाम होने पर भी उन्हें सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादक

नहीं माना जाता। उनके कट्टर पंथियों को तो सूफी मत में बुतपरस्ती की बू आती है, अतएव उन्हें काफिर कहा है। सारांश यह है कि सूफी मत का उद्भव केवल कट्टर पंथी मुहम्मदीय धर्म से नहीं हुआ। उसका उद्भव इसलाम धर्म की विविध चिन्तन परम्पराओं से हुआ, जिनमें आदम, मूसा मसीहा नबी आदि हैं। मुहम्मद उनमें अन्तिम रसूल हैं। इन सभी के श्रेष्ठतम तत्व लेकर सूफी मत का उद्भव हुआ है। सहज रति, जो विरह के कारण परम पद को प्राप्त हो जाती है, मस्ती, इलहाम, निवृत्तिमार्ग, जगद् में ईश्वर-दृष्टि आदि सूफी सिद्धान्त इन्हीं विभूतियों से प्राप्त बताये जाते हैं। सहज रति आदम से लेकर प्राणी मात्र में चली ही आती है। मुहम्मद से पहिले की शामी जातियों में इसका विरोध था, जिससे गुह्य (परोक्ष) रूप और विरह समन्वित होकर यह प्रेम रूप में परिणत हो गई। उनकी यही रति देवदास या देवदासी प्रथाओं में परम पद को प्राप्त हो गई। इसको परम पद देने वाले अफलातून थे। मसीहा निवृत्ति मार्गीय थे। सूफी मत की चिन्तन पद्धति इन्हीं तत्वों को लेकर चल रही थी। पश्चात् के नबियों की मादन भाव की दिव्य उपासना और इलहाम भी उसमें आ गये। किन्तु सूफीमत की विवेचना और व्याख्या, उसके दर्शन (फिलासफी) के निर्माण पर भारतीय दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा। वस्तुतः अपने मत का दार्शनिक रूप में तर्क-सम्मत विवेचन उपस्थित करने की पद्धति भारतीय वेदान्त से ही सीखी गई। उसके अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण भी किया गया और इस प्रकार सूफी मत पूर्ण दार्शनिक विचार पद्धति के रूप को प्राप्त हुआ।

(ख) जायसी का विप्रलंभ शृंगार वर्णन।

उत्तर—आचार्य श्री शुक्ल जी ने जायसी को विप्रलंभ का प्रधान कवि कहा है। उनका कथन है कि 'जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता और जो गंभीरता इनके वचनों में है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।' जायसी का विरह-वर्णन वस्तुतः ऐसा ही मार्मिक और गम्भीर है। कारण, उनकी उपासना पद्धति का यह एक विशेष तत्व है। अतएव वे इसके वर्णन में इतने सफल हुए। उनकी पद्धति स्पष्ट, कोमल और गम्भीर है। जायसी ने वस्तुतः हृदय के । विरह वर्णन में, अनुभूति

उनमें प्रधान है। उसके प्रकाश करने का ढंग भी उनका सरल और स्वाभाविक है। घुमाव फिराव या ऊहापोह का प्रयोग उन्होंने कम किया है। "तपै लागि अब जेठ असाढ़ी, मोहि पिउ बिन छाजनि भइ गाढ़ी॥ तन तिन उर भा झूरौं खरी। भइ बरखा दुख आगरि जरी॥" हृदय की सरल व्यंजना है। ऊहापोह का भी जहां कवि ने प्रयोग किया है, वहां भी हृदय की या शरीर की किसी स्वाभाविक दशा की ही स्वाभाविक व्यंजना होती है। अन्य कवियों के समान इन्होंने भी अत्युक्तियों से काम लिया है, किन्तु वह हृद्गत भाव के ही उत्कर्ष को बताता है। प्रकृति अगर जलती दिखाई देती है, तो वस्तुतः विरही के मन को उस समय यही लगता है। वहाँ केवल चमत्कार ही नहीं अनुभूति भी है। वस्तुतः जायसी को विरह में प्रकृति विरहमय, किसी के लिए तड़पती हुई प्रतीत होती है, इसी व्यापक और गम्भीर दृष्टि का प्रभाव उनके विरह में सर्वत्र व्याप्त है। प्रकृति का भी वर्णन उन्होंने अपनी अनुभूति—विरहानुभूति—के रंग में रंगकर किया है। आत्मा संतप्त है तो सृष्टि संतप्त है, आत्मा रोती है तो सृष्टि भी रोती है, आत्मा हंसती है तो सृष्टि भी हंसती प्रतीत होती है। नागमती के विरह वर्णन में, बारह मासे में, ऐसा ही वर्णन है। बीच बीच में कवि अपने सिद्धान्तानुसार इस लौकिक सीमित विरह में अलौकिक असीम विरह के भी संकेत देता चलता है, जिससे उसकी गंभीरता और भी अधिक होती जाती है। अलंकार, वस्तु व्यंजना, लक्षणा आदि सभी काव्य-वस्तुओं के यथोचित समावेश से वर्णन की रुचिरता और भी बढ़ गई है। जायसी ने अधिकतया सादृश्यमूलक अलंकार, उपमा रूपक उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग किया है। अतिशयोक्ति का प्रयोग भी किसी न किसी भावानुभूति या किसी स्वाभाविक प्रेम दशा के ही उत्कर्ष का द्योतक है।

कुछ दोष भी हैं, जहां वे मुसलमानी प्रभाव में आकर वियोग वर्णन में बीभत्स को ले आये हैं और कटाक्ष आदि से शरीर में घाव आदि का वर्णन करने लगते हैं। ऐसा वर्णन भारतीय काव्य पद्धति के प्रतिकूल है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। नहीं तो, उनके विरह वर्णन की सरसता, स्वाभाविकता, व्यापकता और सरलता विशेष विशेताएँ हैं।

(ङ) सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य का योग।

उत्तर—रूप-लिप्सा और साहचर्य की कामना प्रेम की दो प्रधान विशेषताएँ हैं। सूर की भगवद् रति में वे पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। सूर के प्रेम का आधार, सूफियों के समान, अलक्ष्य ईश्वर नहीं था, उसका आधार प्रत्यक्ष अनुपम सौन्दर्यशाली श्री कृष्ण ईश्वर था। उसका सौन्दर्य जादू का था, जिसे प्रेम किये ही बनता था। अतएव सूर ने बाल और किशोर, युवा कृष्ण के असंख्य विविध भाव-भंगियों वाले रूप के ही शब्द चित्र-उतारे, जिनमें मोहिनी और आकर्षण सब में व्याप्त थे। सूफियों की 'परम रति' के समान पुष्टिमार्ग की भी भगवद्रति परम ही है। किन्तु सूफी साकार अलौकिक आलम्बन नहीं रखते थे उनका ईश्वर अलक्ष्य था और पुष्टि-मार्गीयों के पास त्रिलोक सुन्दर श्री कृष्ण जैसा आवलम्बन था, जिसकी लीलाएँ भी नित्य एवं मुक्तिदायिनी हैं। फलतः उनकी अलौकिक रति के आलम्बन साकार सच्चिदानन्द श्री कृष्ण अनेक रूपों में चित्रित हुए हैं। सूर का प्रेम भी भगवान् के प्रत्यक्ष रूप का आधार रखता था और रास आदि द्वारा उनके साहचर्य की अनुभूति भी करता था। सूर कृष्ण के बाल रूप के परम भक्त थे—सेव्य सेवक भाव से, अतएव साधना या आराधना के लिए उन्होंने बाल कृष्ण के अद्भुत सुन्दर शब्द-चित्र भी उतारे। वे इस रूप पर मोहित थे। किन्तु किशोर रूप को वे मधुर भावना से सख्य भाव से भजते थे। इस प्रकार अलौकिक प्रेम अलौकिक सौंदर्य रूप से सम्पन्न अलौकिक आवलम्बन की अपेक्षा रखता था। रूप के साथ गोपियों के प्रेम का उदय कृष्ण के साहचर्य से भी हुआ था, तभी उनका विरह इतना गम्भीर हुआ। उनके हृदय श्रीकृष्ण के साहचर्य के लिए तड़पते रहे। अतः यह साहचर्य भावना संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों में निरन्तर बनी रहती है।

(च) अन्तः साक्ष्य के आधार पर विद्यापति की जीवनी।

उत्तर—मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं, जो अनेक विषयों के हैं। उनमें काव्य ग्रंथ भी हैं, वाद ग्रन्थ भी हैं और सिद्धान्त ग्रन्थ भी। ये कई राजाओं के पास रहे और सभी के

पास रहते हुए इन्होंने भिन्न २ ग्रन्थों की सृष्टि की। उन समस्त ग्रन्थों मे इनकी जीवन-घटनाएँ बिखरी हुई मिलती हैं। इन्होंने अनेक प्रासंगिक घटनाओं का वर्णन करने के साथ अपने वंश का भी पूरा परिचय दिया है। अपने जन्म की तिथि नहीं दी है, किन्तु-मृत्यु काल का सूचन किया है, जब इन्हे मृत्यु के ३२ वर्ष बाद राजा शिवसिंह स्वप्न मे दिखाई दिये। इस समस्त साहित्य की साक्ष्य पर विद्यापति का जो परिचय मिलता है वह संक्षेप में इस प्रकार है।

विद्यापति मैथिल थे, उनकी भाषा मैथिली है, मिथिला के अन्य स्थानों, राजाओं आदि का वर्णन भी उन्होंने किया है। ब्राह्मण वंश के थे, जिसमें विभिन्न विषयों के उच्च कोटि के विद्वान् हो चुके थे। शिव भक्त थे, किन्तु कृष्ण भक्ति के माधुर्य से भी प्रभावित थे। ये बड़े विद्वान्, आचार्य, महा-कवि और भक्त थे, यह भी इनके साहित्य से ही सिद्ध हो जाता है। इनके पिता गणपति ठाकुर भी पूरे विद्वान् थे। अपने वंश का विद्यापति ने पूरा वर्णन दिया है। ये संगीत के भी आचार्य थे, यह इनके पदों के राग-विधान से प्रकट होता है। ये अनेक राजाओं के आश्रित रहे, किन्तु राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमादेवी का इन्होंने जिस प्रेम आदर और श्रद्धा से स्मरण किया है, उतना किसी को नहीं। राजा शिवसिंह ने इन्हें बिसपी नाम का ग्राम दिया था, जिसका दान पत्र अब तक विद्यापति के वंशधरों के पास विद्यमान है। रानी लखिमा देवी अत्यन्त विदुषी और काव्य-कला मर्मज्ञ थी अपने पति राजा शिवसिंह के समान ही। अतः उनके आश्रय में विद्यापति की कविता का पूर्ण विकास हुआ। वैसे उनके पूर्वज पिता देवसिंह, दादा भावसिंह के समय में भी विद्यापति का मान रहा, तथापि इतना गाढ़ अनुराग उनका और किसी से नहीं हुआ। इनके दिए हुए गाँव मे विद्यापति का बनवाया हुआ 'रजोखरि नामक' तालाब अब तक मिलता है। विद्यापति के परिवार में पत्नी मन्दाकिनी, पुत्र हरपति, पुत्री दुल्लहि और पुत्र-वधू चन्द्रकला के नाम मिलते हैं।

विद्यापति ने अपभ्रंश या अवहट्ट और देश भाषा मैथिली दोनों में रचनाएँ की हैं। संस्कृत में लिखना तो इनके वंश की विशेषता ही थी। उसमें तो इन्होंने लिखा ही। इन की तीन प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक ऐसी, जिनमें अपने आश्रित राजाओं का वर्णन है, ये अपभ्रंश में हैं। दूसरी ऐसी जिनमें इनका प्रकाण्ड पाण्डित्य है, ये अधिकतर संस्कृत मे हैं। तीसरी, हार्दिक भावों के मधुर काव्य। ये देश भाषा मैथिली में लिखे गये हैं। इनमें तात्कालिक सार्वजनिक भक्ति भावना का संगीत है और इन्हीं रचनाओं में वस्तुतः इनकी कवित्व कला अपनी चरम कोटि पर पहुची है। प्रधानतया विद्यापति के तीन काव्य विशेष प्रसिद्ध हैं—कीर्तिलता, कीर्तिपताका (अपभ्रंश) और पदावली (मैथिली)।

विद्यापति की जन्म मरण की तिथि स्पष्ट लिखित नहीं मिलती। किन्तु उनके ग्रन्थों की रचनाओं के सम्वतों, अन्य समसामयिक घटनाओं और किम्वदन्तियों के आधार पर उनकी जन्म तिथि सं० १४०७ के लगभग निश्चित हुई है। मृत्यु के विषय में स्वप्न दर्शन का जो आभास विद्यापति ने दिया है, उसके अनुसार उनकी मृत्यु-तिथि सं० १४६७ निश्चित की जाती है।

विद्यापति महा कवि थे, दार्शनिक थे, भक्त थे और प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी इन्हीं विशेषताओं की सूचक इनकी ये उपाधियां प्रचलित मिलती हैं—अभिनवजयदेव, कविशेखर, कविरंजन, कविराज, कवि कण्ठहार, दशावधान, राजपण्डित, आदि।

विद्यापति हिन्दी साहित्य में उस समय उत्पन्न हुए थे, जब वीर-काल समाप्त होकर भक्ति-काल का प्रारम्भ हो रहा था। अतएव इस सन्धि-काल की दोनों विशेषताएँ के—वीर चरित वर्णन की और भक्ति की—उनके काव्य में हैं—जिन दोनों विशेषताओं, भक्ति और शृंगार का उत्तर वैष्णव कवियों और रीति काल के कवियों में पूर्ण विकास हुआ। विद्यापति शैव होते हुए भी वैष्णव कवि थे।

(छ) विद्यापति और सूर के शृंगार वर्णन की विशेषताएँ।

उत्तर—सूर और विद्यापति दोनों ही महा-कवि, मधुर भावनाओं के कवि थे। दोनों का प्रिय रस शृंगार था। दोनों ही ने मुक्तक गेय पदों में राधाकृष्ण के शृंगार का वर्णन किया है। दोनों ही रस-सिद्ध कवीश्वर थे। किन्तु दोनों का दृष्टि-कोण थोड़ा भिन्न था। विद्यापति, उनकी पदावली के आधार पर, वस्तुतः वैष्णव कवि थे, वैष्णव भक्त नहीं। अतएव उनके शृंगार वर्णन में अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता ही है। उन्होंने शुद्ध शृंगार का मधुर वर्णन किया है और इसी लिए अनेकत्र रस में डूब कर वे भक्ति की मर्यादा से बाहर निकल कर भी राधा के बेर कुचों का वर्णन कर गये हैं। अनेकत्र उनका शृंगार वर्णन अश्लीलता तक भी पहुँच जाता है। उनकी कृष्ण प्रेमिकाएँ वस्तुतः शृंगार काव्य वर्णित नायिका भेदों के उदाहरण हैं, जिनका वास्तविक चमत्कार बिना लक्षण-ज्ञान के पूर्ण-तया समझा नहीं जा सकता है। अभिप्राय यह है कि विद्यापति का दृष्टि-कोण प्रधानतया एक शृंगार के उत्कृष्ट कवि का था, भक्त का नहीं। अतएव उनके काव्य में शृंगार अलौकिक या दिव्य नहीं हो पाया।

सूर पर विद्यापति का गहरा प्रभाव पड़ा था। सूर ने विद्यापति की ही पद्धति पर लिखा है। वैसा ही सरस शुद्ध स्पष्ट शृंगार का सूर ने भी वर्णन किया है। किन्तु उसमें भक्ति का अनौचित्य-भक्ति विरोध– नहीं आने पाया है। वे मर्यादा से इतने बाहर नहीं गये हैं। दूसरे, पुष्टि मार्गीय भक्ति भावना, प्रेम लक्षणा रति, की अलौकिकता उसमें सर्वत्र व्याप्त रहती है। इस से उनके शृंगार में लोकोत्तरता की भावना रहती है जिसका मूल उनके अनन्य भक्त हृदय में है। अतएव उनका शृंगार भक्ति का अंग ही रहता है। उनका दृष्टि कोण भी मुख्यतः भक्त का ही रहता है।

(ज) कबीर की रहस्य भावना।

उत्तर—कबीर का रहस्यवाद दो मतों या सिद्धान्तों के मेल से बना था। एक ओर तो उन्होंने वेदान्त से अद्वैतवाद और माया चिन्तन परम्परा ली थी और दूसरी ओर सूफियों से उनका प्रेमवाद लिया था, जिसके साथ

प्रेम का नशा और प्रेम का मिलन (हाल की दशा) भी सम्मिलित थे। किन्तु भारतीय अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म को रति का आश्रय बनाकर उन्होंने यद्यपि उसे मधुरता प्रदान की थी, किन्तु जीवन विषयक दृष्टि-कोण उनका शुद्ध वेदान्त का सा ज्ञान-समन्वित था। सूफी प्रेम में ईश्वर की प्रियतमा के रूप में भावना की जाती है किन्तु कबीर ने परमात्मा को पुरुष रूप में ही देखा।

रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा का वह एकीकरण होता है जहां द्वैतभाव की पंखुड़ियां पीछे छोड़ कर आत्मा परमात्मा का ही रूप बन जाती है। यह दशा एकान्त अनुभूति की दशा है, जिसमें आत्मा में परमात्मा के और परमात्मा में आत्मा के गुण प्रकट होने लगते हैं। कबीर ने ऐसी दशा का 'मैं सबनि औरनि मैं हूँ सब' इन शब्दों में वर्णन किया है। किन्तु इस एक दशा से पहले रहस्यवादियों की दो अन्य प्रमुख दशाएँ होती हैं। पहिली दशा में रहस्यवादी परमात्मा की खोज में निकलता है। ऐसी दशा का वर्णन रहस्यवादी अनन्त यात्रा, नदी के उस पार जहाँ भू नभ की सीमाएँ न हों सुख दुख न हों आदि संकेतों से करता है वहाँ पहुंचकर वह उसकी दिव्य विभूतियों को देखकर प्रथम आश्चर्यचकित होता है। पश्चात्, दूसरी स्थिति में प्रेम की उत्पत्ति होती है और वह विरह में तड़पने लगता है। यह प्रेम अनन्त माधुर्यपूर्ण होता है, जिसके सामने लौकिक पदार्थ तुच्छ होते हैं। तीसरी अवस्था इसके बाद आती है, जब आत्मा परमात्मा रूप हो जाती है। कबीर ने ऐसी दशा की अनुभूतियों का ही उलटबांसियों के रूप में वर्णन किया है, जहाँ आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक गुण धर्म एक दूसरे में संक्रमित होने लगते हैं। इस दशा का वर्णन सरल सीधी स्पष्ट वाणी में नहीं हो सकता। अतएव रहस्यवादी इसके लिए प्रतीक पद्धति का आश्रय लेते हैं। कबीर के साहित्य में, उनकी अपनी मौलिकता के साथ, इन तीनों ही रहस्यवादी दशाओं का पूरा अभिव्यंजन है।

इस प्रकार दो विचारधाराओं के समन्वय से कबीर के रहस्यवाद का निर्माण हुआ था। इसमें वेदान्त और सूफी मत दोनों की विशेषताएँ दृष्टिगत

होती हैं। साथ में कबीर की अपनी मौलिकता भी रहती है, जिसके कारण उनका रहस्यवाद सूफियों के प्रेमवाद से और वेदांत की निर्विकल्प समाधि से पृथक् रहता है।

हिन्दी साहित्य रत्न संवत् २००४

विषय १४ वीं से अठाहरवीं तक—प्रश्न पत्र १

१. निम्नलिखित अवतरणों मे से किन्हीं चार की व्याख्या उन के काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए कीजिये:—

(अ) कबीर माया डोलनी .... पीए संसार॥

प्रसग—प्रस्तुत अवतरण कबीर के सन्तोक प्रकरण के हैं।

अर्थ—कबीर कहते हैं यह माया (नामरूपात्मक जगद् व्यवहार) एक (माखन बिलोने की) मटकी है और पवन (प्राण) मथानी या मथानी है। (उसके द्वारा बिलोकर) सन्तों ने माखन (तत्वज्ञान) तो खा लिया और छाछ (विषयवासनादि) को संसार पीता है।

भाव यह है कि सन्तों ने प्राणो की मथानी (प्राणायाम समाधि आदि) के द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त कर लिया और अन्य सांसारिक लोग विषय वासनादि में रत हैं। ऊपर की पंक्ति में तद्रूप रूपक है और नीचे की पंक्ति में माखन और छाछ में अप्रस्तुत प्रशंसा है।

कबीर बेड़ा .... सिर भार॥

अर्थ—कबीर कहते हैं कि, (यह) बेड़ा (शरीर रूपी जहाज, जिसमें आत्मा यात्रा करती है) जर्जर (खस्ताहाल) है और उसमे हजारों छिद्र (रोम कूप और दोष) फूटे हुए हैं। (इसमें बैठकर) हल्के हल्के (पापों के बोझ से रहित) तो पार उतर गये और वे लोग (संसार समुद्र में) डूब गये, जिनके सिर पर भार (पापों का) था।

संसार को समुद्र मानकर, शरीर को बेड़ा बना कर कबीर ने बताया है कि इस शरीर के द्वारा आत्मसाधना करने वाले पवित्र आत्मा वाले तो तर गये और पापी डूब गये। यहां भी उपमेय न कह कर केवल उपमानों

का ही वर्णन हुआ है, अतः रूपकातिशयोक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा है। अलंकार भाव का सहायकहै, इसके बिना इतने संक्षेप से इतने गम्भीर अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता था।

नीचे लोइन करि ... लखाव ताहि ॥

अर्थ—(अपने) प्रियतम को हृदय में धारण करके नीचे नयन करके रहो (ऊँची आँखें करने से इधर उधर किसी और की ओर भटक जाने का भय है अथवा नीची आँखों से निरभिमान व्यंजित होता है)। वहां (अपने हृदय में) प्रिय के साथ समस्त रसों की आनन्द-क्रीडा कर और किसी को दिखा नहीं।

अन्तर् में परमात्मा का ध्यान कर और इसका भेद किसी के पास प्रकट न कर। भजन गुह्य वस्तु है, उसका ढिढोरा पीटने से उसका प्रभाव जाता रहता है। प्रियतम परमात्मा है। कबीर ने बड़े चमत्कारक ढंग से सन्तों की अन्तर्मुखी वृत्ति का वर्णन किया है। अप्रस्तुत प्रिय प्रसंग के वर्णन से प्रस्तुत परमात्मचिन्तन का सूचन किया है।

सुनु सखि ... जीउ कि पीउ ॥

अर्थ—हे सखि! सुन! मेरा जीव (हृदय या आत्मा) प्रिय (ईश्वर) में रहता है या मेरे जीव में प्रियतम रहता है। जीव और प्रिय की पहिचान नहीं पड़ती। (पता नहीं) इस शरीर में जीव रहता है या प्रिय।

कबीर ने प्रेमी साधक की उस चरम दशा का व्यंजन किया है, जब वह तद्रूप हो जाता है और उसे आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं सूझता। प्रिय के ध्यान में प्रेमी इतना तन्मय हो गया है कि उसे अपने और प्रिय में भेद नहीं प्रतीत होता। सन्देहालंकार है।

(आ) जहँ जहँ ठाढ़ि ... आवै कंत ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य पदमावत के नागमती वियोग खण्ड का है। जायसी ने नागमती के वन में फिरने और रक्त के आँसू बहाने का वर्णन किया है। नागमती पति वियोग में जंगल में पागल सी घूम रही है।

अर्थ—वह बनवासिनी (नागमती) खड़ी होती है (ठहरती है), वहाँ

ही गुञ्जाओं (रक्ताश्रुओं) का ढेर लग जाता है (कवि ने इससे ऊपर वर्णन किया है कि नागमती ने अपने रक्त के अश्रुओं से वन में घूंघुचियां बो दी हैं)। प्रत्येक (नागमती के रक्त की) बूंद मे मानो जीवन हो ऐसे वे गुंजाएँ (घूंघुचियां) गूंज कर 'प्रिय प्रिय' का शब्द कर रही हैं (प्रत्येक बूंद मानो जीवित हो और प्रिय प्रिय की ध्वनि गुंजित कर रही हो । उसके दुःख से ढाक भी बिना पत्तों के हो गये और (मानो) उसके रक्त में डूब कर लाल हो गये (ढाक के टेसू रक्त होते हैं)। बिम्बा फल भी उसी के रक्त में रंग कर लाल हो गये हैं। (उसके विरह ताप से) परवर (फल विशेष) पक गये हैं और गेहूँ का (पक कर) हृदय फट गया है। (नागमती कहती है) जहाँ भी देखती हूँ वहीं लाल हो जाता है। (अतः) जहाँ वह प्रियतम रत्नसेन है, वहाँ जाकर कौन बात (मेरा सन्देशा) कहे ?

(प्रतीत होता है) उस देश मे न वर्षा ऋतु है, न हेमन्त और वसन्त ही हैं, न कोयल है और न पपीहा है, जिसको सुनकर प्रिय आ जायँ (इन ऋतुओं में और इन पक्षियों के शब्द सुनकर प्रिय की याद हो आती है। किन्तु नागमती सोचती है कि उस देश मे ये वस्तुएँ होती ही नहीं, जिनसे रत्नसेन नागमती का स्मरण करके घर आ जाता ।

विरह की आत्यन्तिक दशा का वर्णन है। नागमती रक्त के विरहाश्रु बहा रही है और प्रकृति भी उसी के आँसुओं में रंगी नजर आती है। कवि को नागमती के लौकिक विरह का वर्णन करते करते उसमे अलौकिक अनन्त विरह का आभास होने लगता है और उसे प्रकृति भी विरह में डूबी नजर आने लगती है। सर्वत्र हेतूत्प्रेक्षा व्यंग्य रहती है, जिसका अत्यन्त सुन्दर प्रयोग करने में जायसी सिद्ध-हस्त है। प्रस्तुत अवतरण में भाव-गांभीर्य के साथ काव्य चमत्कार भी व्याप्त है ।

(इ) यह ग्रन्थ परीक्षा मे अब नहीं है।

(इ) मोहि मूढ़ मन बहुत वियोगो।··· ···नींद भरि सोयो ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य विनय पत्रिका का है। तुलसी अपनी दुर्दशा बताकर प्रभु से कृपा भिक्षा मांगते हैं।

अर्थ—मुझे (इस) मूर्ख मन ने बहुत बहकाया। हे करुणामय !

सुनिये, इस (मन) के लिए ही संसार में जन्म ले लेकर मैं दुःख में रोया (क्योंकि अन्तःकरण के संस्कारों के अनुसार ही जन्म मिलता है। इसलिए मन के कारण ही जन्म लेकर दुःख उठाने पड़े)। अमृत के समान शीतल और मीठे सहजानन्द (सात्विक आनन्द) के निकट रहते हुए भी उसे यों खो दिया, जैसे वह दूर की वस्तु हो (वह सहजानन्द आत्मा में विद्यमान है, पर अज्ञान के कारण उससे दूर रहकर उसे खो दिया)। मैंने मोह (भ्रम) वश होकर अनेक प्रकार से श्रम करते हुए ने वृथा ही पानी बिलोया। (मोह-वश आनन्द की आशा से वृथा ही विषयों के लिए परिश्रम किया, जो बिलो कर जल में से घी निकालने के समान वृथा है)। चित्त में कर्म को कीच (जिसमें फंस जाता है) जानकर भी, उसमें मन को सान कर, कुटिल ने (मैंने) मल से ही मल को धोया (वासनाओं की तृप्ति विषय से करनी चाही। मन के मल को सांसारिक व्यवहार रूपी मल से साफ करना चाहा)। तृष्ट और प्यासे मैंने गङ्गा को छोड़कर, व्याकुल होकर (पानी की आशा से) आकाश को निचोड़ा (अर्थात् विषयों से तृप्ति या आनन्द प्राप्ति करने का प्रयत्न किया, जो कि निराकार आकाश से पानी निचोड़ने के समान वृथा है)। तुलसीदास कहते हैं, हे प्रभु! अब (मेरे ऊपर) कृपा करो, मैंने अपना कोई भी दोष (आपसे) नहीं छुपाया है। हे नाथ! मेरी तो बिस्तर जगाते जगाते ही सारी रात बीत गई, कभी भी नींद भर कर नहीं सोया (अर्थात् आनन्द प्राप्त करने की तैयारी में ही सारी आयु बीत गई, आनन्द प्राप्त करने का एक बार भी अवसर नहीं आया)।

पद में तुलसी की मार्मिक मनोव्यथा की गम्भीरता के साथ काव्य का विशेष चमत्कार आया है। रूपक, उत्प्रेक्षा, लोकोक्ति, निदर्शना वीप्सा आदि अलंकार पद में यत्र तत्र चमत्कार कर रहे हैं, जो अत्यन्त स्वाभाविक और भाव के उद्द्योतक हैं।

(ङ) केशव का यह ग्रन्थ अब इस पत्र में नहीं रहा है।

(ऊ) सूर की गद्य रचना भी अब पाठ्यग्रन्थ नहीं है

(ए) गया तो चारो........ . ...लीन्हौं लाय॥

प्रसंग - प्रस्तुत पद मीरा की पदावली से है। मीरा ने अपने

भक्ति या प्रेम मार्ग के बीहड़पन का वर्णन किया है।

अर्थ—सब मार्ग बन्द हैं। मैं (अपने प्रिय) हरि से कैसे जाकर मिलूं? राह ऊँची नीची और रपटीली है, पांव नहीं जमता (मार्ग बड़ा कठोर है, जहां फिसलने का भी भय है) मैं सोच सोच यत्न पूर्वक पांव रखती हूं, पर वह बार बार रपट जाता है (मीरा अपने प्रेम मार्ग पर बड़ी सतर्कता से बढ़ती है, पर फिसल जाती है)। प्रिय का महल बहुत ऊंचा नीचा है, हमारे से चढ़ा नहीं जाता। प्रिय दूर है और हमारा मार्ग बड़ा सँकरा है और ध्यान झोका खा जाता है (बहक जाता है)। कोस कोस पर पहरा बैठा है किन्तु डाकू पग पग पर हैं (संभालने वाले दूर हैं और लुटेरे पास मे हैं। धर्म या भक्ति के साधन दूर दूर हैं और विषय आदि के विघ्न घेरे हुए हैं)। हे विधि! यह कैसी रचना कर दी है कि हमारा ग्राम (प्रिय से) दूर बसा दिया? सद्गुरु ने बता दिया है कि मीरा के प्रभु श्री गिरिधर नागर हैं। युगों से बिछुड़ी हुई मीरा को (प्रभु ने) घर में रख लिया (घरनी बना लिया।

मीरा ने अपनी प्रेम पंथ की विकटता का अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा कैसा सुन्दर वर्णन किया है। प्रेमपथ की इस विकटता का कबीर आदि सन्तों ने भी वर्णन किया है। किन्तु इस पद में मीरा की व्यक्तिगत भावना का प्रवाह है जिससे भाव मार्मिक हो उठता है भाव सौंदर्य के साथ काव्य और संगीत के सौंदर्य ने सोने में सुगन्ध उत्पन्न करदी है।

(ऐ) इस पद्य का ग्रन्थ भी अब पाठ्य नहीं रहा है।

२. सिद्ध कीजिए की 'कबीर की कविता भक्त कवियों की विनयशीलता और आत्म भर्त्सना के बीच मे स्पष्ट कण्ठ से कही गई धार्मिक और सामाजिक जीवन पर पक्षपात रहित विवेचना है।"

उत्तर—ये डा० रामकुमार वर्मा के विचार हैं, जो उन्होंने कबीर साहित्य का मार्मिक और गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्त किए

हैं। कबीर जिस समय उत्पन्न हुए उस समय भक्ति धर्म का उत्थान हो चुका था, किन्तु अव्यवस्था फैली हुई थी। दो महान् विरोधी जातियों का संघर्ष उपस्थित था। कबीर मुसलमान थे या मुस्लिम परिवार में पले थे। किन्तु मन में उनके ज्ञान-पिपासा थी। उन्होंने सत्संग किया और जो चाहा पाया। पश्चात् लोक-मंगल का प्रयत्न किया। इस अव्यवस्था को समाप्त करने के दो ही मार्ग थे, या तो सामाजिक जीवन के गले सड़े अंगों को सर्वथा काट दिया जाय और या यह कि उनका उपचार करके उनके शुद्ध रूप की प्रतिष्ठा की जाय। कबीर ने प्रथम मार्ग को ही अपनाया था। उन्होंने धर्म की उन सारी प्रथाओं या विश्वासों का कटुतम खण्डन किया है जो अज्ञान से उत्पन्न थीं। दूसरा मार्ग सगुण भक्तों—विशेषत: रामभक्तों—का था। उन्होंने मर्यादाओं के शुद्ध रूपों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है।

कबीर स्पष्ट-वक्ता थे। दृढ़ आत्मविश्वासी थे। वे पढ़े लिखे नहीं थे किन्तु अपने इसी आत्मज्ञान के अक्खड़पन से उन्होंने बड़े बड़े पण्डितों और मुल्लाओं की खिल्ली उड़ा दी है। उन्होंने निर्भय होकर—निर्भय आत्मज्ञ ही हो सकता है—जिन भी कुरीतियों को देखा, उनका मजाक उड़ाकर खण्डन किया। उन्हे किसी के रुष्ट होने या प्रसन्न होने से कोई प्रयोजन नहीं था। उनका तर्क घरेलू है, दार्शनिक नहीं, उदाहरण भी दैनिक जीवन के हैं। पुत्र होने से ही यदि स्वर्ग मिले तो सूरी को सबसे पहिले मिलना चाहिये। ....मूंड़ मुंड़ाने से ही यदि स्वर्ग मिलता है, भेड़ आदि सबसे पहिले पहुँचेंगे। आदि उनके खण्डन का तरीका है। तत्त्वज्ञान के उच्च शिखर पर पहुंचे हुए कबीर में यह अक्खड़पन उनकी अपनी विशेषता है।

सगुण भक्ति का विनय, आत्मनिवेदन, आत्मभर्त्सना, अपने दोषों का बार बार कहना आदि विशेष अंग हैं। उस सगुण भक्ति की धारा में भक्त कवि "हौं पतितन को टी कौ।" कहता हुआ नहीं थकता, अत्यन्त विनीत है, अपने दोषों को कहकर अपनी तुच्छता व्यक्त करता है, वैसा कबीर ने नहीं किया। कबीर वस्तुत: ज्ञानमार्गीय थे, 'अहँ' के उपासक। ज्ञान में हीनता का भाव कैसे आ सकता है? अतएव उनके विनय में कुछ अकड़

है। वे अन्य भक्त कवियों की तरह आत्मभर्त्सना भी नहीं करते। उन्होंने निर्भयता से निस्पक्षतापूर्वक संकीर्णता का खण्डन कर अपना सन्त मत चलाया था। कबीर ने अधिकांश में सचाई और बुराई दोनों का निर्भीक और निष्पक्ष आलोचनात्मक ढंग से वर्णन किया है। उनके इस अहँ भाव ने ही जीवन पर निष्पक्ष और सूक्ष्म दृष्टिपात करने का अवसर दिया। उन्होंने जीवन का, धर्म का और समाज के उस रूप का विधान किया, इनके मत में जो उस युग के उपयुक्त हो सकता था। इनका दृष्टिकोण सुधारक सन्त का तो था ही, एक कटु निर्भीक परन्तु निष्पक्ष आलोचक का भी था। उस समय युगानुरूप धर्म, समाज, ज्ञान के क्षेत्रों में परम उदार दृष्टि लेकर सुधारक फक्कड़ सन्त के रूप में पदार्पण न किया। अतएव इन्हें आत्म-साधना के साथ साथ, आत्मा और जगत् की आलोचना भी करनी पड़ती थी। ऐसी चेतना या जागृति देने वाली वाणी ने अनेक अंशों में,जीवन को संकीर्णताओं से बचाकर उसे उदार और विस्तृत रखने की ही चेष्टा की। कबीर साहित्य जीवन की एक निष्पक्ष सत्य आलोचना तो है ही, साथ ही युग के लिए बल और एक नवीन दृष्टि प्रदान करने वाली युग-वाणी भी है, जो जागृति और चेतना प्रदान करके समाज को सबल बनाती है। कबीर ने मानो डण्डे मार मार कर लोगों को चैतन्य किया है और सत्य का दर्शन कराया था। अतः उपर्युक्त "उद्धरण" के विचार, सिद्ध हो जाते हैं, इस विवरण से।

अथवा

"कबीर में जो रहस्यवाद है, वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्य-वाद नहीं है। हिन्दी के कवियों ने यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत ही ऊंची कोटि की है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

उत्तर—उपर्युक्त विचार श्री आचार्य शुक्ल जी ने पद्मावत की भूमिका में व्यक्त किये हैं। उन्होंने कबीर और जायसी की तुलना करते हुए दोनों के रहस्यवाद में अन्तर स्पष्ट किया है।

कबीर और जायसी दोनों ही रहस्यवादी माने जाते हैं। दोनो ने प्रिय के रहस्य को प्रकट किया है। दोनों ही ज्ञानमार्गीय या एकेश्वरवादी सन्त हैं। किन्तु कबीर भारतीय अद्वैत सिद्धान्त से विशेष प्रभावित हैं। कबीर के रहस्यवाद के मूल में यही है। वे निर्गुण परब्रह्म को ही परम सत्ता मानने वाले शुद्धाद्वैत वादी थे। उन पर सूफी फकीरों का भी विशेष प्रभाव पड़ा था। उन्होंने उनकी पद्धति को अपनाया था साधना के लिए। इसी कारण से वे शुद्धाद्वैतवादी केवल ज्ञानी न रहकर भक्ति मार्ग की श्रेणी में आ जाते हैं। कबीर ने सूफियों की अनन्त प्रेम और विरह की भावना को भी अपनाया साधना के लिए। सूफी मत एक ईश्वर को मानकर संसार को उसी के अंश के रूप में देखता है—देखता ही नहीं अपितु साधक उसी की झलक को देखने का अभ्यास करता है। जब उसे पूर्ण झलक दिखाई देने लगती है, तब वह पूर्ण सिद्ध हो जाता है। उसकी उस दशा को ही 'हाल' या प्रेम समाधि दशा कहा जाता है, जिसमें वे उन्मत्त से हो जाते हैं। उस समय उनके मुख से उस आन्तरिक रहस्य दशा के विषय में जो टूटे फूटे, अधूरे से विचार निकलते हैं, वे ही रहस्योक्तियां हैं। इस मत में पारमार्थिक रूप से समस्त जगत् को परमात्मतत्त्व ही मानकर, उसमें उसकी अनुभूति करने पर ही आधार रखा है। इनके मत में रागात्मक मधुर वृत्ति - प्रेम—ही उस अनन्त प्रेममय भगवान् के लाभ का एक मात्र उपाय है। एवं, सूफी प्रेम-पद्धति में विशेष महत्त्व अनुभूति का है, पारमार्थिक ज्ञान का नहीं। कबीर ने भी प्रेम सम्बन्ध से परमात्मानुभूति करके ऐसी रहस्यमय उक्तियां कही हैं। कबीर भी ऐसी आत्म विभोर दशा में हुए है. उन्होंने भी ऐसी ही दशाओं का रिमझिम बरसै मेहड़ा, भीजै तन सारी हो" आदि के रूप में वर्णन किया है। किन्तु उनके मत का निर्माण केवल सूफीवाद के ऊपर ही नहीं हुआ था। उनमें अद्वैतवाद का भी विशेष योग था। इन दोनों सिद्धांतों से ही प्रधानतया प्रभावित होने के कारण कबीर पंथ में ज्ञानमार्ग (अद्वैत-वाद) और प्रेममार्ग (सूफी मत) दोनों की विशेषताएँ आ गईं। इसका अर्थ हुआ वह इन दोनों से विलक्षण बन गया। है भी वस्तुतः यही। सूफियों की पद्धति में एक माधुर्य भाव की उपासना है। प्रेमी ईश्वर की

प्रियतम के रूप में अनुभूति करता है और उसके लिए व्याकुल होता है, अनन्त विरह का अनुभव करता है। किन्तु कबीर ने भारतीय पद्धति का अनुसरण करते हुए भगवान् की प्रिय (पति) रूप से भावना की है। वैसे सगुण भक्ति के प्रभाव में उन्होंने माता पिता, बन्धु आदि के रूप में भी देखा है। किन्तु गहन अनुभूति उनकी पत्नी भाव की ही थी •• "मैं राम की बहुरिया•••••; कहक रही उनको अधिक आनन्द आता था। निश्चय ही ईश्वर का रागात्मक वृत्ति का आधार बनाने के लिए उन्हे सूफियों के एकेश्वर वाद को ग्रहण करना पडा, जो वस्तुतः सांख्य के "अनन्त शक्ति सम्पन्न पुरुष विशेष" से भिन्न नहीं हैं। सूफी मत के ये तत्त्व ले लेने पर भी कबीर का ज्ञान का फ़क्कड़पन नहीं गया, अद्वैत सिद्धान्त का उन पर गहरा प्रभाव था। अतः उनमें अनुभूति की प्रबलता और उन्मतता नहीं है, जितनी कि सूफी रहस्यवादी कवि जायसी में। कबीर की अनुभूति मे उनके ज्ञान की भावना भी रहती है, जीव ब्रह्म का अन्तर रहता है। उनके इस दशा के व्यंजक जो पद हैं, उनमे जो प्रतीक या उपमाएँ रूपक आदि आये हैं, वे ऐसे हैं जैसे कि ज्ञानी सन्तों के होते हैं। उनकी तत्त्व दृष्टि उन्हें रागात्मक रस में पूर्णतया मग्न नहीं होने देती। ऐसे रूपक आदि या तो दैन दिन व्यवहार के हैं और या दार्शनिकों, योगियों के मार्गों में प्रचलित। कबीर वस्तुतः मानते थे सिद्धांत रूप से कि यह समस्त ब्रह्ममय है, किन्तु केवल बताने के लिए। उसका अनुभव वे उस रूप में—विशद और गहन रूप में—संसार में नहीं कर सके जिस प्रकार से कि सूफी महाकवि जायसी। जायसी तो लौकिक प्रसंगों मे ही अलौकिक आभा देख कर तन्मय होकर उसी अनन्त प्रेम सौन्दर्यमय परमात्मा के चरम सौन्दर्य के एक अंश का या सृष्टि के अनन्त विरह का वर्णन करने लगते हैं। यह दिव्य दृष्टि वस्तुतः इन्हें अनुभूति-प्रदत्त होती है। जायसी ने अपने महाकाव्य पदमावत में स्थल स्थल पर इस अलौकिक प्रेम सत्ता का आभास दिया है। लौकिक विरह में अलौकिक विरह की, लौकिक सौन्दर्य में अलौकिक सौन्दर्य की और लौकिक प्रिय मिलन मे अलौकिक प्रिय मिलन की रहस्यात्मक प्रतीक-पद्धति से अभिव्यंजना होती है। पदमावत सारा का सारा एक रहस्य का

अभिव्यंजन करता चलता है। सो ईश्वरीय प्रेम की यह व्यापक और गंभीर अनुभूति जो जायसी में मिलती है वह हिन्दी में अनुपम है। उनकी इस विशेषता को अन्य सूफी हिन्दी कवि नहीं पहुँच सके।

कबीर प्रिय मिलन का अनुभव तो करते थे पर उनका यह मिलन जितना अनुभूतिपूर्ण था उतना ही सैद्धान्तिक भी। अतएव केवल अनुभूति· पूर्ण नहीं हैं, उसमें न एकान्त माधुर्य और न एकान्त शुष्कता और दोनें हैं। और यह दशा भी उनकी सदैव सर्वत्रैव नहीं रहती। वे सर्वत्र प्रिय कं जानते हैं, पर देखते नहीं। मानते हैं, पर पूर्णतया अनुभव नहीं करते अतएव उनमें जायसी की सी एक रसता, व्यापक अनुभूति नहीं है। कबी. उस विरह में भी नागमती या रत्नसेन के समान उन्मत्त होकर नहीं तड़पे, पशु पक्षियों से नहीं पूछते फिरे। उनकी सुख या विरह की अनुभूति ज्ञान द्वारा संयत रहती है। उनमें जायसी जितनी भावुकता नहीं है।

इस उपर्युक्त विवरण से श्री शुक्ल जी के प्रश्नगत मत का मार्मिकता और सत्यता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि जायसी इस रहस्यवाद के क्षेत्र में अनुपम हैं।

अथवा

सूर और तुलसी की उपासना पद्धति में जो अन्तर प्रतीत होता है, उसकी विवेचना कीजिये।

उत्तर—सूर और तुलसी दोनों सगुण भक्त थे। किन्तु दोनों के भक्ति के दृष्टिकोण भिन्न थे। तुलसी का भाव दास्य था, जहाँ रति के साथ श्रद्धा भी रहती है। सूर दो भावों से कृष्ण को भजते थे। वल्लभ मत में दीक्षित होने के कारण शुद्ध प्रेम लक्षणा भक्ति या पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। उनकी साधना एकान्त माधुर्यपूर्ण थी। सूर ने चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में कृष्ण के युवा रूप की सख्य भाव से भी उपासना की है और वल्लभ मत के अनुसार बालकृष्ण उनके स्वामी थे। तुलसी की भक्ति के साथ लोक पक्ष भी नहीं छूटता, वेद शास्त्र और लोक मर्यादा का तुलसी को पूर्ण ध्यान रहता है। वे उसका आदर्श रूप रखते हैं। सूर की उपासना अधिक व्यक्तिगत, अधिक उन्मादपूर्ण और जगद् से विमुख एकान्त मधुर है। तुलसी की उपासना

में ज्ञान की व्यापक दृष्टि और कर्तव्य की मर्यादा भी है। किन्तु सूर की भगवद्भक्ति लोक धर्म से तटस्थ आत्म-साधन परायण है आदि (विशेष देखिये साहित्य प्रश्न पत्र १ सं० २००३ प्रश्न २)।

प्रश्न ३—'शील के असामान्य उत्कर्षको प्रेम और भक्ति का आलम्बन स्थिर करके तुलसी ने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया है" इस कथन की तर्कपूर्ण मीमांसा कीजिये।

उत्तर—रूप, शक्ति और शील का जो स्थान शृंगार में है, वही भक्ति में भी समझना चाहिये, क्योंकि वह भी एक रागात्मक वृत्ति ही है। प्रेमी जैसे अपने प्रिय को सर्वाधिक सुन्दर, शक्तिशाली और शील-सम्पन्न देख कर ही पूर्णतः विमुग्ध होता है, वैसे ही भक्त के विषय में भी समझना चाहिये। वस्तुतः अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शक्ति का आधार होते हुए भी यदि किसी में शील या सत्स्वभाव नहीं है, तो वह परम प्रेम के योग्य नहीं हो सकता है। हो सकता है, उसके दुःशील के कारण ही वह घृणा का पात्र बन जाय। अतएव भक्तिमार्ग में जैसे भगवान् को अनन्त शक्ति और सौन्दर्य का अधिष्ठान समझा जाता है वैसे ही अनन्त शील का भी। वस्तुतः, शक्ति सौन्दर्य और शील ये तीनों ही 'भक्ति मार्ग के सोपान" हैं, जिनके सहारे से भक्त की भावना अपनी उच्चभूमि तक पहुंचती है।

तुलसी ने अपने इष्ट राम में अनन्त सौन्दर्य और शक्ति के प्रदर्शन के साथ ही साथ अनन्त शील को भी दिखाया है। उनके राम त्रिलोक सुन्दर और अनन्त बलशाली होते हुए भी अत्यन्त निरभिमान हैं, नम्रता उनका भूषण है, साधु सन्त ब्राह्मण आदि पूज्यों के प्रति वे अत्यन्त श्रद्धा और विनयादर वाले हैं। माता-पिता, भाई बन्धु, प्रजा, पत्नी आदि सबके प्रति उनके भाव अत्यंत शील-सम्पन्न हैं। रावण जैसे शत्रु का भी आदर करते हैं। विभीषण को इतनी भारी राज्य सम्पत्ति का दान करते हुए भी स्वाभाविक संकोच करते हैं। निषाद, शबरी, गृद्धजटायु आदि के साथ कितनी घनिष्ठता दिखाते हैं! उनकी विनय-शीलता और धीरता का परिचय धनुष यज्ञ के समय परशुराम सम्वाद में मिलता है। कितनी शांति से वे समुद्र पर अग्निबाण का सन्धान करते हैं! जिस सीता के प्रेम में वे

विधुर बने वन्य पशु पक्षियों से रोगेकर उसका पता पूछते हैं, उसी का प्रजा—रंजन के लिए क्षणभर में परित्याग कर देते हैं। वस्तुतः रामने सांसारिक जीवन के प्रत्येक संबंध का आदर्श स्थापित किया है। शील का जितना चरमोत्कर्ष राम में तुलसी ने दिखाया है, उतना भगवान् के अन्य किसी भी अवतार रूप में नहीं मिलता। अतएव तुलसी ने कहा है—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥

भगवान् की अनंत सुन्दरता और शक्ति के साथ ऐसे उच्च शील को देखकर भला कौन उन पर मोहित हुए बिना रह सकता है? और, उस महान् शील की प्रतिपल भावना करते करते भला किसको सदाचरण की प्रेरणा नहीं मिलेगी? तुलसी ऐसी ही शील-सम्पन्न भक्ति को वास्तविक भक्ति मानते हैं। भक्ति की रीति उन्होंने बताई है—

प्रीति राम सो, नीति पथ चलिय, रागरिसि जीति।
तुलसी संतन के मते इहैं भगति की रीति॥

भगवान् की भावना या भक्ति तबतक सच्ची कैसे मानी जा सकती है, जबतक कि भावना करते करते भक्त में भी भगवान् के शील का संचार नहीं हो जाता?

तुम अपनायो तब जानि हौं जब मनफिरि परि है।
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृपज्यों उर डरि है।
हरषि है न अति आदरे, निदरे न जरि मरि है।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अन—
हित, कलि कुचाल परिहरि है॥

इन पदों में तुलसी ने शील और भक्ति का साहचर्य व्यक्त किया है। शील-विरहित भक्ति को वे भक्ति नहीं समझते हैं। राम जैसे शक्ति, सौन्दर्य और शील के अवतार की भक्ति का तुलसी प्रथम प्रभाव यह मानते हैं कि भक्त विषय-विमुख होकर शील सदाचार सम्पन्न बने, अपने इष्टदेव के समान ही। मनुष्य जीवन के सभी स्वभावों या शीलों का चरम उत्कर्ष तुलसी ने राम में दिखाया है और सांसारिक मर्यादाओं के आदर्श उपस्थित किये

हैं, जिससे भगवद् भावना में भक्त के सब विषय विकार दूर होकर वह परम शील-सम्पन्न बन जाये। तभी उसका कल्याण हो सकता है। नहीं तो शील रहित भक्ति का कोई महत्त्व नहीं। अतएव उपर्युक्त प्रश्नगत उद्धरण में कहा गया है कि शील का इतना चरमोत्कर्ष दिखाकर तुलसी ने भक्ति और सदाचार का अन्योन्याश्रयभाव दिखा दिया है। भक्ति के पूर्ण होने के लिए वस्तुतःशील का उभयत्र होना परम अपेक्षित है। भगवान् में यदि अनंत सौन्दर्य और शक्ति होते हुए भी शील का उत्कर्ष नहीं है, तो भी भक्ति व्यर्थ है और यदि उस भक्ति से भक्त मे भी शील-प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती तो भी वह भक्ति पूर्णतया सफल नहीं। शील के बिना भक्ति की उच्च भूमि तक नहीं पहुंचा जा सकता और शील के बिना भक्ति का दम भरना भी निरी पोपलीला है। अतः तुलसी ने राम में शक्ति और सौन्दर्य के साथ शील का भी परमोत्कर्ष दिखाया, जिस से भक्त का आत्मोद्धार होने के साथ साथ संसार में सदाचार और शील के भी आदर्श प्रतिष्ठित हों। तुलसी ने राम भक्ति का ऐसा प्रभाव दिखाया भी है—

भये सब साधु किरात किरातिनि-
राम दरस मिटि गई कलुषाई ॥ आदि।

प्रश्न ४—"सूर के पदों मे कला पक्ष एवं हृदय पक्ष दोनों ही प्रायः एक ही भांति प्रबल हैं, किन्तु मीरा की रचनाओं में हृदय पक्ष की ही प्रधानता है।" इस कथन की आलोचना करिये।

उत्तर—सूर और मीरां दोनो ने ही अनन्य भाव से कृष्ण की उपासना की है। दोनों ने ही माधुर्य भाव से ही उनको भजा है। दोनों ने ही एक ही प्रकार की काव्यशैलि—पदशैलि—में उनके प्रति प्रेम, विरह की भावनाओं का वर्णन किया है और दोनों ने ही उनके सुभग सुन्दर रूपों के चित्र उतारे हैं। दोनों का ही मुख्य रस, उनकी उपासना पद्धति को देखते हुए आवश्यक रूप से, शृंगार ही रहा है। दोनों के ही पदों या गीतों में मानव-हृदय की लोकोत्तर कोमल और मधुर भावनाओं के दर्शन होते हैं। दोनों की भाषा ब्रज है, हां, सूर की अपेक्षाकृत शुद्ध संस्कृत और मीरा की

मिश्रित और अपेक्षाकृत कम परिमार्जित। दोनों ही कवि हृदयों ने अपनी उच्चभाव भूमि के साथ काव्य कला का भी चमत्कार लाने का प्रयत्न किया है। दोनों का ही काव्य कण्ठ सुमधुर और भावानुरूप राग रागनियों में सुखा है। इस प्रकार, दोनों के पदों में अनेक अंशों में समानता मिलती है। कहने की आवश्यकता नहीं, सूर और मीरा सम-सामयिक थे। सूर मीरां से बड़े थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् तक जीवित रहे। सूर ख्यातिप्राप्त महान् भक्त और कवीश्वर हो चुके थे, जब मीरा ने भक्ति या काव्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। अतः मीरां के भी उसी पथ का पथिक हो जाने पर सूरजैसे महान् कवि का उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है, प्रत्युत न पड़ना आश्चर्यंकर होता। अतएव मीरा ने भी सूर की ही वर्णनशैलि को अनेक रूपों में अपनाया है। किन्तु सूर काव्य शास्त्र के मर्मज्ञ थे, आचार्य थे, जिन्होंने उसका गुरुमुख से पूर्ण अध्ययन किया था। इसका अनुमान उनके "साहित्य लहरी" ग्रन्थ से लगता है, जिसके निर्माण का उद्देश्य ही वस्तुतः कविता—पाण्डित्य के प्रदर्शन का है किन्तु मीरां का काव्य-ज्ञान इतना उच्चकोटि का नहीं था, यद्यपि वह भी सुशिक्षिता महिला थी। इसलिए सूर का अनुकरण करती हुई मीरा काव्य के कलापक्ष में उतना ऊंचे नहीं उठ सकी जितना कि भाव या अनुभूति पक्ष में इधर सूर पर काव्य-मर्मज्ञ होने के साथ साथ, जयदेव और विद्यापति के पदों का भी विशेष प्रभाव पड़ा था। ये दोनों ही कवि प्रधानतया शृङ्गारिक थे, जिन्होंने देशव्यापी सगुण भक्ति के स्वर में स्वर मिलाकर राधा कृष्ण की रस केलियों का वर्णन किया। इनके पदों में शुद्ध शृङ्गार का ही रूप मिलता है, वह भक्ति की मर्यादा से गिरता हुआ है। इनका दृष्टिकोण प्रधानतया कवि का था। अतएव इनके काव्यों में काव्य के अंतरंग रस भाव आदि का जितना विशद रूप है, उतना ही, प्रत्युत, उससे भी अधिक रूप में, काव्य के बाह्य कला-पक्ष का भी। इन दोनों ही महाकवियों के पदों का सूर पर विशेष प्रभाव पड़ा। सूर का दृष्टिकोण यद्यपि प्रधानतया भक्त का था और इनका कवि का, तो भी सूर इनके बाह्य कला विधान के तो पूरे अनुयायी थे। इन्होंने अपने पदों में भी वैसा ही काव्य चमत्कार और वही मधुर संगीत लाने

का प्रयत्न किया है। फलतः इन दो कारणों से काव्य के वाह्य सौंदर्य के प्रति भी ये उतने ही सचेष्ट रहे, जितने कि उसके भाव सौंदर्य के लिए। दोनों ही पक्षों के निर्वहण में वे सिद्ध-हस्त थे। सूर मानव हृदय के बड़े सूक्ष्म पारखी थे, यह तो उनके पदों को पढ़ने वाले के हृदय को अनायास ही अनुभव हो जाता है। काव्य-शास्त्र के भी वे आचार्य थे। दोनों के संयोग और समन्वय से उन्होंने, इस प्रकार, हिंदी साहित्य में अनुपम भक्ति काव्य की सामग्री उपस्थित की। सूर के पदों में काव्य के इन दोनों पक्षों का समान चमत्कार और समान ही संगीत मिलता है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सूर ने काव्य के आन्तर और वाह्य दोनों पक्षों को समान ही आसन पर बिठाया है। अवश्य ही उनमें भाव प्रधान है, स्थूल कलाविधान उसका अंग या सहायक है। कला विधान का उद्देश्य केवल कला विधान ही नहीं है, बल्कि भाव-विधान है। साहित्य लहरी में उनका उद्देश्य इस से विपरीत है। किन्तु पदों में तो हृदय की अनुभूति ही प्रधान है। वाह्य कला-विधान के चमत्कार का अभिप्राय भाव-सौन्दर्य में अभिवृद्धि करना ही है। हाँ, प्रयत्न सूर ने दोनों ही पक्षों का पूर्ण चमत्कार लाने का किया है, जिसमें सफलता भी उन्हें समान रूप से मिली है। सूर के अलंकार आदि उनके भावों के रूप ही बने हुए हैं। वे भाव उन्हीं अलंकारों मे कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं और उन अलंकारों में उतना चमत्कार उन्हीं भावों के कारण है, अन्यथा नहीं। व्यंजना तो उनके पद काव्य की आत्मा है। रस आदि का निष्पादन हो भी किस शक्ति से सकता है? लक्षणा-प्रयोग के भी वे आचार्य हैं। सख्य भाव की भक्ति और विनोदी वृत्ति के कारण, इसके प्रयोग के लिए उन्हे सर्वत्रैव अवसर मिलते रहते हैं। पढ़ने वाले जानते है कि उन्होंने इन अवसरों का कैसा उपयोग किया है। इस प्रकार, सूर ने अपने पदों में काव्य के दोनों ही पक्षों का पूर्ण चमत्कार उत्पन्न किया है।

किन्तु मीरा काव्य के वाह्य चमत्कार को उतने उन्नत रूप में

शारीरिक सौंदर्य के वर्णन के साथ उनके भाव का जो सौंदर्य खिला पड़ता है, उनके पदों में, वह अत्यन्त दुर्लभ है। प्रेम या यौवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं के भी उन्होंने साकार चित्र समुपस्थित किये हैं। उनकी सौंदर्य-चित्रण की इसी सामर्थ्य को देखकर ही म० म० श्री हरप्रसाद शास्त्री ने कहा है कि विद्यापति ने "वस्तुतः सौंदर्य की सृष्टि की है।" भाव यह है कि विद्यापति के पद सौंदर्य का चित्रण करते करते स्वयं सुन्दर हो गये हैं। सौंदर्य के चित्रण के प्रयास में विद्यापति ने अनुपम काव्य सौंदर्य की सृष्टि कर दी है। एक साधारण सौंदर्य को भी लेकर कविवर विद्यापति ने अपनी गहन और तीखी अनुभूति और कला के पारस संयोग से उससे अनुपम सौंदर्य की सृष्टि की है। भाव सौंदर्य, कला सौंदर्य और फिर सोने में सुगन्ध रूप संगीत का सौंदर्य! इन तीनों के संयोग से सौंदर्य के सिद्धकवि विद्यापति ने वस्तुतः अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि की है। अतः ये उपर्युक्त विचार सर्वथा सत्य हैं, उनके काव्य के विषय में।

प्रश्न—५. "कथानक के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों के चित्रण में ही प्रबन्धकार कवि की भावुकता का पता लगता है" इस दृष्टि से जायसी तथा केशव के प्रबन्ध काव्यों की आलोचना करिये।

उत्तर—केशव की राम चन्द्रिका अब पाठ्य ग्रन्थ नहीं है। अतः उसे छोड़ कर जायसी के काव्य की आलोचना के संकेत दिये जाते हैं।

जीवन असंख्य घटनाओं की परम्परा का नाम है। सवेरे से उठकर रात को लेटने तक मनुष्य निरन्तर घटनाक्रम में आबद्ध रहता है। किन्तु क्या दिन की सारी घटनाएँ रात तक उसको समान रूप से याद रहेंगी? नहीं। दिन भर की घटनाओं में थोड़ी सी ही ऐसी होंगी, जिनका उस पर विशेष प्रभाव पड़ा होगा, वे ही उसको याद भी रहेंगी। दिन को छोड़कर वस्तुतः मनुष्य के समस्त जीवन में ही कुछ एक ही ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनका उसके मन पर विशेष स्थायी प्रभाव पड़ता है अथवा जो उसके जीवन की गति निश्चित करने में प्रभावक बनती हैं। ठीक यही बात प्रबन्ध काव्य के विषय में भी है। प्रबन्ध काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सारे ही स्थलों पर रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। उसमें

अधिकतर स्थल तो ऐसे होते हैं, जो वस्तुतः स्थूल वर्णनात्मक नीरस होते हैं, जिनका उद्देश्य कथा को आगे बढ़ाकर पाठक की इस जिज्ञासा—कि 'आगे क्या हुआ'—की शान्ति करना ही होता है। "आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक परवत नियराई॥" आदि इसी प्रकार का नीरस और कथा का चालक घटना वर्णन है। ऐसे स्थल बहुत कम होते हैं जहां रस का प्रभाव उमड़ता है, जहां जीवन के विशेष मार्मिक पक्ष का उद्घाटन हुआ है। ऐसे ही रसमय स्थलों के रस प्रवाह से अन्य नीरस स्थल भी सरस रहते हैं। प्रबन्ध काव्य की सरसता का रहस्य वस्तुतः ऐसे ही स्थलों के वर्णन में होता है। यदि कवि इनको पहिचानने में और इनके समुचित वर्णन में सफल हो गया तो वह सफल प्रबन्धकर्ता है अन्यथा नहीं। रामचरित मानस में ऐसे स्थल अनगिनत हैं और महाकवि तुलसी ने उनके वर्णन में अद्भुत मार्मिकता, कौशल और रस-प्रवणता का परिचय दिया है। केशव में यह बात नहीं थी। न उनकी ऐसे स्थलों को पहिचानने वाली दृष्टि थी और न उनका समुचित स्वाभाविक रसमय वर्णन करने की क्षमता ही।

जायसी को इस बात में पूरी सफलता मिली है। जायसी अत्यन्त भावुक और पैनी गम्भीर दृष्टि रखने वाले कवि थे। अपने प्रबन्ध काव्य पद्मावत में उन्हें ऐसे अवसर बहुत मिले हैं। उन्हें उनकी मार्मिक पहिचान भी थी और उनके रसमय चित्रण की अद्भुत क्षमता भी। पद्मावत में ऐसे असंख्य प्रसंग हैं, जो जीवन की विशेष मार्मिकता को लिये हैं और अतएव जिनमें विलक्षण रसमयता है। पद्मिनी का पितृगृह में सखियों के साथ क्रीड़ा-विहार, नागमती का विरह, रत्नसेन का प्रेम और वियोग, शूली की व्यवस्था, पद्मावती में सहानुभूति का प्रवाह, मिलन, विवाह, अलाउद्दीन के पत्र का उत्तर, युद्ध, गोरा बादल की स्वामी भक्ति, सतीत्व रक्षा के लिए अनुपम बलिदान जैसे अनेक प्रसंग हैं। जायसी ने इन सभी स्थलों के साथ वर्णन में पूरा न्याय और औचित्य बरता है। यद्यपि साधारणतया जायसी ने इन सभी प्रसंगों का मार्मिक रसमय स्वाभाविक चित्रण किया है, किंतु स्वभावतः मधुर प्रेम-प्रसंगों के ऐसे मार्मिक स्थलों में तो वे बहुत ही ऊँचे

उठ गये हैं। जायसी का लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम का अभिव्यंजन होते हुए भी उन्होंने इन मार्मिक लौकिक प्रसंगों के वर्णन में अनुपम क्षमता दिखाई है। अतः इस उपर्युक्त विचार के आधार पर आलोचना करने से जायसी प्रबंध निर्वाह में पूर्ण सफल सिद्ध होते हैं। उनका प्रबंध काव्य पूर्णतया सफल हुआ है और वे प्रबंध-पटुता में पूर्ण हैं।

अथवा

नीचे लिखे हुए किन्हीं तीन विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

(क) सूफी सन्तों की भक्ति-भावना।

उत्तर—सूफी सन्त मुख्यतया इसलाम के एकेश्वरवाद के मानने वाले होते हैं। इसलाम अल्लाह को एकमात्र सर्वशक्तिशाली देव—विशेष या पुरुष विशेष ही मानता है। यह सिद्धान्त यद्यपि काफिरों (मूर्ति-पूजकों) के सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया रूप में उद्गत हुआ था, किन्तु परमात्मा में शक्ति और गुणों का समावेश कर लेने से इस सिद्धान्त का अल्लाह भी सगुण और सशरीर हो गया। अन्यथा शक्ति और गुण किस के आधार से ठहरें ! किन्तु तो भी कट्टर मुहम्मदीय धर्म में मूर्ति पूजा का विशेष निषेध होने से साकार ईश्वर की पूजा नहीं प्रचलित हुई। किन्तु सूफी सन्त इस सिद्धान्त को मान्य मानते हुए भी वस्तुतः भारतीय अद्वैतवाद को ही मानते थे। इसलाम में ईश्वर, जीव आदि में भेद हैं। यद्यपि सृष्टि परमात्मा ने अपने अंश से ही बनायी, तो भी दोनों में भेद माना जाता है। कयामत के दिन जीवों को अपराधी रूप में ईश्वर के सामने खड़ा होना ही पड़ेगा। बुरा किया होगा तो सजा भी भोगनी होगी। किन्तु अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म में भेद ही नहीं माना जाता। पारमार्थिक दशा में दोनों एक ही हैं। सूफी भक्त इसी सिद्धान्त को अनुभूति मार्ग में ले आये थे, वे इसी सिद्धान्त का अनुभव करने की साधना में लगते थे कि सृष्टि के स्थूल रूप में ही उन्हें पारमात्मिक 'जल्वा' नजर आये, जिससे वे उस से जी भरके प्रेम कर सकें। क्योंकि कोरे अद्वैतवाद में तो केवल चिन्तन-परम्परा है, मुख्य आधार ज्ञान है। किंतु भक्ति में मुख्य आधार मनुष्य की रागात्मक प्रेम की वृत्ति होती है। देवादि विषयिणी रति की संज्ञा भक्ति होती है। और, रागात्मक

स्थूल प्राकृतिक वृत्ति के आधार के लिए आधार भी सरकार चाहिये, तभी उसका पूर्ण विकास हो सकता है। अलक्ष्य निराकार वस्तु को प्रेम किया ही कैसे जा सकता है? जबतक कोई दिखाई ही न दे, प्रेम कैसा? बिना दिखाई दिये, केवल उसके विषय में सुनकर भी प्रेम हो सकता है, जैसे कि जायसी के पद्मावत में तोते से सुनकर ही राजा को प्रेम हो जाता है। किंतु कुछ सुनने के लिए भी तो उसके कुछ रूप, गुण आदि होने चाहियें, तभी तो किसी के विषय में कुछ सुना जायगा। अतः कुछ न कुछ आकार कल्पना करनी पडती है। सगुण भक्ति में तो रति के मूर्त आधार का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां तो भगवान् के प्रत्यक्ष अवतार की मूर्ति होती है। किंतु जो लोग निर्गुण ब्रह्म को लेकर चले थे उनके लिए कठिनता थी। यहां ब्रह्म का उन्होंने एकेश्वरवाद का रूप ग्रहण किया, जो साकार है और अनंत शक्ति का भंडार है, जो कर्तु, अकर्तु और अन्यथाकर्तु में पूर्णतया समर्थ है। सूफी भक्तों ने उसे अनंत शक्ति के साथ अनंत प्रेम और सौंदर्य का भी रूप माना। उन्होंने ईश्वर की अनंत सुन्दर और अनंत प्रेम भंडार के रूप में ही भावना की। उसे ही अपनी रागात्मक वृत्ति का आधार बनाया। उसी के अलौकिक सौंदर्य और अनंत प्रेम का जल्वा, वे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में देखने की चेष्टा करते थे। यहां वे अद्वैत सिद्धान्त का आधार लेते हैं, जिसमें ब्रह्म और जगत् में पारमार्थिक भेद न मानकर दोनों को एक ही ब्रह्म का ही रूप माना गया है। ज्ञान के इसी सिद्धान्त को वे अपनी प्रेम वृत्ति के चरम विकास के लिए अनुभूति के क्षेत्र में ले आये थे। वे स्थूल सृष्टि में ही परमात्मा के दिव्य रूप का दर्शन करके ही तृप्त हो जाते हैं, उसकी 'हाल' या अत्यंत आनंद की दशा में हो जाते हैं। इस प्रकार वे भी अपने प्रिय के दर्शन पा जाते हैं। इस अद्वैत सिद्धान्त में ही रागात्मिका रति का समावेश होने से ही यह पंथ भक्ति मार्ग के अंदर आता है। भारतीय निर्गुण-भक्तों ने भी सूफियों की ही पद्धति से ईश्वर की प्रेमोपासना की है।

भारतीय भक्तिमार्ग के समान ही; सूफी भक्ति का मार्ग भी यम नियम आदि योग के सिद्धांतों और वैराग्यवृत्ति को साथ लेकर चलता है। ससार

के विषयादि से मुख मोड़े बिना कोई भी अलौकिक प्रेममार्ग में नहीं चल सकता। अतः वैराग्य का सहयोग वास्तविक भक्ति के लिए आवश्यक है। विषय वासनादि से निवृत्ति ही योग का यम (इन्द्रिय निग्रह) है। यम से ही आगे नियम निभता है, नहीं तो प्रमाद होता है। अतएव सूफी भक्ति पद्धति में भी पवित्र शुद्ध आचरण और संयमित जीवन का विशेष महत्व है। सारांशतः सूफीभक्ति पद्धति भारतीय अद्वैत सिद्धांत और भक्ति पद्धति से अत्यत प्रभावित है। अतएव दोनों में इतना भेद नहीं रहा है। सूफियों की भक्ति पद्धति का स्वरुप—कुछ विस्तार से— यही है।

(ख) भाग अब परीक्षा से बाहर है।

(ग) पद्मावत में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का विधान।

उत्तर—जायसी का समस्त प्रबंध काव्य पद्मावत ही एक बड़ा भारी प्रस्तुत में अप्रस्तुत का विधान है। अपने इस महारूपक की कुंजी उन्होंने अपने "तनचितउर, मनराजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।" आदि पद्य में देदी है। जायसी का प्रस्तुत विषय, जिसका कि वर्णन करना उनका प्रधान उद्देश्य व्यथा अलौकिक प्रेम प्रसंग या आत्मा परमात्मा के एकान्त प्रेम मिलन का वर्णन। उसकी अभिव्यञ्जना ही उनके इस प्रबंध-काव्य के लिखने का कारण था। अतएव उन्होंने उसके अनुरुप या सदृश ही अप्रस्तुत लौकिक प्रेम वर्णन की घटना सामग्री जुटाई। किन्तु प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में आजाने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का यह सारा क्रम उलट जाता है, जब कवि ने आध्यात्मिक प्रेम मार्ग और उसके लक्ष्य प्रियतम की अभिव्यंजना करने के उद्देश से रत्नसेन और पद्मावती के लौकिक प्रेम प्रसंग का वर्णन प्रारंभ कर दिया तो वह तभी लौकिक वर्णन प्रस्तुत या प्रकरण की वस्तु हो गया और ईश्वरीय प्रेम मार्ग का वर्णन, जो कि पहिले प्रस्तुत था, अब अप्रस्तुत हो गया। इस अप्रस्तुत अलौकिक प्रेम मार्ग की अभिव्यञ्जना पूर्ण रुप में होती है, पूरा रूपक आखीर तक चलता है। किन्तु जायसी के सभी वाक्यों से सर्वत्र ही इस अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यंजना नहीं होती, प्रत्युत बीच में ऐसे स्थल चलते रहते हैं, जिनमें कवि अपने अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ के विषय में संकेत देता

चलता है, जिससे आध्यात्मिक अर्थ का भी स्वरूप स्पष्टतया समझ में आता चलता है। इस प्रस्तुत में अप्रस्तुत के विधान का आधार प्रधानतया दोनों (प्रस्तुत अप्रस्तुत) का सादृश्य ही होता है। अत्यन्त सादृश्य के कारण ही प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत वर्णन की अभिव्यंजना उचित रूप में हो सकती है। इस सादृश्य की परीक्षा में ही कवि की भावुकता और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है और इसी में उसकी वास्तविक सफलता भी रहती है। जायसी का काव्य इस प्रकार एक महान् समासोक्ति अलंकार समझना चाहिये, जिसमें विशेष्य को अश्लिष्ट रखते हुए भी, अत्यन्त सादृश्य के कारण, शब्दश्लेष या अर्थश्लेष का सहारा लेकर सदृश अप्रस्तुत अर्थ का व्यंजन किया जाता है। इस सादृश्य विधान में जायसी को पूरी सफलता मिली है, इसको पढ़ने वाले सभी मान लेंगे। जायसी ने अलौकिक का सादृश्य रखने वाले ही लौकिक प्रेम का वर्णन किया है। लौकिक प्रेमी रत्नसेन और अलौकिक प्रेम मार्गीय साधक की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं। दोनों का लक्ष्य भी अत्यन्त दूर हैं। दोनों का मार्ग भी अत्यन्त विकट है, उसके बीच में बाधाएं, प्रतिबन्ध और आपत्तियाँ भी समान रूप से ही आती हैं। संक्षेपत: दोनों में अत्यंत रूप साम्य है।

इस महान् प्रस्तुता-प्रस्तुत विधान को छोड़कर यदि अलंकार रूप में उनके प्रस्तुत में अप्रस्तुत के विधान की ओर देखा जाय तो भी वे उतने ही सफल पाये जाते हैं। । जायसी ने रूप वर्णन के लिए अथवा भाव-वर्णन के लिए अधिकतया सादृश्य मूलक अलंकारों उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति आदि का ही मुख्यत: प्रयोग किया है। इस सादृश्य सम्बन्ध के जायसी परम सूक्ष्म पारखी थे। उनके प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थ परस्पर इतने समान होते हैं कि अनायास ही अप्रस्तुत का भान होता चलता है। वाच्य से व्यंग्य में निसर्गत: सदैव चमत्कार अधिक रहता है, अत: सदृश प्रस्तुत वर्णन से अभिव्यंजित अप्रस्तुत अर्थ अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण हो जाता है। पदमावत में आये इस प्रस्तुत में अप्रस्तुत विधान के सभी स्थलों में अद्भुत चमत्कार प्राप्त होता है। तुलसी और सूर जैसे महाकवियों

नहीं कर सकता—तुलसी भी नहीं, अन्य की तो बात क्या। वस्तुतः ऐसा वात्सल्य वर्णन हिन्दी तो क्या किसी भी भाषा के साहित्य में दुर्लभ्य है।

(च) तुलसी की दैन्य-भावना।

उत्तर—भक्ति में भक्त की दैन्य भावना उसका अंग होती है। भक्त दीन बनकर अपने को अत्यत तुच्छ बताकर भगवान् के सामने अपने दोषों को, पापों को प्रकट करता है और भगवान् से हाथ बढ़ाने की प्रार्थना करता है। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति में तो परमात्मा को महत्तम शक्तिशाली, ऐश्वर्य सम्पन्न मान कर ही उपासना चलती है। भक्त भगवान् को अनन्त सामर्थ्य और शील गुण का अधिष्ठान मानकर ही अपने को सेवक रूप में समझता है। स्पष्ट ही, उसमें जैसे भगवान् के प्रति उत्कर्ष और श्रद्धा के भावों का उत्तरोत्तर विकास होता है, वैसे ही अपने प्रति तुच्छता लघुता और दीनता हीनता के भाव भी विकसित होते हैं। भक्त अपने को अत्यंत दीन, हीन बताकर ही भगवान् के द्वार पर पड़ा रहना चाहता है। इसीलिए इस प्रकार के दीन वचन भगवान् के सामने सभी बड़े बड़े प्रसिद्ध भक्तों ने कहे हैं। इनमें कबीर जायसी, सूर आदि सभी आ गये। तुलसी क्योंकि प्रधानतया सेव्य-सेवक भाव से उपासक थे, अतः उनमें सेवकोचित दीनता, हीनता और विनय के भाव विशेष अधिकता से मिलते हैं। तुलसी ने सौ बात की एक बात कहदी है—

राम सों बडो है कौन, मो सों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो?

तुलसी ने अत्यन्त दीन होकर, निश्छलतापूर्वक भगवान् के सामने अपने बड़े से बड़े दोषों का, पापों का डंके की चोट से वर्णन किया है। क्योंकि आत्म-पापों के उद्‌घाटन से उनमें कमी आती है। अतएव महात्मा लोग अपने पापों को कहते संकोच नहीं किया करते। महात्मा तुलसी में दीनता और हीनता की ये भावनाएँ सर्वाधिक रूप में मिलती हैं। विनय-पत्रिका के अनेक पद इसके उत्कृष्ट प्रमाण, या उदाहरण हैं। "तुलसी, तिलोक, तिहूँ काल तो से दीन को?" आदि कहते कहते तुलसी का मुंह

सूखता है। वस्तुतः इस दीनता, लघुता और हीनता के भाव से ही भक्त में महत्ता का विकास होता है। जितना ही ऐसी भावनाओं का विकास उसमें होगा, उसकी साधना की भूमि भी उतनी ही महान् होती जायगी। भक्त-राज तुलसी इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

(छ) रासमुरली का आध्यात्मिक दृष्टिकोण।

उत्तर—कृष्ण-भक्तिमार्ग में कृष्ण की मुरली और रास का विशेष महत्त्व है। समस्त कृष्ण भक्त कवियों ने, अतएव, इन दोनों का वृहद् वर्णन किया है। ये वस्तुतः उनकी उपासना-पद्धति के आध्यात्मिक प्रतीक हैं। मुरली से पारमार्थिक पक्ष में कृष्ण की योगमाया से अभिप्राय होता है, जिससे समस्त जगत् मोहित है। कृष्ण अपनी इसी योगमाया के द्वारा जीवों का आह्वान करते हैं। जीव खिंचे खिंचे उनके पास चले जाते हैं। गोपियाँ जीवों का ही प्रतीक समझिये। रास भी इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रतीक है। रास भक्ति की चरम आत्म-विभोर दशा का प्रतीक है, जिसमें भक्त और भगवान् सायुज्य या सारूप्य उपस्थित हो जाता है। भक्त और भगवान् के इस एकांत आनन्दमय आध्यात्मिक मिलन का ही प्रतीक रास है। रास में परकीया होती हुई भी गोपिकाएँ कृष्ण की स्वकीया हो जाती हैं, उनके व्यक्तित्व का लोप होकर वे कृष्णमय हो जाती हैं, घर बाहर, सम्बंधी लोग और जगत् सब छूट जाते हैं। आनन्दातिरेक की भक्ति की चरम आनन्द-विभोर दशा है, जहाँ भक्त भगवान् में लीन हो जाता है। राधा में मान का उदय होने पर कृष्ण छुप जाते हैं, परन्तु उसके व्याकुल होने पर फिर प्रकट होते हैं। इससे भी यही व्यक्त होता है कि व्यक्तिगत अहंभाव रहने से भगवान् का सारूप्य या सायुज्य नहीं प्राप्त होता, किन्तु उसके नष्ट होने पर हो जाता है। आध्यात्मिक आनन्द की इसी एक-रस दशा का प्रतीक भागवतधर्म में रास को माना गया है। अतएव कृष्ण-भक्तों ने रास वर्णन में रमण करने का इतना प्रयास किया है। इससे अधिक के लिए देखिए साहित्य रत्न प्रश्न पत्र १ संवत् २००३, प्रश्न ५ (क) भाग।

हिन्दी साहित्य उत्तमा संवत् २००४

प्रश्न पत्र १

सूचना—प्रथम प्रश्न आवश्यक है। शेष कोई चार प्रश्न करिये।

१. निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं चार की व्याख्या उनके काव्यगत सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए कीजिये—

(अ) कबीर का यह अंश अब परीक्षा में नहीं है।

(आ) सूर का यह पद भी अब परीक्षा में नहीं है।

(इ) दसवँ दुवार……………आपु अकेला ॥

प्रसंग—शंकर सिंघलगढ़ का वर्णन कर रहे हैं और व्यंग्य रूप में योग वर्णित शरीर के अवयवों का वर्णन व्यंजित होता है। प्रस्तुत अवतरण में दशम द्वार और वहां तक पहुँचने की विधि का वर्णन है। साथ ही वहां पहुँचने पर जो स्थिति होती है, उसका भी दिग्दर्शन है।

अर्थ—दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) ताड़ के वृक्ष के समान (ऊंचा) है। जो आँखों को उलट कर (ऊपर चढ़ा कर, क्योंकि अत्यन्त ऊंची चीज देखने को आँख की पुतली ऊपर चढ़ जाती है और संसार से विमुख करके) जो देखेगा, वह उसे देख सकता है। वहां वही जा सकता है, जो सांस (प्राण) और मन को बाँधले (मन का और प्राणों का लय करले। ताड़ के वृक्ष पर चढ़ने में मन और प्राण को एक करके ही चढ़ना होता है, क्योंकि हाथ या ध्यान के चूकने से निश्चित पतन है)। जैसे यमुना में धँसकर कृष्ण ने (नाग को) नाथ लिया था, वैसे ही तू सांस मारकर (प्राणायाम के द्वारा) 'मन के नाक में नकेल डाल दे (प्राणायाम से मन का निरोध करले)। यदि तू ऐसे (मन को मारकर) मर जाय तो तेरा नाश हो जाय (जन्म मरण से छूट जाय)। प्रकट में तो लोक व्यवहार की बातें कर और गुप्त रूप से मन उससे लगा, जिसको कि वह प्रेम करता है। मैं (अहंकार) करते करते तूने (अपनी) सारी बुद्धि खोली।

यदि (तेरा) यह मैं मैं न रहे तो सब कोई रहे (यदि तेरा अभिमान नष्ट हो जाय तो सब कुछ (मुक्ति) मिल जाय) । जीवन रहते ही जुट जाय (प्रयत्न में लग जाय) और एक बार ही (मन को नाथ या मार कर) मर जाय, बाद में फिर कौन मृत्यु और कौन मारने वाला हो सकता है ? (एक बार मन को मार कर मर जाने पर फिर मरण से छुटकारा हो जाता है। मृत्यु का भय छूट जाता है।) उस दशा में स्वयं गुरु और स्वयं चेला हो जाता है (आत्मा परमात्मा में भेद नहीं दिखता), आप ही सब हो जाता है और आप ही अकेला रहता है (आत्मा में परमात्मा के गुणों का संचार हो जाता है—संसार अपना रूप भी दिखता है और निःसंग दशा भी रहती है)।

(उस समय) आप ही जीवन और आप ही मृत्यु हो जाता है (जन्म मरण से रहित नित्य दशा हो जाती है)। स्वयं ही तन और वही (स्वयं ही) मन हो जाता है (तन मन का आत्मा में लय हो जाता है)। अपने आप ही (स्वतंत्र इच्छा से) जो चाहता है करता है। उसके बिना दूसरा और कौन रहता है ?

ब्रह्म दशा में अथवा मोक्ष दशा मे जीव परमात्म रूप हो जाता है, ब्रह्म के नित्यत्व, एकत्व सर्वव्यापकत्व, निःसंगत्व आदि गुणों का आत्मा में भी भान होने लगता है। तद्रूपता हो जाती है।

(इ) ऐसे ही जनम समूह सिराने······ ··· । पहिचाने ॥

प्रसंग—तुलसी की विनय पत्रिका का पद है। तुलसी आत्म-भर्त्सना और पश्चात्ताप कर रहे हैं।

अर्थ—ऐसे ही सारे जन्म बीत गये, प्राणनाथ श्रीरामचन्द्र जैसे स्वामी को छोड़कर परायों के चरणों की सेवा करते करते। जो जीव (व्यक्ति) मूर्ख हैं, कुटिल हैं, कायर और दुष्ट हैं और केवल कलियुग के पाप मे डूबे हुए हैं, उन्हीं की प्रशंसा करते हुए मुंह सूखता है, उन्हें भगवान् से भी अधिक करके माना। सुख की लालसा में निरन्तर करोड़ों प्रयत्न करते हुए भी पांव नहीं थके। मार्ग के कीचड़ के समान सदैव मलिन मन कभी भी स्थिर (एकाग्र) नहीं हुआ (मार्ग में कीचड़ मलिन होता है, मन भी मलिन ही रहता है। प्रति समय आवा-जावी लगी रहने से वह कीचड़ भी

स्थिर नहीं होता और मन भी नहीं रहता)। इस दीन दशा को दूर करने के लिए, हृदय में अनेक उपाय सोचे, किन्तु, तुलसी कहते हैं, चिन्तामणि (एक मणि, जिसके प्राप्त होने पर चिन्ता मिट जाती है और श्रीराम, जिनके मिलने पर भी चिन्ताएँ जाती रहती हैं) को बिना पहचाने चित्त की चिन्ता नहीं मिटती।

तुलसी के दीनता, पश्चात्ताप आदि के भाव अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हुए हैं। अलंकार रूपकातिशयोक्ति होना चाहिये, राम का कथन न करके केवल उपमान चिन्तामणि का ही कथन किया गया है।

(च पाठ्य क्रम से बाहर है।

(ऊ) कोई दिन याद करोगे... . . -कारिलोपी ॥

प्रसंग—मीरा की पदावली का पद है। मीरा ने अपने रमते राम प्रिय का वर्णन किया है

अर्थ—किसी न किसी दिन, हे रमते राम ! अतीत (पिछली बात) को याद करोगे। (तू) आसन लगाकर निश्चल होकर बैठा था और यही भजन की रीति भी होती है। मैं तो जानती थी कि योगी (मेरे) साथ चलेगा, किन्तु वह आध बीच में ही छोड़ गया। न वह आता दिखाई देता है और न जाता दिखाई देता है। (वस्तुत.) जोगी (रमता राम) किसका मित्र (स्नेही) होता है ? मीरां कहती हैं, हे प्रभु गिरिधर नागर ! (मेरा) चित्त (आपके) चरणों में आ जाये (चित्त चरणों के ध्यान में लगे)।

रमता राम योगी मीरां के प्रभु का ही रूप है। इस योगी रूप में योगिराज कृष्ण को अपने कई पदों मे वर्णित किया है। वह रमता राम है। उसके आने जाने का कुछ पता नहीं लगता। प्रिय-दर्शन का व्यंग्य है। अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा भगवदर्थ की प्रतीति होती है रमतेराम पद बहुत साभिप्राय है, अतः परिकर भी मानना चाहिये।

(ए) ये दोनों पद परीक्षा बाह्य हैं।

प्रश्न २,—कबीर ने अपनी प्रखर भाषा और तीव्र भाव-व्यंजना से जिस काव्य का सृजन किया, वह साहित्यिक मर्यादा का भले ही

उल्लंघन कर गया हो, किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म में युगान्तर अवश्य आया।" इस कथन की युक्ति-युक्त मीमांसा कीजिये।

उत्तर—कबीर आमूल चूल ज्ञानी सन्त थे, प्रबल सुधारक थे और अन्य कुछ इसके बाद में थे। अतएव उनके साहित्य को इसी विचार के आधार पर देखना चाहिये। विचारों में वे बड़े निर्भीक स्पष्ट-वक्ता और आत्म-विश्वासी थे। स्वच्छन्दता उनकी नस नस में थी। आत्म-स्वातन्त्र्य उनके साथ सदैव रहता है। अतएव अपने इसी स्वभाव के कारण उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह निडर होकर साफ साफ और धड़ल्ले से कहा है। उनके जैसे विचार हैं, वैसी ही उनके प्रतिपादन की शैलि भी है। और वैसी ही शक्तिशाली, तीखा व्यंग्य करने वाली अक्खड़पने की उनकी भाषा भी है। इन तीनों के संयोग से उन्होंने जैसे साहित्य का निर्माण किया है, वह वस्तुत: युगान्तर का उपस्थाता है। क्या धर्म में और क्या साहित्य में उनकी रचनाओं ने नवीन युग का सूत्रपात किया।

धर्म के क्षेत्र में, जब कबीर उत्पन्न हुए थे, बड़ी अव्यवस्था थी। धर्म के असली रूप को सर्व साधारण भूले हुए थे। मुसलमानी अत्याचारों के कारण धर्म का रूप क्षत विक्षत और भी हो गया था। धर्म के जितने भी ऊंचे ग्रन्थ थे वे प्रायः सारे ही संस्कृत मे थे और साधारण जनता की पहुँच के परे थे। ज्ञान के प्रचार के साथ साथ भक्ति का भी स्वर गूंजने लगा था, पर ज्ञान का पक्ष अभी इस ओर प्रबल था। मूर्ति-खण्डन से उखड़ी हुई भक्ति को आस्था के जमने का अभी इन प्रदेशो में अवसर नहीं था। वास्तविक धर्म का ज्ञान लोगों को नहीं रहा था। अतएव साधारण जनता धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण, सम्प्रदायगत, जातिगत, ऊंचनीच के भेदभाव में ग्रस्त असली मार्ग भूले हुए थी। धार्मिक और साम्प्रदायिक अन्धविश्वासों के कारण आये दिन झगड़े होते थे। धन या अधिकार के लोभ में पड़कर अपने धर्म को तिलाञ्जलि देते साधारण जन को एक क्षण भी नहीं लगता था। धर्म के वास्तविक ज्ञाता कुछ ही उच्च शिक्षित लोग थे। कबीर ने अपने युग की परिस्थिति को देखकर, वास्तविक युग धर्म को

पहिचाना। इस समय आवश्यकता ऐसे धर्म-मार्ग की थी, जो धर्मगत भेद-भाव को मिटाकर पारस्परिक समता की भावना उत्पन्न कर सके। सम्प्रदायों के संकुचित क्षेत्र मे फंसी हुई सगुण भक्ति से इस प्रकार की आशा इस समय में दुराशा ही थी, न उसके योग्य परिस्थिति थी। फलतः, कबीर ने मुख्य रूप से निर्गुण ब्रह्मवादी या एकेश्वरवादी मार्ग का आश्रय लिया। उनका लक्ष्य सर्वसाधारण को शिक्षा देना था। अतः उन्होंने जटिल शास्त्रीय ज्ञान को अत्यन्त साधारण रूप में उपस्थित किया जिससे सब समझ सकें। कबीर स्वय भी शास्त्रीय ज्ञान नहीं रखते थे, न उसका इतना महत्व ही समझते थे और जनता को भी शास्त्रीय दुर्गम ज्ञान से क्या लाभ हो सकता था? कबीर ने, अतः, गहन और उच्च धार्मिक सिद्धान्तों का बड़ी सरल रीति से, दैनिक जीवन के साधारण रूपकों के द्वारा उदाहरणों के द्वारा प्रतिपादन किया। उन्होंने शास्त्रीय अमूल्य निधि को जनता के सामने इस प्रकार बिखेरने का प्रयत्न किया कि जो चाहे बिना भेद-भाव के ग्रहण करले। उन्होंने उपदेश दिया, ईश्वर एक है, राम रहीम दो नहीं हैं, अतएव व्यक्ति व्यक्ति मे कोई भेद नहीं है, सब उसी की सन्तान हैं। सत्य दया आदि मानवधर्मों का पालन करते हुए, इसी ईश्वर का चिन्तन करते करते मोक्ष लाभ करना प्रत्येक का कर्तव्य है। कबीर ने वस्तुतः महान् परिश्रम से, सत्संग से धर्म के जिन गूढ़ तत्त्वों का पता लगाया था, उनको उन्होंने सर्व जन सुलभ बना दिया, जिससे धर्म का मार्ग सबको सहज प्राप्य हो गया। उन्होंने नाथों से प्राप्त योग सिद्धान्तों का भी ऐसी ही सरलता से प्रतिपादन किया है जैसी कि वेदान्त के गूढ़ सिद्धांतों का। साथ ही उन्होंने सूफी मत से भी कुछ सीखा था। उसको भी उन्होंने सर्व-सुलभ ही बनाया। धर्म के इस आध्यात्मिक या वास्तविक सूक्ष्म रूप का प्रतिपादन करने के साथ आचार और समाज-व्यवस्था भी उनसे नहीं बचे। संकुचित धार्मिक आचार धर्मों में से उन्होंने संकुचितता का नाश करने का भी बीड़ा उठाया। उन्होंने ऐसे अन्धविश्वास-मूलक आचारों को आडम्बर बताया। जो कुरीतियां उन्हें दिखाई दीं, उनकी खिल्ली उड़ाई, धड़ल्ले से उनका खण्डन किया। इसमें मुल्ला, पण्डित कोई भी उनकी

लताड़ से नहीं बचा। इस प्रकार धर्म में जो भी उन्हें कुछ संकीर्णता, भेदभाव, पापाचरण, झूठ फरेब, नजर आया, उन्होंने उस सबका मटियामेट कर दिया। इसी खण्डन मण्डन और अक्खड़पन की प्रवृत्ति से उन्हें संकट में भी पड़ना पड़ा, पर वे अपने सिद्धान्त में अडिग थे। पुरानी गली सड़ी अन्धपरम्परा मूलक इन धार्मिक आस्थाओ या आचारों के प्रति उनका विद्रोह नहीं दबा। सर्व साधारण ने कबीर का साथ दिया और कबीर का यह धार्मिक युगान्तर उपस्थित करने वाला नवीन युगानुरूप पंथ बड़े जोर से चला। भारत में प्रायः सर्वत्र ही कबीर का यह निर्गुणी पंथ फैला। इस प्रकार सच्चे अर्थों मे कबीर अपने युग के प्रवर्तयिता धार्मिक नेता और सुधारक बने।

साहित्य-रचना करना यद्यपि कबीर का उद्देश्य नहीं था। तो भी उस पर भी कबीर का अत्यन्त आभार है। कबीर के समय में उच्च साहित्य की रचना मुख्यतः संस्कृत या अपभ्रंश में ही करने की परम्परा चली आ रही थी। देश भाषा के रूपों में भक्ति के गान तो सुनाई पड़ने लगे थे, किन्तु जीवन का वास्तविक वर्णन नहीं था। अधिकतर साहित्य कल्पना—समाश्रित था। मध्य प्रदेश की भाषा में तो साहित्य—रचना अत्यल्प थी ! या तो नाथों के उपदेश खड़ी बोली या भाखा में होते थे और या खुसरो सूक्तियां लिख रहे थे। नाथों का तो केवल अपने मत के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन है, जो उन्होने योग के विविध रूपकों द्वारा किया है और खुसरो की रचना प्रधानतया उक्ति वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही लिये हैं। नीति के थोथे कथनों के अतिरिक्त जीवन के गम्भीर और दैनिक तथ्यों का वर्णन उसमें नहीं हैं। भाषा का रूप भी अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में था, उसमें साहित्यिक योग्यता नहीं थी। ऐसी ही परिस्थिति में कबीर ने अपने साहित्य का श्रीगणेश किया। कबीर का कार्य कठिन था। कबीर का उद्देश्य साधारण जनता में प्रचार करना था। अतःउन्होंने अपनी रचनाओं का आधार भाखा (खड़ी बोली) को बनाया उच्च सिद्धान्तों और जीवन के मुख्य तथ्यों का वर्णन उन्होंने उसी में किया। कबीर के सामने वैसे अन्य भाषा-रूपों में आख्यान

काव्य लिखे हुए थे और कबीर चाहते तो उस काव्य—सरणी से अपनी रचनाओं को अधिक काव्यत्व पूर्ण बना सकते थे, किन्तु कबीर ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। उनको जैसा प्रचार और जिस जनता में करना था, उसके लिए विशेष काव्यमयता अनावश्यक थी। तो भी काव्यमयता स्वाभाविक रूप से उनकी रचनाओं में आये बिना नहीं रही। साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला प्रथम कार्य तो कबीर का यह था कि उन्होंने देश भाषा को अपना कर साहित्य का साधारण जनता से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित किया। भाषा को परिमार्जित कर, उसमें तीखापन, व्यंजकता और शक्ति उत्पन्न करके उसे साहित्यिक रूप दिया।। कबीर की भाषा में अत्यन्त सामर्थ्य है, शक्ति है—भाव-व्यंजना की भी और चोट करने की भी। अन्य ऐसा कार्य कबीर का था कि उन्होंने लौकिक जीवन की यथार्थ-वादी के समान गम्भीर और वास्तविक आलोचना करके साहित्य का जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया। इस सब में विलक्षणता उनकी शैली की भी कम नहीं थी। उनको वस्तुतः काव्य की सुन्दर सुकुमार शैलि की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो तीखी, चोट करने वाली लक्षणा व्यंजनात्मक और शक्तिशाली शैलि चाहिये थी, जो कि उनकी थी। इन समस्त विशेषताओं के समन्वय से कबीर ने, साहित्य रचना उद्देश्य न होते हुए भी रचनाएँ काव्य सौन्दर्य से भी पूर्ण बनाई हैं। यद्यपि काव्य की पूर्ण विशेषताओं में कबीर का साहित्य पूरा नहीं उतरेंगे, तो भी उनका साहित्य में नवयुग उपस्थित करने वाला है, इसमें मत-भेद नहीं हो सकता। कबीर ने अपनी प्रखर भाषा, प्रखर विचार और प्रखर शैलि से वस्तुतः धर्म और साहित्य में नवयुग उपस्थित करने वाले ऐसे ही साहित्य की रचना की है। अतएव डा० रामकुमार वर्मा ने ये उपर्युक्त—प्रश्नगत—विचार प्रकट किये हैं। कबीर और उनका साहित्य दोनों ही वस्तुतः अपने युग के प्रवर्तक हैं।

३—"प्रतीकों के स्वरूपों में कुछ न कुछ ऐसी व्यंजना रहती है, जिससे भावनाओं को विकास के संकेत मिल जाते हैं।" इस दृष्टि

से कबीर के काव्य की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—प्रतीक किसी न किसी भावना-विशेष, दशा-विशेष के सांकेतिक चिन्ह होते हैं। उनके द्वारा भावना-विशेष का उदय हो जाता है, जो फिर पश्चात् विकास करती है। प्रतीक केवल उसको छोड़ देता है। प्रतीक किसी भावना-विशेष का पूरा स्वरूप नहीं उपस्थित करता, क्योंकि उस दशा में तो वह उसका वाचक बन जायगा, अपितु वह उसका थोड़ा सा आभास देकर मन की भावना को उद्‌गत कर देता है, पश्चात् विकास पाना भावना का ही काम है। प्रतीक की इस संकेत-मूलक अभिव्यञ्जना के कारण ही, साहित्य, समाज देश जाति और धर्म आदि के सभी क्षेत्रों में प्रतीक विशेष स्थान रखता है। भारत के प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में प्रतीक-पद्धति मिल जायगी। विभिन्न देवतादि शक्ति-विशेषों के ही प्रतीक हैं। उपासना मार्ग भी वस्तुतः प्रतीक रूप ही है, जहा भगवान् का एक प्रतीक-मूर्ति—बनाकर उसकी पूजा होती है। शालिग्राम में तो कोई आकार भी नहीं होता। शिव का भी लिंग (प्रतीक) वे सिर पर का ही होता है। ये प्रतीक या मूर्तियां देवताओं के पूर्ण रूप नहीं उपस्थित करते, अपितु उनका थोड़ा सा आभास देते हैं, पश्चात् भावना कल्पना के सहारे उस कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न करती अपनी सामर्थ्य के अनुसार। ऐसा ही अन्य प्रतीकों के विषय में होता है। यज्ञोपवीत ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। पंचककार सिख धर्म के प्रतीक हैं। ब्रह्म समाज में सारी उपासना ही प्रतीक-पद्धति पर है। साहित्यिक प्रतीक तो सबसे अधिक चलते हैं। शुक, पिक, काक चातक, किंशुक, केतकी आदि असंख्य भावना-विशेषों से आबद्ध प्रतीक ही हैं, जिनका प्रयोग आदि काल से कवि लोग करते ही आये हैं। सूफी मत में तो प्रतीकोपासना है ही। माशूक अल्ला का, इश्क हकीकी इश्क का और प्रेमी प्रेम-योगी का प्रतीक ही होता है। वह तो रहस्यवाद है निरा और उन आध्यात्मिक रहस्य—अनुभूतियों का भाषा कैसे पूर्णतया वर्णन कर सकती है? इसलिए वहां तो आवश्यक रूप से ही प्रतीक वर्णन पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी गति नहीं। अतः उस मत में तो प्रतीक का विशेष महत्त्व है।

कबीर दास पर इन सभी मतों का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने इन सभी

से कुछ न कुछ लिया था इन्होंने प्रतीकों का भी ग्रहण किया था। ज्ञान मार्ग, योग मार्ग या नाथ पंथ, सूफी मत और वैष्णव मत से इन्होंने विशेष विशेष तत्त्व लिये थे। साथ ही उनके अनेक रूपक और प्रतीक भी लिये थे। सबद, बिन्दु, नाद, सुन्न, माया, भृंगीकीट, मृगमरीचिका, घट, पारस, स्वातिबुन्द, दशद्वार, पद्मदल आदि, चन्द्र, सूर्य, विद्युत, आदि अनेक वेदान्त और योग के यत्र तत्र इस प्रकार के प्रतीक मिल जायेंगे। सूफी मत के भी प्रिय, नशा, शुक, पिक, मछली, विवाह, चकवा चकवी, पपीहा, आदि अनेक प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार चोर, बटमार ठग ठगिनी, ओं, बादल, मेंह आदि विभिन्न मानसिक दशाओं या भावनाओं के ही प्रतीक (सूचक) हैं। वस्तुतः इन प्रतीकों के बल पर ही, समासोक्तियों, अन्योक्तियों अप्रस्तुत-प्रशंसाओं, रूपकों और उपमाओं में बांध कर इन्होंने अपने जिन जिन सिद्धान्तों, आध्यात्मिक गहन अनुभवों का प्रकाशन किया है वह इनके बिना संभव नहीं था। कबीर अपने इस कार्य में पूरी तरह सफल रहे। कबीर के प्रतीक अत्यन्त सदृश और अपने व्यंजनीय अर्थ की व्यंजना (संकेत) में पूर्णतः समर्थ रहे हैं। कबीर के रूपक अनेकत्र अधूरे हैं, किन्तु प्रतीकों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। प्रतीक उनकी भावनाओं के सफल व्यंजक हैं। विशेषतः कबीर की आध्यात्मिक अनुभूतियों में उलट-बांसियों में तो प्रतीक पद्धति के बिना काम चल ही कैसे सकता था। साधारण भाषा उस दशा के व्यंजन में पूर्णतया समर्थ न थी। ये प्रतीक भी भावनाविशेषों की ओर केवल संकेत ही करते हैं, पूर्णतया उनका स्वरूप नहीं उपस्थित करते, किन्तु उनके सिवा अन्य कोई उपाय भी नहीं रहता, ऐसी गहन भावनाओं के वर्णन में। गुरु के लिए रंगरेज, प्रेम के लिए रंग और शरीर के लिए चोला कितना गम्भीर अर्थ का व्यंजन करता है! माया कबीर की कामिनी और कान्चन या जगद् व्यवहार का प्रतीक है, अभ्यास या भ्रांतिरूप शंकर की माया नहीं। रँहट काल-चक्र का प्रतीक है और उसकी घड़ियां जीवनों की—मरजीवा की भावना या दशा का कितना सुन्दरतया व्यंजन करता है। इसी प्रकार कीट पतंग आदि जीवन की क्षणभंगुरता के प्रतीक हैं। कबीर ने इन्हीं के

आधार पर इतने गम्भीर चमत्कार पूर्ण अर्थों की, अनुभूतियों की अभिव्यंजना की है। कबीर जैसी प्रखर प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त ये प्रतीक वस्तुतः अपनी भावनाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। कबीर के प्रतीक अपने व्यंग्यों प्रतिपाद्य विषयों से ऐसे स्वाभाविक सारूप्य या सादृश्य सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं कि संकेतित अर्थ का चित्र सा खिंच जाता है। वस्तुतः कबीर के प्रतीकों का ज्ञान प्राप्त किये बिना उनके साहित्य को पूर्णतया समझा ही नहीं जा सकता, भाव अस्पष्ट रहेगा। अतः कबीर साहित्य में प्रतीकों का सफल प्रयोग है वे अपने संकेत कार्य में पूरे उतरते हैं।

प्रश्न ४—"रस निरूपण पद्धति में बाह्य प्रकृति को आलंबन ही बनाया गया है, वह केवल उद्दीपन के रूप में ही वर्णित की गई है।" इस कथन के आधार पर सूर के काव्य की विवेचना की जये।

उत्तर—रस निरूपण में प्रकृति विभाव होती है। आलम्बन नायक नायिका आदि होते हैं और प्रकृति उनके भावों की उद्दीपिका होती है, जो उनके सहायक या अंगरूप में आती है। सूर ने इसी रस-पद्धति पर ही प्रकृति वर्णन किया है। उनकी प्रकृति उनके लीला-वर्णन का अंग है। प्रकृति को आलम्बन बना उसके स्वतन्त्र रूप के प्रति राग का अनुभव करना, जैसा कि संस्कृत के कवियों ने किया सूर ने नहीं किया। वैसे उद्दीपन रूप में उन्होंने बड़े सुन्दर प्रकृति-चित्र खींचे है, किन्तु वहाँ प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, नायक नायिकाओं के भाव की अंगरूप है। जो वस्तुएँ संयोग में प्रिय दिखाई देती हैं वे ही उसी रूप में, विरह दशा में, विरह की उत्तेजक दुःखजनक हो जाती हैं।

सूर के वर्ण्य विषय राधाकृष्ण और उनकी लीलाओं आदि का वर्णन प्रकृति के साम्राज्य में ही होता है। कृष्ण की लीलाएँ वन की सुन्दर प्रकृति की गोद में ही हुईं। श्री कृष्ण का जीवन वन से ही प्रारम्भ होता है। उनकी क्रीडाएं अधिकतया करील के कुंजों में, यमुना के तट पर चान्दनी रात में ही होती हैं। सूर का स्वयं का निवास भी वन्य प्रकृति के मध्य में ही था। अतएव सूर ने इस वन्य प्रकृति का सुंदर चित्रमय

वर्णन किया है। वह विविध रूप धारण करके सूर के लीला वर्णन में अनुरूप सहायता प्रदान कर रही है। नख शिख के वर्णन में असंख्य प्राकृतिक उपमानों से रूप का चित्रण किया गया है। कहीं प्रकृति के रूप का वर्णन करके भावनाओं को उत्तेजित किया गया है। कहीं बालक्रीडा में प्रकृति भी खेलती सी प्रतीत होती है। कृष्ण के अनुराग में सजीव—मनुष्य पशु पक्षी आदि और निर्जीव-नदी तट, कुंज आदि अनुरंजित प्रतीत होती है। विरह में प्रकृति का भी रूप विरहणी का प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है परब्रह्म कृष्ण की प्रकृति दास्य भाव और सख्य भाव, दोनों भावों से कृष्ण की अनुगामिनी बनी फिरती है। सूर भी कृष्ण की इन्हीं दो भावों से आराधना करते थे। अतः उनका प्रतिबिम्ब प्रकृति वर्णन में भी आ गया है।

किन्तु इतना होने पर भी सूर का प्रकृति-वर्णन तुलसी के जैसा विशद नहीं है। प्रकृति के पूर्ण, सूक्ष्मचित्र उन्होंने नहीं उतारे। इसका कारण था, उनके पास स्थल की कमी। उन्हे एक पद मे ही विभावादि का चित्र उतारना होता था। अगले पद मे अन्य दूसरा दृश्य बदल जाता था। अतएव उन्हें प्रकृति-वर्णन, हाथ रोक कर, उसके कुछ ही विशेष भावानुकूल रूपों को लेकर करना होता था। इसी सीमा-सकोच के कारण वे प्रत्येक पद मे पूरा चित्र नहीं दे सके। वैसे, समस्त पदों में, उन्होंने विविध रूपता के साथ प्रकृति के—सजीव प्रकृति के—असंख्य चित्र उतारे हैं। किंतु वे सब प्रकृति वर्णन के उद्देश्य से—जैसा कि प्रबन्ध काव्य में होता है—नहीं चित्रित किये, प्रत्युत उनके वर्णन का लक्ष्य किसी न किसी भाव की उत्तेजना ही है। देखिये निम्न पद में प्रकृति की कैसी भावोत्तेजन की शक्ति का परिचय दिया गया है—

बात बूझत हि यों बहरावति।
सुनहु स्याम! वे सखी सयानी पावसरितु राध न यतावति।
घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूंजत गुहा सिंह समुझावति॥
नहिं दामिनि द्रुम दवा सैल चढ़ी फिरि बयारि उलटी झरि लावति।
नाहिंन मोर रटत पिक दादुर ग्वाल मण्डली खग न खेलावति॥

राधा को, कृष्ण विरह की दशा में बताया नहीं जा रहा कि वर्षा ऋतु आ गई। विरह मे वर्षा ऋतु राधा जैसी कोमलाङ्गी को कैसे सह्य होगी? वर्षा की अमित विरहोत्तेजन शक्ति का प्रकाश किया है। सूर ने प्रकृति को ऐसे ही रस के उद्दीपन के रूप में वर्णन किया है, उसको आलम्बन मानकर नहीं। तो भी सूर ने जितना प्रकृति वर्णन किया है उतना व्रजभाषा में अन्य किसी कवि का उपलब्ध नही होता था। सूर के उद्दीपन रूप में इस प्रकृति वर्णन से ऐसी परिपाटी चली कि पश्चात् तो सभी ने उद्दीपन के रूप में परम सुन्दर और मधुर चित्र खींचे। रीति काल में तो इस प्रकार के वर्णन की भरमार हो गई। किन्तु उस समय में, सूर को छोड़कर, व्रजभाषा में अन्य किसी ने भी इतने विस्तृत और प्रभूत परिमाण में प्रकृति-वर्णन नहीं किया सूर ने ही सर्व प्रथम प्रचुर मात्रा में, आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करते हुए, उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण की अवतारणा की थी। उनके प्रकृति-चित्र विशद और विशेप सूक्ष्म न होते हुए भी अत्यंत प्रभावोत्पादक हैं। सूर के लीला-वर्णन के वे विशेष अंग और सहायक हैं। रास घर में हो तो उसका आधार रस रह जाय। वह तो अनन्त आकाश के नीचे, कुंजों से घिरे प्रदेश में, श्वेत चंद्रिका में स्नान करते हुए ही होनी चाहिये। तभी उसके रस परिपाक का पूर्ण अवसर हो सकता है। अतएव प्रकृति-चित्रण का भी लीला विधान मे उतना ही महत्त्व है, जितना कि अन्य साधनों का। फलस्वरूप प्रकृति चित्रण सभी लीला के वर्णयिताओं के लिए आवश्यक था। सूर ऐसी ही काव्य-पद्धति में, रस या भाव के उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्र बनाने वाले थे, अपने मुक्तक पदों की सीमा के अनुसार।

प्रश्न ५—"कला की सर्व श्रेष्ठ सार्थकता यही है कि उसका रहस्य तो पारदर्शी रसिक जनों का ही ज्ञेय हो किन्तु उसका सामान्य आनन्द सब सुलभ बन जाय।" महात्मा तुलसी के काव्य को दृष्टि में रखते हुए इस कथन की मीमांसा कीजिये।

उत्तर—काव्य के दो पक्ष होते हैं—भाव पक्ष और और कला पक्ष। उत्कृष्ट कवि भाव पक्ष को ऊंचा बनाकर कलापक्ष को उसका सहायक

बनाकर उत्तम काव्य की रचना करते हैं। निम्न श्रेणी के कवि, कलापक्ष पर ही बल देकर अपना काव्य चमत्कार दिखाकर संतुष्ट हो जाते हैं। वे अपनी कला-प्रियता में अपने काव्य को इतना जटिल बना देते हैं कि काव्य का अर्थ ही दुरूह हो जाता है उसके प्रभाव की बात तो दूर। ऐसे चमत्कारवादी कला-प्रधान कवि सहृदयों को आनन्दित नहीं कर सकते, हां काव्य कला मर्मज्ञ उनके उक्ति-वैचित्र्य अथवा कला चमत्कार पर अवश्य वाह वाह कर देंगे, किंतु काव्यकला का ज्ञान न रखने वाला कोरा भावुक सहृदय व्यक्ति उसका पूर्ण आनन्द नहीं ले सकता। ऐसी कला का विशेष आदर नहीं है। पक्का रागी जब समाज में बैठकर ताना रीरी या अपनी कोरी गले बाजी—जोकि अक्सर ऐसे गवैयों की नीरस होती है—से किसी राग या रागनी को अदा करता है, तो रागविद्या के पारखी तो आनन्द में सिर हिलाने लगते हैं किन्तु उससे अनभिज्ञ बेचारे मुंह ताकते रहते हैं। ऐसी कला वस्तुतः प्रशस्य नहीं क्योंकि उसका प्रभाव क्षेत्र उसके जटिल हो जाने से, सीमित हो जाता है। कला का स्वरूप तो वस्तुतः इतना गम्भीर और इतना स्वाभाविक होना चाहिये कि उसका सभी को पूर्ण और समान आस्वाद हो। जो मर्मज्ञ है, वह तो उसके कला-विधान पर भी वाह वाह कर देगा किन्तु जो अनभिज्ञ है, उस पर भी कला का प्रभाव तो उतना ही होना चाहिए जितना अभिज्ञ पर। तो भावानुभूति दोनों की समान होनी चाहिये। दोनों को कला जिस भावना का शृंगार कर रही है, उसकी अनुभूति के लिए तो केवल भावुक हृदय चाहिये, कला का मर्मज्ञान हो या न हो। ऐसी कला स्वाभाविक प्रशस्य मानी जाती है। तभी वह सार्थक भी कहलाती है।

तुलसी की काव्यकला ऐसी है। तुलसी महाकवि थे, काव्यकला के मर्मज्ञ और उसका विकास भी उनके काव्यों में उनके अनुरूप ही हुआ है। तुलसी काव्य के कला विधान में सिद्ध-हस्त थे रस रीति अलंकार, वस्तु वर्णन उक्तिवैचित्र्य, लाक्षणिक व्यंजक प्रयोग संगीत आदि समस्त काव्योपादानों का उन्होंने सफल प्रयोग किया है। किन्तु तुलसी चमत्कारवादी, केवल स्थूल कलावादी, नहीं थे। वे भाव-प्रधान थे। भाव —भक्ति भाव—का

ही प्रवाह बहाना उनका उद्देश्य था। इस समस्त चराचर सृष्टि में भगवद्-नुभूति कराना ही उनका उद्देश्य था। इसी के लिए वे विशेष प्रयत्नशील रहे। स्थूल कला के चमत्कार के प्रदर्शन के लोभ में पड़कर उन्होंने अपने भावों को दुरूह नहीं होने दिया कला का सौन्दर्य है, सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु वह भाव को अधिक प्रभावशाली और विशद बनाने वाला है, जिससे उसकी पूर्णानुभूति हो। तुलसी ने काव्य के प्रत्येक आन्तर् और बाह्य उपादानों में से सभी का अविकल सुन्दर प्रयोग किया है, जिसके चमत्कार पर काव्य कला मर्मज्ञ वाह वाह किये बिना नहीं रह सकते। किन्तु उन्होंने केशव के समान उसे भाव का स्थान नहीं दे दिया। वह अपने चमत्कार से भाव को और भी प्रभावक बनाकर ही व्यक्त करती है। तुलसी के काव्य की विशेषता भी यह कला चमत्कार नहीं, अपितु उसकी भावानुभूति ही है। यह भावानुभूति इतनी विशद और प्रधान रहती है कि शिक्षित या अशिक्षित सभी के मन को अभिभूत कर लेती है। तुलसी के काव्य का आनन्द लेने के लिए कला का विशेष ज्ञान अपेक्षित नहीं है, उसके लिए तो केवल भावुकता चाहिए। अतएव तुलसी के काव्य को सुनकर काव्य-मर्मज्ञ और अकाव्य-मर्मज्ञ दोनों सिर हिलाते देखे गये हैं। अवश्य ही काव्य-मर्मज्ञ कला के चातुर्य को अधिक समझेंगे, किन्तु कला के सौन्दर्य और उसके द्वारा उपस्थित भाव की अनुभूति तो उभयत्र समान ही होगी। भावानुभूति या काव्य सौन्दर्य के आस्वाद के लिए कला ज्ञान अपेक्षित नहीं। वह तो सर्व साधारण को समान ही होना चाहिये। तुलसी की काव्य कला ऐसी ही परम स्वाभाविक रूप में सामने आती है। तुलसी जिस भावना को श्रोता के मन में प्रभावित करना चाहते हैं वह स्वतः प्रवाहित होने लगती है, जिन अलंकारों आदि की सहायता से वह प्रवाहित किया गया है, उसका स्वरूप ज्ञान चाहे हो या न हो। यही कला वास्तव में उत्तम कला है और तुलसी की कला इस आदर्श रूप की अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

६.—सिद्ध कीजिये कि मीरा की अत्यन्त तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है।

उत्तर—मीरा की कविता एक स्वच्छ निर्झरिणी है, जिसका कलकल

नाद हृदय को मधुरता से भर देता है और जिसका उद्गम हृदय की गहन कन्दरा से है। वह सरल है, सीधी है, अत्यन्त स्वाभाविक है और साथ ही गहन भी है। शुद्ध व्यक्तिगत अनुभूति उसकी प्रधान विशेषता है, जिसमें डूब कर तन्मय होकर मीरां ने रचना की है और जो सहृदय को भी डुबाये बिना नहीं रहती। उसमें स्त्री-हृदय के अत्यन्त अलौकिक माधुर्य का प्रवाह बहाता है। मीरा ने भाव में तन्मय होकर गाया है, जो कुछ गाया है।

मीरा के जीवन का उसकी कविताओं पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसके जीवन की बीती घटनाओं का उसकी भावनाओं के निर्माण और विकास में विशेष हाथ रहा है। मीरा का जीवन अत्यन्त दुःख पूर्ण था। वैधव्य कष्ट और उसके साथ ही घर वालों के अन्य अत्याचार। वैधव्य भी अकाल में ही। अतएव मीरा में जगत् के प्रति एक वैराग्य की भावना और एक गम्भीर वेदना व्याप्त हो गई। मीरा को कृष्ण प्रेम की पिपासा बचपन में लग गई थी जैसा कि उनके जीवन वृत्त के आलोचन से पता लगता है। पश्चात् लौकिक प्रेम में भी व्याघात ही पड़ा। अतएव उसमें एक गभीर प्रेम वेदना या गंभीर विरह भावना व्याप्त हो गई। मीरा ने घर और बाहर के समाज के सब बन्धन निर्भीकता पूर्वक तोड़ कर स्वतंत्र मनोवृत्ति का परिचय दिया था उसके ऊपर ज्ञानी सन्तों का भी प्रभाव पड़ा था, किन्तु प्रमुखता भक्ति या मधुर रस की ही रही। मीरा के काव्य की प्रमुख भावनाएं ये ही हैं, जिनकी गंभीरता और विशदता पद पद में व्याप्त मिलती है। मीरा की भावनाएं अधिकतर अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के आश्रित थीं। अतएव मीरां का अत्यन्त भावुक हृदय उनमें ऐसा तन्मय हो जाता था। मीरा के पदों में उसके अपने प्रेम व्यथित हृदय की स्त्री-सुलभ कोमल, गहन और अत्यन्त मधुर भावनाओं के विस्मृतिदायक चित्र हैं। मीरा ने स्वयं भी भाव-विस्मृत होकर उनका अभिव्यंजन किया और वही प्रभाव उसके आस्वाद लेने वालों पर भी पड़ जाता है। श्रोता भी तन्मय होकर अपने आपको भूल जाता है।

मीरा ने अपने हृदय की स्पष्ट सच्ची बात कही है, यही उसका उद्देश्य भी था। अन्यथा, काव्य कर्म के लिए कविता करना उसका उद्देश्य नहीं था। उसकी ओर मीरा निरपेक्ष रही है। वैसे, वह भी आ गया है, तो भी मीरा उसकी ओर से स्वच्छन्द होकर चली है। उसने तो अपने हृदय की बात कही थी और वह उसने उसमें पूर्णतया डूब कर कही है। भाव में तन्मय होकर प्रियमिलन के लिए शृङ्गार करना और उसके विरह में विरहिणी रूप बनाकर तड़पना, प्रिय की ऊँचे चढ़ कर बाट जोहना, नृत्य गान आदि करना मीरा की भावतन्मयता का ही सूचक है। मीरा के रूप-चित्र भी, मीरा का लीला वर्णन, मीरा का अपने हृदय की अनुभूतियों का वर्णन, इन सबमें उसके हृदय की तन्मय दशा मिलेगी। मीरा की इस तन्मयता के कारण ही उसका काव्य वस्तुत: इतना उच्च माना जाता है।

यही तन्मयता वस्तुत: कविता की एक प्रधान विशेषता होती है। कवि यदि स्वयं तन्मय दशा को प्राप्त नहीं हुआ तो श्रोता को विमुग्ध कैसे कर सकता है? यह भावतन्मय दशा ही रस दशा है। कवि में यदि इसका अभाव है तो उसकी रचनाओं में कहां से आ सकता है? अतएव इसका महत्त्व नवीन और प्राचीन दोनों आचार्य पूर्णतया स्वीकार करते हैं। कवि की यह भाव-प्रवणता ही सहृदय के हृदय में रस दशा को उत्पन्न करती है। मीरा के काव्य की यह भावप्रवणता या तल्लीनता प्रधान विशेषता है। मीरा ने सीधे, सच्चे, स्वच्छन्द और स्पष्ट रूप में कहा है, जो कुछ कहा है। उसमें लागलपेट, घुमाव फिराव उक्तिवैचित्र्य आदि नहीं हैं। किन्तु है एक गहरी अनुभूति और उसमें डूबने की तन्मय दशा, जोकि किसी भी उत्कृष्ट या ध्वानकाव्य की विशेषता है।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिये कि जायसी की प्रेमगाथा में भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का ग्रहण है।

उत्तर—प्रेम के दो रूप माने जाते हैं—एक लौकिक, दूसरा अलौकिक अथवा एक व्यावहारिक—जो जीवन के व्यवहार में आता है—और दूसरा आदर्श, जिसका सांसारिकता से कुछ सम्बन्ध नहीं होता। व्यावहारिक या लौकिक प्रेम में, प्रेम लौकिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, उन्हीं से

उसका क्रमिक विकास होता है। यह गार्हस्थ्य प्रेम है, इसमें प्रणय-कलह, मान, रोष आदि भी समय समय पर होते हैं। इसमें प्रथम दर्शन से पूर्व राग उत्पन्न होता है, फिर प्रेम का रूप धारण करता है, जिसका विकास विवाह रूप में होता है और इसके पश्चात् उत्तरोत्तर गम्भीर होता है। इसी लौकिक प्रेम में, माता, पिता, भाई, बन्धु आदि सभी के प्रेम आ जाते हैं। तुलसी के अनुसार राम सीता का प्रेम, शकुन्तला में दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम, आदि इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वाल्मीकीय राम सीता का प्रेम विवाह के उपरान्त होता है अतः उसमें 'रोमांस' की अपेक्षा गम्भीर गार्हस्थ्य भावना ही प्रधान है। दूसरा अलौकिक या आदर्श प्रेम ऐकान्तिक होता है लौकिकता या लोक की परिस्थितियों से उसका जन्म नहीं होता और न तदनुसार उसका क्रमिक विकास ही। इसका धरातल शुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक होता है। कादम्बरी में जैसे महाश्वेता का प्रेम। नैषध में दमयन्ती दर्शनों से पूर्व ही रूप गुण श्रवण से ही नल के लिए व्याकुल हो उठती है। इस प्रकार दोनों प्रेमों का कवि लोग वर्णन करते आये हैं।

जो दशा होती है, वह लोकबाह्य ही है, व्यावहारिक नहीं। राजा के साथ सती होने के समय शोक का स्थान एक सात्विक उल्लास ले लेता है। उनके विरह की दशाओं आदि का भी ऐसा ही लोकोत्तर सा वर्णन किया गया है। जायसी का प्रधान उद्देश्य इसी अलौकिक आदर्श रूप प्रेम की अभिव्यक्ति है।

किन्तु उन्होंने व्यावहारिक प्रेम की शैली को भी अपनाया है। लौकिक प्रेम के भी विविध रूपों का उन्होंने वर्णन किया है। नागमती में गार्हस्थ्य के शुद्ध प्रेम का परिपाक है। वह मान भी करती है ईर्षा भी करती है, उसे गर्व भी रहता है। किन्तु विरह में उसका प्रेम अत्यन्त गम्भीर हो आदर्शता को पहुँच जाता है। अन्त में वह भी सती होती है। साथ ही रत्नसेन के परिवार का प्रेम भी दिखाया गया है। राजा के जोगी बनकर जाने के समय उनका परिवार अत्यन्त दुःखी होता है। उधर पद्मावती में भी इस व्यावहारिक प्रेम का दर्शन कवि करा देता है। प्रथम मिलन के समय पद्मावती में वे ही लज्जा, सकोच, भय आदि की भावनाएँ दिखाई जाती हैं। राजा के कैद हो जाने पर पद्मावती व्याकुल होती है और फिर अपने प्रयत्न से उसे मुक्त कराती है। शुद्ध व्यावहारिकता है। इस व्यावहारिक प्रेम के कुत्सित कामुक रूप का भी जायसी ने वर्णन किया है। अलाउद्दीन और देवपाल का प्रेम ऐसा ही था। उन्होंने भी इसमें लगकर पद्मावती के लिए युद्ध किये इतने कष्ट पाये।

इस प्रकार, जायसी ने अलौकिक आदर्श प्रेम को अपना मुख्य लक्ष्य रखते हुए भी, प्रबन्ध काव्य की आवश्यकता के अनुसार, स्थूल जीवन के व्यावहारिक प्रेम के वर्णन की शैली को भी अपनाया। जायसी ने दोनों ही प्रकार के प्रेम का समुचित विकास दिखाया है।

प्रश्न ८—कबीर तथा जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

उत्तर—कबीर पर सूफी मत का विशेष प्रभाव पड़ा था। प्रेमोपासना की पद्धति उन्होंने सूफियों से ही ली थी। साथ ही उन्हीं की रहस्यभावना भी आई थी। अतः कबीर भी रहस्यवादी थे। उन्होंने भी मधुर भाव से अनेकधा-

अपने आध्यात्मिक प्रियतम के दर्शन किये थे। किन्तु उनके और जायसी के रहस्यवाद में बहुत अन्तर है। दोनों ही प्रेम-साधना या प्रेम-भावना द्वारा अपने प्रियतम के दर्शन करके विभोर हुए हैं किंतु कबीर ने उसे अपने 'घट' में या शून्य महल मे देखा है तो जायसी ने अन्दर बाहर सर्वत्र उसके दर्शन किये हैं। कबीर पर वेदान्त के अद्वैतवाद योगियों के योग या साधनावाद और इसलाम के खुदावाद या एकेश्वरवाद का विशेष प्रभाव पड़ा था। वे ज्ञानी पहिले थे प्रेमी पश्चात्। सिद्धान्त रूप से कबीर और जायसी दोनों अद्वैतवाद में विश्वास करने वाले हैं, किन्तु जायसी जगत् में ईश्वर का अनुभव करते हैं, उसकी झलक देखकर आत्मविस्मृत हो जाते हैं तथा उसका वर्णन करके औरों को भी दिखाने लगते हैं और कबीर केवल मानते ही हैं, किन्तु देखते नहीं। संसार की बुरी वस्तुओं की वे कठोर निन्दा भी करते हैं। पापी को सहन नहीं कर सकते उनमें भेद-दृष्टि रहती है। आन्तरिक अनुभूतियों के वर्णन में भी वे ही ज्ञानियों या योगियों के रूपकों का आश्रय लेते हैं। माधुर्य भाव के दर्शन कबीर में भी अनेकत्र होते हैं। किन्तु उनमें ज्ञानवाद की शुष्कता भी रहती है। कबीर में वस्तुतः 'वाद' प्रधान है और जायसी मे अनुभूति। कबीर कटु-सत्य को कटुता पूर्वक कहने में नहीं हिचकते। किन्तु जायसी किसी से झगड़ा करना ही नहीं चाहते। वे तो प्रत्येक से मण्डन के पक्षपाती हैं। प्रेम में दूसरा भाव ही कहां हो सकता है? कबीर की प्रेमानुभूति व्यक्तिगत रूप में है, किन्तु जायसी की दृष्टि व्यापक है, उन्हें लोक में सर्वत्र ही ईश्वर की झलक दिखने लगती है। कबीर कहते हैं, मानते भी हैं पर दिखाते नहीं और जायसी कहते भी हैं, देखते भी हैं और दिखा भी देते हैं। कबीर शास्त्रीय ज्ञान को महत्त्व नहीं देते और न मर्यादाओं के ही पक्षपाती हैं किन्तु जायसी मर्यादाओं और शास्त्रीय ज्ञान के भी पक्षपाती हैं। जायसी उच्च शिक्षित थे, कबीर अनपढ़ थे। कबीर डांटते हैं, जायसी पलोसते हैं। कबीर में राग द्वेष आदि हैं किन्तु जायसी एकान्त मधुर हैं। कबीर में योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का सा भी रूप आ जाता है, जहां भावना उस रूपक में फंसकर जटिल हो जाती है और वह केवल

रहस्यात्मकवाद होता है कबीर का अपना। कबीर के रहस्यवाद में और जायसी के रहस्यवाद में यही विशेष अन्तर है। कबीर में भावुकता का अंश बहुत कम है, सर्वत्रैव कबीर भावुक नहीं रह पाये हैं, किन्तु जायसी हैं ही पूर्णतया भावुक। उनका रहस्यवाद पूर्णतया भावात्मक है। कबीर की अनुभूति का विशेष सम्प्रदायगत (कबीर पंथी) लोग ही पूर्ण आस्वाद ले सकते हैं , सब नहीं, किन्तु जायसी के वर्णन से सभी को रस मिल सकता है। (देखिये साहित्य रत्न प्रश्न पत्र १ सं० २००९ प्रश्न २ और सा० र० प्रश्न प० १ सं० २००२ प्रश्न २)।

प्रश्न ६. निम्नलिखित किन्हीं तीन पर टिप्पणियां लिखिये।

(क) विनय पत्रिका का महत्त्व।

उत्तर—विनय पत्रिका तुलसी दास का सिद्धान्ती ग्रन्थ है। इसमें उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसमें मुक्तक गेय पदों में विविध विषयों का वर्णन किया है। जीव, जगत्, ब्रह्म, माया, संसार, भक्ति पद्धति, वैराग्य, आदि इसके वर्ण्य विषय हैं तुलसी के विनय के पद हैं, जगत् का वर्णन है। घोर कलियुग और उसके पापों का वर्णन है। समाज की अधोदशा का चित्रण है। भक्ति की पद्धति और सिद्धान्तों का वर्णन है। साथ ही आडम्बर, भक्ति की ओट में पापाचरण, झूठ फरेब आदि का विशद वर्णन है, जो कि तुलसी के अपने ही काल का वर्णन है। तुलसी ने इस समस्त जगत् और अध्यात्म के विषयों का राग रागनियों मे मधुर सुन्दर गेय पदों मे ब्रज भाषा में वर्णन किया है। मुख्यतः जैसा कि नाम से प्रकट होता है यह कलियुग के पापों अत्याचारों से त्रस्त हुए तुलसी की श्रीराम पञ्चायत में अर्जी है। कलियुग के अत्याचारों का वर्णन करके तुलसी ने उद्धार करने की प्रार्थना की है। आत्म निवेदन, विनय, आत्मभर्त्सना, आत्मलघुता आदि के भाव भी बड़े सुन्दर अभिव्यक्त हुए हैं। अन्त में यह विनय पत्रिका स्वीकार करली जाती है, ऐसा तुलसी ने स्वयं लिखा है।

विचारों में इतनी गम्भीर होने के साथ साथ विनय पत्रिका में काव्य-सौंदर्य भी अत्यन्त उच्च कोटि का है। महाकवि तुलसी की यह रामचरित मानस के बाद की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। अतएव काव्य कला का भी

इसमें पूर्ण चमत्कार है। भाव, भाषा, संगीत, कला, व्यंजना आदि की दृष्टि से विनय पत्रिका तुलसी के सर्वोत्कृष्ट काव्य ग्रन्थों में है, जिसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि यह वस्तुतः उनका प्रौढ़ावस्था का बनाया हुआ सिद्धान्त ग्रन्थ है। (विशेष देखिये मा० र० प्रश्न प० १ सं० २००३ प्रश्न ४ (क) और (ख) भाग)

(ख) और (ग) भाग के प्रश्न अब परीक्षा में नहीं हैं।

(घ) गीति काव्य की विशेषताएँ।

उत्तर—गीति काव्य शैली मुक्तक रूप में होती है। प्रत्येक पद एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में भाव उपस्थित करता है। छन्दोविधान के स्थान में इन में राग विधान होता है। इनका निर्माण प्रमुखतः गाने के लिए होता है। अतः इनमें वर्तमान भाव के अनुरूप राग या रागनी के आधार पर इनकी रचना की जाती है। संगीत की प्रधानता होती है। इनमें अधिकतः व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकाशन होता है। कवि की दृष्टि अधिकतर अन्तर्मुखी रहती है और वह प्रकृति की स्वयं अनुभूति कर उसको अपनी भावनाओं में रंगकर उपस्थित करता है। कवि की अपनी मनोभावनाओं का व्यक्तिगत चित्रण या तो इस संगीत पद्धति में होता है और या कल्पित नायक नायिकाओं के व्यक्तिगत हृदय का। अंग्रेजी में इस प्रकार की कविता लीरिक कहलाती है। इस संगीत प्रधान काव्य पद्धति में कवि सुललित, मधुर भाषा में, कला विधान के सौन्दर्य के साथ अपनी भावनाओं का प्रकाशन करता है। किन्तु जब इन गीतों में ईश्वर की ही दिव्य संयोग वियोग की अनुभूतियों का वर्णन होने लगता है तो इनकी संज्ञा महत् हो जाती है। भक्ति काल के सूर मीरा आदि के गीत या पद इसी महत् कोटि के हैं।

हिन्दी में गीति पद्धति वीर गाथा काल से प्रारम्भ होती है। प्रथम वीर गीत लिखे जाते है। नाथों योगियों ने भी इसका उपयोग किया। भक्ति काल में सर्व प्रथम जयदेव और विद्यापति का नाम आता है। पदलालित्य सगीत और काव्य कला के लिए उनके गीत अत्यन्त उत्कृष्ट माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि सभी ने

गीति काव्यों की रचना की है। अधिकतया जो शैली वरती जाती है, यही है कि ऊपर एक अन्तरेका पद रखकर बाद में और पद बनाकर जोड दिये जाते हैं। पदों की संख्या भिन्न भिन्न भी होती है, कोई कितने पद जोडता है और कोई कितने ।

इस प्रकार गीति काव्य रागविधान से पूर्ण अलंकृत भाषा में व्यक्तिगत मधुर कोमल भावनाओं के प्रकाशन के उपयुक्त काव्य होता है (देखिये सा० र० प्रश्न प० १ स० २००२ प्रश्न ४)

(ङ) मीरा की प्रेम भावना।

उत्तर—मीरा कृष्ण को पति रूप में भजती थी। उसकी भक्ति एकान्त माधुर्य भाव की थी, जिसका नाम गोपीभाव रखा गया है मीरा का विरह प्रेम के साथ ही प्रारंभ हो जाता है। सद्गुरु से प्रियतम का रहस्य सुनते ही मीरा विरह मे हो जाती है। मीरा मानती है, वह पिछले जन्म में गोपी थी और कृष्ण ने उससे फिर मिलने का वायदा किया था। मीरा उसी आधार पर नित्य प्रतीक्षा करती है। मीरां का प्रेम अलौकिक था अनन्त था, अतएव उसका विरह भी अलौकिक था, अनन्त था। मीरा का प्रेम पूर्व जन्म से चलता है, अतः विरह भी तभी से प्रारम्भ हो जाता है। क्योंकि विरह के बिना प्रेम का आधार क्या है ? मीरा का विरह उसके प्रेम में ही व्याप्त है। मीरा के विरह में व्यक्तिगतता प्रधान रहती है। उसके अपने ही स्त्री-हृदय की कोमल वेदना एक मधुर टीस के रूप में सर्वत्र व्याप्त रही है। मीरां का विरह वर्णन उसी टीस का सरल स्वाभाविक और रसमय अभिव्यंजन है। मीरा जानती है कि तत्वतः उसमें और उसके प्रियतम में कुछ अन्तर नहीं है, बीच में आवरण पड गया है। अतएव वह उसे दूर करके वहीं जाना चाहती है। मीरा का प्रियतम अविनाशी है। मीरा सदैव उसकी प्रतीक्षा में रहती है। उसके आने की अवधि निश्चित नहीं पर मीरा मार्ग देखती है और कभी खीझती नहीं। मीरा के विरह में मानसिक पक्ष ही प्रबल है, शारीरिक पक्ष नहीं। मीरा ने अपनी हार्दिक व्याकुलता, विरह-विधुर दशा का ही प्रधान वर्णन किया है, शरीर की उत्तप्त दशा का नहीं। वह नित्य ही ऊंचे चढ़कर

प्रसन्नता पूर्वक मार्ग देखती है, पर वे नहीं आते। कभी कभी कल्पना में, स्वप्न में वे दिखाई पड भी जाते हैं, पर वह बात भी नहीं कर सकती। फिर वही अपनी विरह दशा। विरह की यही गम्भीर, व्यापक और सहज अनुभूति मीरा की रचनाओं में गूंजती है, जिसमें वेदना है, जो मधुर है। विरह की अत्युक्तियों का भी वर्णन मीरा ने यत्र तत्र किया है, पर वह परम्परागत विरह वर्णन के अनुकरण पर है। किन्तु वहां भी उसकी आन्तरिक विरहानुभूति का स्रोत उमड़ता है, जिससे वे चमत्कारक उक्तियां भी रसमय ही प्रतीत होती हैं। मीरा के विरह वर्णन की ये ही व्यक्तिगतता, सरलता, स्वाभाविकता, गम्भीरता, अनन्तता, मधुरता और अलौकिकता आदि प्रमुख विशेषताएँ हैं। (और भी देखिये प्रश्न पत्र १ सं० २००३ प्रश्न २ और प्रश्न पत्र १ सं० २००४ प्रश्न ३)

वैदिक प्रेस सीताराम बाजार, देहली।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्नपत्र १म २००७

१. नीचे लिखे पद्य-अवतरणों की सरल और सर्वांगीण व्याख्या कीजिए:—

(अ) संतसहहि दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूरुज तरुसम संत कृपाला। परहित सह विपति विसाला॥
सन इव खल पर बन्धन करहिं। खाल कढ़ाय विपति सहि मरहिं॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥

अथवा

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भांति कोई करइ उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खग राई। रहि न सकै हरि-भक्ति बिहाई।,
अस बिचारि हर भक्त सयाने। मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने॥
भक्ति करत बिन यत्न प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

उत्तर—(अ) इस अवतरण की चौपाइयां उत्तर काण्ड से ली गई हैं। रामभक्ति का सत्संग करते हुए पक्षिराज गरुड के सात प्रश्नों का उत्तर देते हुए काकभुशुण्डी जी सन्तों और असन्तों के गुण, दोष, स्वभाव आदि का परिचय दे रहे हैं।

व्याख्या—सन्त (सज्जन) लोग परोपकार में लगकर कष्ट सहते हैं। किन्तु अभागे असन्त (दुष्ट) लोग दूसरे को दुःख देने के लिए ही कष्ट सहते हैं (दुष्ट अन्यों को कष्ट देने के लिए सिर तोड़ प्रयत्न करता है, अपने आप कष्ट पाकर)। दयालु सन्त लोग भूर्जपत्र के वृक्ष के समान नित्य बड़ी-बडी आपत्तियां सहते हैं (भूर्जपत्र की खाल पर पुस्तकें लिखी जाती थीं, उसका उपयोग औषधि आदि में भी है। उसके इन्हीं गुणों से वह चीरा जाता है, खाल उधेड़ी जाती है और कूटा छाना जाता है। सन्तों का भी ऐसा ही स्वभाव है, परहित के लिए आपत्तियां सहने का)। सन (जिसके रस्से, डोरियां आदि बनते हैं) के समान दुष्ट लोग दूसरों को बांधते हैं औ रस्वयं खाल उधवा कर कष्ट सहकर नष्ट हो जाते हैं (सन पर से उसका वक्कल उतार कर

दशा होता है और ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील, जीव, बिना भगवत प्रेम या भक्ति के नहीं होगा। अतः भक्ति मुक्ति या मोक्ष का आधार है। भगवत्कृपा के बिना ज्ञान संभव नहीं और भगवत्कृपा के लिए भगवत्प्रेम उपासना आदि अपेक्षित हैं। अतः ज्ञान और तज्जन्य मोक्ष के लिए भक्ति आधारभूत है। ब्रह्म-जिज्ञासा ब्रह्म-प्रेम के बिना संभव नहीं)। यह विचार करके ही सयाने रामभक्त लोग मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर ही लुभा गए है। (क्योंकि) भक्ति करते हुए, बिना यत्न और परिश्रम के ही, जन्म मरण अथवा सृष्टि का बीजरूप (कारण) अविद्या (अज्ञान) नष्ट हो जाती है। (माया ईश्वर की उपाधि है। यह सत्व प्रधान है। ब्रह्म इसी मायिक उपाधि से युक्त हो ईश्वर कहलाता है और सृष्टि करता है। यही जब त्रिगुणात्मिका बन कर जीव की उपाधि बनती है तो अविद्या कहलाती है, जो जीव के जन्म-मरण का कारण है, जिस के नष्ट होने पर जीव की जन्म-मरण से मुक्ति होकर वह ईश्वर रूप हो जाता है। यही दार्शनिक तथ्य इन चौपाइयों में प्रकट हुआ है।)

उक्त दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ उपमा का प्रयोग यहां भी कवि ने अर्थ-स्पष्टता के लिए बहुत ही उचित रूप में किया है। जैसे जल बिना अपने आधार स्थल के बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही मोक्ष भी अपने आधार भक्ति के बिना नहीं ठहर सकता।

(आ) केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिमन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे॥
धोये मिटइ न मरइ भीति दुख पाइस एहि तन हेरे।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै॥
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।

उत्तर—विनय पत्रिका का पद्य है। महामना तुलसी ने गम्भीर दार्शनिक मन्तव्यों की ओर सकेत किया है इस पद्य मे।

व्याख्या—हे केशव (राम) ! कही नहीं जाती। क्या कहे ? तेरी रचना को देखते हुए, उसे अति विलक्षण (जिसका कोई लक्षण या स्वरूप न

स्थिर किया जा सके) समझ कर मन ही मन में चुप रह जाते हैं। शून्य (खला, आकाश, अन्तरिक्ष) के फलक (भित्ति, दीवार, आधार) पर, अशरीरी चित्रकार ने, बिना रंग के ही चित्र बनाया है (शून्य का चित्र-फलक है, उस पर निराकार परमात्मा ने यह सृष्टि-चित्र बना दिया है। कोई रंग लगा नहीं दिखता)। यह धोये मे मिटता नहीं, भय से मरता भी नहीं और इसकी ओर देखने से दुःख होता है (संसार का बेरंगा रंगीन चित्र इतना पक्का है, कि न धोया जाता है, न नष्ट होता है, प्रत्युत दुःख का'कारण बना हुआ है। क्योंकि जगत् दुःख का मूल है)।

कोई इसे सत्य कहते हैं (एक दार्शनिक सिद्धान्त कर्म प्रधान जगत् अथवा प्रकृति को ब्रह्म का ही अंश मान कर सत् या सत्य मानता है) कोई झूठ कहते हैं (अद्वैतवादी ब्रह्म को ही सत्य और जगत् को मिथ्य भ्रम मात्र या अध्यासमात्र (जैसे सीपी में चांदी का) मानते हैं।) और कुछ इसे सत्य और झूठ दोनों मानते हैं (न्याय और योग वाले जगत को कार्य (स्थूल) रूप से अनित्य—नाशवान्—और कारण (सूक्ष्म परमाणु) रूप से नित्य—सत्य—मानते हैं)। तुलसी दास कहते हैं, इन तीनों भ्रमों को जो छोड दे वही आत्मा को पहिचान सकता है। (ये तीनों ही दार्शनिक मत शुष्क भ्रान्तियां हैं, जो पूरा ज्ञान न देकर केवल संकेत करती हैं, जो भ्रमोत्पादक है। अतः इन तीनों के चक्करों में न पड कर जो भगवदर्पण होकर भक्ति के क्षेत्र में आयेगा, वही आत्मा—चरम सत्य—का अनुभव कर सकेगा। वह अनुभव साक्षात् है, उसमें भ्रम नहीं, वह शुद्धतत्वानुभूति है। अत. तुलसी के मत से यही सीधा मार्ग है)।

यहां भी महा कवि तुलसी ने इतने विशाल दार्शनिक सिद्धान्त के प्रकाशन के लिए रूपक का सहारा लिया है—चित्रकार, चित्र, चित्र-फलक और रंग आदि। विचित्रता और विलक्षणता दिखाने के लिए विरोधाभास का आश्रय लिया गया है। इन दोनों के बिना स्यात् ही भाव इतनी विशदता से स्पष्ट हो पाता!

अथवा

अविगत गति जानी न परै।

मन बच करम अगाध अगोचर किहि विधि बुधि सँचरै॥
अति प्रचण्ड बल पौरुस पाये केहरि भूख मरै।
अनायास बिनु उद्यम कीन्हे अजगर उदर भरै॥
रीते भरै, भरे पुनि ढारै, चाहै फेरि भरै।
कबहुँक तिन बूड़ै पानी मैं कबहुँक सिला तरै॥

उत्तर—सूर का पद है। परमात्मा की लीला की विलक्षणता पर आश्चर्य प्रकट करके, उसे मन इन्द्रिय बुद्धि आदि से परे बताया गया है।

व्याख्या—अज्ञात—अज्ञेय—(परमात्मा)—की गति (लीला) कुछ समझ में नहीं पड़ती। मन, वाणी और कर्म, इनके लिए वह गति (ईश्वरीय माया) अगाध (अपार) है और अगोचर (अतीत—परे) है। बुद्धि का संचार (प्रवेश) वहां कैसे हो? अत्यन्त प्रचण्ड बल और पराक्रम पाये हुए भी सिंह भूखा मरता है (जब आहार नहीं मिलता)। और अजगर (बड़ा मोटा सांप, अजदहा) बिना परिश्रम किये ही (बैठे बैठे) आसानी से अपना पेट भर लेता है (अजगर से घूमा फिरा नहीं जाता। उसकी जोरदार सांस से ही दूर दूर से आकृष्ट होकर वन्य जीव उसके मुँह में आ फंसते हैं। सिंह पराक्रम-शाली होकर भी भूखा मरता है और अजगर बैठा रह कर भी भोजन प्राप्त करता है। भगवान् की गति विचित्र है, अकथनीय है।) वह (ईश्वर) खाली पात्रों को भर देता है, भरों को खाली कर देता है और चाहे तो फिर उन्हें भर देता है (वह कर्तुं, अकर्तुं, और अन्यथा कर्तुं, सभी तरह समर्थ है)। कभी जल में तिनका भी डूब जाता है और कभी जल पर पत्थर की शिला भी तैरने लगती है। भगवान् की माया विलक्षण है। वह जो चाहे करता है। जीव की मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से वह माया परे है। वह कुछ समझी और कही नहीं जा सकती।

(इ) तत खन हार बेगि उतराना। पावा सखिन्ह चन्द बिहँसाना।

बिहँसा कुमुद देखि ससि रेखा। भइ तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चहा। ससि मुख जनु दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर॥
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर॥

उत्तर—(परिचय) पद्मावत के मानसरोदक खण्ड की अन्तिम पंक्तियां है। पद्मावती सखियों के साथ मान सरोदक-क्रीडा के लिए जाती हैं। जल-क्रीडा के समय खेल खेल मे एक सखी का हार जल में खो जाता है। सब सखियां उदास हो जाती हैं और मिलकर ढूंढने लगती हैं। मानसरोवर उनके चरण-स्पर्श से पवित्र हो हार जल पर उतरा देता है और सखियां पाकर प्रसन्न हो जाती हैं। इसी घटना और इसके पश्चात् के परिणामों का इन पंक्तियों में कवि ने वर्णन किया है, आलंकारिक और रहस्यात्मक ढंग से।

व्याख्या—उसी क्षण (जबकि सब हिल मिलकर हार को ढूंढ रही थीं और मानसरोवर अपने भाग्य को सराह रहा था) शीघ्र ही हार पानी के ऊपर तैरने लगा। सखियों ने उसे पाया और चन्द्रमा (पद्मावती का मुख) हँस पडा। चन्द्रमा की रेखा को देखकर कुमुद (सखियों के मुख) भी हंस दिये (विकसित हो गये)। जहां जिसे भी देखा वहां प्रकाश मय हो गया। मानस सागर ने जैसा रूप चाहा वैसा पाया। चन्द्र मुख मानो दर्पण बन गया हो (दर्पण मे अपना स्वरूप ही प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। चन्द्रमुख मे भी सागर को अपना रूप प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है।) उसके नयन कमलों का रूप हैं, शरीर निर्मल स्वच्छ जल का रूप है, उसके हास्य हंस का रूप है और उस की दन्त कान्ति हीरे हैं (इस प्रकार उस दर्पण मे सागर को अपनी समस्त हीरे हंस आदि वस्तुओं के साथ स्वरूप का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।)

पाठ—भेद से 'ससि मुख जनु दरपन होइ रहा।' यह पंक्ति 'ससिमुख सहुँ दरपन होइ रहा।' यों भी पायी जाती है। इस पाठ में अर्थ होगा कि मान सरोवर ने अपना इष्ट रूप प्राप्त कर लिया।

वह उस शशि मुख के समक्ष दर्पण सा हो गया। उसमें शशि मुख के वदन कमलों के, शरीर निर्मल जल के, हँसी हंस के और दशनद्युति हीरक के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं।

भाव सीधा था कि हार खोये जाने से सब के रङ्ग फीके थे। पद्मावती का चन्द्रमुख भी सुस्त था। हार मिल जाने से पद्मावती का मुखचन्द्र खिल गया। उसे प्रसन्न देखकर अन्य सखियों के भी मुख कुमुद खिल गये। इसी को कवि ने रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेकर आलंकारिक ढङ्ग में वर्णित किया है। किन्तु वर्णन के समय लौकिक सौन्दर्य—पद्मावती के सौन्दर्य—का वर्णन करते करते कविवर जायसी अनन्त अलौकिक सौन्दर्य—ईश्वरीय सौन्दर्य—का आभास देखने लगते हैं। इस दिव्य सौन्दर्य से ही सृष्टि के समस्त पदार्थ उद्दीपित हैं। उसी से सब ने यथेष्ट प्रकाश और सौन्दर्य प्राप्त किया है। पद्मावती के लौकिक सौन्दर्य में अपने अलौकिक प्रियतम के दिव्य और चरम सौन्दर्य की झलक देखने की रहस्यवादियों की सी प्रवृत्ति है। जायसी की रहस्यवाद मूलक शैली का यह पद्य उत्कृष्ट उदाहरण है। उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, रूपक, अत्युक्ति अनुप्रास अलंकार इन पंक्तियों में गिनाये जा सकते हैं।

(ई) अंग छि अंग अनग मुरछायत
हेरए परए अधीर।
मन मथ कोटि मथन कर जे जन
से हरि महि मधि गीर॥
कत कत लखिमी चरनतल नेउछए
रंगिनि हेरि विभोरि।
कर अभिलाख मनहि पद पकज
अहनिस कोर अँगोरि॥

उत्तर—(परिचय) विद्यापति पदामृत का दूसरा पद्य है। महाकवि विद्यापति ने श्री राधा के चरण कमलों का स्मरण किया है, उनके अलौकिक सौन्दर्य प्रभाव का वर्णन करके।

व्याख्या—(श्री राधा के) अंग-अंग को देखते हुए कामदेव मूर्छित

एवं अधीर पड़ा है। जो करोड़ों कामदेवों (के सौन्दर्यगर्व) का मथन करने वाले कृष्ण से पुरुष हैं; वे भी (उसे देखकर) भूमि के मध्य में गिर पड़े हैं। (कामदेव तो क्या स्वयं कृष्ण राधा के रूप सौन्दर्य को देखकर मार्ग में गिर पड़े मोहित होकर)। कितनी ही लक्ष्मियां उसके चरण तलों पर न्योछावर हैं, और कितनी ही सुन्दरियां देखकर विमोहित हो गई हैं। (अतः) अभिलाषा कर कि इन चरण कमलों को मन में, रात दिन, ढांपकर छुपाकर रखूं।

जिन चरणों पर मे अनेक लक्ष्मियां न्योछावर हैं, उन्हीं को हृदय में रखने की अभिलाषा कर। लक्ष्मी-पति स्वयं विष्णुभी उन चरणों वाली के रूप सौन्दर्य पर मूर्छित हुए बिना नहीं रहे। अतः कृष्ण से अधिक राधा बलवती हैं, उन्हीं की चरण वन्दना अभीष्ट है।

शब्द चयन और शब्द-संगीत के लिए तो विद्यापति प्रसिद्ध हैं ही, अतः शब्दालंकार अनुप्रास आदि का सुन्दर निर्वाह है। उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अर्थालंकार भी साथ आये हैं। विद्यापति के भाव-लालित्य के साथ पद-लालित्य का यह गीत उत्कृष्ट उदाहरण है। संगीत माधुर्य और कोमलत्व विद्यापति के गीतों के विशेष गुण हैं, जो उपर्युक्त गीत में पर्याप्ततया उपलब्ध हैं।

अथवा

राम पदारथ पाइकै कबिरा गांठ न खोल्हि।
नहिं पटण नहिं पारखू नहिं गाहक नहिं मोल्हि॥
जग काजल की कोठरी अंध परे तिसु मांहि।
हौं बलिहारी तीन्ह की पैसि जो नीकसि जाहि॥
मरता मरता जग मुआ मरियो न जाना कोइ।
ऐसे मरने जो मरै बहुरि न मरना होइ॥

उत्तर—(परिचय) कबीर दास के दोहे हैं। जीवन और संसार के तीन तथ्यों का कथन किया गया है। रामनाम दिखावे या सौदे की वस्तु नहीं, रहस्य की वस्तु है। जग के माया जाल, मोह जाल का पर्याय से वर्णन किया गया है। ऐसी मृत्यु की प्रशंसा की है, जिससे फिर न मरना हो।

व्याख्या—हे कबीर ! राम पदार्थ को पाकर, इसकी गांठ न खोल । न यहां हाट या बाजार है, न कोई पारखी है, न कोई गाहक है और न इसका कुछ मूल्य ही है । (इसलिए इसे गुप्त ही रहने दे । किसी को दिखाने से कोई लाभ नहीं । इस वस्तु का कोई पारखी या गाहक नहीं है । यह अमूल्य है ।)

यह संसार काजर की कोठरी (एक ऐसी भूल-भुलैयां तिलिस्मी घर, जिसमें घुस कर निकलना नहीं हो सकता) है और इसमें अन्धे गिर पड़े हैं । मैं उनकी बलिहारी होऊँगा जो लाकर (परले पार) निकल पायेंगे । (संसार का मोह बन्धन अत्यन्त जटिल है । माया जाल का कोई अन्त नहीं है । और उसमें अज्ञानी (अन्धे) जीव जा फंसे हैं । जो यहां से बचकर पार निकल जाएगा अर्थात् जो सांसारिक माया जाल को काट सकेगा, कबीर उसकी बलिहारी होने को तैयार हैं । कबीर स्वयं ऐसी ही माया जाल से परे की फक्कड़ या अवधूत दशा में रहते थे—निःसंग । ऐसे ही संसार त्यागी महापुरुष की वे बलिहारी भी जाते हैं ।)

मरता मरता आज तक संसार मरता चला आया । किन्तु मरना किसी ने नहीं जान पाया, जिससे कि ऐसा मरना हो कि दुबारा फिर मरना ना हो । (मरना तो वह है, जो एक ही बार मरना है, जिसके पश्चात् मोक्ष हो जाय और जन्म मरण के बन्धन से छूट जाय । ऐसा मरना किसी काम का नहीं जो बार बार हो । संसार में ऐसा मरना किसी ने नहीं सीखा कि जिसके पश्चात् मोक्ष हो जाय ।)

कबीर प्रमुखतया कवि नहीं थे, किन्तु कवित्व उनके कथन में आ ही जाता है । इन तीन दोहों में भी उन्होंने जीवन के तीन नीरस तथ्यों का कथन किया है । किन्तु अलंकार-चमत्कार इनमें भी सम्यग् रूप से आ गया है । राम में पदारथ का आरोप करके आगे हार, गाहक, पारखी आदि का पूर्णाङ्ग आरोप किया गया है, जो सांग रूपक का सुन्दर उदाहरण है । ऐसा ही रूपक दूसरे पद्य में 'जग काजर की कोठरी' के रूप में भी चलता है । आगे भी विरोध से बात कही गई है । अमरता की प्राप्ति का उपाय किसी ने नहीं सीखा । इसी को विरोधाभास बना कर कहा गया है । अनुप्रास भी है ही ।

२. सूफीमत की उत्पत्ति और विकास पर टिप्पणी लिख कर यह प्रदर्शित कीजिये कि जायसी के 'पद्मावत' में उक्त मत को किन रूपों में ग्रहण किया गया है।

उत्तर—सूफीमत की उत्पत्ति इस्लाम धर्म की ही एक चिन्तन-परम्परा से मानी जाती है, यद्यपि उस के रूप-निर्माण में अन्य अनेक धार्मिक सिद्धान्तों से भी पूरी सहायता ली गई है। इस मत की पुष्टि के लिए कुरान शरीफ की कुछ आयतों की इसी प्रकार की व्याख्या की जाती है और इस प्रकार सूफी मत का कुरान के साथ वैसा सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, जैसे वेदान्त के अनेक वादों का वेद या श्रुतियों से होता है—श्रुतियों की व्याख्या प्रत्येक अपने मत के अनुसार करता है। सूफीमत वैसे केवल इस्लाम धर्म के तत्वों, जो कि कुरान में वर्णित हैं, को लेकर नहीं चलता। कुरान धर्म संयत प्रवृत्ति मार्ग है, हिंसात्मक है, एकेश्वर वादी है, देववाद का विरोधी है आदि, किन्तु सूफीमत निवृत्ति मार्ग पर आश्रित है, केवल सहज रति अथवा प्रेम के आधार पर चलता है अतः पूर्णतः अहिंसावादी है, उसके एकेश्वर में अनन्त सौन्दर्य और प्रेम की कल्पना हो जाने से वह एक देवता-विशेष बन जाता है, जिस से देववाद की गन्ध आने लगती है। इसी आधार पर अनेक कट्टर मुसलमान सूफियों को काफिर भी कहते हैं और इसे इसलाम-अन्तर्गत नहीं मानते।

सूफीमत वस्तुतः सुदीर्घ-कालीन—कुरान धर्म से भी प्राचीनतर—धर्म-चिन्तन की परम्पराओं से सर्वोत्तम तत्व लेकर विकसित हुआ। सूफीमत में सहज रति प्रधान आधार है। यह सहज रति आदम से लेकर चली आ रही है। शामी जातियों के काल में देवदासी प्रथा थी। बालक बालिकाएं मन्दिरों में चढा दिये जाते थे। यौवनावस्था में वे एक दूसरे के प्रेम में तडपते थे। इस तडप या विरह वेदना में संतप्त होकर उन का प्रेम या रति तीव्रता प्राप्त करती थी। शामी जातियों या नबियों में इस सहजरति का प्रबल विरोध था, क्योंकि सहजरति के कारण ही आदम स्वर्ग से नीचे गिरा था, हव्वा से प्रेम करके। दूसरे, मन्दिरों में देव दास दासियों में भ्रष्टाचार फैल रहा था। अतः इस सहजरति और विलास भावना पर प्रबल

नियन्त्रण कर दिया गया। फलस्वरूप इन मन्दिरों की सहज रति गुप्त या गुह्य रूप से चलने लगी। देवदास दासियां आदि गुह्य-प्रिय के गुह्य प्रेम की आग में चुपचाप जलने लगे। सूफियों की विरहपूर्ण गुह्य रूप (या रहस्य रूप) सहजरति का तत्व इन्हीं से मिला समझना चाहिए। इसी समय नबी लोग एक और क्रिया करते थे। मन्दिर में जाकर नबी मस्त होकर नाचता कूदता था। इस उछल कूद और मस्ती के लिए उसे किसी मादक द्रव्य का भी आश्रय लेना पड़ता था। वह उसी मादकता में खूब उछल कूद जब बेसुध हो जाता था, तो यह उस की अत्यन्त मस्ती या 'हाल' की दशा समझी जाती थी। उस दशा में वह जो कुछ भी बोलता था, उसे 'इलहाम' एक धार्मिक सन्देश मान कर ग्रहण किया जाता था

सूफी मत में मादन या मस्ती का भाव और 'हाल' की दशा नबियों की इन्हीं प्रथाओं से आये समझने चाहियें। मुख्यतया इन्हीं तत्वों का आधार लेकर सूफीमत उदित हुआ। सूफीमत की सहज रति अलौकिक परम पद को प्राप्त हो जाती है विरह में तप तप कर। उन का विरह समाप्त नहीं होता। किसी लौकिक प्रिय से अटक कर उन की यह अलौकिक प्रियतम के प्रति रति अपना विरह रूप नहीं छोड़ती, वह तो सदैव प्रिय के लिए व्याकुल रहती है। सूफियों का यह मादन भाव भी किसी नशा-विशेष-जन्य नहीं होता, अपितु शुद्ध प्रेमानुभूति-जन्य होता है। उन की 'हाल' दशा भी थकावट या नशे के कारण नहीं होती, अपितु अपने प्रिय का वास्तविक भाव-प्रत्यक्ष करके होती है और उन का वह इलहाम भी बे सिर पैर का, ऊत-पटांग नहीं होता अपितु शुद्ध अनुभूति का स्पष्टीकरण होता है। ये इस्लाम धर्म की ही चिन्तन-परम्पराएँ है, जिन्हें विभिन्न व्यक्तियों, जातियों और गों ने जन्म दिया। इस्लाम धर्म की अत्यन्त प्राचीनता मुहम्मद साहब ने भी स्वीकृत की है। मुहम्मद साहब से पहिले की इन इसलामी चिन्तन-परम्पराओं से ही उक्त तत्वों को लेकर सूफीमत की नींव पड़ी थी। कुरान प्रकट होने के पश्चात कुरान से भी सिद्धान्त उन्होंने लिए। कुरान का उन्होंने आदर किया। कुरान के विशिष्ट व्यक्तियों या विभूतियों की ओर उन्होंने श्रद्धा प्रकट की। उसके एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को भी उन्होंने

अपनाया। ईश्वर एक है, उसने गैब या शून्य से अपने ही जैसे गुणों का एक पुतला बनाया, जो आदम हुआ आदि सिद्धान्त मान्य हुए। मुहम्मद के समय में ही सूफीमत के मानने वाले साधकों की एक श्रेणी चल चुकी थी, जो अभी अपने प्रारंभिक रूप में थी, अतः विशेषविलत नाहीं हुई मुहम्मद के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद जब कि खलीफाओं के समय में अन्य देशों से भी विद्वान् धार्मिक आचार्य आने-जाने लगे तो सूफी धर्म का विशेष विकास और प्रचार हुआ। उस समय वह इसलाम धर्म से विशेष पृथक् जा पड़ा। उस समय उस पर अन्य देशों के, विशेषतः भारत के दर्शनों का विशेष प्रभाव पड़ा। सूफी धर्म में अनन्त सौन्दर्य और प्रेम के भण्डार ईश्वर से प्रेम होता है। ईश्वर अलक्ष्य है, परन्तु उस की झलक वे अन्य सृष्टि के पदार्थों में भी देखते हैं, वह उन्हें सर्वत्र दिखाई देता है। वह एक ऐसी दशा का भी अनुभव करते हैं, जहाँ प्रेमी और प्रिय दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता और वह अनलहक या सोहं बोल उठता है। इस सब की व्याख्या इस्लाम के अनुसार नहीं की जा सकती थी। क्योंकि पहिले तो इस्लाम के निराकार एकेश्वर में सहज रति ही सम्भव नहीं। दूसरे इस्लाम, ब्रम्ह, जीव और माया तीनों की पृथक सत्ता मानता है। प्रलयान्त पर बन्दों को पंक्ति में खड़ा हो कर पापों का दण्ड भोगना ही पडेगा। जीव और ब्रह्म में अन्तर अन्त तक रहता है। अतः सूफीमत की फिलासफी की समुचित व्याख्या इस्लामी सिद्धान्तों के आधार पर संभव नहीं थी। उन को इस की समुचित और तर्क-सम्मत व्याख्या भारतीय अद्वैतवाद में मिली, जिस में जीवो ब्रम्हैव नापरः (जीव ब्रम्ह ही है, दूसरा नहीं) और सर्वं खल्विदं ब्रम्ह (यह सब ब्रम्ह ही है) के सिद्धान्त मिले। तब सूफीमत ने इस्लामी एकेश्वर वाद की भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद के आधार पर अपने सिद्धान्त से व्याख्या की। ईश्वर की सत्ता का सार प्रेम है। अपने इसी प्रेम को बाह्य रूप में देखने के लिए उस ने अपना प्रतिबिम्ब रूप आदम बनाया और यों सृष्टि चल पड़ी। जीव या प्रेमी साधक प्रेम द्वारा ईश्वर में लीन होकर अनलहक कह उठता है। किन्तु दोनों में एकलयता शराब और पानी की सी है—दोनों में विशेषता रहती है। वेदान्त में जीव की मोक्ष दशा में

ईश्वरत्व प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं रहता। अतएव अन्य सूफियों ने अपने मत की व्याख्या दूसरे ढंग से की जो वेदान्त के अद्वैतवाद के अधिक निकट है। वे कहते हैं ईश्वर और जीव एक ही ब्रह्म के अंश हैं। एक अन्य सूफी वर्ग मानता है कि पारमार्थिक सत्ता एक ही है। अनेकता उसी के एक रूप का आभास है। इस प्रकार सूफी सिद्धान्त आहिस्ता-आहिस्ता विकास करता हुआ अन्त में जीवो ब्रम्हैव नापरः और सर्वं खल्विदं ब्रम्ह के अद्वैत-सिद्धान्तों का आश्रय लेकर खड़ा हो गया। उस समय सर्वत्र फैले बौद्धमत का भी सूफी धर्म पर कम प्रभाव नहीं पड़ा अहिंसा के रूप में।

मध्य एशिया से लेकर योरुप तक में प्रचरित होकर सूफी मत मुसलमान आक्रान्ताओं के साथ-साथ भारत में भी आ बसा। मुसलमान बादशाहों के साथ अनेक सूफी महात्मा फकीर लोग भी प्रथम सिन्ध में आ बसे थे और फिर आगे-आगे सारे में फैलने लगे। सूफी महात्मा उदार थे, अतः यहाँ की धर्म चिन्तन की पद्धतियों से उन्होंने बहुत कुछ सीखा और ग्रहण किया। अनेक हिन्दु लोग भी इस मत की ओर आकृष्ट हुए। क्योंकि इस में कट्टरता नहीं थी, न जातिगत ऊँच नीच का भेद-भाव ही, शुद्ध पवित्र अहिंसक आचरण द्वारा प्रेम साधना करने का प्रश्न था, किसी से ईर्षा नहीं, विरोध नहीं था। हिन्दु मुसलमान दो संघर्षकारिणी जातियों की पारस्परिक भेद-भावना को भी मिटाता था। मुसलमानों में अनेक पहुँचे हुए सूफी फकीर महात्मा, औलिया हुए, जिन्हें हिन्दु मुसलमान दोनों समान श्रद्धा से पूजते थे। मुसलमान सूफियों में कई उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे, जिन्होंने काव्य लिख कर अपने रहस्य प्रेममय इस नवीन प्रेमोपासना-मार्ग का वर्णन किया। भारतीय भक्ति में भी यद्यपि प्रेम या रति होती है, पर वह देवादि-विषयक और अतएव श्रद्धा-मूलक होती है। सूफियों की यह सहज रति एकान्त मधुर थी। सूफियों की यह लौकिक रति ही विरह में तपकर अन्त में परम या अलौकिक रति का पद पाती थी। इस प्रकार से भारतीय क्षेत्र में यह प्रेम मार्ग नवीन ही था। सूफी कवियों में से जिन के लिखे हिन्दी-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, प्रमुख नाम कुतबन, मंझन, जायसी आदि हैं। इन में जायसी सर्व-प्रमुख एवं महाकवि हैं। इन्होंने अपने पद्मावत महाकाव्य में

सूफी मत का सिद्धान्त चित्रित किया है।

जायसी ने पद्मावत में ऊपर उक्त सूफी मत का, एक लौकिक प्रेम कथानक का रूपक बांधकर, अभिव्यंजन किया है। पद्मावत एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें दो देशों के राजकुमार और राजकुमारी के अद्भुत प्रेम-प्रसङ्ग का वर्णन है। वह प्रेम प्रसङ्ग अनेक अंशों में ऐतिहासिक होते हुए भी प्रकल्पित है। किन्तु इस लौकिक प्रेम प्रसंग को ही जायसी ने ऐसा रूपक बना दिया है कि जिसमें पूर्ण अलौकिक प्रेम प्रसङ्ग का अभिव्यंजन भी होता है, सूफी सिद्धान्तों के अनुसार। बीच-बीच के संकेतों और विशिष्ट शैली के कारण वह आध्यात्मिक प्रेम-प्रसग स्पष्ट होता चलता है। उस रूपक का वर्णन स्वयं भी कवि ने कर दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नाग मती यह दुनिया धन्धा। बाचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥

यह उनके रूपक का संक्षिप्त विवरण है। इसी के आधार पर पद्मावत का सारा रूपक आधारित है। एक सूफी प्रेमी साधक की कैसी साधना आराधना होनी चाहिये, अपने लक्ष्य स्थान—प्रियतम— तक पहुंचने के लिए उसे क्या कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं और अन्त में किस प्रकार वह अपने प्रियतम में लीन होता है, यह पूर्ण प्रसंग पद्मावती की कथा से अभिव्यंजित होता है। कविवर जायसी ने सूफी मसनवियों की पद्धति में पद्मावत का कथानक ऐकान्तिक प्रेम पूर्ण रखा है। काव्य में जितने भी व्यापार होते हैं, उनकी प्रेरक शक्ति केवल प्रेम है। राजा रत्नसेन में एक प्रेम योगी साधक के पूरे गुण अभिव्यजित होते हैं। शुक के मुख से पद्मावती के रूप गुण की महिम सुनते ही वह विरह में घिर जाता है। यह अलौकिक प्रेम की ही विलक्षणता है। कवि को रत्नसेन के विरह के साथ प्रकृति भी उस अलक्ष्य प्रियतम के विरह में ग्रस्त प्रतीत होती है—

उनबानन्ह अस को जो न मरा। बेधि रहा सगरो संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहिके हने॥

प्रकृति उन्हे प्रेम मे अनुरक्त दीखती है–

सूरज बूडि उठा होई ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥

भा बसन्त राती बनसपती। औ राते सब जोगि जती॥

राजा अन्त मे अनेक बाधाओ को पार करता सिंहल द्वीप पहुचता है। पद्मिनी के हृदय मे भी बिना देखे ही इस अलौकिक प्रेम की पीर उठ खडी होती है। दोनो का मिलन होता है। मूर्छित हो जाते हैं। यह सब अलौकिकता का ही अभिव्यंजन है। यहां जायसी ने मसनवियो की पद्धति का परित्याग करके, रति को उभयनिष्ठ दिखाकर, भारतीय प्रेम पद्धति का भी स्वीकार कर लिया है। पद्मिनी भी वैसे ही विरह-ग्रस्त होती है। कवि अवसर देखकर सदैव अलौकिकता का अभिव्यंजन करने लगता है। जायसी अपने सूफी महात्मा के दृष्टिकोण मे लौकिक वर्णन में अलौकिक झलक देखने लगता है। पद्मावती के शृङ्गार वर्णन मे, रूप वर्णन में सर्वत्रैव कवि की दृष्टि झट लौकिकता मे अलौकिकता पर पहुच जाती है। मानसरोदक की जल क्रीडा मे ही कवि पद्मिनी के वर्णन में अलौकिक प्रिय का सौन्दर्य देखने लगता है। उसके रहस्यमय प्रियतम की सत्ता का दर्शन उसे सर्वत्रैव होता रहता है। इसी प्रश्नपत्र के प्रथम प्रश्न मे आई पंक्तियां ....पाता सखिन्ह चन्द बिहँसाना।" आदि कवि की इस रहस्योन्मुख दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह भी सूफी सिद्धान्त के अनुसार है साधना होने पर सर्वत्रैव उसी के दर्शन होने लगते हैं। ऐसा जायसी के पद्मावत मे स्थान-स्थान पर होता है। अन्त मे प्रियतम की प्राप्ति पर लय होता है, जो चरम दशा है। इन सूफी सिद्धान्तों का आधार रखते हुए जायसी उसमें भारतीयता भी लाए हैं। प्रेम मार्ग में हठ योग के साधनों का भी उन्होंने ग्रहण किया है। इस साधनात्मक भारतीय रहस्य वाद और भावात्मक सूफी रहस्यवाद का समन्वय सा एक प्रकार से कर दिया। रूपक को भी भारतीय मन, बुद्धि, हृदय आदि के नामों से बांधा है, किन्तु शैतान को भी लाने की चेष्टा की है। भारतीय अद्वैतवाद का विशेष प्रभाव पडा है जायसी के सूफी सिद्धान्तों पर। जायसी ने पद्मावत में जिस रहस्य भावना को ओत प्रोत किया है, जिस दृष्टि से जगत में प्रियतम के दर्शन

किए हैं, इस का आधार मुख्यतः वेदान्त का अद्वैतवाद है। अन्य बातों में मूलतः सूफी सिद्धान्त ही उनके आधार रहे हैं।

जायसी ने इन्हीं रूपों में सूफी मत के सिद्धान्तों को पद्मावत में ग्रहण किया है और आचार्य श्री शुक्ल जी के कथनानुसार हिन्दी साहित्य के रहस्य-वादी काव्यों में पद्मावत का स्थान अपना अनूठा है, उसकी समता नहीं हो सकती।

(सूफी मत की और सूफी शब्द की उत्पत्ति के विषय में देखिए हिन्दी साहित्यरत्न प्रश्न पत्र १ प्रश्न ९ का विकल्प सं० २००४)

अथवा

कबीर का काव्य तत्कालीन संस्कृतियों और विचार-धाराओं के समन्वय का पूर्ण प्रयत्न करता है, अतएव वह अपने युग का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। इस तथ्य का विवेचन करते हुए अपना स्पष्ट मत लिखिए।

मे, भक्ति धर्म के प्रति आस्था हिल चुकी थी। उसमें बाह्य उपकरणों की रूढ़ियां व्यर्थ में इतना घर कर गई थीं कि भक्ति का शुद्ध रूप विकृत हो गया था। मुसलमान आकर जम चुके थे और बलात् धर्म प्रचार करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। हिन्दुओं के कुंचित आचार विचारों के कारण आये दिन संघर्ष होते थे। हिन्दू धर्म में ऊँच-नीच, छुआ-छूत के विचार विशेष घर कर चुके थे। मुसलमानों के सम्पर्क से बचते थे। किन्तु वे सामने राजा बन कर रह चुके थे। वे विजयी थे। अतः प्रश्न यह था कि रहा कैसे जाय पास-पास। जरा-जरा-सी बात में जाति-च्युत होकर हिन्दु अहिन्दु बन रहे थे। ऐसे ही समय में स्वामी रामानुज रामानन्द प्रभृति महात्मागण हिन्दु धर्म की रचा के लिए कटिबद्ध होकर निकले थे।

कबीर में आत्मजिज्ञासा प्रारम्भ मे ही अत्यन्त तीव्र थी, यह उनके धर्मान्वेषण से पता लगता है। अनेक ठोकरें खाकर, भूल भटक कर उन्हें अन्त में रामानन्द से दीक्षा में राम नाम मिलता है। इसी को आधार रखकर कबीर की ज्ञानपिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती रही और अन्त में शान्त हुई, जब उन्हें रहस्य ज्ञान हो गया। कबीर ने सभी मतमतान्तरों वालों का सत्सग-लाभ करके उनके सिद्धान्त अवगत किए थे। उन सबका सार जानकर ही उन्होंने अपने पथ का निर्माण किया था। अपने काल में प्रचलित प्राय. सभी धार्मिक परम्पराओं को उन्होंने नापा तोला है। नाप तोलकर अपने मतलब की चीज रखकर बाकी को फेंक दिया है। उन्होंने दर्शन पक्ष में वेदान्त के अद्वैतवाद का आश्रय लिया था। जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं मानते थे और प्रकृति या माया कुछ नहीं थी उनके मत मे। किन्तु अद्वैतवादियों के विपरीत वे उसी ब्रह्म या निराकार राम की उपासना करते थे। उससे प्रेम करते थे। शुद्ध प्रेम का आधार बनने के लिए ब्रह्म को एकांश में सगुण भी बनना पड़ता है। अन्यथा प्रेमी भक्त के राग का आधार क्या ? यह प्रेमतत्व कबीर को सूफीमत मे मिला। सूफीमत प्रेम की ही भावना करते करते इस प्रेम योग या प्रेमोपासना की अन्तिम सीढ़ी प्रियतम-दर्शन को पहुंच जाता है। कबीर ने भी इसी उपासना-पद्धति को अपनाया। यह रहस्यात्मक प्रेम योग, भाव योग अथवा भावात्मक रहस्य-

वाद कबीर ने सूफियों से लिया। व्यक्तिगत रूप में ईश्वरीय प्रेम की भावना करते-करते प्रिय-दर्शन करने का यह मार्ग कबीर को अभीष्ट बना। किन्तु उपासना-पद्धति का ग्रहण कर लेने पर भी मूल सिद्धान्त कबीर का अद्वैतवादी ही रहा, स्थूल एकेश्वर वाद या अल्लावाद उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। ब्रह्म को निराकार मानते हुए भी प्रेमोपासना के लिए उसमें आंशिक रूप से गुण की कल्पना उन्होंने कर ली। सूफीमत के एक अन्य सिद्धान्त को बदल कर उसे भारतीय भक्ति-मार्ग का रूप दिया। सूफीमत में ईश्वर की प्रियतम के रूप में भावना होती है। साधक प्रेमी रूप में उसके लिए तड़पता है। भारतीय दृष्टिकोण से ईश्वर में प्रिया या पत्नी की भावना रखना अनुचित है। कबीर ने इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए ईश्वर की पतिरूप में ही भावना की है। इस भावात्मक रहस्यवाद या रहस्यमय प्रिय-सम्बन्धी भाव-योग के साथ साथ कबीर ने योग मार्गियों को भी नहीं छोड़ा। उनके योग मार्ग के चित्त शुद्धि के साधनों—यम, नियम, प्राणायाम, आसन, समाधि आदि—की भी उन्होंने प्रियतम के साक्षात्कार में सहायता मान ली है। इस प्रकार उन्होंने अपनी मौलिक विशेषता के साथ योग मार्ग और सूफीमत दोनों से साधनात्मक और भावात्मक दो प्रकार के रहस्यवाद लिए। मूल आधार शांकर अद्वैत ही रखा। वैष्णवों से श्रद्धान्विता रति नहीं ली, सूफियों से शुद्ध सहज रति ली। न वैष्णवों का अवतारवाद ही लिया, किन्तु उनकी अहिंसा वृत्ति ली। कबीर मत में अहिंसा को भी स्थान मिला। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, तितीक्षा आदि तो प्रत्येक धर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। इस्लाम में अहिंसा नहीं। कबीर ने इन सभी मतों से आवश्यक तत्व लेकर अपना पंथ बनाया था। उसमें पैगम्बरी एकेश्वरवाद की भी झलक है, सूफीमत की भी है, योग मार्ग की भी है, वैष्णवों की भी और अद्वैतवादी ज्ञानियों की भी। और कबीर पंथ इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र मार्ग है।

किन्तु यह समन्वय नहीं। समन्वय तो वह है, जहाँ अनेक विरोधी दिखने वाली वस्तुओं कि समान मूल आधारभूत तत्व को दिखा सब के प्रति समान आदर बुद्धि उत्पन्न की जाय। उसमें किसी का खण्डन व मण्डन नहीं होता। और कबीर समन्वयवादी हैं ही नहीं, समझौता

वे नहीं करते। वे तो झाड़-पछोड़-वादी हैं। प्रत्येक मार्ग के तत्वों को उन्होंने झाड़ा है, पछोड़ा है और फटकारा है। अपने मतलब का कुछ मिला है तो ले लिया है, नहीं तो सब छोड़ दिया है। सब सिद्धान्तों के प्रति उन्होंने ऐसा ही व्यवहार किया है। वे पारंगत ज्ञानी सन्त थे। धर्म के मर्म को समझते थे। जानते थे कि मूलतः सभी धर्मों का सिद्धान्त एक है। विभेद सारा बाह्य आचरण अथवा आचार और आडम्बर के कारण है। हिन्दू और पैगम्बरी दोनों धर्म अनन्त कर्म के आडम्बरों और कृत्रिम आचारों में फंसे हैं। तभी दोनों में क्लेश रहता है। कबीर को दोनों का समन्वय या एकत्व असंभव दिखाई दिया। उनकी एकता अगर संभव थी तो कबीर द्वारा निर्धारित मार्ग में आने पर ही। उसमें बाह्य आचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्राणी मात्र समान है। हिन्दू मुसलमान दोनों उसमें निर्विशेष आ सकते हैं। इसीलिए कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के कर्म काण्डों पर प्रबल प्रहार किया। एक ओर हिन्दुओं को उन्होंने लताड़ा—

मूंड मुंडाये हरि मिलें सब कोउ लेय मुडाय।
बार बार के मूंडते भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥

दूसरी ओर मुसलमान से कहते हैं—

दिन भर रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुशी खुदाय ?

इस प्रकार सभी को लताड़ते हुए वे अपना मार्ग दिखाते हैं। उन्होंने बड़ी निर्भयता और आत्म-विश्वास-पूर्वक झाड़ झंकारों को साफ करके अपने स्वतंत्र मार्ग का निर्माण किया है। वह वस्तुतः मानव धर्म है, जिसके आधार पर चलकर ही उस समय शान्ति हो सकती थी। यह समन्वय नहीं है। यह तो दोनों धर्मों और संस्कृतियों के मार्गों को गलत सिद्ध करके तीसरा सही मार्ग दिखाना है।

अपने युग का प्रतिनिधि कबीर-काव्य वस्तुतः है। कबीर की वाणी अपने युग की चेतनादायी वाणी है। हिन्दु रूढ़िवाद का ऐसा निर्भीक विरोध और कोई न कर सका। मुसलमानी शासन में मुसलमानी कट्टरता और आडम्बरता का भी इतना निर्भीक खण्डन और कौन कर सकता था ?

जनता की सोई हुई दबी हुई आत्म-चेतना की आवाज कबीर के मुख से ही निकली। उसने निर्भीक दबंग रूप में सामने आकर जनता को मार्ग दिखाया। कबीर वस्तुतः अपने युग का उग्र प्रगति-वादी विचारों का प्रचारक है। उस युग में ये विचार क्रान्तिकारी ही मानने चाहियें। साधारण जनता पर जिन महात्मा कवियों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है, उनमें तुलसी के पश्चात कबीर का ही नम्बर है। उस धार्मिक अव्यवस्था, कोलाहल में एक मात्र कबीर की ही वाणी प्रश्न का सही हल बता रही थी। कबीर ने दैनिक जीवन की यातनाओं, समस्याओं, अनाचारों, अत्याचारों आदि का काव्य-बद्ध वर्णन किया था। धर्म समाज, राजनीति आदि में वर्तमान अन्याय अत्याचार का विरोध कबीर की वाणी करती है। तात्कालिक धर्म समाज देश आदि की दशाओं का प्रतिबिम्ब कबीर-साहित्य में पूर्णत झलकता है। कबीर ने सभी समस्याओं पर चोट की है, जो मानव जीवन को अभिशापमय और अन्धकार पूर्ण बनाये हुए थीं। जाने या अनजाने में कबीर ने एक ऐसा धर्म-सिद्धान्त उपस्थित कर दिया था जो न केवल उसके ही युग के लिए शान्ति का उपयुक्त मार्ग था, प्रत्युत जो आज के काल में भी उपयुक्त है। तभी भारत में इतने धर्मों के मध्य में शान्ति रह सकती है। कबीर के काव्य ने इस प्रकार अपने युग का प्रतिनिधित्व तो किया ही है, साथ ही अपने युग का नेतृत्व भी किया है। अत. वह अपने युग का वास्तविक चेतनादायी प्रतिनिधि साहित्य प्रणेता सिद्ध होता है।

३. काव्य दृष्टि से सूर और तुलसी की विशेषताएँ दिखाइये। कवि-रूप मे दोनों का हिन्दी साहित्य मे स्थान निर्देश कीजिए।

उत्तर—सूर और तुलसी हिन्दी साहित्य की दो अमर विभूतियों के नाम हैं, जो अपनेअपने काल के साहित्यिक युग की जन्मदात्रियां थीं। राम और कृष्ण की भक्ति वस्तुतः इन दो महाविभूतियों को पाकर कृतकृत्य हो गई। ये दोनों विभूतियां जिस काल में विद्यमान थीं, वह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। कारण, उस समय जिस सत्य शिव सुन्दर साहित्य का सर्जन इन दो महाकवियो द्वारा हुआ वह फिर कभी नहीं हुआ अन्त के कालों में।

सूर और तुलसी दोनों काव्यत्व के नाते महा कवि थे, इस मे सन्देह नही। दोनों का साहित्य इस बात का प्रबल साक्षी है। दोनों में अपरिमेय काव्य-शक्ति थी। किन्तु दोनों का ही कविता करना प्रधान लक्ष्य नहीं था। केवल कविता के लिए कविता उन्होने नहीं की। उनका उद्देश्य अपने-अपने इष्ट देव की भक्ति था। वे पहिले भक्त थे, पीछे कवि या महा कवि। भक्ति की व्याख्या, भक्ति की उपासना, भक्ति के ही प्रचार के लिए उन्होंने काव्य का माध्यम पकड़ा था। उन के काव्य-लेखन की एक मात्र प्रेरक शक्ति भक्ति थी। सूर ने कृष्ण-प्रेम का आश्रय लिया था और तुलसी ने राम-प्रेम का। दोनों ने काव्य का माध्यम स्वीकृत करके अपने इष्ट देव की भक्ति के आख्यान, नर्वचन, कीर्तन, भजन, आदि किये। इस में उन का अपना उद्धार भी सम्मिलित था और अन्यों का भी, जो उनकी कृतियो से लाभ उठाना चाहें। इसलिए कविता इन महात्मा भक्तों का प्रधान लक्ष्य या साध्य नहीं थी, एक प्रबल साधन थी। किन्तु उस साधन के—काव्य के—तत्वों से ये दोन । पूरे परिचित थे और उन के उपयोग में पूरे कुशल थे। काव्य शास्त्र के तुलसी पण्डित थे, यह तो उन की जीवनी से और उन के साहित्य से सिद्ध हो जाता है। उन्होंने नियम से बनारस मे एक शेष सनातन नामक महात्मा से शास्त्रों की समुन्नत शिक्षा पाई थी। सूर के विषय में भी यद्यपि ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने भी किसी से ऐसी उच्च शास्त्र शिक्षा पाई हो, तथापि उनके साहित्य से सिद्ध हो जाता है कि वे काव्य शास्त्र के पण्डित थे। काव्य की वस्तुओं, रस, रीति, अलंकार आदि के प्रयोग में जैसे तुलसी परम कुशल हैं, वैसे ही सूर भी। साहित्य लहरी में सूर के काव्य ज्ञान का प्रमाण है। सूर सागर में भी जहाँ काव्य के भाव पक्ष का चरम विकास है, वहाँ उसका कलापक्ष भी न्यून नहीं रहा है। सूर रस, भाव, व्यञ्जन, लक्षणा, गुण, रीति, अलंकार आदि काव्यांगों के कुशल प्रयोक्ता हैं। तुलसी ने काव्य सरणि के नियम का विधिवत् पालन किया है और काव्य के प्रत्येक उपादान का सफल और स्तुत्य उपयोग किया है। इस दृष्टि से काव्य कला के क्षेत्र में दोनों समान कुशल हैं। किन्तु दोनों के महान् व्यक्तित्व के भेद से, दोनों के भिन्न मार्गों के भेद से, दोनों के दृष्टि-

कोणों के भेद से, उनकी काव्य शैली, काव्य के विषय और क्षेत्र भिन्न हुए, अतएव दोनों में विशेषताएं भी भिन्न हुईं।

काव्यकला में प्रवीण होने पर भी एक का काव्य के एक क्षेत्र में विकास हुआ, दूसरे का दूसरे में। तुलसी राम भक्त थे। राम भक्ति में व्यक्तिगत मोक्ष के साथ-साथ लोक-रक्षण या लोक-संग्रह का भी भाव रहता है। वह बाह्य आचरण पर, मर्यादा पर भी विशेष बल देती है। राम के चरित्र में विभिन्न मर्यादाओं के ही आदर्श हैं, जिन के श्रवण से लोक-मंगल निश्चित है। तुलसी ने, अतएव, प्रबन्ध रूप में राम चरित का वर्णन किया। उनका राम चरित-मानस हिन्दी साहित्य का अमर प्रबन्ध काव्य है। उस में राम के समस्त जीवन का चित्रण है। सूर कृष्ण भक्त थे और उपासना के क्षेत्र में चैतन्य महाप्रभु का अनुसरण करते हुए कृष्ण के युवा रूप को सख्य भाव से भजते थे और श्री वल्लभाचार्य का अनुसरण करते हुए बाल कृष्ण रूप को दास भाव से भजते थे। दोनों ही रूपों से उन का एकान्त मधुर सहज रति का सम्बन्ध था। पुष्टिमार्ग में प्रेम-लक्षणा ही भक्ति है। इस मार्ग में लोक से मुंह मोड़ कर एकान्त आत्म-साधना का ही लक्ष्य है। आत्म-मोक्ष के लिए भगवान् के मधुर रूपों का मधुर भाव से भजन करना ही भक्त का कर्तव्य है। इस कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में कृष्ण के दो रूपों की ही उपासना अधिकतया प्रचलित हुई—बाल और युवा रूपों की। जब वल्लभाचार्य ने सूर को भागवत का गीतानुवाद करने की आज्ञा दी, तो सूर ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण के समस्त चरित्र को विशेष महत्त्व न दे कर उसके बाल और युवा रूपों को ही विशेष महत्त्व दिया। इन्हीं दो रूपों की लीलाओं का सूर ने स्वतन्त्र मुक्तक गीतों में अनुवाद किया। वे गीत गाने के लिए लिखे गये हैं। कृष्ण चरित्र प्रबन्ध रूप में नहीं है, मुक्तक रूप में है। इस प्रकार काव्य क्षेत्र में तुलसी प्रबन्ध क्षेत्र में अनुपम हैं और सूर मुक्तक क्षेत्र में। सूर सागर में भी यद्यपि कथाभाग चलता है, पर वह टूटता हुआ, विशृङ्खलित रूप में, सूचित होता चलता है। विभिन्न गीतों का पारस्परिक कथा-सम्बन्ध बिठाया जा सकता है, पर वह प्रबन्ध काव्य के कथा-निर्वाह के ढंग का नहीं। अतः सूर मुक्तक क्षेत्र के ही कवि माने गये हैं।

इसके अतिरिक्त तुलसी ने छन्दों का विस्तृत प्रयोग किया है। छन्दो-ज्ञान तुलसी का पूरा था। किन्तु सूर ने अधिकांश में छन्दों का सहारा न लेकर राग रागनियों में यांध कर अपने गीत लिखे हैं। यद्यपि उन गीतों में रोला, उल्लाला, छप्पय, चौपाई आदि निहित मिल जायेंगे, पर प्रधानतया सूर ने गीत-रचना रागरागनियों में ही की है और, एक इसी गीत पद्धति का ही आश्रय लेकर इसे विकास की चरम कोटि तक पहुँचा दिया है। आज भी सूर के गीत धर्मी विधर्मी गायक निर्विशेष गाते हैं और रस लेकर झूमते हैं। इसके विपरीत तुलसी ने अपने काल में प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों में रचनाएं की हैं। दोहा चौपाई, कवित्त सवैया छप्पय गीत आदि सभी पद्धतियों में सफलता-पूर्वक रचना की है।

सूर का क्षेत्र सीमित है, उसने कृष्ण के मधुर रूपों के वर्णन तक अपनी सीमा रखी और इस प्रकार कृष्ण-जीवन के वात्सल्य और शृंगार दो ही रसों को सारा महत्त्व दिया। किन्तु इस क्षेत्र में वे अपनी उपमा नहीं रखते। तुलसी ने प्रबन्ध काव्य के निर्वाह में राम के समस्त चरित्र का चित्रण किया है, जिस में समस्त रसों का पूर्ण परिपाक है। अतः तुलसी ने मानस में समस्त रसों का सिद्ध वर्णन किया है। सूर के समान यद्यपि तुलसी को भी रस-सिद्ध कवि का पद प्राप्त है, तथापि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में तुलसी सूर को नहीं पहुँचते। इस प्रकार तुलसी का यदि काव्यक्षेत्र विस्तृत है तो सूर का क्षेत्र अपना है, वह अपनी उपमा नहीं रखता।

तुलसी कई भाषाओं के पण्डित थे—उन्होंने अवधी और व्रज भाषा दोनों में उत्कृष्ट काव्य-रचना की है। किन्तु सूर ने केवल ब्रजभाषा में ही लिखा। किन्तु अपनी अपनी भाषाओं पर दोनों का पूर्ण स्वत्व था। भाषा ने उन के भावों के अनुकूल वेश-परिवर्तन किया है। नवीन प्रसंगोद्भावना सूर में अधिक है। भागवत से स्वतन्त्र अनेक कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों की उद्भावना करके उन्होंने चित्रण किया है। पर तुलसी प्रचलित प्रसंगों को ही लेकर अधिकतया चलने वाले हैं। नवीन प्रसंगोद्भावना अपेक्षाकृत उन्होंने बहुत कम की है।

सूर में भाव प्रधान है। चरित्र-चित्रण उन्होंने नहीं किया है। सूर सागर

और राधा के प्रणय-प्रसंगों को लेकर इन्होंने अपने अत्यन्त मधुर गीतों में उनके रसमय चित्र उतारे हैं। इनका रस प्रधानतया शृङ्गार है। इनके गीतों में शृङ्गार रस का प्रवाह बहता है। 'गीत और गीत' इनके गीतों की अन्य विशेषता है। विद्यापति ने राधा औ कृष्ण के अगाध सौन्दर्य का अनुपम चित्रण किया है और विविध अवस्थाओं और दशाओं में उनके विविध भाव-भंगिमा-विभूषित सुन्दर चित्र उतारे हैं। इसी शृङ्गार या प्रेम की अत्यन्त कोमल और मधुर भावनाओं के सुमधुर चित्र खड़े कर दिये गये हैं। प्रेम और सौन्दर्य विद्यापति के प्राण थे, उन्होंने इन्हीं का पान किया था और इन्ही का निर्माण भी किया। संगीत और माधुर्य का उनके काव्य में सदैव सहयोग रहता है। वे संगीत के आचार्य थे। पदलालित्य विद्यापति की विशेषता है। भाव औ शब्द की सुन्दरता, कोमलता, सरसता और मधुरता के लिए विद्यापति की उपमा में केवल जयदेव ही आ सकते हैं, अन्य कोई नहीं। काव्य-कला की दृष्टि से भी विद्यापति के गीत या पद अपना अद्भुत चमत्कार रखते हैं। रस, भाव, लक्षणा, व्यंजना, गुण रीति अलंकार आदि के प्रयोग में विद्यापति के पद पूर्ण हैं। इन सभी कलाओं के संसर्ग से विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम की ऐसी अनुपम रचना कर गये हैं कि जिसकी मधुरिमा सिर चढ़ कर बोलती है। चैतन्य महाप्रभु, कहते , इन पदों को सुनते ही भाव-विमुग्ध हो जाते थे। शृङ्गार की सहायक प्रकृति के भी विद्यापति ने बड़े विशद और आलंकारिक चित्र उतारे हैं, जो अत्यन्त मधुर हैं—

माधव, की कहय सुन्दरि रूपे।
केतक जतन विहि आनि समारल
देखल नयन सरूपे।
पल्लव राज चरन जुग सोभित
गति गजराज क माने।
कनक कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने। आदि

अन्य-वर्णन देखिये

वह मयलानिल ओत उचित हे नव घन भओ उजियारा।

माधवि फूल भेल मुकतातुल ते दल चन्दन धारा।
पीअरि पाडरि महुअरि गावए का-हर-कार धतूरा। आदि

मीरा ने भी कृष्ण-प्रेम-विषयक पद या गीत लिखे हैं। गीत-रचना की उसकी भी पद्धति वही है—आरम्भ में एक सम या टेक रखकर उसी के नीचे अन्य लाइनें जोड देना। बन्धान उसने भी विद्यापति के समान ही राग-रागनियों का रखा है। उसके पद भी राग-रागनियों में गाये जाने योग्य हैं और गाये जाते हैं। मीरा के भी पद विद्यापति के समान ही मधुर हैं। सर्व साधारण उन्हें सुनकर विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। किन्तु मीरा और विद्यापति के पदों में विशेषता है।

मीरा विद्यापति के समान काव्य शास्त्र की पण्डिता नहीं थी। अतः विद्यापति के समान काव्य चमत्कार वह नहीं ला सकी। काव्य चमत्कार जो कुछ आया भी है, वह स्वयं ही बिना बुलाये।

भाषा पर भी उसका उतना अधिकार नहीं जितना विद्यापति का था। मीरा की भाषा मिश्रित है। कोई पद राजस्थानी में है, कोई गुजराती, कोई पंजाबी और कोई ब्रज भाषा में है। किसी-किसी अकेले पद में अनेक भाषाओं का मेल हो गया है। अत: उसके गीतों में उतना पद-लालित्य नहीं है, जितना विद्यापति के में।

मीरा के गीतों का भी विषय यद्यपि शृङ्गार या प्रेम ही है, तथापि विद्यापति ने शृङ्गार के संभोग रूप के प्रति अधिक रुचि दिखाई है और मीरा प्रधानतया विरहिणी रही।

मीरा के गीतों की अन्य विशेषता भी है, जिसमें उसे अन्य कोई कवि नहीं पहुँच सकता। मीरा से पहिले गीतों में अधिकतया भगवान् के रूप का चित्रण, भक्तों की विनती, प्रर्थना, स्तुति, लोक निन्दा, ज्ञान वैराग्य और भक्ति आदि का ही वर्णन होता था। मीरा ने भी गीतों में भगवान् का रूप चित्रण, विनय, लोक व्यवहार की असारता, ज्ञान वैराग्य और भक्ति के विषय भी यत्रतत्र रखे हैं। किन्तु प्रधानतया गीतों को उसने अपनी मानसिक भावनाओं के प्रकाशन का ही द्वार बनाया है। अपने गीतों में उसने कृष्ण-प्रेम में डूबकर अपने ही मन की स्त्री-सुलभ कोमल और

मार्मिक भावनाओं के मधुर चित्र उतारे हैं। आज का गीति काव्य भी व्यक्तिगत अनुभूति का ही चित्रण करता है। मीरा ने अपने गीतों में अपनी सही व्यक्तिगत प्रेमानुभूतियों के मधुर चित्र उतारे हैं। उसके भाव स्त्री सुलभ सरल, गहरे, मनोरम और कोमल हैं और उसी सरलता, स्वाभाविकता और सीधे ढङ्ग से, बिना किसी बनावट के, प्रकट किए गए हैं। अतएव मीरा के पद सीधे हृदय पर चोट करने वाले हैं। मीरा के गीतों की इन्हीं विशेषताओं के कारण वे एकान्त मधुर हैं, उनकी भाव मधुरिमा में काव्य के अङ्ग उपाङ्ग सब डूब जाते हैं। मीरा के स्त्री हृदय की समस्त रति, कोमलता, विकलता और विरह की टीस उसके पदों में उबली पड़ती है, जो सुनते ही श्रोता के मन को भी अभिव्याप्त कर लेती हैं, अतएव सूर कबीर और तुलसी के गीतों के समान ही मीरा के गीत भी आज तक सबके हृदय के हार बने हुए हैं। देखिये—

हेलि ! मो सों हरि बिन रह्योह न जाय
सासू लड़ौ री सजनी ! नणद खिजौ री,
पीव किन रहौं री रिसाय ।
चौकी भी मेलौ सजनी पहरा भी मेलौ ।
ताला क्यूं न जड़ाय ।

पूरब जनम की प्रीत हमारी सो क्यूं रहैरी लुकाय ।
मीरां के तो सजनी राम सनेही और न आवै म्हारी दाय ।

और भी—

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी ।
जब-जब सुरत लगे वा घर की पलपल नैनन पानी ।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत कसक कसक कसकानी ।
रात दिवस मोंहि नींद न आवत भावै अन्न न पानी ।
ऐसी पीर विरह तन भीतर जागत रैन बिहानी ।
ऐसो बैद मिलै कोई भेदी देस विदेस पिछानी ।
तासों पीर कहूँ तन केरी फिर नहीं भरमौं खानी । आदि ।

विद्यापति और मीरा के गीति काव्य की संक्षेप में ये ही विशेषताएं हैं। दोनों की शैली भिन्न और अपनी है। एक दूसरे की समता नहीं कर सकती। दोनों के काव्य उत्तम कोटि के गीति काव्य हैं, जिन का हिन्दी साहित्य में अपना अपना स्थायी विशेष स्थान है। (और देखिये सा० र० प्रश्नपत्र १ प्रश्न ५ का विकल्प एवं प्रश्नपत्र १ प्रश्न ३ का विकल्प संवत् क्रमशः २००२ और २००४)

४ प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मीरा बाई की जीवनी का उल्लेख कीजिए। उन के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का उनके काव्य पर किस रूप में प्रभाव पड़ा है, यह भी दिखाइये।

उत्तर—अब से कुछ समय पहिले तक मीरा के जीवन के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएं प्रचलित थीं। सुनी सुनाई बातों या मौखिक किम्वदन्तियों के आधार पर मीरा के जीवन के विषय में निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं था। किन्तु मीरा का सम्बन्ध क्योंकि इतिहास-प्रसिद्ध राजवंशों से था, अतः उसके विषय में इतिहासज्ञों को खोज करके, उसका निर्भ्रान्त जीवनवृत्त उपस्थित करने में विशेष कष्ट नहीं हुआ। अब मीरा के जन्म-मरण की तिथियों को छोड़ कर उसके जीवन की अन्य घटनाओं के विषय में साहित्यिक अन्वेषकों में विशेष मतभेद नहीं है।

प्रथम विचार मीरां बाई नाम के विषय में हैं। मीरा बाई शब्द के मूल का निश्चित पता नहीं। मीर शब्द स्वामी के अर्थ में फारसी का है। उसी का राजस्थानी में बहु वचन मीरां हुआ। बाई शब्द स्त्री अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और पुत्री एवं माँ के अर्थ में भी। मीरा बाई का अर्थ होता है, स्वामी (भगवान्) की पत्नी। मीरां अपने आप को कहती भी भगवान् कृष्ण की पत्नी ही थी। अतः अनुमान किया जाता है कि मीरां बाई नाम सन्त महात्माओं ने—विशेषत. किसी मुसलमान ने—उस की भक्ति की प्रशंसार्थ उस का रख दिया था। यही नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि उस का असली नाम माता-पिता का रखा हुआ लुप्त हो गया। मीरा का और कोई नाम नहीं मिलता। अपनी ससुराल में वह मेड़ती के नाम से बोली जाती थी। कबीर, नाभादास, ध्रुवदास, नागरीदास, प्रियादास आदि ने भी उस

का नाम मीरा ही लिया है। वैष्णवों की वार्ता में भी उस का नाम यही है। स्वयं उसने भी अपनी कविताओं में अपना नाम मीरा ही लिखा है। किन्तु सन्तों ने यह नाम रखा संगत नहीं। उसका यह नाम प्रसिद्धि होने के बाद ही रखा गया होगा। उस से पहिले का नाम कहीं न कहीं मिलना चाहिये। अतः यही मानना ठीक है कि मीरा उस का वास्तविक माता पिता का रखा नाम था, उस का अन्य कोई नाम नहीं था। फारसी शब्द होने से भी इस मत में कोई अन्तर नहीं पड़ता। राजपूतों के नाम प्रायः इसी तरह के असंस्कृत से ही थे। नैणसी की ख्यात में भूणकसी, कान्हया देव, बाप्पा रावल, चूंडा, माला, कल्ला, बल्लू, कम्मो आदि जैसे अनेक नाम मिलते हैं। अतः मीरा के माता-पिता ने भी ऐसा ही फारसीमय नाम रख दिया तो कोई अस्वाभाविकता नहीं। नैणसी की ख्यात में मेरा नाम अनेक राजपूतों का है। इसी प्रकार का मीरा शब्द भी है।

मीरा के जीवन वृत्त के विषय में भक्तमाल में नाभा दास ने केवल निम्न पद्य दिया है.—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअँकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्दिम कीयो।
बार न बाको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिंन लजी।
लोक लाज कुल श्रृङ्खला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

इसके अतिरिक्त ध्रुवदास ने निम्न लिखा है—

लाज छांड़ि गिरधर भजी करी कुछ कुल कानि।
सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लइ बोलिकै तासों हो अति हेत।
आनन्द सों निरखत फिरै, वृन्दावन रस खेत॥
नृत्यत नूपुर बांधि कै नाचत लै करतार।
विमल हियौ भक्तिनि मिली, तृनसम गन्यो ससार॥
बंधुन विपता को दयो करि विचार चित आन।

सो बिस फिर अमृत भयौ तब लागे पछितान ॥

प्रिया दास ने भी कई पद्यों में मीरा की जीवनी की अनेक कल्पित घटनाएँ सुनी सुनाई दी हैं। इन बाह्य साक्षियों के आधार पर और मीरा के साहित्य में वर्तमान अनेक जीवन-विषयक संकेतों का आश्रय लेकर, इतिहासविदों ने इतिहास की सहायता से, मीरा के जीवन की जो प्रमुख घटनाएं निश्चित की हैं, वे संक्षेप में यों है।

मीरा का जन्म क्षत्रियों के प्रसिद्ध कुल राठौड़ वंश मे हुआ और ब्याह सीसोदिया वंश में हुआ था। मीरा ने इतना स्वयं भी कहा है—

राठारां री धीयड़ी सीसोदरि साथ।

अपने स्थान का पता दिया है—

क्षत्री वंश जनम मम जानो नगर मेड़ते वासी ॥

इनके उच्च और प्रख्यात वंश के इतिहास मे न जाकर, संक्षेप में, जिस समय मीरा का जन्म हुआ था, उस समय दिल्ली में लोदी वंश का राज्य था। राजपूताने के साथ युद्ध होते रहते थे, परन्तु राजपूत अपराभूत थे। अपने-अपने स्वतन्त्र छोटे मोटे राज्य लिए बठे थे। उनके मतभेद से मुसलमानों का राज्य कायम था। आगे चल कर बाबर ने उसे परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया। उस के भी राजपूताने के राजाओं से प्रायः युद्ध होते रहते थे। हिन्दु मुसलमानों के भी पारस्परिक व्यवहार बहुत बिगड़े हुए थे। आये दिन की शत्रुता थी। आक्रान्त हिन्दु देशों में हिन्दुओं पर अत्याचारों की कमी नहीं थी। मन्दिर भ्रष्ट कर दिये जाने, गांवों से जबर्दस्ती लड़किया उठा ले जाना आदि की उस समय की साधारण घटनाएं हैं। ऐसे ही राजनैतिक उथल-पुथल के समय में मीरां का जन्म और पालन हुआ।

धार्मिक हानि के समय धर्म संरक्षार्थ भी कुछ शक्तियां अवश्य उत्पन्न हो जाती हैं। निराशा के इस वातावरण में देश में प्रायः सर्वत्र धार्मिक जागरण होता वित मार्ग का उत्थापन होता है। इस समय अनेक प्रकार की उपासना-पद्धतिया प्रचलित मिलती हैं। कई महात्मा उस समय भक्ति मार्ग का प्रचार कर रहे थे। कुछ सगुण रूपों की उपासना का

विधान करते थे और कुछ निर्गुण ईश्वर की ही उपासना का। सूफी मत का प्रचार भी हो चुका था। भारत ने इस समय तीन चार विभूतियां उत्पन्न कीं, जिन्होंने धर्म-प्राण भारत के प्राणों की रक्षा की और डूबती मानवीय आत्मा को सबल अवलम्ब दिया। नामदेव, कबीर, नरसी मेहता, रैदास, नानक आदि सन्त लोग निर्गुणी पथ के प्रचारक, ईश्वर की प्रेम भाव में उपासना करने, प्राणी-प्राणी में भेद न देखने का प्रचार कर रहे थे। भक्ति के क्षेत्र में, मध्य प्रदेश, रामानन्द और वल्लभाचार्य जैसी शक्तियां उत्पन्न हो चुकी थीं। उन के भी प्रचार हो रहे थे। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु जैसे वैष्णवाचार्य हो चुके थे। विद्यापति और चण्डीदास जैसे कृष्ण कवि हो चुके थे। चारों ओर अनेक धार्मिक आन्दोलन और प्रचार हो रहे थे। मीरां का पालन ऐसे ही धार्मिक वातावरण में हुआ।

मीरां का जन्म और प्रारम्भिक पालन मेड़ता के कुड़की नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव एक वीर कृत्य पर प्रसन्न होने पर उन के पिता दूदा जी से मीरा के पिता को मिला था। मीरा में भगवत प्रेम की अभिव्यक्ति बालकपन में हो गई थी। उस का गोपाल कृष्ण की मूर्ति के प्रति सरस स्नेह व्यक्त हो गया था। एक बार एक साधु मीरा के घर भोजन करने आया। उस की गोपाल कृष्ण की मूर्ति मीरा को इतनी अच्छी लगी कि वह उस के लेने पर अड़ गई। साधु न देकर चला गया। मीरा ने खान-पान छोड़ दिया। कहते हैं साधु को रात को स्वप्न हुआ और विभीषिका दिखाई दी। वह अगले दिन मूर्ति मीरा को दे गया। मीरा नित्यप्रति उस की पूजा करती। एक बार मुहल्ले में किसी का विवाह उपस्थित होने पर मीरा ने मां से भोलेपन से पूछा, उस का दूल्हा कौन है। मां ने उसी गोपाल की मूर्ति की ओर संकेत करके कहा कि ये हैं। तभी से कहते हैं, मीरा उनके प्रेम में भूली सी हो गई। दुर्भाग्य से उस की माता का मीरा के बचपन में ही देहान्त हो गया। पिता अधिकतया युद्ध-व्यवसायी थे, युद्ध में इधर उधर लगे रहते थे। तब मीरा के दादा दूदा जी ने उसे अपने पास मेड़ते रखा। दादा के मरने पर उन का पुत्र मीरा का चाचा वीरमदेव गद्दी पर बैठा। मीरा की शिक्षा-दीक्षा का क्रम अवश्य चलता रहा होगा। समय पाकर वीरमदेव ने

मीरा का सीसोदिया वंशीय, चित्तौड के महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोज-राज से व्याह कर दिया। मीरा सुसराल में जाकर मेडती के नाम • सिद्ध हुई। मीरा का सुहाग दीर्घजीवी नहीं रहा । विवाह के ५-६ वर्ष के अन्दर ही उन को वैधव्य भोगना पडा। महाराणा सांगा के समय में ही उन के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की मृत्यु हो जाती है। मीरा को यौवन में ही ˆधव्य की ठेस लगती है। किन्तु जैसे वह इस के लिए पहिले से ही तैयार थी। उस की मूर्ति उस के साथ थी। अब भक्ति उपासना कीर्तन की वह प्रक्रिया और भी तन्मयता से होने लगी। सत्सग भी करने लगी। वैधव्य के पांच वर्ष बाद ही उन के पिता भी बाबर के साथ के एक युद्ध में मारे गये। मीरा को एक और कडी ठेस लगी। इसी समय माहाराणा सांगा भी स्वर्गत हुए। यह भी मीरा के लिए बुरा ही हुआ। मीरा में विरक्ति और भी प्रबल हुई। वह सत्सग अधिक करने लगी। उस की एक बूढ़ी सास रैदास की शिष्या थी। उस से और उसके पास आने वाले अन्य रैदासियों से भी उस का सत्संग होता था। प्राय. सभी पंथों के साधुओं से वह धर्म चर्चा करती थी। ससुर की मृत्यु के पश्चात् उन का पुत्र रत्नसिंह, मीरा का देवर, गद्दी पर बैठा। मीरा के पास भक्त-मण्डली का जमघट रहता था। दूर-दूर से लोग दर्शनार्थ आते थे। मीरा सत्सग मे गाती था, नाचती थी और बजाती थी। नवीन महाराणा रत्नसिंह को इस आचरण से विरोध हुआ। कुल की लाज का विचार। मीरा को समझाया गया। सास और नणद ने समझाया। नणद ऊदा जी समझाती है—

थानै के बर बरज बरज मैं हारी भाभी मानों बात हमारी।
राणे रीस कियो थें ऊपर साधों मैं मत जा री॥
कुल नै दाग लगै छै भाभी निन्दा हो रही भारी।
साधों रे संग बन बन भटकै लाज गंवाई सारी।
बडा घर थें जनम लियोछै नाचो दे दे तारी।
बर पाये हिंदवाणे सूरज थे काई मन धारी।
मीरां गिरधर साध संगत तज चलो हमारी लारी।

इस पद की रचना में कुछ को सन्देह हो सकता है कि यह मीरा

की भी रचना नहीं है। पर सासु ननद आदि के कहने समझाने की बात मीरा ने अन्य अपने पदों में भी कही है। पद इस का जवाब ऐसा होता था—

राणा नैं समझाओ मैं तो बात न मानी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर संतां हाथ बिकानी॥

रत्नसिंह शिकार में विश्वासघातपूर्वक शत्रु द्वारा मार दिया जाता है। तब मीरा का दूसरा देवर विक्रमाजीतसिंह महाराणा की गद्दी पर बैठा। कहते हैं इसने अपने एक विजैवर्गीय मुसाहब या सलाहकार के कहने से मीरां को अनेक यातनायें देने की चेष्टा की। मीरा को मरवाने तक की चेष्टाएं की गईं। यह बहुत अयोग्य शासक था। इससे सब असन्तुष्ट थे। मीरा को मारने के लिए इसने एक साप भेजा। किन्तु मीरा के पास जाकर वह एक हार बन गया। जहर का प्याला भेजा, वह भी मीरा के लिए अमृत सिद्ध हुआ। मीरा का साधु-सत्संग बराबर चलता था। भजन कीर्तन होते थे। साधुओं के यहाँ जाना आना भी होता था। उधर नवीन महाराणा का विरोध बढ़ता गया। मीरा ने ससुराल छोड़ कर पीहर में रहने का निश्चय किया। महाराणा विक्रमाजीतसिंह जैसे अयोग्य शासक से गुजरात के बहादुर शाह ने राज्य छीन लिया। मीरा अपने पीहर रहने लगी। अपने ऊपर किए गये अत्याचारों के विषय में मीरा ने स्वयं कहा है—

भोजनियां नहिं भावै म्हांनै नींदड़ली नहीं आय।
विष को प्यालो भेजियो जी जावो मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई म्हारे रामजी के विस्वास।
रामजी काज संवारिया म्हानैं भावै गरदन मार।
पेटयां बासक भेजियाजी योछै मोता डारो हार।
नाग गले में पहिरिया म्हांरे महला भया उजार।
× × × ×
रे राणो जी गयो रिसाय।
विषरा प्याला राणा जी भेजिया दीजो मेड़तणी के हाथ।
कर चरणामृत पी गई म्हारां सबल धणी का साथ॥

राणा जी मोपर को प्योजी रे मारूं एक न सैल।
मारयां पराछूत लारासी म्हांनै पीहर दी जो मेल।

अपने पति भोजराज के साथ उसका जीवन कैसा बीता, इसके विषय में मीरा भी चुप है और अन्य लोग भी।

मायके मे उसके चचा और चचेरा भाई उसके बडे भक्त बने। दूर-दूर से मीरा के दर्शनो को जन आते थे। इतने में ही प्राचीन शत्रुता के कारण जोधपुर राज्य द्वारा आक्रमण करके मेडता पर अधिकार कर लिया जाता है। ऐसे संकट काल मे मीरा तीर्थाटन को निकलती है। वृन्दावन आती है। वहाँ गौरांग महाप्रभु के शिष्य एक गोस्वामी मे भेंट की। उसने पहले स्त्री तो होने के नाते मीरा से मिलना स्वीकार नहीं किया पर मीरा के इस उत्तर पर कि वृन्दावन में तो कृष्ण के सिवाय सभी स्त्रिया हैं, उसे हारना पडा। वहाँ कुछ दिन रहकर प्रसिद्धि प्राप्त की। फिर द्वारिका आ गई। वहाँ श्री रणछोड जी के मन्दिर मे रही। इनकी भक्ति कृष्ण को पति रूप मे शुद्ध प्रेम से अनन्य भाव मे भजने की थी। मीरा का प्रेम गोपियों के ढङ्ग का है। वह गोपी का अवतार मानी जाती है भक्तसमाज में। वह मानती थी कि उसका पूर्वजन्म का प्रेम है। माता द्वारा मूर्ति का पतिरूप मे इङ्गित कर देने पर तो मीरा की यह स्थायी धारणा बन गई। उसका विरह मिलने से पहिले ही प्रारम्भ हो जाता है। अपने पथ मे अटल थी। उसने स्वयं कहा ह कि उसकी प्रीति 'पुरबली', 'पुरब जनम' की है। माता की बात के आधार पर वह यह भी मानती थी कि मूर्ति को ही उसके माता-पिता ने विवाह रूप में वह दी है—

पथ मे जोहूँ स्याम का अजहूँ नहि आये हो,
सावन भादो ऊमडो बरसा ऋतु आई हो।
माता पिता तुमको दियो तुम ही भल जानौं हो।
तुम तजि और भतार को मन मैं नहीं आनौं हो।
तुम पूरन पर ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो।

बाद मे मीरा द्वारिका जी जाकर श्री रणछोड़ जी के मन्दिर मे रही। वहाँ मायके और ससुराल से ब्राह्मणों द्वारा बुलावे आते थे। दोनों राज्य अब

पुन जीत लिये गये थे। पर मीरा को जाना नहीं था। ब्राह्मणों ने अनशन कर धरना दे दिया, तो मीरा भी रणछोड़ जी के मन्दिर में विदाई लेने गईं। वहाँ उन्होंने दो पद बनाये। दूसरा पद निम्न है—

सजन सुधि ज्यों जानें त्यों लीजे।
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजे॥
द्योस न भूख रैन नहिं निद्रा यह तन पल-पल छीजै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब मिलि बिछुरनि नहिं कीजै॥

इस पद पर मीरा सशरीर मूर्ति में लीन हो गईं। उनका कुछ पता नहीं लगा। वृन्दावन और द्वारिका की उपर्युक्त घटनाओं का नाभादास ने अच्छा वर्णन किया है। प्रियादास ने भी ये सब घटनाएँ अलग अलग लिखी हैं। इसके बाद का मीरा का कुछ पता नहीं चलता।

मीरा शिक्षिता थीं। वृन्दावन और द्वारिका में उनके पास अनेक सन्त विद्वान भक्त लोग आते थे। रहते भी थे। उन सब को मीरा अपने सिद्धान्तानुसार कुछ तो उत्तर देती थीं। धार्मिक चर्चा करने दूर-दूर से अनेक सन्त साधु महात्मा आते थे। सभी सम्प्रदायों के लोग आते थे। धर्म चर्चा, वाद विवाद, कीर्तन सभी कुछ होता था। यह अशिक्षा से संभव नहीं। वह अपने सिद्धान्त पर अटल थीं। वल्लभ सम्प्रदाय वालों के बहुत प्रयत्न करने पर भी वह दीक्षा लेने नहीं गईं। इसीलिए वे चिढ़ भी गये। किन्तु वह अपने सिद्धान्त पर दृढ़ थीं। अन्य जीव स्वामी या रूप स्वामी के साथ भी मीरा की इस प्रकार की सैद्धान्तिक विजय हुई थी। इन्हें भी उनके गोपी भाव के सामने पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी।

मीरा का गुरु कौन था, यह अभी भी सन्देहास्पद है। मीरा के पदों में भी कई प्रकार के सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। कहीं वह ज्ञानियों के समान, जगत् व्यवहार को मिथ्या, माया, जंजाल आदि बताती है। कहीं योगियों की सी बातें करती है, शून्य महल की। सूफियों के से भी प्रेमोद्गार प्रकट किये हैं। अधिकांश में वह कृष्ण की पति रूप में भावना करती है, उनके विरह में तड़पती है। राम के भी थोड़े बहुत गुण गान किये हैं। इस प्रकार उनके पदों में तत्काल में प्रचलित सभी धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव

पडा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु सिद्धान्त से उसे क्या अभी ष्टथा, वह ज्ञान उसे कहां से मिला आदि निश्चित नहीं होता। मीरा ने कई स्थानों पर अपना गुरु रैदास को बताया है—

खोजत फिरौं भेद वा घर कौ कोई न कर बखानी।
रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी॥
मैं मिली जाय पाया पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी।

रैदास निर्गुण की प्रेमोपासना के पक्षपाती ज्ञानी थे, कबीर, नामदेव आदि के समान। किन्तु उनकी यह प्रेमोपासना सगुण भक्ति के इतना विरुद्ध नहीं रहती। भावना के आधार का अन्तर रहता है उसमे, गुण—कल्पना का भी। अत मीरा को यह मत अभिमत हो सकता है। किन्तु रैदास के मिलने की कथा कपोल कल्पित प्रतीत होती है। क्योंकि रैदास मीरां से पहिले हो चुके थे, या मीरा के काल मे होंगे भी तो अत्यन्त वृद्ध होंगे, अतः मीरा से भेंट असभव है। हा, मीरा की सास के पास आये कुछ रैदासिये साधुओं से उसने इस मत का ज्ञान प्राप्त किया हो और फिर रैदास को ही अपना गुरु माना हो, यह सभव है। किन्तु पश्चात् तो मीरा पूर्णतः सगुण कृष्ण-भक्त बनी प्रेम भाव से। दृष्टिकोण बीच बीच में उसका ज्ञान वैराग्य का भी हो जाता है। सगुण उपासना के क्षेत्र मे उसका गुरु रामानन्दी सम्प्रदाय वाले नहीं बने, यद्यपि रामानन्दी साधुओं का सत्संग होता था। कृष्ण भक्ति के क्षेत्र मे आने पर वल्लभ सम्प्रदाय में उसने दीक्षा नहीं ली यद्यपि उसके लिए अनेक चेष्टाएं हुईं। किन्तु उपासना-पद्धति मे मीरा ने वल्लभीय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अपनाया। कीर्तन प्रणाली में मीरा गौरांग महाप्रभु की अनुसारिणी हैं। महाप्रभु के दो प्रकाण्ड शिष्यों-रूप स्वामी और जीव स्वामी-से उसका बहुत सम्बन्ध भी रहा। संभव है उनमें से किसी ने दीक्षा दी हो। वस्तुतः मीरा पर समय समय पर अपने समय के कई धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव पडा था। अन्त में वह गोपी भाव से कृष्ण की अनन्य उपासिका बनी। अत: मीरा के गुरु के विषय का प्रश्न अभी असंदिग्ध नहीं हुआ है।

प्रत्येक कवि के साहित्य पर उसके जीवन की विशेष विशेष परि-

पड़ा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु सिद्धान्त से उसे क्या अभी इष्ट था, वह ज्ञान उसे कहाँ से मिला आदि निश्चित नहीं होता। मीरा ने कई स्थानों पर अपना गुरु रैदास को बताया है—

खोजत फिरौं भेद वा घर कौ कोई न कर बखानी।
रैदास सन्त मि ा मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी॥
मैं मिली जाय पाया पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी।

रैदास निर्गुण की प्रेमोपासना के पक्षपाती- ज्ञानी थे, कबीर, नामदेव आदि के समान। किन्तु उनकी यह प्रेमोपासना सगुण भक्ति के इतना विरुद्ध नहीं ़ड़ती। भावना के आधार का अन्तर रहता है उसमें, गुण—कल्पना का भी। अतः मीरा को यह मत अभिमत हो सकता है। किन्तु रैदास के मिलने की कथा कपोल कल्पित प्रतीत होती है। क्योंकि रैदास मीरां से पहिले हो चुके थे, या मीरा के काल में होंगे भी तो अत्यन्त वृद्ध होंगे, अतः मीरा से भेंट असभव है। हां, मीरा की सास के पास आये कुछ रैदासिये साधुओं से उसने इस मत का ज्ञान प्राप्त किया हो और फिर रैदास को ही अपना गुरु माना हो, यह सभव है। किन्तु पश्चात् तो मीरा पूर्णतः सगुण कृष्ण-भक्त बनी प्रेम भाव से। दृष्टिकोण बीच बीच में उसका ज्ञान वैराग्य का भी हो जाता है। सगुण उपासना के क्षेत्र में उसका गुरु रामानन्दी सम्प्रदाय वाले नहीं बने, यद्यपि रामानन्दी साधुओं का सत्संग होता था। कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में आने पर वल्लभ सम्प्रदाय में उसने दीक्षा नहीं ली यद्यपि उसके लिए अनेक चेष्टाएं हुईं। किन्तु उपासना-पद्धति मे मीरा ने वल्लभीय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अपनाया। कीर्तन प्रणाली में मीरा गौरांग महाप्रभु की अनुसारिणी हैं। महाप्रभु के दो प्रकाण्ड शिष्यों-रूप स्वामी और जीव स्वामी-से उसका बहुत सम्बन्ध भी रहा। संभव है उनमें से किसी ने दीक्षा दी हो। वस्तुतः मीरा पर समय समय पर अपने समय के कई धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा था। अन्त में वह गोपी भाव से कृष्ण की अनन्य उपासिका बनी। अतः मीरा के गुरु के विषय का प्रश्न अभी असंदिग्ध नहीं हुआ है।

प्रत्येक कवि के साहित्य पर उसके जीवन की विशेष विशेष परि-

पुन जीत लिये गये थे। पर मीरा को जाना नहीं था। ब्राह्मणों ने अन्त में जब धरना दे दिया, तो मीरा श्री रणछोड़ जी के मन्दिर में विदाई लेने गई। वहाँ उसने दो पद बनाये। दूसरा पद निम्न है—

सजन सुधि ज्यों जानें त्यों लीजें।
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजें॥
द्योस न भूख रैन नहिं निद्रा यह तन पल-पल छीजें।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब मिलि बिछुरनि नहिं कीजें॥

इस पद पर मीरा सशरीर मूर्तिमें लीन हो गई। उसका कुछ पता नहीं लगा। वृन्दावन और द्वारिका की उपर्युक्त घटनाओं का नागरीदास ने अच्छा वर्णन किया है। प्रियादास ने भी ये सब घटनाए अन्तर्द्धान तक की लिखी हैं। इसके बाद का मीरा का कुछ पता नहीं लगता।

मीरा शिक्षिता थी। वृन्दावन और द्वारिका में उसके पास अनेक सन्त, विद्वान् भक्त लोग आते थे। तर्क भी करते थे। उन सब का मीरा अपने सिद्धान्तानुसार मुंह तोड उत्तर देती थी। धार्मिक चर्चा करने दूर-दूर से अच्छे अच्छे साधु महात्मा आते थे। सभी सम्प्रदायों के लोग आते थे। धर्म चर्चा, वाद विवाद, कीर्तन सभी कुछ होता था। यह अशिक्षा में संभव नहीं। वह अपने सिद्धान्त पर अटल थी। वल्लभ सम्प्रदाय वालों के लाख प्रयत्न करने पर भी वह दीक्षा लेने नहीं गई। इसीलिए वे चिढ़ भी गये। किन्तु वह अपना आस्था पर दृढ़ थी। अन्य जीव स्वामी या रूप स्वामी के साथ भी मीरा की इसी प्रकार की सैद्धान्तिक विजय हुई थी। उसे भी उसके गोपी भाव के सामने पराजय स्वीकार करनी पडी थी।

मीरा का गुरु कौन था, यह अभी भी सन्देहास्पद है। मीरा के पदों से भी कई प्रकार के सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। कहीं वह ज्ञानियों के समान, जगद् व्यवहार को मिथ्या, माया, जंजाल आदि बताती है। कहीं योगियों की सी बातें करती है, शून्य महल की। सूफियों के से भी प्रेमोद्गार प्रकट किये हैं। अधिकाश में वह कृष्ण की पति रूप में भावना करती हैं। उनके विरह में तडपती है। राम के भी थोडे बहुत गुण गान किये हैं। इस प्रकार उसके पदों मे तत्काल में प्रचलित सभी धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव

अथवा

मानस में ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी साधना-प्रणालियों का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी ने भक्ति की श्रेष्ठता किस आधार पर दिखाई है, निर्देश कीजिए।

उत्तर—महात्मा, भक्तराज, महाकवि तुलसी अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। उनकी वाणी युग-वाणी है। उनका काल हिन्दू जाति की अत्यन्त दुरवस्था का काल था। राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक, सभी दृष्टियों से हिन्दू गण अन्धं तमः प्रविशन्तः थे। उनके सामने कोई निश्चित एक मार्ग नहीं था। चारों ओर अव्यवस्था थी। निराशा का युग था हिन्दुओं के लिए। दिल्ली में मुगलराज्य था, जो अपने पूर्ववर्ती राज्य की अपेक्षा अधिक शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा-पूर्ण था, परंतु था मुसलमानी ही। हिन्दुओं के साथ अत्याचार बन्द नहीं हुआ था। अनेक हिन्दु स्वतंन्त्र क्षत्रिय राजा गण शनै शनैः मुगलराज्य के परतंत्र होते जा रहे थे। मुसलमानों की शक्ति प्रसारित होती जा रही थी। देश के अनेक भूभागों में मुस्लिम राज्य कायम हो चुके थे। हिन्दुओं का धन, धर्म, मान प्रतिष्ठा और सम्पत्ति अभी भी पूर्ण सुरक्षित नहीं थे। आये दिन उन पर आक्रमण होते रहते थे। लड़कियां उठाने की घटनाएं साधारण थीं। बलात् धर्म—परिवर्तन भी ऐसी ही साधारण घटना थी। मन्दिर मूर्ति का भ्रष्ट करना भी देश के भूभाग में अभी बन्द नहीं हुआ था। प्रायः कहीं न कहीं हिन्दु मुसलमानों के संघर्ष चलते ही रहते थे। अकबर काल यद्यपि अपेक्षाकृत सर्वाधिक शान्ति-काल है, मुगल साम्राज्य में, किन्तु तो भी हिन्दु जाति निरापद नहीं थी। उस पर आक्रमण किसी न किसी रूप में चलते ही थे।

हिन्दु जाति की उपर्युक्त राजनैतिक अधो दशा के साथ ही उसकी धार्मिक और सामाजिक दशा इससे भी अधोगत थी। धर्म के क्षेत्र में उसके सभी रूपों—कर्म ज्ञान भक्ति आदि—का बुरा हाल था। अन्ध विश्वास, अज्ञान, दिखावा या आडम्बर, रूढ़ियां, स्वार्थ धोखा आदि ने सबको विकृत कर रखा था। एक ओर ज्ञान मार्गी सन्त और नाथ लोग जनता को जगत् की अनित्यता और निस्सारता का बोध देकर उसे लौकिक कर्मों की ओर से उदासीन

स्थितियों का प्रभाव पडता है। मीरा के काव्य पर भी पड़ा है। उसके जीवन में जो उतार चढ़ाव उसने देखे, जो कष्ट उसने सहे, उस सब की प्रतिक्रिया मीरा के साहित्य में व्याप्त है। मीरा ने यद्यपि नरसी जीरा मेहरा आदि पुस्तकें भी लिखी हैं, किन्तु विशेष ख्याति उनके पदों की ही है। ये पद राग रागनियों में गाने लायक बनाये गये हैं। मीरा के समस्त पद उसकी व्यक्तिगत अनुभूति से उत्थ हैं। उसमें उसकी मानसिक वृत्तियां ही बिखरी हुई हैं। उनमें तीन भावनाएं प्रमुखतया अभिव्याप्त हैं—एक गहरी करुणा की भावना, एक मार्मिक सत्य वैराग्य भावना और एक गंभीर प्रेम की भावना, जिसका अधिक रूप विरह का है, संभोग का अपेक्षाकृत बहुत अल्प। इन तीनों ही भावनाओं का मीरा जीवन से विशेष सम्बन्ध है। मीरा का संभोग शृङ्गार का अनुभव अत्यल्प था। अधिकांश मे विरह ही भोगा। उसकी अतृप्त प्रेम भावना ही कृष्ण-मुखी होकर अनन्त विरह रूप हो गई। अपने पीहर और ससुराल मे उसके अत्यन्त प्रिय जन देखते देखते काल के गर्भ में समा गये, राज्य हार गये, फिर पाये गए, सम्पत्तियां लुट गईं। उसे ससुराल और मायके से भी भागना पड़ा। यात्रा मे संसार की कठोरता का और भी दर्शन हुआ। अनेक अत्याचार सहे और देखे भी। इन सभी ने मिलकर मीरा के हृदय पर वैराग्य की एक गहरी छाप डाल दी, जिससे उसे यह संसार चद्दर की बाजी दिखाई देने लगा। मोह ममता माया झूठी नजर आई। ससार की ओर पूर्ण विरक्ति होने पर हृदय का प्रेम और भी तीव्र गति से भगवान् की ओर मुड़ा। उसकी अनुभूतियों की वास्तविकता के कारण ही उसके पदों में इतनी मार्मिकता आ गई है कि भक्त लोग उन्हें गा गा कर थकते नहीं। मीरा के पदों मे वस्तुतः उसके अपने व्यक्तिगत हृदय का प्रकाशन है। अतः निश्चय ही मीरा का काव्य उसके जीवन से प्रभावित मानना चाहिये।

४—राम चरित मानस मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और उनके प्रति गोस्वामी जी की प्रतिक्रिया का जो संकेत मिलता है, उसका पूरा विवरण दीजिए।

प्रत्युत विमुख कर रहे थे। दूसरी ओर सूफी लोग अपनी मधुर भाव की उपासना से हिन्दुत्व के संस्कारों को ही लुप्त कर रहे थे अपने हिन्दु अनुयायियों में से। हठ योगी एक ओर जगत् की निःसारता का भान देकर योग प्रक्रिया में साधारण जनता को उलझा रहे थे। भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण प्रेम के गीत गाये जाते थे, किन्तु कृष्ण के लोक-संग्रह रूप की ओर वे भी विमुख थे। उनके केवल प्रेम पूर्ण मधुर रूपों तक यह सारी उपासना सीमित थी। इसमें भी लोक-विमुख होकर, कृष्णोपासना द्वारा, व्यक्तिगत मुक्ति पर बल दिया जाता था। लोक-धर्म की ओर किसी को भी ध्यान नहीं था। वह नीचे से नीचे को चला जा रहा था। धर्म क्षेत्र की इस विशृङ्खलता का सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता था? सामाजिक व्यवस्था भी अतएव अस्त-व्यस्त, छिन्न भिन्न, अन्धपरायण, झूठ, फरेब असत्य पर आश्रित, दुःख विपत्ति-ग्रस्त, रोग-ग्रस्त, पाप अनाचार-पूर्ण थी। समाज सामाजिक कुरीतियों से खाया जा रहा था। स्पृश्या-स्पृश्य का भेद भाव अत्यन्त गहरा था। स्त्रियों और शूद्रों की दशा अच्छी नहीं थी। धर्म और समाज के प्रति मान नहीं रह गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था लुप्त थी। व्यभिचार, पाखण्ड, अन्यायाचरण हो रहा था। संकर सन्तानें उत्पन्न हो रही थीं, जो अधर्म-आचरण में सक्त थी। पाखंडी संत, पाखंडी साधु महात्मा भक्त आदि जनता को भटका कर उसका धन हरते थे। कोई सर्व-मान्य शास्त्रीय धर्म मार्ग अक्षुण्ण नहीं था। लोग अपने मन की कल्पनाओं को करके नये नये पथ चला रहे थे। सामाजिक व्यवस्था एक ओर इतनी कठिन थी कि मुसलमानों के जरा से संसर्ग से ही व्यक्ति को जाति-बहिष्कृत कर देती थी और दूसरी ओर व्यवस्था के नाम से वह बिल्कुल विकृत थी। इन कारणों से हिन्दु जाति शीघ्रता से मुसलमानों में सम्मिलित होती चली जा रही थी। तुलसीदास के भावुक और महान् हृदय को महान् कष्ट हुआ। वे विचलित हुए और उन्होंने उसका निदान किया, औषध निश्चित की और उसका निर्माण किया। रामचरित मानस यही सब कुछ है। अपने काल के समस्त धर्म मतों में तुलसी ने भक्ति को सर्व सुलभ और सर्व मंगल कारी समझा। भक्ति में भी अपने काल की अव्यवस्था से उन्हें राम की ही भक्ति

अधिक उपयुक्त लगी। क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम और दीन जन रक्षक दयालु श्रीराम को छोड़कर उस समय और कौन आराध्य देव हो सकता था? राम के जीवन में पद पद पर आदर्श और मर्यादाओं का पालन है। मर्यादाएं, समाज, धर्म, राज्य आदि सभी प्रकार की हैं। अतः उन्होंने यही औषधि निश्चित की। राम चरित मानस में समग्र राम चरित का वर्णन किया और भक्ति में ही सर्व मंगल की घोषणा की। मानस में गोस्वामी जी ने शास्त्रीय ढंग और श्रीराम के स्वयं के आचरण से बड़ी कुशलता से रामभक्ति को सर्व श्रेष्ठ सिद्ध किया है। किन्तु भक्ति के साथ ही समाज राजनीति को भी उन्होंने नहीं छोड़ा है। धर्म के क्षेत्र में राम भक्ति को सबका लक्ष्य बनाकर गोस्वामी जी ने राम चरित में समाज और राजनीति के भी आदर्श समक्ष रखे। श्रीराम जहां आदर्श भक्त-त्रायक भगवान् हैं, वहां आदर्श समाज पुरुष और आदर्श राजा भी हैं। उनके जीवन में धर्म, समाज, जाति, राजा, योद्धा, शत्रु, आदि सभी के आदर्श हैं। तुलसी ने अपने काल की व्याधि के लिए राम नाम और राम भक्ति को ही अमोघ औषधि मान, राम चरित मानस की रचना की। अतएव रामचरित मानस में उभयपक्ष प्रतिबिम्बित हैं।

तुलसी का काल कैसा था, इसका वर्णन स्थान में स्थान संकेतों द्वारा मिलता चलता है। विशेषतः कलियुग वर्णन में तो स्पष्ट ही तब उनकी आंखों के आगे उनका काल था। उसमें उन्होंने धर्म, भक्ति, समाज, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों पर प्रकाश डाला है। धर्म के क्षेत्र में नाथों ने भक्ति को उखाड़ दिया था अपने हठ योग के प्रचार और सिद्धियों से—"गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।" वर्णाश्रम व्यवस्था लुप्त थी—

निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी। कलियुग सोई ग्यानी बैरागी॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहि ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर संपति नासी। मूंड मुड़ाइ होंहि सन्यासी॥
ते विप्रन सन पांव पुजावहि। उभयलोक निज हाथ नसावहि॥
शूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

ब्राह्मणों का यह हाल था कि—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठवृषली–स्वामी ॥

× × × ×

कौड़ी लागी मोह बस। करहिं विप्र गुरु घात ॥

सामूहिक रूप में अपने काल का उन्होंने यों वर्णन किया है—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रन्थ।

दम्भिन निजमति कल्पि करि प्रगट किये बहु पथ ॥

भये लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे शुभ कर्म।

बरन धर्म नहिं आश्रमचारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी ॥

द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन ॥

मारग सोई जाकहँ जोइ भावा। पण्डित सोई जो गाल बजावा ॥

मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई। ता कहँ सन्त कहइ सब कोई ॥

अशुभ वेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाँहि।

तेई जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माँहि ॥

आम लोगों की क्या हालत थी—

नारि बिवस नर सकल गोसांई। नाचहि नट मर्कट की नाईं ॥

सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति सन्त विरोधी ॥

कुलवन्त निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरी गति ॥

सुत मानहिं मातु पिता तबलौं। अबला न दीख परी जबलौं ॥

तनु पोषक नारि नरा सिगरे। पर निन्दक जे जग में बगरे ॥

कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत को अनुजा तनुजा ॥

स्त्रियों में इतना पतन था कि—

गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी ॥

सौभागिनी विभूषन हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना ॥

अबलाकच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा ॥

गुरु चेले का यह हाल है कि—

गुरु सिष बधिर अन्ध का लेखा। एक न सुनइ एक न देखा ॥

हरइ शिष्य धन सोक न हरइ। उदर भरै सोइ धर्म सिखावइ ॥

गृहस्थियों और गृहत्यागियों की दशा यह है—

बहु दाम सवारहिं जोगी जती। विषया हरि लीन्ह न रही विरति ॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृहीं। कलि कौतुक तात न जात कही ॥

इस प्रकार—

भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहि पाप पावहिं दुख भय रुज सोक वियोग ॥
स्रुति सम्मत हरि भक्ति सयत विरति विवेक।
तांहि चलहिं न मोहबस कलपहि पंथ अनेक ॥

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारनहीं ॥
लघु जीवन संवतु पांच दसा। कलपान्त न नासगुमान असा ॥
सब लोग वियोग विसोकहये। बरनास्रम धर्म अचार गए ॥

तामस धर्म करहि नर जप तप व्रत मख दाना।
देव न बरषहि धरनी बए न जामहिं धान ॥

कलि बारहिं बार दुकाल परैं। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं ॥

राजनैतिक दशा का भी संकेत उन्होंने दिया है—

नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दण्ड बिडम्ब प्रजा नित हीं ॥

और कहा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

इन सब दुर्दशाओं को देखकर भावुक महामना तुलसी का हृदय चुप नहीं रह सका। वह व्याकुल हो उठा। उसकी प्रतिक्रिया इतनी प्रबल हुई कि वह परोपकार के लिए खोजी बनकर क्षेत्र में उतरा, उसने अपने युग की ओषधि एक मात्र राम भक्ति निश्चित की—

कलि जुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं ॥
सोई भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुण गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

ओषधि निश्चित कर उसका स्वरूप और प्रयोग उन्होंने राम चरित वर्णन में साकार दिखाये। राम का शील, स्वरूप, हृदय, कार्य आदि का

जीवित स्वरूप उपस्थित किया। राम चरित का ... ... और उसका माहात्म्य बताया। राम का आदर्श ... ... । ... की लोक-संग्रह की भावना भी नहीं छोड़ी। अपने काल से दुःखित होकर उन्होंने सर्व मंगलरूप जिस सर्व सुन्दर समाज व्यवस्था और राज व्यवस्था की आदर्श कल्पना की, उसका समुज्ज्वल चित्र भी राम चरित मानस में है। सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धी चर्चा हम व्यवस्था के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ ... आदर्श राज्य-व्यवस्था श्रीराम राज्य की है जिसमें—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दम्भ धर्म रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहीं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहीं॥
दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग रामचन्द्र के राज॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बैर बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
लता विटप मांगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
सस सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भई कृत युग की करनी॥
विधु महिपूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मांगे वारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज॥

ऐसे सुख समृद्धि पूर्ण, ऐसे पवित्रात्मा राम भक्त नागरिकों से अध्युषित, पवित्र रामराज्य की कल्पना तुलसी ने की, मुगल कालीन राज्य व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप। यहाँ तुलसी के राम राज्य की कल्पना है,

जो वे विश्व में चाहते हैं। इस से अच्छी और आदर्श समाज व्यवस्था वे और नहीं समझते।

इस प्रकार राम चरित मानस में तुलसी के अपने काल के विषय में विस्तृत संकेत है। कलियुग के नाम से, उसमें तुलसी का युग ही प्रतिफलित है। इसके समक्ष ही तुलसी का दूसरा चित्र भी है और समाज एवं राज्य व्यवस्था का एक अत्युच्च आदर्श है। उनके युग विषयक संकेत मानस में उपर्युक्त रूप से ही आये हैं और उनकी प्रतिक्रिया भी तुलसी पर जो हुई, वह मानस के इस आदर्श रामचरित की कल्पना के रूप में हमारे समक्ष है।

अथवा

उत्तर:—महात्मा तुलसीदास आमूलचूल भक्तराज थे। उन की कोटि का रामभक्त अभी तक भी कोई नहीं हुआ है। वे राम भक्ति में ही प्राणीमात्र का मंगल देखते थे। वैसे, वे ज्ञानी भी थे, साधु भी थे, योग के भी कुछ साधनों का उपयोग करते थे। कर्मकाण्ड की ओर भी उन की रुचि थी। सूफी मत का उन्हें परिचय था। ज्ञान मार्गीय सिद्धान्तों की भी उन को पूरी जानकारी थी। परन्तु कार्य रूप में उन को रामभक्ति का सिद्धान्त ही सर्वाधिक मान्य था। वे ज्ञान, वैराग्य, योग के साधन और कर्मकाण्डीय प्रक्रिया का महत्व भी मानते थे किन्तु भक्ति उन के मत से सर्वोत्तम थी। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों के समन्वय और सहायता से उन्होंने, प्रत्युत, अपनी भक्ति का मार्ग प्रशस्त और पूर्ण बनाया था। उन्होंने अपनी भक्ति के अंग रूप में इन सभी सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। ज्ञान के विषय में भी ऐसा ही उन का सिद्धान्त था। ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तों को वे गलत नहीं ठहराते, प्रत्युत उन्हीं के आधार पर अपने भक्ति-मार्ग की नींव मजबूत करते हैं। तुलसी ज्ञान और भक्ति में अन्तर नहीं समझते, कारण दोनों का गन्तव्य स्थान या लक्ष्य एक है—पर ब्रह्म। केवल वहाँ तक पहुँचने के मार्गों का भेद है। गरुड़ को समझाते हुए काक भुशुण्डी ने कहा था—

ज्ञानहि, भगतिहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

ज्ञान के महत्व को गोस्वामी जी समझते हैं—

ज्ञान पंथ कृपाण कै धारा, परत खगेस ! होत नहीं बारा ॥

किन्तु उस की कठोरता और साधारण जीवन में अव्यवहार्यता को भी वे समझते हैं। ज्ञान का पथ सभी नहीं पकड़ सकते, उन की शक्ति के बाहर है। निराकार को लक्ष्य बना कर उस पर बुद्धि को ठहराना अत्यन्त कठिन कार्य है, साधारणजन के लिए सफलता दुराशा मात्र है। मन की रागात्मिका वृत्ति भी अत्यन्त प्रबल है, बुद्धि पर उस का प्रभाव भी विशेष पड़ता है। वह प्रेम वृत्ति सत्व प्रधान और असत्व—राजस तामस तत्व—प्रधान भी हो सकती है। जब वह सत्व प्रधान होती है, तब वह एकान्त शुद्ध आनन्दमय होती है। किन्तु जब वह राजस तामस होती है, जैसा कि वह प्रायः सदैव होती है साधारण जन में, तब विषय-लिप्सा आदि को जागृत करती है। मोह उत्पन्न होता है। बुद्धि कलुषित होती है। अतः ज्ञान मार्ग में यह कठिनाई सब से बड़ी है और यह वृत्ति नष्ट नहीं की जा सकती। अतः ज्ञान मार्ग की भूमि का स्तर ऊँचा होने पर भी साधारणजन के लिए अव्यवहार्य सा है। कोई एक दो ही अपनाकर सफल हो सकता है। उधर उसी रागात्मिका वृत्ति का यदि कोई ऐसा सत्व प्रधान आधार रखा जाय, जिस से कि वह सदैव सत्व प्रधान रहे, तो बुद्धि का क्षेत्र भी निर्भ्रान्त रह सकता है और उस रति वृत्ति का भी अलौकिक विकास हो सकता है। ऐसा लक्ष्य या आधार भगवान् के सगुण अवतारी रूप ही हैं। तुलसी ने श्रीराम के सौन्दर्य का वर्णन किया है—

राम काम सत कोटि सुभग तन दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।
मारुत कोटि सम विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास॥
ससि सत कोटि सो सीतल समन सकल भवत्रासा आदि।
विष्णु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम सँहरता॥

ऐसे सर्व सुन्दर और ऐसे रक्षक भगवान् के प्रत्यक्ष रूप में भला चित्तवृत्ति क्यों न टिकेगी? इस दृष्टि से भक्ति ज्ञान की अपेक्षा कहीं सरल तर है। इसीलिए तुलसी को भक्ति सिद्धान्त ही मान्य था, ज्ञान का नहीं। ज्ञान यद्यपि भक्ति के साथ सदैव रहता है उन के मत में। क्योंकि ज्ञान और

अज्ञान, सगुण और निर्गुण, तम और प्रकाश आदि सापेक्ष वस्तुएं हैं। एक की सत्ता के लिए दूसरी होनी चाहिए। उन्होंने कहा है—

ज्ञान कहैं अज्ञान बिनु तमबिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

अतः ज्ञान का उन्होने अपनी भक्ति के साथ समन्वय रखा है। क्योंकि ज्ञान की उदार दृष्टि के बिना, भक्ति निरा अन्धविश्वास भी हो सकती है। अतः ज्ञान से तुलसी ने अपनी भक्ति की नींव मजबूत की। इसी के आधार पर वे राम कृष्ण, शिव विष्णु ब्रह्मादिक मे भेद दृष्टि नहीं रखते थे। वैराग्य वृत्ति भी भक्ति के साथ लगी रहती है। इन सभी को अपनी भक्ति का अंग रूप मे सहायक बना कर उन्होंने अपने मार्ग का परिष्कार किया था। वे वादविवाद में न पड कर केवल भक्ति रस पीना चाहते थे—

वादविवाद स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहिं।

उन का सिद्धान्त था कि—

ज्ञान विराग जोग विज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि वर्ग जानिय सब कोऊ।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि ! यह रीति अनूपा॥

इस मे बताया है कि ज्ञान, वैराग्य आदि पुरुष रूप हैं और भक्ति नारी रूप है। भक्त स्वयं नारी रूप को प्राप्त हुआ नारियों के प्रति आकृष्ट नहीं होगा, बच जायगा। अतः यह मार्ग—भक्ति का—अधिक सुलभ और सुकर है। तभी वे कहते हैं—

सेव्य सेवक भाव बिना भव न तरिय उरगारि !

ज्ञान प्रतिपादक वाक्य उन्होंने बीच-बीच में अवश्य कहे हैं, जैसे—

गो गोचर जहँ लगमन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई।

किन्तु ज्ञान क्षेत्र में भी उन्हें विशिष्टाद्वैत वाद ही मान्य था, जो कि समस्त अवतार पूजाओं का आधार है। अद्वैतवादी वाक्य भी उन्होंने स्थान-स्थान पर कहे हैं, किन्तु विशेष बल उन का विशिष्टाद्वैत वाद पर ही है—

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन, अमल, सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयउ गोसांई। बांधेउ कीर मरकट की नाईं॥

ईश्वर और जीव के भेद को और भी स्पष्ट करते हैं—

मायावस्य जीव अभिमानी । ईस वस्य माया गुनखानि ॥
परवस जीव स्ववसभगवन्ता । जीव अनेक एक श्री कन्ता ॥

किन्तु इस माया के बन्धन से छुटकारा पाने को ज्ञान की अपेक्षा भगवान् की कृपा में ही अधिक विश्वास है—

"तुलसीदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहैं तुम्हारे तारे ।"
"तुलसीदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मनमांहि ॥"
"बिन तव कृपा दयालु दास हितु मोह न छूटै माया ।"
अतएव तुलसी ज्ञान का अभिमान न करके सदैव कहते थे—
"हौं जड जीव ईस रघुराया। तू माया पति हौं वसमाया ॥"
"ब्रह्म तू, हौं जीव तू ठाकुर हौं चेरो ।"
और तुलसी सदैव माँगते थे भक्ति का वरदान, मोक्ष का नहीं—
माँगत तुलसी दास कर जोरे । बसहिं राम सिय मानस मोरे ॥

इस प्रकार मानस में ज्ञान और भक्ति का पृथक्-पृथक् स्वरूप दिखा कर ज्ञान से भक्ति को समन्वित कर दिया गया है । भक्ति के बिना कोरा ज्ञान काम नहीं दे सकता, अव्यवहार्य है । मोह शृंखला के तोडने को राम । कृपा ही समर्थ है । यही उन का मुख्य सिद्धान्त रहा । इस से अधिक वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण मानस में नहीं है । न तुलसी का दृष्टिकोण ही ज्ञानवादी था । ज्ञान की चर्चा भक्ति की चर्चा करने के लिए यदा-कदा बीच में आ जाती है । नहीं तो मानस भक्ति का ही समुद्र है । उस में, बीच-बीच में ज्ञान और वैराग्य की लहरें इधर-उधर से कहीं से आ जाती हैं, परन्तु उन सब का उस अथाह समुद्र में लय हो जाता है । (देखिये सा० र० प्रश्न ३ प्रश्न २ संवत् २००२ दोनों विकल्प)

—०:०.०—

उत्तमा परीक्षोपयोगी

साहित्यरत्न प्रश्नपत्र उत्तर सहित

संवत् २००२ से २००६ तक

द्वितीय पत्र

लेखक—

श्री सुगणचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, देहली ।

प्रथम संस्करण   सं० २००७   मूल्य ३)

प्रकाशक—
श्री रामचन्द्र गुप्त
व्यवस्थापक—
रीगल बुक डिपो
नई सड़क, देहली।

सूचना

हिन्दी साहित्यरत्न के समस्त प्रश्नपत्र उत्तर सहित सं० २००२ से २००६ तक छप कर तैयार है।

प्रथम प्रश्नपत्र उत्तर सहित	लेखक श्री सुगणचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न मूल्य	२॥)
द्वितीय प्रश्नपत्र उत्तर सहित	लेखक श्री सुगणचन्द्र शास्त्री ,, ,,	३)
तृतीय ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,	२॥)
चतुर्थ ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,	२॥)
पंचम ,, ,,	विशेष कवि जयशंकर प्रसाद लेखक गोपीनाथ व्यथित	२॥)
षष्ठ ,, ,,	श्री जोधसिंह रावत	२॥)
सप्तम ,, ,,	श्री धर्मचन्द शास्त्री, साहित्यरत्न	२॥)
अष्टम ,, ,,	दमयन्ति गर्ग एम० ए० साहित्यरत्न	२॥)

मुद्रक—
पं० धर्मदेव
वैदिक प्रेस,
सीताराम बाजार देहली।

साहित्यरत्न प्रश्नपत्र उत्तर सहित

द्वितीय पत्र संवत् २००२

हिन्दी साहित्य—प्रश्न पत्र २

सूचना—केवल पांच प्रश्नों के उत्तर लिखिये। प्रथम प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है।

१. नीचे लिखे अवतरणों के अर्थ प्रसंग देकर लिखिये और यथा स्थान काव्य-सम्बन्धी सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाली टिप्पणियां भी दीजिये।

(क) अरुन किरन पसरंत........एकह मरै ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य चन्द के पृथ्वीराज रासो का है। वीर लोहान के रयसल्ल के साथ युद्ध का वर्णन है।

अर्थ—अरुण (बाल सूर्य) की किरणों के फैलते ही (सवेरे ही) रयसल्ल आन पहुँचा। बाण रूपी पक्षी चले (उड़ने लगे), मानो दो मल्ल भिड़ रहे हों। आजानु (लोहान) सम्मुख हुआ। उसकी तलवार ऐसी थी, मानो अग्नि दिखाई दी हो। वह (तलवार) रयसल्ल के कन्धे पर ऐसे पड़ी, मानो ऊपर बिजली चमकी हो। लोहान की तीखी तलवार घुमकने लगी, कोई धक्के खाता था और कोई मर जाता था। रुधिर का भारी परनाला चलने लगा। एक ही घाव में एक मर जाता था।

युद्ध का वर्णन है। वीभत्स और वीर रसों का वर्णन है। महाकवि चन्द ने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। बाणों में पक्षी का आरोप रूपक है। दो मल्लों के जुटने में उत्प्रेक्षा है। आगे, तेग में भी अग्नि की उत्प्रेक्षा की गई है। इसी प्रकार आगे तलवार के गिरने में बिजली की उत्प्रेक्षा की गई है। अतिश-

योक्ति या अत्युक्ति थोड़ी बहुत सर्वत्र रहती ही है। कवि का वर्णन जोशीला है। वैसी ही भाषा भी ओजस्विनी है।

अथवा

पहुँचे सुजाइ··· ··· ··· ···खेत सोह ॥

प्रसंग—पृथ्वीराज रासो का पद्य है। पद्मावती के साथ विवाह का वर्णन है। पद्मावती को घोड़े पर चढ़ाकर चल पड़ने पर अन्य राजाओं की सेनाए पृथ्वीराज का पीछा करती हैं और पश्चात् युद्ध होता है।

अर्थ—(पृथ्वीराज के आगे चल पड़ने पर) वे तेज घोड़े वहाँ जा पहुँचे (जहां पृथ्वीराज था। उसके पास) राजाओं की मुठ-भेड़ हुई और योद्धा लोग जंग में जुट गये। पृथ्वीराज ने (लड़ने के लिए) जो बाग (घोड़े की) मोड़ी तो आकाश मे सूर्य ठहर गया और शेषनाग नीचे धसकने लगा। शूर-वीर योद्धाओं के लिए काल-रूप तलवार को पकड़ कर (राजा पृथ्वीराज) बड़े जोश से चलाने लगा। कमानों से अपार बाण छूटने लगे और ऐसे ही लौह-कवचों पर तलवार की धार पड़ने लगी। उस भयंकर युद्ध में सब वीर जूझ गये। घने रक्त के प्रवाह से रेत भी लाल हो गया। बरात के जो योद्धा गए थे, उन्हें मार गिराया और शत्रुओं के रुण्ड मुण्ड युद्ध में पड़े शोभा पा रहे थे।

पृथ्वीराज के घनघोर युद्ध का वर्णन है। वीर और वीभत्स रस का प्रवाह है। अतिशयोक्ति और रूपक के साथ अत्युक्ति भी है। भाषा वीर रस के उपयुक्त गुण लिये है। वर्णन प्रवाहमय है। युद्ध की भीषणता प्रत्यक्ष हो जाती है।

(ख) तारन की जोति आदि कवित्त अब नवीन संग्रह में नहीं है।

अथवा

नाहीं नाहीं करैं···· ···· ···· इकसार है ॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य सेना-पति का है। कवि ने श्लेष के द्वारा कंजूस और दानी दोनों का अर्थ व्यक्त किया है।

अर्थ—(दाता याचक को) 'नाहीं' नहीं करता और थोड़ा सा मांगने पर भी सारा (जितना उसके पास हो) देने को कहता है (और सूम मांगने पर ना, ना ही करता है और थोड़ी सी चीज मांगने पर भी सब का कह देता है, दें न, नहीं देंगे, नहीं देंगे। (दाता) मंगतों को देखकर बार बार पट (वस्त्र अथवा फौरन) देता है। (सूम मंगतों को देखकर पट (किवाड़) लगा लेता है।) जिनको (दाता लोगों को) मिलने से अच्छे लाभ की घड़ी (सुयोग) होती है (सूम को मिलने पर अच्छे लाभ (प्राप्ति की घटती (घटी-कमी) होती है।) और (जो) सदैव सब जनों के मन को अच्छी तरह भाते हैं अर्थात् जो सब को अच्छे लगते हैं। (सूम सब जनम में भी नहीं भाते अर्थात् सूम सबको जीवन भर नहीं भाते।) (दाता) पृथ्वी मे भोगी (ऐश्वर्य भोग करने वाला) होकर रहता है और आनन्द (विलास) करता है (और सूम पृथ्वी के मध्य (अन्दर) में भोगी (सर्प) बनकर सैंकड़ों बिलों (बिलसत) में रहता है।) (दाता) कनक (सोने] को भी नहीं जोड़ता (दे देता है।) और दान के पाठ में देने में) सारा परिवार ही पटु है अर्थात् परिवार ही वदान्य है। (सूम कण कण करके जोड़ता है और दान के पाठ (अध्ययन) की उसके लिए सदैव परिवा (पड़वा-अनाध्या) ही रहती है (अर्थात् वह कभी देता ही नहीं, जैसे विद्यार्थी कभी पड़वा को नहीं पढ़ते।) सेनापति कहते हैं, (हमारी।) उक्ति की रचना पर विचार करो, जिसमें दाता और सूम दोनों एकसार (बराबर, एक से) बना दिये गये हैं।

बहुत ही चमत्कारक ढंग से कवि ने दाता और सूम दोनो का वर्णन किया है। श्लेष का विशेष चमत्कार है। श्लेषालकार के द्वारा ही ऐसे चमत्कार पूर्ण दो अर्थ बताये जा सकते थे। भाषा प्रवाहमय और परिमार्जित है।

(ग) अरिके वह आज ... ...गुपाल, गुही ॥

प्रसंग—कविवर देव का पद है। किसी गोपिका की प्रेमोत्पत्ति का वर्णन है) अड़ (ज़िद) करके आज कृष्ण के रूप और गुण से लुभाई हुई वह अकेली ही (उनकी) पशु शाला को गई। उन्होंने (कृष्ण ने) भी अपना गले का हार उसके (गोपी के) गले में पहिना कर, मुस्कराकर और गाकर, गाय दुही। कवि देव कहते हैं, कोई चाहे अब कुछ ही क्यों न कहो, वह तो तब से ही उनके प्रेम से छूई गई (प्रेम का स्पर्श हो गया)। वह बालवधू सबसे यही कहती है कि देखो री ! यह माला गुपाल की गूंथी हुई है (प्रथम प्रेम में लोक लज्जा भूल गई)।

बहुत ही सुन्दर कोमल और मधुर भाषा में, एक सुन्दर कोमल और मधुर भावना का सजीव चित्र खींचा है। किसी की न मान कोई कृष्ण की पशु शाला में जाती है। कृष्ण केवल अपना हार पहिना कर, हंसकर गाकर गाय दुहते हैं। कितना स्वाभाविक और मोहक चित्र है। व्यंजना का अद्भुत चमत्कार है। भाषा अनुप्रास के माधुर्य से परिपूर्ण है।

दूसरा वैकल्पिक पद्य अब नवीन संग्रह में नहीं है।

(घ) इक भीजै चहलै ········ चढ़ती बार ॥

प्रसंग—बिहारी का दोहा है। नव यौवन के विषय में उक्ति है।

अर्थ—नदी और आयु चढ़ती हुई संसार में कितने अवगुण नहीं करतीं ? कोई इसमें भीग जाते हैं, कोई लड़खड़ा जाते हैं, कोई गिर जाते हैं और हजारों डूब और बह जाते हैं।

महाकवि बिहारी ने छोटे से दोहे में नदी और नवयौवन का साम्य दिखाया है। दीपक का सुन्दर उदाहरण है। अर्थश्लेष से यह घटित हुआ है। अर्थश्लेष के बिना दोनों के धर्म समान नहीं हो सकते।

अन्त मरैंगे···· ······अँगार ॥

प्रसंग—बिहारी ने किसी विरहोन्मादिनी का वर्णन किया है। उसे ढाक के लाल टेसू अंगारे दिखाई देते हैं।

अर्थ—विरहिणी सखी से कहती है, हे सखी ! अन्त में तो मरना ही

है, चल पलाश की डाल पर चढ़ कर जल मरें। फिर नहीं मर सकेंगे, क्योंकि ये बिना धूंएँ के अंगारे नहीं मिलेंगे।

विरहोन्माद दशा में टेसू बिना धूंएँ के अंगार दिखाई देते हैं। आत्यन्तिक विरह का सूचन होता है। भ्रम अलंकार है, सादृश्य के कारण एक में दूसरे का भ्रम हो गया है। भाषा कोमल और मधुर है।

नहिं पावस .... फल फूल ॥

प्रसंग—बिहारी ने वृक्ष की अन्योक्ति के द्वारा बताया है कि बिना कष्ट पाये, कुछ नहीं मिलता। समयानुसार सुख और दुख होते हैं।

अर्थ—हे वृक्षवर! यह वर्षा ऋतु नहीं, अपितु ऋतुराज वसन्त है, मत भूल। (इस ऋतु में) बिना पत्तों के हुए बिना नये पत्ते फल फूल आदि कैसे मिल सकते हैं? (पतझड में सूखे बिना नवदल आदि नहीं मिल सकते) अन्योक्ति अलंकार है।

या भव पारावार को .... ही आई ॥

प्रसङ्ग—बिहारी ने इस दोहे मे स्त्री की मोहिनी का वर्णन किया है।

अर्थ—इस संसार रूपी समुद्र को लांघ कर कौन पार जाय? सुन्दरी रूपी छायाग्राहिणी (लंका के समुद्र में रहने वाली एक राक्षसी, जो पानी पर पड़ती हुई छाया से ही पकड़ कर पक्षियों को नीचे गिरा लेती थी। हनुमान ने उसे मारा था) बीच में ही आकर पकड़ लेती है।

कवि ने स्त्री के आकर्षण की शक्ति का द्योतन किया है, जो साधना मार्ग में भारी व्यवधान उपस्थित कर देती है। उसके आकर्षण से कोई बचे, तो संसार समुद्र से पार जाय। सांग रूपक है। कवि इसके प्रयोग में सिद्धहस्त है। प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में ऐसे गंभीर अर्थों का व्यंजन बिहारी का ही कार्य है!

अथवा

मंगल बिन्दु .... जगत ॥

प्रसंग—बिहारी ने किसी नायिका की भूषा का वर्णन किया है।

अर्थ— मस्तक का बिन्दु मंगल रूप है, मुख चन्द्रमा है और केशर

का आडा तिलक गुरु (वृहस्पति) है। इन तीनों ने एक नारी (राशि का आश्रय लेकर संसार के लोचनों को जल पूर्ण कर दिया है। भाव यह है कि उस सुन्दरी को देख कर संसार प्रेम में पड़ कर रो रहा है।

मंगल, चन्द्रमा और वृहस्पति के एक राशि का आश्रय लेने से वर्षा का योग होता है, ज्योतिष के अनुसार। विहारी ने इस रूपक का व्यवहार करके अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय दिया है। उधर नायिका का सौन्दर्य भी संसार के नेत्रों को अश्रुपूर्ण कर रहा है। विहारी के अर्थ-गाम्भीर्य का यह दोहा सुन्दर उदाहरण है।

जो चाहो चटक ....चीकने चित्त ॥

प्रसंग— विहारी ने वास्तविक मित्रता के निभाने की विधि बताई है कि मित्रता निःस्वार्थ भाव से ही ठहर सकती है।

अर्थ— यदि चाहते हो चमक (शोभा) न घटे और मैला न हो, तो हे मित्र स्नेह (प्रेम) से चिकने चित्त पर रजोगुण (स्वार्थ) की धूलि न लगने दो (स्वार्थ के वीच में आजाने से प्रेम शुद्ध नहीं रहता)।

यह भी विहारी की समास व्यास की सामर्थ्य का ही परिचायक है। यहां भी कवि ने रूपक का ही आश्रय लिया है, जिस के कारण भाव और भी चमत्कृत होकर विशद हो जाता है। चिकनी चीज पर धूल पड़ जाने से उसकी चमक घट जाती है। स्नेही हृदय में भी स्वार्थ की धूल पड़ जाने से उस का निर्मल रूप नहीं रहता। रूपक के साथ अनुप्रास की भी छटा है। भाषा संक्षिप्त और सामर्थ्यवती है।

पट पांखे .... तुहीं विहग

प्रसंग— विहारी ने पक्षी की अन्योक्ति से स्वच्छन्दता के सुख का वर्णन किया है।

अर्थ—तुम्हारे पंख ही वस्त्र हैं, कांकर खाते हो, प्रिया सदैव साथ रहती है हे आकाश में उडने वाले पक्षी ! पृथ्वी पर केवल एक तूही सुखी है। पहिनने, खाने, प्रेम और स्वच्छन्द विहार में पूर्ण स्वतन्त्र होने के कारण केवल पक्षी को ही सुखी वताया गया है। सारूप्य नियन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति अलङ्कार है। विहंग विशेषण साभिप्राय है। अतः परिकर भी है।

कौन भांति रहिहै······ गीधहिं तारि ॥

प्रसंग—बिहारी का भक्ति का पद है भगवान को चैलेंज दिया जा रहा है।

अर्थ—हे मुरारी ! अब देखना है, किस प्रकार से आपकी कीर्ति स्थिर रहेगी। तुम गीध (जटायु) को तारकर ही फूल गये थे, किन्तु अब मेरे से आकर बिधे हो (अब मेरे से पाला पड़ा है)।

बिहारी ने भगवान् से कहा है कि उसे तारें, तभी भगवान् की कीर्ति स्थिर रहती है। गीध का तार देना तो साधारण कार्य था। दोहे से बिहारी की निरभिमानता व्यक्त होती है। उक्ति चमत्कार-पूर्ण है। अनुप्रास का चमत्कार भी विद्यमान है। भक्ति व्यंग्य है।

२. प्रश्न १ के अवतरण (ख) १ और (ग) २ तथा (घ) २ में जो अलङ्कार आये हों, उनका उल्लेख कीजिये।

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर पद्यार्थों के साथ ही आ चुका है। वहीं अलंकारों का भी निर्देश हो चुका है।

३. पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौन्दर्य का स्पष्टीकरण कीजिये अथवा इसकी प्रामाणिकता पर युक्ति-पूर्ण टिप्पणी लिखिये

उत्तर—पृथ्वीराज-रासो हिन्दी-साहित्य का आदि महाकाव्य माना जाता है। इस में चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की समस्त मुख्य मुख्य घटनाओं का लगभग अढ़ाई हजार पृष्ठों और ६९ समयों या अध्यायों में वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के विषय में विभिन्न विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कोई इसे जाली भाटों की कल्पना-मात्र और कोई प्रामाणिक मानते हैं। कोई सा भी मत ठीक हो, इतना तो सभी को स्वीकार है कि यह महाकाव्य आज जिस रूप में प्राप्त होता है वह इसका असली रूप नहीं है. इसमें अधिकांश प्रक्षिप्त वाद का जोड़ा हुआ है। ऐसी दशा में इस महाकाव्य के काव्य-सौन्दर्य का वर्णन करना कठिन ही है, क्योंकि जब तक असली ग्रन्थ के ही रूप का पूर्ण निश्चय नहीं काव्य सौन्दर्य किस का देखा जाय ? तो भी यथा-प्राप्य की काव्य-कला का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

रासो में महाकाव्य के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। यह सर्गबद्ध है, इसका नायक धीरोदात्त सत्कुलीन क्षत्रिय है, शृंगार वीर और शांत रसों में से इस काव्य में वीर रस प्रधान है और अन्य रस उसके अंग हैं। इसकी कथा इतिहास-प्रसिद्ध है, जिसका नाटकीय सन्धियों में विभाजन है, स्थान स्थान पर प्रसंगानुकूल इसमें संध्या, प्रातः, चन्द्रमा, संभोग, विप्रलंभ, रणयात्रा, पुत्रजन्म, नदी, तालाब आदि प्राकृतिक चित्रों का भी विभिन्न छन्दों में वर्णन है, जो कि किसी महाकाव्य की विशेषताएँ होती हैं। किन्तु, कुछ डा० श्याम-सुन्दर दास प्रमुख विद्वान् इसमें कथा का विकास प्रबन्ध काव्य के ढंग का नहीं पाते, उन्हें यह ग्रन्थ विभिन्न प्रमुख घटनाओं का संग्रह-मात्र दिखाई देता है। अतः वे इसे एक वीर-काव्य-संग्रह ही मानते हैं। अन्य विद्वान् रासो को रासक का अपभ्रंश मानकर, इसे प्रदर्शन करने के उपयुक्त महाकाव्य मानते हैं। उनके मत से इसमें पृथ्वीराज की विशेष विशेष घटनाओं का ही नाटकीय प्रदर्शन के लिए संकलन किया गया है, यद्यपि कथा-सूत्र उन सब में विद्यमान है। इसी कारण, उनका कहना है, कि इसका प्रारम्भ चन्द और उसकी पत्नी के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है, चन्द की पत्नी प्रश्न करती है और चन्द उसके उत्तर रूप में समस्त कथा सुनाते हैं। कुछ भी हो, इसकी महाकाव्यता में किसी का विमत नहीं है। घटनाओं में विशेष क्रम-विकास न होने पर भी जीवन के प्रायः प्रत्येक रूप का इसमें वर्णन हुआ है।

रासो के विषय में कहा गया है—

काव्य समुद्र कविचन्द कृत मुगति समप्पन ज्ञान।
राजनीति बोहित सुफल पार उतारन यान॥

रासो ऐसा ही वास्तविक ग्रन्थ-रत्न है। इसमें काव्य-सौन्दर्य के साथ ज्ञान, मुक्ति, राजनीति, ज्योतिष आदि का भी ज्ञान दिया गया है, जिसका फल इसके विधि पूर्वक श्रवण से ही होना बताया गया है। चन्द महाकवि थे और साथ ही षड्भाषा, व्याकरण, साहित्य छन्द, ज्योतिष वैद्यक

संगीत आदि के भी उद्भट विद्वान् थे। इन सभी का परिचय इस महाकाव्य में पूर्णतया मिलता है। चन्द ने काव्य के रसादि का तो मधुर चित्रमय वर्णन किया ही है, साथ ही काव्य के बाह्य अलंकार आदि के चमत्कार का भी पूर्ण प्रकाश किया है। चन्द काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। अतः उन्होंने काव्य कला का अत्यन्त सफल और चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन किया है। चन्द की कल्पना अनन्त शक्तिमती थी। उसी के बल पर इन्होंने अपने वर्ण्य विषयों का विशद, चमत्कार पूर्ण और चित्रमय वर्णन किया है। वैसी चन्द की शैली भी है, जिसमें वीर रस के उपयुक्त ओज और अन्य कोमल रसों के उपयुक्त कोमलता और स्वाभाविकता प्रभूत मात्रा में मिलती हैं। प्रसगानुकूल रस रीति, अलंकार आदि के साथ काव्य में संगीत का सुन्दर विधान किया गया है। रासो के काव्य-सौन्दर्य के विशेष दर्शन के लिए उसके रूप-वर्णन, सौन्दर्य वर्णन और युद्ध वर्णन के स्थल विशेष उपयुक्त हैं। इसके काव्य सौन्दर्य की, इसलिए, टाड आदि विदेशी साहित्य-खोजी विद्वानों ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

इसकी भाषा का मुख्य रूप डिंगल होते हुए भी वह शुद्ध नहीं है। उसमें संस्कृत अपभ्रंश प्राकृत आदि का सम्मिश्रण है। पिंगल भाषा की शैली भी अधिकांश में अपनाई गई है। साथ ही अर्बी फारसी पंजाबी आदि के शब्द भी मिलते हैं। इन सब के सम्मिश्रण से भाषा अत्यन्त रसमय, प्रवाहमय और बलवती होकर विषय के अनुकूल चली है। संक्षेप में चन्द सच्चे अर्थों में रस-सिद्ध कवीश्वर थे, यह उनके इस महाकाव्य से सिद्ध हो जाता है।

अथवा

रासो की प्रामाणिकता के विषय में आजकल अनेक मत-विभेद प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् इसको भाटों की कोरी कल्पना मात्र मान कर सर्वथा जाली या कपोल-कल्पित बताते हैं और कुछ ऐसा नहीं मान कर इसको प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं, जिसमें अनेक बाद के जोड़े हुए प्रक्षिप्तांश भी विद्यमान हैं।

अधिकांश विद्वान् इस दूसरे मत के ही पक्षपाती हैं। इन मतों का संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

रासो की ८—६ प्रतियां मिलती हैं, जिनके परिमाण में बहुत भेद है—किसी में कितने श्लोक हैं और किसी में कितने। उनमें १२०० से लेकर एक लाख की श्लोक संख्या मिलती है। भाषा का विभेद भी बहुत है। किसी स्थल पर भाषा बहुत पुरानी है, कहीं मध्य-कालीन और कहीं उससे भी अर्वाचीन।

इसी आधार पर मुरारी दीन और श्यामलदान ने सर्व-प्रथम रासो को अप्रामाणिक ठहराने का प्रयत्न किया। पश्चात् डा० बुलर और ओझा प्रभृति ऐतिहासिकों ने इसी मत का और भी अधिक बृहद् रूप में प्रतिपादन करके रासो को जाली सिद्ध किया। उनके मत का आधार संक्षेप में निम्न तर्क हैं—

१—इसमें की ऐतिहासिक घटनाएं अन्य तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों, दान पत्रों और शिला-लेखों आदि में वर्णित घटनाओं से भिन्न हैं। कश्मीरी कवि और पृथ्वीराज के समकालीन जयानक द्वारा लिखित पृथ्वीराज-विजय नामक संस्कृत काव्य में वर्णित पृथ्वीराज के जीवन की अनेक घटनाएं, माता पिता आदि के नाम, वंश-परिचय आदि ऐतिहासिक तथ्यों से मेल खाती हैं, किन्तु उसमें वर्णित घटनाओं में और पृथ्वीराज रासो की अनेक घटनाओं में महान् अन्तर है। उसमें कहीं भी चन्द वरदायी नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज की सभा में होना नहीं लिखा गया। रासो में लिखा है दिल्ली के तँवर राजा अंनगपाल की छोटी पुत्री कमला का पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर से विवाह हुआ था, अंनगपाल पृथ्वीराज को गद्दी देकर बद्रीनाथ की यात्रा को गया था, समर सिंह पृथ्वीराज की बहिन पृथा का पति था, पृथ्वीराज ने गुजरात नरेश भीम से अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया था, पृथ्वीराज के ३६ वर्ष की अवस्था तक १४ विवाह हुए थे, गजनी जाना, संयोगिताहरण की कथा आदि घटनाएँ, शिलालेख, पृथ्वीराज विजय, हम्मीर रासो आदि अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं के प्रतिकूल हैं।

२—रासो में दिये हुए सम्वत् और तिथियां आदि गलत हैं। उनमे और अन्य इतिहास-ग्रन्थों की तिथि सम्वत् आदि में ६०—१०० वर्ष का अन्तर मिलता है। पृथ्वीराज के जन्म अमर, राज्यारोहण आदि की तिथियां अशुद्ध हैं।

३—भाषा में अरबी फारसी आदि के शब्द रासो की प्राचीनता का खण्डन ही करते हैं, क्यों कि उस समय मुसलमानों का इतना प्रभुत्व इस देश में नहीं हुआ था।

४—भाषा का रूप अस्थिर है। उसमें अत्यन्त प्राचीन भाषा की भी विशेषताएँ हैं और नवीन की भी। अनुस्वार की भरमार है। प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों की भरमार है। भाषा की संयोगान्त और वियोगान्त दोनों दशाएं रासो की भाषा मे मिलती हैं। विभक्तियां भी नवीन और पुरातन दोनों प्रकार की मिलती हैं।

मुख्यतया इन्ही आधारों पर वे रासो को सत्रहवीं अट्ठारहवी शताब्दी की रचना मानते हैं, पृथ्वीराज के समकाल की नहीं।

इनके विपक्ष में बा० श्याम सुन्दरदास, मिश्रवन्धु, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या आदि विद्वान् इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं और उपर्युक्त तर्कों का खण्डन निम्न प्रकार से करते हैं।

१.—इतिहास की घटनाओं से विरोध होने के, इनके मत में, तीन कारण थे—१. चन्द ने पृथ्वीराज के शौर्य वीर्य आदि का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया है, जो कि कल्पना प्रधान एक महाकवि के लिए स्वाभाविक है। २. इतिहास की भ्रान्तियां भ्रान्तियां नहीं हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अनेक दान-पत्रों, ताम्र-पत्रों आदि से वे मेल खा जाती हैं। ३. अनेक भ्रान्तियां प्रक्षिप्त अंशों के कारण प्रतीत होती हैं।

२.—संवतों और तिथियों में सर्वत्र प्रायः ६० वर्ष का अन्तर रहता है। इसके लिए, इस पक्ष के विद्वानों ने, एक अनन्द संवत् का पता लगाया है, जो उस समय प्रचलित था। यह संवत् शास्त्रीय संवत् से ६० वर्ष ही पीछे रहता है। चन्द ने इसी संवत्

का प्रयोग किया है। मिश्रबन्धु और पाण्ड्या जी इस मत के पोषक हैं।

३.—विदेशी अर्बी आदि भाषाओं के शब्दों के विषय में कहा जाता है कि मुसलमानों का यद्यपि उस समय इस प्रदेश में आधिपत्य अवश्य नहीं हुआ था, किन्तु उनका सम्पर्क होने लगा था। सिन्ध में उनका राज्य कायम हो गया था, पंजाब में भी उनका प्रभाव हो गया था। उनके साथ व्यापारिक संबन्ध भी होता था। चन्द पंजाबी लाहौर का निवासी था। अतः इन कारणों से उन की भाषा में १० प्रतिशत अर्बी फारसी आदि के शब्द घुस गये हैं। अथवा रासो में पश्चात् के समयों में प्रक्षिप्त पाठ भी जोड़े गये। इसलिए भी फारसी आदि के शब्दों का आगमन हो गया।

४.—भाषा के विषय में इन लोगों का कहना है कि रासो की भाषा का प्राचीन रूप उसकी प्राचीनता और अतएव उसकी प्रामाणिकता का भी पोषक है और नवीन रूप इसके प्रक्षिप्त अंशों की नवीनता का सूचक है।

इन युक्तियों के आधार पर ये लोग रासो को प्राचीन और प्रामाणिक तो मानते ही हैं, किन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि इस में प्रक्षिप्त अंश भी पर्याप्त हैं।

यही मत अधिकतया मान्य है। रासो जैसा बृहद् अपूर्व महाकाव्य ग्रन्थ सर्वथा जाली नहीं हो सकता। यह ग्रन्थ चन्द द्वारा ही पृथ्वीराज के समय में लिखा गया था, यद्यपि इस का आकार उस समय इतना बड़ा नहीं था। इसकी अनेक घटनाएं फारसी के इतिहास ग्रन्थों से और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ऐतिहासिक दान-पत्रों आदि से पुष्ट हो जाती हैं। जो घटनाएं नहीं मिलतीं या इतिहास-विरुद्ध प्रतीत होती हैं, उनमें अधिकांश प्रक्षिप्त हैं। भाषा भी समय समय पर बदलती रही। क्योंकि इसकी कोई प्रामाणिक प्रतिलिपि नहीं थी। अधिकतर यह भाटों की स्मृति के आधार पर ही चलता रहा। यही कारण है, भाषा कई मेल की मिलती है।

इसके अतिरिक्त उस समय की ऐतिहासिक खोज भी अभी अधूरी ही है । संभव है और खोज होने पर रासो विषयक अनेक भ्रान्तियां दूर हो जायं। अतः, ओझा जी आदि की केवल उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर रासो जैसे अपूर्व काव्य-कलापूर्ण महाकाव्य को सर्वथा अप्रामाणिक मान लेना हिन्दी साहित्य के प्रति महान् अन्याय करना है । अपने अनेक प्रक्षिप्त अंशों के साथ भी रासो चन्दकृत हिन्दी का आदि महाकाव्य है, जो बाद के काल में अर्द्ध शिक्षित चारणों के हत्थे चढ़ कर आज के रूप को प्राप्त हुआ है।

४.—देव और बिहारी के काव्य की तुलनात्मक आलोचना लिखिये ।

उत्तर—विहारी और देव दोनों महाकवि थे। काव्य के आन्तर् और बाह्य पक्ष का दोनों के काव्य में पूर्ण विकास है। दोनो ने रस भाव आदि के मनोहर चित्र उतारे हैं । दोनो का ही विशेष प्रिय रस शृंगार था यद्यपि अन्य रसों की भी उक्तियां दोनों की मिल जाती हैं। दोनों की ही भाषा टकसाली शुद्ध मानी जाती है। दोनों को ही काव्य कला के समान ही भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। भाषा दोनों की वशवर्तिनी होकर चली है। दोनों ही रीति काल के प्रतिनिधि कवि हैं । दोनों ने ही नायक नायिकाओं के विविध भेदों के रूप-मधुर भावमय चित्र उतारे हैं। दोनों ही सौन्दर्य के चितेरे भावुक और रसिक रससिद्ध कवीश्वर थे। दोनों ही काव्य शास्त्र आदि के पण्डित थे।

किन्तु दोनों में विभेद भी है । विहारी का केवल एक ग्रन्थ 'विहारी सतसई" मिलता है और देव ने लगभग १०-१२ ग्रन्थों की रचना की जिनके विषय भिन्न भिन्न हैं, भक्ति, संगीत, काव्य, शृंगार नीति, वैराग्य आदि। विहारी विशेषतया चमत्कार-प्रिय कवि हैं। वे भाव-चमत्कार और बाह्य चमत्कार दोनों को प्रेम करते हैं। और, देव विशेषतया, मधुर भावों के ही चित्र बनाने में सिद्धहस्त हैं। विहारी मे अनुपम समास शक्ति है, छोटे से दोहे जैसे छन्द में उन्होंने इतने गंभीर और विशद अर्थों का अभिव्यंजन किया है कि केवल सात सौ दोहों के बल पर ही उन्हें महाकवि का स्थान मिल गया है। और देव ने अधिकतर कवित्त सवैया आदि बड़े

छन्दों का प्रयोग किया है और न उन्होंने विहारी के समान व्यंजना से ही उतना काम लिया है। उन्होंने तो विभिन्न देशों की नायिकाओं के भावों आदि के स्वाभाविक विशद चित्र ही अधिक बनाये हैं। विहारी में उक्ति वैचित्र्य और कला चमत्कार अधिक है, और देव में कम। विहारी ने जहां शब्दों से, सूक्ष्म संकेतों से रसों या भावों के अलंकृत भाषा में चित्र खड़े किये हैं, वहां देव ने उन्हीं के लिए वाक्यों और स्वाभाविक स्थूल वर्णन से काम लिया है। विहारी की दृष्टि अलंकार पर भी उतनी ही रहती थी जितनी भाव पर और देव की अधिकतया भाव पर।

इनके अतिरिक्त विहारी देव से ७०-८० वर्ष पूर्व हो चुके थे। देव के समय में विहारी के दोहे खूब प्रचलित थे। अतः देव उनके काव्य से प्रभावित भी हुए। यद्यपि देव ने विहारी का चमत्कार-प्रेम उतनी मात्रा में नहीं लिया, पर उनकी वर्णन शैली, उनके अनेक रूपकों और भावों का देव ने अविकल ग्रहण किया। विहारी के भावों की छाया देव में अनेकत्र दिखाई पड़ जाती है। विहारी ने जिस भाव को दोहे में बिठाया है, देव ने उसे बड़े छन्द में ढाला है। निम्न उद्धरण इसके प्रमाण हैं:—

हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो यह गांव?
कहा जानि ये कहत हैं ससिहिं सीत कर नांव॥

इस लहजे और भाव को देव कई जगह लाये हैं, देखिये—

हौं ही भुलानी कि भूले सबै, कहैं ग्रीषम सरदागम माईं।

❀ ❀ ❀ ❀

बाल! कहा लाली भई, लोयन कोयन मांहि।
लाल! विहारे दृगन की परी दृगन में छांह॥—विहारी।

❀ ❀ ❀ ❀

भोरभये मन भावन आये औ प्यारी तिन्हें लखिकै-दृग फेरे।
सीधे सुभायन लाल कही, कहु काहिक लाल विलोचन तेरे?
बोल उठी तिय मान भरी औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रंगे दृग रावरे, रावरे रंग रंगे दृग मेरे॥

❀ ❀ ❀

ग्रीपम वासर सिसिर निसि, पिय मो पास बासय ।—बिहारी।
लै सिसिरौ निसि, दै दिन ग्रीपम, आंखिन राखि गये ऋतु पावस।—देव

\+ \+ \+ \+

दुहुं ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय ।– बिहारी।
धाई फिरै फिरकी सी दुहूँ दिसि देव दुवौगुन जोर के ऐंची।—देव।
आजु मिले सुभली करी भले बने हौ लाल ! बिहारी।
... .भली भई आजु भले घनि आये ।—देव।

किन्तु यह भाव–साम्य चौर-कृत्य नहीं है। देव स्वतंत्र प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। किन्तु बिहारी जैसे कवि का संस्कार रूप में देव पर प्रभाव न पड़ना अस्वाभाविक सा होता। इस प्रकार का भाव-साम्य अनेक महाकवियों में मिलता है। कभी कभी किसी महाकवि के भाव के सामने उस विषय में अन्य कोई उससे अच्छा भाव सूझता ही नहीं। कभी कभी किसी का भाव किसी को इतना पसन्द आजाता है कि वह जानबूझ कर उसको अपनी शैली में ढाल देता है। ऐसे ही अन्य कारण भी हो सकते हैं। प्रमाण रूप में देव की स्वतंत्र प्रतिभा का चमत्कार उनके काव्य-कानन में बिखरा पड़ा है। यों तो बिहारी के भी अनेक भावों का आधार गाथा–सप्तशती, अमरुक शतक आदि प्राकृत और संस्कृत के काव्यों के पद्य हैं। बिहारी ने उन भावों को लेकर अपने ढंग में सजाकर अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार का दानादान सदैव चलता है। बिहारी और देव दोनों पर ही प्रथम के कवियों का प्रभाव पड़ा था। किन्तु दोनों ने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का विकास अपनी रचनाओं में दिखाया। दोनों के काव्य हिन्दी की अमर विभूतियां हैं, जिनका रसास्वादन प्रत्येक काल में सहृदय लोग करते रहेंगे।

प्रश्न ५—राजस्थान के दो प्रमुख वीर रस या शृंगार रस के कवियों का परिचय दीजिये और उनके काव्य पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—राजस्थानी साहित्य के वीररस के कवियों मे दलपत विजय और सूर्यमल प्रमुख कवियों में से हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न दिया जाता है।

१ दलपत विजय—इन्होंने 'खुम्माण रासो' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें मेवाड़ के खुमाण (द्वितीय) के बगदाद के खलीफा अमामूं के साथ हुए युद्धों का वर्णन है। इनकी जाति के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें भाट मानते हैं। कुछ इन्हें जैन साधु बताते हैं। इन्हें चित्तौड़ के रावल खुमाण (द्वितीय) का समकालीन माना जाता है। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवन वृत्त ज्ञात नहीं है।

इनका काव्य भी असंदिग्ध नहीं है। इस काल के अन्य काव्य ग्रन्थों के समान इसकी भी सामग्री संदिग्ध है। इसमें रावल खुमाण (द्वितीय) के २४ युद्धों के वर्णन से लेकर राणा प्रताप तक का वर्णन है। वर्णन वीर रस-पूर्ण है। रावल खुमाण ने खलीफा की सेनाओं को बार बार परास्त करके भगाया था। इन सबका दलपत विजय ने अपनी स्वाभाविक प्रवाहमय और ओजस्विनी डिंगल भाषा में जोशीला वर्णन किया है। भाषा में भी विभेद है। प्रथम भाग की भाषा पृथ्वीराज रासो की भाषा से भी प्राचीन काल की है और बाद के भाग की महाराणा प्रताप के काल (सत्रहवीं शताब्दी) की है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री आचार्य शुक्ल जी को प्राप्त हुई थी, जो नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित है। इसके २६० पृष्ठ हैं। महाराणा प्रताप तक के वर्णन से अनुमान किया जाता है कि यह ग्रन्थ पहिले से अपूर्ण रूप में चला आ रहा था, महाराणा प्रताप के समय में इसका पुनर् लेखन हुआ और इसमें उनका वर्णन भी जोड़ दिया गया। अतएव यह भाषा-भेद मिलता है। शिवसिंह सेंगर ने इस काव्य का दलपत विजय नामक किसी भाट को लेखक बताया है। किन्तु निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि दलपत विजय ने इसके पूर्व भाग को बनाया था या पश्चात् के को। एक उदाहरण—

आव आव अम्बाव भगति की जे भारत्ति।
जाग जाग जगदम्ब ! सन्त सानिध सकत्ति॥

इसका रचना काल १७०० ई० से १७६० तक माना जाता है।

कविराजा सूर्यमल्ल का जन्म चारणों की मिश्रण शाखा के वंश में सं० १२७२ में बूंदी में हुआ था। इनके पिता का नाम चण्डीदान था।

इनके पिता भी बूंदी के राज-कवि थे। बाद में इन्होंने भी बूंदी के राज-कवि का पद पाया। इनके अपने ही उल्लेख के अनुसार इन्होंने छः विवाह किये थे, परन्तु निःसन्तान रहे। ये अत्यन्त विलास परायण, शराब के नशे में सदैव चूर रहने वाले, गुस्सैल और स्वतंत्र-वृत्ति वाले व्यक्ति थे। व्यवहार रूखा होने के कारण लोग इनसे मिलते घबराते थे। नशे की हालत में इनकी कल्पना शक्ति और भी तीव्र होकर सुन्दर कविताएँ बनाती थी। इनका हृदय एक उत्कृष्ट कोटि के कवि का भावुक हृदय था। इन्होंने अनेक शास्त्रों में प्रवीणता प्राप्त की थी और ये संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल, पिंगल आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे।

डिंगल के वीर रस के कवियों मे इनका स्थान सर्वोच्च कवियों के साथ है। इन्होने वंशभास्कर, वीरसप्तशती, बलवन्त विलास और छन्दो मयूख नामक चार ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से वंशभास्कर इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इसमें बूंदीराज्य का इतिहास हैं, साथ ही अन्य रियासतों के इतिहास की घटनाएँ भी आई हैं। इस ग्रन्थ का राजस्थान में बहुत प्रचार और सम्मान है। तत्कालीन बूंदी नरेश रामसिंह जी की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा गया था। वीर सप्तशती मे वीर और वीरांगनाओं के हृद्गत स्वाभाविक भावों का अत्यन्त मधुर और ओजपूर्ण वर्णन हुआ है। वीर वर्णन में इनका स्थान अत्यन्त उच्च, अपितु सर्वोच्च तक, माना जाता है। युद्ध वर्णन में इनको योरोपीय महाकवि होमर के बराबर समझा जाता है। इनके युद्ध वर्णन जहाँ भी हुए हैं, अत्यन्त विशद हुए हैं, युद्ध का कोई भी रूप इन्होंने छोड़ा नहीं हैं, मुठभेड़, जयघोष, भगदड़ और आहतों का आर्तनाद आदि किसी भी रूप को नहीं छोड़ा गया है। इनका वीर वर्णन अत्यन्त विशद, भावपूर्ण और ओजस्वी है। वीर के साथ में वीभत्स का भी वर्णन अत्यन्त रोचक है। रक्त की नदी, लाशों पर मांसाहारी पक्षियों का जमाव, रुण्ड मुण्डों का फड़कना आदि का विशद वर्णन रहता है। साथ में विविध अलंकारों का भी स्वाभाविक सहयोग रहता है।

इनकी भाषा पूर्णतया न शुद्ध डिंगल है और न पिंगल है। वह चारणों

की भाषा है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, डिंगल पिंगल आदि का सम्मिश्रण रहता है। एक उदाहरण—

पीहर पूंछे खोलणी, पेई भूषण केर।
हेड़वियां आभी हँसी, नणद कनै नालेर॥

अथवा

राजस्थान के प्रमुख श्रृंगारी कवियों मे नरपति नल्ह और पृथ्वीराज का विशेष स्थान है। इन दोनों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

नरपति नल्ह—का जीवन वृत्त विशेष ज्ञात नहीं है। ये विग्रह राज चतुर्थ उपनाम वीसलदेव के राजकवि थे। इन्होंने वीसलदेव रासो नामक काव्य लिखा है। इसमें सभी घटनाओं का वर्तमान काल की क्रियाओं के द्वारा वर्णन किया गया है, जिससे इनके वीसलदेव के सम-काल में होने का अनुमान किया जाता है। वीसलदेव का समय १२२० के लगभग निश्चित किया गया है। कवि ने भी ग्रन्थ में रचना काल "बारह सै बहोत्तर" ही दिया है, जिसका अर्थ १२१२ लिया जाता है। जाति के विषय में भी मतभेद है। कुछ वद्वान्—आचार्य शुक्ल जी प्रमुख—इन्हे भाट मानते हैं। कवि ने अपने लिए व्यास शब्द का प्रयोग किया है, जिसके आधार पर इनकी जाति भाट मानी जाती है। किन्तु अगरचन्द नाहरा ने व्यास शब्द से ब्राह्मण अर्थ लिया है, क्योंकि राजपूताने मे व्यास ब्राह्मणान्तर्गत ही होते हैं। नरपति इनका मुख्य और नल्ह घरेलू नाम प्रतीत होता है।

वीसलदेव रासो लगभग दो हजार चरणों का मुक्तक काव्य ग्रन्थ है। समस्त ग्रन्थ गाने योग्य मधुर मुक्तक गीतों मे लिखा गया है। इसमे चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मे सांभर नरेश वीसलदेव की मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से विव ह होने की कथा है। दूसरे में, वीसलदेव राजमती से नाराज होकर, उड़ीसा जाकर एक वर्ष रहता है, उसका वर्णन है। तीसरे में, राजमती के वियोग और वीसलदेव के उडीसा से लौटने का वर्णन है। चौथे में, भोज के अपनी पुत्री को घर ले जाने और फिर वीसलदेव के उसको मनाकर वापिस लाने का वर्णन हुआ है।

यह काव्य प्रधानतया वर्णनात्मक है। घटनाओं का वर्णन उसमे बहुत कम है। वीसलदेव इतिहास प्रसिद्ध वीर है। आक्रमण करके कई बार मुसलमानों को अनेक प्रदेशों से भगाया था। दिल्ली और हांसी पर इन्होंने अधिकार कर लिया था। परन्तु नल्ह कवि ने उनके जीवन की दो ही घटनाओं का वर्णन किया है—भोज की पुत्री से विवाह और उड़ीसा जाने की। कवि का लक्ष्य प्रधानतया शृंगार वर्णन है। काव्य मे संयोग और वियोग दोनों का ही मुख्यतः वर्णन हुआ है। वीर रस का कहीं कहीं बीच बीच में थोड़ा सा आभास अवश्य मिल जाता है, नहीं तो कवि ने शृंगार का ही स्वच्छन्दता से वर्णन किया है।

ग्रन्थ की रचना काल के विषय में मतभेद है आचार्य शुक्ल जी, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि 'बारहसो बहोत्तर' का अर्थ १२१२ लेते हैं और ओझा जी आदि विद्वान् १२७२ अर्थ लेकर वीसल देव को विग्रहराज तृतीय मानते हैं। इस ग्रन्थ की प्रकाशित प्रति एक ही मिलती है वैसे अन्य प्रतियां भी हस्तलिखित रूप मे हैं। सब में पर्याप्त पाठ-भेद है। इनमें जयपुर और बीकानेर वाली दो ही प्रतियां प्रामाणिक मानी जाती हैं।

रासो में वंश वर्णन न होने के कारण, यह निश्चित करना कठिन है कि वस्तुतः नल्ह का वर्ण्य कौनसा विग्रहराज था। अजमेर और सांभर राज्यों में चार विग्रहराजों का नाम आता है। वीसलदेव रासो में विग्रहराज चतुर्थ का वर्णन मानें, तो उसका भी परमार की पुत्री राजमती से विवाह होने की घटना मनघटन्त है। भोज की मृत्यु उससे १०० वर्ष पहले हो चुकी थी। अतएव ओझा जी वीसलदेव को विग्रहराज तृतीय ही मानते हैं। बिजोल्यां के शिलालेखों से भी इसी मत की पुष्टि होती है, विग्रहराज तृतीय की पत्नी का नाम राजदेवी लिखा है, जो वीसलदेव रासो की राजमती से भिन्न नहीं प्रतीत होता। उड़ीसा यात्रा करने की बात भी ऐसी ही इतिहास विरुद्ध है। चारों विग्रहराजों में से किसी ने भी यह यात्रा नहीं की थी। वस्तुतः नल्ह ने सुनी सुनाई कथाओं के आधार पर, इतिहास का विशेष ज्ञान प्राप्त किये बिना ही कथानक का वर्णन किया है। इसको अपनी कल्पना से और भी अनैतिहासिक कर दिया है। अतः इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष मूल्य

नहीं है। यह काव्य वस्तुतः कल्पना प्रधान वर्णनात्मक काव्य है। कवि ने संयोग और वियोग शृंगार का ही मुख्यतः अपनी कल्पना से मनमाना रंग दे कर वर्णन किया है। काव्य कला की दृष्टि से भी वर्तमान बीसलदेव रासो का विशेष महत्त्व नहीं। नल्ह साधारण कोटि का कवि था। उसकी शैली, प्रबन्ध कल्पना बहुत ऊँचे ढंग की नहीं है, वर्णन अस्त व्यस्त से हैं। घटनाओं में कोई क्रम नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य और रोचकता की कमी है। अनेक वर्णन शुष्क से हैं। कुछ एक स्थल विशेष सरस हैं, जैसे तृतीय सर्ग में सहेलियों का पारस्परिक वार्तालाप। इसमें हृदय की स्वाभाविक अभिव्यंजना है।

वस्तुतः तो इस काव्य का असली रूप क्या है, यह निश्चित करना कठिन है। गेय पदों में इसकी रचना होने के कारण समय समय में इसके रूप में परिवर्तन होते रहे और यह जिस रूप में मिलता है, उसमें कह नहीं सकते कि कितना अंश असली है और कितना प्रक्षिप्त या परिवर्तित। भाषा को देखने से भी ऊपर का विचार ही दृढ़ होता है। इसकी भाषा मुख्यतः डिङ्गल है, किन्तु प्रारम्भिक रूप में। अनेकत्र भाषा १७ वीं शताब्दी की प्रतीत होती है, किन्तु अन्यत्र पुरानी भी है। विभक्तियां संस्कृत की तरह शब्दों से संयुक्त रूप में भी आई हैं और हिन्दी के समान वियुक्त रूप में भी। इसी प्रकार क्रियाएँ भी संस्कृत और हिन्दी दोनों के ढंग की हैं। धातु में प्रत्यय जोड कर भी क्रियाओं के विभिन्न कालों के सूचक रूप बन गये हैं और सहायक क्रियाएँ जोड़कर भी क्रियाओं के विभिन्न कालों के सूचक रूप बनाये गये हैं। इस प्रकार भाषा कहीं अत्यन्त प्राचीन १३ वीं सदी की है और कहीं मध्य-काल की। इसी प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि वर्तमान रूप अनेक समयों के परिवर्तनों के बाद सामने आया है।

इतिहास आदि की दृष्टि से इस काव्य का इतना महत्व न होने पर भी यह डिङ्गल हिन्दी का प्रथम काव्य माना जाता है।

एक उदाहरण—गरब न बोलो हो मो भरतार।
बाजा बाजे राजा असिय हजार॥ आदि

पृथ्वीराज बीकानेर के बसाने वाले राव बीका जी के वंशधर थे।

जन्म सं० १६०६ में, कल्याण मल के यहां हुआ। ये अकबर के प्रसिद्ध सेना नायक रामसिंह जी के छोटे भाई थे और उन्हीं के कारण से अकबर के राज दरबार में भी रहते थे। अकबर इनसे विशेष प्रेम करता था और इन्हें अपने राज्य का एक विशेष स्तम्भ समझता था। ये बड़े निर्भय, वीर, ओजस्वी, स्पष्टवक्ता और स्वजाति और स्वदेश के अत्यन्त अभिमानी थे। साथ ही संस्कृत साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, छन्द, संगीत आदि के भी विद्वान् थे। ये भक्त भी पूरे थे। नाभादास जी ने भक्तमाल में इन्हें आदर पूर्वक स्मरण किया है। लालादे नामक अपनी पहली स्त्री की मृत्यु पर इन्होंने चांपादे नाम की विदुषी और कवयित्री सुन्दरी कन्या से विवाह किया था। यह जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री और पृथ्वीराज की पहिली पत्नी से भी अधिक सुन्दर, रसज्ञ और गुणवती थी। दोनों पति पत्नी कविता करते थे। ये अकबर के दरबार में रहते हुए भी उसकी कूटनीति से सहमत नहीं रहते थे। मौका आने पर अपनी देशभक्ति के जोश में ये अकबर को साफ सुनाने में भी भय नहीं करते थे। महाराणा प्रताप के विषय में यह कहने पर कि वह अकबर के सामने नतमस्तक हो जायगा, इन्होंने बड़े निर्भीक और ओजस्वी शब्दों में कहा था, '........सूर्य भले ही अपनी तेजी को छोड़ दे, परन्तु प्रताप शरीर में बल, नसों में रक्त और हाथ में तलवार रहते कभी भी सिर नहीं झुकायेगा।" अकबर और सारे दरबारी दंग रह गए थे। अकबर वस्तुतः इनकी स्वदेश भक्ति और आत्माभिमान से घबराता भी था। तो भी वह इनकी कदर करता था। एक अन्य किम्वदन्ती के आधार पर, अकबर के पूछने पर इन्होंने अपनी मृत्यु के विषय में भविष्यवाणी की थी कि वह मथुरा के विश्रान्ति घाट पर होगी और उस समय एक सफेद कौआ आयेगा। यह घटना कहते हैं, बिल्कुल सत्य सिद्ध हुई थी।

पृथ्वीराज भावुक कवि थे। इन्होंने शृंगार रस का सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है। इनके चार ग्रन्थ मिलते हैं—वेलिक्रिसनरुक्मणीरी, दशरथ रावउत वसदेव रावउत और गंगालहरी। इनके अतिरिक्त इनके अन्य फुटकल, दोहे, गीत छप्पय आदि भी लिखे मिलते हैं। वेलिक्रिसन रुक्मिणी री इनकी सर्वोत्कृष्ट शृंगार रचना है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह

का वर्णन करने वाला यह अनुपम खण्ड काव्य है। इसमें ३०५ छन्द हैं और भाव, भाषा और अलंकार आदि की दृष्टि से शृंगार रस का डिंगल साहित्य में यह बेजोड़ खण्ड काव्य है। जो लोग डिंगल को केवल वीर रस के वर्णन के उपयुक्त ही समझते हैं, इस काव्य से उनके मत का खण्डन हो जाता है। पृथ्वीराज ने सिद्ध करके दिखा दिया है कि डिंगल में उत्कृष्ट शृंगार रचना हो सकती है। इनके इस शृंगार काव्य में काव्य की आभ्यन्तर और बाह्य दोनों कलाओं का पूर्ण समन्वय और विकास है। इन सबके संयोग से इनकी यह रचना डिंगल में शृंगार की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। कला और भाषा परिमार्जित और परिष्कृत रूप में इनकी मधुर सुन्दर शृंगार भावनाओं का शृंगार करती हुई चलती हैं। इनके अतिरिक्त इनका वीर वर्णन भी उत्कृष्ट कोटि का है, जो इन्होंने फुटकल पदों में किया है। प्रताप का वर्णन करता हुआ वीर रस का एक उदाहरण—

धर वांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरिंदां घेरियो, रहे गिरदां राण॥

६—हिन्दी साहित्य के रीति काल की विशेषताओं का निदर्शन कीजिये।

उत्तर—रीति का अर्थ साहित्य शास्त्र में एक विशेष प्रकार की पद रचना होता है। साहित्य शास्त्र में रीति के गौडी पाञ्चाली, वैदर्भी नामों से भेद किये हैं। कुछ साहित्यिक आचार्यों ने तो इस रीति को इतना महत्त्व दिया कि काव्य की आत्मा रीति को मानकर एक रीतिवाद खड़ा कर दिया किन्तु हिन्दी साहित्य में रीति शब्द का ग्रहण इस संकुचित पद योजना के अर्थ में नहीं हुआ, अपितु व्यापक अर्थ में हुआ है। रीति का समान्य अर्थ प्रणाली या पद्धति ही लिया गया है। काव्य रीति में काव्य बनाने की सारी पद्धति आ जाती है जिसमें रस-रीति, भाव-रीति, अलंकार रीति, पद योजना रीति आदि सभी आ जाती हैं। इस काल के रीति ग्रन्थों में, अतएव, केवल पद-संघटना का ही वर्णन नहीं हुआ, अपितु काव्य के सभी उपादानों का वर्णन हुआ। काव्य के इन सभी अंगों की रीति के वर्णन के ग्रन्थों को भी इसीलिए रीति-ग्रन्थ ही कहा जाता है।

इस काल में, क्योंकि इस रीति ग्रन्थ-रचना की प्रधानता रही, इसीलिए इसे रीतिकाल कहा जाता है। संक्षेपतः इस काल की विशेषताएँ निम्न हैं।

रीतिकाल की पहिली विशेषता यह है कि कला का कला के ही उद्देश्य से स्वतंत्र ग्रहण हुआ। अब से पहले वह विभिन्न साध्यों का साधन ही रही थी। कभी उसका ग्रहण आश्रय-दाताओं की प्रशंसा के लिए, कभी योग, ज्ञान अथवा भक्ति के प्रचार के लिए हुआ था। रीतिकाल से पूर्व के काल भक्ति-काल में कविता का चरमोत्कर्ष हो जाने पर भी, वह भक्त कवियों का साध्य नहीं बनी थी उन्होंने कवित्व के उद्देश्य से कविता नहीं की थी अपितु अपने इष्ट के रूप गुण वर्णन के लिए। उनका साध्य भक्ति था, कविता नहीं। कविता साधन थी। रीतिकाल में दृष्टिकोण बदल जाता है। कविगण अब कविता कविता के उद्देश्य से ही करते थे। उनमें से अधिकांश वंश परम्परा से कवि चले आते थे। उनकी कविता ही उनकी आजीविका थी। वे अपनी कला के प्रदर्शन से आजीविका कमाते थे। राज्यों का आश्रय लेते थे। कविता उनका साध्य बन गयी थी। कुछ आजीविकार्थ, कुछ सौन्दर्य और प्रेम के चित्रणार्थ कविता का आश्रय लेते थे। अतः रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य की पहिली विशेषता यही है।

दूसरी विशेषता है, शृंगार की। रीति काल से प्रथम युग में शृंगार का—विशेषतः राधा कृष्ण के शृंगार का—अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन हो चुका था। कृष्ण-भक्त कवियों ने उसमें कोई कसर नहीं छोड़ी थी। किन्तु तो भी वह उनके मुख्य रस भक्ति के अंग रूप में आया है। भक्ति की मर्यादा उसे व्याप्त किए रहती है। समय और परिस्थितियों के बदलते ही भक्ति का भाव भी मन्द पड़ गया। उसमें से आध्यात्मिकता की भावना नष्ट होती गई और अन्त में इस परम रति या भक्ति में से केवल रति भाव रह गया और दिव्यता का अंश लुप्त हो गया। भगवद्रति के स्थान में लौकिक रति का वर्णन प्रमुखतया होने लगा। औरंगजेब के समय में हिन्दु कलाकारों का मुसलिम दरबारों में अब मान नहीं रहा था। मुस्लिम सत्ता भी संघर्ष-ग्रस्त सी थी। अनेक छोटे छोटे राजा जागीरदार निश्चिंत ऐयाशी का जीवन बिता रहे थे। कहने की आवश्यकता नहीं, यह सब मुसलमानी

विलास वृत्ति का प्रभाव था। दिल्ली और आगरे के शाही विलासों का शक्ति अनुसार छोटे बड़े सभी अनुकरण करते थे। यथा राजा तथा प्रजाः। विलास, इन्द्रिय-सुख, भोग, ऐश-आराम, आखेट, मद्य-पान, नाच, गान का दौर रहता था। कविता भी उन बड़े लोगों के शौकों में से एक था दर्बारों में कवि लोग फर्मायशी कविताएं सुनाते थे। स्वभावतः कवि लोग भी विलासप्रिय और शृंगार-प्रिय बन गये थे। लौकिक सौन्दर्य और प्रेम ही उनका परम उद्देश्य था। राजाश्रित कवि तो अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुसार शृंगार वर्णन करते ही थे, जो राजाश्रित न होकर स्वतंत्र रूप से लिखते थे, वे भी इस प्रबल विलास-भावना से अछूते नहीं थे। शृंगार वस्तुतः इस काल की प्रधान भावना है, जिसका अभिव्यंजन छोटे बड़े सभी कवियों ने मुख्यतः किया है। अतएव कुछ विद्वान् इस काल को रीति-काल की अपेक्षा शृंगार-काल ही कहना अधिक उचित समझते हैं।

तीसरी प्रमुख विशेषता इस काल की काव्य-रीति की प्रवृत्ति है। भक्ति काल में काव्य का निर्माण विस्तार से होने पर भी, मुख्य प्रवृत्ति भक्ति की ही रही थी। उस काल में काव्य-निर्माण की रीति का निरूपण या विवेचन नहीं हुआ। किन्तु इस काल में कविता-कला ही कवि का लक्ष्य बन जाने पर, उसकी रीति के भी विवेचन की प्रवृत्ति चली। काव्य-निर्माण और काव्यास्वादन दोनों के लिए काव्य-निर्माण की रीति से परिचित होना आवश्यक समझा जाता था। प्रत्येक कुछ नाम रखने वाले कवि ने काव्य निर्माण की रीति का वर्णन किया है। काव्य के लक्षण से लेकर, शब्द शक्तियाँ, गुण, दोष, रस, भाव, अलंकार, नायक-नायिका-भेद का वर्णन होने लगा था इसके बिना कोई ऊँची कवि-पदवी नहीं पा सकता था। आचार्य के पद को पाने के लिए प्रत्येक कवि लालायित रहता था। आचार्य केशव पहिले आचार्य माने जाते हैं, जिन्होंने काव्य के विविध अंगों का निरूपण किया। बाद में तो यह प्रवृत्ति ही चल गई। इन आचार्यों के निरूपण का आधार संस्कृत ग्रन्थ थे। इन्हीं के आधार पर काव्य-विवेचन होता था। रीति ग्रन्थों की इस परम्परा का आधार- केशव से प्रारम्भ हो जाने पर भी अन्य इनके पश्चाद् वर्ती आचार्यों ने उनके सिद्धान्त का ग्रहण

नहीं किया था। केशव चमत्कारवादी थे और बाद के रीति काल के कवि रसात्मवादी-रस को प्रधान मानने वाले-थे।

रीति ग्रन्थों की रचना दो तीन रूपों में चली। इस समय दो प्रकार के कवि हुए—एक वे जिन्होंने काव्य निरूपण भी किया और उदाहरण रूप में अपनी कविताएँ बनाईं और दूसरे वे जिन्होंने कविता करने के लिए लक्षण ग्रन्थ लिखने का बहाना तो यद्यपि नहीं ढूंढ़ा, तो भी जिनकी रचनाओं पर रीति ग्रन्थों का विशेष प्रभाव पड़ा है। पहिली श्रेणी के लेखक आचार्य और कवि दोनों थे और दूसरी के केवल कवि, किन्तु काव्य मर्मज्ञ। क्योंकि उन्होंने यद्यपि काव्यांगों के स्वयं लक्षण नहीं लिखे, तथापि कविता करते समय वे लक्षण उनके ध्यान में अवश्य थे, जिससे उनकी कविताएँ काव्यांगों के उत्कृष्ट उदाहरण बनी हैं। आचार्यों में से भी कुछ ने काव्य के समस्त अंगों का वर्णन किया और कुछ ने एक दो का ही। अनेकों ने शृंगार और नायिका भेदों का ही वर्णन किया, कुछ ने केवल अलंकारों का ही किया। कुछ ने काव्य के सभी अंगों का वर्णन किया। किन्तु रीति ग्रन्थ-रचना की बाढ़ आ जाने पर भी, हिन्दी में संस्कृत के ढंग का उच्च विवेचनात्मक निरूपण काव्यांगों का नहीं हो पाया। कवि लोग अपने ज्ञान के अनुसार काव्यांगो का संक्षिप्त सा परिचय देकर उदाहरण बनाने में व्यस्त हो जाते थे। इन आचार्यों में से अनेकों का तो अपना ही ज्ञान बड़ा अधूरा होता था। अतः ये निरूपण तो क्या करते? इस कमी के कई कारण थे। आचार्यों को स्वयं ही अधूरा ज्ञान होता था। लोग अधिकतर परिचय ही प्राप्त करना चाहते थे, जिससे कविता समझी जा सके, विशेष ज्ञान में कोई माथापच्ची नहीं करना चाहता था। निरूपण पद्य में करने की परिपाटी थी और पद्य में किसी बात का विवेचन पूर्णतया नहीं हो सकता। भाषा का कोई विकसित गद्य रूप उपलब्ध नहीं था और विवेचन के लिए गद्य की ही अपेक्षा होती है। अतः यह रीति वर्णन अधिकतया संस्कृत के ग्रन्थों की व्याख्या रूप ही रहा। कोई मौलिक उद्भावना नहीं हुई। काव्य-निरूपण लगी बंधी पद्य-परिपाटी में होता रहा।

शृंगार के साथ सौन्दर्य का अविनाभाव संबंध है। अतः इस काल

के कवियों ने प्रेम और सौंदर्य का चित्रण किया है । ये कवि अत्यंत भावुक कलाकार थे, जिनकी दृष्टि गहरी और सूक्ष्म होती थी सौन्दर्य की परख में। यह श्रृंगार और सौन्दर्य का चित्रण दो ढंगों मे किया गया है । कुछ ने राधा कृष्ण को नायिका-नायक के सिंहासन पर बिठाकर लौकिक श्रृंगार और सौंदर्य का वर्णन किया है और कुछ ने उनका नाम लिये बिना लौकिक नायक नायिका आदि के मधुर रूप और भाव चित्र उतारे । ये कवि वस्तुतः भाव और सौंदर्य के चितेरे थे ।

इस काल मे भी अधिकतर मुक्तक लिखने की ही परिपाटी रही । प्रबन्ध काव्य भी यद्यपि अनेक लिखे गये, आश्रदाताओं के जीवन सम्बन्धी और और पुराण या इतिहास सम्वन्धी भी, तथापि मुख्यतया मुक्तक काव्य में श्रृंगार वर्णन ही इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति रही । अन्य रसों का भी वर्णन थोडे वहुत रूप में हुआ है, किन्तु श्रृंगार की तुलना में अत्यल्प । मुक्तक काव्यों के लिए, दोहा, कवित्त, सवैया, बरवै, छप्पय, आदि छन्द विशेष प्रिय रहे हैं।

रीतिकाल की साहित्यिक भाषा ब्रज भाषा ही रही । वही अब काव्य के कलाचमत्कार से युक्त होकर अत्यन्त सुललित, परिष्कृत और सौन्दर्य-सम्पन्न हो गई थी । ब्रज भाषा को भक्ति काल ने अभिव्यंजना की सामर्थ्य दी किन्तु रीतिकाल ने उसके सौंदर्य में चार चाँद लगा दिये । किन्तु, इतना काव्य साहित्य का निरूपण होने पर भी भाषा में व्याकरण की व्यवस्था नहीं हुई । कोई व्याकरण नहीं बना, जिसके नियमो का सभी पालन करते । फलतः भाषा के विषय में सभी कवियों ने स्वच्छन्दता बरती है । अन्य पूर्वी अवधी आदि भाषाओं का सम्मिश्रण कवि लोग कर देते हैं । फारसी अरबी के शब्द भी मिल जाते हैं।

काव्य के कला पक्ष और भाव पक्ष इन दोनों की दृष्टि से रीतिकालीन यह श्रृंगार साहित्य अनुपम सुन्दर है । लौकिक सौंदर्य और प्रेम का इतना सूक्ष्म और विशद चमत्कार-पूर्ण वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है ।

वस्तु और भाव के चित्रण के साथ साथ कवियों ने प्रकृति-चित्रण

भी अत्यन्त सुन्दर किया है। रीति सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति रस का उद्दीपन विभाव होती है। रीति काल के कवियों ने प्रकृति का इसी भावोद्दीपक रूप में बड़ा विशद चित्रण किया है। यद्यपि शैली प्राचीन ही है तो भी वर्णन से इनके प्रकृति निरीक्षण का तो अनुमान हो ही जाता है। षड्ऋतु वर्णन रीति-कालीन काव्य का विशेष अंग रहा है।

रीति काल की प्रमुख विशेषताएं ये ही हैं।

७.—सेनापति ने प्रकृति वर्णन उद्दीपन रूप में ही किया है, परन्तु उसकी ऋतु सम्बन्धी रचना को देखने से यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि प्रकृति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।" इस कथन की विवेचना यथा संभव उदाहरण देते हुए कीजिये।

उत्तर—सेनापति रीति-कालीन कवि थे। अतः रीति-कालीन परिपाटी के अनुसार ही इन्होंने भी प्रकृति को रसों या भावों की सहायक ही मानकर उसका वर्णन किया है। इन का प्रकृति वर्णन भी भावनाओं का उद्दीपक होकर ही आया है। किन्तु तो भी, जितना विशद सूक्ष्म और स्वाभाविक इन्होंने प्रकृति-चित्रण किया है, उसे देखते हुए इनका प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। सेनापति ने प्रकृति का पास से, गहन, सूक्ष्म और विस्तृत निरीक्षण किया था। वैसा ही चित्रात्मक उसका चित्रण भी हुआ है। सेनापति का षड्ऋतु वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। यह स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन है। कवि ने विविध ऋतुओं के रूपों का परम स्वाभाविक वर्णन किया है—प्रकृति का स्थूल रूप कैसा है, लोगों के मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है और वे कैसा आचरण करते हैं आदि आदि। एक प्रकार से, इस ऋतु वर्णन में कवि ने प्रकृति के साथ मानव-हृदय का परम मधुर सामञ्जस्य दिखाया है, जो अत्यन्त स्वाभाविक और अनुभूति पर आश्रित है। देखिये वसन्त वर्णन का क्या सुन्दर प्राकृतिक रूपक बांधकर उत्प्रेक्षा की है—

लसत कुटज, घन चंपक, पलास वन
फूलीं सब साखा, जे हरति जन चित हैं।
सेत, पीत, लाल फूल-जाल हैं बिसाल तहां

आछे अलि अच्छर जे कारज के मित्त हैं।
सेनापति माधव महीना भर नेम करि
बैठे द्विज कोकिल करत नित चोप हैं।
कागद रंगीन में प्रवीन हैं अनन्त लिखे
मानो, काम चक्कवै के विक्रम कवित्त हैं॥

× × × ×

ग्रीष्म का देखिये कैसा भयंकर और स्वाभाविक वर्णन किया है—

वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि जग झुरत झरनि सीरी—
छांह कौ पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नेकु दुपहरी के ढरकत होत,
धमका बिषम ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कोनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामें बितयत हैं॥

पवन भी शीतल स्थान में बैठकर घाम बिता रही है। कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा है! जाड़ों के दिन रात का देखिये कितना स्वाभाविक और सत्य वर्णन किया है—

अब आयौ माह, प्यारे लागत हैं नाह रवि-
करत न दाह, जैसो अबरेखियत है।
जानियें न जात, बात कहत बिलात दिन,
छिन सौं न तातैं तन कौ बिसेखियत है।
कलपसी राति सो तो सोए न सिराति क्यौं हूँ,
सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है।
सेनापति मेरे जान दिन हूँतै रात भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियत हैं॥

इसी प्रकार इन्होंने, वर्षा, शरद् आदि का भी ऐसा ही सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन किया है। प्रकृति वर्णन की इस सजीवता और विशदता

के कारण ही सेनापति का प्रकृति विषयक अगाध अनुराग अभिव्यक्त होता है।

८.—रस की निष्पत्ति किस प्रकार से होती है ? इस सम्बन्ध में विविध मतों का उल्लेख करते हुए उन पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—रसनिष्पत्ति-प्रकार के वर्णन में प्रधानतया भरत मुनि के 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः" इस सूत्र का आधार लिया जाता है भरत मुनि ने संक्षिप्त रूप में रस निष्पत्ति प्रकार वर्णन किया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी या व्यभिचारी भावों के संगम सयोग स रस-निष्पत्ति होती है। विभाव आलम्बन और उद्दीपन दो नाम से दो प्रकार का माना गया है। आलम्बन मे काव्य के नायक-नायिका आदि आजाते हैं, जिनका आलंबन लेकर कोई भाव उद्गत होता है और उद्दीपन में वस्तुस्थिति, प्रकृति आदि आ जाते हैं, जो उद्गत भाव को उद्दीप्त करते हैं। अनुभाव शारीरिक चेष्टाएँ आदि होती हैं, जो उद्गत भाव का अनुभव कराती हैं। संचारी वे क्षणिक असंख्य स्मृति, शंका, मोह, मद आदि भावनाएँ हैं, जो जल में बुलबुलों के समान क्षण-क्षण में उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती हैं और इस प्रकार सहायता प्रदान कर भाव का विकास करती हैं। इन तीनों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। भरत मुनि ने इस 'प्रकार' का विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है। केवल इतना मात्र किया है, 'यथा गुडादिभि र्द्रव्यैर्व्यंजनै रोपधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते, एवं नाना भावोपहिताः स्थायिनो भावाः रसत्व माप्नुवन्ति" अर्थात् जैसे गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस (कटु तिक्त आदि) उत्पन्न किये जाते हैं, ऐसे ही नाना भावों के द्वारा सहायता किये हुये स्थायी भाव ही रस दशा प्राप्त कर लेते हैं। भाव यह हुआ कि आलम्बन विभाव का आलम्बन लेकर उद्गत, उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त और व्यभिचारी भाव के द्वारा संचारित या व्यभिचारित स्थायी भाव ही अन्त में रस-आनंद कहलाने लगता है। कुछ विद्वान् उपर्युक्त प्रकार से अत्यंत विकसित रत्यादि से विशिष्ट आत्मा (चित्) को रस कहते हैं अर्थात् एक मत चिद् विशिष्ट रत्यादि को रस कहता है और दूसरा रत्यादि विशिष्ट चित् को रस कहता हैं। रत्यादि स्थायी वे

भाव हैं जो सदैव हृदय में स्थित रहते हैं और अनुकूल कारणों की सहायता पाकर रस दशा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इन विभावादि के संयोग (निर्विशेष, साधारण रूप में प्रकट होने) से रस की निष्पत्ति-आस्वाद या चर्वणा हो जाती है।

किन्तु इतने मात्र से सूत्र का भाव पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। संयोग और 'निष्पत्ति' शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अतएव भिन्न २ आचार्यों ने इस सूत्र की भिन्न २ व्याख्याएँ करते हुए इन दोनों शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ लिये हैं। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार की भिन्न व्याख्या करने वाले चार आचार्य प्रमुखतया माने जाते हैं—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्तपाद। इन चारों ही प्रमुख आचार्यों ने इस सूत्र की चार ढंग से व्याख्याएँ की हैं। इनके मतों का सार-संक्षेप ऐसे है।

(१) भट्ट लोल्लट मीमांसक थे। अतः उसी ढंग में इन्होंने इस सूत्र की व्याख्या की है। इन्होंने संयोग का अर्थ आरोप और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि लिया है। अर्थात् विभाव से उत्पन्न अनुभावों से अभिव्यक्त और संचारी से परिपुष्ट रत्यादि रस हो जाते हैं। उसका कारण आरोप—अन्य में अन्य के धर्म को देखना या मानना—है। इनके मत में वास्तविक लौकिक रसास्वादन तो राम सीता आदि नायकों को ही होता है, किन्तु नाटकों में अभिनेता लोगों के अभिनय कौशल से और अन्य काव्यों में कवि के चित्रण कौशल से द्रष्टा लोग अभिनेताओं और शब्दों द्वारा उपस्थापित काल्पनिक विभाव आदि में राम सीता आदि नायकों का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् अत्यन्त सादृश्य के कारण उन्हें वे ही समझ लेते हैं। इस आरोप के कारण ही देखने या सुनने वालों को भी अलौकिक रस की प्रतीति होने लगती है। इस मत का मुख्य आधार मीमांसा का आरोपवाद ही है।

शंकुक ने इनके मत में अपनी अरुचि दिखा कर अपनी नयी व्याख्या की। भट्ट लोल्लट के मत में, आरोप हो जाने के पश्चात् भी, सामाजिक को रस प्रतीति कैसे होती है? एक की भावनाओं से दूसरे को आनन्द कैसे आ सकता है? किसी के प्रेम-प्रसंग का अन्य से क्या सम्बन्ध? यदि किसी के प्रेम प्रसंग को देख कर कोई सामाजिक आनन्द लाभ करता है, तो यह

उसका नैतिक पतन है। फिर, नायक आदि में राम आदि का आरोप कर लेने पर भी उनके शृंगार का आनन्द कैसे लिया जा सकता है ? वहां पूज्य भावना भी रहेगी। शकुंक ने इसका परिहार अपने ढंग में करने का प्रयत्न किया है। ये नैयायिक थे। अतः इन्होंने अनुमान का सहारा लेकर इस सूत्र की व्याख्या की और संयोगात् का अर्थ अनुमान ले लिया। इनके मत में वास्तविक रसानुभूति तो अनुकार्य रामसीतादि नायकों को ही होती है, किंतु अभिनेतागण, रंगमंच पर जब अपने अभिनय-पाटव द्वारा अभिनय करते हैं, तो द्रष्टा चित्र-तुरगन्याय (चित्र में बने घोड़े को जैसे घोड़ा मान लिया जाता है) से, अत्यन्त सादृश्य होने के कारण, उन्हीं अभिनेताओं को रामसीता समझ लेता है और विभावादि के अनुमान से रस की भी निष्पत्ति—अनुमिति, अनुमान सामाजिक कर लेता है। इन दोनों ही मतों में रामसीता आदि नायक, अभिनेता और सामाजिक तीनों को भिन्न २ रसानुभूति मानी है।

तीसरे आचार्य भट्ट नायक हैं इनका मत अधिक विवेचनापूर्ण है, किन्तु इन्होंने एक नवीन भोगवाद की कल्पना की है। ये सांख्य दर्शन के अनुयायी थे। इन्होंने सांख्य के मुक्तिवाद को ले लिया। उपर्युक्त दोनों वादों में रसानुभूति की दशा नहीं आती। आरोप या अनुमान से किसी वस्तु की अनुभूति नहीं की जा सकती ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः इन्होंने भोगवाद या अनुभूतिवाद का आश्रय लिया। इनके मत में काव्य शब्द के तीन व्यापार काम करते हैं। पहिला अभिधा व्यापार है, जिसके द्वारा शब्द रस के विभावादि कारणों को सामने उपस्थित करता है, दूसरा भावन, जो विभावादि की भावना—बार बार चिन्तन—करते करते उन्हें साधारण बना देता है उन्हें किसी विशेष के नहीं रहने देकर, उन्हें सामान्य रूप दे देता है। अपने—दूसरे के भेद का ज्ञान लुप्त हो जाता है। तीसरा व्यापार भोग है, जो बाधक भेद मूलक अज्ञान आवरण को छिन्न करके, सत्व-प्रधान एकान्त आनन्द की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इसी आत्यंतिक आनन्द दशा के होने की प्रक्रिया को भोग व्यापार कहा गया है। इस प्रकार इन के मत में विभावादि के संयोग—भोज्य-भोजक सम्बन्ध—से सामाजिक को रस की निष्पत्ति—उपभुक्ति, या उपभोग—होने लगती है। यही भट्ट

नायक का भुक्तिवाद या भोगवाद है। भावना के द्वारा साधारण बने विभावादि से—भोज्य भोजक सम्बन्ध द्वारा—रस-भोग या रसोपभुक्ति होती है।

चौथे और सिद्धान्ती व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद ने उपर्युक्त मत को निराधार बताकर अपने मत—अभिव्यक्तिवाद—का प्रतिपादन किया। इन्हें भट्ट नायक के भावना और भोग व्यापार सर्वथा अशास्त्रीय और निराधार प्रतीत हुए, अन्य किसी शास्त्र में इनकी सत्ता नहीं है। दूसरे, ये व्यापार शब्द के धर्म भी नहीं बन सकते, अपितु भाव के हो सकते हैं। तीसरे, ये व्यर्थ हैं। क्योंकि भावना व्यापार तो भाव में रहता ही है, अन्यथा उसको भाव कहना ही व्यर्थ है। अतः भावना—बार बार चिंतन—तो सुन्दर मधुर भावों का स्वतएव होने लगता है। उसको पृथक मानना व्यर्थ है। और, भावों का साधारणीकरण और आत्मा के आवरण-भंग का साधन इन्होंने व्यंजना को बनाया। इनके मत में भावना और भोग इन दोनों के साधारणीकरण और आवरण भंग के कार्य व्यंजना ही करती है। व्यंजना ही उन्हें साधारण बनाकर, अज्ञान के आवरण का भंग कर, सत्वदशा उत्पन्न करती है। सत्व दशा में रजोगुण और तमोगुण दोनों को अभिभूत कर सतोगुण प्रधान होता है, जो अत्यन्त निरानन्द की दशा है। यही रस दशा है। पहिले से विद्यमान भी रत्यादि स्थायीभाव आवरण के कारण चित् के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होते। किन्तु व्यंजना द्वारा आवरण भंग होने पर वे स्थायी भाव स्वयं-प्रकाश या चित् के प्रकाश से प्रकाशित हो रस कहलाते हैं। इनके मत में अभिधा विभावादि को विशेष रूप में उपस्थित करती है, पश्चात् व्यंजना अपने विभावन व्यापार द्वारा उन्हें साधारण (सबका) बनाकर चित् या आवरण भंगकर रस दशा उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार, साधारणीकृत विभावों से—व्यंग्य व्यंजक भाव से—अभिव्यंजित साधारणीकृत रत्यादिस्थायीभावों से विशिष्ट चित् (आत्मा) रस दशा को प्राप्त होती है, अथवा वे स्थायी भाव ही चित् प्रकाश से विशिष्ट हो रस बन जाते हैं।

इन का मत ही सिद्धांती मत माना जाता है, जिसमें व्यर्थ की कल्पना भी नहीं करनी पडती और न रस प्रतीति में कोई प्रतिबन्ध ही उपस्थित

होता है। आगे के रस-शास्त्रियों का यही मत आदर्श रहा।

प्रश्न ६. लक्षणा के भेदों का उल्लेख करके, उनकी सोदाहरण विवेचना करिये। यह भी बताइये कि लक्षणा और व्यंजना में क्या अन्तर है।

उत्तर—वाक्यार्थ बोध में अभिधा के विफल हो जाने पर शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा आती है। इस लिए लक्षणा के होने का स्थल वहीं होता है, जहां मुख्य (अभिधेय) अर्थ का बाध हो गया हो। ऐसे स्थल पर लक्षणा आकर मुख्य अर्थ से कोई साक्षात् सम्बन्ध रखने व ले अन्य अर्थ को बता देती है, जिस से अर्थ-बोध हो जाता है। किन्तु निष्प्रयोजन लाक्षणिक प्रयोग नहीं किया जाता। वहां या तो कवि का कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिये और या कोई रूढ़ि या प्रसिद्धि होनी चाहिये। उपयुक्त आधार पर लक्षणा का लक्षण यह होता है कि, "वाच्य अथ का बाध होने पर, रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर, जो शक्ति वाच्यार्थ से भिन्न किन्तु वाच्यार्थ से साक्षात् सम्बद्ध अर्थ को बताती है, वह शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा होती है।" इस शक्ति के द्वारा बताया हुआ अर्थ लक्ष्य, बताने वाला शब्द लक्षक कहा जाता है। उदाहरण, रूढ़ि को लेकर, जैसे, भारत धर्म-प्राण है। यहा धर्म-प्राण होना चेतन का धर्म है, जो अचेतन भारत में संभव नहीं। अतः अभिधा द्वारा प्रतिपादित अर्थ जड़ देश रूप असंगत होने पर भारत के निवासी जन अर्थ लक्षणा से लक्षित होता है। भारत देश एवं उसके निवासियों में आधाराधेय भाव का साक्षात् संबन्ध है। इस प्रक र के अनेक प्रयोग किये जाते हैं, अमरीका बहुत धनी है, रूस बहुत लड़ाका है आदि। यहां लक्षणा का प्रयोग किसी प्रयोजन-वशेष को लेकर नहीं हुआ है आपितु प्रसिद्धि (रूढ़ि) को लेकर इस प्रकार के प्रयोग करने का रिवाज चल गया है। अतः यह रूढि लक्षणा का उदाहरण है। प्रयोजन को लेकर उदाहरण—जैसे, गंगापर घर है। यहां गंगा शब्द के प्रवाह रूप वाच्य अर्थ का बाध हो जाने पर, लक्षणा द्वारा वाच्य-भिन्न वाच्य के साथ साक्षात् सम्बद्ध तट रूप अर्थ की प्रतीति होती है। वाच्य अर्थ नदी रूप और लक्ष्य अर्थ तट रूप में साक्षात् (परम्परा का नहीं) सामीप्य सम्ब-

न्ध है, गंगा और तट एक दूसरे से सटे हुए हैं। गंगा के शीतत्व पावनत्वादि गुणों को तट में भी बताना प्रजोजन है, जिससे तट को गंगा शब्द से बताया गया है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा है।

प्रयोजनवती दो प्रकार की हो जाती है, वाच्य लक्ष्यों के सम्बन्ध के कारण। जहां लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ का सम्बन्ध साहश्य मूलक होता है, वहां गौणी और जहां साहश्य से भिन्न कोई और होता है, वहां शुद्धा लक्षणा होती है। पहिली, गौणी का उदाहरण, जैसे, मूर्खतादि गुणों के साहश्य से किसी पुरुष को गधा कहना। यहां गधा शब्द के पशुरूप वाच्यार्थ और मूर्ख पुरुष रुप लक्ष्यार्थ मे एक जैसे गुण होने का साहश्य सम्बन्ध है। मूर्खता की अधिकता बताना प्रयोजन है। अतः यह प्रयोजनवती गौणी लक्षणा है। प्रयोजनवती शुद्धा का उदाहरण जैसे, गंगा पर घर है। यहां वाच्य अर्थ नदी रूप और लक्ष्य अर्थ तट रूप में सामीप्य सम्बन्ध है, साहश्य नहीं शीतत्व पावनत्वादि की अधिकता का अभिव्यंजन प्रयोजन है। अतः यहां प्रयोजनवती शुद्धा हुई।

गौणी के फिर दो भेद हो जाते हैं, वे सारोपा और साध्यवसाना हैं। सारोपा में उपमान और उपमेय दोनों शब्दोपात्त—उपस्थित—रहते हैं, जैसे "देवदत्त गधा है।" यहां देवदत्त उपमेय और गधा उपमान दोनों शब्द द्वारा कह दिये गये हैं और एक में दूसरे का आरोप किया गया है। साहश्य सम्बन्ध है। अतः यहां गौणी सारोपा है। साध्यवसाना गौणी में उपमेय को छोड़कर केवल उपमान का ही कथन होता है; यथा—ओ गधे! इधर आ। इसमें किसी मूर्ख पुरुष को न कह कर उसके उपमान गधे का ही कथन हुआ है। अतः यहां प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना है।

शुद्धा के चार भेद हो जाते हैं—उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, सारोपा और साध्यवसाना। शुद्धा उपादान लक्षणा में, लक्षक शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा नहीं छोड़ता, अपितु अन्य अर्थ का उपादान (साथ में ले आना) कर लेता है। अतएव इसे उपादान लक्षणा कहते हैं। यहां लक्षक पद अपने वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं करता, इसलिए इसको अजहत्स्वार्था (जो अपने अर्थ को न छोडे) भी कहते हैं। उदाहरण,

जैसे, जर्मनी पर रूसी टैंकों का हमला हुआ। यहां टैंक शब्द का टैंक चलाने वाली सेना का अर्थ निकलता है। टैंक लक्षक पद अपने अर्थ को भी बताता है और अन्य सैनिक अर्थ का भी उपादान करता है। सम्बन्ध सादृश्य से भिन्न-आधाराधेय भाव का है। अतः यहां शुद्धा उपादान लक्षणा है। लक्षण—लक्षणा में लक्षक पद अपने अर्थ (वाच्य अर्थ) को न बताकर अन्यार्थ को ही बताता है। अपने अर्थ को छोड़ देने से ही उसका नाम जहत्स्वार्था (अपने अर्थ को छोड़ देने वाली) भी होता है। जैसे, गंगा पर घर है। यहां गंगापद अपने प्रवाह रूप अर्थ को छोड़ कर ही तट रूप अर्थ को बताता है और सम्बन्ध सामीप्य है। अतः यहां शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

शुद्धा सारोपा में विषयी (जिसका आरोप किया जाय) और विषय (जिसमें आरोप किया जाय) दोनों शब्द द्वारा प्रतिपादित होते हैं। जैसे, घी आयु है। आयु वृद्धि के कारण घी में आयु का आरोप है और दोनों को शब्द द्वारा कहा गया है। सम्बन्ध कार्य कारण भाव का है घी आयु का कारण है। अतः यहां शुद्धा सारोपा है। जहां विषयी और विषय में से केवल एक—विषयी—का ही शब्द-द्वारा प्रतिपादन हो और दूसरे का न हो, वहां साध्यवसाना होती है। जैसे, 'घी खाले' की बजाय कहा जाय, 'आयु खाले' यहां विषय घी का कथन नहीं है, केवल विषयी आयु का ही कथन है। अतः यहां शुद्धा साध्यवसाना है।

प्रयोजनवती के इन छहों भेदों में प्रयोजन सर्वत्रैव व्यंजना द्वारा बताये जाते हैं, अतः वे व्यंग्य रहते हैं। कहीं व्यंग्य अत्यन्त गूढ़ होता है, जो विशेष सहृदय व्यक्ति द्वारा ही ज्ञेय होता है और कहीं अगूढ़ होता है, जिसे सब कोई आसानी से जान लेते हैं। इस प्रकार ये छहों भेदों में से प्रत्येक के दो दो भेद और हो जाते हैं, जिससे टोटल १२ हो जाता है।

लक्षणा के प्रमुख भेद ये ही हैं। अन्य अवान्तर भेद विस्तारभय से नहीं लिखे जाते।

लक्षणा और व्यंजना में महान् अन्तर् है। शब्द की शक्तियों में एक का—लक्षणा का—स्थान दूसरा है और व्यंजना का तीसरा।

व्यंजना लक्षणा के बाद में ही आयेगी, उससे पहिले नहीं। जहां लक्षणा हो ही नहीं, वहां व्यंजना अभिधा के पश्चात ही आती है। लक्षणा का विषय व्यंजना की तुलना में अत्यन्त सीमित है, वह वहीं होगी जहां मुख्य अर्थ का बाध होगा, किन्तु व्यंजना के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। लक्षणा केवल एक ही लक्ष्य अर्थ बतायेगी, और व्यंजना एक ही शब्द से वक्ता, बोद्धा, प्रकरण आदि के वश से अनेक अर्थ बताती है। लक्षणा केवल उसी लक्ष्यार्थ को बतायेगी, जिसका कि वाच्य से साक्षात् सम्बन्ध हो, किन्तु व्यंजना के विषय में ऐसा कोई नियम नहीं है। लक्षणा रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक को लेकर होती है, किन्तु व्यंजना को इनमें से कुछ नहीं चाहिये। लक्षणा का जैसे क्षेत्र संकुचित है, इसी प्रकार उसकी सामर्थ्य भी। किन्तु व्यंजना की सामर्थ्य अनन्त है—वहां व्यंग्य अर्थ से भी व्यंग्य निकलता है, किन्तु लक्षणा में लक्ष्य अर्थ से आगे लक्ष्य अर्थ नहीं प्रतीत होता है, अर्थात् लक्षणा एक ही बार कार्य करके विरत हो जाती है किन्तु व्यंजना अनेक बार भी होती है। रस आदि सदैव व्यंजना से ही अभिव्यक्त होते हैं, लक्षणा से कभी नहीं। लक्षणा केवल अपने लक्ष्यार्थ को ही बता पाती है, अपने प्रयोजन को नहीं, प्रयोजन को व्यंजना बताती है। किन्तु व्यंजना सर्व-स्वतंत्र है, किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखती। लक्षणा को नैयायिक आदि अन्य शास्त्र वाले भी मानते हैं, किन्तु व्यंजना केवल साहित्य शास्त्रियों की ही वस्तु है। काव्य के उत्तम मध्यम आदि भेद व्यंजना—चमत्कार के तारतम्य के आधार पर ही किये जाते हैं, ना कि लक्षणा के चमत्कार के आधार पर, जिसका अभिप्राय है व्यंजना में लक्षणा से कहीं अधिक चमत्कार है। लक्षणा व्यंजना में मुख्य अन्तर यही है।

प्रश्न १० 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर छोटा सा सारगर्भित निबन्ध लिखिये।

उत्तर—अलंकरण शब्द का अर्थ भूषा होता है। जो भूषा के साधन हों उन्हें अलंकार कहते हैं। जैसे, कड़े, कुण्डल आदि गहने। अतः काव्य के शोभा-वर्द्धक धर्मों को अलंकार कहा जाता है। काव्य में सदैव से

इनका विशेष स्थान रहा है। किन्तु वह स्थान किस प्रकार का है ? क्या अलंकार के बिना भी काव्य की स्थिति संभव है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर के लिए अलंकारों के लक्षणों पर ध्यान देना चाहिये।

वामन ने अलंकारों को काव्य शोभा के साधन माना है। अतः साधन साध्य से अप्रधान ही रहता है। साहित्य दर्पणकार ने इन्हें शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म बताया है, जो शोभा की अतिशयता करने वाले हैं। अस्थिर का भाव बताते हुए स्पष्ट कहा है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों के समान आवश्यक नहीं। इनके बिना भी काव्य हो सकता है। इसी लिए काव्य लक्षण में अलंकारों का नाम नहीं लिया। आचार्य मम्मट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि कहीं काव्य अलंकार युक्त और कहीं अलंकार वियुक्त भी होता है। इसका अभिप्राय है, इन के मत में भी अलंकारों की स्थिति काव्य में ऐसी नहीं कि उनके बिना काव्य में काव्यत्व ही न रहे। इस उपर्युक्त दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले शब्द और अर्थ के धर्म हैं (क्योंकि शब्दार्थ द्वारा ही ये शोभा बढ़ाते हैं) किन्तु काव्य का ऐसा अंग नही है, जो अपरिहार्य हो। निरलंकार भी कविता उत्कृष्ट होती है, यदि उसमें रसादि की सम्यक् स्थिति हो। किसी उत्कृष्ट काव्य में अलंकार हो तो उसकी शोभा में आतिशय्य अवश्य हो जायगा, पर तो भी उसकी काव्यता अलंकारों से स्वतन्त्र रहती है। अलंकार काव्य शोभा को अतिशय बढ़ाने वाले हैं, इसी कारण कवियों का सदैव इनके लिए विशेष प्रयास रहा है। सभी ने भावयोजना के साथ साथ अलंकार योजना के लिए भी विशेष प्रयत्न किया है। किंतु तो भी इन्हें शरीर पर के हार कटक-कुण्डल आदि का ही स्थान दिया है, विशेष नहीं। "अंगाश्रितास्त्वलंकाराः, मन्तव्याः कटकादिवत्।" (ध्वन्यालोक) जैसे कटक आदि शरीर में होते हैं, ऐसे ही अलंकार भी काव्य के शरीर शब्दार्थ के आश्रित रहते हैं। "रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।" (साहित्यदर्पण) रस आदि का उत्कर्ष करते हुए अलंकार अंगद (बाहु का भूषण) आदि के समान ही हैं। गहनें भी शरीर द्वारा आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, आत्मा में बड़प्पन का भाव उत्पन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे अलंकारों के बिना

भी मनुष्यता की हानि नहीं होती, इसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्यता की भी हानि नहीं होती। किन्तु अलंकार पहिनने से शोभा और प्रभाव में अभिवृद्धि अवश्य होती है, अतः ये अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय हैं। यही काव्यालंकारों के विषय में भी समझनी चाहिये।

अलंकार वस्तुतः भावों के प्रभाव और चमत्कार में वृद्धि करने के लिए होते हैं। भाव प्रधान रहता है, अलंकार गौण, उसका सहायक। जहां अलंकार प्रधान बनकर भाव को ढांप लेता है वह अधम काव्य माना जाता है। अतः अलंकारों का प्रयोग वही प्रशस्त है, जो भाव के लिए हो, अपने लिए ही नहीं। अलंकारों का ऐसा ही स्वाभाविक—हठाकृष्ट नहीं—प्रयोग काव्य का विशेष अंग बन जाता है। अनेकत्र तो भाव विशेष के प्रकाशन में अलंकार अपरिहार्य बन जाते हैं कवि निरलंकार वस्तु रूप में अपने उस गहन भाव को उचित रूप में प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाता है। अलंकारों की बिना सहायता क्या बिहारी दोहे, जैसे छोटे से छन्द में इतने विशाल और गम्भीर अर्थों का प्रकाशन कर सकते थे? या इनके बिना सूर, तुलसी जायसी आदि महाकवि इतना 'अगाध सौन्दर्य चित्रण करने में समर्थ होते? तो भी, उन्होंने इन्हें इनका उचित स्थान ही दिया। इन्हें साधन ही रखा। साध्य नहीं बनने दिया। जिन भाव-प्रमुख चमत्कारवादी कवियों ने इन्हीं को साध्य समझ लिया, उनकी कविताओं का विशेष महत्व नहीं है। अलंकार इतने हों कि स्वाभाविक सौन्दर्य आवृत हो जाय, तो भी ठीक नहीं। और यदि स्वाभाविक सौन्दर्य हो ही नहीं, तो भी अलंकारों के चमत्कार से कोई सहारा नहीं लगेगा। मनुष्य की कीमत तो उसकी मनुष्यता के उत्कर्ष अपकर्ष के कारण पड़ती है, न कि अलंकारों के कारण यही काव्य में है। काव्य की आत्मा-रस-के अभाव में अलंकार ऐसे हैं, जैसे निर्जीव शरीर में गहने पहिनाने। अतः, अलंकार साधन रूप से काव्य या उसकी आत्मा रस की शोभा बढ़ाने वाले साधन हैं, अन्यथा नहीं। यही इनका काव्य में वास्तविक स्थान है। ये कवि के सौन्दर्य उत्पन्न करने के साधन हैं, साध्य नहीं। रसविदों के काव्यों में इनका यही स्थान है।

११. हिन्दी के प्रमुख अलंकार-शास्त्रियों और उनके ग्रन्थों का

परिचय दीजिये और हिन्दी के अलंकार-साहित्य में भाषा-भूषण का महत्त्व बताइये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में अलंकार ग्रन्थ लिखने का चलन भक्ति काल के उत्तरार्ध में ही प्रारम्भ हो गया था। १५९८ में कृपाराम ने सक्षेपत: रस का निरूपण किया। इसी के आस पास मोहनलाल मिश्र ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण भाषा-भूषण नाम के तीन अलंकार-ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार रस और अलंकार सम्बन्धी वर्णन का सूत्रपात हो जाता है। किन्तु यह वर्णन संक्षिप्त और एकांगी है। काव्य की सभी वस्तुओं को लेकर उनका विस्तार से वर्णन तो बाद में आचार्य केशवदास से होता है। सर्व प्रथम इन्होंने ही काव्य की सारी वस्तुओं पर विशेष प्रकाश डाला। इन्होंने अपने रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया नामक दो रीति-ग्रन्थों में रस भाव अलंकार गुण दोष आदि काव्य के उपादानों का वर्णन करने की परिपाटी चलाई। केशव ने मुख्यत:,संस्कृत के अलंकार ग्रन्थों का आधार लेकर काव्य-रीति का वर्णन किया था। अपनी मौलिकता इनकी कुछ नहीं थी। प्रत्युत संस्कृत के वर्णन को भी ये पूर्णतया हिन्दी में नहीं ला सके। उसमें दृष्टिकोण विवेचना का न होकर केवल सक्षेप में परिचय देने मात्र का है। तो भी, काव्य-ज्ञान का शास्त्रीय ढग में विवेचन करने की परिपाटी का संचालन इन्होंने ही किया, इस दृष्टि से ये हिन्दी साहित्य के पहिले प्रमुख रीति-ग्रन्थकार या अलंकार शास्त्री ठहरते हैं।

किन्तु केशव रीति काल के प्रतिनिधि आचार्य नहीं हैं। कारण पीछे के आचार्यों ने इनके काव्य-सिद्धान्त का अनुकरण नहीं किया। वे लोग इनसे भिन्न काव्य-सिद्धान्त को लेकर चले थे। केशव सिद्धान्तत: काव्य में अलंकार को प्रधान मान, अन्य सब रस आदि का उसी में अन्तर्भाव कर लेने वाले चमत्कारवादी भामह, उद्भट, दण्डी के अनुयायी थे और अलंकार का काव्य में सर्वोच्च स्थान समझते थे। किन्तु बाद के आचार्य काव्य में रस को सर्वोच्च स्थान देने वाले ध्वनिकार, मम्मट विश्वनाथ आदि के अनुयायी बने। इस रसवादी सिद्धान्त को लेकर काव्य-रीति का वर्णन करने वाले सर्व प्रथम आचार्य, जिनका कि सबने अनुकरण किया, चिन्तामणि त्रिपाठी

हुए। इन्होंने काव्य-ज्ञान-सम्बन्धी काव्य विवेक, कवि कुल कल्पतरु और काव्य प्रकाश नामक तीन ग्रन्थ लिखे, जिनमें काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। पश्चात् तो हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की बाढ़ सी आ गई। जब तक कोई एक दो रीति-ग्रन्थ न लिख ले, तब तक अच्छा कवि ही नहीं समझा जाता था। छोटे बड़े सभी ने एक एक दो दो ग्रन्थ लिखे। सब का आदर्श त्रिपाठी जी ही थे, इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित रसात्म-वादी सिद्धान्त को लेकर रीति-ग्रन्थ लिखने की परिपाटी चली। अतः रीतिकाल के वास्तविक प्रतिनिधि प्रथम आचार्य ये ही ठहरते हैं।

रीतिकाल में इतने परिमाण में रीति-ग्रन्थ रचना होने पर भी संस्कृत शास्त्रों के ढंग का विस्तृत और तर्क युक्त सूक्ष्म विवेचन इन आचार्यों द्वारा नहीं हुआ। सब ने प्रायः काव्यांगों का परिचयात्मक वर्णन करने का ही उद्देश्य रखा। कारण कई थे। पहिला कारण था, इनके प्रधान आधार संस्कृत-ग्रन्थ थे। उनका पूर्ण और समीचीन ज्ञान सब को नहीं था। अधिकांश का ज्ञान काम चलाऊ होता था। अतः वैसा ही वर्णन भी हुआ। जिन लोगों को संस्कृत के शास्त्रों का पूरा ज्ञान था भी, उनके सामने और कठिनाई थी, उनके पास में संस्कृत जैसी समृद्ध और परिमार्जित गद्य का कोई रूप नहीं था। ब्रजभाषा पद्य तो अत्यन्त उन्नत दशा में था, परन्तु गद्य प्रारंभिक दशा में ही थी, जिसमें तर्क पूर्ण विवेचना की सामर्थ्य नहीं थी। अतः इन आचार्यों को सब वर्णन पद्य-बद्ध ही करना पड़ता था और पद्य में किसी विषय का विशद सांगोपांग तर्कमय विवेचन संभव नहीं होता। फल स्वरूप इनका काव्य वर्णन भी साधारण कोटि का ही रहा। और भी कारण था। संस्कृत में आचार्य और कवि दो व्यक्ति होते रहे हैं। अधिकांश संस्कृत के आचार्य, आचार्य ही थे, कवि नहीं। उन्होंने काव्य आदि के लक्षण स्वयं लिखे किन्तु उदाहरण अन्य कवियों के दिये। संस्कृत के आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ कर किसी ने भी आग्रह नहीं किया था कि अपने पद्य ही उदाहरणों में रखने हैं। विश्वनाथ भी कवि था, उसने अपने पद्य भी साहित्य दर्पण में उदाहरण रूप में रखे हैं, किन्तु अन्यों के पद्यों के साथ में। इसके विपरीत हिन्दी के आचार्यों में आचार्य और कवि दोनों का कार्य एक ही व्यक्ति करना चाहता था।

वे लोग लक्षण लिख कर स्वयं उसके अनेक उदाहरण बनाकर देने लगते थे। बल्कि उनका प्रयास अधिकतर लक्षण वर्णन के लिए न होकर उदाहरणों के लिए ही विशेष होता था। इनमें अधिकांशों मे वस्तुतः कवित्व के गुण ही अधिक थे, आचार्यत्व के नहीं। उनका उद्देश्य भी मुख्यतः कविता करना ही था, काव्य विवेचन नहीं। काव्य विवेचन का आश्रय वे लोग प्रचलित परिपाटी में कविता लिखने के लिए ही लेते थे। काव्य के किसी एक अंग का संक्षिप्त और सरल वर्णन किया और उसके अनेक सरस उदाहरण बनाने में जुट गये। प्रधानतया यही प्रवृत्ति अधिकांश आचार्यों में मिलती है। लक्षणों का उनके लिए इतना महत्त्व नहीं था, जितना कि उनके लक्ष्य (उदाहरण) का। अतएव उनके उदाहरण जितने सरस, चमत्कार-पूर्ण बने हैं, उनकी तुलना में उनके लक्षण अत्यन्त विफल सिद्ध हुए हैं। उनमें से अधिकांश लक्षण अस्पष्ट हैं, व्यभिचारी हैं और भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। एक अन्य कारण भी है, काव्य के विवेचन न होने का। उनका उद्देश्य भी काव्य-विवेचना नहीं था। वे तो संक्षेप से सरल रूप में काव्य की वस्तुओं का ज्ञान देना चाहते थे, जो उन्होंने दिया। कविता करने या समझने के लिए काव्य का जितना व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक होता है, उतना ही उन्होंने दिया। उससे ऊँचे जाकर विशेष विवेचन करने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इसी कारण उनके रीति ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित लक्षणों के अनुवाद मात्र ही रहे। उनके भी विशेष विवेचना पूर्ण स्थलों को वे छोड़ गये। इसी कारण, हिन्दी अलंकार शास्त्र में वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद अभिव्यंजनावाद जैसे किन्हीं वादों की भी नवीन उद्भावना नहीं हुई। मौलिकता का नितान्त अभाव रहा।

यह रीति-ग्रन्थ रचना तीन रूपों में होती है। एक, काव्य प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि के ढंग में काव्य के समस्त अंगों का वर्णन करना। दूसरे, शृंगार तिलक आदि के ढंग में केवल शृंगार और उसके साथ में नायिका-भेद का ही वर्णन करना। तीसरे, चन्द्रालोक के ढंग में एक ही पद्य में लक्षणोदाहरण रखकर केवल अलंकारों का ही वर्णन करना। इन तीन ही शैलियों में रीति ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं।

आधुनिक काल में तो काव्य शास्त्र का बड़े विस्तृत रूप में, अवैज्ञानिक ढंग में, तर्क पूर्ण विवेचन हो चुका है। इस विषय पर अनेक आचार्यों की उत्कृष्ट कोटि की पुस्तकें निकल चुकी हैं, जिनमें काव्य के समस्त उपादानों का सांगोपांग वर्णन विवेचन है। सर्व श्री आचार्य शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय, अर्जुन दास केडिया, हनुमान् प्रसाद पोद्दार, म० म० पं० परमेश्वरानन्द, राम दहन मिश्र, सीताराम शास्त्री, शालिग्राम मिश्र, बा० गुलाबराय आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

हिन्दी के अलंकार शास्त्रों का संक्षिप्त वर्णन यही है।

हिन्दी साहित्य रत्न

प्रश्न पत्र २ सं० २००३

१. नीचे लिखे अवतरणों मे से किन्ही तीन का अर्थ प्रसंग देकर लिखिये और यथा-स्थान काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाली टिप्पणियाँ भी दीजिये।

(क) सुनिके धुनि चातक .... झूकिसों ॥

प्रसग—कविवर देव का पद है। वर्षा काल में कृष्ण की विहार-क्रीड़ा का वर्णन है।

अर्थ—चारों ओर मोरों और चातकों की ध्वनि और कोयलों की "कुहू कुहू" सुनकर प्रेम में भरे कृष्ण हे सखी! बागों में अचूक (जो मन के लुभाने में चूकते नहीं) रागों को अलाप रहे हैं। कविदेव वर्णन करते हैं, नयी जो घन-घटा उमड़ी, (उससे) वन भूमि पत्तों से ढकी हुई सी हो गई (बादलों ने वन भूमि को ऐसे ढांप लिया जैसे वह पत्तों से ढांप दी गई हो। अन्धकार छा जाता है।) (मस्ती के) रंग में रंगी हुई और कांपती हुई लता वायु के झकोलों से झूम जाती है।

देव ने कृष्ण की वर्षा में उद्यान-क्रीडा का वर्णन किया है। प्रकृति मस्त

है। कृष्ण भी प्रकृति के साथ मस्त हो गा रहे हैं। नीचे की दो पंक्तियों में समासोक्ति अलंकार के द्वारा दूसरा चमत्कार पूर्ण व्यंग्यार्थ भी प्रतीत होता है। लता और वायु के वर्णन द्वारा किसी नायक और नायिका की प्रेम-क्रीडा का व्यंग्य निकलता है। कामासक्त और अतएव कम्पमान नायिका भी प्रेमी नायक की हाथापाई के सामने झुक जाती है। रं—गराती, 'हहराती और 'झुकि जाति' आदि पद दोनों ओर अर्थ देते हैं। विशेष्य लता अश्लिष्ट है। यमक और अनुप्रास भी आगये हैं।

(ख) विरह जरी .... आजु अंगार ॥

प्रसंग—बिहारी ने किसी विरह विधुरा का वर्णन किया है।

अर्थ—पट-बीजनों (खद्योतों) को देखकर, विरह से जली हुई उसने, बहक कर (भ्रम से) कितनी बार नहीं कहा, अरी सखी! आ भीतर भाग आ, आज तो अंगार बरस रहे हैं।

विरहिणी विरह में बौरा गई है, खद्योतों को अंगार समझती है। आत्यंतिक विरह का सूचन होता है। विरह—जरी पद अत्यन्त साभिप्राय है। विरह ज्वलित होने पर ही भ्रम होता है। परिकर और भ्रान्तिमान् अलंकारों का सुन्दर उदाहरण है।

सुनत पथिक मुहँ .... विचारि बाम।

प्रसंग—बिहारी का ही दोहा है। किसी प्रोषितपतिका का वर्णन है।

अर्थ—(परदेश में वर्तमान नायक ने) पथिकों से यह सुनकर कि उस (उसके) गांव में, माघ की रातों में भी, लुएं चलती हैं, बिना पूछे और बिना बताये ही जान लिया कि स्त्री (उसकी प्रिया) जीवित है।

अत्युक्ति की पराकाष्ठा है। माघ के महीने में और फिर रात में भी लुएं चलती हैं नायिका के विरहोत्ताप के कारण। नायक झट अनुमान कर लेता है कि नायिका जीवित है। नहीं तो इतनी गर्मी कहां से आई? अतिशयोक्ति या अत्युक्ति का अच्छा उदाहरण है।

बेसरि मोती दुति झलक ...पूंछ्यो जाइ ॥

प्रसंग—बिहारी का दोहा है। किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन है।

अर्थ—बेसर (नाक के भूषण) के मोती की झलक आकर अधर पर पड़ रही है। चूना (पान में खाने का) नहीं है, हे चतुर स्त्री! वस्त्र से क्यों पूंछा जाय?

बेसर के मोती की श्वेत आभा अधर पर पड़कर चूने का भ्रम उत्पन्न कर रही है और नायिका वस्त्र से उसे पोंछ रही है। सखी उसको असली बात बताकर मना करती है। सयानी का विपरीत लक्षणा से मूर्ख ही अर्थ लिया जाता है। तद् गुण, भ्रम और उन्मीलित अलंकार आये हैं।

बतरस लालच ... नटि जाइ॥

प्रसंग—बिहारी का दोहा है। किसी प्रेमासक्त नायिका का वर्णन है।

अर्थ—बात के रस के लोभ से (नायिका ने) मुरली छुपाकर रख दी। (ऊपर से) कसम खाती है, (किन्तु) भवों में हंसती है और देने को कहा जाता है, तो नट जाती है।

कितना रसमय और स्वाभाविक वर्णन है! नायिका कृष्ण से बात करने का बहाना ढूंढती है। मुरली छुपा देती है। मांगने पर शपथ करती है कि उसके पास नहीं है, किन्तु आंखें हँसती हैं। कृष्ण मांगते हैं तो ना कर देती है। दैन कहे, नटि जाय से चमत्कारक व्यंग्य निकलता है। दीपक का बहुत अच्छा उदाहरण है। एक नायिका अनेक रसमय क्रियाएँ करती है।

(ग) देखें छिति अंबर जलै हैं ... ...सम कर्यो है॥

प्रसग—सेनापति का पद है। द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा वर्षा ऋतु और ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है।

अर्थ—(वर्षा ऋतु में) चारों ओर छोर (चारों दिशाएँ), पृथ्वी और आकाश में जल ही जल है (ग्रीष्म में चारों दिशाएं, आकाश और पृथ्वी ताप में 'जलैं हैं'—जलते हैं।), तृण, वृक्ष आदि सभी का रूप हरा कर दिया है (ग्रीष्म ऋतु तृण, तरुओं का वास्तविक—हरित रूप नष्ट

कर देती है और उन्हें ठूंठ बना देती है सुखाकर)। बडी भारी वर्षा की झड़ी लग जाती है (ग्रीष्म में झार (आग) लग उठती है), भादव के महीने की शोभा फैल जाती है (ग्रीष्म में दव (दावाग्नि) की भा (चमक) की ज्योति (प्रकाश) फैल जाती है। धूप की अग्नि की चमक होती है), जल कण बरसाने वाली हवा चलती है और ऐसा लगता है मानो शरीर पर जल सिंचन (सेक) पड़ रहा हो (ग्रीष्म में पवन जलद (तेज) चलती है और ऐसा लगता है मानो तन पर (आग का) सेक (ताप) पड़ रहा हो।)। नदियों में लकडी की बनी हुई (दारुन) नौकाओं (तरणियों) में तैरते हैं और सुख पाते हैं (ग्रीष्म में सूर्य (तरनि) अत्यन्त दारुण (तेज) होता है और नदियों में तैर कर सुख पाते हैं) और सब लोगों के मन में ठण्डी और घनी छाया (में बैठने) की इच्छा रहती है (ग्रीष्म में बादलों की ठण्डी छाया की चाहना ही सब के मन में रहती है)। देखो, सेनापति की कविता की चतुरता कि जो भयंकर ग्रीष्म ऋतु को भी वर्षा ऋतु के समान बना दिया है।

वस्तुतः पद्य में कवि-कौशल का अद्भुत चमत्कार प्रकट हुआ है। द्व्यर्थक या श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने वर्षा और ग्रीष्म का एक ही पद्य में वर्णन किया है। दोनों ही अर्थ समान रूप से प्रकट होते हैं। शब्दश्लेष— सभंग और अभंग—का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। यहां दोनों ही ऋतुओं का वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः दोनों ही अर्थ प्राकरणिक हैं।

(घ) पृथ्वीराज रासो का यह पद्य अब कोर्स में नहीं है।

(ङ) १. अकबर समद अथाह…… …… प्रतापसी॥

प्रसंग—पृथ्वीराज का दोहा है। महाराणा प्रताप की अजेयता का वर्णन किया गया है।

अर्थ—अकबर एक अथाह समुद्र है, जिसमें शूरता का जल भरा है, किन्तु मेवाड़ का अधीश्वर महाराणा प्रतापसिंह उसमें कमल के फूल के समान है (जल कितना ही बढ़े कमल उससे ऊपर ही रहता है। यों ही, अकबर की शूरता प्रताप को विजित नहीं कर सकी।)।

अद्भुत भाव-पूर्ण दोहा है। महाराणा प्रताप की अजेय वीरता का व्यंजन होता है। रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. थिर, नृप हिन्दुस्तान……… राणा प्रतापसी॥

प्रसंग—दुरसा जी का दोहा है। भारतीय राजाओं की स्वार्थवृत्ति का वर्णन किया गया है।

अर्थ—लोभ लालच के मार्ग में लगे हुए, हिन्दुस्तान के राजा गण (मातृभूमि को स्वतंत्र करने के कार्य में) स्थिर (निश्चेष्ट) हो गये हैं। किन्तु महाराणा प्रताप सिंह मातृभूमि को मां मान कर उसकी पूजा करता है।

महाराणा की स्वदेश के प्रति अगाध भक्ति का व्यंजन होता है।

३ सींहा देस विदेस……… सींहारां वन्न॥

प्रसंग—बाँकीदास का दोहा है। वीर पुरुष के लिए कोई भी विदेश नहीं।

अर्थ—सिंहों के लिए देश और विदेश समान है। सिंहों का क्या वतन? सिंह चाहे जिस वन में घूमें, सिंहों के लिए कौन सा वन है? (अर्थात् वे जहां भी रहें, उनके लिए वही घर हो जाता है। उनके लिए वन कौन सा है?)

सिंह की अन्योक्ति से वीर की निर्भीक और स्वच्छन्द वृत्ति का व्यंजन किया गया है। वयण सगाई का भी निर्वाह है।

४. इला न देणी……… पढ़ाई माय॥

प्रसंग—कवि राजा सूर्य मल्ल का पद्य है। माता पलने में ही पुत्र में वीरता का भाव भर रही है।

अर्थ—अपनी पृथ्वी न देना, इन भावों की लोरियों से (राजपूतनी बच्चे को पलने में) झुलाती है। पुत्र को पलने में ही माता मृत्यु का महत्त्व समझा रही है।

राजपूतों की जन्म-प्राप्त वीरता का वर्णन है। माता पलने में ही उसे मृत्यु की लोरियों से रजपूती सिखा रही है। स्वभावोक्ति है। वयण सगाई का भी सुन्दर निर्वाह है।

(च)—सन्देस सुनत.......... लगिय पाइ ॥

प्रसंग—पृथ्वीराज रासो का अवतरण है। पद्मावती को हरने की घटना का वर्णन है। पद्मावती १६ शृंगार करके गौरी को मना कर पृथ्वीराज के सामने जाती है।

अर्थ—संदेशा सुनते ही आंखों मे आनन्द छागया। बाला(पद्मावती) में उमंगें उठ खड़ी हुईं, मानो काम ने अपनी सेना सजाई हो। शरीर पर से रेशमी वस्त्र उतार कर स्नान किया, मानो १६ शृंगार किये चन्द्रमा हो (ऐसी लगती थी)। आभूषण मंगवा कर, अनुपम नख शिखों की राजा कामदेव ने मानो सेना सजाई हो। अथवा आभूषण मंगवा कर अनुपम अंगों में पहिने, मानों काम राजा ने अपनी सेना सजाई हो। सोने के थाल मे मोती भर लिये, (उस में) चमकते हुए दीपक जला लिये। साथ में एक हजार सखियां ले लीं, मानो रुक्मिणी हो (रुक्मिणी को कृष्ण हर ले गये थे, इसी प्रकार सहस्र सखियों के बीच में से) जिस से (जिस की चाल से) हंस भी लज्जित होते हैं। गौरी का पूजन करके (वर-प्राप्ति के लिए कन्याएँ गौरी-पूजन करती हैं) शंकर को मना कर (ध्यान करके) और प्रदक्षिणा करके, चरणों में नमस्कार किया।

चन्द ने १६ शृंगार किये पद्मावती के गौरी-पूजन करने का आलंकारिक भाषा में रुचिर वर्णन किया है। साथ में पृथ्वीराज के प्रति उसका अनुराग भी व्यक्त होता है। जैसा कोमल मधुर भाव है, वैसी ही मधुर और कोमल भाषा है। उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों का सुन्दर चमत्कार है।

७. (क) सेनापति और देव के प्रकृति-वर्णन की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

उत्तर—शृंगार के साथ, उसके उद्दीपन के रूप में प्रकृति का भी वर्णन प्राय: सभी रीतिकाल के कवियों ने किया है। प्रकृति उनके भावों की उत्तेजना में सहायक होती रही है। इस उद्देश्य के लिए, अनेक कवियों ने बारह मासे और षट्ऋतु वर्णन भी किये हैं। जिन्होंने इस प्रकार के वर्णन नहीं किये, उन्होंने भी स्थान स्थान पर शृंगार के संयोग और वियोग-

रूपों में प्रकृति के प्रेम या विरह का उद्दीपन करने वाले रूपों का वर्णन किया है। किंतु उनका प्रकृति वर्णन सदैव काव्य के भाव या रस का अंग रहा है।

सेनापति इस पद्धति के बहुत कुछ अपवाद रूप में हैं। इन्होंने अपने षड् ऋतु वर्णन में प्रकृति के अनुराग के वशीभूत होकर उसके विविध स्वाभाविक रूपों के विशद चित्र उतारे हैं। रीति काल के ऋतु-वर्णनों या प्रकृति वर्णनों में सेनापति का अत्युच्च माना जाता है। इनका ऋतु-वर्णन अनुपम माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से "ऋतु वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है।" श्री हरिऔध जी का मत है कि "षड्ऋतु का जैसा उदात्त और व्यापक वर्णन सेनापति ने किया है, वैसा दो एक महाकवियों की लेखिनी ही कर सकी।" आचार्य श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि "इन्होंने षड् ऋतुओं का वर्णन किया है, जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था।" वस्तुतः सेनापति का ऋतु वर्णन ऐसा ही सजीव और विशद है। इस वर्णन में प्रकृति भाव का अंग होकर नहीं आई है अपितु कवि ने प्रकृति वर्णन के लिए ही प्रकृति वर्णन किया है। उसमें इनकी सूझ बूझ सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और प्रकृति के अनुभव का पूरा पता लगता है। किन्तु इनकी प्रकृति में पशु पक्षी पुरुष और वन, वृक्ष, नदी तडाग आदि सभी कुछ आ जाता है। इन्होंने जहां वन्य प्रकृति के फल, पुष्प, लता, वृक्ष ताल तलैया, नदियों का वर्णन किया है, वहां भिन्न भिन्न ऋतुओं में उठने वाली विभिन्न मानसिक भावनाओं का भी सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन किया है। किस ऋतु में लोग कैसा और क्या आनन्द मनाते हैं, इसका भी सुभग प्राञ्जल चित्र खींचा है। इन्होंने भावनाओं का अंग बनाकर प्रकृति का वर्णन नहीं किया है, अपितु प्रकृति के स्थूल रूपों का चित्रण करके, उनसे उद्भूत होने वाली भावनाओं का स्वतंत्र वर्णन किया है, जो किसी नायक नायिका विशेष पर घटित न होकर, सार्वजनिक है। साथ में विभिन्न अलंकारों, उक्ति-वैचित्र्यों से वह वर्णन और भी चमत्कारक और विशद हो जाता है। इनके

प्रकृति वर्णन में उदात्तता, गम्भीरता, स्वाभाविकता और सूक्ष्मता अद्भुत रूप में मिलती है। उसमें ऊहापोह भी है और नैसर्गिकता भी है। ग्रीष्म की भयंकरता का देखिये कैसा स्वाभाविक और विशद वर्णन किया है, जो स्वतन्त्र है, किसी भावना-विशेष का अंग नहीं है:—

वृष को तरनि तेज सहसो करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी—
छांह को पकरि पंथी पंछी विरमत हैं।
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
धमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर का पकरि कौनौ,
घरि एक बैठि कहु घामै बितवति है॥

ग्रीष्म की दुपहरी का कितना सच्चा अनुभूत वर्णन है और अन्त की दो लाइनों में उत्प्रेक्षा कैसी चमत्कारक बन पड़ी है, 'पवन भी ठण्डी छांह पाकर घाम बिता रही है! कातक की रातों का भी देखिये कैसा अनुभूति-पूर्ण, विशद और स्वाभाविक वर्णन किया है—

कातक की राति थोरी थोरी सियराति
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चन्द्र चान्दनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं,
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है॥

विमल शुभ्र चांदनी की दुग्ध-धवलता का सागर उछलता है। देखिये शिशिर में सूर्य का क्या हाल होता है—

सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताऊ,
घामहूँ में चांदनी की दुति दमकति है।

सेनापति होती सीतलता है सहसगुनी,
रजनी की भांई यासर में झमकति है। आदि।

सूर्य चांद का रूप बन जाता है और दिनमें रात की कालिमा चमकने लगती है। सेनापति का निवास अधिकतया राजसी ठाठबाट में होता था, अतः विभिन्न ऋतुओं में उन्होंने राजसी सुख साधनों का भी वर्णन किया है। एक उदाहरण—

जेठ नजिकाने सुधरत खस खाने तल
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरम्मति विविध जलजन्त्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटाते सुधा सुधारियत हैं। आदि।

यही नहीं, इन्होंने सार्व-जनिक सुख भोगों का भी वर्णन किया है। वस्तुतः इन्होंने प्रकृति और उसके सर्वजन पर पड़ने वाले प्रभाव, दोनों का वर्णन किया है, जो स्वतंत्र है, किसी भाव का अंग नहीं है।

देव ने भी प्रकृति-वर्णन दोनों रूपों में किया है। काव्यगत शृंगार वर्णन के प्रसंग में भी और ऋतु वर्णन के रूप में भी। किन्तु वे भावुक कवि थे, भावनाओं का चित्र खड़ा करना उनको अभिप्रेत होता था। प्रकृति उन भावनाओं को ही उत्तेजना देने वाली होती है। प्रकृति के मधुर सुखमय रूपों की अपेक्षा उनका ध्यान उनसे उत्तेजित होने वाली भावनाओं की ओर ही अधिक रहता था। वैसे इनका प्रकृति वर्णन भी इन सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण, प्रकृति अनुभूति और चित्रण शक्ति आदि का ही परिचायक है, किन्तु इनमें प्रकृति के स्थूल रूप के प्रति वैसा स्वतंत्र अनुराग नहीं मिलता जैसा कि सेनापति में। अतएव इनका प्रकृति चित्रण उतना स्वाभाविक और विशद नहीं है, जितना कि सेनापति का। देव ने वस्तुतः मानव प्रकृति का ही अधिक वर्णन किया है। स्थूल प्रकृति का उतना नहीं। स्थूल प्रकृति इनके काव्य में मानव-प्रकृति का अंग बन कर ही आई है, स्वतंत्र रूप में प्रधान होकर नहीं। वैसे, देव में प्रतिभा, प्रगल्भता मौलिकता और कवित्व शक्ति का जैसा विकास है, वैसा अन्य कम ही कवियों में है। इनकी कल्पना शक्ति, सूझबूझ अनोखी थी। इनके प्रकृति-वर्णन

में कल्पना और ऊहापोह का आधिक्य रहता है। देव ने सुजान विनोद और सुख सागर तरंग में बारह मासे और षड्ऋतु का वर्णन किया है, किन्तु वहां प्रकृति की प्रेमी-युगलों पर क्या मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रिया होती है, बस इसी का वर्णन इनका उद्देश्य है। प्रकृति के रूप पर देव भी मुग्ध हुए हैं, किन्तु इनमें वह प्राकृतिक उल्लास कम मिलता है, जो सेनापति के ऋतु वर्णन मे सर्वत्र। तो भी इनकी निरीक्षण शक्ति, अनुभूति और स्वरूप ज्ञान प्रकृति के विषय में कम नहीं थे। देखिये—

आस पास पूरन प्रकास के पगार सूझें,
बन न अगार डीठ गली ह्वै निबरतें।
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ि,
बिधु बरम्हांड उतरात बिधि बरतें।
सारद जुन्हाई जन्हु पूरन सरूप धाई
जाई सुधा सिन्धु नभ सेत गिरिवर ते।
उमड्यो परत जोति मंडल अखंड सुधा,
मण्डल मही में इन्दु मण्डल बिबरतें॥

इसमें देव ने स्वतन्त्र रूप से शरत् की श्वेतिमा का वर्णन किया है। किन्तु ऐसे वर्णन अल्प हैं। नहीं तो प्रकृति वर्णन से भी किसी न किसी मधुर भावना का ही व्यंग्य निकलता है, जैसे कि निम्न पंक्ति में—

रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

यहां लता और समीर की चेष्टाओं से नायक नायिका की रसमयी चेष्टाओं का ही व्यंग्य निकलता है।

देखिये निम्न में देव की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति—

सुधा के सरोवर सों अम्बर उदित ससि,
मुदित मराल मनु पैरिबेको पैठ्यो है।
बेला के विमल फूल फूलत समूल मानों,
गगन ते उड़ि उडु गण गण बैठो है। आदि।

निर्मल स्वच्छ आकाश में चन्द्रमा ऐसे लगता है, मानो सरोवर में हंस तैरने को घुसा हो। एक स्वाभाविक दृश्य है, जो कि सभी देखते हैं।

किन्तु ऐसे स्थल कम हैं। देव ने प्रकृति का चित्रण किया है, किन्तु उनका चित्र पूर्ण नहीं हैं, चित्र की रेखाएं अधूरी हलकी, अस्पष्ट सी रह जाती हैं। सेनापति के चित्रण के समान पूर्ण नहीं होतीं। तो भी अन्यों की अपेक्षा देव का प्रकृति चित्रण अच्छा है। किन्तु सेनापति इन से आगे हैं।

अथवा

देव के भाषा-सौन्दर्य की सोदाहरण विवेचना कीजिये।

उत्तर—देव को ब्रज भाषा जिस रूप में मिली थी, वह उस समय उसका अत्यन्त विकसित साहित्यिक रूप था, उसमें कोमलता थी, गम्भीरता थी, व्यंजना थी, अनन्त शब्द भण्डार था, व्याकरण भी पूर्णतया नहीं तो बहुत कुछ बना हुआ था, पद योजना, प्रयोग-वैचित्र्य और अलंकरण सुषमा से अत्यन्त समृद्ध थी। देव ने उसके इन गुणों में अपनी प्रतिभा, मौलिकता और प्रगल्भता के सहयोग से और भी समृद्धि उपस्थित की। भाषा के ये उपर्युक्त गुण देव की भाषा में अत्यन्त समृद्ध रूप में मिलते हैं। अतएव ब्रज भाषा के प्रधान आचार्यों में इनको गिना जाता है।

भाषा-सौन्दर्य की परीक्षा के लिए कवि का शब्द भण्डार, पदयोजना, अलंकार-विधान, प्रयोग-वैचित्र्य और उसकी लक्षणा व्यंजनात्मक शक्ति एवं प्रवाह और संगीत देखे जाते हैं। व्याकरण तो साथ में स्वयं ही आ जाता है, अन्यथा ये सब उपर्युक्त गुण भी व्यर्थ हैं। इन समस्त की दृष्टि से समीक्षा करने पर देव की भाषा अत्यन्त समृद्ध, सामर्थ्य-शालिनी उन्नत साहित्यिक ब्रज भाषा ही ठहरती है। श्री हरिऔध जी ने लिखा है, "कवि-कर्म क्या है? भावों और भाषा पर अधिकार होना और प्रत्येक विषय का यथातथ्य वर्णन करना। देव जी दोनों बातों में दक्ष थे।" देव ने अपनी भाषा द्वारा मन चाहे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के सफलता पूर्वक रसमय चित्र उतारे हैं और भाषा उनके संकेत पर नृत्य करती हुई चली है। भाव और भाषा दोनों एक होकर चले हैं। बा० श्यामसुन्दर दास जी ने देव की भाषा के विषय में लिखा है "देव का शब्द भण्डार और कल्पना-कोष भी समृद्ध था।"

देव के पास अनन्त शब्द भण्डार था। देव संस्कृत और शास्त्रों के

पण्डित थे। अतः, स्वभावतः, उनकी भाषा संस्कृत से अत्यन्त प्रभावित है। केशव, सूर, तुलसी का आदर्श रखकर उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी बहुत प्रयोग किया है। नहीं तो संस्कृत शब्दों का कायाकल्प करके ही व्रज भाषा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति अधिकतर रही। प्राकृतिक और अपभ्रंश के भी शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग देव ने बहुशः किया है लोयणी, विज्जु, नाह आदि ऐसे शब्द हैं। मुसलमानी सम्पर्क के कारण व्रज भाषा में फारसी शब्द भी खूब आ गये थे। अनेक मुसलमानों ने भी व्रज मे कविताएँ लिखीं थीं। सभी कवियों ने न्यूनाधिक रूप मे फारसी अर्बी के शब्दों को लिखा है। देव भी अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अर्वी फारसी शब्दों का प्रयोग किया, किन्तु इतना नहीं, जितना कि विहारी भूषण, सेनापति आदि ने। देव बहुत घूमे फिरे व्यक्ति थे। अनेक प्रान्तों में उन्होंने यात्राएँ की थीं। अतः अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी उसमें यत्र तत्र आये हैं। ऐसी भाषाओं मे बुन्देलखण्डी, अवधी पूर्वी, राजस्थानी खडी बोली, आदि भाषाएँ आती हैं। देव का साहित्य बहुत विस्तृत है उन्होंने अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन सब से उनके शब्द भण्डार का परिचय मिलता है।

व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा को पूर्णतया शुद्ध नहीं माना जाता। पहिली बात तो यह है कि व्रज भाषाओं के अन्य कवियों के समान इन्होंने भी शब्दों को अनुप्रास यमक आदि के सौन्दर्य के लिए बहुत तोड़ा मरोडा है किन्तु यह सब सौंदर्य वृद्धि के लिए ही किया गया है और इतना नहीं जितना भूषण में। तो भी अनेकत्र यह प्रवृत्ति भद्दी लगती है—सुखात को सुखोत, दुखात को दुखोत, आदि ऐसे ही शब्द हैं। श्री भगवान दीन दीन जी की राय में, "अनुप्रास और यमक से देव ने भाषा का सौष्ठव विगाड दिया है। अन्य कवियों ने ऐसा बहुत कम किया है। ... "उपर्युक्त कारण से ही देव की कविता का प्रसाद गुण नष्ट हो गया है।' आचार्य श्री शुक्ल जी का भी ऐसा ही मत है, "तुकान्त और अनुप्रास के लिए, शब्दों को तोड़ने मरोडने ही नहीं थे, वाक्य को अविन्यस्त कर देते थे।" ये दोनों ही मत

अधिकांश में ठीक हैं। देव ने भूषण से यदि कम शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है तो अन्य कवियों से कहीं अधिक तोड़ा मरोड़ा है।

शुद्धता की दृष्टि से भी इनकी भाषा व्याकरण का उल्लंघन करती हुई मिलती है। इन्होंने बहुत स्वतन्त्रता बरती हैं व्याकरण के नियमों के साथ। लिंग, वचन, क्रिया, कारक के विषय में पूरी स्वच्छंदता रही है। वाच्य परिवर्तन में भी ऐसी ही अनियमितता आ गई है अनेक स्थलों पर। अवधी, खड़ी बोली आदि की क्रियाएँ तक आ गई हैं। इन कारणों से अनेकत्र इनकी भाषा सचमुच दुर्बोध हो गई है। वाक्य रचना भी अनेक स्थलों पर दूराकृष्ट हो गई है, अव्याकरणिक भी हो गई हैं। जैसे—

ज्यौं पुलक्यों जलसों झलक्यों,
उर औचक ही उचकौ कुच कन्दसों।

वचन दोष है। कुचका बहुवचन में प्रयोग होना था। क्रिया एक वचन में आई है। "नितम्ब भयौ कछु भारो" भी ऐसा ही वचन का दोष है। एकनितम्ब ही भारी होने का मतलब सूजन होगा।

कारकों को देव ने अनेकत्र बिल्कुल छोड़ दिया है, जिससे अर्थ ज्ञान में बाधा होती है—जय ते जदुराय दई दुहि गाय"। यहां तो नहीं, अन्यत्र अनेक स्थलों पर अर्थ स्पष्ट नहीं होता। बहुत कुछ अनुमान लगाना पड़ता है। इस च्युतसंस्कृति दोष के साथ, अधिक-पदत्व या व्यर्थ-पदत्व और न्यून-पदत्व भी मिल जाते हैं।

किन्तु, यह सब ठीक होते हुए भी, देव ने यह सब भाषा के सौंदर्य के लिए किया। उसमें संगीत और माधुर्य लाने के लिए ही मुख्यतः देव की कविता में ये आये हैं। अनुप्रास और यमक आदि के प्रेम के कारण भी ये दोष आ गये हैं। देव भी अपने समय के प्रतिनिधि के नाते विशेष अलंकार-प्रिय थे। वचन और रचना दोनों का वैचित्र्य इनकी कविता में मिलता है। देव संगीत के भी ज्ञाता थे। इन्होंने संगीत के विषय में भी एक ग्रन्थ लिखा है। अतः भाषा की कोमलता, मधुरता और भावमयता के साथ संगीत का मधुर-विधान विशेष रूप से मिलता है। भाषा में जहां

भाव चित्रण की सामर्थ्य है, वहां लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक प्रयोगों के भी ये आचार्य हैं। इन्होंने व्यंजना के द्वारा अत्यन्त ही स्वाभाविक और मधुर भावों की अभिव्यंजना की है।

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव-पल्लव के,
सुमन झिंगुला सोहै तन छवि भारी है।
पवन झुलावै, केकी कीर बतरावै 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई लोन,
कुन्दकली नायिका लतान सिरतारी दै।
मदन महीपजू को बालक वसन्त, ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटखारी दै॥

× × × × ×

हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख बेलिसी केलिघनेरीं,
मैं पहिरौं पिय को पियरो, पहिरी उनरी चुनरी चुनि मेरी॥

इन दोनों ही अवतरणों में भाव के साथ साथ भाषा का पूर्ण सौंदर्य खिला हुआ है। देखिये चकारानुप्रास—

प्रेम चरचा है, अरचा है कुलनेम न,
रचा है चित और अरचा है चित-चारी को।

× × × × ×

मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा मन मोहि मोहि मोहन-मयी भई

+ × + ×

देखिये एक प्रकृति वर्णन का पद्य—

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायो देव,
छहर छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसिके हिंडोरे चढ़ी,

थहर थहर तनु कोमल थहरिया ।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया ॥

❀ ❀ ❀ ❀

एरि पनिहारि ! देव तेरी मनुहारी करौं,
नेक ही निहारि हरि गयो हिय हारि कै ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

चक चकयानि के चकाये चक चोरन सों,
चौंकत चकोर चकाचौंधमें चकै गई ।
देवनन्द नन्दन के नैनन अनन्द मयी,
नन्द जी के मन्दिरन चन्दमई कै गई ।

इस प्रकार के रत्न बहुत हैं देव की कविता में। मिश्र बन्धुओं का मत है, "भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनों कवि अन्य कवियों से बहुत आगे बढ़े चढ़े हैं।" विशेष कर देव की भाषा अद्वितीय है।" बा० श्याम सुन्दर दास और शुक्ल जी एवं दूसरी ओर मिश्र बन्धुओं के इन दो विरुद्ध मतों के समन्वय के लिए, श्री नगेन्द्र का ही मत मानना पड़ता है—

"वास्तव में अत्युक्ति को निकाल देने के बाद ये दोनों ही मत बहुत अंशों में सत्य ठहरते हैं।.... इसमें सन्देह नहीं कि देव की भाषा में उचित व्यवस्था नहीं मिलती। मतिराम जैसे कवि से तुलना करने पर उसमें स्वच्छता का अभाव अत्यन्त व्यक्त हो उठता है। परन्तु जहां तक भाषा की श्री वृद्धि का सम्बन्ध है ब्रज भाषा के अनेक कवि उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने ब्रज भाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्री वृद्धि की है, उसको औज्ज्वल्य एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उस की शक्तियों का सम्बर्द्धन किया है।"

अथवा

सेनापति की अलंकार-योजना पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

उत्तर—अलंकार काव्य की शोभा करने वाले उसके अनित्य धर्म होते हैं। अनित्य धर्म का अर्थ है, काव्य प्रकाशकार के मत में 'अनलंकृती पुनः क्वापि" अर्थात् काव्य सर्वत्र जहां तक हो सके सालंकार हो, किन्तु कहीं निरलंकार भी हो, तो कोई हानि नहीं उसकी काव्यता की। काव्य होने के लिये तो केवल आत्मभूत रस अपेक्षित है। अतः वह अलंकार-सहित और तद् विरहित दोनों दशाओं में काव्य रहता है, यदि उसमें आत्मा रस है। एवं वह काव्य के लिए आवश्यक नहीं हैं, इस अर्थ में कि यदि अलंकार हों तभी काव्य हो सकता है। किंतु उपादेय अवश्य हैं। सुभग सुन्दर व्यक्ति भी यदि अलकार पहिने हो तो और भी सुन्दर और अधिक प्रभावोत्पादक हो जाता है। यही काव्य और अलंकार का सम्बन्ध है किन्तु काव्य सौन्दर्य के साधनों में अलंकार भी एक सामर्थ्यशाली साधन है। अनेक अलकार तो वस्तुतः ऐसे हैं जिनका सहारा लिये बिना कवि का काम ही नहीं चल सकता। उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा आदि ऐसे ही अलंकार हैं। वस्तुतः मौलिक सौन्दर्य का वर्णन इन समताओं, प्रतीकों के बिना हो ही कैसे सकता है? "चाद सा मुख" कहने से सौन्दर्य का जो प्रत्यक्ष चित्रण सा होता है, वह अन्यथा, अनेक वाक्यों द्वारा भी पूर्णतया नहीं हो सकता। कवियों में आरम्भतः इसीलिए अलंकारों के प्रति विशेष आदर रहा है। रीतिकाल में तो आकर अलंकारों के प्रति बहुत ही आकर्षण उपस्थित हो गया था। अलकार योजना कवि की प्रधान विशेषता मानी जाने लगी थी। प्रत्युत अनेक कवियों का तो उद्देश्य अलंकार प्रदर्शन ही था। सेनापति भी आचार्य और महाकवि थे। वे भी अलंकार प्रेम से कैसे बच सकते थे? उनके काव्य में भी अलकारों का अपूर्व सौन्दर्य व्याप्त है।

किंतु आदर्श अलंकार योजना वही मानी जाती है, जो उचित हो, अर्थात् जो अलंकार-लक्षण के अनुसार शोभा वधन में सहायक के रूप मे आये, प्रधान वन कर नहीं। कही कवि केवल अलंकारो के लिए भाव-विकृति कर देता है और कहीं अलकारों का चमत्कार भाव को आच्छन्न करके स्वयं प्रधान हो बैठता है, उसी के लिए वाह वाह होती है, भाव तक कोई पहुँचता ही नहीं। ये दोनों ही प्रणालियां प्रशस्त नहीं। ऐसे काव्यों को, जिनमें

कि कवि का प्रधान लक्ष्य अलंकार आदि स्थूल कला प्रदर्शन का ही है, साहित्य शास्त्रियों ने अधम काव्य माना है। उत्तम अलंकार-योजना तो वह है, जो भाव का अंग बन कर, उसके सौन्दर्य मे और विशदता मे अभिवृद्धि करने वाली हो। सूर, तुलसी, जायसी आदि महाकवियों की अलंकार-योजना इसी ढंग की है। रीतिकाल में यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ती है। कवि अर्थालंकारों और शब्दालंकारों दोनों का प्रदर्शन करता है। अर्थालंकारों में सादृश्य और विरोध मूलक और वैचित्र्यमूलक प्रायः सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों में विशेषतया अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग हुआ है। सेनापति इनके प्रयोग में विशेष दक्ष थे। रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में सेनापति की अलंकार योजना अत्युत्कृष्ट मानी जाती है। सेनापति ने अलंकारों के प्रति प्रयत्न-शील रहते हुए भी भाव की स्वाभाविकता का भी नाश नहीं होने दिया। अलंकार-चमत्कार के सामने भाव-चमत्कार दबा नहीं है। अलंकार और भाव का ऐसा ही सुन्दर समन्वय सेनापति ने किया है। इनके कवित्तों में जहां भाव का पूर्ण चित्र होता है, वहां अलंकार का भी पूरा स्वरूप सामने खड़ा हो जाता है। ये जितने भावुक थे उतने ही आलंकारिक भी। अतएव इनकी कविता की इस भाव-कोमलता के सामञ्जस्य से इनकी अलंकार योजना अद्भुत बनी है। शब्दालंकारों में फंस कर काव्य की दुर्गति होने का अधिक भय होता है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि के पीछे कवि अर्थ को दुरूह और अस्वाभाविक कर देता है। किन्तु सेनापति ने इन तीनों का विस्तारशः प्रयोग करते हुए भी भाव को उसकी दलदल में नहीं फंसाया। श्री शुक्ल जी ने लिखा है, 'अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पायी है।" देखिये ऋतुवर्णन में कैसे स्वाभाविक रूप में अलंकारों का निर्वाह हुआ है।

कार्तिक की रातों में स्वच्छ तारकमय अम्बर के वर्णन मे कहा है,

फूलि रहे तारे मानो मोती अनगिन हैं। (उत्प्रेक्षा)

चन्द्रिमा की धवलिमा का वर्णन है—

उदित विमलचन्द्र चांदनी छिटक रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है। (उपमा)

राम का यश श्वेत होता है। और देखिये भ्रम का क्या उदाहरण है—

चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती धरि धीर धरकति है।
चन्द के भरम होत मोद कुमोदिनी को,
ससि संक पंकजिनी फूली न समाती है।

सूर्य में चन्द्रमा भ्रम हो रहा है, शिशिर ऋतु में।

अतिशयोक्ति भी देखिये—

सीत से सहस कर सहस चरन ह्वैकै,
ऐसा जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलों कोक कोकी सों मिलत तौ लौं होत राति,
कोक अध बीच ही ते आवतु है फिर कै।

दिन अत्यन्त छोटा है सर्दियों में। सूर्य के शीघ्रता से छुप जाने के विषय में कैसी सुन्दर उक्ति है !

श्लेष के प्रयोग मे अधिकांश कवि लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये हैं। श्लेष-चमत्कार में फंस कर अधिकांश कवियों ने अपनी कविता को दुर्बोध कर लिया है। केशव और देव की अनेक कविताएँ उदाहरण रूप में आ सकती हैं।किन्तु सेनापति के श्लेष-वर्णन में यह दोष नहीं आने पाया है। सेनापति ने श्लेष का वर्णन बहुत किया है। उनके काव्य का प्रथम प्रकरण या 'तरंग' श्लेपमय ही है। किन्तु दुर्बोधता नहीं आई है। उसका कारण है, सेनापति ने श्लिष्ट शब्द बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध साधारण शब्दों में से ही चुने हैं। साधारण शब्दों के ही श्लेष उपस्थित किये हैं, जिससे भाव-चमत्कार भी स्पष्ट रहता है। उदाहरण रूप में, देखिये, कैसे साधारण प्रचलित शब्दो के श्लेष से दाता और सूम का वर्णन किया है—

नाहीं नाहीं करै थोरी मांगै सब दैन कहै,
मंगन कौ देखि पट देत बार बार है।

जिनकौं मिलन भली आपनि की घटी होति,
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं ।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरैं दान पाठ परिवार हैं ।
सेनापति वचन की रचना विचारौ जामैं,
दाता और सूम दोऊ कीने इकसार हैं ।

इसी प्रकार, इसी प्रश्न पत्र के प्रथम प्रश्न में आये पद्य में, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं का कैसे साधारणतया प्रचलित शब्दों के श्लेष से वर्णन किया गया है !

देखैं छिति अम्बर जलै है चारि ओर—
छोर तिन तरवर सब ही कौ रूप हर्‌यो हैं।
महा झरि लागै, जोति भादव की होति,
चलै जलद पवन तनसेक मानो पर्‌यों हैं ।
दारुन तरनि तरैं, नदी सुख पावैं,
सब सीरी घन छाहीं चाहि वोई चित धर्‌यो है
देखो चतुराई सेनापति कविताई की,
जु ग्रीखम बिखेम बरखा की सम कर्‌यो है।

३. (क) बिहारी की रस व्यंजना का पूर्ण वैभव अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है 'अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सकता है।" इस कथन की विवेचना उदाहरण देते हुए करिये ।

उत्तर—आलम्बन की चेष्टाओं को अनुभाव कहा जाता है। इन चेष्टाओं से आन्तरिक भावनाओं का प्रकाशन होता है । रस-निष्पत्ति में विभाव के साथ उसकी चेष्टाओं का भी उतना ही महत्व है। हाव "अल्प संलक्षित विकारात्मक भाव का नाम है, जो प्रेमालाप जैसे मधुर स्थलों में उद्‌गत हुआ करते है।"

महाकवि बिहारीलाल ने रसव्यंजना के लिए अनुभाव और हावों का विशेष वर्णन किया है। विभाव के रूप-सौन्दर्य का भी वर्णन बिहारी ने

किया है, पर उतना नहीं जितना कि आलम्बन की चेष्टाओं का। इन्होंने विविध नायक नायिकाओं की मधुर सुन्दर चेष्टाओं के चित्रण द्वारा ही रस का स्वरूप उपस्थित किया है। इस बात में ये सिद्धहस्त थे, यह इनके काव्य के दर्शन से स्वयमेव ज्ञात हो जाता है। बिहारी शृंगारी कवि थे, अतएव इन्होंने शृंगार रस की मधुर चेष्टाओं का बड़ा सूक्ष्म, व्यंजक रूप में स्वाभाविक वर्णन किया है। देखिये—

चितइ ललचौंहैं चखनु डटि घूंघट पट माहँ।
छलसों चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह॥

आसक्त नायिका ने कैसे स्वाभाविकता और चतुरता से अपना प्रेम प्रकट किया है! और भी अधिक—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मे करत हैं, नैननु ही सब बात॥

बाल सँवारते हुए नायिका बालों में उँगली देकर, छिद्र में से प्रिय को देख रही है—

कंजन मनि मंजन किये बैठि ब्यौरति बार,
कच अँगुरी बिच डीठि दै चितवत नद कुमार॥

गली मे नायक के मिलने पर अनुराग की कैसी सरस चेष्टाओं द्वारा अभिव्यंजना है—

त्रिबली नाभि दिखाय कै, सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै चली भली विधि जाहि॥

अनुभाव और हाव का कितना मधुर चमत्कार है। और भी देखिये—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाइ॥

+ + + +

नासा मोरि, नचाइ दृग, करी ककाकी सौंह।
कांटे सी कसकै हिये, गडी कँटीली भौंह॥

× + + +

ललन चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिनहू झूठे ही जमुहाइ ॥

\+ + + +

हेरि हिंडोरे गगन तैं परी, परी सी टूटि ।
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि ॥

\+ + + +

छला छबीले लाल को नवल नेह लहि नारि ।
चूँबति, चाहति, लाइ उर, पहिरति, धरति उतारि ॥

इस प्रकार अनगिन दोहे विहारीलाल के मिलेंगे, जिनमें शृंगार के अनुभावों से ही अधिकतया रस का स्वरूप उपस्थित किया गया है।

एक और भी अत्यन्त रसमय उदाहरण लीजिये, जहां नायिका की प्रत्येक चेष्टा से रस चुआ पड़ता है—

भौंहनु हँसति, मुँह नटति, आंखिन सौं लपटावि ।
ऐंचि छुड़ावति करु इंची आगैं आवति जाति ॥

अथवा

(ख)—"जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।" इस कथन की व्याख्या करके बताइये कि बिहारी में ये बातें कहां तक थीं।

उत्तर—मुक्तक काव्य कला बहुत कठिन होती है। मुक्तक काव्य प्रत्येक स्वतन्त्र और अपने में पूर्ण होता है। वह अकेला ही पद्य कोई न कोई स्वतन्त्र भाव-चित्र या रस-चित्र उपस्थित करता है। प्रबन्ध काव्य में, जैसे एक चित्र के लिए कवि अनेक पद्यों का आश्रय लेता है, मुक्तक कवि की सीमा उतनी विस्तृत नहीं होती, उसे तो एक ही पद्य में पूरा चित्र उतारना पड़ता है। इसका अभिप्राय होता है कि कवि में भावों का एकत्र संकलन कर अत्यन्त संक्षेप से उनको व्यक्त करने की शक्ति की अत्यन्त अपेक्षा रहती है; संक्षेप और संकलन की इस शक्ति के बिना कोई भी सफल मुक्तक-कवि नहीं बन सकता।

रीति काल में मुक्तक काव्य लिखने की प्रवृत्ति की प्रधानता थी। अधिकांश में मुक्तक रचना ही इस काल में होती है। प्रायः सभी विशेष कवियों ने मुक्तक रचनाएँ की हैं—किसी ने कवित्तो में, किसी ने सवैयों में, किसी ने छप्पयो मे और किसी ने केवल दोहों मे। अवश्य कवित्त आदि बडे छन्दों की अपेक्षा दोहे जैसे छोटे छन्द में मुक्तक रचना बहुत कष्ट और विशेष कौशल द्वारा साध्य है। दोहे का दायरा बहुत छोटा होता है। कवि के लिए उसमें किसी भाव का पूर्ण चित्र उपस्थित करना बहुत दुष्कर होता है। अतएव सभी ने दोहो में मुक्तक रचना बहुत नहीं की। अन्यों ने दोहे और कवित्त सवैयों आदि दोनों प्रकार के छन्दों में मुक्तक लिखे हैं। किन्तु कुछ ने केवल दोहो को छोड़कर और किसी छन्द का आश्रय ही नहीं लिया। अवश्य ही ऐसे कवियों में भावों की समाहार और समास शक्ति बहुत ही अधिक होनी चाहिये। विहारी ऐसे ही कवियों में से हैं, जिन्होंने अपनी मुक्तक-रचना के लिए दोहे जैसे छोटे छन्द को चुना।

विहारी अत्यन्त सामर्थ्य-शाली काव्य और मानव मन के मर्मज्ञ मुक्तक-कवि थे। उनमें भावों का संकलन और संक्षेप से प्रकाशित करने की अद्भुत सामर्थ्य है, जो अन्य किसी कवि में नहीं मिलती। विहारी ने बड़े बड़े सूक्ष्म से संकेतों और अभिव्यंजनों से बड़े विस्तृत भावों के विशद चित्र इन दोहों में उतारे हैं। छोटे से दोहे में ने इतने विशद और गम्भीर अर्थों का प्रकाशन विहारी का अनुपम गुण है। अतएव उनके दोहों के विषय में निम्न उक्ति कही जाती है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

विहारी के दोहे वस्तुतः ऐसे ही हैं। विहारी ने उक्ति-वैचित्र्य के साथ अभिव्यंजना से ही इतने विशाल अर्थों का प्रकाशन किया है। विहारी के दोहों के इस सौन्दर्य-सौष्ठव और रसमयता के कारण ही उन्हें महाकवि की पदवी मिली है। इनका महत्त्व इससे और भी प्रकट हो जाता है कि विहारी सतसई के दोहों के भावों की व्याख्या रूप में आज तक पचासों गद्य और पद्य में टीका-टिप्पण, तिलक आदि रचे जा चुके हैं। विहारी

के भावों का आदान तो देव जैसे कवियों ने भी किया है। विहारी की इस समाहार और समास शक्ति के परिचय में कुछ एक उदाहरण देखिये—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्र धनुष रंग होति॥

क्या छोटे से छन्द में हरी बांसरी में इन्द्र धनुष के रंग खिलाये हैं। देखिये, किसी की आंखों का कैसा सुन्दर और चमत्कारक वर्णन हुआ है—

अमिय हलाहल मद भरे, सेतस्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जित चितवत इकबार॥

कितने संक्षेप में कितने विशाल अर्थ का आयोजन है! आंखों में अमृत विष और सुरा के रंग और प्रभाव का यथासंख्य अलंकार के द्वारा कैसा चमत्कार पूर्ण और स्वाभाविक अनुभूति-पूर्ण वर्णन है! नीचे के दोहे में, देखिये, ज्योतिष के वर्षा-योग का कैसा सुन्दर वर्णन हुआ है—

मंगल विन्दु सुरंग मुख ससि केसर आड गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत्॥

इसी के उदाहरण में इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक दोहा लीजिये—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो आगे कवन हवाल?

कितनी मार्मिक अन्योक्ति कही गई है, जिससे राजा जयसिंह प्रभावित हुए विना नहीं रह सका! अन्य इनका प्रमुख दोहा लीजिये—

तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े, बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥

कितने गंभीर अर्थ का अभिव्यंजन है! और भी देखिये

अजौं तर्‌यौनाही रह्यौ स्नुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यो बसि मुकतनि के संग॥

इस प्रकार के असंख्य दोहे सतसई में मिलेंगे, जिनमें विहारी की भाषा की सामर्थ्य और व्यंजना के साथ, उनकी इस समास और समाहार शक्ति के पूर्ण दर्शन होते हैं। विहारी वस्तुत. इस गुण में अपनी तुलना नहीं रखते।

अथवा

(ग) कहीं कहीं इनकी (विहारी की) वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है।" उदाहरण देकर इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—काव्य में व्यंजना से तीन पदार्थ व्यक्त होते हैं—भाव, वस्तु और अलंकार। विहारी ने इन तीनों का सफलता से अभिव्यंजन किया है। वस्तु व्यंजना से अभिप्राय किसी विशेष निरलंकार सीधे अर्थ की अभिव्यंजना है। भाव रस आदि तो सदैव ही व्यंग्य रहते हैं। कहीं पर उनके विना भी वस्तु रूप साधारण अर्थ की व्यंजना में अत्यन्त चमत्कार होता है। रस आदि भी ऐसे स्थलों पर स्वयमेव रहते हैं, किन्तु विशेष चमत्कार वस्तु-ध्वनि में ही रहता है। भाव की ओर कवि का उतना ध्यान ऐसी जगह नहीं रहता, जितना वस्तु की ओर। वस्तु के व्यंजन में ही वह विशेष चमत्कार रखना चाहता है।

विहारी भी चमत्कार के प्रेमी थे। इन्होंने भी अनेक चमत्कार-पूर्ण अर्थों की व्यंजना की है। विहारी फारसी के भी विद्वान् थे। फारसी के साहित्य का भी इन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। फारसी मे इस प्रकार की चमत्कार पूर्ण वारीक या नाजुक खयाली की पद्धति बहुत पायी जाती है। फारसी शायर इस प्रकार की वारीक-वीनी में विशेष दक्ष होते हैं, ख्वाव में वोसा लेने पर गाल के लाल हो जाने का वर्णन कर देना उनके लिए साधारण वात हैं। विहारी की अनेक उक्तियों मे यह भाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ देखिये नायिका के मुख-सौंदर्य की कैसी चमत्कारक उक्ति है—

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्यो ही रहै, आनन ओप उजास॥

इसी प्रकार नायिका की कोमलता का वर्णन देखिये कैसी वारीक-वीनी से किया गया है—

छाले परिवे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियै गुलाव कै झवा झवावति पाइ॥

विरह वर्णन देखिये—

इत आवति चलि जात उत चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

× × × ×

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि विरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन पर्‌यो परोसिनि पाप॥

+ + + +

आडे दै आले बसन, जाड़े हूं की राति।
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

इन तीनों ही दोहों में नायिका की आत्यन्तिक विरह-दशा का वर्णन कवि ने अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर किया है। एक में विरह-कृशता इतनी है कि सांस के हिंडोले पर चढ़ी नायिका झूल रही है। दूसरे में विरहोत्ताप इतना तेज है, कि उसके कारण सर्दियां आनन्द से काट कर गर्मियों में पड़ोसियों के लिए मुसीबत हो रही है। तीसरे में भी उत्ताप के कारण ही सखियां गीले कपड़े पहिन कर, सर्दियों की रातों में भी, बड़े साहस के साथ, अत्यन्त प्रेमवश नायिका के पास जाती हैं। यहां विरह की आत्यन्तिक दशा में इतना चमत्कार नहीं, जितना कि उसके वर्णन में। श्रोता या सहृदय केवल इस बारीक बीनी में ही वाह वाह कर उठेगा। विरह दशा के वर्णन में अस्वाभाविकता आ जायेगी।' बिहारी की इस प्रकार के बारीक ख्यालों की उक्तियां अनेक हैं। वस्तु-व्यंजना इनमें अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक और केवल विचित्रता पूर्ण ही रह जाती है। इनकी ऐसी उक्तियों के विषय में विज्ञ समालोचक के ये शब्द हैं कि वस्तुव्यं-जना औचित्य से बाहर निकल कर खिलवाड़ बन रह जाती है। ऐसी उक्तियों में बिहारी की कल्पना की सूक्ष्मता तो दृष्टिगत होती है, किन्तु वस्तु-वर्णन या वस्तु-व्यंजन में कृत्रिमता आ जाती है। किन्तु ऐसा बिहारी की सभी ऐसी अतिशयोक्ति पूर्ण वस्तु-व्यंजनाओं के विषय में नहीं कहा जा सकता। इनकी अनेक ऐसी अनूठी उक्तियां भी हैं, जहां इनकी वस्तुव्यंजना अत्यन्त रुचिर और परम सुभग-सुन्दर है। देखिये, नायिका की दशावर्णन

नवीन रूप धारण करने वाली रमणीयता का कैसा सूक्ष्म और अनुपम अभिव्यंजन किया है —

लिखन बैठि जाकि सबी, गहि गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर॥

नायिका के सौन्दर्य की कितनी चमत्कार पूर्ण और मधुर व्यंजना है ! ऐसे स्थलों पर बिहारी की वस्तु-व्यंजना उनकी कल्पना का खिलवाड़ नहीं मानी जा सकती। सो भी पर्याप्त अंश में इस उपर्युक्त कथन में सत्यता है।

४. (क) प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से हम्मीर रासो की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—हम्मीर देव प्रसिद्ध ऐतिहासिक वीर पुरुष हैं, जो पृथ्वीराज के वंश के थे। इन्होंने दिल्ली-सम्राट अलाउद्दीन के साथ कई साल युद्ध किया था और अनेक बार उसे परास्त किया था। इन्हीं के चरित्र को लेकर तीन चार काव्य लिखे गये हैं। हम्मीर रासो भी रासो ग्रन्थों की शैली में जोधराज के द्वारा १८७५ में लिखा गया। इसमें हम्मीर देव के वीर चरित्र का पूरा वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ में, कवि ने प्रचलित प्रबन्ध-काव्य शैली में सृष्टि-उत्पत्ति के वर्णन से लेकर, चौहान वंश की उत्पत्ति, पद्मऋषि के विभिन्न अंगो से अलाउद्दीन, हम्मीर, महिमाशाह और अलाउद्दीन की बेगम रूपविचित्रा की उत्पत्ति का वर्णन किया है। फिर, बादशाह अलाउद्दीन के शिकार खेलने जाने पर आंधी में उसकी बेगम रूप विचित्रा के भटक जाने से कथानक का प्रारम्भ होता है। बेगम को वहां जङ्गल में नयाब महिमाशाह मिलता बेगम के आग्रह पर महिमाशाह उसके साथ विलास क्रीडा करता है। अलाउद्दीन को बेगम द्वारा ही अन्य अवसर पर पता लगने पर, वह राज्य से निकाल दिया गया। वह अशरण होकर शरणार्थ हम्मीर देव के पास आया। हम्मीर ने शरण दी। बादशाह ने क्रोधित होकर चढ़ाई कर दी। रणथम्भौर का दुर्ग घेर लिया गया। हम्मीर के साथियों ने घमसान युद्ध किया। अलाउद्दीन की सेना को कई बार परास्त किया। हम्मीर के दोनों पुत्र भी इस युद्ध में काम आये।

विरह वर्णन देखिये—

इत आवति चलि जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

× × × ×

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि विरहिनि तन ताप।
बसिबे कौ ग्रीषम दिनन पर्‌यो परोसिनि पाप॥

+ + + +

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूं की राति।
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

इन तीनों ही दोहों में नायिका की आत्यन्तिक विरह-दशा का वर्णन कवि ने अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर किया है। एक में विरह-कृशता इतनी है कि सांस के हिंडोले पर चढ़ी नायिका झूल रही है। दूसरे में विरहोत्ताप इतना तेज है, कि उसके कारण सर्दियां आनन्द से काट कर गर्मियों में पड़ोसियों के लिए मुसीबत हो रही है। तीसरे में भी उत्ताप के कारण ही सखियां गीले कपड़े पहिन कर, सर्दियों की रातों में भी, बड़े साहस के साथ, अत्यन्त प्रेमवश नायिका के पास जाती हैं। यहां विरह की आत्यन्तिक दशा में इतना चमत्कार नहीं, जितना कि उसके वर्णन में। श्रोता या सहृदय केवल इस बारीक बीनी में ही वाह वाह कर उठेगा। विरह दशा के वर्णन में अस्वाभाविकता आ जायेगी।' बिहारी की इस प्रकार के बारीक खयालों की उक्तियां अनेक हैं। वस्तु-व्यंजना इनमें अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक और केवल विचित्रता पूर्ण हो रह जाती है। इनकी ऐसी उक्तियों के विषय में विज्ञ समालोचक के ये शब्द हैं कि वस्तुव्यंजना औचित्य से बाहर निकल कर खिलवाड़ बन रह जाती है। ऐसी उक्तियों में बिहारी की कल्पना की सूक्ष्मता तो दृष्टिगत होती है, किन्तु वस्तु-वर्णन या वस्तु-व्यंजन में कृत्रिमता आ जाती है। किन्तु ऐसा बिहारी की सभी ऐसी अतिशयोक्ति पूर्ण वस्तु-व्यंजनाओं के विषय में नहीं कहा जा सकता। उनकी अनेक ऐसी अनूठी उक्तियां भी हैं, जहां उनकी वस्तुव्यंजना अत्यन्त रसमय और परम सुभग-सुन्दर है। देखिये, नायिका की जगमग

नवीन रूप धारण करने वाली रमणीयता का कैसा सूक्ष्म और अनुपम अभिव्यंजन किया है —

लिखन बैठि जाकि सबी, गहि गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर॥

नायिका के सौन्दर्य की कितनी चमत्कार पूर्ण और मधुर व्यंजना है ! ऐसे स्थलों पर विहारी की वस्तु-व्यंजना उनकी कल्पना का खिलवाड़ नहीं मानी जा सकती। तो भी पर्याप्त अंश में इस उपर्युक्त कथन में सत्यता है।

५ (क) प्रबन्ध काव्य की दृष्टि मे हम्मीर रासो की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—हम्मीर देव प्रसिद्ध ऐतिहासिक वीर पुरुष हैं, जो पृथ्वीराज के वंश के थे। इन्होंने दिल्ली-सम्राट अलाउद्दीन के साथ कई साल युद्ध किया था और अनेक बार उसे परास्त किया था। इन्हीं के चरित्र को लेकर तीन चार काव्य लिखे गये हैं। हम्मीर रासो भी रासो ग्रन्थो की शैली में जोधराज के द्वारा १८७५ में लिखा गया। इसमें हम्मीर देव के वीर चरित्र का पूरा वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ मे, कवि ने प्रचलित प्रबन्ध-काव्य शैली में सृष्टि-उत्पत्ति के वर्णन से लेकर, चौहान वंश की उत्पत्ति, पद्मऋषि के विभिन्न अंगों से अलाउद्दीन, हम्मीर, महिमाशाह और अलाउद्दीन की बेगम रूपविचित्रा की उत्पत्ति का वर्णन किया है। फिर, बादशाह अलाउद्दीन के शिकार खेलने जाने पर आंधी में उसकी बेगम रूप विचित्रा के भटक जाने से कथानक का प्रारम्भ होता है। बेगम को वहां जङ्गल में नवाब महिमाशाह मिलता बेगम के आग्रह पर महिमाशाह उसके साथ विलास क्रीडा करता है। अलाउद्दीन को बेगम द्वारा ही अन्य अवसर पर पता लगने पर, वह राज्य से निकाल दिया गया। वह अशरण होकर शरणार्थ हम्मीर देव के पास आया। हम्मीर ने शरण दी। बादशाह ने क्रोधित होकर चढ़ाई कर दी। रणथम्भोर का दुर्ग घेर लिया गया। हम्मीर के साथियों ने घमसान युद्ध किया। अलाउद्दीन की सेना को कई बार परास्त किया। हम्मीर के दोनों पुत्र भी इस युद्ध में काम आये।

हम्मीर ने शिव जी के वरदान से १२ वर्ष तक युद्ध किया। अन्त में, हम्मीर का कोषाध्यक्ष बादशाह से जा मिला और हम्मीर को उसने धोखा दिया। भरे हुए भण्डारों को चमड़े से ढक कर उसने हम्मीर को विश्वास करा दिया कि भण्डार खाली पड़े हैं। गोला बारूद, अन्न आदि होते हुए भी उसने कह दिया कि सब समाप्त हो गये। हम्मीर ने सैन्य संग्रह करके बादशाह की सेना पर भयंकर हमला किया। महिमाशाह मारा जाता है। बादशाह पराजित होता है, पकड़ लिया जाता है। हम्मीर की सेना आनन्द मनाती दुर्ग को लौटी। किन्तु गल्ती से उन्होंने बादशाह के विजित झण्डे ही आगे आगे किये हुए थे। उन्हें देखकर रानियों ने समझा कि अलाउद्दीन की सेनाएँ आ रही हैं। वे सब जल मरीं। हम्मीर को बहुत शोक हुआ। उसने शाह को आज्ञा दी कि वह रामेश्वर जाकर समुद्र में मर जाय। स्वयं अपना शरीर भी शिवजी को अर्पण कर दिया। स्वर्ग में सबका मिलाप होता है।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से हम्मीर रासो बहुत अच्छा ग्रन्थ है। इसमें इस समस्त कथानक का विस्तृत वर्णन हुआ है। घटनाओं की शृंखला और विकास प्रबन्ध काव्य के ढंग में आये हैं। प्रबन्ध काव्य के समस्त गुण उसमें उचित रूप में मिल जाते हैं। कथा का प्रारम्भ, विकास और निर्वहण उचित रूप से हुआ है। शिथिलता नहीं है। विभिन्न स्थलों का विशद प्रबन्ध काव्यानुरूप वर्णन किया है। मुख्यतया वीर वर्णन हुआ है, किन्तु अन्य रसों का वर्णन भी बीच बीच में हुआ है। वीर से उतर कर शृंगार का वर्णन हुआ है। बीच में प्रसंगानुकूल षड्ऋतु वर्णन भी किया है। प्रकृति-चित्रण भी बहुत अच्छा हुआ है। काव्य के पात्रों का—विशेषतः हम्मीर पक्षीय लोगों का—चरित्र चित्रण भी प्रबन्ध काव्य के ढंग का किया है। जीवन के सभी प्रमुख अंगों का वर्णन इसमें आ जाता है। युद्ध–वर्णन तो विशद रूप में हुआ ही है, जो अत्यन्त ओजस्वी और उत्तम कोटि का माना जाता है, साथ ही आखेट, विहार, रस क्रीडा आदि का भी सुन्दर वर्णन हुआ है। साथ में प्रबन्ध काव्य का रूप देने के लिए, कवि ने, रासो ग्रन्थों की परम्परा में नवीन प्रसंगों की भी कल्पना करके कथा में जोड़-

तोड मिलाया है। पद्म ऋषि से अलाउद्दीन, हम्मीर आदि की उत्पत्ति, रूप-विचित्रा और महिमाशाह का प्रेम प्रसग, महिमाशाह का हम्मीर की शरण में जाना और युद्ध का प्रधान कारण बनना आदि घटनाएँ कल्पित हैं। कथानक ऐतिहासिक है, किन्तु, प्रबन्ध-काव्यता के नाते उसमें काल्पनिक प्रसंगों को जोड देने से, उसका ऐतिहासिक रूप सुरक्षित नहीं रहा है। यह बात रासो या प्रबन्ध काव्य की परम्परा का निर्वाह करने को ही उन्होंने की है। युद्ध के कारणों में महिमाशाह के प्रेम प्रसंग को भी मुख्य कारण बनाया गया है। वर्णन अत्यन्त विशद और रसमय है। उसके अनुरूप ही भाषा भी चली है। युद्ध वर्णनों में वह अत्यन्त ओजस्विनी बनी हुई है। कवि ने ओज के लिए ऐसे स्थलों पर वीर वर्णन की प्रणाली में द्वित्वाक्षरों का विशेष प्रयोग किया है। कोमल रसों के वर्णन मे उसमें कोमल कान्त-पदावली आई है। इस प्रकार प्रबन्ध काव्य के अनुसार ही रूप बदलती हुई इनकी ब्रज भाषा चली है। इन प्रबन्ध काव्य के गुणों से युक्त हम्मीर रासो एक उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य का नमूना है।

किन्तु दोष भी हैं। उसके तिथि सम्वत् आदि इतिहास-विरुद्ध हैं। हम्मीर और अलाउद्दीन का एक ही दिन जन्म बताकर जो सम्वत् दिये हैं, वे गलत हैं। इतिहास में दो हम्मीर राजाओं का वर्णन है—एक चौहान वंशीय और दूसरा सीसोदिया वंशीय है। दोनों के पिता का नाम भी एक ही था और दोनों का समय भी एक ही था। जोधराज ने भ्रमवश दोनों के वर्णन का संकर कर दिया है। ऋषि से अलाउद्दीन आदि की उत्पत्ति, अलाउद्दीन से हिन्दु देवताओं की स्तुति कराना, आदि अस्वाभाविक वर्णन है। महिमाशाह और रूप-विचित्रा के प्रेम प्रसंग का आवश्यकता से कहीं अधिक वर्णन किया है। उसमें अश्लीलता भी आ गई है। ये सब त्रुटियां अरुचि उत्पन्न करती हैं। किन्तु तो भी हम्मीर रासो का स्थान उत्कृष्ट वीर-प्रबन्ध-काव्यों में माना जाता है।

अथवा

(ख)—पृथ्वीराज रासो की भाषा ब्रज भाषा है या राजस्थानी (डिंगल)? प्रथम प्रश्न मे उद्धृत अवतरण (च) की भाषा की तुलान

अवतरण (घ) की भाषा से कीजिये और बतलाइये दोनों भिन्न हैं या अभिन्न।

उत्तर—पृथ्वीराज रासो की भाषा के विषय में बड़ा विवाद है। कोई इसे राजस्थानी और कोई पश्चिमी हिन्दी या व्रज भाषा मानते हैं। पृथ्वीराज ने स्वकाव्य को षड् भाषा समन्वित कहा है। षड् भाषाएं दास जी ने, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, व्रज भाषा, पैशाची, राजस्थानी बताई हैं। रासो की भाषा में इन सबका सम्मिश्रण उपस्थित मिलता है। भिन्न भिन्न पद्यों की भाषा ही भिन्न भिन्न नहीं है, प्रत्युत एक ही छन्द में कई भाषाओं का प्रयोग हुआ हैं। प्रकृति, प्रत्यय; विभक्तियां, क्रियाएँ और अन्य शब्द अनेक भाषाओं के मिलते हैं। इस कारण रासो की भाषा के निश्चय करने में अत्यन्त कठिनाई उपस्थित होती है। भाषा में प्राचीनता और अर्वाचीनता दोनों मिलती हैं। विभक्तियां और प्रत्यय शब्द क्रिया आदि से संयुक्त रूप में भी आये हैं और वियुक्त रूप में भी। कहीं वह अनुस्वारों की भरमार से संस्कृत सी लगती है और कहीं द्वित्व वर्णों के आधिक्य से अपभ्रंश सी लगती है। आचार्य शुक्ल जी के मत में, 'वह बिल्कुल बेठिकाने है। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है।" इस अव्यवस्था या भाषा-विभेद का कारण चाहे जो भी हो, चन्द का स्वयंकृत हो और चाहे भाट या चरणों का प्रक्षेप हो, इसके कारण चन्द की भाषा का स्वरूप निश्चित करने में बड़ा मत-भेद उपस्थित होता है। मुख्य प्रश्न यह होता है कि वह डिंगल है या पिंगल। क्योंकि उसमें दोनों के रूप मिल जाते हैं। द्वित्व वर्णों की अधिकता से कहीं वह राजस्थानी सी जान पड़ती है, उसमें क्रियाएँ आदि भी डिंगल की ही हैं, ऐसे स्थलों पर। कहीं कोमलता और क्रियाओं आदि के कारण वह प्रारम्भिक व्रज भाषा लगती है। चन्द ने डकार और णकार का विशेष प्रयोग नहीं किया, जो कि डिंगल की प्रधान विशेषता है। नकार का प्रयोग अधिकतर व्रज भाषा में ही होता है। इसी कारण इसके डिंगल पिंगल रूप के विषय में विभिन्न विद्वानों में निम्न मत-भेद है।

सर्व प्रथम मि० ग्राउज ने रासो की भाषा को १६ वीं शताब्दी में प्रयुक्त

होने वाली ब्रज भाषा बताया था। इनके मत का आधार ब्रज भाषा की क्रियाएँ विभक्तियां और संज्ञाएँ हैं। इन के मत से वीर रस के वर्णन में डिंगल के रूपों के रखने से वह डिंगल जैसी प्रतीत होती है।

तासी के अनुसार रासो की रचना कन्नौज में हुई थी। भाषा-तत्ववेत्ता जार्ज ग्रियर्सन और राजस्थानी के विशेषज्ञ डाक्टर टैसीटोरी ने रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी या ब्रज भाषा ही माना है। डा० दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा के मत से रासो अपभ्रंश में लिखा गया था, जिसमें राजस्थानी की पुट थी। श्री नरोत्तमदास स्वामी का मत है, कि राजस्थानी की परम्परागत अनुश्रुति तो पृथ्वीराज रासो की भाषा को पिंगल ही मानती हैं। उनके मत से इसे डिंगल कोई डिंगल से अनभिज्ञ व्यक्ति मानेगा। मोतीलाल मनेरिया के मत से, 'चन्द की भाषा विशेषतया डिंगल है, पर वह विशुद्ध डिंगल नहीं है। उसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का मिश्रण हुआ है और अर्बी फारसी तुर्की के भी शब्द बहुलता से पाये जाते हैं।

बात वस्तुतः यह है कि पिंगल शुद्ध ब्रज भाषा का नाम नहीं है। पिंगल से अभिप्राय शिष्ट साहित्यिक भाषा से है, जिस में कि चन्द के समय में काव्य रचना होती थी। वह ब्रज भाषा नहीं थी, परन्तु ब्रज भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप अवश्य थी। इस भाषा में संस्कृत प्राकृत आदि के भी शब्द मिश्रित होते थे और राजस्थानी के भी। युद्ध वर्णन में राजस्थानी विशेषता अधिक आती थी और कोमल वर्णनों में ब्रज भाषा की विशेषता मिल जाती थी। चन्द ने उसी भाषा में अपने ग्रन्थ की रचना की होगी। अतएव उसमें पिंगल और डिंगल दोनों की विशेषताएँ रही होंगी। किन्तु आज कल जिस रूप में रासो की अधिकांश भाषा उपलब्ध है, वह डिंगल ही अधिक प्रतीत होती है। पिंगल की क्रियाएँ, कारक आदि भी उसमें हैं, किन्तु डिंगलता अधिक है। तो भी सर्वथा निश्चित रूप से अभी भी कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं हुआ है। डिंगल मानने वालों की भी युक्तियां प्रबल हैं और पिंगल मानने वालों की भी।

वस्तुतः मध्यम मार्ग अधिक उचित जान पड़ता है कि पिंगल का अर्थ

एक सामान्य शिष्ट काव्य-भाषा का है, जो अधिकांश में शौरसेनी अपभ्रंश की सन्तान थी, जिससे कि व्रजभाषा का भी निकास है। इसमें अन्य प्रान्तों की भाषाओं का भी सम्मिश्रण वैध माना जाता था। फलतः कवि गण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, पैशाची (उत्तरीय प्रदेश की) व्रजभाषा, अर्बी फारसी आदि का यथेच्छ सम्मिश्रण कर लेते थे। चन्द की भाषा में ये उपरोक्त गुण पूरी तरह मिलते हैं। प्रथम प्रश्न गत अवतरणों की भाषा का मिलान करने से भी यही स्पष्ट होता है। भाषा दोनों पद्यों की एकसीं हैं। अधिकांश प्रकृति प्रत्यय कारक आदि पिंगल के या व्रजभाषा के से हैं—(घ) पद्य में गजे, छाय, फेरत, बनी, तिन, चढै, बढ़ै, उड़ै, हंसे, देख, चलि मिली, मिले, चले, और पद्य (च) में भी सुनत, डार्यौं उतारि, सिंगारि, मंगाय सजि, भराइ, झलहत, जराइ, भजत, मनाइ, करि, आदि क्रियाएं प्रत्यय आदि व्रजभाषा केसे और मध्य देशीय भाषा के से हैं। कारकों को चन्द ने अधिकतर छोड़ दिया है, दोनों पद्यों में। डिंगल के ढ, ल और न के स्थान में ण का कहीं प्रयोग नहीं है। हां, बीच में डिंगल की प्रणाली में अनेक शब्दों को द्वित्व कर दिया है। अनेक क्रियापद और शब्द भी डिगल के मिल जाते हैं। पद्य (घ) में द्वित्व वर्णों का अधिक प्रयोग हुआ है। कारण, उसमें कवि ने वीर रस या युद्ध का वर्णन किया है। ओज लाने के लिए ही उसने द्वित्व कर दिया है। जैसे, उप्पर पक्खर, झलक्कत चमक्कत, सुज्झ छुट्टिय, अच्छरि, जुग्गनि, गिद्धनि, आदि। (च) पद्य में शृंगार का वर्णन है, अतः ऐसे द्वित्व वर्णों का कम प्रयोग हुआ है। मनमत्थ और सोव्रन्न ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अद्वित्व वर्णों को द्वित्व किया गया है। इसी के कारण इसमें अपभ्रंश और डिंगल की विशेषताएँ दृष्टिगत होने लगती हैं। वस्तुत. दोनो पद्यों की भाषा एक है– पिंगल, जिसकी अधिकांश मे व्रजभाषा से समानता है, किन्तु जिसमें वर्ण्य विषय के भेद से भेद डाला गया है।

५' (क) भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्या अन्तर है ? पूर्णतया स्पष्ट करके लिखिये।

उत्तर—भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के रस-निष्पत्ति-विषयक सिद्धान्तों

मे महान् अन्तर नहीं है, प्रत्युत बहुत दूर तक समानता है। दोनों रस की स्थिति सहृदय या सामाजिक मे मानते है, दोनो के मत मे रसानुभव के लिए विभावादि का साधारणीकरण होना आवश्यक है, उसके बिना रसानुभव संभव नहीं, रसदशा या रसानुभूति की दशा भी दोनों के मत में एक सी है, कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल इतना सा है कि भट्ट नायक ने जिस कार्य के लिए दो नवीन व्यापारो की कल्पना की है, अभिनव गुप्त ने वही कार्य व्यञ्जना से कर लिया है। नहीं तो, आस्वाद के साधन, प्रकार और स्थिति के विषय में कोई भेद नहीं है।

भट्ट नायक सांख्य मतानुयायी थे, अतएव उन्होंने "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः" इस भरत सूत्र की व्याख्या उसी के सिद्धान्तानुसार की है। उनकी व्याख्या है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से (भोज्य-भोजक सम्बन्ध से) रस की भुक्ति (भोग) होती है। इन्होंने काव्य-शब्दों की तीन शक्तियों को माना है। पहिली तो अभिधा है, जो सर्व प्रथम अर्थों को उपस्थित करती है और जिसे व्याकरण, न्याय मीमांसा आदि सांख्य-भिन्न शास्त्र भी मानते हैं। दूसरी और तीसरी शक्तियां इनकी अपनी उद्भावित हैं, जिन्हे व्याकरण, न्याय मीमांसा साहित्य वाले नहीं मानते। इनके मत में अभिधा के द्वारा विभावादि अर्थों के उपस्थित हो जाने पर, दूसरी भोजक या भावना शक्ति उन उपस्थित अर्थों की भावना (बार बार चिन्तना) करती है, सामाजिक या उन श्रोता के हृदय में। इस भावना से विभावादि अर्थों का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् वे व्यक्ति रामादि या नटादि विषयक न रहकर सार्वजनिक रूप में प्रतीत होने लगते हैं। इसके बाद तीसरा व्यापार प्रारंभ होता है। वह है उन साधारण बने रत्यादि की उपभुक्ति या उपभोग की एकान्त आनन्द दशा. जिसमें रजोगुण और तमोगुण दोनों को अभिभूत करके सतोगुण प्रधान हो जाता है। विभावादि की भावना करता करता सहृदय उनका भोग करने लगता है। इस प्रकार इनके मत में अन्य रामसीतादि के भी विभाव आदि भावना से साधारण बन कर सामाजिक के रसोपभोग का विषय बनते हैं।

अभिनवगुप्तपाद को भट्ट नायक के ये दो नवीन व्यापार अथवा शक्तियां सर्वथा निराधार और तर्क-विरुद्ध प्रतीत हुईं। प्रथम तो काव्य शब्द के नवीन दो व्यापारों को मानने के लिए कोई शास्त्रीय आधार नहीं। दूसरे, भावना तो अर्थ या भाव का स्वभाव ही है, इसी लिए भाव का भाव नाम भी है। इसे काव्य शब्द का व्यापार मानना असंगत है, शब्द तो केवल भाव को उपस्थित मात्र कर देता है। इस के अतिरिक्त भट्ट नायक के मत में दूसरे के रत्यादि ही साधारण बने रस दशा को प्राप्त करते हैं किन्तु अभिनवगुप्त के मत में सहृदय या सामाजिक के रत्यादि ही, साधारणीकृत विभावादि से रस दशा को प्राप्त होते हैं। इनके मत में भरत सूत्र की व्याख्या यों होगी कि विभावादि के संयोग (व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध) से रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। इनके मत के अनुसार समस्त रत्यादि स्थायीभाव प्रत्येक सवेदन शील सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से सदैव स्थित रहते हैं, किन्तु सुप्त दशा में होते हैं। अनुकूल विभाव अनुभाव आदि के संयोग से उद्बुद्ध और परिपुष्ट वे रत्यादि ही एकान्त आनन्द की रसदशा को प्राप्त हो जाते हैं। विभावादि के साधारणीकरण को ये भी मानते हैं, क्योंकि जब तक विभावादि के विषय में स्व-पर, अथवा मेरे, तेरे, उसके आदि के विशिष्टता-मूलक भाव का तिरोधान नही होगा तब तक उनके कारण से सहृदय के भाव उद्बुद्ध नहीं हो सकते। किन्तु इस साधारणीकरण के कार्य के लिए ये भावना शक्ति की आवश्यकता नहीं मानते। इनका मत है कि भाव या अर्थ में भावना शक्ति तो पूर्वतः विद्यमान रहती है। जिसमें भावना हो वही भाव। किन्तु जब वेही भाव व्यंजना के द्वारा व्यजित होते हैं, तो उनमें विभावना (विशेष भावना) हो जाती है, इस विशेष भावना के वश से वे साधारण रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं। साधारणीकरण के लिए व्यंजना के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार की आवश्यकता नहीं है। फिर ये ही विभावादि व्यंजक बने सामाजिक के रत्यादि की अभिव्यक्ति करके उन्हे रसरूप बना देते हैं। अभिप्राय यह है कि सामाजिक की रत्यादि भावनाओं के ऊपर जो अज्ञान (रजोगुण और तमोगुण-भेदभाव) का आवरण पडा रहता है, वह दूर हो जाता है और उन रत्यादि भावों का

प्रकाश होने लगता है, जिसे अखण्ड चिन्मय आनन्द की या रस की दशा कहा जाता है, जो वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है, जिस में अपने व्यक्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार इनके मत मे व्यंजना के द्वारा ही साधारणीकरण और अभिव्यक्ति के कार्य हो जाते हैं, उनके लिए भोजकत्व और भोग नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की आवश्यकता नही रहती। इनके मत मे अन्यों की रत्यादि का साधारणीकरण होने पर सामाजिक रसानुभव नहीं करता है। भट्ट नायक के मत को 'भोगवाद' कहा जाता है और अभिनव गुप्तपाद के मत को अभिव्यक्ति या अभिव्यंजनावाद। अभिनव गुप्त का मत ही आगे के आचार्यों को स्वीकृत हुआ और सिद्धान्ती माना गया। यही दोनों मतों मे भेद है।

अथवा

(ख)—हिन्दी मे वीर रसात्मक साहित्य के विकास का इतिहास लिखिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ वीर वर्णन से होता हैं। साहित्य जातीयता का प्रतिविम्ब होता है। हिन्दी साहित्य में भी समय-विशेषों का पूर्ण प्रतिविम्ब पड़ता है। हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ उस समय से होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के हमले प्रारम्भ होगये थे। मुसलमानो का सिन्ध मे राज्य स्थापित होने के पश्चात् से ही उनके राजस्थान पर आक्रमण होने लगे थे राजपूत राजा गण व्यक्तिगत वीरता मे मुसलमानों से बहुत बढ़े चढ़े होने पर भी, पारस्परिक वैमनस्यों के कारण सामूहिक प्रतिरोध करने में असमर्थ थे। आये दिन पारस्परिक कलह होते थे। फिर, पंजाब की ओर से भी हमले होने लगे। इस प्रकार भारत का एक विस्तृत भूभाग-पश्चिमोत्तर प्रदेश संघर्ष में ग्रस्त हो गया। हिन्दी साहित्य का आरम्भ ऐसे ही समय में हुआ, अतः उसमें तात्कालिक वीर भावनाओं का वर्णन स्वाभाविक रूप में प्रारम्भ हुआ। बाद मे संघर्ष की प्रबलता और निर्बलता के साथ, उभरता दबता वीर वर्णन आधुनिक काल तक चला आया।

सुविधा के लिहाज से हिन्दी साहित्य में वीर-वर्णन तीन उत्थानो मे बाँट लिया जाता है। प्रथम उत्थान आदि काल है, जब कि चारों ओर

संघर्ष और युद्ध का नाद ही सुनाई देता था। इस काल में हिन्दी साहित्य में दो रूपों में वीर-साहित्य की रचना हुई—प्रवन्ध काव्य के रूप में और वीर गीतों के रूप में। प्रवन्ध काव्यों में सर्व प्रथम दलपत विजय का "खुम्माण रासो" माना जाता है, किन्तु यह अप्राप्य सा है। दूसरा विशेष प्रवन्ध काव्य पृथ्वीराज रासो है, जो चन्द कृत है। तीसरा अन्तिम प्रमुख वीर प्रवन्ध काव्य रीति युग का हम्मीर रासो माना जाता है। इनके अतिरिक्त शार्ङ्गधर का हम्मीर हठ और नल्लसिंह का विजयपाल रासो भी इसी परम्परा की रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें सर्व प्रमुख चन्द का पृथ्वीराज रासो है। गीतों में सर्वप्रथम नल्ह का वीसलदेव रासो माना जाता है। यह काव्य शृंगार प्रधान है, बीच में यत्र तत्र वीर का भी कुछ वर्णन मिल जाता है। वीर गीतों में सर्व प्रमुख जगनिक का आल्हा खण्ड माना जाता है, जिस में आल्हा ऊदल नामक महोवा के दो राजपूत वीरों के युद्धों का बडी ओजस्विनी भाषा में विस्तृत वर्णन है। वीर गीत लिखने वाले इस काल में अन्य भी कवि हुए, किन्तु प्रमुख ये ही हैं।

इस युग में दो भाषाओं में वीर रचनाएँ हुईं—पिंगल में और डिंगल में। पृथ्वीराज रासो की भाषा पिंगल और आल्हा की भाषा डिंगल मानी जाती है।

इस काल के वीर साहित्य में वीर रस का समुज्ज्वल और विशद वर्णन होने पर भी उसमें व्यक्तिगतता विशेष रूप में मिलती है। राजाश्रित चारणों और कवियों ने अपने अपने आश्रयदाता राजाओं की ही प्रशंसा में कविताएँ बनाई हैं और उन्हें ही सबसे अधिक वीर, दानी, आदि बताने का प्रयास किया है। अतः खुमाण रासो, पृथ्वीराज रासो आदि दो-एक काव्यों को छोडकर उनमें जातीयता या राष्ट्रीयता की वह शुद्ध भावना नहीं है, जो देशभक्ति की प्रेरणा देती है और उसीके लिए व्यक्तित्व का वलिदान होने की भावना उत्पन्न करती है। कवि लोगों ने छोटे बड़े सभी राजाओं की व्यक्तिगत वीरता का ही वर्णन किया, इकट्ठे होकर मातृभूमि के शत्रु का मुकाबला करने की सत् प्रेरणा नहीं दी। तो भी, इस युग का साहित्य अपने काल की समय-गति और सार्वजनिक वीर भावनाओं का प्रतिनिधि है और

संसार की किसी भी भाषा के प्रारम्भिक वीर-काव्यों से समता कर सकता है। यह प्रथम उत्थान ९ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं के मध्य तक लगभग ५ साल तक चलता है खेद है कि इस समय की उपर्युक्त थोड़ी सी ही साहित्य-सामग्री मिलती है और जो मिलती भी है, वह भी पूर्णतया असंदिग्ध नहीं है। हम्मीर रासो के साथ ही यह रासो-परम्परा समाप्त हो चल देती है। इसके पश्चात् परम्परा बदल जाती है।

दूसरा युग ४०० साल तक—रीति काल की समाप्ति पर्यंत—चलता है। इस काल में राजनैतिक परिस्थिति भिन्न होती है। मुसलमानों की राज्य प्रतिष्ठा हो जाती हैं। देश का अधिकतम भूभाग मुसलमानों के अधिकार में आ जाता है। विरोध शान्त हो जाता है। मुसलमानों से लोहा लेने का किसी में साहस नहीं होता था। हिन्दू राजा गण कर-दाता बन कर या मुसलमानों की दासता स्वीकार करके ऐयाशी में अपने दिन भुला रहे थे। मुसलमानी दर्बारी ठाठ बाट और ऐश-तलबी का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा था। महाराणा प्रताप, राणाराजसिंह, दुर्गादास, चम्पतराय आदियों द्वारा विरोध सीमित था, जो अपनी रक्षा के हेतु था, उन्होंने समस्त जीवन अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में ही बिताया। नहीं तो सर्वत्र शान्ति ही रही। मुसलमानों की अवनति के काल में एक बार फिर संघर्ष का समय आता है, जो अन्त तक चलता है। मुसलमानी अत्याचारों के कारण, पंजाब, महाराष्ट्र, राजपूताना आदि में फिर विद्रोह होता है, जो मुगल राज्य की नीव को हिला देता है। अन्त में मुगल साम्राज्य अंग्रेजों द्वारा समाप्त कर दिया जाता है।

इस उत्थान के प्रारम्भिक भाग मे तो भक्ति का साम्राज्य रहा। निराशा में भगवान् का ही आलम्ब पकड़ा गया। इन भक्तों ने अपने अपने इष्ट अवतार रूपों की लीलाओं का वर्णन किया। उन रूपों के चरित्रों मे वीर रस का भी पूर्ण परिपाक मिलता है। अतः इन भक्त कवियों ने रामकृष्ण के वीर चरित्र का भी वर्णन किया हैं। राम भक्त और कृष्ण भक्त कवियों दोनो ने ही वीर वर्णन किया है, किन्तु वह भक्ति का अंग है, प्रधान नहीं। इस समय के वीर रस के कवियों में वीरमायण के रचियता बादर, 'रण मल्ल

छन्द' के रचयिता श्रीधर 'वचनिका अचलदास खीची से' के कर्त्ता सिवदास, राउ जइतसी रउ छन्द' के लेखक सूजो आदि के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने डिंगल में वीर रस का वर्णन किया। नहीं तो यह युग भक्ति का था, प्रधान रूप से वीर रस का वर्णन इस समय नहीं के बराबर ही हुआ। महाराणा प्रताप जैसे महान् वीर देश भक्त का किसी ने रासो नहीं लिखा, हालांकि वह अपने समय का प्रख्यात योद्धा था, जो अकबर से लोहा ले रहा था।

इस उत्थान के उत्तर भाग में, जब कि औरंगजेबी अत्याचारों के कारण फिर विद्रोह होता है, हिन्दी साहित्य में फिर वीर राग सुनाई पड़ते हैं। इसमें वीर रस के कवियों में दो नाम सर्व-प्रमुख हैं—भूषण और लाल। इनके चरित-नायक प्रसिद्ध देश भक्त, वीर योद्धा थे, जिन्हें जनता हिन्दु धर्म और जाति के एकमात्र रक्षक और अद्भुत शक्तिशाली रूपों में देखती थी। ये दो वीर शिवाजी और छत्रसाल थे। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल दोनों के वीर कृत्यों का ब्रज भाषा में वर्णन किया है और लाल कवि ने छत्रसाल की वीरता का ही वर्णन किया है। इन दोनों ने ही वीर रस का शुद्ध रूप विशद और ओजस्वी वर्णन किया है। किन्तु भूषण की कविता में शुद्ध हिन्दू राष्ट्र की व्यापक भावना भी मिलती है। वह समस्त हिन्दुओं को एक झण्डे के नीचे एक-चित्त होकर युद्ध करने की प्रेरणा देती है। शिवाजी के वीर कृत्यों और मुसलमानों के अत्याचारों के वर्णन से यही ध्वनित होता है। अतएव इन समस्त वीर रस के प्रथम और द्वितीय उत्थानों के कवियों में भूषण का विशेष स्थान है। उनका साहित्य जातीय साहित्य है, जिसमें मुख्य प्रेरक शक्ति लोभ लालच न होकर शुद्ध जातीय भावना ही है। भूषण और लाल के अतिरिक्त इस काल के वीर रस के कवि सूदन, सूरजमल, जोधराज, चन्द्रशेखर आदि प्रमुख हैं। वैसे तो इस रीतिकाल में, अच्छे नामी कवियों ने प्रायः सभी ने वीर रस का वर्णन किया है। केशव, चिन्तामणि, सेनापति, पद्माकर, देव आदि सभी विशिष्ट कवियों ने प्रसंग-वश वीर रस का वर्णन किया है। कुछ ने रीति ग्रन्थों में नव रसों के वर्णन में वीर रस के उदाहरण रूप में और कुछ ने अपने आश्रयदाता राजाओं

की प्रशंसा करने के लिए वीर-वर्णन किया है। किन्तु वह अत्यल्प है और कृत्रिम सा है, जिस में शुद्ध वीर भावना न होकर स्वार्थ ही है। यह युग मुसलमानों के राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। इसके बाद, नवीन परिस्थिति सामने आती है।

तृतीय उत्थान यहां अंग्रेजों की राज्य-प्रतिष्ठा के साथ प्रारम्भ होता है। गदर के बाद भयंकर अत्याचारों यातनाओं के द्वारा विद्रोह दबा दिया गया था। किन्तु वह विद्रोह और स्वदेश की भावना हृदयों के अन्दर जलती रही और बाहर निकल कर शत्रु को भस्मसात् करने का अवसर देखती रही। स्वतंत्रता की भावना जागृत होने लगी, किन्तु विरोध या संघर्ष की स्थिति नहीं रही थी। प्रथम यह स्वदेश और स्वजाति के उत्थान की भावना सामाजिक और धार्मिक सुधारों, शिक्षा सुधारों के आन्दोलनों के रूप में व्यक्त हुई, फिर दबे रूप में राजनैतिक क्षेत्र में भी उसका प्रकाशन होने लगा। कांग्रेस का जन्म हुआ, गांधी जी आये, राष्ट्रीय आन्दोलन हुए, बलिदान हुए, और अन्त में अंग्रेजी साम्राज्य का बिस्तर गोल हुआ, आदि घटनाएँ विदित हैं।

हिन्दी साहित्य ने भी इस सार्वजनिक चेतना के युग में जागृति के गीत गाये। सोतों को जगाया और कायरों को वीरता के गान सुनाये। हीन भारतीयों को उनके पूर्वजों के वीर वर्णन सुनाकर उनको उनके महत्व की—स्वाभिमान को—समझाने का प्रयत्न किया। आधुनिक काल के आरम्भ में ही भारतेन्दु जी के मुख से वीर गान सुनाई पड़ते हैं। उनके समय में अन्यों ने भी वीर रस का वर्णन किया। द्विवेदी काल में तो कई अच्छे प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये, जिनमें वीर रस का अच्छा वर्णन हुआ। अनेक फुटकल पद्यों के भी ग्रन्थ लिखे गये। जहां अन्य रसों पर साहित्य-रचना हुई, वहां वीर रस भी लिखा जाता रहा। इस उत्थान के वीर रस का वर्णन दो भाषाओं में हुआ है—ब्रजभाषा में और खड़ी बोली में। प्रथम भारतेन्दु काल से लेकर द्विवेदी काल तक ब्रज भाषा में भी वीर वर्णन हुआ और खड़ी बोली में भी, किन्तु बाद में तो मुख्यतः खड़ी बोली में ही हुआ।

वीर रस के वर्णन की नवीन शैली प्रगतिवाद में मिलती है, जिसमें सदैव मार्चिंग का बिगुल ही सुनाई देता है।

इस उत्थान में, वीर रस का वर्णन करने वाले कवियों में, भारतेन्दु, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल, अनूप, वियोगी हरि, माधव शुक्ल, भगवानदीन, सुभद्राकुमारी, रायदेवीप्रसाद पूर्ण आदि कुछ एक विशेष नाम लिये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य की वीर रस की रचनाओं का यही इतिहास है।

अथवा

(ग) सूर्यमल की काव्य शक्ति को विस्तार से समालोचना कीजिये।

उत्तर—कविराज सूर्यमल वीर रस के उच्च कवि माने जाते हैं। कुछ लोग तो उनके साथ ही वीर कविता की समाप्ति मान लेते हैं। डिंगल में वस्तुतः इनके जैसा विस्तृत और उज्ज्वल वीर वर्णन नहीं मिलता है। इनका वंश-भास्कर सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त तीन ग्रन्थ और लिखे हैं।

इन्होंने वीर के किसी भी रूप को नहीं छोड़ा। युद्ध के चित्र खींचते समय, उसके प्रत्येक रूप का चित्रण किया है। इनका युद्ध वर्णन पूर्ण माना जाता है। किन्तु विशेष ख्याति इनकी जिस कारण से है, वह है इनके वे भाव चित्र, जो इन्होंने वीर वीरांगनाओं के वर्णन में उतारे हैं। इन्होंने वीर भावनाओं का अनेक रूपों में अभिव्यंजन किया है, युद्ध वर्णन के अतिरिक्त। देखिये दो चार उदाहरण—

दमंगल विण अपचौ दियण वीर धणी रोघान।
जीवन घण वाल्हा जिके छोड़ो जहर समान॥

"वीर स्वामी का धन युद्ध करके ही हजम किया जा सकता है। जीवन और गृहस्थी का मोह करने वाले के लिए वह अन्न जहर के समान त्याज्य है।"

जे खत भग्गा तो सखी मोताहल सज थाल।
निज भग्गा तो नाहरी साथ न सूनों टाल॥

क्या चमत्कारक उक्ति है! शत्रु भाग गये हों तो विजय स्वागत की तैयारी

कर, थाल में, मोती सजा। यदि अपना पक्ष भागा हो तो प्रिय का साथ न छूटने दे, अर्थात् सती होने की व्यवस्था कर। व्यंग्य यह है कि उसके प्राणनाथ अन्यों के साथ नहीं भागे होंगे। वे तो वहीं खेत रहे होंगे। वीरता की कितनी सुन्दर उक्ति है! देखिये सुख-शैय्या पर भी युद्ध का ही स्मरण होता ।—

काय कलाली छल कियो सेजगुमावण रंग ।
फूल दुवारै चाकियो, चीतै चौगुण जंग ॥

सुरत क्रीडा के समय शराब पीकर भी उसे युद्ध का ही स्मरण रहता है, अतः वीरांगना कलाली को उपालंभ दे रही है कि उसकी शराब का नशा अच्छा नहीं—उसने धोखा किया। स्वाभाविक और एकान्त वीरता व्यक्त होती है वीर-मृत्यु पर देखिये कितना हर्ष हो रहा है—

आज घरै सासू कहै, हरख अचाणक काय ।
बहू बलेवा हूलसै पूत मरेवा जाय ।

युद्ध से भागकर आये पति को वीरांगना देखिये किन शब्दों में लताड़ती है—

कन्त ! भलां घर आविया, पहरीजै मो वेस ।
अब धण! लाजी चूडियां भव दूजै भेटेस ।

युद्ध से भागे पति को मुर्दा समझकर अपने को विधवा कहती है एक वीरांगना—

मणिहारी जारी सखी ! अब न हवेली आव ।
पीव मुवा घर आविया, विधवां किसा बणाव ॥

विशेष देखिये हिन्दी साहित्य प्रश्न पत्र दो संवत् २००२ प्रश्न ५ ।

———

हिन्दी साहित्य रत्न संवत् २००४

प्रश्न पत्र, २

१. निम्नलिखित अवतरणों का सन्दर्भ-पुरस्सर अर्थ लिखिये और यथा-स्थान काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाली टिप्पणियां भी दीजिये।

(क)—धर बांकी दिन पाधरा ...... गिरदां राण ॥

परिचय—डिंगल के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज का दोहा है, जिसमें महाराणा प्रताप के पर्वत-निवास का वर्णन किया गया है।

महाराणा प्रताप, जिसकी मातृ भूमि बड़ी दुर्गम है, जो मर्द (वीर) है और अपने मान को (स्वभिमान को) नहीं छोड़ता है, अनेक राज-गणों से परिवारित हुआ पहाड़ों में निवास करता है।

महाराणा प्रताप की वीरता और स्वदेश भावना का सरल सीधी उक्ति द्वारा अभिव्यंजन हुआ है। साथ ही उनके स्वाभिमान की उच्चता का भी सूचन किया गया है। अलकारों में वयण सगाई का निर्वाह है। भाषा भावानुरूपिणी सरल और ओजस्विनी है।

माई एहड़ा पूत जण ......सिराणै सांप ॥

परिचय—यह भी पृथ्वीराज का ही पद्य है। राणा प्रताप की प्रशंसा है।

अर्थ—हे माई! ऐसा पूत पैदा कर, जैसा महाराणा प्रताप, जिसे अकबर सिरहाने का सांप जानकर, नींद में उचक पड़ता है (अर्थात्, जिसके भय से नींद में ऐसे उचक पड़ता है, जैसे कोई व्यक्ति अपने सिरहाने सांप जानकर, सोता सोता उचक पड़ता है।)।

प्रताप के प्रताप का वर्णन है। अकबर उसके भय से नींद में से उठकर बैठ जाता है। सिरहाने के सांप का मुहावरा भी बहुत सुन्दर आया है। उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति अलंकार माने जा सकते हैं। भाषा विषयानुकूल, ओज-पूर्ण और सरल सीधी है।

अकबर समँद अथाह.... ...पोयण फूल प्रतापसी ॥

परिचय—पृथ्वीराज के ही वीर रस के फुटकल दोहों में से है। प्रताप की अविजेयता का वर्णन है।

अर्थ—अकबर एक निस्सीम सागर है। उसमें शूरता का जल भरा हुआ है। उसमें मेवाड पति महाराणा प्रताप कमल का फूल है।

राणा की अविजेयता का वर्णन है। अकबर ने अपनी वीरता से समस्त हिन्दु राजाओं को परास्त कर दिया था। किन्तु राणा को वह नहीं जीत सका था। राणा की यही अविजेयता समुद्र और कमल के रूपक द्वारा सूचित की गई है। समुद्र में कितना ही पानी हो, पर जैसे कमल जल से ऊपर ही रहता है, ऐसे ही अकबर की वीरता से राणा ऊपर था। रूपक के साथ वयण सगाई नामक डिंगल शब्दालंकार का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। भाषा स्वाभाविक और विषयानुसारिणी है।

पाताल पाय प्रमाण ... ... ऊभी अणी ॥

परिचय—पृथ्वीराज का ही एक अन्य दोहा है, जिसमें प्रताप की पगडी के अकबर के सामने कभी न झुकने का वर्णन किया गया है।

अर्थ—राणा सांगा के वंश-धर राणा प्रताप की पाग ही प्रमाण (सर्वोच्च) है, जो अकबर के सामने (मुकाबले) में सदैव राणा के सिर पर अकड़ कर बंधी रही (कभी झुकी नहीं)।

राणा का स्वाभिमान व्यक्त होता है, जिसके कारण उसका मस्तक सदैव सीधा रहा, झुका नहीं। पगडी को अद्वितीय बताया गया है। उसके उत्कर्ष से प्रताप का असीम स्वाभिमान अभिव्यक्त होता है। पगडी का मुहावरा भी अच्छा बना है। लक्षणा और व्यंजना दोनों से कवि ने काम लिया है। उपमा, अनुप्रास और वयण सगाई अलंकारों का भी स्वाभाविक चमत्कार है। भाषा स्वाभाविक प्रवाहमय है। प्रसाद गुण है।

अथवा

चढ़िय राज प्रथिराज ... मुकुट सीस तिक जुदियव ॥

परिचय—पृथ्वीराज रासो का पद्य है। पृथ्वीराज पद्मावती को वर कर दुर्ग पर चढ़ते हैं।

अर्थ—शहाबुद्दीन के प्राणों को छोडकर (बख्शकर) पृथ्वीराज

(दुर्ग पर) चढ़ने लगे (या चढ़े)। सूर सामन्त गिर रहे हैं (भूमि पर गिरते हैं, प्रणाम करने को अथवा साथ में सूर सामन्त चलते हैं। पद का अर्थ जाना भी होता है।) ढोल आदि बजते हैं और पृथ्वी गूंजती है। चन्द्र-मुखी, मृगनयनी सुन्दरियां सिरों पर सुवर्ण-कलश रखे सामने होती हैं। सुन्दर सुवर्ण के थालों को अत्यन्त सजाकर और सुख-दायक मोती बंधवाकर (मोती पहिन कर अथवा थालों में मोतियों की झालर बांधकर) चन्द्रमण्डल के समान सभी सुन्दर श्रेष्ठ नारियां आनन्ददायक स्वर में (गले मे) गाती हैं। चंवर ढुलाई जाती हैं और सिर पर रखे हुए मुकुट किर किर शब्द करते हैं।

पद्मावती को विवाह कर, लाने पर, पृथ्वीराज के दुर्ग-प्रवेश का रुचिर वर्णन है। उनका स्वागत हो रहा है। मंगल वाद्य और गान हो रहे हैं। चन्द ने आलंकारिक भाषा में स्वागतार्थ एकत्रित सुन्दरियों के सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया है। उपमा और रुपक अलंकारों का चमत्कार वर्णन को और भी अधिक रुचिर बना रहा है।

(ख) चढ़िए क्ररि कोप हमीर मनं ... उनमत्त लसैं बन में ॥

परिचय—जोधराज के हम्मीर रासो का पद्य है। रणधीर के यवन सेना के साथ युद्ध का वर्णन है।

अर्थ—हम्मीर मन में क्रोध करके, गढ़ को दृढ़ करके और अपने प्रण को संभालकर (याद करके) दुर्ग पर चढ़े। बहुत सी तोपों को तैयार करके, संवार कर रखा, (दुर्ग के) प्रत्येक बुर्ज की भूमि में धूम पड़ गई। बहुत से चंचल घोड़े खुंद (पांव से जमीन खोदना) करते हैं, उनके ऊपर जिरहबख्तर के साज सजे हैं। सेना में आजानु जवान शोभा पा रहे हैं, रण में उन्मत्त हुए बल से चमक रहे हैं।

अथवा

नमसकार सूरां नरां ... .अडै भुजा उरसार ॥

परिचय—बांकीदास कवि का दोहा है। शूर पुरुष को नमस्कार किया गया है।

अर्थ—उन पूर्णतया उत्तम पुरुषों (सत्पुरुषो) को नमस्कार है, जो

युद्ध (भारथ) में हाथियों के ठट्ठो मे जा भिडते हैं, अपनी छाती और भुजाओं से (उनके बल से) अड जाते हैं (हाथियों से भुजाओं और छाती भिडा कर अड जाते हैं)।

दोहे में वीर पुरुषों के साहस और शक्ति का वर्णन है सीधी सरल भाषा में। वीरता का आतिशय्य व्यंग्य है। वयण-सगाई अलंकार का सुन्दर निर्वाह है।

सूर न पूछै टीपणो ··· ····· समर चढ़ै मुख नूर॥

परिचय—यह भी बांकीदास का ही दोहा है। स्वाभाविक शूर पुरुष का वर्णन है।

अर्थ—शूर पुरुष मुहूर्त नहीं पूछता (युद्ध में जाने को), न शकुन का ही विचार करता है। वह तो मृत्यु को मगल गिनता हैं और रण में उसके मुख पर नूर (तेज) चढ आता है।

यहां भी सीधी स्वाभाविक ढंग की उक्ति में स्वभाव-वीर के सच्चे रणोत्साह और निर्भीक वृत्ति का वर्णन किया गया है। भाषा ओजस्विनी है।

सूर भरोसे आपरै नहीं मरण रो बीह॥

परिचय—यह भी बांकीदास का ही दोहा है, जिसमें सिंह और शूर वीर का एक सा आत्म-निर्भर रहने का स्वभाव बताया गया है।

अर्थ—शूरवीर पुरुष अपने भरोसे रहता है (किसी का सहारा नहीं तकता) और सिंह भी अपने ही भरोसे रहता है। ये दोनों भिड़ने पर (किसी से मुठभेड होने पर) भागते नहीं, क्योंकि इन्हें मरने का भय नहीं होता है।

यहां भी सरल सी उक्ति से वीर की आत्म-निर्भरता का वर्णन किया है। सिंह और वीर का एक धर्म बताया गया है। तुल्ययोगिता अलंकार है। भाषा विषयानुरुप ओजस्विनी है।

हथ बल निरभै हियौ ···सीहां केहा सत्थ॥

परिचय—यह भी बांकीदास का ही दोहा है। सिंह की निर्भयता के वर्णन से शूर की निर्भीक वृत्ति का वर्णन किया गया है।

अर्थ—हाथ (पंजे) मे बल है और (अतएव) हृदय निडर है समर (युद्ध) मे उसकी कोई समानता (मुकाबला) नही कर सकता। ऐसा सिंह

वन में अकेला ही घूमता है। सिंहों को क्या (किसी का) साथ ? (अर्थात् अपनी बाहु या पंजे की शक्ति के बल पर निर्भय बना अकेला घूमता है। वह किसी का साथ नहीं ढूंढता।)

सिंह के अप्रस्तुत वर्णन से सच्चे वीर पुरुष प्रस्तुत का वर्णन किया गया है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। वयण सगाई का भी निर्वाह है। भाषा स्वाभाविक प्रसाद गुण सम्पन्न और विषयानुरूप है।

(ग) नाहीं नाहीं करै ······इकसार है।

नोट—देखिये प्रश्न पत्र २ संवत् २००२ प्रश्न १ (ख) भाग।

अथवा

यह तो कछु भामिनी पंकज है।

नोट—यह पद्य देव के नवीन संग्रह में नहीं आया है।

(घ) या अनुरागी चित्त की त्यों त्यों उज्जलु होय॥

परिचय—बिहारी का दोहा है। श्याम-प्रेम की विलक्षणता का वर्णन किया गया है।

अर्थ—इस अनुरागी (प्रेमी और लाल रंग वाले) चित्त की दशा कुछ समझ में नहीं आती। यह ज्यों ज्यों श्याम रंग (काला रंग और कृष्ण के प्रेम) में डूबता है, त्यों त्यो उजला (सफेद और निर्मल) होता है (अर्थात् चित्त कृष्ण प्रेम में डूब कर निर्मल, निष्पाप होता जाता है)।

लाल रंग की वस्तु काले रंग में डूब कर सफेद नहीं हुआ करती। अतः विरोधाभास है। श्याम, अनुरागी और रंग शब्दों का क्रमशः कृष्ण, प्रेमी और प्रेम या भक्ति का अर्थ ले लेने पर विरोध नहीं रहता।

घरु घरु डोलत दीन ह्वै ··· लघु पुनि बड़ो लखाइ।

परिचय—बिहारी का दोहा है। लोभी के लोभ में भटकने का वर्णन है।

अर्थ—दीन होकर घर घर डोलता (भटकता) है और जने जने से (प्रत्येक जन से) जाकर मांगता है। लोभ का चश्मा (ऐनक) आंखों पर लगाये हुए (तुझे) फिर छोटा भी बड़ा दिखाई देता है। (भाव यह है कि लोभ में फंसा व्यक्ति सबसे मांगता है और उसे छोटा आदमी भी बड़ा

दिखाई देता है। वह प्रत्येक को धनी समझ कर उससे मांगता है। चश्मा लगाने पर भी चीजें बडी दिखाई दिया करती हैं)।

लोभ मे भटकने का कवि ने अत्यन्त रोचक और चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है। लोभ में चश्मे का आरोप करके युक्ति या हेतु से बड़ा दिखाई देने के अर्थ की पुष्टि की गई है। अतः रूपक और काव्यलिंग अलंकार हैं। साथ में अनुप्रास का भी चमत्कार है। उक्ति सुन्दर है।

मैं समुझ्यो निरधार··· ··· लखयतु जहाँ॥

परिचय—विहारी का दोहा है। ब्रम्ह-सृष्टि का सम्बन्ध बताया गया है। वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का वर्णन है।

अर्थ—मैंने निश्चय पूर्वक जान लिया है कि यह जगत् कच्चे कांच के समान है, जिसमे एक ही अपार ब्रम्ह का रूप प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। (जैसे, अनेक शीशों के मध्य मे खडे होने पर प्रत्येक शीशे के आकार-प्रकार के अनुसार एक ही व्यक्ति के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं, वैसे ही प्रकृति में उपाधि भेद से एक ही ब्रम्ह अनेक रूपों मे प्रतिबिम्बित दिखाई देता है।)

उक्ति अत्यन्त सुन्दर है। छोटे से दोहे में विहारी ने वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्त का चमत्कारक ढग में वर्णन किया है। इसके लिए कवि ने उपमा का आश्रय लिया है। यह दोहा विहारी के दार्शनिक ज्ञान का भी परिचायक है।

नित प्रति एकत ही रहत··· जुगल अनेक॥

परिचय—विहारी का ही दोहा है। राधाकृष्ण के प्रेम का वर्णन किया गया है।

अर्थ—(दोनों राधा और कृष्ण) नित्यं प्रति एकत्र (एक जगह) ही रहते हैं। दोनों की आयु जाति और मन एक (से ही हैं। किन्तु, उस एक किशोर-युगल (नवयुवक और नवयुवती के जोड़े) को देखने के लिए आंखों के अनेक युगल (जोडे) चाहियें (आंखों के एक जोडे से उनके सौन्दर्य का दर्शन नहीं हो सकता।)।

राधाकृष्ण के असीम सौन्दर्य का द्योतन है, जिसके दर्शन को अनेक आंखें चाहियें। अनुप्रास का चमत्कार है। सौन्दर्य के अतिशय की उक्ति है।

२. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा की खोजों का उल्लेख करते हुए उस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के विषय में आजकल कई मत-मतान्तर प्रचलित हैं। एक उ-के वर्तमान में प्राप्य रूप को प्रामाणिक मानते हैं, और उसमें प्रक्षिप्त अंशों की सत्ता स्वीकार करते हैं। इस मत के श्री मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, आचार्य श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु आदि विद्वान् हैं। दूसरे रासो को सर्वथा जाली और केवल 'भट्टभणन्त' मानते हैं। इनके मत मे पृथ्वीराज की सभा मे चन्द नाम का कोई कवि नहीं था और न यह ग्रन्थ पृथ्वीराज के समकाल में बना ही। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने प्रबल युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर १५-१६ अशुद्धियां रासो मे दिखाई हैं। इस मत का आधार रासो वृहत् संस्करण की काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाली प्रति है जो १६४२ संवत में लिखी गई है और जिसमें छन्द संख्या १६३०६ है। इस मत के मानने वालों में कविराजा श्यामलदान कविराजा मुरारीदान, डा० बूलर, गौरी शकर हीराशंकर ओझाजी और आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वान् हैं। तीसरा मत चन्द द्वारा पृथ्वीराज के समय में रासो लिखा जाना तो स्वीकार करता है किन्तु वर्तमान में प्राप्त रासो रूपको मौलिक नहीं मानता। उनके मत में यह रूप विकृत और कल्पित है, जिसमें असख्य परिवर्तन हुए हैं। उनके मत में रासो प्रथम अपभ्रंश में ही लिखा गया था, बाद में भाषा बदलती रही। इनके मत का आधार बीकानेर वाली लघु संस्करण वाली प्रति है जिसका लेखन काल १७२७ और छन्द संख्या ३५०० है। इस पक्ष में मुनि जिन विजय, अगर चन्द नाहटा तथा डा० दशरथ शर्मा आदि इतिहास-समालोचक हैं। चौथा मत, चन्द वरदायी नामक कवि पृथ्वीराज के समय में हुआ था, यह तो मानता है, किन्तु यह नहीं मानता कि उसने पृथ्वीराज रासो नामक कोई प्रबन्ध काव्य लिखा था। उनके मत में चन्द ने पृथ्वीराज के विषय में फुटकल पद्य ही लिखे थे, जैसे कि जैन ग्रन्थों में वे बिखरे मिलते हैं।

डा० दशरथ शर्मा ने ओझा जी प्रभृति अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों की युक्तियों और आक्षेपों का खण्डन करके अपने मत को पुष्ट किया है। ओझा जी प्रभृति विद्वानो ने पृथ्वीराज रासो पर १४—१६ आक्षेप किये हैं, जिनसे वह इतिहास-विरुद्ध अप्रामाणिक सिद्ध होता है। किन्तु इनके इन आक्षेपों का आधार रासो की वृहत्संस्करण की प्रति है, जिसमें ये सब अनर्गल इतिहास विरुद्ध बातें मिलती है। उधर, डा० शर्मा ने बीकानेर वाली लघु सस्करण की प्रति को प्रामाणिक माना है। इसमें ओझा जी को गिनाई अशुद्धियों में से केवल पांच की उपलब्धि होती है। अन्य बातें, जिन पर कि आक्षेप किये गये हैं, उसमे हैं ही नहीं। इन पांचों का डा० शर्मा ने उत्तर देने का प्रयास किया है।

इनमें पहिली बात चौहानवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में है। रासो मे परिहार, परमार, चालुक्य वंशी क्षत्रियों को अग्निवशी कहा गया है और चौहानों के आदि पुरुष की उत्पत्ति भी वशिष्ठ द्वारा किये एक यज्ञ कुण्ड से बताई गई है, जो कि ठीक नहीं। ओझा जी के मतानुसार किसी भी शिलालेख अथवा इतिहास ग्रन्थ से इन क्षत्रिय कुलों का अग्निवंशीय होना सिद्ध नहीं होता। ये राज परिवार चंद्रवंशीय, सूर्यवंशीय कहे गये हैं अन्य ग्रन्थों में, अग्निवंशीय नहीं। पृथ्वीराज विजय काव्य और हम्मीर महाकाव्य में चौहानों को सूर्यवंशीय ही कहा गया है, चन्द्रवंशीय कहीं नहीं। इस आधार पर इनका मत है कि रासो पृथ्वीराज के बाद की रचना है, क्योंकि पृथ्वीराज के समय में चौहानों को सूर्यवंशीय ही माना जाता था।

दूसरा आक्षेप पृथ्वीराज की वंशावली के सम्बन्ध मे है। चौहान राजा विग्रह राज की १०३० संवत् की हर्षनाथ के मन्दिर मे स्थित प्रशस्ति, बिजोलिया के शिला लेख, पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, प्रबन्धकोष, हम्मीर महाकाव्य आदि में चौहानों की वशावलियां दी गई हैं। उन वंशावलियों में आये नाम अधिकांश में परस्पर ठीक मिल जाते हैं। किसी मे अधिक अन्तर नहीं मिलता, किन्तु पृथ्वीराज रासो में चौहानों की जो वंशावली दी हैं, उसमें ४४ राजाओं के नाम आये हैं, जिनमें से केवल ७ नाम बिजोलिया के शिला लेखों और पृथ्वीराज विजय आदि की वंशावलियों के नामों से मिलत

है, शेष नहीं मिलते सं० १६६४ की रचना सुर्जन चरित में वर्णित चौहान वंशावली भी रासो की वंशावली से भिन्न है। इस आधार पर इनका मत है कि पृथ्वीराज रासो सुर्जन चरित के बाद की रचना है। क्योंकि यदि वह पहिले की प्रसिद्ध रचना होती, तो सुर्जन चरित में भी इसी के अनुसार वंशावली का वर्णन होता।

तीसरी इतिहास-विरोधी उक्ति पृथ्वीराज को दिल्ली नरेश अनपाल का नाती कहना और अनंगपाल का उसको गोद लेकर राज्य देना है। रासो मे पृथ्वीराज की माता और अनंगपाल की पुत्री का नाम कमला बताया गया है। ये दोनों ही बातें इतिहास-विरुद्ध हैं। हम्मीर महाकाव्य और पृथ्वीराज विजय काव्य में पृथ्वीराज की माता को त्रिपुरी के राजा हैहयवंशी तेजल की पुत्री बताया गया है, उसका नाम भी उनमें कपूरदेवी ही आया है। दिल्ली का राज्य भी पृथ्वीराज से पहिले ही चौहान राजा विग्रह राज चतुर्थ ने अपने राज्य में मिला लिया था। अतः पृथ्वीराज को दिल्ली के राज्य मिलने की बात भी असंगत है।

चौथा आक्षेप रासो में वर्णित पृथ्वीराज के विवाहों के विषय में है। रासो में, ११ वर्ष से ३६ वर्ष तक की आयु तक पृथ्वीराज के चौदह विवाह होने लिखे गये हैं, जिनमें एक १२ वर्ष की अवस्था में आबू के परमार वंशीय राजा सलख की पुत्री और जैत की बहिन इच्छिनी से भी हुआ। इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज ३० साल से अधिक जिया ही नहीं। और जिनकी पुत्रियों या बहिनो से विवाह होने लिखे गये हैं, वे राजा भी या तो पृथ्वीराज से आगे पीछे हुए या सर्वथा उनका पता ही नहीं लगता इतिहास में। इस प्रकार ओझाजी के मत से रासो पृथ्वीराज के समय की रचना नहीं है, नहीं तो पृथ्वीराज के सम्बन्धियों का परिचय ठीक ठीक रहता।

अन्य आक्षेप पृथ्वीराज रासो में आये तिथि-सम्वतों के विषय में भी हैं। रासो के संवत् अन्य इतिहास-ग्रन्थो के सम्वतों से नहीं मिलते। जन्म मरण के संवत्, राज्यारोहण आदि के सम्वतों मे बहुत अशुद्धि है।

पाचवां आक्षेप संयोगिता स्वयंवर और पृथ्वीराज की मृत्यु के विषय में है। रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज जयचन्द की पुत्री संयोगिता को

स्वयंवर से उठा लाया था। किन्तु यह बात इतिहास-विरुद्ध है। अन्य इतिहासों में इसका उल्लेख नहीं। ओझाजी के मत से इस घटना मे एक ही बात सत्य है कि पृथ्वीराज और जयचन्द समकालीन थे। अन्य सब बातें कपोल-कल्पित हैं। ऐसी ही इतिहास-विरुद्ध घटनाएं पृथ्वीराज को पकड कर गजनी ले जाने, वहां उसकी आंखें निकलवाने और उसके बाद चन्द के संकेत पर, अखाडे मे, पृथ्वीराज द्वारा गोरी के वध आदि की हैं। ओझाजी के कथनानुसार गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं अपितु गक्खरों के हाथों सं० १२२६ में हुई। ओझाजी इत्यादि अनेक युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर पृथ्वीराज रासो को १६ वीं १७ वीं शताब्दी की रचना मानते हैं, पृथ्वीराज के समकाल की नहीं।

इनमे सब आक्षेपों के उत्तर डा० दशरथ शर्मा ने अपनी खोज के आधार पर दिये हैं। इनका कहना है कि इन आक्षेपों की सम्भावना नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो की वृहत् प्रति के विषय में ही हो सकती है। बीकानेर वाली लघु प्रति में इनमें से अनेक घटनाओं का वर्णन ही नहीं हुआ है। किन्तु ये उपर्युक्त पांच शंकाएं इस प्रति के विषय में भी होती हैं। अतः इन्होंने इनका निम्न उत्तर दिया है।

चौहानों की उत्पत्ति के विषय मे प्रथम आक्षेप के उत्तर मे इनका कहना है कि बीकानेर वाली लघु प्रति मे मानिकराम चौहान की उत्पत्ति ब्रह्मा के यज्ञ कुण्ड से लिखी है—

ब्रह्मान जग्ग ऊपन्न भूर, मानिकराह चौहान सूर ॥

शर्मा जी के मत से ब्रह्मा के यज्ञ से चौहानों की उत्पत्ति अन्य ग्रन्थों मे भी इसी प्रकार वर्णित है। सुर्जन चरित और हम्मीर महाकाव्य मे भी इसी प्रकार है। रासो में अग्निकुण्ड से चौहानो की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन, शर्मा जी के अनुसार, रामायण महाभारत आदि पुराण ग्रंथों की कथाओं के अनुसार है। अत. इस आक्षेप में कोई विशेष बल नहीं रहता।

वंशावली विषयक दूसरे आक्षेप के विषय में शर्मा जी का कथन है कि लघु प्रति मे वशावली बहुत संक्षिप्त दी गई है, जो पृथ्वीराज विजय महाकाव्य की वंशावली से मिल जाती है, केवल दो तीन नामों के विषय

में भ्रम रह जाता है। इन नामों के विषय में शर्मा जी अनुमान से काम लेकर मिलान कर देते हैं।

तीसरी शका—पृथ्वीराज के अनंगपाल का नाती होने और दिल्ली का राज्य प्राप्त करने—के विषय में इनका समाधान है कि "संभवतः दिल्ली के अन्तिम तोमर राजा ने दिल्ली को सोमेश्वर के मौतेले भाई बीसलदेव को दहेज में देडाला हो और रासो के अनुलिपि कर्ताओं ने इस कथा में बीसलदेव के बदले सोमेश्वर का नाम लिख डाला हो। ललित विग्रहराज नाटक में बीसलदेव चतुर्थ और इन्द्रप्रस्थ के राजा की पुत्री के परस्पर प्रेम की कथा आई भी है।" किन्तु यह ग्रन्थ (ललित विग्रहराज) अधूरा मिलता है। अतः पूरी कथा का ज्ञान नहीं होता। इनका अनुमान है कि बीसलदेव ने मुसलमानों के साथ युद्ध करने को दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और दहेज में दिल्ली का राज्य प्राप्त किया।

विवाह विषयक आक्षेप लघु प्रति पर उतना नहीं होता। कारण, उसमें पृथ्वीराज के विवाह की एक ही घटना का वर्णन है। सलखपरमार की पुत्री इच्छिनी से विवाह का वर्णन हुआ है। सो शर्मा जी इस घटना को प्रक्षिप्त वाद की जोड़ी हुई मान लेते हैं, विशेष ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में।

संवतों के विषय में इनके मत से लघुप्रति के सम्वत् ऐतिहासिक सम्वतों से मिल जाते हैं।

सयोगिता स्वयंवर और गौरी की मृत्यु की घटनाओं के विषय में भी शर्मा जी ने उत्तर दिया है। उनका कहना है कि केवल हम्मीर महाकाव्य, रंभामजरी आदि में संयोगिता स्वयवर की घटना का वर्णन न होने से उसके अस्तितत्त्व को ही न मानना युक्ति-संगत नहीं। हम्मीर काव्य में, नागार्जुन, भदानक जाति चन्देल राजा परमर्दिदेव और चौलुक्य राजा भीमदेव और परमार राज धारावर्षादि से हुए ऐतिहासिक युद्धों का भी वर्णन नहीं हुआ। तो क्या ये ऐतिहासिक तथ्य नहीं रहे ? सं० १२६० के लिखे हुए जयचन्द-प्रबन्ध में पृथ्वीराज की मृत्यु पर जयचन्द के घी के दिये जलाने का वर्णन है। और रंभा मंजरी में तो जयचन्द विषयक वर्णन ही इतिहास-विरुद्ध

है। इसमें जयचन्द को इक्ष्वाकुवंशीय (सूर्यवंशी) लिखा है, जब कि उसके चन्द्रवंशी होने के प्रमाण मिलते हैं। जयचन्द के पिता का नाम मल्लदेव भी गलत लिखा गया है। उसका नाम विजयचन्द्र था, ऐसी ही अन्य असंगत बातें भी हैं। फिर जयचन्द के जीवन की अनेक प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन छोड़ दिया गया है। ऐसी दशा में संयोगिता-स्वयंवर की घटना भी छूट जाने से उसे अशुद्ध मानना उचित नहीं। अतः इन दोनों ही ग्रन्थों के आधार पर संयोगिता स्वयंवर की कथा को कल्पित नहीं माना जा सकता, इसके विपरीत पृथ्वीराज विजय में एक तिलोत्तमा नामक राज कुमारी के पृथ्वीराज विषयक प्रेम का वर्णन हुआ है। उसके और रासो की संयोगिता के प्रेम वर्णन में नाम के अतिरिक्त अन्य समानताएँ प्रायः सब मिलती हैं। पृथ्वीराज दोनों में बिना देखे ही प्रेमासक्त होता है। इससे पहिले रासो और पृथ्वीराज विजय दोनों में पृथ्वीराज के कई विवाहों का उल्लेख किया गया है। दोनों राजकुमारियां किसी गंगा-तटवर्ती प्रदेश की रहने वाली थीं। दोनों का ही इच्छा के विरुद्ध किसी अन्य पुरुष से विवाह होना स्थिर हुआ था। इससे यही व्यक्त होता है कि दोनों में केवल नाम-भेद है और अन्य सारी समानताएँ है। सुर्जन चरित में भी एक ऐसी ही कान्य कुब्ज वंश की राजकुमारी का वर्णन है, जिसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी अन्य से निश्चित हुआ था, किन्तु जो पृथ्वीराज का यश सुनकर उसमे अनुरक्त हो गई थी। उसे भी पृथ्वीराज संयोगिता के ढंग से ही महल से उड़ा ले आया था। इससे भी संयोगिता की ही ध्वनि निकलती है, नाम-भेद से। इसी प्रकार की आइन अकबरी नामक फ़ारसी इतिहास में भी कथा मिलती है। अतः उपर्युक्त युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर संयोगिता की घटना को ऐतिहासिक ही मानना चाहिये।

गजनी जाने और गौरी की मृत्यु होने की घटनाएं भी सुर्जन चरित में बिल्कुल इसी प्रकार की वर्णित हुई हैं, जैसे कि रासो में। रासो में पृथ्वीराज, चन्द और गौरी तीनों की मृत्यु गजनी में ही होनी लिखी है, किन्तु सुर्जन चरित्र में पृथ्वीराज के गजनी से लौट कर फिर राज्य करने

का वर्णन हुआ है। जैनियों के पुरातन प्रबन्ध संग्रह (सं० १४७१) में भी पृथ्वीराज का ऐसा ही जीवन वृत्त लिखा गया है। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर डा० दशरथ शर्मा पृथ्वीराज रासो को मूल रूप में प्रामाणिक मानते हैं।

इन समाधानों में से दो तीन में तो विशेष बल है और अतएव वे स्वीकार्य हो सकते हैं, किन्तु अन्यत्र तो शर्मा जी ने अधिकतया अनुमान, कल्पना और हठाकृष्टता से काम लिया है। उनके संयोगिता स्वयंवर, गजनी जाने और चौहानों की उत्पत्ति विषयक समाधान तो प्रबल हैं, मान्य हैं, किन्तु संवतों के विषय में, दिल्ली गोद जाकर राज्य प्राप्ति करने के विषय में और वंशावली के विषय में उनके समाधान पुष्ट प्रमाणों के आधार पर स्थित नहीं हैं। उनमें अधिकतया क्लिष्ट-कल्पना और खींचातानी से काम लिया गया है, जो विचारग्रह नहीं।

अथवा

पृथ्वीराज रासो की भाषा के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखिये।

उत्तर—रासो की भाषा के विषय में आचार्य श्री राम चन्द्र शुक्लजी की राय है कि"......वह बिल्कुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है।... ...कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक सांचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएं नये रूपों में मिलती हैं। पर कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिन्ह पुराने ढंग के हैं।"

आचार्य श्री शुक्ल जी की उपर्युक्त सम्मति सर्वथा सत्य है। रासो की भाषा वस्तुतः ऐसी है। उसमें अनेक भाषाओं का साम्य मिलता है। कहीं वह संस्कृत जैसी लगती है, कहीं प्राकृत या अपभ्रंश सी लगती है, कहीं ब्रजभाषा सी प्रतीत होती है और कहीं डिंगल सी। व्याकरण व्यवस्था भी अस्थिर है। शब्द भी उसमें अनेक भाषाओं के कवि ने प्रयुक्त किये हैं—जिनमें संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, ब्रजभाषा, पंजाबी, अर्बी, फारसी आदि के मिलते हैं। शब्द ही नहीं, व्याकरण के नियमों आदि का भी सम्मिश्रण है। अतएव

इस सम्मिश्रण या गडबड़घोटाले के कारण उसका अभी तक कोई शुद्ध रूप नहीं स्थिर हो पाया। चन्द ने अपने काव्य को षड्भाषा समन्वित कहा है। किन्तु यह समन्वय किस ढंग का है, कवि ने किसी नियम के आधीन होकर किया है, अथवा यथेच्छ अनियमित सम्मिश्रण किया है, यह कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। सम्मिश्रण के नाते एक ही पद्य में अनेक भाषाओं के रूप मिल जायेंगे। ऐसी दशा में रासो की भाषा क्या ठहरायी जाय ? षड्भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, व्रजभाषा, और पैशाची के नाम कुछ ऐतिहासिक गिनाते हैं। छठी भाषा के विषय में कोई निश्चय नहीं। संभवतः डिंगल या राजस्थानी हो। भिखारीदास के अनुसार षड्भाषाएं मागधी (पूर्वी-अवधी और विहारी) संस्कृत, अरबी, फारसी, व्रजभाषा और नागभाषा हैं। किन्तु इन सबके सम्मिश्रण में चन्द ने प्रधानता किसे दी है और उसका मुख्य मौलिक रूप क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ देखिये निम्न पक्तियों में चन्द ने मानो संस्कृत ही लिख दी है—

नमः संभवायं सरव्वाय वायं
नमो रुद्रपायं वरहाय सायं।
पसूपत्तये नित्तये मुग्गपाए
कपर्दी महादेव भीमं भवाए॥

अनुस्वारों की भरमार है, जो व्यर्थ हैं। साथ में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग है, जोकि प्राकृत या अपभ्रंश में नहीं होता। नीचे के अवतरण में प्राकृत और अपभ्रंश जैसा रूप मिलेगा—

उड चल्यो आप कासी समग्ग।
आयो सुगंगतट कज्ज जग्ग॥

सत अट्ठ खण्ड करि अंग अठिय ओमें सुअप्प वरमद्धि हठिय।
मंग्यो सुईस यहिं वर पसाय सत अद्धपुत्त अवतरन काय॥

२. हय हत्थि ढेत संखय न मग खग्ग मग्ग खूनी वहे।

३. छपी सेन सुरतान, मुट्ठि छुट्टिय चावद्दिसि।
मनुकपाट उद्घर्यो कूह फुट्टिय दिसि विद्दिसि।

मार मार सुपकिन्न, लिन्न चावण्ड उपारे ।
परे सेन सुरतान जाम इक्कह परिधारे ॥

यहाँ समग्ग, कज्ज, जग्ग, अट्ट, अप्प, मट्टि, अद्ध, पुत्त, हत्थि, फुट्टिय आदि प्राकृत अपभ्रंश के से रूप हैं । नीचे के पद्यांश की भाषा व्रजभाषा जैसी है-

सरस काव्य रचना करौं खल जन सुनि न हसंत ।
जैसे सिंधुर देखि मग स्वान स्वभाव भुसन्त ।

× × × ×

पूरन सकल विलास रस सरस पुत्र फलदान ।
अन्त होय सह गामिनी नेह नारि को मान ॥

कितनी सरल व्रजभाषा है ! नीचे के पद्यों में फारसी के कितने शब्द आए हैं, देखिये—

पांभट्टी महनङ्ग पान पुरसानी बब्बर ।
हबस पान हुज्जाब अब्ब आलम्म जासबर ।

× ×

मादल महल में बसे जाय । पिदमतगार समुसियत धाय ॥

भाषा पर राजस्थानी का विशेष प्रभाव है, जिससे इसे डिंगल मान लिया जाता है । संक्षेप से रासो की भाषा का कोई भी शुद्धरूप निश्चित नहीं दिखाई देता । इन अनेक भाषाओं के रासो में सम्मिश्रण के अतिरिक्त चन्द ने जान बूझ कर भी प्रचलित शब्दों को विकृत किया है, अनुप्रास के लिए और ओज एवं माधुर्य के लिए । इस कारण भी भाषा का रूप अनेकत्र विकृत मिलता है । इसी के साथ एक और कारण भी है, जिससे भाषा के विषय में कोई निश्चित आधार नहीं बनाया जा सकता । वह है कि रासो की भाषा में अत्यन्त प्राचीन भाषा का रूप भी मिलता है और १६ वीं १७ वीं शताब्दी की भाषा का भी । उसमें भाषा की संयोगात्मक प्रारम्भिक और वियोगात्मक नवीन दोनों दशाएँ मिलती हैं, जिसके कारण रासो का कोई काल नहीं निश्चित किया जा सकता । भाषा का यह विभेद भी उन लोगों के मत का मुख्य आधार बनता है जो यह मानते हैं कि पृथ्वीराज रासो भट्ट-भणन्त है, मौलिक ग्रन्थ नहीं । अतएव इस भाषा-विवाद के विषय में विभिन्न

विद्वानों के विविध समाधान हैं और इन्होंने रासो की भाषा के विषय में विविध धारणाएं बनाई हैं। मुख्य मत-भेद डिंगल पिंगल का है, क्योंकि अन्य भाषाओं के रूपों का सम्मिश्रण होने पर भी प्रमुखतया उसमें इन दोनों ही—डिंगल और पिंगल—का रूप मिलता है। नागरी प्रचारिणी सभा वाले वृहत् संस्करण की भाषा तो अधिकतया ब्रजभाषा सी है, विशेषतः कवित्तों और छप्पयों की भाषा। बीकानेर वाले लघु संस्करण की भाषा अपभ्रंश के अधिक निकट है। अन्य संस्करणों में डिंगल की विशेषता मिलती है। अतएव इन्हीं के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने अपने विभिन्न मत निश्चित किए हैं।

मि० ग्राउज ने सर्व प्रथम अपना मत प्रकट किया था कि पृथ्वीराज रासो की भाषा १६ वीं शताब्दी में बोली जाने वाली ब्रजभाषा है। इनके मत का आधार रासो की भाषा में मिलने वाली ब्रजभाषा की क्रियाएं, सज्ञाएं, कारक आदि हैं, इनके मत में रासो में वीरवर्णन के अधिक स्थल हैं, अतः कविने वहां वीरोचित उद्धत ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है, जिससे उस में अपभ्रंश और डिंगल का भ्रम होता है।

तासी ने लिखा है कि रासो की प्रारम्भिक रचना कन्नौजी बोली में हुई थी।

डा० ग्रियर्सन और डा० टेसीटोरी—जो कि दोनों राजस्थानी के विशेषज्ञ हैं—ने रासो की भाषा को पश्चिमीय हिन्दी (ब्रज का प्रारम्भिक-रूप) बताया है।

डा० दशरथ शर्मा आदि का मत है कि रासो मूलतः अपभ्रंश में लिखा गया था। उस पर राजस्थानी का विशेष प्रभाव पड़ा। इससे, वह पुरानी राजस्थानी लगती है। उनके मत का आधार बीकानेर वाली लघु संस्करण की प्रतिलिपि है। इन्होंने रासो के अनेक पद्यों का अपभ्रंश में अनुवाद करके दिखाया है कि रासो की भाषा और अपभ्रंश में अत्यन्त समानता है। लघुसंस्करण की प्रति की भाषा इनके मत में पुरानी राजस्थानी है, जो मौलिक अपभ्रंश का रूपान्तर है, जिसमें कि रासो सर्व प्रथम लिखा गया था। अपने मत की पुष्टि में राजस्थान में प्रचलित

जनश्रुति का भी आधार लिया है, जिसके अनुसार रासो डिंगल का ही काव्य माना जाता है।

श्री नरोत्तम स्वामी ने उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए बताया है कि जनश्रुति के आधार पर तो रासो पिंगल का ही काव्य माना जाता है डिंगल का नहीं। पिंगल व्रज भाषा के ही पुराने रूप को कहा जाता है जो कि मुख्यतः साहित्य में स्वीकृत था। पिंगल का साधारण अर्थ काव्य-भाषा लिया जाता है।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने रासो की भाषा को मुख्यतः डिंगल माना है। किन्तु उनके मत में यह डिंगल का विशुद्ध रूप नहीं है। उसमें अन्य भाषाओं की भी विशेषताएं आ गई हैं। तो भी वे रासो की भाषा में प्रमुख विशेषता डिंगल की ही पाते हैं। अतएव उनके मत में पृथ्वीराज डिंगल का ही काव्य है।

एक तृतीय मत में रासो की भाषा न शुद्ध रूप में राजस्थानी या डिंगल ही है और न व्रजभाषा ही। वह तो पिंगल मानी जाती है। पिंगल सामान्य काव्य भाषा का ही नाम है, जिसमें मुख्यतः साहित्य-रचना होती थी, उस समय मे। ऐतिहासिकों का मत है कि व्रज भाषा अपने प्रारम्भिक शौरसेनी नागर अपभ्रंश से उद्गत रूप में ही साहित्य-भाषा स्वीकृत हो चुकी थी, जिसे पिंगल कहा जाता था। वह भाषा पूर्णतः व्रज भाषा तो नहीं है किन्तु व्रजभाषा की मुख्य विशेषता लिए उसका प्रारम्भिक रूप है, जिसमें अन्य भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है। सम्मिश्रण के पक्ष में दो कारण दिये जाते हैं—चन्द ने जान बूझकर भी काव्य सौन्दर्य के लिए एवं अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए, षड भाषाओं का सम्मिश्रण किया है। और, विभिन्न कालों में हुए रासो के विविध-संस्करणों के समय में चारणों और भाटों द्वारा उसकी भाषा मे परिवर्तन भी किये जाते रहे। इस मत में पृथ्वीराज रासो की भाषा पिंगल है, जो सर्व-सम्मत शिष्ट काव्य भाषा का ही नाम है, जिसकी प्रमुख विशेषता व्रजभाषा के प्रारम्भिक (शौरसेनी अपभ्रंश से उद्गत) रूप की है और जिसमें अन्य भाषाओं का भी सम्मिश्रण यथेच्छ हुआ है। अन्य भाषाओं में राजस्थानी भी है, जिसका

विशेष सम्मिश्रण रासो की भाषा में हुआ है, क्योंकि उनके वर्ण्य विषयों का क्षेत्र प्रमुखतया राजस्थान ही था। वीर वर्णन के स्थलों पर ओज के कारण भी चन्द ने डिंगल के रूप का ग्रहण किया है। पश्चिमीय विद्वान् जार्ज ग्रियर्सन डा० टेसी टोरी आदि के मत भी इसी पक्ष के हैं।

वस्तुत: तो निश्चित रूप में अभी कोई सा भी मत सर्व-स्वीकृत नहीं हुआ है। तो भी अन्तिम मत अधिक औचित्यपूर्ण और व्यापक है।

३. निम्न लिखित में से किन्हीं तीन पर टिप्पणी लिखिए—
डिंगल, वयण सगाइ, छन्दकाल, पपतूट, सोरठियो दूहो।

उत्तर—डिंगल राजस्थानी भाषा के साहित्यिक रूप का नाम है, जिसमें कि भाटों और चारणों ने वीर रस के फुटकल गीत दोहे लिखे। इसका मुख्य रूप या ढाँचा राजस्थानी का होते हुए भी इसमें और राजस्थानी में भेद है। डिंगल राजस्थानी का काव्य-भाषा का रूप है, जिसमें भाट चारण आदि ने प्रभूत काव्य रचना की। अतएव स्वभावतः डिंगल अधिक परिमार्जित, अधिक स्थिर और अधिक प्रौढ़ एवं सौन्दर्य सम्पन्न है। कवियों ने डिंगल में द्वित्व वर्णों का विशेष प्रयोग किया है। इसके लिए उन्होंने शब्दों को यथेच्छ तोड़ मरोड़ कर लिखा है। प्रत्येक कवि ने शब्द को अपने अपने ढंग में तोड़ मरोड़ कर लिखा है—किसी ने एक शब्द को कैसे तोड़ा है और किसी ने कैसे। साधारण राजस्थानी में ऐसे द्वित्व-बहुल शब्दों का इतना प्रयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त डिंगल में कवि लोग पिंगल की विशेषताओं का भी सम्मिश्रण कर लेते थे। उसमें व्रजभाषा का विशेष प्रभाव रहता था। व्रज-भाषा के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी उसमें पर्याप्त रहते थे। अलंकार आदि के निर्वाह के कारण भी उसका रूप कुछ भिन्न हो जाता है। इस प्रकार राजस्थानी और डिंगल दोनों मूलतः एक होती हुई भी कालान्तर में इन उपर्युक्त कारणों से, डिंगल राजस्थानी से पृथक् होती गई और इतनी पृथक् होती गई कि वह साधारणतया दुर्बोध होगई। अतएव अब डिंगल का राजस्थानी से पृथक् रूप में ग्रहण होता है।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त के विषय में भी भिन्न २ मत हैं। एकमत डिंगल शब्द का अर्थ 'अनियमित अथवा गँवारू' लेता है।

इनका कहना है कि पिंगल की तुलनामें डिंगल अव्यवस्थित और ग्रामीण थी, अतः इसका यह नाम पड़ा। दूसरा मत डिंगल का राजस्थानी शब्द 'डगल' से निकास मानता है। डगल का अर्थ ढेला होता है। पिंगल की दृष्टि में डिंगल क्योंकि ढेला सी अनघडन्त (अविकसित) थी, अतः उसका यह नाम पड़ा। तीसरा मत डिंगल में डकार की बहुतायत बताकर सिद्ध करता है कि डकार-बहुलता का सूचक ही उसका नाम डिंगल पड़ा। चौथा मत डिंगल का अर्थ 'गले से निकाला डमरु का शब्द' लेता है। इस मत में, डिंगल भाषा को बोलते समय में गले से ऐसी डिम् डिम् की आवाज होती है, इसलिये इसी विशेषता का सूचक डिंगल नाम पड़ा। पाँचवां मत पिंगल के अनुकरण में गढ़ा हुआ डिंगल शब्द मानता है। इनका मत है कि पिंगल की शैली में ही भाटों चारणों ने अपनी साहित्यिक राजस्थानी का नाम करण डिंगल किया था। छठा मत डिङ्गल की उत्पत्ति डीङ्गल से मानता है। इस मत मे डिंगल में राजाश्रित चारण लोग अपने अपने राजागणों के शौर्य वीर्य की डींग हांका करते थे, इसलिये इसका नाम डिंगल या डींगल पड़ा। राजस्थान मे, इनके कथनानुसार, डिंगल का उच्चारण भाट लोग अब भी डींगल के रूप में ही करते हैं।

इनमें अन्तिम दो मत विशेष मान्य हैं। पाँचवें के पक्ष में आचार्य श्यामसुन्दरदास, डा० दशरथ शर्मा आदि विद्वान् हैं। छठे पक्ष में राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० किशोरसिंह बारहठ और डिंगल में वीर रस के लेखक मोतीलाल मैनेरिया आदि हैं।

वीर गाथा काल के प्रारम्भ से ही डिंगल भाटों चारणों की काव्य भाषा बन गई थी। तभी से लेकर उसमें प्रभूत और सुन्दर काव्य-रचना होती आई है। प्रत्युत, मैनेरिया आदि कुछ एक विद्वानों के मत से तो डिंगल ही आरम्भ से काव्य-भाषा थी, हिन्दी बोल चाल की भाषा थी। वे हिन्दी और अपभ्रंश के बीच की कड़ी इसी को बताते हैं। किन्तु यह मत सर्व-मान्य नहीं है। अन्य विद्वान् पिंगल की सत्ता डिंगल से पहिले ही स्वीकार करते हैं। डिंगल का प्रभाव तो राजपूत काल के साथ ही बढ़ता है, जब मुसलमानों के राज-

स्थान पर हमले होने लगते हैं। कुछ भी हो डिंगल भाषा-सौन्दर्य सौष्ठव से सम्पन्न हैं। उसमें वीर रस की काव्य-सामग्री भी अनुपम है।

वयण सगाई—डिंगल का एक अलंकार है, जिसका प्रयोग डिंगल के कवियों ने अत्यधिक प्रयोग किया है। यह शब्दालंकार है और अनुप्रास का ही एक रूपान्तर है। इसके कई भेद हैं, जिनमें मुख्य यह है कि काव्य में, उसके प्रत्येक पद या चरण में, पद के आदि और अन्त के शब्दों का प्रारम्भ एक ही अक्षर से होना चाहिये। जैसे—

ऊंचे गिरवर आग, जलती सो देखै जग।
पण जलती निजपाउ, रती न सूझे राजिया।

प्रथम पद के आदि अन्त के शब्दों का प्रारम्भ स्वर से हुआ है। दूसरे पद के आदि अन्त के शब्दों का प्रारम्भ ज से हुआ है। इस अलंकार से काव्य में चमत्कार तो आ जाता है, किन्तु कवि को कभी कभी इसका निर्वाह करने में भाव को बिगाड देना पडता है। तो भी इसका प्रयोग डिंगल के प्राय: सभी कवियों ने किया है। एक कविराजा सूर्यमल्ल कवि ऐसे हुए हैं मैंनेरियाजी के मत से, जिन्होंने इस परम्परागत काव्य रीति का सर्व-प्रथम भंग किया। नहीं तो, डिंगल काव्य में इसका प्रयोग अनिवार्य सा होगया था।

छवकाल—डिंगल में एक काव्य-दोष माना जाता है। डिंगल में अन्य भाषाओं के मिला देने से यह दोप माना जाता है। किन्तु अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण डिंगल काव्यों में प्राय: सर्वत्र पाया जाता है। अत: यह य द दोप है तो इससे कोई भी डिंगल का कवि अछूता नहीं होगा। जैसे—

मूसानै मजार, हित कर बैठा हेकठा।
सब जाने ससार, रस नह रहसी राजिया॥

यहां डिंगल के साथ संस्कृत और खडी बोलीके शब्दों का ठेठ तत्सम रूप में ही प्रयोग हुआ है।

पषतूट—एक प्रकार का यमक का ही भेद है। इसे शब्दानुप्रास कहा गया है। इस योजना को ही पकी जोड या शब्द-मैत्री भी कहा गया है। शब्दानुप्रास समन्वित भाषा को पक्की जोड़ और तद् विरहित को कच्चीजोड़ कहा गया है। यह योजना पहिले चरण के अन्त और दूसरे के आदि के

शब्दों में होनी चाहिए। इसी प्रकार तीसरे चरण के अन्त में और चौथे के आदि में यह योजना होनी चाहिये। तभी इसका प्रयोग प्रशस्य है। यदि कवि ने प्रथम के दो चरणों में यह शब्दानुप्रास योजना (पक्की जोड़) कर दी और बाद के दो में नहीं की तो वह काव्य-दोष हो जाता है। इसी को 'पपतूट' दोष कहा गया है। जैसे—

तीरशेलां छुरां, झोंक तरवारियां।—कच्ची जोड़।
तहक नीषाण गिरवाण हरवातन।—पक्की जोड़।

द्वितीय मे स्थूलाक्षर पदों का अनुप्रास या मैत्री है। इसका प्रयोग कवि यदि काव्य के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में करता है, तो ठीक है, नहीं तो 'पपतूट' दोष होता है।

सोरठियो दूहो—डिंगल का विशेष प्रयुक्त छन्द है। डिंगल के कवियों ने इसका बहुत रुचि के साथ प्रयोग किया है। श्री मैनेरिया के मत से "राजस्थान का प्रिय राग सोरठ इस छन्द में बहुत अच्छा खिलता है, इसलिए इसका नाम सोरठियो दूहो ही पड़ा है।" अन्यों का मत है कि इस का प्रारंभ सोरठ (सौराष्ट्र) देश मे हुआ था तो इसका नाम यह पड़ा।

हिन्दी के दोहा को ही दूहो कहा गया है। डिंगल के कवियों ने हिन्दी के दोहा और सोरठा छन्द को मिलाकर चार प्रकार के दोहे कल्पित किये है, उन्हीं में से एक भेद यह सोरठियो दूहो है। सोरठियो दूहो वस्तुत. हिन्दी के सोरठे का ही रूप है। इसके विषम चरणों मे ११-११ और सम चरणों में १३—१३ मात्राएँ होती हैं, जो कि सोरठे का ही लक्षण है। इसका प्रयोग श्रृंगार और करुण की कोमल रचना और वीर की ओजपूर्ण रचना दोनों मे सुन्दर माना गया है। उदाहरण—

अकबर समँद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाडो तिण माह, पोयण फूल प्रताप सीं॥

अथवा

जोधराज की वर्णन-शैली तथा भाषा के सम्बन्ध में विस्तार से लिखिये।

उत्तर—जोधराज ने वीर गाथा काल की छप्पय पद्धति में प्रसिद्ध

ऐतिहासिक वीर हम्मीर देव के चरित्र का वर्णन किया है । हम्मीर ने अलाउद्दीन को कई वार पराजित किया था । कवि ने उसी का वर्णन किया है । प्रवन्ध काव्य की दृष्टि से भी हम्मीर रासो सफल माना जाता है । प्रवन्ध काव्य के अनुरूप ही कवि ने वर्णन-शैली अपनाई है, जो स्तुत्य है । वीच मे कथाओं और प्रसंगान्तरों की भी कल्पना कवि ने की है । प्रवन्ध-काव्य के उपयुक्त चरित्र चित्रण भी पात्रों का सुन्दर ढंग से किया है । विषयों का यथानुरूप वर्णन किया है । शृंगार, वीर और वीभत्स के वर्णन मे कवि की कवित्व शक्ति अच्छी तरह प्रस्फुटित हुई हैं । वर्णनों मे शिथिलता नहीं है, प्रौढता और स्वाभाविकता है । ग्रन्थ में अनेक ऐसे स्थल हैं, जो विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं । वीर रस का हम्मीर की उक्तियो से वडा सुन्दर अभिव्यंजन होता है । ऐसे ही वीर पत्नी के उचित भाव हम्मीर की पत्नी से कहलवाये गये हैं । सभी वर्णन स्वाभाविक ओजपूर्ण भावानुरूप शैली में हैं । वीर-वर्णन में युद्ध का पूरा चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है, उसके किसी रूप को छोड़ा नहीं गया है । युद्ध की मार काट से लेकर भगदड, आहतों की दुर्दशा, रक्त की नदी तुमुल घोष, भयंकर चीत्कार आदि कुछ भी नहीं छोडा गया है । शब्दों की तड़क भड़क भी विशेष नहीं हैं, जैसी कि वीर गाथा काल के कवियों मे मिलती है । वीर वर्णन में ओज के लिए द्वित्व का प्रयोग इन्होंने भी किया है। प्राचीन वीर वर्णन की परम्परा के निर्वाहार्थ भी इन्होंने द्वित्व वर्णों का प्रयोग किया । इनकी वर्णन-शैली एवं शक्ति के विषय में शुक्ल जी ने ये विचार व्यक्त किये हैं, "हम्मीर रासो की कविता वड़ी ओजस्विनी है । घटनाओं का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार से हुआ है ।" इनकी 'तिरिया तेल, हम्मीर हठ चढ़ै न दूजी वार " वाली उक्ति सर्व प्रसिद्ध है । हम्मीर की निम्न उक्ति देखिये कैसी जोरदार है । हम्मीर अलाउद्दीन के दूत को जवाव दे रहा है—

पच्छिम सूरज उग्गवै, उलटि गंग वह नीर ।
कहो दूत पतिसाह सों हठ न तजै हम्मीर ॥

× × ×

नहीं तजूं संख को प्रण करिव, मरन धरम छत्रिन तनों ।
मन है विचित्र महिमा तनो सत्य वचन मुख ते भनों ॥

अन्य देखिये, कैसी जोरदार उक्ति है—

हठ तै राव हम्मीर कौ औ रावण की टेक ।
सत राजा हरिचन्द कौ, अर्जुन बाण अनेक ॥

× × × × × ×

गही टेक छाडि नहीं, जीभ चोंच जरि जाय ।
मीठो कहा अँगार कौ ताहि चकोर चुगाय ॥

युद्ध वर्णन का एक नमूना—

तहा तीस हज्जार निस्साण वज्जैं ।
सुतो घोर सोरं सुनैं मेघ लज्जैं ॥
सत्ताइस लक्खं महावीर थके, टरे नाहिं जंगं भये ताम हंके ।
परे ओजनं अट्ठ औरं दोय से फौजं, कटे थंकयत्थं हटैं नाहिं रोके ॥
चढं उव्वटं वाट थट्टे सुहल्ले ।
मनो सागरं छंडि वेला उगल्ले ॥

इनकी भाषा ब्रज भाषा है, जिसमें साहित्यिकता और बोल-चाल दोनों के गुण हैं। बीच बीच में, जैसे कि ऊपर के युद्ध वर्णन के पद्य में, वह डिंगल सी द्वित्ववर्ण वाली और अनुस्वारान्त हो जाती है और कोमल शृंगार आदि के वर्णन में वह कोमल हो जाती है। वह भाव और रस के अनुकूल होकर चली है। उसमें अलकारों के चमत्कार के साथ स्वाभाविक चमत्कार और प्रवाह भी है। भाषा के विषय मे आचार्य शुक्ल जी का मत है, 'प्राचीन वीर काल के अन्तिम राजपूत वीर का चरित जिस रूप और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिये था, उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने मे सफल हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।" जोधराज को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अतएव वह विषयानुरूप ओज और माधुर्य लेकर चली है। अधिकाश में प्रसाद-गुण-सम्पन्न भी है। जो स्वाभाविकता कवि के वीर रस के वर्णन में, है वही उसकी भाषा में भी है। ऋतु वर्णन का एक वर्णन देखिये—

बहै यहु भांति त्रिविद्ध समीर
रहैं नहिं धीरज होत अधीर॥
लता तरु भेंटत सकुल भूरि।
भये तृण गुल्म हरे जड़ मूर॥

४. "विहारी जैसे अर्थ पूर्ण, भाव दर्शक, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने नहीं कहे। उन्होंने प्रकृति तथा मानव स्वभाव का जो वर्णन किया है, वह बहुत ही श्रेष्ठ मौलिक तथा चित्ताकर्षक है।" इस उक्ति का समर्थन युक्ति एवं उदाहरण द्वारा कीजिये।

उत्तर—विहारी के दोहों के विषय में ऊपर की उक्ति का प्रत्येक शब्द सार्थक है। वस्तुत: विहारी के दोहों को अन्य किसी कवि के दोहे नहीं पहुँचते। दोहे जैसे छोटे छन्द में उत्तम कोटि का मुक्तक काव्य लिखना, विशेष कवि-कर्म द्वारा ही साध्य है। विहारी महा कवि थे—रस-सिद्ध। और, यह महाकवि की उपाधि उन्हें अपने इन सात सौ दोहों के आधार पर मिली थी। विहारी के एक ही दोहे ने महाराजा जयसिंह को प्रेम-प्रासाद से बाहर निकाल लिया था। जयसिंह से, इसके पश्चात्, विहारी को प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा मिली थी, जो कि दोहे देखते हुए एक बहुत स्वल्प सा मूल्य था। साहित्यिक समाज में इन दोहों का प्रारम्भ से अत्यन्त मान और प्रचार रहा है। प्रचार के लिहाज से तुलसी और सूर के काव्यों से उतर कर विहारी के दोहों ही का स्थान माना जाता है, साहित्य समाज में। विहारी के दोहों का महत्व इस वर्णन से अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है।

विहारी मुक्तक कवि थे और मुक्तक काव्य उन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द में लिखे हैं, जो अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु जिसमें विहारी को सर्वाधिक सफलता मिली है। मुक्तक काव्य के रचियता के पास स्वाभाविक, सुगठित और अलंकृत भाषा में अत्यन्त संक्षेप से, गम्भीर और विस्तृत अर्थ के प्रतिपादन और गहन एवं सूक्ष्म भावों के चित्रण की योग्यता या शक्ति जितनी भी अधिक होगी, उतनी ही उसे अपने कार्य में सफलता मिलेगी। उसे भाषा और काव्य-कला पर तो पूरा अधिकार होना ही चाहिए, साथ ही उसमें भावदर्शन और उसके वर्णन की महान् सामर्थ्य होनी चाहिये। तभी वह एक छन्द में पूरे

भाव या रस का चित्र समुपस्थित कर सकता है। बिहारी पूर्णतः सफल मुक्तक कवि हैं। उनके दोहे मुक्तक काव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन दोहों में बिहारी ने बड़ी सुललित सुगठित और संचित भाषा में बड़े गम्भीर अर्थों का प्रतिपादन किया है, भावों के विशद चित्र उपस्थित किये हैं। दोहों की रचना, गठन और सुन्दरता भी अनुपम बन पड़ी हैं। बिहारी के दोहे में कभी बन्ध-शैथिल्य नहीं मिलेगा, न उनमें कोई व्यर्थ—भरती का—शब्द ही मिलेगा। साथ ही अलंकार चमत्कार भी उनमें विशेष रूप में आता है। एक एक दोहे में तीन तीन चार चार अलंकार आये हैं और स्वाभाविक ढंग में आये हैं, भाव पर अधिकार जमाते हुए नहीं। बिहारी ने काव्य के भाव या कला, किसी भी पक्ष को निर्बल नहीं रखा है। बिहारी ने दोनों में ही अद्भुत सफलता प्राप्त की है। अर्थ और भाव के गांभीर्य और वैशद्य के साथ दोहों में कला का गाम्भीर्य और वैशद्य भी पूर्णतया उपलब्ध होता है। बिहारी की संक्षेपतः गम्भीर अर्थों या भावों की अभिव्यंजना की शक्ति को लक्ष्य करके ही उनके दोहों के विषय में निम्न उक्ति कही गई है—

सतसैया के दोहरे अरु नावक के तीर।
देखन मे छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

एक अन्य दोहे में, बिहारी के दोहे के अर्थ की तुलना बाजीगर से की गई है कि विशाल अर्थ छोटे से दोहे में से ऐसे निकल आता है, जैसे विशाल-काय बाजीगर छोटे से पिटारे में छुपकर फिर निकल आता है। अर्थ-पूर्णता या अर्थ-गम्भीरता के देखिये कैसे अच्छे उदाहरण हैं, नीचे के दोहे—

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रतिरंग।
अनबूडे, बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग॥

एक छोटे से स्थल में कितना विस्तृत अर्थ बिठाया गया है! दोहे की रचना या गठन कितनी सुगठित है! एक भी शब्द इधर उधर नहीं किया जा सकता। अलंकार भी कितने हैं—तुल्य योगिता, विरोधा भास, अनुप्रास और यमक! और भी—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति!

कितने रचना कौशल और अपनी संकेतमय अभिव्यंजना शक्ति के बल से कवि ने काम लिया है ! प्रेम के जुड़ने का कैसा विचित्र वर्णन किया है ! एक भी शब्द अनर्थक या भर्ती का नहीं है । गठन कहीं भी ढीली नहीं । अनुप्रास और असंगति की सुन्दर संसृष्टि है । कर्मजाल के बन्धन और उससे छूटने के प्राणी के प्रयत्न का देखिये कैसे संक्षेप से विशद वर्णन किया है—

को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ?
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों अरुझत जात ॥

ऐसे ही—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ?
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥

इस पद्य में ग्रीष्म का कैसा स्वाभाविक विशद वर्णन हुआ है ! दोहे में एक भी शब्द निरर्थक नहीं, तभी इतने गम्भीर और विशद अर्थ की अभिव्यंजना हुई है। शब्द दोहे में नगीने से जड़े हुए हैं, अनुप्रास यमक और प्रश्नोत्तर अलंकारों का चमत्कार भी यथोचित है ।

इस गम्भीर अर्थ—प्रतिपादन के साथ बिहारी में भाव-चित्रण की भी अद्भुत सामर्थ्य और कुशलता है । बिहारी ने सैकड़ों सूक्ष्म, गहन और विविध भावों के भी सुन्दर चित्र उतारे हैं । बिहारी के दोहे भावों का पूरा—विशद—चित्र उपस्थित कर देते हैं- जिससे भाव का प्रत्यक्ष दर्शन होता है । बिहारी ने अधिकतर शृंगार—योग और वियोग—की ही भावनाओं और अनुभूतियों के चित्र उतारे हैं । देखिये निम्न दोहे में किसी प्रेमासक्ता का कैसा स्पष्ट चित्र है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय ॥

आसक्ति का कितना विशद दर्शन होता है !

निम्न पद्य में मिलन का कैसा स्पष्ट और मूर्तिमान वर्णन है—

पति रति की बतियां कही, सखी लखी मुसकाय ।
कै कै सबै टला टली, अली चलीं सुख पाय ॥

और भी—

सयही त्यों समुहाति छिनु, चलति सयनि दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कियलनुमां लौं डीठि॥

नायिका की नजर घूम फिर कर फिर नायक पर ही आकर ठहरती है अनुरक्ति की सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अभिव्यंजना है। इसी प्रकार बिहारी ने प्रेम की अनेक दशाओं और सूक्ष्म भावनाओं का विशद चित्रण किया है। भाव मूर्तिमान् होकर दर्शन देते है। हिंडोले पर झूलते नायक नायिका की रति-क्रीड़ा का चित्र—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीचहीं, करी खरी रस लूटि॥

नायिका झूले से कूदी। नायक ने बीच में ही पकड़ कर, रस लूट कर फिर जमीन पर खड़ी की। अलंकार तो सभी दोहों में अनेक मिलेंगे। नायिका कैसे रसमय ढंग में अपने मन के प्रेम-भाव का व्यजंन करके गई है—

त्रिवली, नाभि दिखाइ कै, सिर ढकि, सकुचि समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली विधि जाहि॥

देखिये डाह का कैसा विशद अभिव्यंजन है—

गहकि गांसु औरे गहे रहे अध-कहे बैन।
देखि खिसौंहे पिउ नयन किए रिसौंहे नैन॥

देखिये पतिगृह गमन की चर्चा पर नायिका कैसे मन ही मन में प्रसन्न हो रही है, यद्यपि ऊपर से वह अपनी प्रसन्नता को छुपा रही है—

चाले की बातैं चली सुनत सखिन कै टोल।
गोएँ हूं लोचन हँसत बिहँसत जात कपोल॥

मानव प्रकृति या मानव स्वभाव के साथ कवि ने प्रकृति के भी विविध रूपों के चित्र दोहों में बनाये हैं। ऊपर "कहलाने एकत बसत" आदि दोहा उसका सुन्दर उदाहरण है। और भी लीजिये—

आवत जात न, जानिये, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जमाई लौं घट्यौ, खरो पूस-दिन-मान॥

पूस के महीने के दिनमान का घर-जमाई की उपमा द्वारा कैसा स्वाभाविक

वर्णन किया है! जेठ की दुपहरी की तप्तता का वर्णन देखिये—

बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन-मांह।
निरखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह॥

वर्षा के बाद शरत् का वर्णन—

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग सरद सूर नर-नाह॥

विहारी के प्राय: समस्त ही दोहे इसी प्रकार के चमत्कार-पूर्ण हैं, जिनमें उपर्युक्त समस्त गुण मिलते हैं। ऊपर आगत प्रश्न की उक्ति में बताई विशेषताएँ किसी भी उत्कृष्ट काव्य के गुण होते हैं। विहारी के दोहों में वे सब-अटूट मात्रा में विद्यमान हैं। अतएव विहारी के दोहों का इतना मान हुआ है कि उनके भावों का प्रकाश करने को आज तक सतसई की पचासों टीकाएँ बन चुकी हैं।

अथवा

प्रश्न—'सरस अनूप रस रूप यामें धुनि है' को ध्यान में रख कर सेनापति के काव्य संग्रह के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करिये।

उत्तर—सेना पति ने प्रश्न संकेतित पद्य में अपनी कविता की प्रशंसा की है एवं इसे रस ध्वनि गुण, अलंकार आदि से युक्त कहा है। यह यद्यपि सेना पति की गर्वोक्ति सी है, किन्तु सत्य है। उनकी कविता में उपर्युक्त काव्य गत विशेषताएँ पूर्णतया उपलब्ध होती हैं। श्री. शुक्लजी के मत में सेनापति, "अपने समय के बड़े भावुक और निपुण कवि थे। ···· इनकी कविता बहुत ही मर्म-स्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी, वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की भी पूरी निपुणता थी।" वस्तुत:, सेनापति उच्चकोटि के निपुण कवि थे। काव्य के भाव पक्ष के साथ उसका कला पक्ष भी इनको पूर्ण सिद्ध था। अर्थ-गांभीर्य, भाव प्रवणता, भाव विशदता, रचना कौशल और अलंकार-योजना आदि जो कि उत्तम काव्य के गुण होते हैं, सब सेनापति के काव्य में पूर्णतया उपलब्ध होते हैं, वर्णन, चित्रण और नियोजन की कवि में अद्भुत सामर्थ्य है। अत: कवि की अपनी कविता के विषय में कही हुई "सरस अनूप" ·· आदि गर्वोक्ति उसके विषय में अच्छी फबती है।

इनके दो ग्रन्थों के नाम लिये जाते हैं—काव्य-कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। इनमें से केवल कवित्त-रत्नाकर मिलता है। इसमें पांच तरंगें या प्रकरण हैं। पहिली तरंग में श्लेष अलंकार का प्रयोग और वर्णन है। दूसरी में शृंगार का वर्णन हुआ है। तीसरी में ऋतुओं का वर्णन है। चौथी में रामायण का वर्णन है। पांचवीं में ज्ञान वैराग्य और जगत् का वर्णन है। कवि ने प्रधानतया कवित्त और छप्पय में रचना की है।

सेनापति का काल भक्ति-काल है, किन्तु इनमें आगे के रीति-काल का भी पूर्वाभास मिलता है। इन पर काव्य की रीति-परम्परा का भी विशेष प्रभाव पड़ा है। भाव के साथ ही कला-चमत्कार भी इनके काव्य में विशेष रूप से आया है। सेनापति सजीव और सामर्थ्यवती कल्पना के भावुक कवि थे। इन्होंने जहाँ. रस, भाव आदि का ध्वनिमय वर्णन किया है, विविध रसों भावों आदिके मधुर चित्र उतारे हैं, वहाँ रीति-परम्परा से प्रभावित हो, श्लेष यमक और चित्र अलंकारों और षड् ऋतुओं का वर्णन भी किया है। भाषा पर इनका पूर्ण प्रभुत्व था। इनकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत फारसी, खड़ी बोली, आदि के भी शब्द यत्र तत्र मिले हुए हैं। इस प्रकार रस भाव आदि के सौन्दर्य के साथ कवि ने कला सौन्दर्य और भाषा सौन्दर्य का भी समन्वय करके अनुपम काव्य रचनाएं उपस्थित की हैं, जो मुक्तक श्रेणी की हैं। कवि ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों का रसमय और आकर्षक वर्णन किया है। रामायण वर्णन में वीर वर्णन भी हुआ है, किन्तु शृंगार की अपेक्षा वह कम है। रस वर्णन में, कला चमत्कार की ओर विशेष प्रयत्नशील होते हुए भी कवि ने अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। देखिये नायिका के नेत्रों का कैसा स्वाभाविक चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है—

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नैक न कमल उपमा कौ नियरात है।
नीके, अनियारे, अति चपल, ढरारे, प्यारे,
ज्यौं ज्यौं मैं निहारे त्यौं त्यौं खरौ ललचात है।
सेनापति सुधा से कटाछनि बरसि ज्यावैं;
जिन कौ निरखि हियौ हरषि सिरात है।

कान लौं विसाल, काम भूप के रसाल वाल,
तेरे दृग देखे मेरौ मन न अघात है ॥

और भी—

चित चुभी आनि, मुसकानि मन भावन की,
मानि कुल कानि रैन-दिन मरियत हैं।
भूलि गयौ गेह सेनापति अति वाढ्यो नेह,
चैन मैं न देह मैन वस परियत है।
लोग उतपाती कानाबाती हैं करत घाती,
जब गली वाकी नैंकु पाउं धरियत है।
एक संग ताकी चरचा चलावैं कौन,
आंखि भरि देखिबे की साध मरियत है ॥

रामचरित वर्णन का एक वीर रस का पद्य लीजिये, कवि को शृंगार और वीर दोनों के वर्णन में कमाल हासिल है—

बालि कौ सपूत कपि कुल पुरहूत,
रघुबीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्ध मद गाढ़ो पांव रोपि भयो ठाढ़ो, सेना-
पति बल वाढ़ो रामचन्द्र भुव पाल को।
कच्छप कहलि रह्यो, कुण्डली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चक चाल को।
पांव के धरत अति भार के परत भयो,
एक ही परत मिलि सपत पताल को ॥

एक ऋतु वर्णन का भी नमूना देखिये—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय के।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूं भांति,
आते हैं पहार मानो काजर के ढोय के।
घन सों गगन छप्यो तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।

इनके दो ग्रन्थों के नाम लिये जाते हैं—काव्य-कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। इनमें से केवल कवित्त-रत्नाकर मिलता है। इसमें पांच तरंगें या प्रकरण हैं। पहिली तरंग में श्लेष अलंकार का प्रयोग और वर्णन है। दूसरी में शृंगार का वर्णन हुआ है। तीसरी में ऋतुओं का वर्णन है। चौथी में रामायण का वर्णन है। पांचवीं में ज्ञान वैराग्य और जगत् का वर्णन है। कवि ने प्रधानतया कवित्त और छप्पय में रचना की है।

सेनापति का काल भक्ति-काल है, किन्तु इनमें आगे के रीति-काल का भी पूर्वाभास मिलता है। इन पर काव्य की रीति-परम्परा का भी विशेष प्रभाव पड़ा है। भाव के साथ ही कला-चमत्कार भी इनके काव्य में विशेष रूप से आया है। सेनापति सजीव और सामर्थ्यवती कल्पना के भावुक कवि थे। इन्होंने जहाँ, रस, भाव आदि का ध्वनिमय वर्णन किया है, विविध रसों भावों आदिके मधुर चित्र उतारे हैं, वहाँ रीति-परम्परा से प्रभावित हो, श्लेष यमक और चित्र अलंकारों और षड् ऋतुओं का वर्णन भी किया है। भाषा पर इनका पूर्ण प्रभुत्व था। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत फारसी, खड़ी बोली, आदि के भी शब्द यत्र तत्र मिले हुए हैं। इस प्रकार रस भाव आदि के सौन्दर्य के साथ कवि ने कला सौन्दर्य और भाषा सौन्दर्य का भी समन्वय करके अनुपम काव्य रचनाएं उपस्थित की हैं, जो मुक्तक श्रेणी की हैं। कवि ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों का रसमय और आकर्षक वर्णन किया है। रामायण वर्णन में वीर वर्णन भी हुआ है, किन्तु शृंगार की अपेक्षा वह कम है। रस वर्णन में, कला चमत्कार की ओर विशेष प्रयत्नशील होते हुए भी कवि ने अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। देखिये नायिका के नेत्रों का कैसा स्वाभाविक चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है—

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नैक न कमल उपमा कौ नियरात है।
नीके, अनियारे, अति चपल, ढरारे, प्यारे,
ज्यौं ज्यौं मैं निहारे त्यौं त्यौं खरौ ललचात है।
सेनापति सुधा से कटाछनि बरसि ज्यावैं;
जिन कौं निरखि हियौ हरषि सिरात है।

कान लौं विसाल, काम भूप के रसाल वाल,
तेरे दृग देखे मेरो मन न अघात है॥

और भी—

चित चुभी आनि, मुसकानि मन भावन की,
मानि कुल कानि रैन-दिन मरियत है।
भूलि गयौ गेह सेनापति अति बाढ्यो नेह,
चैन मैं न देह मैन यस परियत है।
लोग उतपाती कानाघाती हैं करत घाती,
जब गली वाकी नैंकु पाउं धरियत है।
एक संग ताकी चरचा चलावै कौन,
आंखि भरि देखिबे की साध मरियत है॥

रामचरित वर्णन का एक वीर रस का पद्य लीजिये, कवि को शृंगार और वीर दोनों के वर्णन में कमाल हासिल है—

बालि कौ सपूत कपि कुल पुरहूत,
रघुवीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्ध मद गाढ़ो पांव रोपि भयो ठाढ़ो, सेना-
पति बल बाढ़ो रामचन्द्र भुव पाल को।
कच्छप कहलि रह्यो, कुण्डली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चक चाल को।
पांव के धरत अति भार के परत भयो,
एक ही परत मिलि सपत पताल को॥

एक ऋतु वर्णन का भी नमूना देखिये—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय के।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूं भांति,
आते हैं पहार मानो काजर के ढोय के।
घन सों गगन छप्यो तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रबि गयो खोय कै।

चारिमास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याहि तें रहत हरि सोय कै ॥

सेनापति का भाषा-सौन्दर्य और काव्य कला का अन्दाज ऊपर के पद्यों से बड़ी सुगमता से हो जाता है। काव्य की आत्मा जितनी सुन्दर बन पड़ी है, उतनी ही उसकी बाह्य आकृति भी। भाव जहाँ हृदय के मर्म का स्पर्श करने वाले हैं, वहाँ उनका कला-चमत्कार भी चकत्कृत किये बिना नहीं छोड़ता। अतएव रस, भाव, अलंकार, ध्वनि गुण रीति और भाषा इन सब के सौन्दर्य के सुन्दर समन्वय से सेनापति की कविता अनुपम बन पड़ी है। कवि में रस भाव आदि के साथ कला की भी पूर्ण सामर्थ्य विद्यमान है। अतएव कवि की अपनी कविता के विषय की प्रश्न में संकेतिक उक्ति गर्वोक्ति नहीं रहती अपितु उनकी कविता का सच्चा स्वरूप-वर्णन हो जाती है।

अथवा

सेनापति के श्लेष-वर्णन या ऋतु वर्णन की विशेषताओं को विस्तार सहित लिखिये।

उत्तर—सेनापति ने श्लेष-वर्णन रीति परम्परा के अनुसार किया है। उनके कवित्त-रत्नाकर की प्रथम तरंग में श्लेष का वर्णन ही हुआ है मुख्य रूप से। अलंकारों में अनेक अलंकार यद्यपि सेनापति की कविता में मिलते हैं, पर विशेष रूप से उन्होंने श्लेष यमक, अनुप्रास, चित्र अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। श्लेष का प्रयोग अन्य रीति-कालीन कवियों ने भी इसी मुख्य रूप में अनेकों ने किया है, किन्तु उनमें सेनापति की अपनी विशेषता है। अन्य कवियों—केशव जैसों—के श्लेष में भाव टूट फूट जाता है, विकृत हो जाता है, किन्तु सेनापति ने ऐसा नहीं होने दिया है। श्लेष के साथ कविता में भाव-सौन्दर्य भी बना रहता है। अन्य श्लेष-कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों तथा समस्त पदों के प्रयोग से और शब्दों की बुरी तरह तोड़-फोड़ करके श्लेष का निर्वाह किया है, किन्तु सेनापति में यह बात नहीं। इनके श्लेष में स्वाभाविकता रहती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का कम प्रयोग किया है और समस्त पदों के अधिक प्रयोग से भी ये बचे रहे हैं। इन्होंने अधिकांश में बहुत प्रचलित साधारण बोलचाल के शब्दों के

भंग अभंग से श्लेष का समुचित और स्वाभाविक निर्वाह कर दिया है। अतएव इनका श्लेष-वर्णन भाषा और भाव की दुरूहता से बच गया है, जब कि अन्य कवि उससे नहीं बचे हैं। भाषा का सौन्दर्य और स्वाभाविक प्रवाह बराबर बना रहता है। पद योजना सरल और संगीत पूर्ण रहती है। इन सभी गुणों से समन्वित एक दो श्लेष वर्णन के उदाहरण लीजिये—

द्विजन की जामें मरजाद छूटि जात, भेष
पहिले बरनकौं न तनकौं निदान है।
अंग छबिलीन स्रुति धुनि सुनिये न, मुख
लागी अबलार है, न नाकहूँ को ज्ञान है।
देखिये जवन सोभा घनी जुगलीन माझ,
नाम हूँ सो नातौ कृष्ण केसों कौ जहान है।
सेनापति जामें जग आसा त्योंही भटकत,
याही तें बुढ़ापौ कलि काल के समान है।

यहाँ साधरण द्विजन, बरन, लीन, श्रुति, धुनि, अबलार, नाक आदि साधारण प्रचलित शब्दों में श्लेष रखकर ही कलियुग और बुढ़ापे का एक साथ वर्णन हुआ है। और भी—

मिलत ही जाके बढ़ि जात घर मैन चैन,
तन को बसन डारियत बगराइकै।
आवत ही जाके नीकौ चन्दन लगत प्यारी,
छाया लोचन की चाहियतु सुखदायी है।
जाही के अरुन कर पाइ अब नित पति
सुखति सरस जाके संगम को पाइके।
ग्रीषम की रितु वर वधू की समान करी
सेनापति बचन की रचना बनाइ कै॥

यहाँ भी साधारण शब्दों के श्लेष से ही ग्रीष्म ऋतु और नव वधू का एक साथ वर्णन हुआ है। इस प्रकार के सेनापति ने अनेक श्लेष-वर्णन किये हैं, जहाँ अलंकार चमत्कार के साथ ही रसगत या भावगत चमत्कार भी पूर्णतया बना रहता है। स्वाभाविकता भी बनी रहती है।

सेनापति के ऋतु-वर्णन की विशेपताओं के लिए, देखिये हिन्दी साहित्यरत्न प्रश्न पत्र २ संवत् २००२ प्रश्न ७ और हिन्दी साहित्यरत्न प्रश्न पत्र २ संवत् २००३ प्रश्न २ (क) भाग।

५—रस किसे कहते हैं? विभाव अनुभाव और संचारी भाव रसाभिव्यक्ति में किस प्रकार से सहायक होते हैं? उदाहरण सहित समझाइये।

उत्तर—रस शब्द का मुख्य व्याकरण-लभ्य अर्थ होता है "रस्यते इति रसः," अर्थात् जिसका अस्वाद लिया जाय, ऐसी वस्तु अथवा "रसनं रसः," अर्थात् जो स्वयं रस रूप हो। पहिले अर्थ में रस और उसके आस्वाद में भेद रहता है, किन्तु दूसरे में रस स्वयं आस्वादरुप है। रस शब्द के अनेक अर्थ लिए जाते हैं—रस नाम किसी वस्तु के रस या निचोड़ का होता है, सवाद का नाम होता है, आनन्द का होता है और जल का भी होता है। लोक में रस शब्द का व्यवहार ऐसे ही अर्थों में होता है। गन्ने का रस, नीबू का रस,। गाने का रस नहीं आया, बात में कुछ भी रस नहीं है। तमाशा देखा पर कुछ रस नहीं आया, गाना सुना बड़ा रस आया। आदि। विभिन्न शास्त्रों में रस शब्द के विभिन्न पारिभापिक अर्थ भी लिये गए हैं। वेदान्त, उपनिपद् आदि में रस से आत्मा का भी ग्रहण हुआ है और आनन्द का भी। आयुर्वेद के रस प्रसिद्ध हैं। नैयायिकों ने पड्र रस माने हैं। आदि। साहि य या काव्य शास्त्र में भी रस शब्द का पारिभापिक अथ ही लिया जाता है। रस शब्द काव्य में यद्यपि आनन्द का ही द्योतक है, तो भी वह आनन्द विशेप प्रकार का है, वह लौकिक नहीं, काव्यजनित है। उसकी प्रक्रिया भी भिन्न है। वह रस दुःख के कारणों से भी होता है और सुख के कारणों से भी। अतः अलौकिक है।

साहित्य शास्त्र में, विभावादि से उद्‌गत और परिपुष्ट सामाजिक के रत्यादि भावों को ही रस कहा जाता है। विभाव से उद्‌गत और उद्दीप्त, अनुभाव से अनुभावित और संचारी भाव से संचारित, सामाजिक-हृदय में स्थित रत्यादि भाव ही रस दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

रति हास्य करुण आदि नौ भावों को स्थायी भाव कहते हैं। क्योंकि ये स्थायी-रूपेण सदैव सामाजिक हृदय में अवस्थित रहते हैं अथवा ये प्रारम्भ से अन्त तक रस-प्रक्रिया में स्थायीरूपेण रहते हैं, इसलिए इन्हें स्थायीभाव कहा गया है। इनमें इतनी सामर्थ्य होती है कि ये अपनी अत्यन्त विकसित दशा में सामाजिक के हृदय को पूर्णतया अभिव्यास कर लेते हैं, जब कि अन्य सब भिन्न भावों का तिरोधान हो जाता है और सामाजिक को अपनी स्थिति का भी ज्ञान नहीं रहता। सामाजिक की आत्मा तन्मय हो जाती है। यह निरानन्द की दशा है, जबकि सत रज और तम को अभिभूत करके स्वयं प्रधान होता है। ये ही स्थायी भाव अनुकूल कारण सामग्री पाकर अपने चरम विकास की दशा में पहुँच कर रस संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन नायक नायिका आदि होते हैं, जिनका आलम्ब लेकर सामाजिक हृदय में सुप्त कोई स्थायीभाव उद्बुद्ध होता है। उद्दीपन प्रकृति, वस्तु-स्थिति आदि होते हैं, जो आलम्बन के आलम्ब से उद्गत स्थायीभाव को और भी उद्दीप्त कर देते हैं। अतः ये दोनों विभाव क्रमशः रसके आलम्बन और उद्दीपन कारण कहलाते हैं। जैसे शृंगार में नदी, एकान्त स्थान, चन्द्र आदि। अनुभाव आश्रय की चेष्टाओं को कहा जाता हैं। ये चेष्टाएं उद्गत भाव के बाद में होती हैं, जिनसे हृद्गत भाव का अनुभव होता है। जैसे रति-भाव के उद्गत और उद्दीप्त होने के पश्चात् कटाक्षपात आदि चेष्टाएं होती हैं। ये रस का अनुभव कराने वाले एवं स्थायी भावों से उत्पन्न उनके कार्य होते हैं, जो सामाजिक को रत्यादि का अनुभव कराते हैं।

संचारी उन अनेक स्वल्प, अचिर-स्थायी भावों को कहा जाता है, जो बीच बीच में जल में तरंगों के समान उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं और प्रधान भाव या स्थायी भाव के विकास में सहायता करते हैं। इनके कारण ही स्थायी भाव विशेष विकास दशा को पहुंचता है। अतः इनको रस का सहकारी कारण माना जाता है। ये निर्वेद शंका, ग्लानि, मद, मोह, निद्रा आदि ३३ माने गये हैं। जैसे शृंगार में हास या करुणा में रति।

ये समस्त कारण कार्य सहकारी भाव जब साधारणीकृत रूप में परस्पर एकाकार होकर रत्यादि को चरम विकास की कोटि तक पहुँचा देते हैं, तो उन रत्यादि का नाम ही उस समय रस हो जाता है। साधारणीकृत से अभिप्राय है कि जब तक इन कारणों में साधारणीकरण नहीं होता—अर्थात् ये अपने स्व-पर के भाव को खोकर सार्वजनिक या सर्व साधारण के रूप में प्रतीत नहीं होने लगते—तब तक सामाजिक को रसानुभूति नहीं हो सकती। इनका यह साधारणीकरण व्यंजनावृत्ति के द्वारा होता है उस दशा में जब ये अपनी पृथक् पृथक् सत्ता को खोकर ऐसे एकाकार हो जाते हैं, जैसे कि ठण्डाई में बादाम, दूध, चीनी आदि पदार्थ, तब इन से रत्यादि रस दशा को पहुंचाये जाते हैं। अतएव भरतमुनि ने कहा है, "विभावानुभाव-व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" विभावानुभाव संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। संयोगात् का अर्थ लिया जाता है, साधारण रूप में एकाकार हो जाने से। इस प्रकार इन विभावादि कारण कार्य सह-कारी कारणों से अभिव्यक्त और परिपुष्ट सामाजिक के रत्यादि स्था-यीभाव रस कहलाते हैं।

शृंगार रस के प्रकरण में नायक नायिका के रति भाव का उदय एक दूसरे का आलम्ब लेकर ही होता है। अत वे दोनों एक दूसरे के रति भाव का आलम्बन हैं। प्रेम प्रसंग का स्थल—एकान्तस्थान, नदी वन, तालाब और चन्द्रमा आदि प्रकृति—उस रति भाव के उद्दीपन का कारण बनता है, जिससे वह भाव अत्यन्त उद्दीप्त होता है। अत. यह प्रकृति वहाँ उद्दीपन विभाव बनती है। रति के उदय होने पर जो चेष्टाएँ वे करते हैं, वे एक दूसरे या अन्यों को उनके मन में उद्गत और उद्दीप्त भाव का अनुभव कराती हैं। अतः ये चेष्टाएं—कटाक्ष पात, भ्रूविकार आदि—अनुभाव हैं। साथ में स्मृति, हास, मद, उत्साह, विस्मृति आदि ये क्षण-स्थायी भाव भी उठते बैठते रहते हैं, जिनसे रति भाव और भी संचरित (व्यापक) बन जाता है। इस प्रकार उन रत्यादि भावों का पूर्ण विकास हो जाता है।

सामाजिक भी नाटक में, अभिनेताओं द्वारा उपस्थापित, इन्हीं कारणों को साधारण रूप में देखता है। उस समय उसके हृदय में स्थित रत्यादि भावों

का भी अनुकूल कारण पाकर इसी प्रक्रिया से विकास होता है। उसके रत्यादि भावों की इस चरम विकास दशा का नाम ही रस हो जाता है अर्थात् उसके इस प्रकार पूर्ण विकसित रत्यादि भावों को ही रस कहा जाता है।

रस का संक्षिप्त परिचय और विभावादि का उसकी (रस की) अनुभूति में सहायक होने का प्रकार यही है।

अथवा

काव्य किसे कहते हैं? उसका गुण, रीति, रस, अलंकार तथा दोषों का किस प्रकार सम्बन्ध है? यह गुणादिकों के लक्षण सहित स्पष्ट समझाइये।

उत्तर—काव्य का विषय इतना गहन और ऐसा अवर्णनीय सा है कि इसके आज तक सैंकड़ों लक्षण बड़े बड़े आचार्यों द्वारा बन चुके हैं, किन्तु तो भी यह विषय अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुआ। सभी लक्षणों में कोई न कोई अरुचि का बीज रह जाता है। पाश्चात्य समालोचकों ने काव्य के अधिकतर भावात्मक से लक्षण किये, उन्होंने उसके स्वरूप का टैकनीकल (पारिभाषिक) प्रणाली में स्पष्टी-करण नहीं किया। जिन्होंने इस प्रणाली में काव्य का स्वरूप समझाने की चेष्टा की भी है, वे भी उसका पूर्ण वर्णन नहीं कर पाये, काव्य के अनेक अंगों को छोड़ गये। उन लोगों के विचारानुसार, मनोभावों को तरंगित करने वाली पद रचना काव्य है, अथवा मनुष्य का प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके अनुभूति उत्पन्न करने वाली पद रचना काव्य है। ऐसे जैसे लक्षणों से काव्य के स्वरूप का कोई एक पहलू भले ही स्पष्ट हो जाता हो, किन्तु काव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। लक्षण सरल, स्पष्ट, समर्थ, किसी और में व्यभिचरित न होने वाला होना चाहिये। तभी किसी वस्तु का स्वरूप पूर्णतया लक्षित हो सकता है। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने इसी प्रणाली में काव्य लक्षण किये हैं, किन्तु वे भी अपने कार्य में पूर्ण सफल नहीं रहे। उनके लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट नहीं रहे। प्रायः यह प्रवृत्ति रही कि पूर्व पूर्व के आचार्यों के काव्य लक्षणों में अरुचि दिखाकर ही पीछे के आचार्य अपने २ मतों की स्थापना करते चले आये। इस प्रकार यह प्रारम्भ से लेकर, अनेक रूपों में परिवर्तित होता हुआ

चला आ रहा है। अवश्य ही अर्वाचीन आचार्यों के काव्य-लक्षण अधिक व्यापक और विवेचना-पूर्ण हैं। प्रथम आचार्यों ने काव्य के बाह्य कलापक्ष को ही विशेषता देकर काव्य के लक्षण किये। किन्तु बाद के आचार्यों ने रसादि को ही विशेषता देकर काव्य लक्षण किये। उनमें विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) के अनुसार, ऐसा वाक्य काव्य है, जिसकी आत्मा रस हो। ये रस रहित वाक्य को काव्य नहीं मानते। इनके पश्चात् के आचार्य जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना। रमणीय अर्थ वह होता है, जिसकी भावना-बार बार चिन्तना—करने से आनन्द आये। सो, ऐसे भावनीय चमत्कार पूर्ण (रमणीय) अर्थ को बताने वाला शब्द इनके मत में काव्य ठहरता है। इनसे पहले के आचार्य, जिन्हें साक्षात् वाग्देवता का अवतार माना जाता है, मम्मटभट्ट ने ऐसे शब्दार्थों को काव्य माना है, जो दोष-रहित हों किन्तु गुण सहित हों और अलंकार जिनमें आ भी जायं और कहीं ना भी आयं। इनके मत में काव्य को निर्दुष्ट होना चाहिये और गुणवान् होना चाहिये। अलंकार काव्य के लिये इनके मत में उपयोगी अवश्य हैं, किन्तु अनिवार्य नहीं हैं, गुणों के समान। विश्वनाथ और पण्डितराज के लक्षण में शब्द समूह (वाक्य) या केवल शब्द को काव्य माना गया है, किन्तु आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। तत्वतः दोनों में वर्णन-भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं। क्योंकि विश्वनाथ, जगन्नाथ ने यद्यपि शब्द को प्रधान माना है तो भी अर्थ की भी आवश्यकी स्थिति स्वीकार की है। क्योंकि निरर्थक शब्द समूह को वाक्य नहीं कहा जाता, अतः अर्थ का अविनाभाव से स्वतः ग्रहण हो जाता है। जगन्नाथ के लक्षण में तो रमणीय अर्थ का स्पष्ट ही प्रतिपादन है, चाहे वह गौण रूप में ही है, तो भी अनिवार्य है। जब तक शब्द में रमणीय अर्थ को बताने की विशेषता नहीं होगी, वह काव्य नहीं कहला सकता। हाँ मम्मट ने विश्वनाथ के समान रस का काव्य लक्षण में वाच्य रूप में समावेश नहीं किया और न अर्थ के साथ रमणीयता की ही क्वालिफिकेशन जोड़ी। किन्तु तो भी रस का ग्रहण उनके मत में हो जाता है। शब्द और अर्थ को जब उन्होंने गुणवान् कह दिया है तो रस की सत्ता स्वयमेव हो जाती है, क्योंकि गुण रस के बिना

नहीं होते, जैसे शूरता वीरता आदि मानवीय गुण मनुष्य की आत्मा के बिना नहीं होते। अतः गुणों के प्रतिपादन से रस का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है। आचार्य मम्मट ने वस्तुतः उत्तम काव्य का लक्षण किया है, जो निर्दुष्ट और सगुण होना चाहिये। इसी लिए इनका लक्षण दुष्ट किन्तु रस पूर्ण काव्य में नहीं घटता। दूसरे दोनों आचार्यों के लक्षण दुष्ट काव्यों को भी काव्य मान लेते हैं। अतः वे अधिक व्यापक हैं, किन्तु उनमें काव्य के अन्य अंगों का वर्णन छूट गया है, जिससे वे भी काव्य-स्वरूप का पूर्ण वर्णन करने वाले नहीं कहे जा सकते। क्योंकि अंगों की समष्टि का नाम ही व्यष्टि है। अगों के वर्णन के बिना अंगी का कैसे पूर्ण स्वरुप-ज्ञान हो सकता है? अस्तु, ये तीनों ही काव्य के लक्षण सर्वाधिक परिष्कृत और विवेचना पूर्ण माने जाते हैं। इन तीनो में वर्णन शैली का भेद है, तात्विक नहीं। तीनों ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की अनिवार्य सत्ता स्वीकार की है और रस को सर्वोच्च स्थान दिया है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर वह शब्द या शब्द-समूह काव्य है, जो रमणीयार्थ प्रतिपादक या रसात्मक हो। अवश्य ही उसमें निर्दुष्टता और गुणवत्ता रहने से उसका उत्कर्ष होगा जोकि उत्तम काव्य की विशेषता है। ऐसे काव्य के शरीर का वर्णन आचार्यों ने निम्न रूप से किया है, जिससे कि काव्य शरीर और उसके अंग-प्रत्यगो के पारस्परिक सन्निवेश का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ का बना हुआ है। रस उसकी आत्मा होती है, जिसके बिना वह काव्य नहीं रहता, जैसे कि मनुष्य आत्मा के बिना मनुष्य नहीं रहता, मनुष्य का शव बन जाता है। दोष काव्य में ऐसे हैं, जैसे मनुष्य में कानापन, बहिरापन या कायरता, मूर्खता आदि होते हैं। गुण भी काव्य मे ऐसे ही हैं, जैसे कि मनुष्य में, सुन्दरता, आकर्षकता और शूरता वीरता आदि होते है। अलंकारों का काव्य शरीर में वह स्थान है, जो मनुष्य शरीर में आभूषणों का होता है। आभूषण शोभा के वर्द्धक हैं, किन्तु मनुष्यता के अनिवार्य अंग

नही। इसी प्रकार रीतियां काव्य शरीर में ऐसे हैं, जैसे कि मनुष्य शरीर में अंगों के जोड़-संस्थान विशेष—होते हैं। जैसे अंगों की पारस्परिक योजना या गठन होती है, वैसे ही शब्दों की योजना या गठन (रीति) होती है। इन सब के पृथक् पृथक् लक्षण निम्न रूप में हैं।

गुण—जो अंगी (शरीरी—आत्मा) रस के उत्कर्ष करने वाले और उसके साथ ही स्थिति वाले धर्म होते हैं, जैसे कि शूरता आदि आत्मा के, वे गुण होते हैं। शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं और शरीर के द्वारा इनका अभिव्यंजन होता है। इनसे आत्मा का उत्कर्ष बढ़ता है और ये आत्मा के विना नहीं रहते। काव्य के माधुर्य आदि गुण भी काव्य की आत्मा रस के उत्कर्ष के हेतु, उसके धर्म होते हैं। इनका अभिव्यंजन शब्द—अर्थ रूपी काव्य शरीर से होता है और धर्मों की धर्मी के साथ ही अचल स्थिति होती है, उसके विना वे नहीं रहते। रस के अभाव में भी, जहाँ कोमल कान्त मधुर रचना देखकर मधुर आदि शब्द का प्रयोग कर देते हैं, वह गौण प्रयोग है, वास्तविक नहीं। गुणों का स्वरूप और उनकी काव्य में स्थिति यही है।

दोष—मुख्य अर्थ अथवा रस का अपकर्ष करने वाले कारणों को दोष कहा जाता है, जैसे शरीर में कानापन, मूर्खता आदि होते हैं। ये दोष शरीरगत और आत्मगत दोनों प्रकार के होते हैं—कानापन आदि शरीर-दोष हैं और मूर्खता आदि आत्मिक दोष हैं। इसी प्रकार काव्य दोष भी शरीर—शब्द और अर्थ—गत भी होते हैं और आत्म—रस—गत भी होते हैं। शारीरिक दोष जैसे आत्मा का अपकर्ष करते हैं, उसी प्रकार काव्य दोष भी रसानुभूति में उद्वेग या अरुचि उत्पन्न करते हैं। उन्नत आत्मा के पुरुष के प्रति भी जैसे कानापन आदि के कारण कुछ अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही रस पूर्ण काव्य में भी च्युत-संस्कृति (व्याकरण की अशुद्धि) आदि कुरुचि उत्पन्न करते हैं। उत्कृष्ट काव्य में भी व्याकरणकी अशुद्धि देखकर प्रथमतः ही अरुचि सी हो जाती है।

रीति—साधारणतया प्रणाली या विधि का नाम रीति है। काव्य

गत रस का उत्कर्ष करने वाली पद-संघटना अथवा शब्द-योजना का नाम रीति कहा गया है। इसी को शैली, भंगी, वृत्ति आदि भी कहा जाता है। यह ऐसे हैं, जैसे शरीर में अंगों की गठन—योजना—होती है। यह मधुरा, परुषा आदि तीन प्रकार की है। शरीर रचना जैसे आत्मा का उत्कर्ष करती है, उसके आकर्षण में वृद्धि करती है, उसी प्रकार काव्य-रीति भी काव्य में वर्तमान रस का उत्कर्ष करती है, उसके प्रभाव में वृद्धि करती है। गुणों का अभिव्यंजन इसी से होता है।

अलंकार—रस आदि का उपकार करने वाले काव्य के अस्थायी धर्मों को अलंकार कहा जा सकता है। जैसे शरीर में आभूषण होते हैं, ऐसे ही काव्य शरीर—शब्द—अर्थ—में अलकारों की स्थिति होती है। ये विद्यमान रस के प्रभाव और सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले होते हैं। किन्तु ये गुणों के समान काव्य के नित्य धर्म नहीं है, रस के साथ ही स्थिति वाले अपितु अस्थिर धर्म है। अर्थात् अलंकारों का होना काव्य में अनिवार्य नहीं है, उनके विना भी उत्तम काव्य हो सकता है। ये शब्द और अर्थ में रहकर रस आदि का ऐसे उपकार करते हैं, जैसे शरीर में पहिने आभूषण आत्मा का उत्कर्ष करते है, आत्मा में महत्ता के भाव को उत्पन्न करते हैं, अथवा उसके प्रभाव और आकर्षण में वृद्धि करते हैं। ये शब्दगत, अर्थगत और उभयगत तीन प्रकार के होते हैं।

रस—विभावानुभाव संचारी भावो के संयोग से अभिव्यक्त, सामाजिक के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं। अर्थात् विभाव के द्वारा उद्गमित और उद्दीपित, अनुभाव के द्वारा अनुभावित और संचारी के द्वारा संचारित, सामाजिक हृदय में अवस्थित रत्यादि नौ स्थायी भावों में से प्रत्येक रस कहलाने लगता है। ये नौ माने गये हैं। रस को काव्य की आत्मा माना गया है, जिसके विना काव्य को काव्य नहीं कहा जाता—जैसे मनुष्य को मनुष्य आत्मा की सत्ता के कारण ही कहा जाता है। उसके बिना वह काव्याभास या काव्य का शव ही होगा, काव्य नहीं। (विशेष देखिये इसी प्रश्न ५ का पूर्व विकल्प)।

काव्य का स्वरूप और उसका अपने गुण रीति आदि अंगों से सम्बन्ध यही उपयुक्त रूप से होता है।

अथवा

दृष्टान्त, व्यतिरेक, निदर्शना, प्रथम विभावना और मीलित में से किन्हीं तीन के लक्षण उदाहरण सहित लिखिये।

उत्तर—अलकारों क लक्षण-उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

दृष्टान्त—अर्थालंकार है। जहां उपमान, उपमेय और उन दोनों के साधारण धर्म का विम्वप्रतिविम्वभाव का सादृश्य दिखाया जाय, वहां दृष्टान्त होता है। विम्ब वह होता है, जिसका प्रतिविम्ब पड़ता है। बिम्ब और प्रतिविम्ब जैसा सादृश्य चाहिये, तब यह अलंकार होता है। साधारण धर्म स्थूलरूप में दोनों के भिन्न होते हुए भी, आपाततः (अन्ततः) उनमें सादृश्य-प्रतीति होती है। जैसे—

किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है, जो विनाश से वाध्य हुआ
तूर्ण मरण ही मंगल उसका जिसका रोग असाध्य हुआ।

यहाँ असाध्य रोगी उपमान और विनाशवाध्य व्यक्ति उपमेय के साधारण धर्म, स्थूल रुप में—आकारतः—भिन्न हैं, किन्तु दोनों एक दूसरे का बिम्ब और प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं।

व्यतिरेक—उपमेय का उपमान से बढ़ा चढ़ा वर्णन करने से व्यतिरेक होता है। उपमान सदैव उत्कृष्ट होता है, तभी उससे किसी की तुलना भी की जाती है, क्योंकि तुलना सदैव उत्कृष्ट से होती है, अपकृष्ट से नहीं। जहाँ इस नियम को तोड कर उपमान को उपमेय से अपकृष्ट बताया जाय अथवा उपमेय का उपमान से भी उत्कृष्ट वर्णन किया जाय, वहाँ यह अलंकार माना जाता है। जैसे, आकाश के चन्द्रमा से यह पृथ्वी का मुखचन्द्र (किसी का) अधिक सुन्दर है, क्योंकि वह सकलंक है और यह निष्कलंक है। यहाँ व्यतिरेक है, क्योंकि, चन्द्र उपमान से मुख उपमेय का उत्कर्ष दिखाया गया है। कहीं इस उत्कर्ष का कारण बता दिया जाता है,

जैसे कि ऊपर के उदाहरण में, और कहीं बिना कारण बताये ही उत्कर्ष बता दिया जाता है। इसी प्रकार से इसके चार भेद माने गये हैं। अन्य उदाहरण—

सम सुबरन सुखमा कर-सुखद न थोर।
सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर।

यहाँ कनक उपमान से सीय-अंग उपमेय में, कोमलत्व कारण बता कर, उत्कर्ष दिखाया गया है।

अगूढ़ व्यंग्य—मध्यम—गुणीभूत-काव्य का एक भेद है। व्यंग्य का पद काव्य में सर्वोच्च माना जाता है। उसी का चमत्कार किसी भी उत्तम काव्य में प्रधान होता है। किसी कारण-वश या दोष-वश यदि कवि व्यंग्य के चमत्कार में कमी आने देता है, वह मध्यम काव्य बनाता है। क्योंकि उत्तम में तो व्यंग्य प्रधान होता है।

व्यंग्य सदैव गूढ़ होना चाहिए। क्योंकि यदि वह बहुत गूढ़ हो—जिसे कि बहुत विचार करने के बाद समझा जाय—तो भी उसके पूर्ण चमत्कार में बाधा पड़ती है और यदि वह बिलकुल अगूढ़ हो—जो कि अनायास वाच्य अर्थ के समान स्पष्ट हो—तो भी उसमें चमत्कार विशेष नहीं रहता। अतः ये दोनों ही आत्यंतिक दशाएं व्यंग्य-चमत्कार का अपकर्ष करने वाली हैं। व्यंग्य न अत्यन्त गूढ़ और न अगूढ़ ही होना चाहिये। वह तो गूढ़ रहना चाहिए। तभी वह उत्तम काव्य रहेगा। जहाँ व्यंग्य अगूढ़ (स्पष्ट) हो गया है, वहाँ वह उत्तम काव्य न रह कर, मध्यम काव्य का अगूढ़ व्यंग्य नामक भेद हो जाता है। उदाहरण—

धनिकों के घोड़ों पर झूलें पड़ती हैं,
और हम कड़ी ठण्ड में वस्त्रहीन रहजाते हैं।
वर्षा में उनके श्वान छांह मे सोते,
हम गीले घर में जग कर रात बिताते।

यहाँ 'धनी अत्यन्त स्वार्थी हैं, निर्धनों को पशुओं से बदतर समझते हैं" इस अभिप्राय का व्यंग्य निकलता है। सो, यह वाच्य के समान ही

स्पष्ट है, इससे चमत्कार का अपकर्ष हुआ है, वह वाच्यार्थ के समान ही हो गया है। अतः यह अगूढ़ व्यंग्य नामक मध्यम काव्य हुआ।

निदर्शना—जहाँ उपमान और उपमेय बने हुए दो वाक्यों के स्थल में उपमेय वाक्य में उपमान वाक्य का आरोप किया जाय सादृश्य बताने के लिये, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। जैसे, मूर्ख को समझाना तो छाज से नदी के प्रवाह को रोकना है। दोनों असम्भव कार्य हैं। इसके कई भेद होते हैं। एक और उदाहरण—

चुप बैठ जाना द्रोहियों से सन्धि करके,
आंगन में सोना है लगा के आग घर में।

प्रथम विभावना—जहाँ प्रसिद्ध कारण न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति हो रही हो, वहाँ प्रथम विभावना होती है। अर्थात् जिन वस्तुओं का परस्पर कार्य-कारण भाव प्रसिद्ध है, उनमें से कारण के अभाव में भी, यदि कार्य हो रहा हो तो प्रथम विभावना होगी। यथा—

बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ योगी॥

यहाँ पर, पद, कान, कर, आनन, वाणी आदि कारणों के बिना भी उनके कार्यों के होने का वर्णन हुआ है। अतः प्रथम विभावना है।

मीलित—गुण-सादृश्य के कारण, जहाँ दो पदार्थों में भेद न लक्षित हो, वहाँ मीलित होता है। अथवा जहाँ दो अत्यन्त सदृश गुण वाले पदार्थों में से, एक कम गुण वाला दूसरे अधिक गुण वाले में, सादृश्य के कारण, इतना मिल जाय (उसमें लीन हो जाय) कि उसकी पृथक् सत्ता का ज्ञान न रहे, मीलित होता है। यथा श्वेत चांदनी में श्वेत वस्त्र पहिने गोरी अभिसारिका ऐसी लीन हो गई कि दिखाई नहीं पडी। अथवा, घनी काली रात में काले कपड़े पहिने चोर, ऐसे लीन हो गया कि किसी को दिखाई नहीं पड़ा। और भी—

पान पीक अधरान मैं सखी ! लखी न जाय।
कजरारी अंखियान मैं कजरा री ! न लखाय॥

यहाँ अरुण अधरों की गहरी लालिमा में पान की पीक लीन हो गई है और आंखों की कृष्णिमा में काजल लीन हो गया है दिखाई नहीं पड़ते।

उत्तमा

हिन्दी साहित्य प्रश्न पत्र २ संवत् २००५

१. निम्नलिखित अवतरणों में से प्रत्येक खण्ड मे दो-दो चुनकर कुल चार का विशद अर्थ, आवश्यकतानुसार व्याख्या करते हुए, काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए, करिये।

खण्ड १ म

(क) हथलेवे की मूठ किण..................चूडो मो न लजाय ॥

प्रसंग—कवि राजा सूर्यमल का दोहा है। विवाह के अवसर पर किसी वीरांगना के वीर भाव का प्रतिपादन है।

अर्थ:—हे माय! (माता!) विवाह के समय हस्तमेलन के समय तलवार की मूठ (पकडने) का किण (घट्टन—कठोर स्थान हो जाना) हाथ में (मेरे में) लगा। मैंने लख लिया कि वह (युद्ध में) अकेला भी मेरे सौभाग्य को नहीं लजायेगा। पर्याय अलंकार है।

विवाह के समय, वीर के तलवार चलाने से कठोर हाथ के स्पर्श से वीरबाला को विश्वास हो जाता है कि वह उसके सुहाग को लाज नहीं लगायेगा। "वह अत्यन्त वीर है, युद्ध मे भागने वाला नहीं है," यह व्यंग्य है। उक्ति उदात्त और स्वाभाविक है। भाषा ओजस्विनी और प्रसाद गुण-सम्पन्न स्वाभाविक है।

साथन ढोल सुहावणो ....रजवट उल्टी राह ॥

प्रसंग—कवि राजा सूर्यमल का दोहा है। किसी राजपूतनी की सती होने की कामना का वर्णन है।

अर्थ—(एक वीरांगना अपनी सखी से कहती है) हे साथिन! म सती-दाह के समय (या साथ मे) सुहावना ढोल देना (या बजाना)। क्योंकि बीज धरती पर होता है और खेती आसमान (स्वर्ग) मे होती है, रजपूती की तो ऐसी ही उल्टी रीत है।

राजपूत वीरता पूर्वक मर कर ही स्वर्ग में उसका फल भोगते हैं। अत. वे बीज यहां डालते हैं और खेती स्वर्ग में काटते हैं। वीरांगना सती

होने से डरती नहीं। उसके हृदय में उत्साह है, जो वीर का स्थायी भाव है। वीर रस की स्वाभाविक उक्ति है। असंगति अलंकार है।

पग पाछा छाती धड़क ... ... कवण हकालै सींह॥

प्रसंग—कवि राजा सूर्यमल का ही पद्य है। सिंह के व्याज से किसी वीर योद्धा का वर्णन किया गया है।

अर्थ:—जिसे सामने (दहाड़ते हुए) सुनने पर, पैर पीछे हट जाता है, छाती धड़कने लगती है, काला पीला दीखने लगता है (आंखों में तिरमिराहट का अंधेरा छाना) और आंखें मिचने लगती हैं (भय। अधमरा हो जाता है), भला उस सिंह को कौन ललकारे?

सिंह के वर्णन द्वारा किसी ऐसे वीर योद्धा का वर्णन है, जिसे सामने होकर ललकारने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। अन्योक्ति अलंकार है। भाषा और शैली सीधी, स्वाभाविक और ओजपूर्ण है। अजेय वीरता व्यंग्य है।

(ख) सिर धूनत पति साह धाह सुनि सेना सथ्थिय।
... .ऐसो न जुद्ध दिख्यौ सुन्यौ दारन मेछ दबट्टिया।

प्रसंग—पृथ्वीराज रासा का पद्य है। घग्घर नदी के युद्ध वर्णन के प्रकरण में से है। चन्द ने गौरी की पराजित सेना का वर्णन किया है।

अर्थ—(पृथ्वीराज की सेना के नायक चामुण्डाराय ने ऐसा घोर युद्ध किया कि) पातशाह सिर धुनने लगा और (उसकी) दहाड़ (गर्जना) सुनकर (शत्रु की) सेना स्तम्भित हो गई। तलवार की धार से कटकर, लोथों पर लोथें और रुण्डों (धड़ों) पर रुण्ड पड़े हैं। मानों यमराज से यमराज भिड़ रहा हो, इस प्रकार वे दोनों वीर जुटे हुए मार-मार कर रहे थे। (भूत प्रेत योगिनिया आदि) अपने तन के योग्य नयी नयी गाँठें लगाकर (युद्ध में कटे हुए) सूरों के मस्तकों की माला गूंथ रहे हैं। पुरसान, जत और आबू के जितने भी धनी (तलवार के धनी—योद्धा या राजा) थे, उन्हे तलवार की धार से काट गिराया। ऐसा युद्ध न देखा है न सुना है। उस निर्दय (कठोर) म्लेच्छ को दबोच लिया।

वीर और वीभत्स रस का वर्णन है। दोनों वीर योद्धा ऐसे जुटे हैं

जैसे यमराज हों। लोथों पर लोथें पड़ रही हैं, भूत प्रेत मुण्डमाला गूंथ रहे हैं। उत्प्रेक्षा है वीरों में यमराजों की। भाषा और शैली वीर वीभत्स के उपयुक्त उद्धत और ओजस्विनी है।

(ग) नर जेथ निमाणा निलजी नारी··· ·····वेचै किन रजपूत वट ॥

प्रसंग—कविवर पृथ्वीराज का दोहा है। राणा प्रताप की आदर्श रजपूती का वर्णन किया है।

अर्थ—जहां आदमी निर्मान (बे इज्जते—अप्रतिष्ठित) हैं, नारियां निर्लज्जा हैं, अकबर जैसा ग्राहक है और जहां का मार्ग बहुत कुटिल है, ऐसे बाजार मे जाकर चित्तौड़ का अधीश्वर (प्रताप) कैसे अपनी राजपूती को वेच सकता है ?

अकबर के दर्बार को बाजार और अकबर को गाहक बताया गया है, जो कि विशेष साभिप्राय है। वस्तुतः अकबर के दरबार में रजपूतियो और स्वतन्त्रताओं का सौदा होता था और अकबर खरीदार था। रूपक और हेतु अलकार मानने चाहियें। प्रताप की आदर्श रजपूती व्यंग्य होती है। तीन चरणों में वयण-सगाई का भी निर्वाह है। भाषा स्वाभाविक प्रवाहमय और प्रसाद गुणयुक्त है।

परपच लाज दीठ नह व्यापण·········· हाट मीर अमीर हरो ॥

प्रसंग—कविवर पृथ्वीराज का पद्य है। महाराणा प्रताप की अच-लता का वर्णन है।

अर्थ—जिस दुकान में प्रपंच हो और लज्जा की दृष्टि (शराफत, ईमानदारी का भाव) न हो, उसमें घाटा (खाना) ही अच्छा है। उसमें लाभ (उठाना) बुरा है। (अतएव) हम्मीर वंशीय महाराणा मीर (मुसल-मान अकबर) की हाट में (दुकान या बाजार में) अपनी रजपूती बेचने नहीं आता।

महाराणा अकबर की छल प्रपंच और वेहयाई की दुकान में (दरबार मे) अपनी रजपूती बेचने नहीं आता। वह इस विषय मे घाटा उठाना ही पसन्द करता है, जङ्गलों में मारा मारा फिरता है। दोहा बहुत ही भावपूर्ण है। राणा की रजपूती की शान व्यंजित होती है। महाराणा का स्वाभिमान अटल

है। कवि ने रूपक के द्वारा इतना विशद भाव व्यक्त किया है। अकबर के दरबार को छल प्रपंच की दुकान बना लेने पर, वहां की सभी विशेषतायें गूढ़ घातक, कुटिल चालें, घातप्रतिघात आदि का चित्र स्पष्ट हो उठता है। वयण सगाई का भी निर्वाह है। भाषा स्वाभाविक, प्रवाह और सँगीतपूर्ण है। सरल योजना है। शैली प्रभावपूर्ण है।

जासी हाट बात रहसी जग ·· सारा ले बरती ससार॥

प्रसंग—पृथ्वीराज का दोहा है। महाराणा के क्षत्रिय धर्म के पालन का वर्णन किया है।

अर्थ—यह हाट (अकबर के दर्बार की दुकान) चली जायगी (उठ जायगी)। संसार में केवल बात रह जायगी। अकबर ठग भी, एक बार (या दिन) जायगा। क्षत्री धर्म की रक्षा केवल प्रताप ने ही की है। अन्य संसार ने तो सब का सब (क्षत्रिय धर्म) लेकर बरत लिया (समाप्त कर दिया

अकबर और उसका प्रपंची ठाठ बाट कुछ नहीं बचेगा। केवल एक बात रह जायगी ससार में कि जबकि सारे संसार में क्षत्रिय धर्म समाप्त हो गया था, केवल प्रताप ने ही उसकी रक्षा की। क्षत्रिय धर्म के पालयिता के रूप में प्रताप अद्वितीय है। रूपक और उपमा दोनों अलकार हैं। भाषा सरल, स्वाभाविक, प्रवाह मय है। प्रसाद गुण है। भावानुकूल ओज भी है। वयण सगाई स्पष्ट है ही।

(घ) चमर ढुलै नहँ सींह सिर····· औ मृगराज अबीह॥

प्रसंग—बांकी दास का पद्य है। सिंह के बहाने से तत्सम वीर पुरुष का वर्णन किया गया है।

अर्थ—सिंह के सिर पर चामर नहीं ढुलती और न सिंह छत्र ही धारण करता है। वह तो अपने बाहु या हाथ (पंजा) के बल से निर्भय और मृगराज (पशुओं का राजा) बना है।

छत्र चामर आदि चिन्ह राजा के चिन्ह हैं, वीर के नहीं। वीर तो अपने बाहुबल के भरोसे ही सबका राजा बनता है। सिंह के व्याज से ऐसे ही सिंह-सम वीर पुरुष का सूचन किया गया है। अन्योक्ति अलंकार है।

वीर रस की सुन्दर उक्ति है। भाषा में प्रसाद और ओज दोनों हैं। योजना सरल और स्वाभाविक है।

परगढ़ लेणा रोप पग ...खूंदाळमां न खोड ॥

प्रसग—कविवर बांकी—दास का पद्य है। वीर की विशेषताओं का स्वाभाविक वर्णन है।

अर्थ—शत्रु का गढ़ (युद्ध में) पांव जमाकर लेना, शत्रु का सिर तोड देना और भूमि से कभी सन्तुष्ट नहीं होना (अर्थात् अधिकाधिक देश जीतने की सदैव कामना करते रहना), ये बातें योद्धाओं में दोष रूप नहीं हैं।

योद्धा लोगों में ऐसे भाव दोष नहीं है, अपितु उनकी ये विशेषताएं होती हैं। वीर योद्धाका स्वाभाविक वर्णन है। स्वभावोक्ति है। भाषा ओज-पूर्ण और वेगवती है। वयण सगाई भी है तीन चरणो में।

इन्द्रानुज रो डण्डजो आवै हरता आच .....इण गढ़ लागै सांच ॥

प्रसंग—यह भी बांकी—दास का ही पद्य है।

अर्थ—विष्णु का तो दण्ड (विष्णु का प्रसिद्ध शस्त्र) हो और हर (शंकर) से आच (शिव नेत्र की अग्नि) लाई जाय, तब उस से (दण्ड को शिवकी अग्नि में तपाकर उससे) जो छैणी बने, वह तो इस गढ़ में सच्चे अर्थों मे लग सकती है (अर्थात् तब तो उस का इस पर कुछ प्रभाव पड सकता है)।

किसी गढ़ की अत्यन्त दृढ़ता का वर्णन किया है। उसको वह शस्त्र ही तोड सकता है, जो विष्णु दण्ड मे से गढ़ा गया हो और शिव के अग्नि-नेत्र की अग्नि में तपाया गया हो। ऐसा शस्त्र तैयार हो, तब उसका इस गढ़ पर असर हो सकता है। गढ़ की एकान्त अभेद्यता सूचित होती है। वर्णन अत्युक्ति पूर्ण है। गढ़ के उत्कर्ष से गढ़पति का उत्कर्ष भी व्यक्त होता है। चमत्कार पूर्ण उक्ति है। भाषा और शैली विषयानुरूप स्वाभाविक सरलता पूर्ण है।

(घ) भाग का पद्य परीक्षा में नहीं है।

(खण्ड २)

(च) औचक अगाध सिन्धु ... ...

स्याम रंग ह्वै करि समायो स्याम रंग मैं ॥

प्रसंग—देव का पद्य है। श्याम के श्याम रूप या प्रेम के समुद्र का वर्णन किया है, जिसमें तीनों जग और देव का मन डूब गये हैं।

अर्थ—अचानक ही, स्याही का एक अगाध सागर उमड़ आया। उसमें तीनों लोक एक साथ ही डूब गये हैं। काले काले अक्षरों, जो कि काले कागज पर लिखे गये हैं, को पृथक् करके कौन पढ़ सकता है और कौन चित्त में उनको भिन्न करके जान सकता है ? (काले अक्षर जैसे काले कागज में लीन हो जाते हैं और उन्हें पृथक् करके पढ़ना नहीं बन सकता, ऐसे ही देव का मन और त्रिलोक श्याममय हो गये हैं, उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।) अमावस की रात में जैसे आंखों में अन्धेरा व्याप जाता है, जैसे जामन के रस की (काली) बून्द जमना जल की तरंगों में समा जाती , ऐसे ही हे माई ! मेरा मन अब मेरे काम का नहीं रहा, वह तो श्याम रंग होकर श्याम रंग में ही समा गया है।

कृष्ण प्रेम में कवि को त्रिलोकी कृष्ण के रूप में रंगी दिखाई देती है। प्रकृति उसी का रूप दिखाई देती है। उससे पृथक् नहीं। देव के मन का भी कृष्ण प्रेम में लय हो गया है। वह अब देव के (स्वार्थ के) काम का नहीं है। कृष्ण-प्रेम ने उसे ऐसे अभिव्याप्त कर लिया है, जैसे कि अंधेरी रात में तम आंखों को व्याप लेता है। उसका ऐसे लय हो गया है, जैसे जामन के रस की बूंद का जमना जल में। यही तन्मयता जल-तरंग की उपमा से बताई है। देव ने इन उपमाओं के द्वारा गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। भक्ति की चरम दशा का वर्णन है। प्रारंभ में, स्याही के सागर उपमान के ही वर्णन से अतिशयोक्ति है। अन्यत्र उपमाएं हैं। गूढ़ भावों के साथ काव्य-सौन्दर्य और भाषा-सौन्दर्य दोनों उचित रूप में आये हैं। अनुप्रास से काव्य का और भी चमत्कार बढ़ गया है।

(छ) तजि तीरथ हरि राधिका ··· ··· ··पगपग होत प्रयागु ॥

प्रसंग—बिहारी का भक्ति रस का पद्य है।

अर्थ—(बिहारी अपने को या जीव को सम्बोधन करके कहते हैं) तीर्थ आदि को छोड़ कर हरि और राधा के शरीरों की कान्ति में अनुराग (प्रेम) कर, जिस से (कान्ति से) ब्रज के क्रीडा-कुंज के मार्ग में पद पद

पर प्रयाग उपस्थित होता है। (श्याम का वर्ण श्याम (नीला) और राधिका का वर्ण गौर-श्वेत। ये दोनों वर्ण जब एक होकर मार्ग की कुछ लालसी बालुका या मट्टी में पड़ते हैं, तो गंगा (श्वेत), यमुना (नील) और सरस्वती (लाल सी या धूमर वर्ण की) के संगम-प्रयाग का दृश्य उपस्थित हो जाता है।)

भक्ति के सिद्धान्त में प्रकृति और पुरुष या कृष्ण और राधिका को एक रूप मान कर भक्त चलता है, दोनों में अभेद देखता है। बिहारी ने यही सिद्धान्त बताया है। तीर्थाटन से भक्ति को श्रेष्ठ बताया है। तद्गुण और काव्य-लिंग हो सकते हैं। अनुप्रास भी है।

बतरस लालच लाल की ······ · · · दैन कहै नटि जाय॥

देखिये साहित्य रत्न प्रश्न पत्र २ सं० २००३ प्रश्न १ ख भाग।

दृग उरझत, टूटत कुटुम ······ ······ दई नई यह रीति॥

प्रसंग—बिहारी का दोहा है। प्रेम के पश्चात् होने वाली दशा का वर्णन है।

अर्थ—आँखें उलझती (मिलती) हैं किन्तु कुटुम्ब टूट जाता है (कुटुम्ब से नाता टूट जाता है), चतुर (नायक नायिका) प्रेमियों के चित्त में प्रीति जुड़ जाती है, किन्तु गांठ दुर्जन के हृदय मे पड़ती है, हे दैव! यह विलक्षण दशा है।

जो उलझे वही टूटता है और जो टूटे वही जुड़ता भी है। किन्तु यहां विलक्षण क्रम है, कोई उलझता है और कोई टूटता है, कोई जुड़ता है और गाठ किसी के पड़ती है। असंगति अलंकार का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। भाषा सौन्दर्य और काव्य सौन्दर्य का सुन्दर संयोग है। रति व्यंग्य है। चमत्कार पूर्ण उक्ति है।

वृष कौ तरनि तेज सहसो किरन करि . . घामैं बितवत है॥

प्रसंग—कविवर सेनापति का पद्य है। ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है।

अर्थ—वृष राशि का सूर्य अपनी हजारों किरणों से विकराल ज्वालाओं के समूह वर्षा रहा है। पृथ्वी (ताप से) पक रही है, संसार आग की लपटों से जल रहा है और पक्षी पन्थी (राही) लोग ठण्डी छांह को पकड़

कर विश्राम कर रहे हैं। सेनापति कहते हैं, दुपहरी जरा सी ढलते ही, ऐसा सन्नाटा छा जाता है कि पत्ता भी नहीं खड़कता। मेरे (सेनापति के) ख्याल से पवन भी किसी ठण्डी जगह का कोना पकड़ कर, घड़ी भर बैठकर, कहीं गर्मी (धूप) बिता रहा है (दुपहर में हवा ठण्डी जगह में ही मिलती है गर्मियों में)।

सेनापति का ऋतु वर्णन सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है रीति काल में। प्रस्तुत पद्य उसका प्रमाण है। गर्मियों की दुपहरी की गर्मी और सन्नाटे का कैसा अनुभूत वर्णन किया है! स्वाभाविक चित्रण है। दुपहरी प्रत्यक्ष सी हो उठती है। प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन है, रस के उद्दीपन रूप में नहीं। अत्युक्ति, स्वभावोक्ति और उत्प्रेक्षा के साथ अनुप्रास की छटा है। भाषा प्रांजल संगीतमय और मुहावरेदार है। पात खरकत, दुपहरी के ढरत, कौनो पकरि, घामैं बितवत, बहुत सुन्दर बैठे हैं।

२. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर युक्ति-युक्त और सप्रमाण विचार कीजिये।

उत्तर—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में बहुत बड़ा मत-भेद है। कुछ ऐतिहासिक विद्वान् इसे १६ वीं शताब्दी की चन्द के नाम पर प्रचारित की हुई जाली रचना बताते हैं और इसे भाटों आदि की कल्पना मात्र "भट्टभणन्त" कहते हैं। कारण यह है कि पृथ्वीराज रासो में वर्णित पृथ्वीराज की जीवन-विषयक घटनाएँ अन्य प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों, काव्य ग्रन्थों, शिला लेखों आदि में वर्णित घटनाओं से भिन्न हैं। रासो में दिये हुए ऐतिहासिक पुरुषों के नाम आदि भी अन्य ऐतिहासिक सामग्री में आये नामों से मेल नहीं खाते। रासो में आये घटनादि के सन् संवत् भी मेल नहीं खाते। रासो की भाषा भी अस्तव्यस्त है, कहीं पुरानी, कहीं बीच के समय की और कहीं बहुत अर्वाचीन। रासो की जितनी भी प्राचीन और अर्वाचीन प्रतियां मिलती हैं, उनमें पद्य-संख्या भी भिन्न है। रासो को भाटों की कल्पना मात्र "भट्टभणन्त" मानने वाले आचार्यों के मन का यही आधार है। दूसरा मत रासो को सर्वथा प्रामाणिक मानकर चलता है। क्षेपक और परिवर्तनों की सत्ता यह भी स्वीकार करता है, परन्तु इस मत में पृथ्वी-

राज रासो महाकवि चन्दद्वारा ही बना था, जो पृथ्वीराज के समकाल में था। आज कल यह जिस रूप में मिलता है, यह इसका असली रूप नहीं है। इसकी भाषा मे परिवर्तन होते रहे हैं। क्षेपक अंग भी जोडे गये है। संवत् आदि का भी ऐतिहासिक संवतों से मिलान करने का ये चन्द समय में एक अन्य संवत् की सत्ता स्वीकार करके मार्ग निकाल लेते हैं। एक तीसरा बीच का मार्ग भी है, जो यह तो मानता है कि चन्द नामक किसी कवि ने पृथ्वीराज के समय में उसका रासो लिखा था, किन्तु यह नहीं मानता कि इसका रूप इतना विशाल था। इस मत में असली रासो का रूप बहुत छोटा था, इसमें इतने पद्य या श्लोक नहीं थे, बाद मे भाटों द्वारा नये नये क्षेपक गढ़ कर इसमे जोडे जाते रहने के कारण इसका इतना बड़ा रूप हो गया, जितने में कि यह मिलता है। अतः इसमें कितना और कौन सा अंश कल्पित है और कितना अकल्पित, यह जानना अत्यन्त कठिन है। इस मत में रासो का असली रूप अपभ्रंश भाषा में था, जो अब अप्राप्य है। इनके अतिरिक्त एक अन्य मत भी है। वह मानता है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के समय में था और उसने पृथ्वीराज का यश भी लिखा, किन्तु वह यश ग्रन्थ रूप में न होकर फुटकल पद्यों में लिखा गया था। ग्रन्थ रूप उनका सँकलन कर बाद में दिया गया। प्रमाण रूप में जैन ग्रन्थों में बिखरे रासो के फुटकल छन्दों का उदाहरण दिया जाता है। इस प्रकार, रासो की ऐतिहासिकता या प्रामाणिकता के विषय में अब ये चार प्रकार की मुख्य विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। अभी तक कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हुआ है। सॅक्षेप में इन सारे मतों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

अप्रमाणवादियों में सर्व-प्रथम जोधपुर के कविराजा मुरारीदान और श्यामलदान के नाम आते हैं, जिन्होंने रासो की प्रामाणिकता के विषय में शंका की। इनके बाद डा० बूलर (पंजाब यू० व०) पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा-प्रमुख ऐतिहासिकों ने इस मत को और भी विशद किया। इस मत में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता ओझा जी का नाम प्रमुखतया आता है। इन्होंने अपनी प्रबल युक्तियों, तर्कों और प्रमाणों के आधार पर रासो को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया। इनके मत में चन्द नाम का कोई कवि नहीं हुआ पृथ्वीराज के

समय में, न उसने पृथ्वीराज का रासो लिखा। यह तो १६ वीं शताब्दी में 'घडन्त' करके और इधर उधर से छन्दों का संकलन करके, चन्द के नाम पर भाटों चारणों द्वारा प्रचारित की हुई जाली रचना है, जिसका काव्य की दृष्टि से चाहे जो मूल्य हो, पर इतिहास की दृष्टि से तो कुछ भी नहीं। इनके मत का आधार निम्न हैं।

१. चन्द नाम का कोई कवि या भाट पृथ्वीराज के दर्बार में नहीं था। पृथ्वीराज के अन्य दर्बारी कवि काश्मीरी पण्डित जयानक ने अपने पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत काव्य में चन्द का कहीं नाम नहीं लिया है। उसने पृथ्वीराज के राजकवि को पृथ्वी-भट्ट कहा है। और, पृथ्वीराज विजय काव्य प्रामाणिक रचना है, क्योंकि उसके सम्वत् और घटनाएँ आदि ऐतिहासिक तथ्यों से मेल खाते हैं।

२. रासो की भाषा की भी रासो की प्रामाणिकता के विपक्ष में ही गवाही है। वह अस्थिर है, अव्यवस्थित है, अव्याकरणिक है, कुछ अत्यन्त प्राचीन रूप में भी है और बहुत सी बहुत नवीन रूप में है। उसमें अनेक भाषाएँ मिली हैं। प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, ब्रजभाषा, राजस्थानी का सम्मिश्रण है। अतः भाषा को देखते हुए उसे १६ वीं शताब्दी से पहिले की रचना वे नहीं मानते।

३. रासो की भिन्न भिन्न प्रतियों में श्लोक-संख्या भिन्न है, जिससे उसका आकार और रूप अनिश्चित है। सब प्रतिलिपियों की भाषा में भी अन्तर है। यह सब यही सूचित करता है कि यह अनेक भाटों द्वारा भिन्न भिन्न समय में बनाकर चन्द के नाम में प्रचारित रचना है।

४. रासो के संवत् ऐतिहासिक संवतों से मेल नहीं खाते। वे ९० १०० वर्ष पहले के सम्वत् हैं। पृथ्वीराज के जन्म मरण, गोरी से युद्ध आदि के सम्वत् अशुद्ध है। यह भी रासो की अनैतिहासिकता का ही सूचक है।

५. इसमें दिये गये पृथ्वीराज के भाई, बहन, माता, रानियों आदि के नाम अन्य इतिहास-ग्रन्थों और शिलालेखों आदि के विरुद्ध पड़ते हैं। अन्य, पृथ्वीराज विजय, हम्मीर महा काव्य, सुर्जन चरित्र आदि इतिहास-काव्यों में उनके नाम भिन्न दिए गये हैं। इसका अभिप्राय है कि यह पृथ्वीराज

के बहुत बाद की रचना है, समकाल को नहीं। नहीं तो नाम की अशुद्धि क्यों ?

६. रासो में वर्णित चौहानों की वंशावली भी अशुद्ध है। वह अन्य पृथ्वीराज विजय, हम्मीर काव्य, सुर्जन चरित आदि ऐतिहासिक काव्यों और बिजौल्या के शिला-लेखों की वंशावलियों से भिन्न है। उसमें के कुछ ही नाम ठीक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रासो के कर्ता को चौहानों की उत्पत्ति का भी पता नहीं था। उसने चौहानों को अग्नि-वंशीय कहा है, जब कि अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों आदि में उन्हें सूर्यवंशी कहा गया है। यह तथ्य भी रासो की अप्रामाणिकता ही सिद्ध करता है।

७. रासो की घटनाओं मे अनेक इतिहास-विरुद्ध हैं और अनेक कोरी कवि-कल्पना मात्र हैं, जिनका इतिहास मे कहीं वर्णन नहीं है। पृथ्वीराज का दिल्ली के राजा—अपने नाना—अनंगपाल की गोद जाकर दिल्ली—राज्य प्राप्त करना, पृथ्वीराज की बहिन पृथा का मेवाड़-राज राणा समरसिंह से विवाह, पृथ्वीराज और जयचन्द की पुत्री संयोगिता का प्रणय-परिणाम, पृथ्वीराज के ३६ वर्ष तक १४ विवाह और अन्त मे पृथ्वीराज का बन्दी बनाकर गौरी द्वारा गजनी ले जाया जाना तथा वहाँ अखाड़े में चन्द के संकेत पर पृथ्वीराज के तीर से गौरी का हनन, चन्द और पृथ्वीराज का पारस्परिक वध आदि अनेक घटनाएँ इतिहास–विरोधी और कल्पित है। इनका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। ये कोरी "भट्ट भणन्त" हैं। अतः रासो को प्रामाणिक या ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

यह मत बहुत प्रबल है। इसके अनेक तर्कों का अभी तक भी कोई सही समाधान नहीं कर सका है। श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इसी मत का अनुसरण कर कहते हैं, "अधिक संभव यह जान पडता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके भाई हरिराज, अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के हां कोई भट्ट कवि रहा हो, जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो कल्पित "भट्ट भणन्त" तैयार होता गया, उस सबको लेकर और चन्द को पृथ्वीराज का

समसामयिक मान, उसी के नाम पर, रासो नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।"

इस मत की अन्य भी अनेक ऐसी आपत्तियां हैं, जो रासो के विषय मे उठाई गई हैं, किन्तु उनमे प्रमुख उपयुक्त ही हैं। इस मत ने नागरी प्रचारिणी वाली रासो की बृहत्संस्करण की प्रति का आधार लिया है, जिसके विषय मे उपयुक्त आपत्तियां वस्तुत. उठाई जा सकती हैं। किन्तु लघु संस्करणों का आधार लेकर चलने से इनमें में से अनेक शंकाएँ निराधार हो जाती हैं। क्योंकि उनमें उन घटनाओं का वर्णन ही नहीं है। अनेक युक्तियों का उत्तर प्रतिपक्षी विचार रखने वाले विद्वानों ने अपनी नवीन खोज के आधार पर दिया है।

द्वितीय पक्ष के विद्वानों में सर्व प्रथम श्री मोहनलाल पाण्ड्या का नाम आता है, जिन्होंने रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों, ग्रन्थ साक्षियों और प्रबल युक्ति-तर्क के बल पर ओझा जी की कई शंकाओं का समाधान किया। सम्वतों की अशुद्धि इन्होंने एक 'अनन्द' सम्वत् की कल्पना करके दूर की। अनन्द सम्वत शास्त्रीय विक्रमी सम्वत से ९०—९१ वर्ष न्यून है। इसप्रकार से इन्होंने सम्वतों का समाधान किया। अन्य आपत्तियों का भी यथाकथंचित् कल्पना और तर्क का बल लेकर समाधान करने की चेष्टा की। किंतु सबका समाधान नहीं हो सका। इस मत में चन्द ने पृथ्वीराज के समय में ही रासो लिखा था, किन्तु उसके सकलन सम्पादन बाद में होते रहे, जिससे उसमें प्रक्षिप्ताश भी बढ़ते गए। इसी पक्ष में बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्र बन्धु, राव मोहनसिंह आदि के नाम आते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का मत है, 'साराश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो में प्रक्षिप्तांश बहुत अधिक है, पर साथ ही उसमें बीच बीच में चन्द के छन्द भी बिखरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन छन्दों का सग्रह, संकलन या सम्पादन सभवत· संवत् १६२६ और १६४२ के बीच में हुआ था। उसी समय बहुत कुछ घटा बढ़ा कर इन छन्दों को अन्य रूप दिया गया और पीछे तो न जाने कितना और अधिक जोड तोड कर उसका वर्तमान रूप प्रस्तुत किया

गया।" राव मोहन सिंह भी इसी मत के हैं। इन्होंने भी ओझाजी की युक्तियों और तर्कों का खण्डन करके रासो को प्रामाणिक माना है। साथ ही रासो के एक बहुत बड़े भाग को प्रक्षिप्त भी माना है। इन्होंने ओझाजी की तीन शंकाओं का समाधान किया है। संवतों के लिए तो इन्होंने भी एक दिल्ली-संवत् की सत्ता मानी है। दूसरे समाधान में इन्होंने पृथ्वीराज के गोद जाने आदि की घटना को सिद्ध किया है। वंशावली विषयक शंका का परिहार उस छन्द को प्रक्षिप्त सिद्ध करके किया है। डा० दशरथ शर्मा भी रासो को प्रामाणिक मानने वाले हैं। इन्होंने बीकानेर वाली लघुसंस्करण की प्रति का आधार लेकर, ओझाजी की पांच शंकाओं का समाधान किया है, जिसमें इन्हें कुछ कष्ट-कल्पना भी करनी पड़ी है, पर फिर भी ये पर्याप्त सफल रहे हैं। (देखिये सा० र० प्रश्न पत्र २ सं० २००४ प्रश्न ७) इन सभी विद्वानों ने ओझाजी आदि के मत की अनेक शंकाओं का समाधान किया है, अपनी अपनी खोज के आधार पर। किन्तु फिर भी ओझाजी की अनेक युक्तियां रह जाती हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया गया है।

वस्तुतः इस विषय में अभी बहुत खोज की आवश्यकता है। तब कुछ निर्णय किया जा सकता है। प्राप्त अधूरी ऐतिहासिक सामग्री के बल पर कोई निर्णय नहीं हो सकता। युक्तियां और तर्क एवं प्रमाण दोनों ही पक्षों के प्रबल हैं। ऐसी दशा में मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है। रासो को बिल्कुल जाली मानना भी ठीक नहीं है और उसे इसी रूप में प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ भी मानना ठीक नहीं है। रासो चन्द द्वारा, पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया था। इसकी भाषा अपभ्रंश नहीं तो अपभ्रंश के अत्यन्त निकट अवश्य थी, जैसा कि जिन विजय मुनि द्वारा उपलब्ध पृथ्वीराज रासो के कुछ-एक पद्यों की भाषा से सिद्ध होता है। बाद में उसमें अनेक क्षेपक मिलते रहे, जिससे उसकी आकार-वृद्धि भी होती रही और भाषा-भेद भी होता रहा। अतएव अनेक घटनाओं में भी विभेद आगया। अनेक कल्पित अंश भी जोड़े गये। जयानक ने यद्यपि चन्द का नाम नहीं लिया, पर एक 'वृत्त संग्रह में पटु' चन्द्र राज कवि का अवश्य वर्णन किया है। तो क्यों न उसी को चन्द माना जाय? चन्द को भी जाली क्यों माना जाय? रासो की भाषा यद्यपि

रहते थे और स्वयं युद्ध में साथ जाकर युद्ध का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे। अतः उनका वीर वर्णन और युद्ध वर्णन अधिक स्वाभाविक और विशद है। और, संस्कृत में वीर-वर्णन सुनी सुनाई बातों के आधार पर होता था, अतः वह अस्पष्ट और अस्वाभाविक सा है। इनका यह मत सर्वथा ठीक है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो विशेषता उन्होंने डिंगल के वीर वर्णन की बताई है, वह अवश्य मान्य है। उन्होंने बताया है कि डिंगल के कवियों ने केवल पुरुष की वीरता का ही चित्रण नहीं किया, अपितु नारी में वीर भाव का भी अनुपम चित्रण किया है। वीर गाथा काल और आधुनिक काल को छोड़कर, साहित्य के अन्य किसी भी काल में नारी की वीर भावना का वर्णन प्रायः नहीं हुआ है। यह सौभाग्य हिन्दी साहित्य के प्रथम काल को ही प्राप्त हुआ है कि उसने नारी के सौन्दर्य और माधुर्य के साथ, उसके वीर भाव का भी सुन्दर अभिव्यंजन किया है। यह बात संस्कृत के वीर वर्णन में भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं होगी। संस्कृत के कवियों ने नारी के सुन्दर और मधुर रूप का ही अधिकांश में चित्रण किया है। इसी रूप को उन्होंने प्रमुखता दी है। किन्तु डिंगल कवियों ने नारी के सौन्दर्य और वीरता दोनों का चित्रण किया है।

अतः डिंगल काव्य की राजपूत वीरांगना की प्रथम विशेषता यह थी कि वह स्वयं वीर थी, वीर पत्नी थी और वीर प्रसविनी थी। भय उसके पास नहीं था। वह मृत्यु से नहीं डरती थी। प्राण और मान पर मर मिटना उसके लिए भी उतना ही आसान था, जितना कि पुरुष के लिए। उस समय की परिस्थिति ही ऐसी थी। लड़ाई, झगड़े, मुसलमानी हमले आदि का समय था। आये दिन युद्ध के डंके बजते थे। युद्ध-कर्म क्षत्रिय या राजपूत का प्रथम धर्म था, जिसके सामने वह किसी को कुछ नहीं समझता था। उसे विश्वास था कि युद्ध में मरते ही वह सीधा स्वर्ग पहुँचेगा। अतः वह युद्ध से मर कर ही हटता था। वीर पत्नी के भी विषय में यही बात थी। वह कायर पति नहीं चाहती थी, जो युद्ध से भागकर उसके दामन में आकर मुँह छुपाये या शत्रुओं से उसकी बेइज्जती कराये। वे चाहती थीं, उनका पति युद्ध से न भागे, चाहे मारा जाय। वे पति को युद्ध में मरा जानकर प्रसन्न

होती थीं। किन्तु उनके प्रेम और कर्त्तव्य की भी कोई सीमा नहीं थी। वे पति के साथ स्वयं सती हो जाती थीं। बड़ा गौरव समझती थीं, इस कार्य में। जहाँ जिस कुल में कोई सती होती थी, उसकी पूजा होती थी। सती होते समय अपने हाथ से घर के द्वार पर जो अपना पंजा थाप जाती थीं, लोग उसे पूजते थे। इस प्रकार की असंख्य घटनाएं राजपूताने के इतिहास में मिलेंगी। कन्या वीर पति चाहती थी, स्वयं भी शस्त्र विद्या में पर्याप्त शिक्षित वीर-अगना थी। माताएं कायर पुत्र नहीं मांगती थी, जो उनकी लाज की रक्षा न कर सके। बहिनें वीर भाई चाहती थीं, जो कुल के मान की रक्षा कर सके। वे सुन्दरी भी अत्यन्त होती थीं, किन्तु वह सौन्दर्य वीरता का अंग होता था। उनकी सुन्दरता जितनी मधुर और कोमल थी, उतनी ही कटु और कठोर भी। वे प्रेम के लिए प्राण तक देने को तैयार रहती हैं, किन्तु कायरता उनके प्रेम में भी नहीं सह्य है। चाहे कितना ही प्रिय हो पति, युद्ध से भागकर आया, उनकी घृणा और भर्त्सना ही प्राप्त कर सकता है। माताएं पुत्र-वधू के सती होने के समय में आनन्द मनाती हैं। मातृ-भूमि के लिए और अपने क्षात्र धर्म और कुल के मान के लिए मरना माता बच्चे को पलने में ही सिखा देती है। वीरांगनाओं के, डिंगल के कवियों ने, ऐसी ही वीर-भावनाओं से युक्त चित्र उतारे हैं। उनकी नायिकाएं या वर्ण्य वीर-अंगनाएँ इन्हीं भावनाओं की प्रतीक हैं। उन्होंने नारी की वीर भावना के ऐसे ही विविध सुन्दर रूपों को विशेष प्रमुखता दी है। रूप और शृंगार भी साथ रहे हैं, किन्तु वीर प्रधान रहा है। कुछ एक उदाहरण नीचे देखिये।

नायण आज न मांड पग, काल सुणीजै जग।
धरा लागीजै धणी, तौ दीजै घण रङ्ग॥

कल युद्ध है, इसलिए नायन! पांव न रङ्ग। पति धराशायी हुआ तो सती के समय खूब रङ्गना। देखिये, शृंगार कैसे वीर का अङ्ग बना है! प्रत्येक राजपूत वीरांगना शृंगार के अन्य साधनों के साथ सती होने का नरियल भी सदैव रखती है। इस उत्सर्ग में उनमें कर्तव्य की कठोर भावना ही नहीं है, उसमें उनका आन्तरिक उत्साह दिखाई पड़ता है। उनका विश्वास होता है,

इस प्रकार जाकर पति से स्वर्ग में मिला जा सकता है। क्योंकि पति भी युद्ध में मरने के कारण स्वर्ग में ही जाता है। राजपूत वीरांगना की इस सती होने की अभिलाषा या भावना का डिंगल के कवियों ने अनेक रूपों में वर्णन किया है। देखिये—

ऊभी गोख अवेखियो, पेखां री दल मेर।
पड़ियो धव सुणियां नहीं, लीधौ धण नालेर॥

शत्रुओं की सेना को प्रबल देख कर, पति की मृत्यु सुनने से पहिले ही झरोखे में खड़ी राजपूत बाला सती होने का नरियल हाथ में उठा लेती है। करुण और वीर का कैसा सुन्दर संयोग है!

पति ने युद्ध के लिए "केशरिया बाना" (मरण सूचक) पहना है तो पत्नी ने सती होने के लिए केशरिया बाना पहिना है। इतने में रङ्ग रेज चुंदड़ी लेकर आ जाता है—

पिउ केसरियां पट किया, हूं केसरिया चीर।
नाहक लायों चूँदड़ी, बलती वेला बीर॥

कितनी अगाध आस्था, दृढ़ता, प्रेम और त्याग की उच्च भावना व्यंजित होती है! सतीत्व की कितनी ऊँची भावना है!

सूरातन सूरां चढ़ै, सत सतियां सम दोय।
आडी धारी ऊतरै, गणै अनल नूँ तोय॥

शूर और सती दोनों पर तेज चढ़ता है। वह तलवार की धारों पर तैरता है और वह आग को भी पानी समझती है। दोनों बराबर हैं। देखिये युद्ध से भाग कर आये, अपने सती होने के मन्सूबों पर पानी फेरते हुए, कायर पति को राजपूत बाला क्या कहती है—

की घर आवैं थें कियो, हथियां बलती हाथ।
धण! थारे घण नेहड़ै, लीधो वेगि बुलाय॥

घर आकर क्या लिया? मैं भी तुम्हारे साथ जल मरती। (पति) प्रिये! तुम्हारे प्रेम ने ही जल्दी बुला लिया। पत्नी भरसना करती है—

पूतारे बेटा धियां घर में बधियो जाल।

अब तो छांडो भागणो, सीस लुभायो काल ॥

कहती है, कंत ! तुम ये चूड़ियां और पहिनावा पहिन लो—

यो गहणो यो वेस अब कीजै धारण कन्त ।
हूं जौगण किण कामरी चूड़ा खरच मिटन्त ॥

कितना असह्य तिरस्कार है ! वह आदेश देती है—

जे खल भग्गा तो सखी, मोताहल सज थाल ।
निज भग्गा तो नाहरौ, साथ न सूनो टाल ॥

शत्रु भागें तो स्वागत की तैयारी, पति हारने पर सती की तैयारी करने को कहा जा रहा है। वह ये दो बातें नहीं बर्दाश्त कर सकती—

सहणी सबरी हू सखी, दोउर उलटी दाह ।
दूध लजाणे पूत सम, वलय लजाणे नाह ॥

पूत दूध न लजाये और स्वामी सुहाग के कंगन को न लजाये। देखिये पाणिग्रहण के समय ही, तलवार पकडने से कर्कश हुए पति के हाथ के स्पर्श से, उसे वीर जान कर, प्रसन्न हो रही है—

हथ लेवे ही मूठ किण, हाथ विलग्गा माय ।
लाखाँ बाती हेकलो चूडो मो न लजाय ॥

वह युद्ध से भाग कर उस के चूडो (सौभाग्य-चिन्ह) को नहीं लजायेगा। उसका कर्कश हाथ उसके सतत खड्ग व्यवसाय का सूचन करता है। युद्ध से भागे हुए पति को पत्नी मृतकवत् मानती है—

मणिहारी जारी सखी ! अब न हवेली आव ।
पति मुआ घर आवियां, विधवां किसा बणाव ॥

पति के युद्ध में जाने पर, वीरांगणा ने सती होने को महगे इत्र का आर्डर दे रखा था। पर पति देव युद्ध से घर भाग आये। इत्र-वाली उसे कोस रही है—

गंधण कूकी रे गजब, भूँडा आगम भौण ।
वलण कढायो अतर घण, मुंहगो लेसो कौण ?

अब इस महँगे छत्र को कौन लेगा ? देखिये पलने में ही माता पुत्र को मरण की शिक्षा दे कर क्षात्र धर्म सिखा रही है—

इला न देणी आपरी, हालरिया हुलराय ।
पूत सिखावै पालणों, मरण बड़ाई माय ॥

माता अपनी भूमि न देने और मरने की शिक्षा दे रही है। एक कायर की पत्नी का भी चित्र देखिये। वह पति को घर में छुपा कर परमेश्वर से प्रार्थना करती है कि प्रभो ! ऐसा देश न दिखाना, जहाँ सिरों का मोल होता हो—

कायर की धण यूँ कहै, छानै कंत छिपाय ।
सीर बिकै जिण देसड़ै, सांई सो न दिखाय ॥

स्त्री के विषय में कहा गया है कि वह जैसे भी पुरुष के पास रहेगी वैसी ही बनेगी—वीर के पास वीर और कायर के पास कायर—

नरां न ठीणो नारियाँ, ईसत संगत एह ।
सूरां घर सूरी महल, कायर कायर गेह ॥

संक्षेप में, इसी प्रकार का सुन्दर और वीर रूप डिंगल के कवियों ने नारी का उपस्थित किया है।

३. देव और बिहारी के काव्य-सौष्ठव का तुलनात्मक परिचय दीजिये।

उत्तर—बिहारी और देव के काव्यों के विषय में भारी मत भेद है विद्वानों में। कुछ विद्वान् बिहारी को ऊँचा स्थान देते हैं और कुछ देव को। दोनों ही रीतिकाल के शृँगारिक, चमत्कार-प्रिय कवि थे। बिहारी ने आचार्य-ग्रन्थ नहीं लिखे, पर वे आचार्य अवश्य थे। देव ने आचार्य ग्रन्थ भी लिखे और कविताएं भी बहुत लिखीं। दोनों ही ब्रज भाषा के भी आचार्य थे। दोनों में समानता भी है और विभेद भी है। दोनों ही की कविताएं उच्चकोटि की कलापूर्ण हैं। दोनों के ही साहित्य को विभिन्न आचार्यों ने विस्तृत आलोचनाएँ करके, उनका हिन्दी साहित्य में स्थान निश्चित किया है। बिहारी के पक्ष-पातियों ने बिहारी को उच्च स्थान दिया है और देवकों ने देव

को। विहारी के पक्ष-पातियों में प्रथम पं० पद्मसिंह जी और ला०भगवानदीन जी के नाम आते हैं। पं० पद्मसिंह का विहारी के दोहों के बारे में मत है, "सतसई में किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है? इस खांड की रोटी को जिधर से तोड़िये उधर से ही मीठी है। इस जौहरी की दुकान में सभी रत्न अपूर्व हैं। ·············· सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्द-रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़ कर दूसरी जगह उसकी समता मिलना दुर्घट है। ·····भाषा के जौहरी भाव से भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा पर लट्टू हैं।" मिश्र बन्धुओं ने उपर्युक्त मत और अन्य विहारी-पक्षपाती मतों की आलोचना करके अन्त में अपना यह निर्णय दिया है, "भाषा-माधुर्य और प्रसाद गुण देव जी की कविता में विहारी लाल जी की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। भाषा का समुचित नियन्त्रण करते हुए गंभीरता पूर्वक भाव का निर्वाह करने में देव जी अद्वितीय हैं। ··· अतिशयोक्ति के वर्णन में विहारीलाल के साथ सफलता पूर्वक टक्कर लेते भी स्वभावोक्ति और उपमा के वर्णन में देवजी अपना जोड़ नहीं रखते। मानुषी प्रकृति और प्राकृतिक वर्णन करने में देव जी की सूक्ष्म-दर्शिता देख कर मन मुग्ध हो जाता है। वारीक-बीनी में विहारी लाल से देव जी कम नहीं हैं, पर दोनों में भेद केवल इतना ही है कि देव जी का काव्य तो हृदय को पूर्ण रूप से वश में कर लेता है··················लेकिन विहारी लाल में यह अपूर्व बात न्यून मात्रा में हैं। अधिक कहने पर भी इनकी (देव की) कविता में शिथिलता नहीं आने पाई है। एक मात्र सतसई के रचयिता के कुछ दोहे कोई भले ही शिथिल कहले, पर दर्जनों ग्रन्थ बनाने वाले देव जी के काव्य में शिथिल छन्द कहीं ढूंढने पर न मिलेंगे।·········देव जी पैदा-यशी कवि थे। क्या विहारी लाल के विषय में भी यह बात कही जा सकती है? शृंगार कविता के अन्तर्गत सानुराग प्रेम के वर्णन में देव जी का सामना हिन्दी भाषा का कोई भी कवि नहीं कर सकता। सारांश यह कि हमारी राय में शृंगारी कवियों में देवजी का स्थान पहिले है और विहारी लाल का बाद को।"

इनके विपरीत श्री [दीन] दीन जी की सम्मति देखिये। इनके मत में,

"बिहारी की कविता बहुत ऊँचे दर्जे की है, देव उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचे। बिहारी प्राकृतिक कवि थे, देव तुकपिट कर कवि बने थे। बिहारी की भाषा निहायत साफ और चुस्त है। देव तो भाषा की हत्या करते हैं और व्यर्थ शब्द गढ़ते हैं। बिहारी का लक्ष्य कविता करना होता था, देव का लक्ष्य केवल अनुप्रास मिलाना और अनगढ़ तुकान्त बिठाना। बिहारी के दोहे अद्वितीय हैं। देव के ·· ··सवैया छन्द अच्छे हैं। दोहे बिल्कुल मामूली हैं और कवित्त बिल्कुल प्रसाद-गुणहीन। शब्दालंकारों और शब्दाडम्बर को अधम काव्य मानते हुए भी देव ने अनुप्रास और यमक के लिये शब्दों का रूप बहुत बिगाड़ा। बिहारी कवि थे, देव केवल रीति-ग्रन्थ लेखक जान पड़ते हैं। देव के केवल रूपक ही अच्छे हुए हैं। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति तो देव कहना ही नहीं जानते। शब्दों और मुहावरों के प्रयोग का तो देव नाम भी नहीं जानते। ·· बिहारी में ये चीजें बहुत अधिकता और उत्तमता में पाई जाती हैं।" इससे आगे दीन जी की सम्मति अत्यन्त कठोर है, "बिहारी हिन्दी साहित्य का चौथा रत्न है (तुलसी सूर और केशव के बाद)। देव बहुत नीचे दर्जे का कवि है। देव हिन्दी साहित्य को बदनाम करने वाला प्रथम कवि है।' देव को आचार्य मान कर किसी ने उसकी पैरवी नहीं की, बिहारी की विलक्षण बुद्धि का पाकर अनेक बुद्धि-विचक्षणों ने उनकी सफाई के ढंग पर ग्रन्थ रचने की चेष्टा की है। देव के ग्रन्थों ने अपने गन्देपन तथा प्रसाद-गुण-विहीनता के कारण ही अब तक प्रकाश का मुँह नहीं देखा, बिहारी के दोहे बनने के समय से लेकर अब तक २२ टीकाकार पा चुके हैं। कारण? बिहारी सच्चा और पवित्र बुद्धि वाला सरस्वती-पुत्र था। देव गन्दा पुत्र था। बिहारी की कविता ने सर्व-प्रिय कहावतों का रूप धारण किया। देव की कविता को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सकता। हम बिहारी को एक महाकवि मानते हैं और देव को तुक्कड़ कवि (पर तुक्कड़ों में अच्छा)।" कहने की आवश्यकता नहीं, दोनों ही मतों में पक्ष-पात दिखाई देता है, अतएव इतने परस्पर विरुद्ध हैं। तो भी दोनों कवियों के काव्य-सौष्ठव की अनेक सत्य विशेषताओं का इन मतों में कथन हुआ है। आगे निष्पक्ष आलोचक आचार्य शुक्ल जी का भी दोनों के विषय में मत देखिये— 'शृङ्गार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना

मान विहारी सतसई का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिन्दी साहित्य का एक एक रत्न माना जाता है। ···· मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिये वह विहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचा हुआ है, उसमें कोई सन्देह नहीं। ··· ·· जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता विहारी में पूर्ण रूप से विद्यमान थी। ·· ··· ··इनके दोहे क्या हैं, रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। · ···अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई श्रृङ्गारी कवि नहीं कर सका है। · · · · कहीं कहीं इनकी वस्तु-व्यञ्जना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है।··· · ···अलङ्कारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई कई अलङ्कार उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। ····· ··केवल शब्द-वैचित्र्य के लिए विहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं।········ विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है।······भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अङ्गभङ्ग किया है और कहीं कहीं गढ़न्त शब्दों का प्रयोग किया है। विहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।· ·· · विहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आंका गया है, उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से ही समझना चाहिये··· · · ·। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं····· ·· उनका सन्तोष विहारी से नहीं हो सकता। विहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय और संगीत का संचार नहीं करता, जिस की स्वर धारा कुछ देर तक गूंजती रहे। · ······मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का सा गूँजने वाला प्रभाव विहारी के दोहों का नहीं पड़ता दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप विहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं

पहुँचती, नीचे रह जाती है।" देव के काव्य-सौष्ठव के विषय में इनकी सम्मति है, "रीति काल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सब से अधिक ग्रन्थ-रचना देव ने की है।…… · ये आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं।··· · ···आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।·········कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी, पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष बाधक हुई है। कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बांधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंगभंग करके सारे पद्य को कीचड में फंसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं कहीं शब्द-व्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।········तुकान्त और अनुप्रास के लिए ये कहीं कहीं शब्दों को ही तोडते मरोड़ते नहीं थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे।······इनका सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीति काल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है।"

उपर्युक्त तीनों चारों मतों के अनुशीलन से बिहारी और देव के काव्य-सौष्ठव की तुलनात्मक विशेषताएं पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम के तीनों मत पक्षपात युक्त होने पर आचार्य शुक्ल जी के मत से सब बात स्पष्ट हो जाती है। इन्होंने वास्तविक रूप में निस्पक्षपाततया दोनों की काव्य गत सुन्दरताओं और कमियों का दिग्दर्शन करा दिया है। दो एक बिहारी के उदाहरण भी—

अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जित चितवत इक बार॥

❀ ❀ ❀ ❀

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली! कली ही सों बिंध्यो आगे कवन हवाल?

❀ ❀ ❀ ❀

तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अन-बूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अङ्ग ॥—बिहारी।

❀ ❀ ❀ ❀

डारद्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के,
सुमन भिंगूला सोहै तन छबि भारी है
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै देव,
कोकिल हलावै—हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
कुन्द कली नायिका लतान सिर तारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥—देव।

❀ ❀ ❀ ❀

सूनो कै परम पदु ऊनो कै अनन्त मदु,
दूनो कै नदीस नदु इन्दिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी बिथुरै परी।
भादों की अन्धेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय कै संयोग देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार पर-ब्रम्ह रासि,
जसुदा के कोरै एक बार ही दुरै परी॥—देव।

हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख बेलिसी केलि घनेरी;
मैं पहिरौ पिय को पियरो, पहिनी उन री! चुनरी चुनि मेरी।
देव कहा कहौं, कौन सुनै री! कहा कहे होत, कथा बहुतेरी;
जे हरि मेरी धरैं पगजाहरि ते हरि चेरी के रङ्ग रचेरी॥—देव।

नोट:—दोनों के काव्यों की तुलनात्मक अलोचना के लिए देखिये सा० र० अक्ष पत्र २ संवत् २००२ प्रश्न ४।

अथवा

नारी की प्रकृति के कुछ रूपों का निरूपण करने में देव को जैसी सफलता

और सत्य मनोविज्ञान पूर्ण चित्रण किया है । देव और विहारी दोनों हीं मानव स्वभाव-विशेषतया नारी-स्वभाव-के सूक्ष्म पारखी थे। इसका परिचय दोनों की नायिकाओं के वर्णन में मिल जाता है।

किन्तु दोनों की शैली और सीमा भिन्न थी। विहारी का छन्द दोहा है। उसका समस्त काव्य दोहा-मय ही है। स्पष्ट ही दोहा जैसे छोटे से छन्द मे किसी रूप का विशद-चित्रण संभव नहीं। तस्वीर के सभी पहलू उसमे नहीं समा सकते। उसके कुछ ही रूपो का वर्णन हो सकता है। विहारी का क्षेत्र ऐसा ही सकुचित है। उसने तोभी इसी छन्द में नायिकाओं के इतने सुन्दर चित्र खींचे हैं कि देखते ही बनता है। उन मे अपूर्णता नहीं प्रतीत होती। दोहे का एक एक पद भाव का चित्र खड़ा करता जाता है। जो कमी रहती है, उसे सहृदय की कल्पना पूरी कर लेती है अनायास और इस प्रकार चित्र पूर्ण हो जाता है। नीचे एक ऐसा ही चित्र है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

नायिका बात करने का बहाना बनाने को मुरली छुपा देती हैं। फिर सौंह करती हैं, हँसती हैं और नट जाती है।

अभिसारिका देखिये —

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैक न होति लखाइ।
सौंधे कें डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ॥

चांदनी रात में चन्द्र की सी कान्तिवाली नायिका मिल गई। और भी—

चितइ ललचौंहे चखनु, डटि घूंघट पट मांह।
छल सौ चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह॥

नायिका छाया से छाया छुहा कर, घूंघट में से देखकर चल दी है। अनुराग की मर्मिक अभिव्यंजना है। और भी—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन मैं करत है, नैननुही सब बात॥

नायिका की मधुर चेष्टाओं से ही उसका रूप उपस्थित किया है। पूर्ण शृंगार रस भरा है। आलम्बन का उसकी रसमयी चेष्टाओं से ही चित्र उपस्थित किया गया है। रति और उसके साथ संचारियों का कैसा अनवरत सम्बन्ध है!

इनमें कोई भी चित्र अधूरा नहीं है। सहृदय के सामने भाव या रस का पूर्ण चित्र उपस्थित हो जाता है। अवश्य ही कुछ रंग सहृदय की कल्पना को भरने पड़ते हैं। किन्तु कल्पना को छेड़ देने वाले—उसको उद्गत करने वाले—और उसका पथ-प्रदर्शन करने वाले संकेत और तत्व भी तो दोहे में ही हैं। बिहारी ने इन संकेत—मूलक अभिव्यंजनाओं से नायिकाओं और उनकी भावनाओं के विशद चित्र उपस्थित किये हैं। बिहारी को अपनी भाषा और भावप्रकाशन की सामर्थ्य पर पूर्ण अधिकार है। अतएव वे छोटे छोटे संकेतों, चेष्टाओं आदि से सफल चित्र उपस्थित करते हैं। वह चित्र अधिकतया व्यंजना द्वारा ही उपस्थित किया जाता है। अभिधा असमर्थ रहती है। स्थूल वर्णन को दोहे में अधिक गुंजाइश नहीं रहती।

देव ने नारी-चित्र कवित्त और सवैयों में ही विशेष उतारे हैं। भाषा पर देव को भी अधिकार था। काव्य-पण्डित भी वे वैसे ही थे। इनका क्षेत्र-छन्द और विषय-दोनों विस्तृत थे। इन्होंने नायिका भेद का पूरा ग्रन्थ लिखा, जब कि बिहारी ने केवल सतसई लिखी, जिसमें अन्य विषय भी हैं। छन्द देव का बड़ा था। अतः स्वभावतः चित्रण को उसमें पर्याप्त गुंजाइश होती है। देव ने उस गुंजाइश का पूर्ण और उचित उपयोग किया है। उनके नायिका वर्णन में स्थूल रूप वर्णन आदि भी हुआ है और नारी की अन्तर्भावनाओं का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। नारी के किसी भी भाव का देव पूरा चित्र उपस्थित कर सके हैं, जिसमें कोई पहलू छूटा हुआ नहीं है। देव प्रतिभा सम्पन्न भावुक कवि थे। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर विविध नायिकाओं के मनोभावों के विविध दशाओं में सुन्दर चित्र उतारे हैं। एक दो उदाहरण—

सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि,
रिसानी पियसों जु उन नेकु हँसि छुयो गात।

देव वै सुभाय, मुसकाय, उठि गए यहि,
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोत पायो प्रात।
को जानै री वीर! बिनु बिरहि बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछताय, न कछू सोहात।
बड़े बड़े नैनन से आंसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरोसो बिलानो जात॥

विरह में रो रो कर नायिका का बुरा हाल हो रहा है। और भी—

पीछे पर धीनै धीनै संग की सहेली आगे,
भार डर भूषन डगर डारै छोरि छोरि।
मोरै मुख मोरनि, त्यौं चौंकत चकोरनि त्यों,
भौंरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि मोरि।
एक कर आली-कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै, देव चलै चित चोरि चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज—
हंसन चुगावति मुकतमाल तोरि तोरि॥

कैसा सुन्दर और विशद चित्र है! देखिये प्रेम के सामने नायिका को किसी की पर्वाह नहीं—

कोउ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोउ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बरलोकन में,
लीन्हीं में अलीक लोक लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीत पट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं॥

देखिये मिलन से प्रथम ही उरोजों पर प्रेमांकुर कैसे उठ आते हैं—

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये,
सीख सयान सखीन सिखायो बड़े सुख सासुरेहूके सुनाये।

थोरियो बोल सदा हंसि कोमल जे मन-भावन के मन भाये,
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये।

रस-केलि देखिये—

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी यहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी।
बांह गही ललचाइ लला, मुख नाहीं कही मुसकाई किशोरी॥
तोरि न लाज जेठानी सखीजन देव ढिठाई करैं नहीं थोरी।
लाल जितै चितवैं तियपै तिय त्यो त्यों चितौनि सखीन कि ओरी॥

अन्य भी—

दूरि धरो धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज,
सेज के समीप छहरान्यो तम तोम सो।
दूलहै दुराइ आली केलि के महल गई,
पेलि कै पठाई वधू सरद के सोम सो।
अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु,
देव जोरु कै जनावै नव यौवन के जोम को।
लाल के अधर बाल अधरनि लागिलागि,
उठी मैन आगि पंघिलान्यो मन मोम सों॥

इसी प्रकार के देवने अनेक रसमय चित्र उतारे हैं नायिका और उसकी भावनाओं के। किन्तु यह कहना कि इस चित्रण में देव को विहारी से अधिक सफलता मिली है, ठीक नहीं है। दोनों ही कवियों ने अपनी अपनी शैली से नारी—प्रकृति के सुमधुर चित्र सफलता पूर्वक उतारे हैं। विहारी का क्षेत्र सीमित था और साहित्य भी सीमित ही था—केवल ७०० दोहे। तो-भी विहारी के नारी—स्वभाव के चित्रण को देव से अवर नहीं ठहराया जा सकता। विहारी का कोई चित्रण नीरस अस्वाभाविक या अधूरा नहीं है। विहारी को उसमें पूर्ण सफलता मिली है। हां, उसकी शैली भिन्न है। अपनी सीमाओं के कारण विहारी ने संकेतात्मक, अभिव्यंजनात्मक शैली से काम लिया है। इसके लिए उन्हें कवि—प्रसिद्धियों या शास्त्रीय प्रसिद्धियों से भी सहायता मिली है। तभी वे अपने चित्रों को सफल बना सके हैं। उनकी शैली अत्यन्त संक्षिप्त, संकेत—चित्रमय और व्यंजनात्मक है। देव की सीमा विस्तृत

थी। बड़े छन्द में कोई चित्र खींचने के लिए बांधनू भी बड़ा ही बांधना पड़ता है। देव ने भी मजमून अच्छे बांधे हैं। कभी कभी छन्द पूर्ति के लिए उन्हें भरती के शब्द भी रखने पड़े हैं, जिससे वहां अधिक-पदत्व या व्यर्थ- दत्व दोष भी आ जाता है। विहारी संक्षिप्त हैं, तो देव विशद हैं। विहारी ने अधिकतया सकेतों और व्यंजना से काम लिया है। देव ने वस्तु चित्रण या स्थूल चित्रण से भी बहुत काम लिया है। उनके चित्रण में अभिधा से भी पूरी सहायता ली गई है। अतः देव के नारी स्वभाव के चित्र, इस अर्थ में, बेशक विहारी से विशद हैं, नहीं तो, विहारी भी नारी चित्रण में देव से कम सफल नहीं रहे हैं।

दूसरे, देव के नारी चित्र पर अश्लीलता का भी गहरा दोष लगाया जाता है। इनका श्रृंगार वर्णन अनेकत्र श्लीलता की कोटि को पार करके हुआ है। इनके चित्रों में अश्लीलता झलक आती है। विहारी इस दोष से बहुत बचे हैं। विहारी का श्रृंगार वर्णन या नायिका वर्णन सीमा-बाह्य नहीं हुआ है। देव से इस विषय में साहित्यिकों को पूरी शिकायत है। स्व० दीन जी ने इसी अश्लीलता के कारण इन्हें 'हिन्दी साहित्य को बदनाम करने वाला प्रथम कवि" कहा है। यह उक्ति यद्यपि पक्षपातपूर्ण है, तो भी इसमें सत्यांश है। अन्य साहित्यिकों को भी देव के विषय में यह आपत्ति है। देव के नायिका भेद में ऐन्द्रियता बिलकुल वाच्य हो जाती है, किन्तु विहारी में वह व्यंग्य और सयत रहती है।

अतः विहारी और देव के नायिका वर्णन के विषय में उपर्युक्त उक्ति सर्वथा पक्षपात-शून्य नहीं है।

४. "बानी सों सहित सुबरन है मुहर जहां, धरत बहुत भांति अरथ समाज को। संख्या करि लीजै अलकार अधिक यामें, राखौ मति ऊपर सरस समाज को।।" सेना पति ने अपनी कविता के विषय में यह गर्वोक्ति की है। आपकी समझ में यह कहां तक ठीक है ? युक्ति-युक्त निरूपण कीजिये।

उत्तर—सेनापति की उपर्युक्त गर्वोक्ति उनके मुँह से फबती है, बुरी नहीं लगती। उन्होंने अपनी कविता की वास्तविक विशेषताएं ही ऊपर

कहीं हैं। सेनापति ऊंचे दर्जे के कवि थे, जिन्हें काव्य कला और भाषा पर पूरा अधिकार था। सेनापति ने अपनी कविता की ये विशेषताएं बताई हैं, "स्वर या संगीत, सुवर्ण, अर्थ-गौरव या अर्थ-बहुलता, अलंकार-पूर्णता और सरसता।" ये विशेषताएं किसी भी उच्च कोटि के काव्य की विशेषताएँ हैं। सेनापति के काव्य में ये पूर्णतया उपलब्ध हैं। उनकी रचना में संगीत है, सुन्दर वर्ण हैं, अर्थ-गौरव और सरसता पूरी तरह रहते हैं। और, अलंकार तो उसमें भरे पड़े हैं। सेनापति इन सभी के प्रयोग में दक्ष थे। उनकी कविता का भाव-पक्ष जितना सुन्दर है, कला पक्ष भी उतना ही, बल्कि उससे बढ़कर, सुन्दर है। एक उदाहरण—

दामिनी दमक सुरचाप की चमक स्याम,
घटा की झमक अति घोर घन घोर तें।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित तित,
सीकर तें सीतल समीर की झकोर है।
सेनापति आवन कह्यो है मन भावन सु,
लाग्यो तरसावन विरह जुर जोर तें।
आयो सखी! सावन मदन सरसावन,
लग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर ते॥

भाषा देखिये कितनी संगीतमय है। अनुप्रास और यमक की कैसी बहार है! कवि ने एक एक अक्षर चुन चुन कर रखा है। रस-मयता भी साथ है। रति का उद्दीपन होता है। भाषा का माधुर्य और संगीत और देखिये—

बिंब है अधर बिम्ब कुन्द के कुसुम दन्त,
उरज अनार निरखत सुखकारी हैं।

  

और भी—

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नैकु न कमल उपमा को नियरात है।

नीके अनियारे अति चपल ढरारे प्यारे,
ज्यौं ज्यौं मैं निहारे त्यौं त्यौं खरौ ललचात है।

  

अर्थ—समाज देखिये, वाला को नवग्रहों की माला बना दिया गया है। रूपक का सुन्दर उदाहरण है—

अरुन अधर सोहै सकल वदन चन्द,
मंगल दरम्म बुध बुद्धि के विसाल हैं।
सेनापति जासों जुव जन सब जीवत हैं,
कवि अति मन्द मति चलत रसाल है।
तम है चिकुर, केतु काम की विजय निधि,
जगत जगमगत जाके जोति जाल है।
अम्बर लसत भुगवति सुख रासिन सों,
मेरे जान वाल नव ग्रहन की माल है॥

और देखिये, विरह के आँसुओं से निरन्तर भीगते हुए उरोज युगलों को शिव की दो मूर्तियां बनाया गया हैं। नायिका प्राणप्रिय के दर्शनों की लालसा से उनपर आंखों से निरन्तर जल चढ़ा रही है—

लाल के वियोग तैं गुलाब हूँ तैं लाल, सोई—
अरुन वसन ओढि जोग अभिलाख्यो है।
सैन सुख तज्यो, सज्यो रात दिन जागरन,
भूलि हूँ न काहू और रूप रस चाख्यो है।
प्यारी के नयन असुँवान बरसत, तासौं,
भीजत उरोज देखि भाऊ मन भाख्यौ है।
सेनापति मानौं प्रानपति के दरस रस,
शिव कौं जुगल जलसाई कर राखौ है॥

विरह की गंभीरता के साथ उत्प्रेक्षा कैसी अच्छी खिली है! भाषा और रचना सर्वथा भावानुकूल कोमल और संगीतमय है। अनुप्रास का माधुर्य तो इनकी भाषा में सदैव मिलता है। देखिये श्रम के पश्चात् क्या दशा होती है—

चित चुभी आनि, मुसकानि मन-भावन की.
मानि कुल कानि रैंनि दिन मरियत है।
भूलि गयौ गेह सेनापति अति वाढ्यो नेह,
चैन मैं न देह मैंन वस परियत हैं।
लोग उतपाती काना-घाती हूँ करत घाती,
जब गली वाकी नैकु पांउ धरियतु है।
एक संग रग ताकी चरचा चलावै कौन,
आखि भरि देखिवे की साध मरियतु हैं॥

अलंकारों मे सेनापति ने श्लेष, अनुप्रास और यमक का विशेष वर्णन किया है। एक देखिये, बुढ़ापे और कलियुग का कैसा वर्णन किया है—

द्विजन की जामैं मरजाद छूटि जात, भेष
पहिले बरन कौ न तन कौ निदान है।
अग-छवि लीन स्तुति धुनि सुनिये न, मुख
लागी अथ लार है न नाक हू को ज्ञान है।
देखिये जवन सोभा घनी जुगलीन मांझ,
नाम हूँ सो ना तौ कृष्ण केसौं कौ जहान है।
सेनापति जामैं जग आसा सौं ही भटकत
याही तें बुढ़ापौ कलि काल के समान है।

एक और पद्य देखिये, जिसमें ये उपर्युक्त सभी विशेषताएं मिलती हैं। पावस का वर्णन—

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदायी देखौ,
आई रितु पाउस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।
आई सुधि बर की हिये में आन खरकी लू—
मेरी प्रान प्यारी यह पीतम की बतियां

बीती औधि आवन की लाल मन-भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियां ॥

सेना पति की उपर्युक्त गर्वोक्ति वस्तुतः गर्वोक्ति नहीं है। वास्तव में सेनापति ने अपनी कविता में इन सभी विशेषताओं का समावेश किया है। एक और ऐसा ही सुन्दर पद्य लीजिये—

षोडस बरस की है खानि सब रस की है,
जो सुख बरस की है करता सुधारी है।
ऊजरी कनक, मनि गूजरी झनक ऐसी,
गूजरी बनक बनी लालतन न्यारी है।
सौंह मो तिहारी सेना पति हैं विहारी मैं तो,
गति मति हारी जन रचक निहारी है।
नन्द के कुमार वारी प्यारी सुकमार वारी,
भेष मारवारी मानों नारी मारवारी हैं ॥

५—निम्नलिखित अलंकार-युग्मों का भेद उदाहरण द्वारा भली भांति समझाइये—

(१) यमक—श्लेष। (२) परिकर—परिकरांकुर। (३) तद्गुण—अतद्गुण।

(१) यमक अनेक भिन्नार्थक या निरर्थक वर्ण-समूह की एक ही क्रम या आनुपूर्वी से आवृत्ति को कहते हैं, अर्थात् जहाँ निरर्थक अथवा भिन्न अर्थ रखने वाले वर्णों की उसी क्रम या आनुपूर्वी से पुनः श्रुति हो, वहाँ यमक होता है। इसमें केवल वर्णों अथवा शब्दों की अनुवृत्ति होती है, अर्थ की नहीं। अर्थ भिन्न होता है, अथवा होता ही नहीं। जैसे—कवि-कविता। इसमें कवि, कवि दो बार आये हैं। पहिला कवि सार्थक है, दूसरा कविता वाला कवि शब्द का यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं। कहीं दोनों पद सार्थक होते हैं, किन्तु अर्थ-भेद होता है। यथा—कवि देव हिये सियरानी सबै, सियरानी को देख सोहाग सनी। यहाँ सियरानी सियरानी चार वर्ण या दो शब्द उसी क्रम से दो बार आये हैं और दोनों सार्थक हैं। पहिले का अर्थ ठंडी है और दूसरे का सीतारानी है।

इसके विपरीत श्लेष में शब्द या अर्थ की आवृत्ति नहीं होती। वहाँ तो अनेक अर्थ एक ही शब्द मे ऐसे चिपके होते हैं जैसे सरेस मे लकड़ी के टुकड़े। एक ही शब्द अनेक भिन्न अर्थ बताता है समान रूप से। अतः किसी भी प्रकार की आवृत्ति का प्रश्न ही नहीं होता। यमक के लिए अनेक —दो तीन चार आदि—शब्द होने चाहियें, किन्तु श्लेष में शब्द एक ही चाहिये, पर उसके अर्थ एक से भिन्न अनेक होने चाहियें। जैसे—द्विजराज वारुणी का सेवन करता है। यहां द्विजराज शब्द के दो अर्थ हैं—चन्द्रमा और ब्राह्मण-राज। वारुणी के भी दो ही अर्थ हैं—पूर्व दिशा और शराब। अतः यहा दो अर्थ एक ही शब्द में श्लिष्ट (चिपके हुए) होने के कारण श्लेष है। और भी जैसे—

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे मुकता मानव चून॥

यहाँ एक ही 'पानी' शब्द में चमक, इज्जत आबरु और पानी तीन अर्थ श्लिष्ट हैं।

यमक और श्लेष में यही उपर्युक्त भेद है।

(२) परिकर अलङ्कार वहा होता है, जहाँ विशेषण विशेष अभिप्राय रखने वाले होते हैं। यथा—हे पतित-पावन श्री राम! मुझ पतित का उद्धार करो। यहाँ राम का पतित, पावन विशेषण साभिप्राय है। क्योंकि पतित पावन ही पतित का उद्धार करेगा।

परिकरांकुर वहां होता है, जहां विशेष्य साभिप्राय हो। जैसे—हे चक्रपाणि! मेरे कर्म-जाल को काट दो। यहाँ विष्णु न कह कर उसको चक्रपाणि कहना विशेष अभिप्राय रखता है। चक्र से जाल काटने में सुविधा रहती है। अतः चक्रपाणि कहा गया, जो विशेष्य, विष्णु है। इसी प्रकार—हे शङ्कर! शान्ति दे। शङ्कर का अर्थ शान्ति करने वाला ही होता है। अतः शङ्कर के शिव आदि अन्य नाम न कह कर शङ्कर कहा गया है।

अतः विशेषण साभिप्राय होने पर परिकर और विशेष्य साभिप्राय होने पर परिकरांकुर होता है। यही भेद है।

(३ तद्गुण वहां होता है, जहां कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के गुण का ग्रहण कर ले अथवा जहाँ एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु मे व्याप जाय। जैसे—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति।
हरित बांस की बांसरी इन्द्र धनुष रँग होति॥

यहाँ हरे बांस की बंसरी में, अधर का लाल, दृष्टि का नीला और पीतपट का पीलागुण संचरित हो जाते हैं और वह इन्द्र धनुप का रूप बन जाती है। इन्द्र धनुष में भी ये ही रँग होते हैं। यहाँ बांसुरी अन्यों के गुणों का ग्रहण करती है, अथवा अन्यों के गुण बांसुरी को अभिव्यास कर लेते हैं।

किन्तु अतद्गुण में, इसके विपरीत, एक वस्तु, संग होने पर भी, किसी दूसरी वस्तु के गुण का ग्रहण नहीं करती, अपितु अपने स्वरूप में स्थित रहती है। जैसे—चन्दन विष व्यापे नहीं, लपटे रहत भुजंग। यहां सर्पों का विष चन्दन में नहीं व्यापता, चन्दन सर्प के गुण का ग्रहण नहीं करता। और भी—यमुना के नीले और गंगा के श्वेत जल में स्नान करते हुए भी हे राजहंस! तेरी वही शुभ्र कान्ति रहती है, तुम पर उनका कुछ असर नहीं होता। यहां राजहंस यमुना जल और गंगा जल के नीले—सफेद गुणों का ग्रहण नहीं करता। अपने स्वरूप में रहता है। तद्गुण और अतद्गुण में यही भेद है।

(ख) करुण और विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण रूप से परिचय देते हुए इनका भेद स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—विप्रलंभ शृंगार का भेद है। जहां रति स्थायी भाव होने पर देश काल आदि, प्रतिबन्धक कारणों से नायक नायिका के संयोग में बाधा हो, वहा विप्रलंभ शृंगार माना जाता है। नायक और नायिका में पारस्परिक रति होती है, किन्तु किसी कारणवश वे मिल नहीं पाते और दोनों एक दूसरे के प्रेम में तड़पते हैं। जैसे—

हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो सब गांव।
का जानैं ए कहत हैं ससिहि सीत-कर नांव॥

यहां नायिका को नायक के विरह में चन्द्रमा शीतल नहीं उत्ताप-

कर लगता है। नायिका का रति स्थायीभाव नायक का आलम्बन लेकर उद्‌गत हुआ है। चन्द्रमा आदि विरहोत्तेजक प्रकृति उद्दीपन से उद्दीप्त हुआ है। उसकी पागलपन की चेष्टा अनुभाव से उस रति का सहृदय को अनुभव हो रहा है और मतिविभ्रम, प्राचीन स्मृति आदि से वह स्थायीभाव संचरित या विकसित हो रहा है। इस प्रकार अपने कारणों से परिपुष्ट हुआ रतिस्थायीभाव रस कोटि को प्राप्त हो जाता है।

करुण रस में भी प्रिय (आलम्बन) के मरण पर इसी प्रकार विरह या दुःख में तड़पा जाता है और उसी तरह की व्याकुल और पागलपन की चेष्टाएं होती हैं। जैसे—प्रिय पति के मर जाने पर भीड़ लग जाती है सम्बन्धियों की, शव को देख कर रोना पीटना होता है। यहाँ नायिका के शोक स्थायीभाव का आलम्बन प्रिय का शव होता है, जिसे आधार बनाकर शोक उठता है। आस पास रोने पीटने की परिस्थिति, शवक्रिया के साधन आदि उद्दीपन कारणों से वह उद्दीप्त होता है। नायिका की रोने पीटने, बाल नोचने आदि दुःख की चेष्टा रूपी अनुभाव से उसका सहृदय को अनुभव होता है। नायक के प्रति प्रेम, प्राचीन स्मृति विषाद आदि संचारी कारणों से वह संचरित या विशद होता है और इस प्रकार शोक-स्थायी भाव रस-दशा को प्राप्त होकर करुण रस कहलाता है।

करुण और विप्रलंभ दोनों में विरह दशा होती है, दुःख और तज्जन्य व्याकुलता एक-सी होती है। दुःख-व्यंजक चेष्टाएं भी एक जैसी ही होती हैं। किन्तु दोनों में मौलिक भेद है। विप्रलंभ में स्थायी भाव रति या प्रेम होता है, किन्तु करुण में स्थायी भाव शोक होता है। विप्रलंभ में वियोग किसी प्रतिबन्धक देश, काल आदि कारणों से होता है तथा संयोग की आशा बनी रहती है और आलम्बन जीवित होता है। किन्तु, करुण में वियोग अनन्त होता है, मिलन की आशा नहीं होती और आलम्बन मृतक होता है। विप्रलम्भ में रति का आलम्बन प्रिय-प्रिया ही होते हैं, किन्तु विप्रलम्भ में शोक का आलम्बन प्रिय प्रिया के अतिरिक्त पिता पुत्र, भाई बहिन आदि सभी प्रिय जन हो सकते हैं। यही दोनों में अन्तर है।

(ग) अधोलिखित पर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट टिप्पणियां लिखिये—अजहत्स्वार्था, साध्यवसाना, भावशबलता त्रिभात्र।

उत्तर:—अजहत्स्वार्था शुद्धा लक्षणा के उस भेद का नाम है, जहां लक्षक पद अपने स्वार्थ (वाच्यार्थ) को नहीं छोडता, अपितु अन्य अर्थ का उपादान करता है। इसी लिए इस को अजहत्स्वार्था (जो स्वार्थ को न छोडती हो) कहा गया है। इसी का दूसरा नाम उपादान लक्षणा भी है, क्योंकि इसमे अपने अर्थ के साथ अन्य अर्थ का उपादान (पास लाना) करके बताया जाता है। जैसे—पगडी की लाज रखिये। यहां पगडी शब्द लाक्षणिक है। पगडी जड होने से वाक्यार्थ उपपन्न न होने पर, लक्षणा से पगड़ी शब्द, अपने पगड़ी रूप वाच्य अर्थ को न छोडते हुए भी, पगडी को धारण करने वाले पुरुष रूप अन्य (लक्ष्य) अर्थ का उपादान (साथ लाना) करके 'पगड़ी-धारी की लाज रखिये' इस अर्थ को बताता है। अतः यह अजहत्स्वार्था या उपादान लक्षणा नामक लक्षणा का भेद है।

साध्यवसाना लक्षणा का वह भेद है, जहां उपमान और उपमेय अथवा विषयी और विषय दोनों में से, उपमान या विषयी का ही शब्द द्वारा कथन हो, उपमेय अथवा विषय का कथन न हो। गौणी लक्षणा में, जहां उपमानोपमेय में से केवल उपमान का ही कथन हो, अर्थात् उपमान उपमेय का अध्यवसान करले, वहां साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे—"ओ! गधे आदमी" न कह कर कोई 'ओ! गधे" इतना मात्र कहे। यहां गधे उपमान ने मूर्ख आदमी का अध्यवसान कर लिया, अर्थात् उपमेय का कथन न करके केवल उपमान का ही कथन हुआ है। शुद्धा लक्षणा में, जहां विषयी विषय को निगीर्ण करले अथवा जहां विषय को न कह कर केवल विषयी का ही कथन हो, वहां साध्यवसाना होती है। यथा—"आयुरूपी घी को खाले" न कह कर कोई " आयु खाले" इतना मात्र ही कहे। यहाँ आयु के कारण घी विषय का कथन न कर के केवल आयु (विषयी) का ही कथन हुआ है। साध्यवसाना ऐसे ही स्थलों पर होती है। रूपकातिशयोक्ति का यही कारण बनती है।

भावशबलता ऐसे स्थल पर मानी जाती है, जहां अनेक समान

चमत्कारक भावों की शबलता (विचित्रता-विविध वर्णता) हो अर्थात् जहां अनेक भावों की एकत्र स्थिति का वर्णन हो—एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार से अनेक भावों का अभिव्यंजन होता हो। यथा—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत है नैननु ही सब बात॥

यहां, कहना, नटना, रीझना, खीझना, खिलना, लजाना आदि अनेक भावों की क्रमशः स्थिति दिखाई गई है। अथवा सीता वियोग में राम के हृदय में देखिये किस प्रकार एक के पश्चात् एक भाव की कैसे क्रमिक स्थिति दिखाई गई है—

मम मन सीता आश्रम नाहीं।
हा ! गुण खानि ! जान की सीता !
सुनु जानकी तोहि बिनु आजु—
हर्षे सकल पाइ जनु राजु।
किमि सहि जाहि अनख तोहि पाहीं।
प्रिये ! वेगि प्रगटत कस नाहीं।

यहां राम के मन में प्रथम शंका होती है कि जानकी आश्रम में नहीं है, फिर सीता को याद करके विषाद होता है, फिर प्रलाप या वितर्क होता है और मिलने की उत्कंठा होती है। भावशबलता ऐसे ही स्थलों में होती है।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र २ संवत् २००६

१—निम्नलिखित पद्यों की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिये—

(क) बज्जिय घोर निसांन रॉन चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठिराज प्रथिराज··· ···हुरेउ रंग नवरत्त वर॥

प्रसंग—पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती विवाह वर्णन' प्रकरण से लिया हुआ पद्य है। पृथ्वीराज को राजा लोग घेर लेते हैं। उस समय पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन है।

अर्थ—राजा चौहान के चारों दिशाओं में युद्ध के घोर बाजे ढोल आदि बजे। सब सूर सामन्तों ने अपने बल और इसी प्रकार जंत्र मंत्रों का स्मरण किया। पृथ्वीराज उठा, मानो वीर नट अपना चमत्कार दिखाने लगा हो। तलवार मन के वेग के समान तेज चलती है, मानों शरीरों पर बिजली गिर रही हो। शूरवीर इस कौतुक (चमत्कार) को देखकर थक गये, पृथ्वी रक्त से प्लावित हो गई। वीर गण हृदय में हर्षित होकर उल्लास के साथ सचेत हुए और नव रक्त में रंग कर फड़क उठे।

पृथ्वीराज के युद्ध कौशल का वर्णन है, जो कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति से पूर्ण किया है। युद्ध की मारकाट के समान ही भाषा भी ओजस्विनी है। उसमें गति है, शक्ति है।

अथवा

नायण आज न मांड पग..... ....तौ दीजै घण रग॥

प्रसंग—कविराजा सूर्यमल का दोहा है। किसी वीरांगणा की उक्ति है, जिसका पति अगले दिन जंग में जाने वाला है।

अर्थ—हे नायन! आज पांव न माण्ड (रग)। कल सुना जाता है, युद्ध है। यदि पति धराशायी हो जायंगे, तो खूब रंग देना।

नायिका का सती होने की ओर संकेत है। उसका उत्साह अथवा वीरता व्यंजित होती है। वह जल मरने से डरती नहीं। भाषा स्वाभाविक और गतिमय है।

गीध कलेजो चील्ह उर............मूछां मूंह मिलाय॥

प्रसंग—कविराजा सूर्यमल का ही दोहा है। वीरांगना युद्ध में मरे पति के शव का वर्णन कर रही है

अर्थ—गीध ने कलेजा, चील्ह ने वक्षस्थल और कंक नामक पक्षी ने आंतों को नष्ट कर दिया (ख्वालिया)। तो भी कंत (स्वामी) का ऐसा रुआब है कि मूछें भवों का स्पर्श करती हैं।

पति के शव को देखकर वीर पत्नी रोती नहीं। मृतक पति में भी उसको वीर-भाव के दर्शन होते हैं। पति के प्रति अगाध रति और श्रद्धा के साथ उसका अपना वीरभाव भी व्यक्त होता है।

अर्थ—हे बाले यह अपूर्व (जो पहिले नहीं देखी) भक्ति तो मैंने तुझ में ही देखी है कि जो प्रसाद की माला (कृष्ण द्वारा प्रसन्नता से दी हुई) लेकर ही शरीर कदंब पुष्पों की माला बन गया (रोमांचित बन गया—शरीर में प्रफुल्लता व्याप गई)।

नायिका का अनुराग व्यंग्य है। कृष्ण के प्रेम की प्रसाद-माला पाकर शरीर में रोमांच सात्विक भाव का उदय हुआ है। रूपक है। अन्त्यानुप्रास है।

भूषण भारु संभारि है..............................सोभा ही के भार॥

प्रसंग—बिहारी का दोहा है। सखी नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन कर रही है।

अर्थ—(तुम्हारा) यह सुकुमार तन भूषणों के भार को (भला) क्यों (कैसे) संभालेगा? (तुम्हारी तो स्वाभाविक) शोभा ही के भार से ज़मीन पर पांव सीधा नहीं पड़ता।

बिहारी की नाज़ुक ख्याली का उत्कृष्ट उदाहरण है। शोभा जैसी वस्तु का भी भार होता है! नायिका का सुकुमार शरीर उसे नहीं संभाल सकता। सीधा पाँव नहीं पड़ता। यौवन-मद व्यंजित है। नायिका का स्वाभाविक सौन्दर्य और सुकुमारता अलङ्कारों को सहन नहीं कर सकते। अत्युक्ति और अनुप्रास अलङ्कार हैं।

अथवा

मानहुं मुख दिखरावनी.................सौतिन दियो सुहाग॥

प्रसङ्ग—बिहारी का दोहा है। किसी नव-वधू के सौन्दर्य, सौभाग्य और आकर्षण का वर्णन किया गया है।

अर्थ—मानो मुंह-दिखाई में ही, दुलहिन के प्रेम में पड़ कर, सास ने घर बार संभाल दिया, लल्ला (पति) ने अपना मन सौंप दिया और सौतों ने अपना सोहाग दे दिया (उन्हें आशा नहीं रही कि नवीन दुलहिन के सामने उनकी ओर भी पति आकर्षित होंगे)।

नव-वधू के आते ही सबने उपर्युक्त वस्तुएं ऐसे सौंप दीं, मानो मुँह दिखाई में दे दी हों। नायिका का अनुपम सौन्दर्य, सौभाग्य और आकर्षण का सूचन है। उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलङ्कार हैं।

कीन्हेहु कोटिक जतन··· · · · ···पानी में कौ लौन ॥

प्रसङ्ग—बिहारी का दोहा है। भक्ति की या रति की चरम दशा का वर्णन है, जहाँ भक्त स्वत्व खोकर तद्रूप हो जाता है। मन का लय हो जाता है।

अर्थ—करोड़ों यत्न करने पर भी, अब कहो कौन निकाले ? मेरा मन तो मोहन के रूप में मिलकर पानी में का नमक बना हुआ है (मन का मोहन के रूप में ऐसा लय हो गया है, जैसे नमक का पानी में हो जाता है और उसे कोई निकाल नहीं सकता)।

बिहारी ने मन की लीन दशा में, नमक के पानी में घुलने की दशा का आरोप करके, मन की तदाकारता (भगवद् रूपता) बताई है। मन के लय होने पर ही मोक्ष का अधिकारी बनता है। भक्त की यह नित्य दशा है—जैसे नमक और पानी के मिलने की, दोनों में पृथक्ता नहीं की जा सकती। अनुप्रास भी है।

या अनुरागी चित्त की····· ·······उज्जलु होइ ॥

प्रसङ्ग—बिहारी का ही दोहा है। कृष्ण-प्रेम की विलक्षणता का वर्णन है।

अर्थ—इस अनुरागी (प्रेमी और लाल वर्ण के) चित्त की गति (दशा) कोई नहीं समझ सकता। यह ज्यों-ज्यों श्याम (कृष्ण और काले) रंग (प्रेम और रंग) में डूबता है, त्यों-त्यों उज्ज्वल (स्वच्छ और श्वेत) होता जाता है।

कृष्ण के प्रेम में पड़कर चित्त शुद्ध हो जाता है। इसी को कवि ने श्लेषमूलक विरोधाभास अलङ्कार से चमत्कारक ढंग से व्यक्त किया है। श्लेष और विरोधाभास का अंगागिभाव से संकर है।

(घ) रजनी के समय बिन सीरकन सोयो जाय·········

लीजिये समुझि एक भांति सी बनाई हैं ॥

प्रसङ्ग—कविवर सेनापति का कवित्त है। श्लेष का आधार लेकर ग्रीष्म ऋतु और हिम-ऋतु का एक-सा वर्णन किया है।

अर्थ—(द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग से कवि गर्मी और सर्दी दोनों

ऋतुओं का एकत्र वर्णन करता है) गर्मी में रात के समय बिना सीरक (ठंडक) के नहीं सोया जाता (और सर्दियों में बिना शीतकरण के ही सोया जाता है)। (गर्मी में) साफ सुथरा (पसीने वाला नहीं) शरीर ही अच्छा लगता है (और सर्दियों में सुन्दर प्रिया का शरीर अच्छा लगता है)। (गर्मी में) राजा लोग रंगे हुए घर रखते हैं और रसों में रुचि रखते हैं अर्थात् रस पीने की कामना रखते हैं (सर्दी में राजा लोग रंगे हुए, सुगन्धित और रुचिर दुशाले (शाल) रखते हैं)। गर्मी में सूर्य की किरणों से शरीर ताया जाता है (और सर्दियों में शरीर को सूर्य की किरणों से तपाया जाता है)। (गर्मी में) अधिक शीतल होने के कारण चन्दन (बहुत) सुहावना लगता है (और सर्दियों में अधिक शीतल होने से चन्द्र नहीं सुहाता)। (गर्मी में) आंगन (घर) में ही कल (चैन) पड़ती है, (बाहर तो) जैसे अग्नि जल रही है अथवा अंगों में कल नहीं पड़ती, अग्नि ऐसी जल रही है (और सर्दियों में घर के आंगन में ही ज्यों त्यों अग्नि जलाकर चैन पड़ती है)। सेनापति कहते हैं कि समझ लीजिये, ग्रीष्म और हेमन्त ऋतुएं, एक-सी बना दी हैं।

सेनापति का ऋतु-वर्णन का पद्य है। श्लेष के प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है। दोनों ऋतुओं के कवि ने समान ही विशेषण दिये हैं। बातें अनुभूतिपूर्ण कहीं हैं। श्लेष दुरूह नहीं है, सरल है। साधारण शब्दों की पूर्वापर की जोड़ तोड़ से ही दोनों अर्थ बताये गए हैं। श्लेष में क्लिष्टता का दोष नहीं आया है, जोकि अन्य केशव आदि में मिलता है। सेनापति के श्लेष-वर्णन की यही विशेषता है। श्लेष के साथ अनुप्रास का मधुर योग है।

नोट—वैकल्पिक पद्य देव के नवीन संग्रह में नहीं आया है।

२. पृथ्वीराज रासो के काव्य तत्व का सोदाहरण उद्‌घाटन करते हुए रासो ग्रन्थ परम्परा में उसका स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—श्री मोतीलाल मैनेरिया के शब्दों में "चन्दबरदायी डिंगल काव्य के अमर जीवों में से एक हैं।" और, उनका काव्य "डिंगल साहित्य का अमूल्य रत्न, काव्य कला का उत्कृष्ट नमूना है और हिन्दी भाषा-भाषियों

के गौरव की वस्तु माना जाता है।.......... और एक उच्च कोटि के महाकाव्य के सभी गुण पूर्ण रूप से उसमें पाये जाते हैं।"

काव्य कला की दृष्टि से रासो महाकाव्य है। इसमें प्रबन्धगत समस्त विशेषताएं मिलती हैं। काव्य के दो पक्ष होते हैं—आन्तर् और बाह्य। ये दोनों ही पक्ष रासो के प्रबल हैं। इसमें लगभग एक लाख छन्दों में और ६९ समयों या प्रस्तावों में पृथ्वीराज के समस्त चरित्र का वर्णन हुआ है। वीर रस प्रधान है और शृङ्गार उसका प्रधान सहायक है। चन्द इन दोनों ही रसों के वर्णन में सिद्धि-प्राप्त थे। उन्होंने दोनों का ही सजीव वर्णन किया है। चन्द महान् कल्पनावान् और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। विद्वत्ता भी उनकी अत्यंत गम्भीर थी। काव्य शक्ति उनकी अपूर्व थी। उन्होंने जिस विषय का भी वर्णन किया है, उसका सजीव चित्र उपस्थित कर दिया। प्रेम वर्णन, युद्ध वर्णन दोनों विस्तारश: हुए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी रस यथोचित रूप में यत्र तत्र आये हैं। महाकाव्य के ढग में रासो में संध्या, रात्री, प्रभात, चन्द्रमा, मृगया, वनविहार, ऋतु, संभोग, वियोग विवाह, रणयात्रा आदि अनेक विषयों का वर्णन हुआ है, जो चन्द की अगाध वर्णन शक्ति का परिचायक है। सभी विषयों का विशद और चित्र-मय वर्णन हुआ है। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी उपयुक्त रूप में किया गया है। व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त हिन्दू मुसलमान दोनों प्रमुख जातियों के स्वभाव, विशेषताओं आदि का चित्रण हुआ है। पृथ्वीराज और उनके सम्बन्धियों, पत्नियों, सामन्तों आदि का चरित्र यथानुरूप चित्रित किया गया है, जो स्वाभाविक और स्पष्ट है। कथा का प्रवाह तीव्र है। कथा बडी गतिमती है। कहीं भी वह शिथिर डालकर नहीं पड़ती। लगातार क्रियाशील रहती हुई पाठक के साथ आगे ही आगे बढती है। कोई पात्र भी निश्चेष्ट नहीं है। सभी अपने-अपने कार्यों में क्रियाशील हैं। अतएव रासो मे श्रव्य काव्य के गुणों के साथ २ दृश्य काव्य की-सी क्रिया-शीलता और प्रत्यक्षवत्ता भी आ जाती है। इसी कारण से कई विद्वानों ने यह भी माना है कि रासो वस्तुतः प्रदर्शन के लिए लिखा गया था, इसमें पृथक् २ प्रसंगों का वर्णन ऐसे ही नाटकीय ढंग में हुआ है। किन्तु यह बात

मान्य हो या न हो, इतनी तो अवश्य मानी जाती है कि रासो के वर्णनों और कथा में महाकाव्यीय गुणों के साथ नाटकीय गुण भी मिलते हैं। रस, भाव आदि के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। कथानक में एक ही रस मुख्य होने पर भी वर्णनों मे पिष्टपेषण नहीं हुआ है। युद्ध वर्णन के प्रत्येक भिन्न स्थल में भिन्नता या विविधता से वर्णन हुआ है। सर्वत्र नवीन प्रसग और नवीन कल्पना एवं वर्णनविविधता के दर्शन होते हैं।

महा काव्य के ढंग से, चन्द ने विषयानुरूप विभिन्न छन्दों का भी प्रयोग किया है। कवित्त या छप्पय, दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा या गाथा, साटक, वथुआ, भुजंगप्रयात, पद्धरी, भुजगी, रसावला, अरिल्ल, मोरिल्ल मलया, हनूफाल, विराज आदि छन्दो का प्रयोग किया है। इनमे अनेक ऐसे हैं, जिनका प्रयोग केवल चन्द ने ही किया है। पिंगल में इनके नाम नहीं आये हैं। वथुआ, हनूफाल, मुरिल्ल आदि ऐसे ही छन्द हैं। चन्द ने इन सभी छन्दों का अधिकार से, विषयानुरूप प्रयोग किया है, जो शास्त्र-सम्मत है। छन्दो-भग प्रायः नहीं है, छन्द की गति और यति दोनों का उचित निर्वाह है। कोमल रसों मे कोमल और ओजपूर्ण रसों में ओजस्वी छन्दों का प्रयोग किया है।

अलङ्कार शास्त्र के भी चन्द पंडित थे। अतः रस, भाव, रीति, गुण आदि का सम्यक् निर्वाह हुआ है। लक्षणा, व्यंजना है। अलङ्कारों मे शब्दालङ्कार तो इन की रचना मे सर्वत्र ही मिलते हैं। अर्थालङ्कार उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का पूर्ण प्रयोग हुआ है। अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना तीनों का सुन्दर सन्निवेश रासो मे मिलता है। अलङ्कारों की स्थिति सर्वत्र रहती है। काव्य की रीति और गुण भी यथोचित रूप मे विषयानुरूप आये हैं। कोमल रसों में कोमला या मधुरा रीति का व्यवहार है और वीर आदि ओजस्वी रसों में शैली ओजपूर्ण उद्धत होकर चली है। काव्य में संगीत का भी विशेष योग रहता है। सगीत के लिए तो कवि ने कहीं कहीं भाषा का रूप भी बदल दिया है।

भाषा चन्द की डिंगल या पिंगल में से एक मानी जाती है। मैनेरिया आदि कुछ विद्वान् रासो की भाषा को अन्य भाषाओं से मिश्रित डिंगल मानते

हैं। अन्य आचार्य शुक्ल जी आदि कुछ विद्वान् और अनेक पश्चिमीय विद्वान् इसे पश्चिमी हिन्दी या पिंगल मानते हैं। ब्रज भाषा के प्रारम्भिक रूप का ही पिंगल (काव्य भाषा) के रूप में पहिले व्यवहार होता था। भाषा कोई सी भी हो, वह विषयानुरूप है। उसमें बल है, ओज है, सामर्थ्य है, लोच है और सबसे बड़ी बात पूर्ण प्रवाह एवं संगीत है। वीर या युद्ध वर्णन में वह द्वित्व-बहुल ओजस्विनी बन कर चली है और शृङ्गार आदि कोमल रसों में कोमलकान्त पदावली को लेकर चली है। भाव और भाषा की इस अनुरूपता के कारण ही रासो की कविता सर्व-सुन्दर बन पड़ी है। इसके काव्य-सौन्दर्य की टॉड, ग्रियर्सन, तासी, टेसी टोरी आदि पश्चिमीय विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

इस प्रकार काव्य के अपितु महाकाव्य के समस्त सद्गुणों से समन्वित पृथ्वीराज रासो हिन्दी का आदि महाकाव्य माना जाता है। स्व० श्री हरि औधजी ने चन्द को हिन्दी का चौसर कहा है। अपने महा काव्य के उपयुक्त ही चन्द को वीर-केसरी पृथ्वीराज जैसा चरित-नायक मिल गया था, जिससे यह काव्य और भी उत्कृष्टतर हो गया।

महा काव्य के नाते, रासो में जातीयता के भाव भी पूर्णतया मिलते हैं। प्रमुखतया यद्यपि इसमें पृथ्वीराज की व्यक्तिगत वीरता या महत्ता का ही वर्णन हुआ है, तो भी मुसलमान जाति के साथ युद्ध के प्रसंग में, हिन्दु-जातीयता और स्वदेशभक्ति की पूरी भावनाएं मिलती हैं। वीर गाथा काल के अन्य किसी रासो काव्य में यह विशेषता नहीं मिलती। रासो अपने काल की जातीयता का प्रतिनिधि महा काव्य है, जिसमें अपने कालकी परिस्थिति और भावनाओं का स्पष्ट प्रतिविम्ब मिलता है, जिसके कारण यह महाकाव्य अपने सम-सामयिक अन्य काव्यों से विशेष हो जाता है। इस काव्य को वस्तुत. हिन्दु मुस्लिम संघर्ष की अमर कथा भी माना जाता है।

रासो ग्रन्थों में पृथ्वीराज रासो सब से प्रथम उपलब्ध महाकाव्य माना जाता हैं, जिसके गुणों या विशेषताओं और उच्चस्तर को अन्य कोई रासो नहीं पहुँच सकता। वीर वर्णन के लिए इसीलिए इस महा काव्य की शैली आगे के वीर कवियों का आदर्श और मार्ग-दर्शिका रही। रासो का

आगे के वीर-काव्यों पर विशेष प्रभाव पड़ा। मेनेरिया जी ने रासोको डिंगल के समस्त रासो काव्यों मे प्रमुख माना है। आचार्य श्यामसुन्दरदास के शब्दों मे "पृथ्वीराज रासो समस्त वीर गाथा युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थो में भी नहीं मिलती..............रसात्मकता के विचार मे उसकी गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रथों में हो सकती है।"

रासो के पूर्ण काव्य चमत्कार के दर्शन उन स्थलों पर होते हैं, जहां चन्द ने रूप-वर्णन, युद्ध-वर्णन और सेना-वर्णन किया है। देखिये नीचे पद्मावती के रूप का वर्णन क्या सुन्दर और रसमय किया गया है—

मनहुं कला ससि मान कला सोलह सो बन्निय।
बाल वेस ससि ता समीप अम्रित रसपिन्निय॥
बिगसि कमल मृग भ्रमर बैन खञ्जन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नखसिख अहि घुट्टिय॥
छत्रपति गयन्द हरि हंस गति बिह बनाय संचय सचिय।
पद्मिनीय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनिक रचिय॥

सुन्दर आलंकारिक भाषा में पद्मावती के रूप का आलंकारिक और रसमय वर्णन किया गया है। नीचे एक युद्ध का वर्णन देखिये—

गही तेग चहुँवान हिन्दवान रानं, गजं जूथ पार कोप केहरि समान।
करे रुंड मुण्ड करी कुम्भफारे, बरे सूर सामन्त हुकि गर्ज मारे॥
करी चीह चिक्कार करि कलप भग्गे, मदं तंजियं लाज ऊमंग मग्गे।
दौरि गज अंध चहुँवान केरो, घेरीयं गिरद्द चिहौ चक्क फेरो॥
गिरद्द उडी भांन अन्धाकर रैनं, गई सूधि सुज्झै नहीं मज्झिनैनं।
सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राजं, पकरियै साहिजिम कुलिंगवाज॥ आदि।

पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन है, विशदता और स्पष्टता चित्रित है। युद्ध का पूरा रूप ही उपस्थित करने का प्रयत्न है। सेना का वर्णन देखिये कैसा ओजस्वी और विशद है—

हुअ सद सुसद्दह नद्द भरं, घन घेरिक कीय सुफौज थरं।
लखलिय्य मिले दल समिलियं नर भद्दत्र याहल संमिलियं॥
सुअगं हथनारि अपार सजं, तिन देषत काइर दूरभजं।
तिन पिट्ठ हजा.उ मत्तचलै छहरित्त झरत करी तिहले॥
तिन पिट्ठह फौज गहव्वरियं थरि गोरिय मुट्ठकरं धरियं।
कमनैत अभूत सुलप्पलियं तिन मध्य ततारह छत्र दिय॥
सुग्तान तनं दल उप्पटयं मनु साइर सत्त उलट्ट भयं।
जलथानिय पानिय अद्ध सरं, लोहानिय पानिय खेतवरं॥

नोट—और देखिये सा० र० प्रश्न पत्र २ संवत् २००२ प्रश्न ३

अथवा

"राजस्थानी साहित्य में वीर रस की उत्साह प्रदायिनी धारा अजस्त्र प्रवाहित हुई है तथा शृंगार के रमणीय स्रोत ने उस की स्फूर्तिदायिनी पुष्टि की है।"

अपने पाठ्य ग्रन्थों के उदाहरण देते हुए उपर्युक्त का विवेचन कीजिये।

उत्तर—राजस्थानी साहित्य का प्रारभ उस काल से होता है, जब इस प्रदेश में सर्वत्र यवनों मे सघर्ष रहते थे। मुमलमानों से ही नहीं, आपस में भी हिन्दू राजाओं के ऐसे आपसी द्वेष के विवाद प्रतिदिन रहते थे कि राजपूत का पेशा ही युद्ध-नीती का हो गया था। ऐसे ही काल में भाटों चारणों के द्वारा अपने अपने आश्रयदाता राजा लोगों के शौर्य वीर्य आदि की प्रशंसा में राजस्थानी के साहित्य का प्रारंभ हुआ था। अतः उन के काल में जिन भावना-विशेषों की प्रमुखता थी जातीय जीवन में, उन्हीं का प्रमुख-तया वर्णन भी हुआ। उनके काल में वीर भावना सर्व-प्रधान थी। बच्चा बच्चा, क्या मां क्या भाई, क्या बेटा और क्या पत्नी-सब में वीर भावना प्रमुख थी। युद्ध क्षत्रिय या राजपूत का धर्म था। उससे पराङ्मुख होना क्षत्रिधर्म के विरुद्ध समझा जाता था, जिसे नव नव राज्य जीतने का निरन्तर लोभ न रहे, वह आदर्श क्षत्रिय नहीं माना जाता था। ऐसे वीर-काल के भाट और चारण लोग भी वीर ही थे। वीर रस ही उनको भी अधिकतया रुचिकर था। वे

स्वयं भी युद्ध में जाते थे। भाग भी लेते थे। अतः अपने काव्य में उन्होंने प्रधानतः वीर रस का ही वर्णन किया। उन्होंने वीर भावनाओं के साथ आंखें देखा युद्ध वर्णन भी किया।

किन्तु इस वीर भावना के साथ जाति में एक अन्य प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। वह थी सौन्दर्य की विलास की और श्रृंगार की। राजागण अनेक विवाह करते थे। स्वयम्वर होते थे। स्वयंवरों से कन्याओं को युद्ध करके उड़ा ले जाना परम वीर कृत्य माना जाता था। जो दो चार लड़कियां न भगा लाये, वह वीर ही नहीं माना जाता था। राजपूत राजाओं के दरबारों में विलास वृत्ति बढ़ी हुई थी। राग रंग, नाच, गान आदि होते रहते थे। वीर के लिए युद्ध के पश्चात् मनोविनोद और विलास की भी आवश्यकता मानी जाती थी। अतएव जहाँ नवीन भूमि जीत कर राज्य-विस्तार करना उसका कर्तव्य माना जाता था, वहाँ सुन्दरी कन्याओं को भी जीत कर लाना एक प्रमुख विशेषता बन गई थी। भाट कवियों ने भी लोकानुकरण किया और श्रृंगार वर्णन भी किया। राजाओं के जहाँ युद्ध का या अन्य वीर-कृत्यों का वर्णन किया गया, वहां उनके अनेक विवाहों और विलासों का भी वर्णन हुआ, जिनमें अनेक कल्पित थे और अनेक अकल्पित। इस प्रकार साहित्य में ये दोनों धाराएं प्रमुखतया चल पड़ीं। राजपूताना क्योंकि बहुत दिनों तक मुसलमानों से संघर्ष करता रहा है, राजपूत-विद्रोह मुसलमानों के राज्य के अन्त तक चलता रहता है, अतः राजस्थानी साहित्य में भी वीर-वर्णन चलता रहता है। साथ में श्रृंगार भी।

वीर और श्रृंगार दो विरोधी रस हैं। किन्तु डिंगल के वीर वर्णन की यह प्रमुख विशेषता है कि कवियों ने इन दोनों विरोधी रसों का ऐसा सुन्दर संयोग या समन्वय उपस्थित किया है कि आश्चर्य में डूब जाना पड़ता है। राजस्थानी साहित्य में या वीर गाथा काल के साहित्य में वीर रस प्रमुख है, किन्तु श्रृंगार उसका अंग बन कर उसके सहायक के रूप में उसके साथ आया है। श्रृंगार सदैव वीर की पुष्टि करता आया है। वीरता में श्रृंगार बाधक नहीं बनता, उसका साधक बनता है, उसका पोषण करता है। श्रृंगार को वीर से ही प्रेम होता है, कायर से नहीं। श्रृंगार वीर के लिए होता है। वीर

सर्वोच्च है। कहीं शृंगार वीर का कारण भी बना है, जहां स्वयंवर युद्ध के कारण बने हैं, किन्तु वहां भी कवि का मुख्य लक्ष्य युद्ध ही रहता है, स्वयंवर-वर्णन तो युद्ध वर्णन करने का बहाना बनाने के लिए किया जाता है। वस्तुतः शृंगार ने वीर को चेतना दी है और उसको पुष्टि दी है। अत्यन्त विलासी भी राजपूत युद्ध के समय उसे बिल्कुल भूल जाता था। स्त्रियां युद्ध से रोकती नहीं, बल्कि उन्हें स्वयं भेजती हैं और वहां से भाग आने पर उन्हें बुरी तरह धिक्कारती हैं। वीरबाला स्वयं भी वीर है। मरने को खेल समझती है। सती होना उसके लिए एक बड़ी गौरवपूर्ण कामना है। इसी लिए वह वीर पति को ही पसन्द करती है। कायर से घृणा करती है। डिंगल के कवियों ने वस्तुतः राजपूत बाला में शृंगार और वीर का अद्भुत संयोग उपस्थित किया है। वह सुन्दरी भी है और वीर भी है। उसकी सुन्दरता प्रिय को मत्त करके कर्तव्य-विमुख करने वाली नहीं, अपितु उसे स्फूर्ति और चेतना देने वाली है। वे स्वयं भी सती होने का नारियल सदैव साथ लिये रहती हैं। फिर भला वे उनके वीर कृत्यों में प्रतिबन्धक कैसे बन सकती थीं? रति सदैव वीर का अंग बन कर आई है। नायक भी वीरता से फुर्सत पाकर रति का आश्रय खोजता है और नायिका भी वीरता से बचे समय में ही रति का अवसर समझती है। पिता कायर पुत्र नहीं चाहता, मां पलने में ही वीरता और मरण का पाठ पुत्र को पढ़ा देती है, बहिन कायर भाई नहीं चाहती, पत्नी कायर पति को मुर्दा जैसा समझती है और पिता, भाई और पति भी कायर पुत्री, बहिन और पत्नी नहीं चाहते। इस प्रकार प्रत्येक रति वीर रस का अंग बन कर आई है। डिंगल काव्य में इस प्रकार के असंख्य वर्णन हैं, जहां शृंगार या रति का वीर के साथ चेतनादायी संयोग वर्णित हुआ है। देखिये, रणभूमि में घायल और प्यासे पड़े पुत्र को राजपूत माता पानी नहीं पिला रही है, उसे पिला रही है, जिसके शरीर पर भाले के घने घाव लगे हैं—

किण विध पाऊँ आणियो, बोलता जल लाव।
बाँटै सास बलो-बली, भालाँ हंदा घाव॥

पानी मांगने पर पति को पत्नी जवाब देती है कि पानी कैसे लाये,

मां तो भालों के घावों को गिन गिन कर पानी बांट रही है। देखिये एक वीरांगणा की उक्ति—

मतवाला घूमैं नहीं, नहँ घायल घरणाय।
घाल सखी ऊ देसड़ौं, भड़ बापड़ा कहा॥

जहां मतवाले वीर नहीं झूमते और घायल न गर्जते हों, उस देश को सखी! आग लगादे। रति के आलम्बन नायिका की कैसी वीरोक्ति है! और भी देखिये—

नहँ पड़ोस कायर नरां, हेली! वास सुहाय।
बलिहारी उण देसरी! माथा मोल बिकाय॥

सखी! कायर का पड़ोस नहीं भाता। मैं तो उस देशों पर बलिहारी हूँ, जहां सिरों का मोल होता है। पति रण में है, जिसकी वीर पत्नी सती होने की आशा में, नायन को पांव न रंगने को कहती है—

नायण आज न मांड पग काल सुणीजै जंग।
धरॉं लागी जैं धणी तौ दीजै घण रंग॥

और भी—

बिना मरियां, बिण जीतियां, जो धव आवै धाम।
पग पग चूड़ी पाछूं हूं तो रावत री जाम॥

बिना जीते और बिना मरे यदि कन्त घर आया तो पग पग पर चूड़ी फोड़ दूंगी। कितना वीराभिमान है!

राजपूत वीरांगणा वस्तुतः वीरों के पांवों की जंजीरें नहीं बनीं, अपितु उनकी प्रधान प्रेरक शक्ति बनीं। ऐसे ही वीर के पोषक के रूप में, डिंगल के कवियों ने शृंगार और वीर का एकत्र वर्णन किया है।

अथवा

हम्मीर रासो के युद्ध वर्णन में जो विशेषताएं हों, उनका सोदाहरण विवेचन करते हुए, चन्द्रबरदायी के युद्ध वर्णन से उनकी तुलना कीजिये।

उत्तरः—कविवर जोधराज रासो-ग्रन्थकारों की परम्परा में अन्तिम सफल रासो-ग्रन्थकार माने जाते हैं। हम्मीर रासो वीर रस के उत्कृष्ट काव्यों में गिना जाता है। जिस योद्धा का चरित्र इसमें वर्णित है, उसका जीवन

अधिकांशतः युद्धमय ही था। उसके चित्रण में कवि की भी अधिकतया युद्ध-स्थलों का ही वर्णन करना पड़ा है। जोधराज ने हम्मीर के अनेक विजयी युद्धों के प्रसंगों का विस्तृत वर्णन किया है। उन युद्ध-वर्णनो मे युद्ध सम्बन्धी सभी बातों का विस्तृत और स्पष्ट वर्णन हुआ है, जो चित्रमय है। सैन्य-वर्णन, शस्त्र वर्णन, व्यूह वर्णन, वास्तविक युद्ध वर्णन, वीरों की मारकाट, शस्त्रों की भयंकर गर्जना, आहतों का आर्तनाद कायरों का भागना, लोथों के ढेर, रक्त की नदी, शंकर भैरव, भूतगण योगनियों आदि का दर्प-ताण्डव, आदि सबका वर्णन जोधराज ने रासो ग्रथों की शैली में किया है। वीरों की उक्तियां, वीर रानियों की बलिदान और वीरता की उच्च भावनाओं का भी प्रबन्ध काव्यानुरूप सम्यक् प्रदर्शन हुआ है।

किन्तु रासो ग्रन्थ—विशेषतः पृथ्वी राज रासो–जोधराज का आदर्श होते हुए भी, युद्ध वर्णन में उसकी अपनी विशेषता भी है। हम्मीर रासो का युद्ध वर्णन स्वाभाविक हे, विशद है और चित्रमय है। हम्मीर रासो व्रजभाषा मे है, जो कोमल होते हुए भी वीर वर्णन में विषयानुरूप होकर, प्राचीन रासो ग्रंथों की भाषा का अनुकरण करती प्रतीत होती है। ऐसे स्थानों पर कवि ने द्वित्वबहुल भाषा का प्रयोग किया है, जो रासो ग्रंथों के युद्ध वर्णनो का अनुकरण है। किन्तु यह प्रवृत्ति बहुत कम मात्रा में है। नहीं तो, जोधराज ने अधिकांशतः शब्दों की "तड़ तड, भड़ भड' की अपेक्षा वस्तु का स्वाभाविक और आलंकारिक वर्णन करने का ही ध्येय रखा है।

देखिये हम्मीर ने दुर्ग की रक्षा का कैसा प्रबन्ध किया है—

चढ़िए करि कोप हमीर मनं।
करि दिड्ढ सगड्ढ सम्हारियनं।
बहुतोप सुसिद्ध सँवारि धरी।
बुरजैं बुरजैं घर धूम परी।
बहु कँगूर कँगूर पर वीर अरे।
सब द्वारन द्वारन धीर परे। आदि।

वर्णन सरल, स्वाभाविक और चित्रमय है। इसी से आगे सेना का भी वर्णन देखिये—

बहुवीर हमीर सुसग चढ़े, गजराजन उप्पर छन्द वढ़े।
करि दरबर अम्बर सीस लगे, मनु जोबन धीर मवीर जगे।
बहुचंचल वाजि करत्त खुरी, तिन उप्पर पप्पर सोज परी।
जर जान जवान लसैं दल में, रण में उन्मत्त लसैं बल में। आदि।

युद्ध-वर्णन भी देखिये कैसा सरल और विशद है—

मर छुट्टत फुट्टत पार गजं, सुमनो अहि पच्छय मध्य रजं।
तरवार बहैं कर पानिवल, धर मत्थ धरैं धर हक्कलल।

ऐसे स्थल भी देखिये, जहां इन्होंने रासो ग्रन्थों की प्रणाली का अंगीकार करते हुए द्वित्व-बहुल भाषा का विशेष प्रयोग किया है युद्ध-वर्णन में—

गरज्जंत घोरंत आतकभारी, घनैं घोर वर्षन्त वर्षा करारी।
कभू हल्लै भुम्मि गज्जत वीरं, कभू घोर अधार वर्षंत पीरं।
गणनाथ हत्थ लिए तिच्छि फर्सी, पिनाकी पिनाकी किये आपदर्सी।
धरै मुद्गर हत्थ भैरव अमानो, इसे देवजुट्टे सुरुट्टे अमानो।
इतैं पीर हजरत्त के सत्थ पिल्ले, अवद्दल एकं हुसैन सुमिल्ले।

(अधिक देखिये सा० र० प्रश्न पत्र २ सवत् २००५ प्रश्न २)।

चन्द युद्ध वर्णन करने के लिए जोधराज के आदर्श थे। जोधराज पर चन्द की शैली का विशेष प्रभाव पड़ा। चन्द ने युद्ध का विशद वर्णन किया है। उस के सभी रूपों का चित्रण किया है। वीर योद्धागण, सेना, घोड़े, हाथी आदि, रणसज्जा, रणयात्रा, व्यूह रचना, शस्त्रों का वर्णन, मार काट, शस्त्रों की धमाधम, आहतों और जानवरों के चीत्कार, कायरों की भगदड़, वीरों की सिंह गर्जना, जयघोष, आदि का विस्तार से वर्णन किया है। चन्द के चित्र स्पष्ट हैं, उज्ज्वल हैं और विशद हैं। श्री मैनेरिया के शब्दों में "वर्ण्य विषय को साकार रूप दे देने की अद्भुत शक्ति भी उन में (चन्द में) विद्यमान थी। अतः जिस विषय को उन्होंने पकड़ा, उसका ऐसा सागोपाग सजीव और विशद वर्णन किया है कि वह मूर्तिमान् होकर हमारी आंखों के सामने घूमने लगता है। चन्द की शैली भी विषयानुरूप उद्धत, भाषा द्वित्व बहुल पर संगीत पूर्ण है। विविध अलंकारों—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक आदि—के प्रयोग के साथ चन्द ने इन उपर्युक्त युद्ध-विषयों

का चित्रमय और विशद वर्णन किया है। चन्द प्रत्यक्ष युद्धदर्शी कवि थे। अतएव उनके वर्णन मे आंखों देखी घटना की स्पष्टता है और सजीवता है। देखिये पृथ्वीराज की व्यूह-रचना—

फौज रची सामन्त गरुड व्यूहं रचि गड्ढिय।
पंखभाग प्रथिराज चच चावंड सुगड्ढिय।
गाभरि अत्ताताइ पाइ गोइन्द सुगड्ढिय।
पुच्छ कन्ह चौहान पेट पम्मारह पड्ढिय। आदि

देखिये कन्ह चौहान का युद्ध वर्णन—

छुटि अंपि पट्टी मनो उग्गि सूर, गिरे काइरं सूरयद्धे सनूरं।
लिये हथ्थ करवार भजे कपार, पियँ जोगनी पात्र कीयै ढकारं।
बहै अच्छरी हथ्थ अन्नेक सथ्थ, करसूर संम्हालियै घल्लि वथ्थं।
करै कज्ज साँई समप्पै सुघट्टं, लियं कन्ह गोरी तन मारि थट्ठ।

रण यात्रा का वर्णन देखिये—

हुअ सद्द सुसद्दह नद्द भरं, घन घेरिक कीय सुफौजवरं।
लप लप्प मिले दल समिलियं, नर भद्दव वाहल संमिलियं।
सु अग्गे हय-नारि अपार सज, तिन देषत काइर दूर भजं।
तिन पिट्ठ हजारउ मत्त चलैं, छहरित्त झरंत करी तिहलैं।
तिन पिट्ठह फौजगहव्वरयं, थरि गोरिय मुट्ठकरं धरियं। आदि।

युद्ध का भयंकर वर्णन—

बहै कूह कूहं, वहै सार सारं, चमक्कै चमक्कै करार सुधारं।
भभक्कै भभक्कै वहै रत्तधारं, सनक्कै सनक्कै वहैं बान भारं।
हयक्कै हयक्कै वहैं सेलमेल, हलक्कै हलक्कै मची ठेलपेलं।
कुकैं कूक फूटी सुरत्ताज ठानं, यकी जोगमाया सुअप्प सुथान।
बहै चट्टपट्टं उघट्टं उलट्टं, कुलट्ठा धरै अप्प अप्पं उहट्ठ।
दडक्क बजे सथ्थ मथ्थं सुकट्टं, कढक्कं बजे सेन सेना सुघट्टं। आदि।

जोधराज ने युद्ध वर्णन में चन्द का अनुकरण किया है और उसी ढंग में युद्ध वर्णन किया है। किन्तु उसका युद्ध ज्ञान प्रत्यक्षदृष्ट नहीं था। उसके युद्ध ज्ञान का आधार वीर वर्णन के ग्रन्थ रासो आदि ही थे। अतएव

उसमें चन्द की प्रत्यक्ष दृष्टि और सजीवता उतनी नहीं है। जोधराज युद्ध-वर्णन में चन्द के रासो को नहीं पहुंच सके हैं। चन्द के युद्ध वर्णन में अधिक विशदता, अधिक ओज, अधिक चित्रमयता और अधिक संगीत है। शब्दों से ही युद्ध की ध्वनि निकलती है। उनमें अनेकत्र दुरुहता, अस्वाभाविकता भी आती है। किन्तु जोधराज यद्यपि इन गुणों का अनुकरण करते हुए चन्द को नहीं पहुंच सके हैं, किन्तु चन्द की दुरूहता और अस्पष्टता से भी बचे रहे हैं। उनके युद्ध वर्णन सरल स्वाभाविक, और वर्णनात्मक हैं। शब्दों को तोड़ मरोड़ कर और द्वित्वाक्षरों का अधिक प्रयोग करके उनसे युद्ध-ध्वनि निकालने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि अन्य वीर कवियों या चन्द ने किया। न उन्होंने शब्दों पर वृथा अनुस्वार लगा कर ही मारू राग निकाला। उन्होंने अधिकांश में सरल वस्तु-वर्णनात्मक शैली में ही युद्ध वर्णन किया है। काव्य कला का भी वहीं तक प्रयोग किया है, जहां तक कि भाषा में विकृति और अतएव दुरूहता न आये। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का इतना अधिक प्रयोग नहीं है, जितना कि चन्द की भाषा में। मुख्यतः ये ही दोनों की विशेषताएं हैं।

अथवा

"हम्मीर रासो की रचना यद्यपि वीरगाथा काल में नहीं हुई है, तथापि यह भाषा, भाव, शैली और विषय की दृष्टि से उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करता है।" विवेचन कीजिये।

उत्तर—हम्मीर रासो की रचना रीति काल में हुई थी। वीरभावनाओं का उस समय प्रभाव समाप्त-प्राय था। मुसलमानों के संघर्ष समाप्त हुए सदियां बीत चुकी थीं। बीच में भक्ति का प्रबल प्रवाह भी बह चुका था। और, अब शृंगार की नदी बह रही थी। ऐसे काल में जोधराज ने भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध वीर-केसरी महाराणा हम्मीर के चरित्र को लेकर हम्मीर रासो नामक प्रबन्ध काव्य लिखा। जैसा कि नाम से ही व्यक्त है, रीति-काल की रचना होने पर भी, जोधराज ने इसके निर्माण के लिए रासो ग्रन्थों की काव्य-पद्धति को ही आदर्श रखा है। हम्मीर देव अन्तिम प्रतापी हिन्दु राजा

था, जिसने अनेक बार युद्धों में मुसलमानों को परास्त किया था और हम्मीर-रासो रासो ग्रन्थों की परम्परा का अन्तिम रासो माना जाता है। जोधराज ने रासो ग्रन्थों की ही शैली में इस प्रबन्ध काव्य की रचना की है। प्रारंभ में देवी देवताओं की वन्दना, सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन, क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति, हम्मीर की वंशावली, पूर्वजों की महत्ता, आदि का वर्णन करते हुए प्राचीन रासो प्रबन्ध शैली में ही काव्य का प्रबन्धन किया है। विषय भी सब वे ही वर्ण्य बने हैं, जो कि रासो प्रबन्धों में। विषय ऐतिहासिक लिया है, किन्तु इसमें अनेक प्रसंगों को उद्भावित करके मिला दिया गया है। रासो-प्रणाली में काव्य का रूप देने के लिए इतिहास में अनेक काल्पनिक प्रसंगों का वर्णन किया है। रासो ग्रन्थों के समान ही प्रधान रस वीर और उसका प्रधान सहायक रस शृङ्गार ही रखे हैं। अन्य रसों का भी यथा-स्थान रासो प्रबन्ध की शैली में निर्वाह किया गया है। प्रेम, विवाह, प्रकृति, विहार, ऋतु, (चन्द्र, सूर्य, वन आदि) प्रातः, संध्या, उत्सव, त्योहार, शस्त्रास्त्र, योद्धा और युद्ध, सैन्य संचय और सैन्य-सज्जा, व्यूहरचना, मार काट, आर्तक्रन्दन, रक्तप्रवाह, भूत योगनियां आदि समस्त रासो ग्रन्थों के विषयों का उचित वर्णन किया गया है। रासो ग्रन्थों की शैली में ही विविध अलंकारों के साथ, विषयानुसार विभिन्न प्रसंगों का, विभिन्न छन्दों में स्वाभाविक वर्णन किया गया है। विभिन्न रसों में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। मुख्यभाव वीर और शृङ्गार के रहते हैं, जिन में शृङ्गार वीर का अंग रहता है। वीर भाव का प्रारंभ से अन्त तक सुन्दर निर्वाह है। वस्तु-वर्णन के साथ पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रबन्ध काव्य के ढंग का यथोचित है। व्यक्तिगत चरित-चित्रण में हम्मीर और उसके पक्ष के लोगों का—रानी और पुत्रों आदि का—बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। उनकी वीरोक्तियां बहुत भाव-पूर्ण हैं। रासो काव्यों की पद्धति में ही अतिशयोक्ति भी अधिकतया मिलती है। वर्णन स्वाभाविक और अतिशयोक्त भी हैं, किन्तु कृत्रिम नहीं हैं। कथा प्रवाह सुगठित रूप में विविध प्रसंगों का चित्रण करता हुआ, शृंखलाबद्ध, अन्त तक अबाध गति से चलता है। इस प्रकार, शैली, विषय और भाव की दृष्टि से हम्मीर रासो, रासो प्रबन्ध काव्यों के पदचिन्हों पर ही चला है।

भाषा यद्यपि व्रजभाषा है हमीर रासो की, किन्तु वीर वर्णन या युद्ध-वर्णन के प्रसंग में वह रासो ग्रन्थो की भाषा का अनुकरण करती प्रतीत होती है। ऐसे स्थलों पर कवि ने द्वित्व-बहुल बना कर भाषा का प्रयोग किया है। शब्दों की रूपविकृति भी की है, अद्वित्व वर्णों को द्वित्व कर दिया है। चन्द की भाषा के अनुकरण में शब्दों पर संगीत के लिये अनुस्वारों का भी व्यर्थ का प्रयोग किया है। किन्तु यह प्रवृत्ति अल्प मात्रा में है। अन्यथा तो जोधराज ने स्वाभाविक भाषा का ही अधिकतया प्रयोग किया है। इससे उनके वर्णनों में दुरूहता नहीं आई है और न भाषा ही अधिक कृत्रिम हुई है। कवि ने ऐसे स्थलों पर वास्तव में रासो ग्रन्थों की भाषा-शैली का निर्वाह-मात्र करने की चेष्टा की है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम्मीर रासो के विषय में प्रश्नगत उक्ति सत्यांश में घटती है।

अथवा

रीति-कालीन कवियों में देव का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—रीति काल के कवियों को मुख्यत. दो श्रेणियों मे बाटा जाता है—एक आचार्य श्रेणी के और दूसरे मुक्तक शृङ्गारी श्रेणी के। देव दोनों ही श्रेणियो में आते हैं। आचार्य-परिपाटी में इन्होंने काव्य और उसके अङ्गो का वर्णन किया है। काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन करने वाले आचार्यों मे प्रमुख आचार्य केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपति, भिखारी दास, प्रताप साहि आदि माने जाते हैं। केशव संस्कृत शास्त्रों के आधार पर हिन्दी के सर्वाङ्ग काव्य का वर्णन उपस्थित करने वाले सर्व प्रथम आचार्य हुए। इस ऐतिहासिक महत्व में देव केशव के समक्ष नहीं ठहरते। दूसरे, पाण्डित्य में भी केशव देव से अधिक थे। देव ने केशव से अधिक काव्य के उपादानों का वर्णन किया है, किन्तु विवेचन के लिहाज से वे विशेष सफल नहीं रहे। केशव और देव दोनों के विषय-वर्णन अस्पष्ट हैं। किन्तु देव में रसवत्ता या भावुकता केशव से अधिक है और केशव में आचार्यत्व अधिक। अतः आचार्य के नाते देव का स्थान केशव से पीछे है। देव ने स्वयं भी केशव का आदर से स्मरण किया है और उन से प्रभावित भी हुए हैं। अन्य कुलपति आदि आचार्यों में भी आचार्यत्व और शास्त्र-पाण्डित्य देव से अधिक है। कुलपति का सर्वांग

काव्य का विवेचन अधिक स्पष्ट, अधिक विशद और अधिक गंभीर है। उनके सिद्धान्तों में स्थिरता है, उनका प्रतिपादन निश्चय-गर्भित है। देव के सिद्धान्त स्थिर और स्पष्ट नहीं हैं, गोल मोल हैं, जिससे लक्षण के पश्चात् लक्ष्य के स्वरूप ज्ञान के विषय में भ्रान्तियाँ या शंकाएं रह जाती हैं, जिनका परिहार नहीं होता। कुलपति की अन्य विशेषता यह भी है कि दोषों के उदाहरण स्वयं कल्पित न कर केशव आदि के काव्य से दिये हैं। देव में यह बात भी नहीं है। ये दोनों बातें भिखारी दास में और भी अधिक मिलती हैं। उनका विषय वर्णन और भी अधिक स्पष्ट, विशद, निर्भ्रान्त और सांगोपांग है। दोष आदि उदाहरण उन्होंने भी अन्यों की कविताओं में से ही रखे हैं। साथ ही इनका भाषा-ज्ञान भी ऊँचा था। भाषाओं के स्वरूप वर्णन की इनकी विशेषता तो अन्य किसी भी आचार्य में नहीं मिलती। इनसे देव की थोड़ी-सी यह विशेषता है कि देव में कुछ मौलिकता है, उन्होंने एक दो नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं, किन्तु अन्य गुणों में दासका स्थान पहिले है। प्रताप साहि भी आचार्य के नाते देव से कहीं आगे हैं। इन्होंने भी काव्यांगों का बड़ी स्पष्टता और प्रौढ़ता से सांगोपांग विवेचन किया है, जो कि देव में नहीं मिलता। कव्यांगों के विवेचन में प्रताप साहि का भी दृष्टिकोण प्रधानतया आचार्य का ही रहा है, कवि का नहीं। इस प्रकार रीति-वर्णन के इन प्रमुख आचार्यों में देव का स्थान इनसे बाद का ही ठहरता है। स्व० आचार्य श्री शुक्ल जी के शब्दों में, "आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।"

मुक्तक श्रृङ्गारी कवियों में देव का स्थान प्रथम श्रेणी के कवियों में माना जाता है। देव में मौलिकता और कवित्व-शक्ति बहुत अधिक थी। ये अत्यन्त प्रतिभाशाली प्रगल्भ कवि थे। श्रृङ्गार-वर्णन इनका बहुत सुन्दर माना जाता है। किन्तु देव की काव्य कला के पूर्ण विकास में उनकी स्थूल शब्द-सौन्दर्य की विशेष प्रवृत्ति बाधक बनी है। अनुप्रास और यमक के लिए अनेकत्र देव कविता के प्रधान भाव को भूल जाते हैं। अनेकत्र इसी शब्द विकृत करने की प्रवृत्ति के कारण उनकी कविता में दुरूहता आ जाती है। इस क्षेत्र में तुलना के लिए उनके सामने विद्यापति, केशव, विहारी,

मतिराम, घन आनन्द और पद्माकर विशेष रूप से आते हैं। मानवीय श्रृङ्गार सौन्दर्य और प्रेम का सुन्दर चित्रण करने में देव विद्यापति के कुछ निकट पहुँचते हैं। रसमयता में देव विद्यापति तक नहीं पहुँचते। विद्यापति में जो रसात्मकता, भाव और भाषा का संगीततत्व मिलता है वह देव में नहीं। केशव की कविता का यद्यपि देव पर प्रभाव पड़ा था, किन्तु रसात्मकता, भाव-प्रवणता और तन्मयता में देव केशव से आगे बढ़ जाते हैं। केशव में आचार्यत्व के साथ रसिकता तो मिलती है, किन्तु गंभीर रसानुभूति नहीं मिलती और रसात्मकता देव के काव्य की विशेषता है। केशव मे आचार्य प्रधान रहता है और देव मे भावुक कवि। देव के छन्द और भाषा भी केशव से अधिक कोमल और संगीतमय हैं। देव के समकक्ष अन्य श्रृङ्गारी कवि बिहारी आते है। इन दोनों के विषय में साहित्यिकों में काफी मत-भेद है। बिहारी देव से पहिले हुए थे और देव के समय तक अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुके थे। देव पर बिहारी के काव्य का प्रभाव भी विशेष पड़ा था। बिहारी के अनेक भावों को लेकर देव ने अपने ढंग मे उनका वर्णन किया है। किन्तु दोनो मे भिन्नता है। बिहारी में छोटे-छोटे सकेतों, मधुर अभिव्यञ्जनो और लक्षणाओं से, अत्यंत संक्षेप से बड़े-बड़े विशाल भावों का चित्र उतारने की जो अद्भुत क्षमता है, वह देव में नहीं। बिहारी संकेतों से काम चलाते हैं; देव वस्तु के विशद वर्णन से। बिहारी की भाषा देव की से कहीं अधिक शुद्ध और परिमार्जित है। भाषा-सौन्दर्य दोनों में उपयुक्त है, देव में संगीत तत्व कुछ अधिक है। सौन्दर्य और श्रृङ्गार के दोनों के दोनों पारखी औरस फल चितेरे हैं। किन्तु बिहारी का रुझान काव्य के कला पक्ष और भाव पक्ष दोनो की ओर है और देव का अधिकतया भाव पक्ष की ओर। बिहारी में व्यञ्जना और लक्षणा अधिक है और देव में संगीत और रस-तन्मयता। बिहारी के चित्र विशेष उज्वल, चमत्कारक और व्यंग्यात्मक हैं और देव के संगीतमय और रसात्मक। बिहारी के दोहे रस के छींटे उड़ाते हैं और देव के पद्य रस वर्षन कर के डुबाते हैं। तो भी काव्य के कलापक्ष में बिहारी ऊँचे हैं और उन्होने कलापक्ष के लिए अपने भाव को अवरुद्ध नहीं होने दिया है। देव ने अनुप्रास और यमक के चक्कर में पड़ कर अनेकत्र भाव को विकृत कर लिया है। कुछ साहित्यिक देव

को ऊँचा स्थान देते हैं, और कुछ बिहारी को। बिहारी को उच्चस्थान देने वालों की संख्या अधिक है। मति राम भाव-गाम्भीर्य और रसात्मकता में देव से पीछे रह जाते हैं। यद्यपि भावुकता कोमलता और रसिकता में मतिराम भी प्रसिद्ध हैं, तो भी देव में भाव या रस की गहनता और विशदता अधिक है। मतिराम की भाषा देव से शुद्धतर है। पद्माकर के भावों में गम्भीरता है, भाषा में संगीत और माधुर्य है। किन्तु उनका झुकाव प्रमुखतया काव्य के कला चमत्कार के प्रति विशेष है। अनुभूति की विशदता और वास्तविकता पद्माकर में उतनी नहीं जितनी देव में। इस दृष्टि से देव इन दोनों ही— मतिराम और पद्माकर—से विशेष ठहरते हैं। रसार्द्रता में देव के समकक्ष घनानन्द आ सकते हैं, इनकी अनुभूति भी सत्य और गहन है, किन्तु उज्ज्वलता, संगीत और सौन्दर्य में देव की कविता अधिक आगे है। उधर भाषा की शुद्धता और उक्ति-वैचित्र्य के लिए घनान्द आगे हैं। वस्तुतः तो प्रत्येक कवि अपनी अपनी विशेषता रखता है, किसी में कोई तत्व अधिक है, और किसी में कोई। उन्हें परस्पर छोटा बड़ा ठहराना अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः देव के विषय में आचार्य श्री शुक्ल जी के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "इनका-सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीति काल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है।"

४—बिहारी के दोहों में भाषा की जैसी कसावट, भावों की जैसी मौलिकता और अर्थ की जितनी गंभीरता मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

उत्तर:—बिहारी के दोहों के विषय में कही गई उपर्युक्त सम्मति माननीय है। बिहारी की कविता की ये तीनों ही प्रमुख विशेषताएँ हैं। भाषा और भावों की समाहार और संक्षेप-शक्ति जितनी बिहारी में मिलती है, उतनी अन्य किसी कवि मे नहीं मिलेगी। अतएव बिहारी के दोहों के बारे में निम्न उक्ति प्रचलित है—

सत सैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन को छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥

मुक्तक और फिर दोहे जैसे छोटे छन्द में मुक्तक-रचना करने वाले कवि की पहली विशेषता होती है कि उसका भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये। क्योंकि दोहे के थोड़े से अक्षरों में एक भी अक्षर फालतू रखने की गुञ्जाइश नहीं हो सकती। किसी विशाल भाव के चित्रण के लिये दोहे का दायरा बड़ा छोटा होता है। उसमें तो नपे तुले अत्यन्त समर्थ व्यंजक और चित्रक शब्दों का प्रयोग होता है, तभी कोई कवि सफल रह सकता है। उसकी भाषा अत्यन्त संक्षिप्त, समर्थ और लक्षणा-व्यञ्जनापूर्ण होनी चाहिये। तभी वह भाव-विशाल के अभिव्यंजन या चित्रण में कृत-कार्य हो सकती है। बिहारी की भाषा में ये उपर्युक्त सभी गुण प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। बिहारी के दोहों में शुद्ध परिमार्जित और साहित्यिक ब्रज भाषा ऐसी फिट बैठी होती है कि उसमें एक भी शब्द इधर उधर नहीं किया जा सकता। देखिये—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्रधनुष रंग होति॥

इसमें कौन-सा अक्षर व्यर्थ है? एक शब्द भी निकाल देने से चित्र में कोई न कोई कमी रह जाएगी। शिथिलता नाम को भी नहीं। अन्यथा इतना गंभीर और विशाल अर्थ कैसे व्यक्त किया जा सकता था? और भी—

अमिय हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जित चितवत इक बार॥

देखिये कितने थोड़े से सार्थक अक्षरों में आँखों में अमृत विष और मदिरा के रंग और प्रभाव दिखाए गये हैं। इसमें एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं। अर्थ गाम्भीर्य की भी सीमा नहीं। एक और—

मैं समुझ्यो निरधार यह जग काचो कांच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के देखिये कैसे गंभीर सिद्धान्त का, कितनी सुन्दरता से प्रतिपादन हुआ है। इन समस्त सात सो दोहों में कुछ ही

ऐसे होंगे, जिनमें ये उपयुक्त दोनों विशेषताएं पूर्णतया उपलब्ध न होती हों, नहीं तो सतसई का प्रत्येक दोहा इन विशेषताओं को रखता है।

मौलिकता बिहारी के दोहों की मौलिक विशेषता है। बिहारी अपनी हर बात में मौलिक थे। उनकी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा को अमौलिकता कभी सह्य नहीं थी। उन्होंने अन्यों के—विशेषतः संस्कृत के गाथा सप्तशती, अमरुक शतक आदि—काव्यों से भावों का आदान भी किया। किन्तु उनमें भी उनकी मौलिकता आ गई है, जिसके कारण से उस गृहीत भाव में और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है। स्व० श्री पं० पद्मसिंह ने बिहारी के इस भावादान का विस्तारशः वर्णन किया है, उदाहरण दे देकर उन्होंने अनेक प्रकार से बता दिया है कि किस प्रकार बिहारी ने अन्यों के भावों को लेकर भी उन्हें अपना निराला मौलिक रूप देकर लिखा है। बिहारी के दोहों में उनकी मौलिकता और व्यक्तिगतता ऐसे व्याप्त है कि कोई साहित्य-मर्मज्ञ केवल दोहे को पढ़ कर पहिचान लेगा, बिना बताए, कि यह बिहारी का है।

अतः बिहारी के दोहों की प्रशंसा में उपयुक्त प्रश्नगत पंक्तियां बिल्कुल सही हैं, अतएव माननीय हैं।

अथवा

सेनापति को आप भक्त या रीति-सम्बन्धी कैसा कवि और क्यों मानते हैं ?

उत्तर—सेनापति भक्ति-काल के अन्तिम प्रहर में हुए थे, जब कि अगले रीति काल की प्रवृति का प्रारंभ हो चुका था। भक्ति की धारा भी शृङ्गार को स्थान देती हुई-सी प्रवाहित हो रही थी। सेनापति साहित्य के इन दो कालों के सन्धि काल में ही हुए थे। अतएव उन पर इन दोनों ही कालों का विशेष प्रभाव पड़ा है। उनमें दोनों ही कालों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। किन्तु उनमें आगामी रीति काल की प्रवृत्ति प्रधान है। सेनापति प्रधानतः कवि हैं, रीति काल की विशेषताओं को लिए हुए और पीछे भक्त हैं। किन्तु भक्ति वर्णन में भी काव्य चमत्कार को इन्होंने

नहीं छोड़ा है। इनके लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—काव्य कल्प द्रुम और कवित्त रत्नाकर। इनमें कवित्त रत्नाकर मिलता है, पहला नहीं।

कवित्त रत्नाकर पांच तरंगों या अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तरंग में कवि ने श्लेष अलंकार का वर्णन करके अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। यह रीति कालीन अलंकारवादिनी प्रवृत्ति का ही सूचक है। दूसरी तरंग में श्रृङ्गार रस का वर्णन हुआ है। विविध मधुर भावों के सुन्दर चित्र उतारे गए हैं। तीसरी तरंग में ऋतुओं का वर्णन है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ—श्रृङ्गार और ऋतु वर्णन—भी रीति काल की ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। श्रृङ्गार के साथ ऋतु वर्णन भी रीति काल के कवियों ने बहुत किया है। कवित्त रत्नाकर की इन प्रथम तीन तरंगों से निश्चय से सिद्ध हो जाता है कि सेनापति ने अपने को रीति और श्रृङ्गारवादी कवियों की श्रेणी में ही रखा है। पीछे की दोनों तरंगों में रामचरित के विविध प्रसंगों को लेकर उनका वर्णन किया गया है, गंगा की स्तुति है, कृष्ण-भक्ति के कुछ पद्य भी हैं। अधिकता रामचरित के वर्णन की है, जो पूरी एक तरंग में है। यह भक्ति काल का प्रभाव है अथवा अन्त समय में सेनापति वस्तुतः विरक्त और भक्त हो गए थे। भक्ति में यद्यपि उन्होंने निर्विशेष भाव से कई देवताओं का वर्णन किया है, तो भी प्रधानतया झुकाव उनका श्रीराम की ओर है। किन्तु भक्ति-विषयक इस साहित्य के आधार पर उन्हें भक्त कवि नहीं माना जा सकता, हालांकि वे उत्पन्न भी भक्ति काल में ही हुए थे। क्योंकि मुख्यतः उनमें श्रृङ्गार और रीतिवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव था। काव्य के बाह्य चमत्कार में उनका विशेष प्रयास रहता था, जैसा कि उनकी रचनाओं से व्यक्त होता है। काव्य कला के बाह्य सौन्दर्य का पूर्ण चमत्कार उनकी रचनाओं से व्यक्त होता है। काव्य कला के बाह्य सौन्दर्य का पूर्ण चमत्कार उनकी श्रृङ्गार और भक्ति दोनों प्रकार की रचनाओं में मिलता है। इन सब कारणों से सेनापति को श्रृङ्गारी कवि ही मानना ठीक होगा। रीति-पद्धति का ही अनुसरण करते हुए सेनापति ने फुटकल छन्दों में श्लेष, श्रृङ्गार ऋतु आदि रीति काल के विषयों का मुख्यतः वर्णन किया। अपनी काव्य कला के विषय में इन्होंने गर्वोक्तियां भी की हैं। इनसे भी काव्य

कला-विषयिणी रीति कालीन प्रवृत्ति ही सूचित होती है। भक्ति भावना और वैराग्य भावना का उदय बाद के काल में हुआ होगा, जोकि रीति की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही मानना चाहिए। अतः उसमें वह गंभीरता और अनुभूति नहीं है, जो सूर या तुलसी की भक्ति में। इन कारणों से सेनापति को रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में ही रखना अधिक उपयुक्त है। श्री शुक्ल जी के शब्दों में······"अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे।" यही मत मानना न्याय और युक्ति-संगत है।

५ (अ) दृष्टान्त और अर्थान्तर न्यास अथवा निदर्शना और प्रति-वस्तूपमा अथवा उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के अन्तर को उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर:—दृष्टान्त में दो उपमान और उपमेय वाक्य होते हैं, जिनमें सादृश्य बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से चमकता है। "एक राज्य न हो बहुत से हो जहाँ, राष्ट्र का बल बिखर जाता वहाँ। बहुत तारे थे अंधेरा कब मिटा, सूर्य का आना हुआ तब मिटा। अर्थान्तरन्यास में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव नहीं होता। वहाँ तो दो समान विशेष वाक्यों में से एक के द्वारा साधर्म्य या वैधर्म्य से समान या विशेष का समर्थन होता है। अतः दोनो में समर्थ्य-समर्थक भाव या पोष्य-पोषक भाव होता है। जैसे—

प्रबला दुष्टा जान ताड़का को तुम मारो।
स्त्री हत्या का पाप तनिक भी नहीं विचारो॥
क्यों न सिंहनी और सर्पिणी मारी जावें,
जिससे देश समाज अकारण ही दुख पावे?

यहां ताड़का वध वाले विशेष वाक्य का नीचे के विशेष वाक्य से समर्थन किया गया है। ऊपर के दृष्टान्त के उदाहरण मे साधारण धर्म का भेद होने पर भी दो उपमान उपमेय वाक्यों में बिम्ब-प्रति-बिम्ब भाव (सादृश्य) झलकता हैं।

अथवा

निदर्शना में भी दो वाक्य होते हैं, उपमान और उपमेय वाक्य। दोनों में धर्म-भेद होते हुए भी, बिम्ब-प्रति-बिम्बभाव का सादृश्य प्रतीत

होता है। किन्तु उपमेय वाक्य में उपमान वाक्य का आरोप होता है। जैसे—

गनिबोहै सितारन को कवि 'शंकर' रेनुमों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है।

प्रति वस्तूपमा में एक ही समान धर्म शब्द भेद द्वारा कहा जाता है, उसमें वस्तु-प्रति-वस्तु भाव का सादृश्य माना जाता है। जैसे—

घटक न छाँड़त घटत हूँ सज्जन नेह गंभीर।
फीको परै न बरु फटै रँग्यो चोल रंग चीर॥

यहां रंग का घटना और फीका पड़ना एक ही बात दो शब्दों में कही गई है। यही दोनों में अन्तर है।

अथवा

उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत उपमेय वस्तु की अप्रस्तुत उपमान के रूप में संभावना की जाती है। अथवा उपमेय में उपमान की संभावना रहती है। उत्कट कोटि के सन्देह का नाम सँभावना है। जहाँ उपमेय को १६ बिस्वे उपमान मान लिया जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा है। जैसे—मुख मानो चाँद है। इसमें मुख उपमेय को १६ बिस्वे चाँद उपमान मान लिया गया है।

अतिशयोक्ति में लोक मर्यादा से बाह्य, प्रस्तुत का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन होता है। रूपकातिशयोक्ति में उपमान उपमेय में से केवल उपमान का ही कथन होता है, उपमेय का नहीं।

बांधा विधुको किसने इन काली जंजीरों से ?
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से ?

यहाँ बालों की लटों और मुख उपमेयों का वर्णन न करके, केवल 'काली जंजीर' सर्प और चन्द्रमा उपमानों का ही वर्णन कर दिया गया है। उत्प्रेक्षा में, उपमान की उपमेय में संभावना की जाती है और वह वाच्य होती है, उसका वाचक पद मानो होता है। दोनों में यही अन्तर है।

(व) किसी रस विशेष का उदाहरण अपने दैनिक जीवन से देते हुए उसमें भावों, विभावों, और अनुभावों की स्थिति समझाइये तथा बताइये कि शान्त रस नाटक का विषय हो सकता है या नहीं।

उत्तर—जीवन का शृंगार के समान दूसरा प्रधान भाव करुणा का है, जिसका अनुभव अमीर गरीब पशु पक्षी सबको होता है। करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है। यह शोक ही जब अपने आलम्बन आदि कारणों से अत्यन्त परिपुष्ट हो जाता है तो, करुण रस कहलाता है। यह शोक स्थायी भाव सब के हृदय में सदैव सुप्त दशा में रहता है। किन्तु अपने कारणों को पाकर उद्दीप्त और परिपुष्ट हुआ रस-रूपता को प्राप्त होता है। अर्थात् शोक स्थायी भाव, मृतक प्रिय के शव का आलम्बन लेकर उद्गत होता है, आस पास की प्रकृति और परिस्थिति उद्दीपन कारणों से उद्दीप्त होता है और रोने पीटने आदि शोक-सूचक चेष्टाओं अनुभावों से अनुभूत कराया जाता है, स्मृति रति आदि संचारी भाव उसका विकास करते हैं। इस प्रकार से परिपुष्ट हुआ सामाजिक का शोक स्थायी भाव करुण रस कहलाता है।

लोक में पति के मरने पर स्त्री का शोक उद्गत होता है। उसका आलम्बन पति का सामने पड़ा शव होता है। आस पास के दाह क्रिया के सामान, शोक सूचक परिस्थिति आदि उद्दीपन विभाव उसको और भी उद्दीप्त करते हैं। हृदय के उस शोक की आश्रय भूत स्त्री की चेष्टाएँ अनुभाव हैं, जो अन्यों को अनुभव कराती हैं। उसके हृदय में उठने वाले प्राचीन संस्मरण और प्रेम आदि संचारिभाव उस शोक को और भी अधिक व्यापक बना देते हैं। यह लौकिक शोक स्थायी भाव का चरम विकास है, जिसमें आनन्द नहीं, दु:ख है। रस दशा तो, जो कि निरानन्द मय दशा है, उस समय होगी, जब यही उपर्युक्त दृश्य काव्य में वर्णित होकर देखने वाले या सुनने वाले के हृदयस्थ शोक स्थायी भाव को जागृत करके उसे परिपुष्ट कर देगा। सामाजिक के उसी परिपुष्ट स्थायी भाव की रस संज्ञा अन्त में होती है। यह शोक दृश्य, शोक को उद्दीप्त, अनुभूत और संचारित करने वाले सारे कारण, उस समय विशेषता-रहित साधारण हो जायंगे। तभी साधारण रूप में प्रतीत होने पर सामाजिक का शोक रस दशा को प्राप्त करके निरानन्द का कारण बनता है। इसी प्रकार समस्त स्थायी भाव रस-दशा को प्राप्त होते हैं।

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेदमाना गया है और किसी ने शम–तृस्ना-

न्वय—को भी माना है। दोनों ही परम सुख और परम निवृ ति के भाव हैं। तत्व-ज्ञान-जन्य निर्वेद ही परिपुष्ट होकर रस बनता है। किन्तु इस रस को कई आचार्यों ने माना है और कइयों ने नहीं। और, कई विद्वान् शान्त की सत्ता स्वीकार करते हुए भी नाटक में इसकी सत्ता मानने को तैयार नहीं हुए। नाटक में, शान्त रस की स्थिति न मानने का आधार उनका यह तर्क है कि निर्वेद तो अत्यन्त निवृत्ति-मूलक शान्त (निश्चेष्ट) कर देने वाला भाव है, जिसमें कि मनोविकारों और चेष्टाओं आदि की गुंजाइश भी नहीं होती और कि नाटक में प्रधानतया क्रियारूप अभिनय होता है, जिससे रस का अभिव्यंजन होता है, जो कि निर्वेद की निश्चेष्ट दशा में संभव नहीं। दूसरे, नाटक के नृत्यगान वाद्य आदि साधन भी आसक्ति के कारण हैं, निवृत्ति के नहीं, अतः शान्त रस के प्रसंग में उनका कैसे व्यवहार हो सकता है ? किन्तु यह मत भ्रामक है। कारण, अभिनय आदि तो नट करते हैं, जिन्हें रस दशा का अनुभव ही नहीं होता। वे तो अपने अभिनय-पाटव आदि के कारण निर्वेद या शान्त का अभिनय करते हैं। रसानुभाव तो सामाजिक—द्रष्टा—ही करता है। अतः शान्त रस का अभिनय न हो सकने का प्रश्न ही नहीं रहता। नृत्य, गान वाद्य आदि भी लोक में आसक्ति के साधन हैं, किन्तु काव्य के अलौकिक व्यापार का अंग बन जाने पर, उन आसक्ति के साधनों से भी विरक्ति ही पुष्ट होती है, जैसेकि लौकिक दुःख-कारणों से भी काव्य में सुख ही उत्पन्न होता है। इसमें सहृदयों की अनुभूति प्रमाण है।

मनोविकार। संचारियों आदि की स्थिति मोक्ष-दशा के निर्वेद या शान्ति में नहीं मिलती, किन्तु साधक या सिद्धावस्था के तत्व-ज्ञान-जन्य निर्वेद में तो संचारियों की स्थिति रह सकती है। अतः शान्त रस नाटक में भी मानने में कोई दोष नहीं आता। मम्मट विश्वनाथ आदि बाद के प्रमुख आचार्यों ने नाटक में शान्त रस की स्थिति को संभव माना है।

(स) विद्वानों ने शब्द की कौन कौन सी शक्तियां मानी हैं ? संक्षेप में उनके उदाहरण देते हुए लिखिये।

उत्तर—साहित्य-शास्त्रियों ने शब्द की तीन प्रमुख शक्तियां मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीनों ही शक्तियों की सहायता से शब्द अपने विभिन्न अर्थों को बताता है।

अभिधा शब्द की प्रथम शक्ति है। इसी लिए इसको मुख्या या आद्या शक्ति भी माना जाता है। यह शक्ति शब्द के प्रथम और संकेतित अर्थ को बताती है। शब्द का संकेत, जाति, व्यक्ति, गुण, क्रिया में होता है। शब्दों के इन संकेतित अर्थों को बताने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा कहा जाता है। जैसे—घोड़ा जाता है। इसी से सभी शब्द अपने संकेत किये हुए अर्थों को बताते हैं। हम प्रायः सदैव शब्दों की अभिधावृत्ति का ही प्रयोग करते है जीवन व्यापार में। ऊँट, गधा, कुत्ता बन्दर आदमी आदि शब्दों के जिन जिन अर्थों में संकेत हैं, वे सब अभिधा द्वारा बताये जाते हैं।

शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा होती है। यह वहाँ होती है, जहाँ अभिधा द्वारा अर्थ-संगति न होती हो अर्थात् जहाँ शब्दों के मुख्य अर्थ—सांकेतित अर्थ—प्रकरण मे न लगते हों। वहां लक्षणा आकर उन संकेतित मुख्य अर्थों से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले भिन्न अर्थ को बताकर अर्थ-संगति कर देती है। किन्तु लक्षणा का प्रयोग व्यर्थ में नहीं किया जाता। वहां या तो वैसा प्रयोग करने की कोई रूढ़ि या प्रसिद्धि होनी चाहिये अथवा प्रयोक्ता का कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिये। तभी लक्षणा का प्रयोग होता है। इस प्रकार, लक्षणा शब्द की वह दूसरी शक्ति है, जो मुख्य अर्थ की संगति न होने पर (या मुख्य अर्थ का बाध होने पर), रूढ़ि या प्रयोजन के कारण से, मुख्य अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले किसी भिन्न अर्थ को बता दे। अर्थ—संगति हो जाना लक्षणा के होने पर आवश्यक है। नहीं तो लक्षणा व्यर्थ है। लक्षणा द्वारा बताये अर्थ को लक्ष्य और बताने वाले शब्द को लक्षक कहा जाता है। जैसे—यमुना जी पर रहता हूँ। यहां प्रवाह रूप यमुना पर निवास संभव नहीं। अतः यमुना का प्रवाह रूप अर्थ प्रकरण में सगत नहीं होता। तब यहां लक्षणा यमुना के प्रवाह रूप अर्थ से अत्यन्त सामीप्य सम्बन्ध रखने वाले यमुना-तट रूप अर्थ को बताती है। इससे यमुना तट पर रहता हूं, यह अर्थ प्रकरण में लग जाता है। यमुना के शीतत्व

पावनत्वादि के अतिशय की प्रतीति तट में भी कराना प्रयोजन है। रूढ़ि का उदाहरण जैसे—राम पञ्चवटी में रहते थे। पञ्चवटी का मुख्य अर्थ—व्याकरण-गम्य—अर्थ पांच वट वृक्षों के समूह का है, जिसमें रहने का अर्थ ठीक नहीं बैठता। लक्षणा यहाँ पांच वटों के समूह के आस पास के प्रदेश रूप अर्थ को बताती है। प्रकरण संगत हो जाता है। यहां प्रयोजन नहीं है, अपितु ऐसा प्रयोग करने की रूढ़ि चली आ रही है। मुख्य भेद और स्वरूप लक्षणा के ये ही हैं।

व्यंजना शब्द की तीसरी शक्ति है, जो शब्द के वाच्य और लक्ष्य से भिन्न तीसरे अर्थ को बताती है। लक्षणा के प्रयोजन को यही शक्ति बताती है। वाच्य और लक्ष्य अर्थों के पश्चात् शब्द का देश काल, वक्ता, श्रोता आदि की विशेषता से जो अन्य अर्थ प्रतीत होता है, वह शब्द की इसी शक्ति से बताया जाता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यंजना शब्द के आश्रित रहती है, उसमें शब्द बदला नहीं जा सकता और आर्थी में शब्द बदल देने पर भी व्यंग्य-प्रतीति होती रहती है। शाब्दी व्यंजना अभिधा-मूला और लक्षणा-मूला दो प्रकार की होती है। जहां अभिधा के पश्चात व्यंजना होती है, वह अभिधा मूला (अभिधा जिसके मूल में हो) और जहां लक्षणा के पश्चात् व्यंजना हो, वह लक्षणा-मूला (जिसके मूल में लक्षणा हो) होती है। किसी अनेकार्थक शब्दों से बने वाक्य में, जब शब्दों का एक अर्थ प्रकरण—सयोग, वियोग, साहचर्य आदि साधनों—से निश्चित या नियंत्रित हो जाता है, तब दूसरे अर्थ की भी जो प्रतीति होती रहती है, वह शाब्दी अभिधा-मूला व्यंजना से होती है। जैसे—"झूमत मतवारो झमकि घन-माली रस रूप।" यहां घन माली का कृष्ण रूप एक अर्थ प्रकरण में निश्चित हो जाता है। किन्तु अन्य मेघ रूप अर्थ व्यंजना से व्यंजित होता रहता है। समासोक्ति में इसी व्यंजना से काम चलता है। लक्षणा-मूला शाब्दी, जैसे—यमुना पर घर है। यहां लक्षणा के पश्चात व्यंजना से शीतत्व पावनत्व आदि प्रयोजनों की प्रतीति होती है।

आर्थी व्यंजना शब्द-विशेष पर आश्रित नहीं होती। शब्द बदलने पर भी व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। यहाँ तो, प्रकरण, वक्ता, श्रोता, देश, काल

आदि की विशेषताओं के कारण अर्थ—वाच्य लक्ष्य व्यंग्य—से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—शाम हो गई। यहां प्रकरण-वश इस सीधे सादे वाक्य से ही अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं। चोर चोर यदि आपस में सलाह कर रहे हैं तो व्यंग्य अर्थ होगा कि चलो चोरी करने की तैयारी करें। कोई इसका अर्थ समझेगा कि शाम हो गई, इसलिए खाना खाने का समय हो गया। अभिप्राय यह है कि जैसे भी प्रकरण मे, जैसे भी व्यक्ति द्वारा, जैसे भी व्यक्ति को, यह वाक्य सुनाया जायगा, उसका प्रकरणानुसार वैसा ही व्यंग्यार्थ प्रतीत होगा। यह आर्थी व्यंजना है। इसमें कहीं वाच्य, कहीं लक्ष्य और कहीं व्यंग्य अर्थ से व्यंग्य प्रतीत होता है।

प्रमुखतया, शब्द की ये तीन ही शक्तियां मानी जाती है। कुछ आचार्य, तात्पर्य नामक एक अन्य शक्ति भी मानते हैं, जो वाक्य के तात्पर्य या अभिप्राय को बताती है। किन्तु इसे सभी आचार्यों ने नहीं माना है। उनके मत में तात्पर्य या अन्वय का बोध अभिधा से ही हो जाता है, अभिधा शब्दों का परस्पर अन्वित रूप में ही अर्थ बताती है। अतः इनके मत मे तात्पर्याख्या शक्ति व्यर्थ है।

अथवा

किसी काव्य रचना के किस किस अंग मे दोष आ सकते हैं? क्या दोष कभी गुण भी माने जा सकते हैं? किसी भी दोष का लक्षण एवं उदाहरण दीजिये।

उत्तर—रस के आस्वाद में अपकर्ष करने वाले दोष होते हैं। अपकर्ष कई तरह से होता है, रस के आस्वाद में प्रतिबन्ध या रुकावट उपस्थित करने से, रसोत्कर्ष का विनाश करने से और रसास्वाद में विलम्ब उपस्थित करने से। इनमें से किसी भी प्रकार या रूप में, जो रसास्वाद में अपकर्ष (कमी) उपस्थित करता है, वह दोष है। दोष यह अपकर्ष कहीं शब्द गत होकर, कहीं अर्थ-गत होकर और कहीं स्वयं रस-गत होकर, काव्य के आस्वाद में बाधक बन कर, करते हैं। अतएव तीन प्रकार के माने जाते हैं—शब्द-गत, अर्थ-गत रस-गत। शब्द गत दोष, श्रुति-कटु, व्याकरण च्युति आदि है। जैसे, श्रृङ्गार कोमल वर्णन में कर्ण—कटु शब्दों का प्रयोग दोष माना जायगा।

कवि कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता॥

यहाँ साधारण विचारात्मक कोमल प्रसंग में 'धृष्टता', विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता श्रुति-कटु लगते हैं। व्याकरण च्युति, जैसे, काव्य में सामान्यता सौन्दर्यता आदि शब्दों का प्रयोग करना, जो कि अशुद्ध है। यह दोष प्रथमत: ही सहृदय के मन में काव्य के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देता है।

अर्थ दोष, जैसे—राजा! भोजन दे मुझे, रोटी गुड़ भर पेट। यहां ग्रामीण अर्थ का प्रकाशन हुआ है, अत: ग्राम्य दोष है। इसी प्रकार पुनरुक्त दोष होता है—

धन्य है कलंक हीन जीना एक क्षण का,
युग युग जीना सकलंक धिक्कार है।

इसमें एक ही बात बिना किसी प्रयोजन के दुबारा कही गई है, जो विरसता-कारक है।

रस दोष 'स्व शब्द वाच्य' आदि होते हैं। रस को उसके नाम से ही वाच्य रूप में कहना काव्य में दोष माना जाता है। रस तो सदैव व्यंग्य ही रहने चाहिये। अतः जहां रसका नाम पूर्वक वाच्य रूप में कथन हो वहां 'स्व शब्द वाच्य' नामक रस दोष होता है। जैसे—उस कुरंगाक्षी को देखकर मुझ में शृंगार रस उद्गत हो गया। यहां शृंगार का वाच्य रूप में नाम लेकर कथन दोष-वह है।

इन दोषों में अनेक ऐसे हैं, जो नित्य हैं, जो सदैव प्रत्येक अवस्था में दोष ही रहते हैं, जैसे, च्युत संस्कृति या अश्लीलता। ये किसी रस में अथवा किसी भी प्रकरण में आयें, दोष ही रहेंगे। किन्तु कुछ ऐसे दोष भी हैं, जो एक स्थल पर दोष हैं तो अन्यत्र गुण भी बन जाते हैं। जैसे—श्रुति-कटु। श्रुति कटु या कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग शृङ्गार आदि के कोमल स्थलों में दोष माना जाता है। किन्तु वीर, रौद्र आदि कठोर ओजस्वी रसों में कर्ण कटु शब्द ओजोव्यंजक और अतएव गुण बन जाते है। किन्तु ऐसा अनित्य दोषों के विषय में ही होता है, नित्य दोषों के विषय में नहीं। नित्य दोष तो सदैव दोष ही रहेंगे, कभी गुण नहीं बनेंगे।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र २ (संवत् २००७)

१. निम्नलिखित पदों में से यथेच्छ किन्हीं दो पदों की सन्दर्भ-सहित व्याख्या कीजिए—

(क) घर बांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरिंदां घेरियो, रहे गिरिंदां राण॥
माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै जांण सिराणैं सांप॥
अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण मांह पोयण फूल प्रताप सी॥

उत्तरः—प्रश्न (क) गत तीनों 'दोहे डिंगल में वीर रस' में आये कविवर पृथ्वीराज के हैं, जो उन्होंने महाराणा प्रतापसिंह की प्रशंसा में लिखे हैं। अकबर के विशेष सचिव होने के साथ-साथ महाराज पृथ्वीराज राणा प्रताप में भी अगाध विश्वास और श्रद्धा रखते थे। इन्हीं के एक कवितामय पत्र ने महाराणा के हिलते हुए से निश्चय को सुदृढ़ किया था, इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। अतः महाराणा के विषय में अभिव्यक्त इनकी भावनाएं वास्तविक, स्वानुभूत भावनाएं हैं। खुशामद नहीं समझनी चाहिये।

जिसकी भूमि बहुत टेढ़ी मेढ़ी है, समय जिसके अनुकूल है, जो मरद अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ता, वह महाराणा पर्वतों में भी घने नरेन्द्रों (राजाओं) से घिरा रहता है। (बीहड़ पर्वतों में भी राजाओं से परिवारित होना महाराणा प्रताप के प्रताप का और समय की अनुकूलता का द्योतक है। (भाव यह है कि स्वाभिमानी मर्द या वीर प्रताप, भूमि बीहड़ होने से आक्रमण भय से निश्चिन्त और समय के अनुकूल होने पर राजमण्डल से परिवारित निवास करता है।)

हे माई ऐसा पुत्र उत्पन्न कर, जैसा राणा प्रताप, जिस (अपने) सिरहाने का साँप (जो किसी समय भी मृत्यु का कारण बन सकता है) जान

कर अकबर सोता-सोता उचक पड़ता है (नींद मे उचक कर बैठता है)। (प्रताप का अत्यन्त प्रताप व्यंग्य है। कवि अकबर के सहचार में रहता था, अतः उस की इस उक्ति मे कुछ सत्यांश भी अवश्य है। उपमा, रूपक अलंकार हैं।)

अकबर अथाह समुद्र रूप है, उसमें शूरता का जल भरा हुआ है और मेवाड़ पति महाराणा प्रताप उसमें कमल पुष्प हैं। (जैसे कमल जल से अस्पृष्ट रहता है, उसी प्रकार अकबर की वीरता में उससे अस्पृष्ट राणा प्रताप विकसित है। जल ज्यों-ज्यों चढ़ता है, कमल भी उससे ऊपर उठता जाता है, ऐसा प्रसिद्ध है। प्रताप की स्वतन्त्रता और अविजेयता सूचित है। पूर्ण रूपक है, सांग।)

(ख) पूरव परिय पुकार, भूमि दिगपालन छड्डिय।
पच्छिम तच्छिन गच्छि 'जमन मह खलभल मण्डिय॥
उत्तर सकल उदास, ग्रासते ग्राम न भावै।
दच्छिन पर्यौ भगान, कहत सूरज कहुं आवै॥
आतंक मानि दब्बे दुवन, देवदिगीसन सुख बढ्यौ।
ब्रज चक्रवर्ति बदनेस सुत श्री सुजान जबहिं चढ्यौ॥

उत्तरः—कविवर सूदन के 'सुजान चरित' का पद्य है। सुजानसिंह की चढ़ाई से दिशाओं मे कैसा आतंक छा जाता है, उसका कवि ने प्रचलित वीर वर्णन की प्रणाली में छप्पयबद्ध, अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया है।

ब्रज चक्रवर्ती बदनेससिंह (भरतपुर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्ग के निर्माता) के सुपुत्र श्री सुजानसिंह अथवा सूरजमल ने जब भी चढ़ाई की, तब, पूर्व दिशा (पूर्व के प्रदेशों में) पुकार (कोलाहल) पड़ गई, दिक्पालों ने भूमि छोड दी (सेना के भार से भूमि काँपने लगी)। पश्चिम में तत्क्षण जाकर, यम ने अपनी जकड़ से खलबली मचा दी (मृत्यु मंडराने लगी)। उत्तर दिशा (उत्तरीय प्रदेशों) मे उदासी छा गई, भय से (किसी को) भोजन का एक ग्रास (कौर) भी नहीं भाता। दक्षिण दिशा में, यह कहते ही कि सूरजसिंह कहीं आ रहा है, भगदड़ पड गई। दुष्ट लोग, आतंक मानकर दुबक गये और दिक् स्वामी देवताओं का सुख बढा।

कवि ने सुजानसिंह के जाट वंश की उत्पत्ति प्रसिद्ध कृष्ण के यादव

वंश से मानी है, अतएव भुजचक्रवर्ती आदि विशेषण दिये हैं।

(ग) गरब न बोलो हो मोर भरतार। बाजा बाजे राजा असिय हजार॥
लंका पति रावण धणी। सात समँद बिच वस्ती फेर॥
लंक विधुंसी वानरां। थे कांइ साहो राजा गढ़ अजमेर॥
गरभि न बोलो हो सांभरया राव। तो सरीखा घणा और भुवाल॥
एक उडीसा को धणी। वचन म्हारइ तु मानुजु मानि॥

उत्तर:—प्रस्तुत पद्य नल्ह के बीसल देव रासो के द्वितीय सर्ग से लिया गया है। बीसल देव और उसकी रानी राजमती के परस्पर के प्रश्नोत्तर के प्रसंग में रानी अपने पति बीसल देव की गर्वोक्तियों (जो कि इससे पहिले पद्य में की गई हैं) का उत्तर देती है।

हे मेरे पति देव ! (भर्ता !) गरब की बात न बोलो। अस्सी हजार बाजे बजते थे (उसके द्वार पर या हाजरी में)। लंका (स्वर्ण पुरी) का स्वामी रावण धनी था। सात समुद्रों के बीच में फिर उसकी बस्ती थी, सात समुद्रों के बीच में उसकी बस्ती-राजधानी लंका की—सीमा का दायरा था।) किन्तु लंका को वानरों ने विध्वंस कर दिया। तुम हे राजा ! अजमेर गढ़ की क्या प्रशंसा कर रहे हो ?

हे सांभरिराव ! गरब का बोल न बोलो। तुम्हारे जैसे और घने राजा हैं। एक उडीसा का ही राजा (धनी) है। हमारी बात तुम मानते हो तो मान लो। (पति बीसल देव के कुछ अभिमान के वचनों को सुनकर पत्नी राजमति उसे उदाहरण देकर अभिमान छोड़ने की प्रेरणा दे रही है।)

(घ) बद्दल न होंइ दल दच्छिन उमडि आयौ,
घटा ये न होयं इभ सिवाजी हँकारी के।
दामिनी दमक नाहिं खुले खग बीरन के,
इन्द्र धनु नाहिं ये निसान हैं सवारी के॥
देखि देखि मुगलन की हरमैं भवन त्यागैं,
उझकि उझकि उठैं बहत बयारी के।
दिल्ली-पति भूलि मत गाजत न घोर घन,
बाजत नगारे ये सितारे गढ-धारी के॥

उत्तर:—महा कवि भूषण की शिवा बावनी का एक कवित्त (मन हरण) है। शिवाजी के आतंक का वर्णन किया गया है। शत्रुओं पर उसके नाम की धाक कैसी थी, इसी का कवि ने इस कवित्त में भ्रम, अपह्नुति आदि अलंकारों की सहायता से अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया है। शिवा जी के आक्रमण का भय महलों तक व्याप्त था। मुगलों की पत्नियां सदैव इसी भय में सूखती रहती थीं। जरा सा खटका होते ही उन्हें शिवाजी के आने का भ्रम हो जाता था। बरसात में उमड़े हुए बादलों की घटाओं को देखकर वे कहती हैं—

ये बादल नहीं हो सकते, दक्षिण का दल (सेना) घिर आया है। ये घटाएँ नहीं हो सकतीं, ये तो अभिमानी शिवाजी के हाथी हैं। यह बिजली की चमक नहीं है, ये तो वीरों के खड्ग चमक रहे हैं। यह इन्द्र धनुष नहीं है, यह तो (शिवा जी की) सवारी के निशान (ध्वजा आदि चिन्ह) हैं। देख देखकर मुगलों की हरमें (पत्नियां) भवन (महल) छोड़ दौड़ पड़ती हैं और हवा के चलने (के खटके) से ही चौंक चौंक कर उठ बैठती हैं। दिल्ली-पति (औरंगजेब) की बुद्धि में भी भ्रम होता है कि ये घोर बादल नहीं गरजते, अपितु सितारागढ़ के स्वामी (शिवा जी) के नगारे बज रहे हैं। (बादलों में सेना का रूपक बांधा गया है अपह्नुति से।)।

२. "जिस समय रीति कालीन विलासी कवि ऐन्द्रियक कामुकता पूर्ण विविध उक्तियों से हिन्दी साहित्य के भण्डार में गन्दगी भर रहे थे, भूषण के भीतर का ओजस्वी कवि तड़प उठा और उसने, उपयुक्त आश्रय पाकर अपनी तेज पूर्ण वाणी से राष्ट्र पर पड़ने वाली विपत्ति से मोर्चा लेने के लिए लोगों में जीवन फूंक दिया।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर:—प्रश्न के विचारों से अधिकांश में सहमत होना पड़ता है। जिस समय भूषण का काल प्रारभ होता है, उस समय काव्य क्षेत्र मे, केवल मात्र शृङ्गार का राज्य था—शृङ्गार के भी बल्कि संभोग रूप का। परतंत्र मुगल-शासित भारतीय अथवा हिन्दु जनता स्वतंत्रता हार चुकी थी और उसे कोई याद करना नहीं चाहता था। ऐश और आराम में भूलने के प्रयत्न थे। राजपूत दब चुके थे। युद्धों का अवकाश अब नहीं रहा था।

सामूहिक हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष नहीं था। हिन्दुओं की कोई भी एक अग्र-गण्य शक्ति नहीं रही थी, जो मुगलों का प्रतिरोध कर सके, उन्हें बाहर निकाल देना तो दूर की बात। आक्रमण काल में मुसलमानों द्वारा किये गये घावों पर हुमायुं-अकबर-कालीन राजनीति में मरहम पट्टी करने के विशेष प्रयत्न थे। अकबर हिन्दु मुसलमानों में आदानप्रदान का बड़ा पक्षपाती था। अधिकांश में वह स्पष्टतया धर्म को राजनीति मे आडे नहीं आने देता था। उसकी यही पालिसी उसके पश्चात् भी कुछ देर चलती रही। किन्तु औरंगजेब के पूर्ववर्ती बादशाहों ने राजनीति मे धर्म को लाना प्रारंभ कर दिया था। औरंगजेब इस नीति मे सब से अधिक क्रूर प्रसिद्ध है। इन उत्तरवर्ती मुस्लिम शासकों का अभिप्राय था, वही, जो अब पाकिस्तान का है, अर्थात् मजहब के नाम पर मुस्लिम शक्तियों को एक सूत्र में आबद्ध किया जाय। मुगलों के इस काल मे, भारत में, उनके अतिरिक्त अन्य मुस्लिम स्वतंत्र राज्य भी कायम हो चुके थे। कुछ भी हो, इस काल में मुगल नीति हिन्दु-विरोधिनी हो जाती है, धर्म के नाम पर मुसलमानो में आक्रान्ता रूप फिर प्रबल होने लगता है। विशेषतया औरंगजेब-काल में तो हिन्दु-विरोध प्रत्युत हिन्दुओं के प्रति अन्याय बहुत ही कठोर रूप में हो जाता है। किन्तु विलासी हतवीर्य हिन्दु नरेश इस समय भी झूठी आत्म-संतृप्ति के स्वार्थ में डूबे बेसुध थे। कवि-गण भी अपने वास्तविक राष्ट्र-मंगल के कर्तव्य को विस्मृत कर, स्वार्थ-लोलुपता में लगे, अपने अपने आश्रय-दाताओं की झूठी सच्ची विरुदावली गा गाकर अपना पेट भरते थे; या फिर दरबारों में शृङ्गार के चुहचुहाते पद्य सुनाकर उन्हें विलास की ओर भी लोरी दे रहे थे। शृंगार रीति-काल का प्रधान वर्ण्य विषय है। प्रत्येक कवि ने प्रायः शृंगार को ही प्रधानतया अपनाया है। अब आकर तो शृंगार का ऐसा वीभत्स रूप चित्रित होने लगा था कि सामाजिक औचित्य को भी एक ओर उठाकर रख दिया गया था। नायक नायिकाओं के कामुकता-पूर्ण अश्लील चित्र उतारने की परिपाटी शृंगार के नाम पर अधिकांश में रह गई थी। भूषण का प्रादुर्भाव ऐसे ही काल में हुआ था।

भूषण का स्वभाव प्रारंभ से ही ओजस्वी था। कविता के क्षेत्र में

भी उसे ओज गुण और वीर रस ही रुचिकर रहे। उसकी इस रुचि को उद्दीप्त करने के लिए आये दिन के धर्म और जाति पर होने वाले अत्याचारों और अन्यायों ने और भी उत्तेजना दी। इन अनन्त यातनाओं और अवहेलनाओं में अपने दिन गिनती हुई अपनी आर्य जाति की दुर्दशा को देखकर भूषण का ओजस्वी हृदय और किस रस की ओर लपकता? इसके साथ ही, सौभाग्य से, भूषण को दो चरित-नायक भी उपयुक्त ही मिल गये थे, हिन्दुत्व की, हिन्दु देश की स्वतंत्रता की रक्षा जिनके प्राणों का लक्ष्य था और जो भूषण के समान ही उन अन्याय और अत्याचारों का सहन नहीं कर सकते थे। हिन्दुत्व के उन दो ज्वलन्त प्रतीकों को पाकर भूषण की ओजस्विनी वाणी में और भी ओज और मार्मिकता आ गई। भूषण ने या तो वीर छत्र साल की प्रशंसा मे कविता लिखी है और या महाराज शिवाजी की प्रशंसा में। दोनों में ही मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता की आग प्रचण्डता से जल रही थी। दोनों ही उसके उद्धार मे प्राण पण से लगे थे। औरंगजेब की परतंत्रता के ऐश्वर्य भोग पर लात मार कर दोनों ने ही स्वातंत्र्य-संघर्ष का मार्ग पकड़ा था। भूषण ने इन्हीं अमर स्वतंत्र वीरों के चरित्रों की गाथा गाकर अपनी वाणी पवित्र की है।

भूषण का प्रधान रस वीर था। उसकी शिवराजयशो भूषण, शिवा बावनी और छत्रसाल-दशक तीन पुस्तकों में वीर रस ही छलकता है। शृंगार के बने हुए उसके पांच सात ही पद्य मिलते हैं, उनमें भी काम की सेना, चढ़ाई, युद्ध आदि के रूपक आ गये हैं। इस प्रकार शिवाजी ने अपने काल के शृंगार के उद्दाम प्रवाह के विरुद्ध जाकर शुद्ध वीर गान गाये। हां अपने काल—रीतिकाल—की काव्य परिपाटी, (अलंकार आदि के लक्षण लिखकर फिर उदाहरण रूप में कविता करने की) अवश्य अपने अलंकार ग्रन्थ शिवराजयशो भूषण में अपनायी। किन्तु विषय समस्त वीर-वर्णन है। उसमें शुद्ध वीर भावनाएँ हैं, हृदय से उठी हुई, खुशामद नहीं है, सच्चाई है। शिवा जी और छत्र साल हिन्दु जाति के प्रतीक हैं। शिवा जी के प्रति ऐसी श्रद्धा और अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता की भावना केवल भूषण की ही नहीं थी, अपितु सार्वजनिक हिन्दु जनता अधिकांश में यही भावना रखती

थी उस वीर के प्रति। शिवा जी का लक्ष्य हिन्दुत्व का लक्ष्य बना हुआ था। अतएव अनेक हिन्दु मुगल अफसर जय सिंह, जसवन्त सिंह जैसे हृदय से शिवाजी से सहानुभूति रखते थे। कोई एक बड़ी हिन्दु राज्य शक्ति न होने पर हिन्दु जाति में केवल सांस्कृतिक अखण्डता ही अवशिष्ट थी, जिसके बल पर समस्त हिन्दु जाति एक थी। अतएव शिवा जी का लक्ष्य एक प्रकार से जातीय लक्ष्य बना हुआ था। भूषण ने इसी जातीय लक्ष्य और इसके उन्नायक की गाथाएं अपने मुक्तक पद्यों में लिखी हैं। शृंगार के उस प्रचण्ड प्रवाह में भूषण का साहित्य अपनी निराली शान रखता है। घोर विलासिता और अन्ध परम्परा में दबकर खोई हुई हिन्दु जाति की सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना को भूषण का साहित्य कोड़े मार मार कर जागृत करता है। उसे बल देता है, उत्साह देता है, और उसे सबल बनाता है, शिवा जी का आदर्श सामने रखकर। हिन्दु देश, हिन्दु संस्कृति और हिन्दु जाति की रक्षार्थ जैसे शिवा जी की कृपाण उद्यत हुई थी, वैसे ही उसके सहयोग में भूषण की लेखिनी उद्यत हुई थी। दोनों एक ही आत्मा के दो भिन्न रूप थे—एक कार्य-क्षेत्र में और दूसरा भाव-क्षेत्र में। अतएव भूषण का साहित्य अपने समय का क्रान्तिकारी राष्ट्रीय साहित्य है, जिसने अन्यायग्रस्त जनता को चैतन्य और विद्रोह का सन्देश दिया।

किन्तु भूषण की राष्ट्रीयता आज की सैक्यूलर राष्ट्रीयता नहीं है, जिसमें धर्म विशेष का कोई प्रभाव नहीं होता। भूषण की राष्ट्रीयता उस काल की राष्ट्रीयता है। उस काल की राष्ट्रीयता का अभिप्राय हिन्दु राष्ट्रीयता था। हिन्दु राष्ट्रीयता विशृंखलित थी, इसी लिए मुसलमानों का राज्य हुआ। शिवा जी का प्रयत्न उसी को एकत्रित करने का रहा। भूषण का भी आह्वान ऐसा ही था। शिवाजी को सदैव हिन्दुत्व के रक्षक के रूप में ही वर्णित किया गया है, उसके किसी व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ण कार्य के लिए नहीं। हिन्दु-राष्ट्र या तत्कालीन भारतीय राष्ट्र की भावना संकुचित नहीं थी, किसी धर्म का विरोध लिये। हिन्दु राजाओं ने कभी मुसलमानी धर्म पर अत्याचार नहीं किये। हिन्दु राजा लोग बहुत पहिले से मुसलमानों को अपने राज्यों में बसाने लगे थे, ओहदे देते थे और अपनी अन्य हिन्दु प्रजा से भेद नहीं

रखते थे। शिवा जी के राज्य में भी यह धर्म-भेद नहीं था। मुसलमान-अपने धर्माचरण में स्वच्छन्द था, मस्जिद कुरान आदि का अपमान नहीं होता था, मुस्लिम स्त्रियों से कोई बलात्कार नहीं होता था। शिवा जी की सेना में अनेक मुसलमान ओहदेदार थे। अकबर की पालिसी भी बहुत कुछ इसी आधार पर चली। अतएव उसके काल में विरोध शान्तप्राय रहा। औरंगजेब ने इस नीति को छोडकर हिन्दु—भारत की सर्वाधिक संख्यक प्राचीन—जाति की जडें उखाडनी शुरु कीं (हिन्दुओं के विरुद्ध उसके अत्याचार भारतीय जनता के ही विरुद्ध समझिये)। प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय अथवा हिन्दु राष्ट्र की भावना जोर पकड़ती गई। भारतीय जाति—हिन्दु जाति—की रक्षार्थ एक भारतीय राष्ट्र या हिन्दु राष्ट्र की शक्ति का उदय सभी चाहते थे। शिवाजी, छत्रसाल दोनों उसी शक्ति के दो समुज्ज्वल प्रतीक हैं। भूषण ने उन्हीं दो राष्ट्रवीरों का आश्रय लेकर अपनी वाणी का ओजस्वी प्रवाह मुखरित किया है। उसकी वाणी में यही राष्ट्रीय चेतना प्रतिगुंजित है। मुसलमानों के कार्य अराष्ट्रीय थे—भारत की एक सर्व प्रमुख जाति के विनाश के उपाय घातक थे। उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भारतीय हिन्दु राष्ट्रीयता प्रबल हुई। भूषण के साहित्य में ऐसी ही राष्ट्रीय चेतना व्याप्त है, जो विपत्ति के समय मे किसी भी जाति में जीवन फूंक देती है।

राष्ट्र का यही अर्थ लेकर तो निस्सन्देह भूषण की कविता को वास्तविक रूप से राष्ट्रीय चेतना से युक्त कहा जा सकता है, किन्तु आज के समय में राष्ट्रीयता में जो सैक्यूलिरिज्म लिया जाता है, उस दृष्टि से देखने पर, भूषण का साहित्य राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा संकुचित सम्प्रदायगत भावना का उत्तेजक है, उस पर यह दोष लगाया जा सकता है। वस्तुतः तो राष्ट्र शब्द को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही देखते हुए भूषण के साहित्य को राष्ट्रीय कहा जा सकता है, अद्यतनीन अर्थ में नहीं।

अथवा

चन्द बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा की विशद विवेचना कीजिए।

उत्तर:—(कृपया देखिये हिन्दी सा० र० प्रश्नपत्र २ प्रश्न ५ (ख) संवत् २००२ एवं प्रश्नपत्र २ प्रश्न २ का विकल्प संवत् २००४)।

अथवा

"सूदन रत्नावली" से उपयुक्त उदाहरण देते हुए सूदन के सामान्य गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

उत्तर:—सूदन का 'सुजान चरित्र' ऐतिहासिक काव्य है, प्रबन्ध काव्य की शैली में लिखा हुआ। इस में कवि ने भरतपुर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक जाट वीर सुजानसिंह अथवा सूरजमल का वीर चरित्र अंकित किया है। सूरज मल ने सात इतिहास प्रसिद्ध महान् युद्ध लडे थे। कवि ने उन सबका व्यौरे वार काव्य-बद्ध वर्णन किया है। ग्रन्थारंभ में देवस्तुति, प्राचीन महर्षि, कवि गण आदि का स्मरण आदि करके कवि ने अपने चरित-नायक की वंशावली का वर्णन किया है और पौराणिक आधार पर जाटों को यदुवंशीय माना है। इसके अनन्तर क्रमशः प्रत्येक युद्ध का पूरा व्यौरे वार वर्णन किया गया है। युद्ध के कारण, युद्ध की तैयारी, युद्ध और अपने चरितनायक की वीरता एवं विजय, सभी बातों का काव्यमय वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु काव्यता लाने के लिए कवि ने वृथा कल्पना-जालों में काव्य की ऐतिहासिकता को नष्ट नहीं किया है। जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्यों का सम्बन्ध है, कवि ने बडे न्याय-पूर्वक उनका वास्तविक स्वरूप सुरक्षित रखा है। मनघडन्त अनैतिहासिक कल्पना का उपयोग नहीं किया है। इसीलिए काव्य में वर्णित घटनाएँ, उनके तिथि सम्वत् आदि अन्य इतिहास ग्रन्थों से मिलान खाते हैं। घटनाओं के वर्णन में सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐतिहासिक बात का भी कवि ने ध्यान रखा है और उसका वर्णन किया है। इससे सिद्ध होता है कि कवि को अपने काल और अपने चरित नायक के राजनैतिक जीवन का पूरा परिचय था। कवि ने ऐसा वर्णन किया है, जैसे कोई आंखों देखी बात सुना रहा हो ताजा ताजा। कोई बात नहीं छूटती। इसी आधार पर सुजान चरित्र को एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य या चरित काव्य माना जा सकता है।

सुजान चरित्र के काव्य कला-सम्बन्धी गुण दोषों के परीक्षण के

लिए प्रथम भाषा को लेना चाहिये, क्योंकि काव्य का शरीर शब्द अर्थ का ही होता है, जो सर्व प्रथम अनुभूत होता है।

सुजान चरित की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है मुख्यतया। सूदन स्वयं भी मथुरा के रहने वाले थे। किन्तु उनकी भाषा में पंजाबी, पूर्वी, मारवाड़ी और वैसवाड़ी आदि भाषाओं का भी मेल है। कहीं कहीं तो एक पद्य में अनेक भाषाएँ आ गई हैं और कहीं पूरा पद्य भिन्न भिन्न भाषा में है। इससे सूदन के भाषा ज्ञान का परिचय मिलता है, कि उन्हें किसी कारण से इन भाषाओं का अच्छा परिचय था। इन सभी भाषाओं के शब्द-भण्डार में से यथारुचि शब्द लेकर कवि ने अपनी कविता में प्रयुक्त किये हैं। नीचे के उदाहरण में साहित्यिक ब्रजभाषा का कैसा निखरा हुआ रूप है—

अदिति असोक भरी सोक भरी दिति और
दोष भरी पूतना अदोष करी ओपिका।
कंस हिये भौ भरी अभौभरी अन्ध वंस,
पांडव कै कीरति अकीरति की लोपिका।
लाज भरी द्रौपदी सुराज भरी बृज भूमि;
कूबरी इलाज सो अवाज करी कोपिका।
देवकी अनन्द भरी ऊगें ब्रज चन्द वरी
भाग भरी जसुदा सुहाग भरी गोपिका।

पंजाबी का पद्य—

जावां कित्थे जावां अम्मा यावे केहि पावां जलो
एही गल्ल आप्पें लग्यो लग्यों गली जावां।

इसी प्रकार एक पूर्वी पद्य देखिये—

अबुआ न आवा मोर भैयन न पावा पाक
तुपक कीन लावा गांठि डीवू आनद्यावा है। आदि।

फारसी मिश्रित भाषा—

रब की रजा है हमैं सहना यजा है वख्त,
हिन्दू का गना है आया ओर तुरकानी का।

इस प्रकार सूदन ने लगभग पांच भाषाओं का सम्मिश्रण अपने साहित्य मे किया है। यह मिश्रण कहीं एक ही पद्य में है और कहीं पृथक् पृथक् पद्य मे, जैसाकि ऊपर उदाहरणों मे। इस सम्मिश्रण से पाठक को चाहे जो कठिनाई होती हो, किन्तु सूदन के भाषा ज्ञान का पता लगता है। भाषाओं की इस बहुज्ञता के कारण सूदन की मुख्य भाषा खूब सुगठित है, प्राजल है, शिथिल नहीं है, विषयानुरूप कोमल कठोर भी होती है, उसमें वर्णन और चित्रण की विशेष सामर्थ्य है, इसलिए स्तुत्य है। साथ ही कहीं कहीं भाषा के विभेद से ग्रन्थ मे अनेक स्थानों पर चमत्कार भी विशेष आ जाता है। दिल्ली की लूट के वर्णन में विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों का अपनी अपनी भाषा मे विलाप बहुत सुन्दर है। भाषा के लिहाज से आलोचकों ने इस काव्य को उत्कृष्ट माना है। किन्तु भाषा मे दोष भी हैं। सूदन ने स्थान स्थान पर भरती के व्यर्थ शब्द भी भर दिये हैं, विशेषतया सु और जु का प्रयोग इतना घना किया है कि वहां भाषा-गत शैथिल्य तो आ ही जाता है, अनेकत्र अ ं का भी अनर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ निम्न में देखिये सु का कैसा प्रयोग है—

गलकैं सुमेली स्याम। बलकैं सुबचन उदाम॥

नामों तक मे जु आ गया है—फरुखजु सेर, जु हिमायूँ, मीरजु साही आदि। अनेकत्र इस कारण भाषा अरुचि-कर रूप से शिथिल जान पडती है। इसके अतिरिक्त अन्य कवियों के समान सूदन ने भी शब्दों की तोड मरोड बुरी तरह की है। व्रज और अन्य भाषाओं के शब्दों की ऐसी काया-विकृति की है कि वे पहिचान में भी नहीं आते। वीर के ओजस्वी वर्णन में तो शब्दों का कायाकल्प करने में सूदन भूषण आदि अन्य कवियों को भी पीछे छोड गये हैं। ऐसे ओजस्वी या भयानक, अथवा रौद्र स्थलों में इनकी भाषा पूरी डिंगल भाषा बन जाती है। इस कारण से इनकी भाषा में अनेकत्र दुरूहता भी आ जाती है, जिससे वर्ण्य विषय अस्पष्ट रहता है। तो भी समस्त काव्य की दृष्टि से सुजान चरित्त की भाषा अपने विषय और काव्य सरिणी के बहुत उपयुक्त और समर्थ है। अनेकत्र कृत्रिम बनी हुई भी साहित्यिक है।

संगीत या छन्दों की दृष्टि से सुजान चरित का विशेष महत्व है। केशव के समान ही सूदन ने भी अपने छन्दोज्ञान का परिचय दिया है। इक्कीस अंकों के अपने इस ग्रन्थ में कवि ने छन्द के लगभग ६६ भेदों का सफलता से प्रयोग किया है। इससे ग्रन्थ में चमत्कार और विचित्रता की वृद्धि हुई है। नहीं तो युद्ध वर्णन में प्राय एक सा ही ढंग चलता है सर्वत्र; वर्ण्य वस्तु भी एक ही सी होती हैं। ऐसे स्थलों में छन्दोविभेद से विविधता आ जाती है। नीरसता में कमी आती है।

काव्य के गुण रीति आदि के प्रयोग में सूदन चतुर थे। विषयानुरूप भाषा में गुण और रीति आदि के रखने में सूदन का पूर्ण अभ्यास है। उग्र रसों में उग्र और कोमल रसों में कोमल गुण रीति आदि की व्यवस्था हुई है। कहीं कहीं, जहां कवि प्राचीन युद्ध वर्णन की पद्धति में, युद्ध की ध्वनियों के अनुकारक शब्दों का प्रयोग करने लगता है, वहां शैली कृत्रिम और अरुचिकर हो जाती है, नहीं तो गुण रीति आदि का निर्वाह कवि ने अच्छी तरह किया है।

अलंकारों के प्रयोग में भी कवि ने कुशलता दिखलाई है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि और अनुप्रास आदि रीतिकाल के प्रचलित अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का कवि ने समुचित और कला की दृष्टि से सफल प्रयोग किया है। अलंकार भावविशदीकरण में सहायक बन कर ही अधिकत्र आये हैं। उदाहरण के लिए—

अनकप आनन अमल कमल कर कोस दोसहत
औषधीस सुभसीस कोरि तैंतीस करत नत ॥ आदि।

लिये जा सकते हैं कहीं शब्दालंकारों के फेर मे पडकर कवि भावों को विकृत भी कर बैठा है, वहां अलकारों में कृत्रिमता आ गई है। किन्तु इस दोष से रीति काल का कोई ही कवि बचा होगा।

रस दृष्टि से भी सुजान चरित्र उत्कृष्ट काव्य है। कवि का मुख्य रस वीर है, जैसाकि काव्य वस्तु से ही पता लगता है। वीर रस के दान वीर आदि रूपोंका भी यद्यपि वर्णन कविने किया है, अपने चरितनायक की उदारता, दया दाक्षिण्य आदि का यथास्थान वर्णन किया है, तो भी प्रधानता वीर रस के

युद्धवीर रूप की है। मुख्यतया कवि ने अपने चरित-नायक के युद्धों का ही वर्णन किया है। कवि को उसके वर्णन में सिद्धि मिली है। भूषण और लाल के समान ही सूदन का चरितनायक भी एक वीर साहसी पुरुष था, जंगता जिसकी नस नस में थी। सूदन ने उसकी वीरता का वर्णन रस में डूब कर किया है। युद्ध वर्णन में युद्ध की वस्तु नहीं छूटती, युद्ध की तैयारी, युद्ध की वस्तुएं, दोनों ओर की व्यूहसज्जा, शस्त्रास्त्र, वीर सेनापतियों के नाम, उनकी नियुक्ति के स्थान व्यूह रचना में, घमासान युद्ध, शत्रुओं की भगदड़, सुजानसिंह का शत्रुओं पर आतंक आदि सब की ओर उनकी दृष्टि पड़ी है। वर्णन इतना सजीव है, कि कोई आंखों देखकर ही लिख सकता है। निश्चय ही सूदन भी सुजानसिंह के साथ ही युद्ध में जाते होंगे, तभी इतनी सूक्ष्मता और विशदता से वर्णन हुआ है। वर्णन की शैली यद्यपि पुरानी प्रचलित ही है, वही ढंग, वे ही बातें, किन्तु तो भी उसमें सजीवता है, विशदता है, आंखों देखी सत्यता है। उदाहरणार्थ—

छुट्टन लगे उद्दण्ड चण्ड कोदण्ड भुसुंडी
जबर जंग घन घोर मारु गोलनु की मंडी॥ आदि।

आतंक का वर्णन देखिये इसी प्रश्न पत्र में आया प्रथम प्रश्न का पद्य "पूरब परिय पुकार भूमि दिग् पालन छंडिय……"आदि। और भी—

दुहुं ओर धुंधिय धूरि रुंधिय चमक चुंधिय रुद्द।
घन पटह बज्जिय गज गरज्जिय भीति भज्जय क्रुद्द।
हथनाल हंकिय तोप ढंकिय धुनि धमंकिय चण्ड।
हथनाल छंडिय तरु भुसुंडिय धरनि खण्डिय खण्ड। आदि।

किन्तु जहाँ कवि वीर-गाथा-कालीन पद्धति में, युद्ध के प्रसंग में युद्ध की ध्वनियों के अनुकृतिवाचक शब्दों का प्रयोग करने लगता है, वहाँ अरुचि और कृत्रिमता आ जाती है। यथा—

धर धरत देत धवान कौं खर खरत बक्तर अंग।
तर तरत तेहनु, सौं भरे दरडरत ढाल निषंग। आदि।

इस सबके साथ भी सूदन का वीर वर्णन कवि-सिद्ध है और वीर रस के वर्णनों में विशेष स्थान रखता है। मिश्र बन्धुओं ने सूदन को वीर रस

का 'बढ़िया' कवि माना है। उनके मत में 'युद्ध की तयारी में सूदन, युद्ध-वर्णन में लाल और आतंक एवं भागने के वर्णन में भूषण प्रायः सर्व-श्रेष्ठ हैं।' लाला सीताराम बी. ए. ने सूदन को वीर वर्णन में चन्द की कोटि में रखा है। श्री शुक्ल जी के मत में "सूदन में युद्ध, उत्साह पूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी।"

किन्तु वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों में भी सूदन को पर्याप्त सफलता मिली है। भयानक, बीभत्स और रौद्र तो युद्ध के सगे ही होते हैं, अतः उनका तो वर्णन वीर के अंग रूप में अनेकत्र है ही, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य शृंगार, हास्य आदि कोमल रसों में भी सूदन को सिद्ध-हस्तता प्राप्त है। देखिये भयानक का एक पद्य—(दिल्ली की लूट का वर्णन है)

सारी खतरानी कवरानी सतरानी फिरैं
बांमनी बिन्यानी तुरकानी परगनी हैं।
काइथी अरोरी थोरि बैमनिन भोरी गोरी,
काछिनी करानी और भटयानी महरानी हैं। आदि।

देखिये नीचे के उदाहरण में शिव के सपरिवार ताण्डव का कैसा चित्र है—

... ...सेनानी सुर देत ताल बेताल लगावत
गग-घरनि भखि भंग रंग सो डंवरु बजावत।
गिरिसुता सहित आनन्द सों दे चुटकी थेइ थेइ करत।
गननाथ नचत तांडव रचत सुपद इलत बिघननु दहत॥

और देखिये शुद्ध हास्य का कैसा सुन्दर पद्य है—

बाप बिष चाखै भैया षट् मुख राखै, देखि,
आसन मैं राखै बसवास जाको अचलै।
भूतनु के छैया आस पास के रखैया,
और काली के नथैया हू के ध्यान हू ते न चलै।
बैल बाघ बाहन बसन कों गयन्द खाल,
भांग कों धतूरे कों पसार देतु अचलै।

घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै
लाज रहै कैसे पूत मोदक को मचलै ॥

इस प्रकार के अन्य रसोंके उदाहरण यद्यपि सुजान चरित में कमही हैं, तथापि जो हैं, उनसे कवि की सफलता सूचित होती है।

कवि की शैली में एक अन्य दोष भी है। अनेक स्थानों पर कवि को वर्णन शैली केवल सूची मात्र रह गई है। वर्णन करते समय कवि अन्धाधुन्ध वस्तुओं की सूची गिनाता चलता है, जो नीरस उद्वेजक और प्रबन्ध काव्य के अनुपयुक्त हो जाती है। कहीं कवि घोड़ों की सूची गिनाने लगता है, कहीं लूट की वस्तुओ और कपडो आदि की, कहीं कवियों के नामों की, कहीं विभिन्न जातियों, भाषाओं की और कहीं युद्ध के शस्त्रास्त्र आदि की। ऐसा कवि ने निश्चय ही अपनी बहुज्ञता दिखाने को ही किया है, किन्तु काव्य में—विशेषतः प्रबन्ध काव्य में—पाठक के लिए यह अरुचिकर और रस-भंग का कारण है। उदाहरण के लिए—

काथ करौजी कारी जीरी। काइ फरों कुचला कनकोरी॥
कुकरौंदा, कर-हरी कहीरा। कनट कटाई कारी जीरा॥
कुलथी कमलगटा सुकवेला। ककरासींगी कद सुकेला॥
कमल मूल किरवार कसेरू। काचनून करमूल कनेरू॥

कवियों की नाम सूची—

सोमनाथ सूरज सनेही सेख स्याम लाल
साहिब सुमेर सिवदास सिवराम हैं।
सेनापति सूरति सखा सुख सुखलाल,
श्रीधर सुबल सिंह श्री पति सुनाम हैं।
हरि परसाद हरिदास हरिवंस हरी
हरिहर हीरासे हुसेन हितराम हैं। आदि।

सुजान चरित में ऐसी नीरस सूचियाँ पाँच छः जगह आई हैं। इनसे काव्य में नीरसता और अरुचि आती हैं। किन्तु इनके साथ भी, समग्र काव्य की दृष्टि से, सुजान चरित काव्य गुणों से युक्त वीर रस का उत्कृष्ट काव्य है। काव्य में दोषों की अपेक्षा गुण ही अधिक हैं।

अथवा

'रासो' शब्द से आप क्या अर्थ समझते हैं? वीर गाथा काल की संदिग्ध सामग्री में बीसल देव रासो का स्थान निर्धारित करते हुए उसके काव्य-गुणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर:—हिन्दी साहित्य में रासो शब्द का प्रचलन वीर-गाथा काल में हुआ। रासो का अर्थ एक प्रबंध काव्य या चरित काव्य है, जो किसी वीर इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा के चरित या चरितों को लेकर लिखा गया हो। वीर-गाथा काल में इसी शैली में, बीसल देव, पृथ्वीराज, खुमाण के चरितों का वर्णन किया गया। अवश्य ही उस काल में वीरता ही प्रधान थी। देश के अशान्ति-काल में केवल वीर भावनाएं ही प्रबल हो सकती थीं। अतएव चरित नायकों के चरित्र में से उनके वीर चरित्रों के ही चित्रण की प्रधानता रहती थी। किन्तु साथ ही अन्य रस भी रहते थे। राजपूतों में वीर के साथ शृंगार भावना भी कम नहीं थी। फलत. उनके चरित्रों में वीर प्रधान रहते हुए भी शृंगार का सहयोग बराबर बना रहा, उनके प्रेम प्रसंगों का भी पूरा वैसा ही अत्युक्ति पूर्ण वर्णन हुआ। अतः स्वभावतः रासो ग्रंथों में वीर रस को प्रमुख रखने की प्रणाली पड गई। वीर वर्णन के लिए रासो की यह प्रणाली याद के काल में भी आदर्श बनी चलती रही। इस प्रकार, रासो एक प्रकार का वह प्रबंध काव्य है, जिसमें किसी ऐतिहासिक वीर पुरुष के वीर चरित का मुख्यतः व 'न हो। रासो की यही पद्धति स्वीकृत रही। बाद के काल में हम्मीर रासो भी इसी प्रणाली में लिखा गया। किंतु वीर रस को मुख्य रखने का यह नियम अधिकांश में माना जाने पर भी सर्वांश में पालनीय रहा हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। किसी वीर पुरुष के वीर से भिन्न श्रृंगारिक चरित को प्रधान रखकर भी रासो रचना की जा सकती थी, ऐसा बीसलदेव रासो से सिद्ध होता है। बीसलदेव रासो में इतिहास प्रसिद्ध वीर बीसलदेव, जिसने अनेकशः यवनों को आर्य भूमि से खदेड़ा था, के प्रेम प्रसंग—शृंगार—को ही प्रधान रखा गया है। वीर का आभास कहीं कहीं, बीसलदेव की गर्वोक्तियों में मिल जाता है। अन्यथा तो प्रारभ से अन्त तक शृंगार ही चलता है। इसकी भी रासो-ग्रंथों के अंतर्गत

गणना होती है। अतः निश्चय ही वीर प्रधान होना रासो के लिए साधारणतया आवश्यक है। किन्तु किसी अन्य रस को प्रधान रखकर भी किसी वीर पुरुष के चरित का रासो लिखा जा सकता है, यह बीसलदेव रासो से सिद्ध होता है।

रासो शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त या मूल निकास के विषय में अभी तक कोई सर्व-सम्मत सिद्धान्त हिन्दी साहित्य में स्थिर नहीं है। श्री शुक्ल जी ने रासो का निकास 'रसायण' शब्द से माना है। उनके मत से अपभ्रंश के जैन ग्रन्थों में काव्य के अर्थ मे रसायण शब्द का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से रासो शब्द प्रथम केवल काव्य अर्थ में प्रचलित हुआ था, बाद में वीर रस प्रधान प्रबन्ध काव्यों में रूढ़ हो गया। राजस्थानी भाषाओं के विशेषज्ञ एक अन्य यूरोपीय विद्वान् "तासी" रासो शब्द की व्युत्पत्ति "राज सूय" शब्द से करते हैं। अन्य विद्वान् रासो की व्युत्पत्ति रास शब्द से करते हैं। उनके मत से जैन कवियों ने अनेक रास-चरित, लीला-ग्रंथ बनाये। उन्हीं के अनुकरण पर हिन्दी में रास ग्रन्थ या रासो ग्रन्थ चले। सर्व सम्मत सिद्धान्त कोई नहीं। किंतु इतना निश्चित है कि रासो शब्द का निकास किसी काव्यार्थक शब्द से है, इसे सब स्वीकार करते हैं। मतभेद केवल इतना है कि, वह क्या है। रासो की प्रणाली को देखकर भी वह चरित-वर्णन की काव्य पद्धति ही प्रतीत होती है, जिसमे किसी वीर के विभिन्न चरितों का स्वतंत्र वर्णन करके, एक सूत्र मे पिरोया गया हो। आधुनिक प्रबन्ध काव्य के नियमानुसार, कथा का वैज्ञानिक विकास, एवं एक-सूत्रता प्रबन्ध काव्य के लिए अपेक्षित हैं। इस दृष्टि से एक भी वीर गाथा कालीन का रासो पूरा नहीं उतरेगा। सभी में विभिन्न स्वतंत्र प्रसंगों का पारस्परिक गठ-बंधन किया गया है। पृथ्वीराज रासो में भी पृथ्वीराज के जीवन के विविध प्रसंगों का प्रत्येक का स्वतंत्र वर्णन करके एक गठ-बन्ध किया गया है। प्रत्येक प्रसंग एक स्वतंत्र नाटकीय ढंग का प्रसंग है। खुमाण रासो में भी विशृङ्खलित घटनाएं एकत्र गठित हैं। बीसलदेव रासो में तो खैर घटनाएं हैं ही अक्रमिक, उनमें उतना गठन ही नहीं है। इस दृष्टि से रासो चरित-काव्य ही अधिक औचित्य से

रहता है, जिसमें प्रबन्ध काव्य के भी गुण स्वयमेव आ जाते हैं।

बीसलदेव रासो हिन्दी साहित्य के रासो ग्रंथों में अपना विशेष स्थान रखता है। वीर-गाथाकालीन प्राप्त रासो सामग्री अब सभी संदिग्ध मान ली गई है प्रायः। उस समय का ऐसा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, जो अपने मौलिक शुद्ध रूप में हो। सभी में कुछ न कुछ काट-छांट, कुछ परिवर्तन संशोधन आदि कालान्तरों में होते रहे हैं। किन्तु जो कुछ संदिग्ध सामग्री मिलती है, उस में बीसलदेव रासो का अपना विशेष स्थान है। पहिली बात, सभी के समान बीसलदेव रासो भी संदिग्ध सामग्री है। इस के कवि का जीवन सन्देह-ग्रस्त है, उस का रचना-काल अनिश्चित है, बीसलदेव भी अनिश्चित है कि कौन सा था, कोई वंशावली नहीं। भाषा भी अनिश्चित है, कहीं किसी काल की सी और कहीं किसी काल की सी। घटनाएं अनेक कपोल-कल्पित, इतिहास-भिन्न अपितु इतिहास-विरुद्ध और अक्रमिक हैं। ये सब बातें उस को असंदिग्ध नहीं बनातीं। दूसरी बात यह है कि बीसलदेव रासो मुक्तक गीति-काव्यों में लिखा हुआ राजस्थानी हिन्दी या डिंगल का प्रथम रासो काव्य है। तीसरी विशेषता उस की यह है कि रासो काव्यों में भी यह अपवाद-स्वरूप है। रासो में प्रधान रस वीर होना चाहिये, किन्तु बीसलदेव रासो में प्रधानता शृंगार की है। इस प्रकार से बीसलदेव रासो हिन्दी के राजस्थानी रूप अथवा डिंगल का सर्व-प्रथम मुक्तक गीतों में लिखा हुआ शृंगार प्रधान रासो काव्य है।

बीसलदेव रासो का चरित-नायक यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध वीर है और उस का चरित्र भी ऐतिहासिक है, किन्तु तो भी बीसलदेव रासो के कवि का दृष्टिकोण भावुकतापूर्ण शृंगारी कवि का रहा है, ऐतिहासिक कवि का नहीं। कवि ने काव्य लिखा है, ऐतिहासिक काव्य नहीं। इतिहास के विषय में तो जानकारी प्रतीत ही नहीं होती कवि की ऐतिहासिक। घटनाओं, उन के तिथि संवतों आदि में भारी अन्तर है। अनेक घटनाएं कपोलकल्पित हैं। चरित-नायक के विषय में सन्देह बना रहता है कि वह कौनसा बीसलदेव था। इस दृष्टि से देखने पर इतिहास की दृष्टि से बीसलदेव रासो का कुछ मूल्य नहीं है। उस में ऐतिहासिकता नगण्य सी है, अधिकांश में कल्पना

का ही राज्य मिलेगा। इस प्रकार से बीसलदेव रासो, वीर गाथा काल का शृंगार-प्रधान एक रासो काव्य ठहरता है। उस में काव्यमयता लाने के लिए कवि ने उस की ऐतिहासिकता का बलिदान कर दिया है अपनी कल्पना की छुरी से। किन्तु इतना करने पर भी कवि अपने प्रयत्न में विशेष सफल नहीं रहा। कवित्व कला की दृष्टि से बीसलदेव रासो का विशेष ऊंचा स्थान नहीं है।

काव्य कला की दृष्टि से बीसलदेव रासो साधारण कोटि का काव्य है। उस में प्रधानतया बीसल देव के प्रेम प्रसंग को लिया गया है। राजमती से विवाह, उससे रूस कर उड़ीसा जाना, राजमती का मायके चली जाना और बीसलदेव का मना कर लाना। प्रारम्भ से अन्त तक येही प्रसंग हैं। स्पष्ट ही शृंगार रस है। कवि ने उस के ही संयोग वियोग रूपों का मुक्तक गीतों में रसमय गान किया है। किन्तु कवि को उस में वांछित सफलता नहीं मिली है। काव्य की दृष्टि से वे गीत साधारण कोटि के हैं। उन में सर्वत्र रस का परिपाक नहीं है, कम स्थानों पर है। उन में ग्रामीणता भी झलकती है। बात बहुत साधारण ढंग से कही गई है। वर्णन शैली भी अधिक विशद नहीं।

एक उदाहरण—

जाइ सिंहासण बइठो छइ राजा।
छोरो छोरी जुहारी छइ माइ॥
सेज पधारी राव की।
अति रंग स्वामी सूं मीली राति॥
बेटी राजा भोज की।
राजमती रंग बीसल राव॥

ग्रामीण ढंग में, सीधी बात कही गई है। असम्बद्ध विचार इकट्ठे किये हुए हैं। कहीं तो यह शृंगार सम्बन्धी ग्रामीणता अश्लीलता की कोटि तक पहुँच जाती है। राजमती सखियों से अपनी रात की बात बताती है—

राई नहीं सखी! भइंस पीअर।

अस्त्रिय चरित्र उलिषई ही गंवार ॥
लाख चरित्र आगई मइ कीया।
चोली खोली दीखाल्या छइ गात ॥
तड़पती न उयाल हो।
नीइंचइ सखी! ओलिग जाइण हार ॥

किन्तु बहुत्र बहुत सुन्दर कवित्व भी बना है, जहाँ रस का परिपाक और चमत्कार विद्यमान है। सखियाँ एक स्थान पर स्त्री जाति की परवशता पर दुःख प्रकट कर रही हैं कि उन्हें भी पशु पक्षियों के समान अपने प्रियों के साथ स्वच्छन्द विहार करने का अवसर क्यों नहीं मिलता—

स्त्रीजनम कांई दीयौ हो महेस।
अवसर जनम थारे घणा हो नरेस ॥
रानइ न सिरजी हरिणा ली।
सूरइ न सिरजी धीणु गाई ॥
वनषंड काली कोइली।
बइसती अंब कइ चपकी डाली ॥
बइसती दाख की जोरडी ॥

आम और चंपक की डाली पर बैठने की कल्पना अत्यन्त मनोरम है। ऐसे विशेष साहित्यिकता पूर्ण स्थल बहुत कम हैं, किन्तु हैं अवश्य। इस दृष्टि से बीसलदेव रासो एक साधारण कोटि का मुक्तक प्रेम-काव्य ठहरता है।

काव्य कला के अन्य आवश्यक तत्वों के लिहाज से भी बीसलदेव रासो का मूल्य साधारण ही ठहरता है। छन्दों के ज्ञान का परिचय भी कवि ने अच्छा नहीं दिया। गीतों में निरे छन्दों-भंग हैं। छन्दः शास्त्र के अनुसार कोई भी पद्य पूर्ण नहीं। अलंकारों का प्रयोग भी कवि का नाममात्र का है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि या कहीं अनुप्रास आदि दो चार अलंकारों का प्रयोग अवश्य इधर उधर दिखाई पड़ जायगा, नहीं तो अलंकारों की ओर निरपेक्ष रहते हुए कवि ने सीधी-साधी बात को कहने का सीधा-साधा ढंग ही पसंद किया है। उक्तिगत चमत्कार लाने की ओर कवि

का प्रयास नहीं है, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से व्यक्त होगा।

भाषा की दृष्टि से भी बीसलदेव रासो अव्यवस्थित सा है। कहीं वह भाषा पृथ्वीराज रासो की भाषा से भी प्राचीन लगती है, कहीं १६ वीं शती की और कहीं उस से भी अर्वाचीन। उस का प्रधान रूप डिंगल है। उस में कृत्रिमता नहीं है, बल्कि उस में प्राचीन साहित्यिक राज स्थानी भाषा अथवा डिंगल के चिन्ह मिलते हैं। अतः वह तात्कालिक राजस्थान की ही भाषा है, साहित्यिक रूप लिये हुए। अपभ्रंश का उस पर विशेष प्रभाव है। भाषा कहीं सुगठित है, कहीं अत्यन्त शिथिल है ऊबड़ खाबड़। उस को देखने हुए कवि नल्ह भाषा का भी विशेष विद्वान् नहीं ठहरता।

उपर्युक्त सभी दृष्टियों से, कविवर नल्ह का बीसलदेव रासो, हिंदी साहित्य के वीर गाथा काल की संदिग्ध सामग्री में, अपना विशेष स्थान रखते हुए भी काव्य-गुणों या काव्य-कला की दृष्टि से, साधारण कोटि का मुक्तक श्रृंगार या प्रेम-काव्य है।

३ निम्नलिखित पदों में से यथेच्छ किन्हीं भी दो पदों की सन्दर्भ-सहित विशद व्याख्या कीजिये।

(अ) सुनि कै धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सौं।
अनुराग भरे हरि बागन मैं सखि! रागत राग अचूकनि सौं॥
कवि देव घटा उनई जु नई बनभूमि भई दल दूकनी सौं।
रंग राती हरी हहराती लता झुकि जाती समीरनि झूकनि सौं॥

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य देव रत्नावली का है। बरसात के दिन कृष्ण के बन-विहार का चित्र खींचा है। कृष्ण चातक, मोर और कोयल आदि की ध्वनि सुनकर मस्त हुए राग गा रहे हैं।

चारों ओर कोयल की कूकों के साथ चातक और मोरों की ध्वनि सुनकर, अनुराग में भरे हुए कृष्ण हे सखि! बागों में अचूक (जिनका प्रभाव खाली नहीं जाता) राग गा रहे हैं। कवि देव कहते हैं कि (बादलों की) नयी घटा जो उमडी, तो बन भूमि पत्तों की दुकान सी बन गई। रँग बिरंगे पुष्पों से रंगी हुई हिलती हुई लताएं हवा के झकोलों से झुक झुक जाती हैं।

प्रस्तुत सवैये में कवि ने बरसात में वनकी प्रकृति की मस्ती का वर्णन किया है। पक्षी बोल रहे हैं, नयी घटा ने उमड कर वन भूमि को ढाप लिया है। लतिकाएं तीव्र वायु के झकोरों से झुकी पड़ती हैं। भला कृष्ण पर भी मस्ती क्यों न छाती? अन्तिम पंक्ति में समासोक्ति अलकार है। थिरकती हुई लताओं के झुकने और वायु के झकोले देने में किन्हीं प्रेमासक्त नायक नायिका की रस-क्रीड़ा का अभिव्यंजन होता है। रगराती, हहराती, झुक जाती, झूंकनि आदि श्लिष्ट विशेषण हैं। अनुप्रास का माधुर्य तो है ही।

(आ) एकै संग धाय नन्दलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगन गये जु भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोइ धोइ हारी पद्माकर तिहारी सौंह,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं, कहां जाऊं, कासों कहौं, कौन सुनै,
कोऊ तो निकासौ जासौं दरद बढ़ै नहीं।
एरी, मेरे जैसे तैसे इन आंखिन ते–
कढ़िगो अबीर पै अहीर कौं कढ़ै नहीं॥

व्याख्या—पद्माकर का पद्य है। होली क्रीडा का वर्णन है। नायिका की आंखों में कृष्ण और गुलाल दोनों घुस गये हैं। दर्द होता है। जैसे तैसे गुलाल तो निकल गया, पर कृष्ण नहीं निकले।

एक ही साथ दौड कर नन्दलाल और गुलाल दोनों ही आंखों में भर गये तो आनन्द समाता नहीं। पद्माकर कहते, हैं तुम्हारी सौगन्द, धो धोकर हार गई, अब तो एक भी उपाय मन में नहीं जंचता। कैसे करूं, कहां जाऊं, किससे कहूँ, कौन सुने? (अरे) कोई तो निकालो, जिससे दर्द बढ़े नहीं। एरी सखि! मेरी लाल आंखों से जैसे तैसे करके गुलाल तो निकल गया, किन्तु वह अहीर का (कृष्ण) नहीं निकलता।

कवि ने नन्दलाल और गुलाल दोनों के आंखो में समा जाने का श्लेष से वर्णन किया है। कृष्ण विषयक आकस्मिक परन्तु पक्के प्रेम के उत्पन्न हो जाने का व्यंग्य है।

(ह) सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइकै।
हिम को समीर तेई बरसै विषम तीर,
रही है गरम भौन कौनन मै जाइकै॥
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिये सौं लगाइ रहैं नेक सुलगाइकै॥
मानौं भीत जानि, महासीत तैं, पसारि पानि,
छतिया की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥

व्याख्या—सेनापति के "कवित्त सरसी" नामक संग्रह से प्रस्तुत पद्य लिया गया है। कवि ने इस सवैये में शिशिर ऋतु का एक छोटा सा चित्र खींचा है—लोगो का क्या हाल होता है।

सेनापति कहते है, शीतकाल का प्रबल (प्रचण्ड) दल क्रोध करके चढ़ आया। अग्नि निर्बल हो गई और सूर्य ठण्डा पड़ गया। बर्फीली हवाएं हैं और वे भी बडे तीक्ष्ण तीर (तीर सी लगने वाली कपकपियां) बरसाती हैं। गर्मी भवन के कोनो में ही जाकर रही है अर्थात् गर्मी मकान के अन्दर के कोनों में ही मिलती है अथवा मकान के गर्म कोनो में ही जाकर रहा जाता है (बाहर के कमरों मे बैठने की हिम्मत नहीं होती)। धुएं से आँखें बहती हैं (पानी निकलता है), पर फिर भी लोग आग पर गिरे रहते हैं (आग सेकते हैं), हृदय से चिपकाये रहते हैं जरा सी सुलगाकर; मानो, महाशीत से डरी हुई जानकर, हाथ पसार कर (हाथ से उठाकर) अग्नि को (अपनी) छाती की छाया में छिपाकर रख रहे हों। (स्पष्ट ही कवि का संकेत यहाँ घने शीत-प्रधान प्रदेशों के निवासियों की ओर है। वे लोग प्रायः छोटी छोटी अंगीठियों में अग्नि रखकर, अपने गले में बांध कर, छाती पर लटका लेते हैं, जिससे दिल को गर्माई रहे। उसी पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानो अग्नि को शीत से भीत जानकर अपनी छाती तले उसे छुपाये हो)।

सेनापति के प्रकृति-वर्णन का उत्कृष्ट पद्य है। लोगो पर शीत का क्या प्रभाव होता है, वे किस प्रकार आत्म-रक्षा करते हैं आदि सबका चित्र है। ऊपर की पक्तियों में शीत-काल की जड प्रकति का चित्र है कि अग्नि और

सूर्य में गर्माई नहीं रहती, वर्फीली हवाएँ तीर बरसाती हैं आदि। इस प्रकार कवि ने अपनी विशिष्ट शैली में प्रकृति के रूप और उसके जगत पर प्रभाव दोनों का विशद चित्र खींचा है। अलंकारों में अनुप्रास के अतिरिक्त रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का आनन्द है। लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य है। शीत का अत्यन्त आधिक्य का व्यंग्य सर्वत्र निकलता है। सेनापति की काव्यकला का परिचायक यह पद्य एक उत्तम काव्य का उदाहरण है।

(ई) तोपर वारूँ उरबसी सुनि राधिके ! सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत है सैनन ही सौं बात॥
पाँई महावरु दैन को नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरि एँडी मींजति जाय॥

व्याख्या—ऊपर उक्त तीनों दोहे महाकवि बिहारी लाल के हैं। इनमें उन्होंने शृङ्गार के तीन चित्र उतारे हैं, जिनसे शृङ्गार रस छलका पड़ता है।

प्रथम चित्र राधिका का है। राधा उदास है किसी अन्य को कृष्ण के साथ प्रेम-लीला करते सुनकर। कृष्ण के प्रेम में उसे कुछ शंका होती है। वह समझती है, अन्य नायिका ही कृष्ण के उर बसी (हृदय में बसी) है। सखी उसको दिलासा देती है, 'तुझ पर मैं उरबसी (हृदय में बसी और इन्द्र की एक अत्यन्त सुन्दर अप्सरा का नाम उर्वशी) को वार दूँ, सुन हे बुद्धिमती राधिके! तू मोहन के उर (मन) में बसी है, उर बसी (एक हृदय पर पहिनने का आभूषण) के समान होकर (अर्थात् गले का हार बनी हुई है। इसलिए तू चिन्ता न कर।)"

कृष्ण-प्रेम व्यंग्य है। अलंकारों मे अनुप्रास तो है ही। श्लेष से युक्त यमक भी है। अर्थालंकारों में प्रतीप और उपमा हैं।

दूसरा चित्र और भी अधिक रसमय है। किसी नवेली के अपने प्रिय से मिलने का चित्र है। एकान्त में तो "वह (कुछ) कहती है, फिर नट जाती है (ना कर देती है), प्रसन्न होती है, खीझ उठती है, फिर मिलती

है, खिल जाती है (प्रसन्नता से) और फिर लजा जाती है। और (लोगों से) भरे भवन में (मिलने और बात करने का अवकाश न होने पर) सैनों में ही (सारी) बात करती है।

किसी जोडे के नूतन प्रेम का स्वाभाविक चित्र है। नायिका का चित्र अत्यन्त स्वभावोक्त और अनुभूति-पूर्ण है। शृङ्गार के अनेक औत्सुक्य व्रीड़ा चपलता आदि संचारियों और अनुभावों का बहुत ही चित्रमय चित्रण है। वास्तविक प्रेम या रीति का पूर्ण अभिव्यंजन होता है। भावशवलता का सुन्दर उदाहरण है। अलंकारों में अनुप्रास के अतिरिक्त कारक दीपक बहुत सुन्दर बन पडा है।

तीसरा चित्र किसी नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य का है। शृङ्गार के केवल आलम्बन का ही वर्णन है। रस के अन्य कारण स्वयमेव जुट जाते हैं। नायिका के पांवों में नाइन महावर लगाने आई है। नायिका के सौन्दर्य से भ्रम में पड जाती है।

पांव में महावर (एक लाल रंग) लगाने के लिए नायन आकर बैठी (तो वह) महावर (का रंग) समझकर बार बार (लाल) एड़ी को मसलती रही (नायिका की एड़ी स्वभावतः लाल थी। नाइन उसमें महावर लगा जानकर, उसे उतार कर नया लगाने के लिए, एडी को मलने लगती है)।

नायिका का नैसर्गिक अत्यन्त सौन्दर्य व्यञ्जित होता है। सारे शरीर के सौन्दर्य का वर्णन न करके कवि ने उसके पावों का सौन्दर्य बताया है। उसी से उसके अन्य सौन्दर्य का अन्दाज हो सकता है। जिसकी एडी ऐसी है, वह स्वयं कैसी होगी? यह कवि ने सहृदयों पर ही छोड़ दिया है। भ्रांतिमान् का बहुत सुन्दर उदाहरण है—एड़ी की लालिमा में नाइन को महावर की लाली का भ्रम होता है।

४. "पद्माकर की मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है।" इस कथन की सार्थकता उदाहरणों द्वारा दिखाते हुए पद्माकर के काव्य-गुणों का उद्घाटन कीजिये और रीति-कालीन कवियों में उनका स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—पद्माकर के विषय में प्रश्न-गत विचार सर्वथा सत्य हैं। पद्माकर की कल्पना ऐसी ही चित्रकार है। कवित्व के पूर्ण विस्फुरण के लिए भाव और भाषा तो चाहियें ही उच्च कोटि के, कल्पना भी वैसी ही उच्च चाहिये, प्रत्युत किसी अंश में इन दोनों से उच्चतर चाहिये, क्योंकि भाव और भाषा दोनों को आकार कल्पना ही देती है। आकार के साथ कल्पना भाव और भाषा दोनों में अधिक चमक उत्पन्न कर देती है। भाव और भाषा उच्चकोटि के होने पर भी यदि कल्पना अनुच्चकोटि की है तो काव्य सफल नहीं। भाव और भाषा, इसी प्रकार, निम्न कोटि के होने पर, कल्पना भी व्यर्थ है। इन तीनों के ही समुचित समन्वय से उत्तमोत्तम (ध्वनि) काव्य की सृष्टि होती है। पद्माकर में इन तीनों गुणों की पूरी सत्ता है। उसमें भावुकता कूट कूट कर भरी है, शृङ्गार का बहुत ही अनुभूति-पूर्ण वर्णन किया है, हृदय के कोमलतम और मधुरतम पक्षों का मूर्तिमान् चित्रण किया है। उसकी कल्पना की शक्ति अपरिमेय है, वह अमूर्तों को भी मूर्तवत् सामने खड़ा कर देती है। प्रत्येक कवित्त में या तो वैसे ही किसी के साकार रूप का चित्र है या हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का मधुर चित्रण है। कल्पना की इस सजीवता और सामर्थ्य के लिए ये बिहारी के समीप पहुँच जाते हैं। मुक्तक काव्य में किसी का या किसी भाव का स्पष्ट मूर्त चित्र खड़ा कर देना कवि की कल्पना की शक्ति के आधीन है। पद्माकर में यह शक्ति प्रचुर परिमाण में है, यह उनके साहित्य से पता लगता है। उनके पद्यों में रस भाव आदि या उनके आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि के मधुरतम चित्र मिलेंगे, जो पाठक या सहृदय के सामने प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। अवश्य यह प्रभाव उत्पन्न करने के लिए भाषा पर भी पूरा आधिपत्य चाहिये। पद्माकर का अपनी भाषा—व्रजभाषा—पर पूर्ण अधिकार है, वह उसकी अपनी है—अपने कहने में चलने वाली। इस त्रितय के संयोग से ही वे इतनी सफलता से अपने मुक्तक पद्यों में छोटे २ चमत्कारक भावों, रूपों और रसों के ऐसे स्वाभाविक अनुभूति-पूर्ण विशद चित्र उतार सके। उदाहरणार्थ देखिये नीचे के पद्य में होली खेलने का रसमय चित्र कितना साकार और बोलता हुआ है—

फागु की भीर अभीरिनि में गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की, पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय, लला! फिर आइयो खेलन होरी।

अन्तिम पंक्ति कितनी भावमय है! मधुर भावनाएं, मधुर चेष्टाएं और मधुर भाषा! कल्पना ने एक सजीव दृश्य सामने उपस्थित कर दिया। और भी देखिये कैसा मधुर और भावमय चित्र है—

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंगुरी सुपटकी।
कहै पद्माकर गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
वाही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई तामें,
मधुर मलार गाई और बंसी बट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूंघट की,
घर की न घाट की न बाट की न घट की॥

पानी भरते समय साथ में ननद आई थी, पर बंसरी ने लटका दिया। कहीं की भी नहीं रही। एक ठगी सी नायिका का चित्र सामने आ खड़ा होता है। और ऐसा ही चित्र देखने के लिए इसी प्रश्न पत्र के प्रथम प्रश्न में आया उनका "एकै संग धाय नंदलाल औ गुलाल दोऊ" आदिक पद्य लिया जा सकता है। देखिये होरी खेलकर आई कपड़े निचोड़ती हुई किसी नायिका का कैसा स्वभावोक्त चित्र उतारा गया है—

आई खेलि होरी घरै नवल किशोरी कहूं,
बोरी गई रंग मैं सुगधनि झकोरै है।
कहै पद्माकर इकंत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारनते फंद बंद छोरै हैं।
घाघरे की घूमनि सु अरुन दुवीचे बीच,
आंगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दन्तनि अधर [illegible] भई सी चापि,

चौवर पचौंवर कै चूनरि निचोरै है ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से पद्माकर की कल्पना शक्ति की रचना-शक्ति का ज्ञान हो जाता है और पद्माकर की कल्पना के विषय में प्रश्न-गत उक्ति की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है।

पद्माकर वस्तुतः रस-सिद्ध कवीश्वर थे। काव्य कला और भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। काव्य शास्त्र के पण्डित थे। और, अत्यन्त भावुक थे—हृदय के मार्मिक भावों के पारखी। रस भाव लक्षणा व्यंजना, गुण रीति छन्द अलंकार आदि का उन्हें पूरा ज्ञान था और उनके प्रयोग में वे पूरे दक्ष थे, ऐसा उनके काव्य साहित्य से सिद्ध हो जाता है। ऊपर के सभी उदाहरण काव्य कला की सारी सज्जा से सज्जित हैं। भाषा शृङ्गार के अनुरूप अत्यन्त मधुर और कोमल रूप लिये है। शृङ्गार के समस्त कारणों या साधनों का भाव-पूर्ण चित्रण है। साथ में शब्दालंकारों का मधुर संगीत है। अर्थालंकारों के चमत्कार के लिए—

थम्भन में थाम सो सुठाम सो सुदम्भन में
दीपक ललाम सो अंधेरे से दिगंत में।
कहै पद्माकर गयल में विश्राम सो
सरोजन की दाम सो जो सरद समंत में। आदि।

ऊपर के ही उद्धरणों से पद्माकर की भाषा-शक्ति का भी पता लग जाता है। भाषा अत्यन्त सुगठित, सुललित, मधुर, संगीत पूर्ण, विषयानुरूप कोमल कठोर, आदि रूप धारण करती हुई चलती है।

पद्माकर का प्रकृति-चित्रण भी विशेष श्लाघ्य है। प्रकृति के अनेक रूपों के सुन्दर चित्र पद्माकर ने उतारे हैं। ऋतु वर्णन पद्माकर का हिन्दी साहित्य में माना हुआ है। प्रकृति-विषयक स्वतन्त्र अनुराग से पूर्ण इनके अनेक पद्य हैं, जिनमें संश्लिष्ट रूप में प्रकृति का साकारवत् चित्रण है। एक—

कूलनि मैं केलि मैं कछारन में कुंजन में,
क्यारिन मे कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै पद्माकर परागन मैं पौन हूँ मैं,

पानन में पिक में पलास में पतंग है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगरौ बसंत है॥

× × × ×

मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मन्द मन्द मारुत महीम मनसा की है।
कहै पद्माकर त्यों नदन नदीन नित
नागर नवेलिन की नजर नसा की है।
दौरत दरैरौ देत दादुर सुदुंदै दीह
दामिनि दमकत दिसान में दसा की है।
बहलनि बुंदनि बिलोकौ बगुलान बाग,
बगलान वलिन बहार बरषा की है॥

श्रृङ्गार के आलंबन के रूप में तो प्रकृति का चित्रण पद्माकर ने भी रीतिकालीन अन्य कवियों के समान किया ही है। पर उसमें भी उनके संश्लिष्ट चित्रण की विशेषता है।

रसों में सर्व प्रमुख रस रीति-काल के अनुसार पद्माकर का श्रृङ्गार है। श्रृङ्गार के ही वर्णन में वस्तुतः पद्माकर के कवित्व का विशेष स्फुरण है। यद्यपि वीर रस की रचनाएं भी उनकी प्राप्त हैं, भक्ति एवं वैराग्य की भी रचनाएं उन्होंने की हैं, तथापि श्रृङ्गार काव्य उनका सर्वोत्कृष्ट है। इसी के कारण वे इतने प्रसिद्ध भी हैं। प्रसिद्धि में पद्माकर बिहारी के समान पहुँच जाते हैं साहित्यिक क्षेत्र में। इनके कवित्त सवैया आदि भी लोगों के कण्ठ-हार बनते हैं। किन्तु इसका मुख्य कारण इनका श्रृङ्गार काव्य है। वैसे, भक्ति वैराग्य आदि के भी इनके पद्य अच्छे बन पड़े हैं, परन्तु श्रृङ्गार वाली बात नहीं। अनुमानार्थ एक दो उदाहरण देखिये—

........चन्द की छटान यत प[illegible] फटान युत,
[illegible] लरन के [illegible]।

ऐसौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहां,
पैये फल चारि फूल एक दै धतूर को ॥

× × × ×

एकन सों बैर करि प्रीति करि एकन सों
एकन सो बैर है न प्रीति कछु गाढ़ी है ।
कहै पद्माकर न होत चित चाही बात,
बात करिबे को अनचाही मीच ठाढ़ी है ।
एते पै न चेत फेरि केते बांध बांधत है,
दन्त लागे हिलन सपेद भई दाढ़ी है ।
बाढ़ी कछू भगति न राम की हिये में देखौ,
तृसना पिसाचिनि या मिलई ते बाढ़ी है ।

एक वीर रस का भी उदाहरण—

उनमद दुरद घटनि छवि छज्जिय
जौन जलद पटलनि तकि तज्जिय ।
उच्च निसान गगन महं डुल्लहिं
सुर बिमान झक-झोरनि झुल्लहिं ।
झलमलाति झूलनि छवि छानिय,
बिज्जुल मनहु मेघ लपटानिय । आदि ।

करि धक्का-धक्की हक्का-हक्की-ठक्का-ठक्की मुदित मची ।
तहँ ढुक्का ढुक्की मुक्का मुक्की टुक्का टुक्की होन लगी । आदि ।

इन अवतरणों से सिद्ध है कि पद्माकर को शृङ्गार काव्य में जो सफलता मिली है, वह भक्ति या वीर आदि में नहीं। अतएव शृङ्गारी कवियों की परम्परा में पद्माकर का अत्युच्च स्थान है। रीति काल के अन्तिम समय में पद्माकर अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न, काव्य कलाविद् कवि होते हैं, जो इतने प्रसिद्ध हुए साहित्यिक समाज में जिसका कुछ ठिकाना नहीं। बिहारी के दोहों के समान ही इनके पद्यों ने भी साहित्यिक समाज में भारी आदर प्राप्त किया। रीति काल के अन्तिम भाग में रीति कालीन मुक्तक परिपाटी के ये वास्तविक प्रतिनिधि कवियों में हैं। शृङ्गारी कवियों में पद्माकर

का स्थान उच्च श्रेणी के—बिहारी मतिराम आदि के समकक्ष है। अतः पद्माकर का हिन्दी साहित्य के शृङ्गार-क्षेत्र में स्थायी स्थान है। जब तक हिन्दी साहित्य में शृङ्गार के विषय में रुचि रहेगी, बिहारी के दोहों के समान पद्माकर के पद्यों का आनन्द लिया जाता रहेगा।

अथवा

रीतिकाल की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुए एक निबन्ध लिखिए:—

उत्तर—भक्तिकाल के अन्त में काव्यक्षेत्र में भक्ति का स्थान शुद्ध शृङ्गार भावना ने ले लिया था। शनैः शनैः कवि भक्ति-रस को छोड़कर शृङ्गार रस में आ गया था। अत. रीतिकाल में प्रमुख रूप से शृङ्गार सम्बन्धी काव्य ही लिखे गए। रीतिकाल में शृङ्गार का साम्राज्य रहा है, रीतिकाल की यह पहिली विशेषता है। छोटे, बड़े, अच्छे, बुरे सभी प्रकार के कवियों ने शृङ्गार को प्रमुख माना। और रसों की जो थोड़ी बहुत रचनाएँ हुई भी हैं, वे परिपाटी का निर्वाह मात्र हैं, शृङ्गार का-सा उत्कृष्ट साहित्य नहीं। दूसरी विशेषता इस काल की रीति ग्रन्थों की रचना की है। भक्तिकाल में ब्रजभाषा का भंडार काव्य साहित्य से इतना भर गया था कि उसके विस्तार की सीमा नहीं थी। उच्चकोटि का भक्ति-काव्य बन चुका था। भाषा भी खूब समृद्ध हो चुकी थी। किन्तु इतना काव्य-निर्माण हो चुकने पर भी भक्तिकाल में काव्यांगों का निरूपण नहीं हुआ। काव्य, रस, भाव, शब्द शक्तियां, गुण, रीति, अलङ्कार आदि के निरूपण की भक्तिकाल में किसी ने चेष्टा नहीं की। भक्तिकाल के अन्तिम भाग में इसकी आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। फलस्वरूप रीतिकाल में रीतिग्रन्थ या काव्यांगों के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखने की पद्धति चली। यह पद्धति रीतिकाल में इतनी चली कि बिना कोई एक आध रीतिग्रन्थ लिखे किसी को कवि ही नहीं समझा जाता था। अतः इस काल के कवि को कवि और आचार्य दोनों का कार्य निभाना पड़ा। वह पहिले काव्य के उपादानों के लक्षण लिखता था, फिर उसके उदाहरण स्वरूप कविता करता था। साधारणतया काव्य रचना की यही परिपाटी रीतिकाल में अपनाई गई। पहिले लक्षण

लिखे जाते थे, फिर उनके उदाहरण बनाये जाते थे। इन आचार्य कवियों में दो श्रेणिया थीं। एक श्रेणी के आचार्य काव्य और उसके सभी अंगों—शब्द अर्थ, शक्तियां, रस, भाव, अलङ्कार, गुण रीति आदि—का वर्णन करते थे और कुछ केवल अलङ्कार ग्रन्थ ही बनाते थे और कुछ केवल रस का ही वर्णन करत थे। इस प्रकार स रीति ग्रन्थ बनाने की ये भिन्न-भिन्न प्रणालिया थीं। ये कवि आचार्य भी थे और कवि भी। इनमें से कोई कवि बड़ा था आचार्य छोटा और कोई इसके विपरीत। ऐसे कम थे, जिनमें आचार्यत्व और, कवित्व दोनो के गुण भरे पूरे हों। कविता करने के लिये प्रथम आचार्य बनना आवश्यक था। कविता करने की प्रधान परिपाटी यही रही रीतिकाल मे। किन्तु इसके अतिरिक्त इस काल में ऐसे भी बड़े उत्कृष्ट कवि हुए—विहारी जैसे—जिन्होंने रीतिग्रन्थ न लिखकर स्वतन्त्र कविता की। किन्तु इनका भी आदर्श लक्षण ग्रन्थो के लक्षण ही रहते थे। यद्यपि स्वय लक्षण नही गढ़ते थे, तथापि औरों के गढ़े हुए लक्षण कविता करत समय इनके दीमाग में अवश्य रहत थे। विहारी ने लक्षण न लिखकर भी मध्या, प्रौढ़ा, मुग्धा आदि के शास्त्र-सम्मत उदाहरण उपस्थित किए हैं। इस प्रकार इस काल मे लक्षण ग्रन्थ लिखने का भी दो पद्धतियां चलीं—एक काव्य के समस्त अगों के वर्णन की और दूसरी किसी एक, अलङ्कार, रस, नायिका आदि किसी अग को लेकर वर्णन करने की। कविता करने की भी मुख्य ये ही दो परिपाटियां थीं—लक्षण ग्रंथ बनाकर, उनके उदाहरणरूप में कविता करने की और लक्षण ग्रन्थ बिना बनाये स्वतन्त्र कविता करन की।

काव्य के श्रव्य भेद का ही इस समय विशेप प्रचार होता है। दृश्य काव्य या गद्यकाव्य की ओर इस समय किसी का ध्यान नही जाता। रचना की दृष्टि से अधिकाश रचना इस समय की मुक्तक काव्य है। प्रबन्ध काव्य की परम्परा भी यथाकथंचित् कुछ कवियों ने चालू रखी, नहीं तो प्रधानता इस समय मुक्तक काव्यो की ही रहती है। भक्तिकाल में राम भक्ति में प्रबन्ध-परम्परा और कृष्ण भक्ति मे मुक्तक-परम्परा का विशेप विकास हुआ था। इस काल में आकर प्रमुखता मुक्तक रचना की हुई और प्रबन्ध परम्परा गौण हो गई। प्रकृति-चित्रण रसो के उद्दीपन रूप में ही हुआ। साधारण-

तथा प्रकृति विषयक अनुराग से भरकर उसका संश्लिष्ट चित्रण इस काल के एक दो कवियों ने ही संभवतया किया हो। छन्दों के क्षेत्र मे कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा सोरठा का विशेष प्रचार हुआ। इस काल के ये ही विशेष प्रचलित छन्द हैं।

भाषा की दृष्टि से यह काल अत्यन्त उन्नत है। भक्तिकाल मे व्रजभाषा अत्यन्त समर्थ, समृद्ध और परिमार्जित हो चुकी थी। रीतिकाल में आकर उसमें बाह्य सौन्दर्य की विशेष प्रवृत्ति हुई। विशेष काव्य-कला सौंदर्य व्रजभाषा में रीतिकाल में ही आता है। अतः भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह काल विशेष महत्व का है। किन्तु भाषा में कृत्रिम सौन्दर्य उत्पन्न होने पर भी इस काल में व्रजभाषा की व्याकरण-व्यवस्था का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मन-मानी चलती रही। यह कमी है। शृङ्गार-साहित्य के लिए तो रीतिकाल हिन्दी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। इस काल में शृंगार-सम्बन्धी जो सामग्री तैयार हुई, उसका अधिकाश संसार के शृंगार-काव्य से बढ़ा हुआ ही मानना चाहिये, घटा हुआ नहीं। वस्तुतः शृंगार की रीतिकालीन उक्तियों की जोड़ अन्यत्र दूसरे साहित्य मे अत्यन्त दुर्लभ है। संक्षेप से रीतिकाल की सामान्य विशेषताएँ ये ही हैं। (विशेष और देखिये सा० र० प्रश्न पत्र २ प्रश्न नं० ६ सम्वत् २००२)

अथवा

"सेनापति ने जहां एक ओर अव्यवस्थित व्रजभाषा को सुधारने का प्रयत्न किया वहाँ दूसरी ओर उनकी दृष्टि रीतिकालीन संकीर्ण परम्परा-युक्त क्षेत्र से निकल कर प्रकृति के उन्मुक्त और सुरम्य स्थल की ओर भी गई और फलस्वरूप उन्होंने प्रकृति का रमणीय और संश्लिष्ट वर्णन किया।" उक्त कथन की समीक्षा करते हुए बिहारी और सेनापति के प्रकृति-वर्णन की तुलनात्मक विवेचना कीजिये।

उत्तर—सेनापति भक्तिकाल और रीतिकाल के संधिकाल में हुए थे। उनके काल मे व्रजभाषा का साहित्य-भंडार भक्ति के अनुपम काव्यों से भरा पूरा था। भाषा भी खूब समृद्ध हो चुकी थी। उसमें लक्षणा-व्यंजना और चित्रण की सामर्थ्य आ चुकी थी। कमी थी तो केवल यही कि उसमें

व्यवस्था नहीं थी। उसका कोई व्याकरण नहीं था। कवि लोग मन-मानी शब्दों की रूपविकृति करते थे। प्रकृति, प्रत्यय, कारक, क्रिया आदि के विषय में एक ही नियम का सर्वत्र पालन नहीं होता था। सेनापति ने अपने काव्य में इस ओर विशेष ध्यान रखा। उनकी भाषा अत्यन्त सुगठित, ललित, प्रवाह मय, समर्थ और व्यवस्थित है। व्याकरण के नियमों को यद्यपि वे सब के लिए नहीं बना सके, किन्तु अपने लिए उन्होंने जो नियम निर्धारित किये थे, उनका उनकी भाषा में पूरा पालन है। शब्दों के निर्माण आदि के विषय में उन्होंने एक ही विधि का अनुसरण किया है। अतएव उसमें एक व्यवस्था है, परिमार्जन है और सौष्ठव है। रीतिकालीन परिपाटी में यमक अनुप्रास और श्लेष, विरोध आदि के वर्णन करते समय में भी, उन्होंने अपनी भाषा को न तो कठिन और अप्रचलित श्लिष्ट शब्दों का सहारा लेकर दुरूह होने दिया और न प्रचलित शब्दों का ही बेतरह अंग भग किया। उनकी भाषा में ओज, माधुर्य के साथ प्रसाद गुण सर्वत्र दृष्टिगत होता है। भाषा वर्णन मे समर्थ, प्रवाह और शक्ति दोनों के साथ अपनी स्वाभाविक व्यवस्थित गति से चलती है, जिससे उसमें एकरसता बनी रहती है। इस दृष्टि से सेनापति के विषय में, प्रश्न में, जो मत ब्रजभाषा को सुधारने के सम्बन्ध में प्रकट किया गया है, वह बहुत कुछ ठीक है। सेनापति की भाषा अपेक्षाकृत बहुत सुधरी हुई अथवा परिमार्जित और विशेष व्यवस्थित है। श्रीशुक्ल जी ने कहा है कि भाषा पर इनके जैसा अधिकार कम ही कवियों में दृष्टिगत होता है।

प्रश्न में दूसरी बात सेनापति के विषय में कही गई है कि उस ने रीतिकालीन काव्य के सकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर प्रकृति के सुरम्य क्षेत्र का दर्शन किया। सेनापति के विषय में यह बात भी पूरे औचित्य के साथ कही जा सकती है। कारण, अन्य कवियों की अपेक्षा सेनापति का प्रकृति-वर्णन बहुत विशद, बहुत स्वाभाविक, प्रकृति-निरीक्षण से उद्भूत और परम सुन्दर एव सजीव है। रीतिकाल तक प्रकृति को रसों को उद्दीपिकामात्र मानकर, रसके अंगरूप में प्रकृति के उन रूपों का आलंकारिक चित्रण होता था, जो रस-विशेष में सहायक होते थे। अतएव वह वर्णन

अधूरा, विश्लिष्ट और केवल चमत्कारजनक होता था, जिससे प्रकृत रस का या भाव का उद्दीपन होता था। प्रकृति के सुरम्य रूपों को देखकर भाव-प्रवण होकर उनका संश्लिष्ट चित्रण करने की प्रणाली उस समय नहीं थी। कवि लोग काव्य के संकुचित नियमों में बंधकर प्रकृति का उद्दीपन रूप में ही चित्रण करने के अभ्यासी बने थे। हिन्दी-काव्य में आधुनिक काल से प्रथम प्रकृति का साधारणतया इसी रूप में चित्रण होता आया है। सेनापति प्रकृति-चित्रण की इस परिपाटी के अपवाद-स्वरूप थे। उन्होंने प्रकृति के मनोरम स्थलों के प्रति भाव-प्रवणता का अनुभव किया, उसके स्थूल सुन्दर रूपों का गहरा निरीक्षण किया। प्रकृति की छोटी से छोटी बात का भी सेनापति ने वर्णन किया है। अन्य कवियों ने भी अपने काव्य में प्रसंगानुकूल ऋतु-वर्णन, बारह मासा आदि के रूप में प्रकृति-वर्णन किया है, किन्तु सेनापति का ऋतु-वर्णन अपना विशेष महत्व रखता है। सेनापति का ऋतु-वर्णन किसी रस या भाव का अंग बनकर नहीं हुआ है। वह स्वतन्त्र है। सेनापति के ऋतु-वर्णन का उद्देश्य ऋतु-वर्णन ही है, किसी रस भाव आदि का उद्दीपन नहीं। अतएव सेनापति के प्रकृति-चित्र पूर्ण हैं, विशद हैं, स्वाभाविक और सजीव हैं। सेनापति के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति का कोई रूप नहीं छूटता—वन्य नदी तरु पर्वत आदि जड़ प्रकृति से लेकर पशु, पक्षी, तक उनकी दृष्टि गई है। प्रकृति का जगत पर क्या प्रभाव होता है, विभिन्न ऋतुओं की क्या प्रतिक्रिया साधारण जनों पर होती है, जनता विभिन्न ऋतुओं में क्या क्या आहार-विहार करती है, इस सब का भी अनुभूतिपूर्ण वर्णन किया है। प्रकृति और उसका प्रभाव दोनों का कवि ने स्वभाव-सिद्ध विशद वर्णन किया है। प्रत्येक वर्णन में कवि का प्रकृति-विषयक स्वतन्त्र अनुराग एवं सौन्दर्य-दर्शन-जन्य उत्फुल्लता प्रत्यक्ष होते हैं। प्रकृति विषयक अपना यह विशेष दृष्टिकोण रखकर प्रकृति-वर्णन करने के कारण ही सेनापति का प्रकृति वर्णन रीतिकाल के प्रकृति-वर्णन से विशिष्ट हो गया है। हिन्दी साहित्य के आलोचकों ने सेनापति के प्रकृति-वर्णन को विशेष श्लाघनीय प्रत्युत अनुपम ठहराया है। आचार्य श्रीशुक्ल जी के मत से 'ऋतु, वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है।'

श्री हरिऔध जी के मत से "षड् ऋतु का जैसा उदात्त और व्यापक वर्णन सेनापति ने किया है, वैसा दो एक महाकवियों की लेखिनी ही कर सकी।" श्यामसुन्दरदासजी के अनुसार "इन्होंने षड् ऋतुओं का वर्णन किया है जो बहुत ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था।" उदाहरणार्थ दो तीन पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं। देखिये पावस का वर्णन—

सेनापति उनए नये जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय के।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोयकै।
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भ[illegible],
देखि न परत मानों र[illegible] गयो खोयकै।
चार मास भ[illegible] स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै।

प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण है, किसी रस या भाव आदि के अंग रूप में नहीं। उपर्युक्त पद्य में सावन की प्राकृतिक शोभा का वर्णन है, चारों ओर बादल घुमडते हैं, मानो काजल के काले पहाड़ ढोकर लाये गये हों, अन्धेरा छा जाता है, सूर्य का पता नहीं लगता आदि आदि। किंतु नीचे के पद्य में देखिये इस सावन की ऋतु का विविध व्यक्तियों पर कैसा प्रभाव पडता है—

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियां।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी, औ
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।
आई सुधि बर की, हिये मैं आनि खरकी,
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियां।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियां।

शीत ऋतु का चित्रण १ प्रशनगत "सीत को प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यो दल" आदि पद्य में देखिये, कैसा स्वाभाविक और अनुभूति-गम्य है। और भी—

सिसिर मैं ससि को सरूप पावै सविताऊ,
घाम हूँ में चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होती सीतलता है सहस गुनी,
रजनी की झांई वासर में झमकती है। आदि

गर्मी की दोपहरी का देखिये कैसा सन्नाटा-यन्द वर्णन है—

वृष की तरनि तेज सहसों करनि तपैं,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि जग झुरत झुरनि सीरी—
छांह को पकरि पथी पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
धमका विपम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर का पकरि कोनौ,
घरि एक बैठि कहूँ घामै वितवति है।

जेठ आने पर बडे लोगों के तहखाने और खसखाने कैसे सुघरते हैं—

जेठ नजिकाने सुघरत खसखाने तल,
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरम्मति विविध जल-जंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटा ते सुधा सुधारियत है। आदि।

विहारी ने भी प्रकृति-वर्णन किया है, पर बहुत कम मात्रा में या मुख्यतः विहारी ने भी रीतीकालीन परिपाटी के अनुसार प्रकृति का रसोद्दीपन रूप से ही वर्णन किया है। अपनी विविध भावनाओं की ही उत्तेजना के लिए विहारी ने प्रसंगानुरूप प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।

अली कली ही सों बिंध्यो आगे कवन हवाल ॥

इस प्रसिद्ध दोहे में पराग, मधु, विकास, अली, कली आदि प्राकृतिक वस्तुओं का अङ्ग रूप से वर्णन है। ऐसे ही नीचे भी—

कुञ्ज भवन तजि भवन को चलिये नन्द किसोर ।
फूलत कली गुलाब की चटकाहट चहुं ओर ॥

कृष्ण को कुञ्ज से घर चलने को कहा जा रहा है कि गुलाब खिल रहे हैं, सवेरा हो गया। नीचे के पद्य में कोई नायिका रात भर प्रिय की प्रतीक्षा में बैठ कर, निराश हो कर, सवेरा होने का वर्णन कर रही है—

नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली, आली, अनत, आये बन-माली न ॥

उपर्युक्त उदाहरण में प्रकृति के कुछ स्वरूपों का वर्णन किसी भावना के अङ्ग रूप में हुआ है। किन्तु अनकत्र विहारी ने भी सेनापति के समान ही प्रकृति-विषयक स्वतन्त्र अनुराग का परिचय दिया है और प्रकृति को ही आलम्बन मान कर उसका वर्णन किया है। यथा—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन मांह ।
निरखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहती छांह ॥

जेठ की दुपहरी से घबरा कर छांह भी छाह चाहती है। पूस के महीने का दिनमान देखिये कैसे घट गया है—

आवत जात न जानिए तेजहिं तजि सियरान ।
घरहिं-जमाईं लौं घट्यो खरो पूसदिन-मान ॥

❀ ❀ ❀ ❀

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥

प्रकृति विषयक स्वतन्त्र अनुराग का अनुभव कर के उसका चित्रण करने की दृष्टि से विहारी भी सेनापति के समान ही ठहरते हैं। ऐसे स्थलों पर विहारी का प्रकृति चित्रण भी सेनापति के चित्रण के समान ही स्वतन्त्र है, किसी भाव का अङ्ग नहीं। किन्तु जहाँ तक चित्र की विशदता, पूर्णता, साङ्गता

और विविधता का सम्बन्ध है, बिहारी और सेनापति के चित्रणों की कोई समता नहीं। सेनापति का चित्रण बड़े-बड़े कवित्त सवैया आदि छन्दों में है, जिससे चित्रण अधिक विस्तृत है, विशद है, विविध है और संश्लिष्ट है। किन्तु बिहारी का छन्द अत्यन्त छोटा दोहा या सोरठा है। उसमें किसी के पूरे चित्रण के लिए कम गुञ्जाइश है। प्रकृति के विविध रूपों का पूरा चित्र उतारने लायक स्थान दोहे में कहाँ? अतः उसमें प्रकृति के रूप विशेष के संश्लिष्ट चित्रण की सम्भावना नहीं रहती। अत एव सेनापति के चित्रण की अपेक्षा बिहारी का चित्रण अत्यन्त संक्षिप्त है, उसमें विविधता नहीं है। शैली भी दोनों की इसी लिए भिन्न है। सेनापति ने अधिकतया अभिधावृत्ति से काम लिया है और वस्तुओं का वाच्य रूप में व्यास शैली से विस्तृत वर्णन किया है, क्योंकि उसके पास बड़ा छन्द होने के कारण स्थान बहुत था। किन्तु बिहारी के पास दोहे में क्योंकि स्थान बहुत सूक्ष्म था, सीमा बहुत संकुचित थी, अतः उसकी शैली अत्यन्त संक्षिप्त समासरूप है और अत एव उसे अभिधा को छोड़ कर लक्षणा और व्यञ्जना का विशेष सहारा लेना पड़ा है, अलङ्कार प्रयोग से भी सहायता लेनी पड़ी है। फल-स्वरूप उसका चित्रण अत्यन्त संक्षिप्त संकेत रूप में बन पड़ा है। और भी बात है। बिहारी ने इतने परिमाण में प्रकृति-चित्रण नहीं किया है, जितने में कि सेनापति ने। सेनापति ने तो ऋतुओं का विस्तारशः वर्णन किया है, किन्तु बिहारी ने ऐसा विस्तृत प्रकृति-वर्णन नहीं किया है। इस प्रकार सेनापति और बिहारी के प्रकृतिवर्णनों में मौलिक दृष्टिकोण—प्रकृति विषयक स्वतन्त्र अनुराग—की समता रहते हुए भी, दोनों की छन्द-सीमा के कारण उनके प्रभाव, वैशद्य, वैविध्य और औज्ज्वल्य में अन्तर आ गया है। शैली भी दोनों की आवश्यक रूप से भिन्न ही हुई। संक्षेप में इन दोनों कवियों के प्रकृति-चित्रणों में यही समता या विषमता है।

अथवा

"साक्षात् प्रेम रस के अवतार घनानन्द ने ब्रजभाषा-काव्य में एक परम्परा स्थापित की।" इस कथन के गौरव लाघव पर विचार करते हुए घनानन्द के काव्य की सामान्य समीक्षा कीजिए।

उत्तर—व्रजभाषा साहित्य में आनन्द घन का शृङ्गार अथवा प्रेम के कवियों में बहुत उत्कृष्ट स्थान है। साहित्य के आलोचकों ने उन्हें साक्षात् प्रेम रस का अवतार कहा है। श्री शुक्ल जी ने इन्हें साक्षात प्रेम रस मूर्ति कहा है। अपने लौकिक जीवन में ही प्रम के सम्बन्ध में इन्हें एक कड़ी ठेस लगी थी। इनकी अत्यन्त प्रिय एक सुजान नामक वेश्या की बेरुखी से इनको इतनी कड़ी ठेस लगी थी कि ये विरक्त हो गये थे। और, उस वेश्या के पीछे ही इन्हें दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के यहाँ के मीर मुंशी के पद की पर्वाह नहीं थी। प्रेम की यह ठेस या प्रेम की पीर लेकर ही इन की साहित्य-वाणी का मुख खुला था। ये यद्यपि अन्त मे, वृन्दावन में जा कर, निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो कर, भक्त जीवन व्यतीत करने लगे थे, किन्तु इनके काव्य को भक्ति की अपेक्षा शुद्ध शृङ्गार काव्य ही माना जा सकता है। भक्ति की अपेक्षा उसमें प्रेम का ही रूप अधिक प्रस्फुट है। कहते हैं, इन्हें वह वेश्या इतनी प्रिय थी कि उसके द्वारा ठुकराये जाने पर भी ये उसका नाम नहीं छोडते थे। इन्होंने अपने अनेक पद्यों में सुजान नाम से ही कृष्ण को पुकारा है। ये वास्तविक प्रेमी जीव थे। प्रेम की अनेक सुप्त, गुप्त मार्मिक दशाओं और भावनाओं का इन्होंने सजीव चित्रण किया है। इनके जैसा स्पष्ट धड़ल्ले से मन की बात कहने वाला अन्य प्रेमी कवि हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं। श्री शुक्ल जी कहते है "प्रेम मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" प्रेम के भी विरह रूप का ही इन्होंने स्वभावतः अधिक वर्णन भी किया है। प्रेम की पीर इनके हृदय में बस गई थी। उसी के विविध रूपों का विविध दशाओं में अभिव्यञ्जन इन्होंने किया है। इनकी अभिव्यञ्जना शक्ति और वर्णन शक्ति अपरिमेय है। लौकिक प्रेम के जैसे स्वच्छन्द, उन्मुक्त, रसमय चित्र घनानन्द ने उतारे हैं, वे अनुपम हैं अपने ढंग के। अत एव इन्हें साक्षात् प्रेम रस का अवतार सही अर्थों में कहा जाता है। घन आनन्द का साहित्य एक नवीन परम्परा का भी द्योतक है, उस काल की। शृङ्गार-परम्परा तो आ ही रही थी, घनआनन्द ने भी उसका पालन किया : इन्होंने मुक्तक श्रेणी की कविता की। मुक्तक दो अर्थों में, मुक्तक श्रेणी काव्य तो वह था ही, साथ ही वह रीति-

ग्रन्थों से भी मुक्त—स्वतन्त्र—था। अभी तक की परिपाटी ऐसी थी कि कोई रीति-ग्रन्थ बना कर उसके लक्षणों के उदाहरणों के रूप में कविता की जाय। जो कवि बिहारी जैसे, बिना लक्षण बनाये कविता करते भी थे, उनके भी मस्तिष्क में कोई न कोई लक्षण अवश्य रहता था। कविता करते समय उनकी कविताएँ अप्रत्यक्ष रूप में किसी न किसी लक्षण का उदाहरण होती थीं। लक्षण का ध्यान रखकर कविता बनाई जाती थी। बिहारी के अनेक नायिका-चित्र नायिका-भेदों के स्पष्ट उदाहरण हैं, चाहे उन्होंने लक्षण स्वयं बनाये हों या न बनाये हों। घनानन्द लक्षणों के इस अस्पष्ट प्रभाव से भी दूर थे। कविता करते समय वे काव्य-वस्तुओं के लक्षणों का ध्यान नहीं रखते थे। जब जिस विषय पर जो भाव सूझा-कविता लिख ली, यह उनकी पद्धति थी। रीति ग्रन्थों के प्रभाव से यह मुक्त, स्वच्छन्द थी। इसमें कवि के लिए कोई विशेष बन्धन नहीं रहता लक्षण आदि का। वह उन्मुक्त भावानुरूप लिखता है। कविवर घनानन्द, रसखान, आलम, आदि कवि इसी पद्धति के लेखक हैं। घनानन्द इनमें सर्व-प्रमुख माने गये हैं। इन्होंने रीति काल की प्रचलित काव्य पद्धति से स्वतंत्र होकर, स्वच्छन्द प्रेम गान गाये मुक्तक काव्यों में। अपनी इस स्वच्छन्दता के कारण ही निर्बन्ध होकर इन्होंने अपने कवित्त और सवैयों में प्रेम रस वर्षाया। इस दृष्टि से इन्हें ब्रजभाषा साहित्य में एक नवीन काव्य-परम्परा के परिचालन का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है।

इस स्वच्छन्द काव्य परम्परा के परिचालन के अतिरिक्त, इनके काव्य में वर्णन, चित्रण, शैली आदिकृत इनकी अन्य विशेषताएं भी हैं। रीति-कालीन कवियों के समान इन्होंने संयोग शृङ्गार को इतना नहीं अपनाया। अधिकतया उसके विरह रूप का ही वर्णन किया है। वर्णन में भी रीति काल की परम्परा से थोड़ा अलग हटकर स्थूल रूप का ही चित्रण नहीं किया है। आलम्बन के स्थूल रूप के चित्रण की प्रवृत्ति घनानन्द में कम है। इन्होंने अधिकांश में विरह की भावनाओं या अनुभूतियों का ही अधिक वर्णन किया है। स्थूल से सूक्ष्म

सौन्दर्य वर्णन की इनकी यह प्रवृत्ति भी इनकी अपनी है। अतएव इनके काव्य में प्रेम के बाह्य--स्थूल चेष्टा, नखशिख आदि--रूपों का अपेक्षा उसके आन्तरिक रूप का ही अधिक चित्रण हुआ है। शैली मे भी नवीनता आयी है। लक्षणाव्यजनात्मक प्रयोगों में इनसे अच्छा रीतिकाल का कोई कवि नहीं माना जाता। इन प्रयोगों के कारण इनकी शैली में विचित्रता भी आ जाती है। "अरसानि गही, घरी भाग उघरी, उघरो जग' आदि उनके लक्षक व्यजक प्रयोगों के उदाहरण हैं। कहीं विरोध-मूलक विचित्रता से भी इन्होंने प्रेम का अभिव्यजन किया है। यथा—झूठ की सचाई छाक्यो, त्यों हितकी कचाई पाग्यों, उजरनि बसी है, खोय योलहत हैं, आदि इस विरोध मूलक विचित्रता के सूचक उदाहरण हैं। यह लक्षणा व्यंजनात्मक प्रयोगो की इनकी शैली अन्य कवियो मे प्रायः नहीं दीखती। श्री शुक्ल जी के मत से यह लक्षणात्मक वैचित्र्य की शैली अन्त म आधुनिक काल के छायावादी नवीन काव्य में ही मिलती है। यह भी इनका अपनी ही मौलिक प्रवृत्ति थी। इस दृष्टि से व्रजभाषा साहित्य मे नवीन काव्य परम्परा के चलाने के साथ साथ अपनी शैली में भी ये नवीनता ले आये थे। इनकी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण इन्हें एक नवीन परम्परा का संचालक माना जाता है।

काव्य कला के बाह्य सौन्दर्य के साधन इनके काव्य में भरे पूरे हैं। रस भाव आदि के तो सिद्ध कवि ये हैं ही, भावुकता और रसिकता इनकी कविताओं के प्राण है। साथ ही बाह्य काव्य सौन्दर्य से भी वे पूर्ण सुसज्जित हैं। छन्दों में कवित्त सवैया घन-आनन्द को विशेष प्रिय हैं। गुण रीति अलकार, लक्षणा, व्यजना आदि के समुचित और अधिकार-पूर्ण प्रयोग में भी ये पूरे दक्ष हैं, जैसा कि नीचे के उदाहरणों से व्यक्त होगा। गुण रीति आदि की व्यवस्था तो अपने वर्ण्य शृङ्गार के अनुरूप है ही कोमल, मधुर कर्ण-सुखद, अलंकारों की भी छटा सर्वत्र व्याप्त है। अनुप्रास आदि शब्दालंकार तो रीति कालीन कवियो के सभी के प्रिय रहे हैं, घन आनन्द के भी हैं। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोध, अपन्हुति, अतिशयोक्ति आदि सभी प्रमुख अलकारों का प्रयोग हुआ है।

भाषा-घन आनन्द की व्रज भाषा है, जो अत्यन्त साहित्यिक, अत्यन्त परिमार्जित, सौन्दर्य संगीत और माधुर्य-पूर्ण है। श्री शुक्ल जी

के अनुसार "यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये अपनी अनूठी भाव भंगी के साथ साथ उसे जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे।.. ..... घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।" आचार्य श्री शुक्ल जी की उपर्युक्त सम्मति के पश्चात् और कुछ शेष नहीं रहता भाषा के विषय में। भाव कल्पना और भाषा के समुचित समन्वय के बिना काव्य नहीं बनता। घनानन्द में यह सब कुछ है। भाव और कल्पना के साथ भाषा भी उनकी वशवर्तिनी है, कवि के भावेंगितों पर नृत्य करती हुई। घनानन्द की ऊपर वर्णित काव्य-विशेषताओं के सूचक नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। भाषा और भाव के उत्कर्ष के लिए—

कान्ह परे बहुतायत मैं इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम ?
हौ मनमोहन, मोहे कहूं न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम ?
बौरे वियोगिन्ह आप सुजान ह्वै हाय ! कछू उर आनौ कहा तुम !
आरतिवन्त पपीहन को घन आनद जू पहिचानौ कहा तुम ?

कारी कूर कोकिल कहां को वैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै ?
पैंड परे पापी थे कलापी निसि द्यौस ज्योंही,
चातक रे घातक ह्वै तू ही कान फोरि लै।
आनन्द के घन प्रान जीवन सुजान बिना,
जानिकैं अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौलौं करैं आवन विनोद बरसावन वे,
तौलौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

देखिये प्रेम मार्ग कैसा है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नैकु सयानप बांक नहीं।
तहँ सांचे चलैं तजि आपनपौ झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं॥

घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक ते दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन धौ पाटी पढे हौ लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।

इन सब उदाहरणों मे कवित्व अपने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षों के साथ व्याप्त है। भाषा की बहार भी देखने योग्य है। अलंकारों का चमत्कार भी साथ है। इन सब में वियोग की टीस है। किन्तु संयोग का वर्णन भी देखिये। एक होरी का दृश्य—

घूंघट ओट तकै तिरछी घन आनन्द चोट सुघात बनावै।
बांह पसारि सुधारि बराबर बीर छरा धरि ढूकति आवै।
कौंघि अचानक चौंघि भरै चख चौकस चौंकति छांह न छूवावै।
बाल अनूठियै ऊठ गुलाल की मूठि मैं लालहि मूठि चलावै॥

होली खेलने का एक रसमय चित्र है। एक और ऐसा ही संयोग का रसमय मधुर चित्र देखिये—

दाँव तकै, रस रूप छकै, थिथकै मति, पै अति चोपनि धावै।
चौंकि चलै ठठि छैल छलै, सुकुमीली छराय लौं छांह न छ्ूवावै।
घूंघट ओट चितै घन आनन्द चोट चितै अँगुठाहि दिखावै।
भावती यौं बस ह्वै रसिया हिय हाँसनि सौं सनि आंखि अंजावै।

भावती सहे २ अंकर भरि भेंटि संकट मेटि,
रंक थाती छाती धरि रहे आप आप को।
निपट अनूठी दसा हेरतहिं रानी बीर,
बानियौ सिरानी क्यों बखानिये मिलाप को।
आगे कहा बीती भई तबही सुरति रीती,
जैसे सर छूटि न मिलत फिरि चाप कौ। आदि।

एक आलम्बन का वर्णन भी देखिये—

सुन्दर सरस लोनो ललित रंगीलो मुख, जोबन झलक क्यों हू कही न परति है।
लोचन चपल चितवनि चाव चोज भरी, भृकुटी सुठौन भेद भाव निदरति है।
नासिका रुचिर अधरनि लाली सहजै ही, हँसनि दसन जोति हियरा हरति है।
नख सिख आनन्द उमग की तरंग बढ़ि, अंग अंग आली छबि छलक्यौ परति है।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है, घनानन्द का काव्य खूब कवित्व-समृद्ध है। काव्य कला के किसी भी पक्ष की दृष्टि से वह हीन नहीं है।

हिंदी साहित्य की रीति कालीन स्वच्छन्द शृंगारी काव्य धारा में घनानन्द का स्थान सर्व-प्रमुख है।

५. निम्नलिखित अलङ्कारों में से किन्हीं तीन का लक्षण उदाहरण-सहित लिखिये—दीपक, प्रतीप, अतिशयोक्ति, अपन्हुति, तद्गुण, दृष्टान्त और विभावना।

उत्तर—(दीपक) जहां प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का धर्म एक ही शब्द या पद से बताया जाय अथवा जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म बताया हो। यथा—

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानस चून॥

यहां मोती, मानस, चून इन तीनों का 'पानी गये न ऊबरै" एक धर्म बताया गया है। अतः दीपक है। इसका एक अन्य मुख्य भेद कारक दीपक है। अन्य भेद, देहली दीपक, मालादीपक, आवृत्ति दीपक भी हैं।

(प्रतीप) जहां उपमान को उपमेय बना दिया जाय प्रतीप होता है। उपमा में जो उपमान और उपमेय होते हैं, इस अलङ्कार मे उनको उलट दिया जाता है। इसीलिए इसको प्रतीप (उलटा) कहा जाता है। उदाहरण—

...मैं केलों में जघन युग की देखता मंजुता हूं।
गुल्फों की सी ललित सुपमा है गुलों में दिखाती॥

इसके चार भेद होते हैं—(१) ख्यात उपमान को उपमेय बना देना, (२) उपमेय को उपमान बनाकर उस प्रसिद्ध उपमान का तिरस्कार करना, (३) उपमान को उपमेय बनाकर प्रकृत उपमेय का निरादर करना (४) उपमान को उपमेय की समता के अनुपयुक्त कहना।

(अतिशयोक्ति) लोक-सीमा के विरुद्ध या लोक सीमा से बाहर निकल कर जहाँ प्रस्तुत का खूब बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया जाय, वहां अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है। अतिशय—अधिक—उक्ति को अतिशयोक्ति कहा जाता है।

उदाहरण यथा—

बांधा विधु को किसने इन काली जंजीरों से?
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से?

अथवा

अनियारे दीरघ नयन किती न तरुनी समान ।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान ॥

(अपन्हुति) जहां प्रकृत वस्तु अथवा उपमेय का निषेध करके अप्रकृत वस्तु अथवा उपमान की स्थापना की जाय। इसके शुद्धापन्हुति, कैतवापन्हुति, हेत्वपन्हुति, भ्रांतापन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, छेकापन्हुति, विशेषापन्हुति नामक भेद होते हैं। यथा—

नहीं सक्र सुरपति अहै सुरपति नन्द कुमार।
रतनाकर सागर न है मथुरा नगर बजार ॥

ऐनक दिये तने रहते हैं अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू क्यों सखि ! साजन ? ना सखि ! बाबू ॥

(तद्गुण) जहां एक वस्तु का गुण दूसरी साथ की वस्तु में संचरित हो जाय, वहां तद्गुण अलङ्कार होता है। यथा—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति ।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्र धनुस रंग होति ॥

यहाँ हरी मुरली मे अधर, आँख आदि के गुण संचरित हो गये हैं। सो तद्गुण है।

(दृष्टांत) जहां उपमान में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से साधर्म्य बताया जाय। जैसे—

एक राज्य न हो बहुत से हों जहां राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां।
बहुत तारे थे अन्धेरा कब मिटा, सूर्य का आना सुना जब तब मिटा ॥

(विभावना) कारण के सर्वथा अभाव में अथवा अपूर्ण कारण से जहां कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो वहां विभावना होती है। इसके छ: भेद होते हैं, (१) प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य होना, (२) कारण के पूर्ण न होने पर भी कार्य होना, (३) प्रतिबन्धक कारण होने पर भी कार्योत्पत्ति (४) जहां अकारण से कार्य हो अर्थात् जो जिसका कारण न हो उससे उस की उत्पत्ति हो (५) विरुद्ध कारण से कार्य होना और (६) कार्य से ही कारण की उत्पत्ति बताना। उदाहरण—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना कर बिनु कर्म करै बिधि नाना। आदि

मानत लाज लगाम नहीं नेक न गहत मरोर ।
होत तोही लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर ॥

दुख के तम को खा खाकर भरती प्रकाश से वह मन ।

६ निम्नलिखित में से किन्हीं दो दोषों का सोदाहरण विवेचन कीजिये—श्रुतिकटुत्व, च्युत संस्कृति, अप्रतीतत्व, अप्रयुक्तत्व, अश्लील और ग्राम्यत्व ।

उत्तर—[श्रुतिकटुत्व] कानों को कड़वे लगने वाले शब्दों का प्रयोग जहां हो वहां श्रुतिकटुत्व दोष होता है । यह शब्द दोष है । जैसे—

कसती कटि थीं कनिष्ठ मा असि देतीं मझलीं घनिष्ठ मां । आदि

यहाँ घनिष्ठ और कनिष्ठ आदि शब्द कर्ण कटु हैं । अतः श्रुतिकटुत्व दोष है । यह दोष अनित्य दोष है अर्थात् सर्वत्र दोष ही नहीं रहता, कहीं गुण भी बन जाता है । वीर, रौद्र आदि की उद्धत ओजःपूर्ण रचना में कर्ण कटु शब्द ओजोव्यंजक हो कर गुण रूप हो जाते हैं ।

(च्युत संस्कृति) यह भी शब्द दोष है । भाषा-नियम या व्याकरण-नियमों के विरुद्ध शब्द का अशुद्ध प्रयोग जहाँ हुआ हो वहां पर च्युत-संस्कृति दोष होता है । व्याकरण के संस्कार से च्युत हुआ शब्द जहाँ प्रयुक्त हुआ हो, वहाँ यह दोष होता है । यथा—

सौन्दर्यता और सौख्यता दोनों भरी हैं प्राण में ।

यहाँ भी सौन्दर्यता सौख्यता व्याकरण विरुद्ध हैं । भाव से भाव प्रत्यय नहीं होता । सुन्दरता या सौन्दर्य और सौख्य प्रयुक्त होने चाहियें । यह नित्य दोष है, सर्वत्र दोष रहेगा ।

(अप्रतीत्व) किसी शास्त्र के पारिभाषिक किन्तु लोक में अप्रचलित शब्द का प्रयोग करने पर अप्रतीत्व दोष होता है । जैसे—

कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहिं करि हैं ।
अष्टमार्ग द्वादश निदान कैसे चित धरि हैं ॥

यहाँ मार्ग और निदान शब्द बौद्ध शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द हैं, जो लोक में अप्रचलित हैं । साधारण लोग इन का अर्थ नहीं समझ सकते ।

किन्तु जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों बौद्ध शास्त्रों के ज्ञाता हों, ऐसे स्थल पर इनका प्रयोग दोष नहीं माना जायगा । अतः यह अनित्य दोष है ।

(अप्रयुक्त) व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी किसी

अप्रचलित या अप्रसिद्ध शब्द का प्रयोग करने पर अप्रयुक्त दोष होता है। यथा—

राजकुल भिक्षाचरण से लगा भरने पेट।

यहाँ इस अर्थ मे भिक्षाटन शब्द ही प्रसिद्ध है। भिक्षाचरण शब्द का प्रयोग इस अ र्थ में प्रायः नहीं होता। अतः अप्रचलित या अप्रयुक्त शब्द का प्रयोग करने से अप्रयुक्त दोष है।

श्लेष, यमक, विरोधाभास आदि अलङ्कारों के स्थल मे अप्रयुक्त शब्दो प्रयोग मे दोष नहीं गिना जाता है।

[अश्लील] जहां ऐसे शब्द का प्रयोग हो, जिससे लज्जाजनक या घृणाजनक अथवा अमङ्गलजनक अ र्थ का सूचन होता हो। यथा—

बादर गरजैं, भीपन बरसैं, घर की छातें चूत हैं।

यहां चूने के अर्थ में चूत शब्द का प्रयोग योनि रूप लज्जावह अर्थ की ध्वनि देता है। और भी—

चोरत है पर उक्ति को जे कवि रहै स्वच्छन्द।
वे उत्सर्ग रु वमन को उपभोगत मतिमन्द॥

यहां उत्सर्ग, वमन शब्द क्रमशः विष्टा और उल्टी रूप घृणार्थ-व्यञ्जक शब्द हैं। ऐसे ही नीचे के—

मधुरता में मरी सी अजान।

मरी शब्द मृत्यु रूप अमङ्गल अर्थ की सूचना देता है। अतः इन सब उदाहरणों में अश्लील दोष है।

[ग्राम्यत्व] ग्राम्यजनों में प्रचलित शब्दो या सीधे ढग का काव्य में प्रयोग करने पर ग्राम्यत्व दोष होता है। यथा—

कैसे कहते हो इस 'दुआर' पर अब से कभी न आऊँ।

यहां 'दुआर', शब्द ग्रामीण हैं। अतः इन ग्रामीण शब्दो का काव्य मे प्रयोग होने से ग्राम्यत्व दोष है। किन्तु जहाँ गांव के व्यक्तियों का ही प्रकरण हो, गांव वाले ही बात चीत कर रहे हों, वहां यह दोष न रह कर उनका चरित्र सूचित करेगा।

—

उत्तमा परीक्षोपयोगी पुष्प - ३

साहित्यरत्न प्रश्नपत्र उत्तरसहित

स० २००२ से २००६ तक

तृतय पत्र



लेखक

श्री सुगण चंद शास्त्री



प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, देहली।

प्रथम सस्करण सं० २००७ मूल्य २||)

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र गुप्त
व्यवस्थापक
रीगल बुक डिपो
नई सड़क, देहली

मुद्रक
श्री ईश्वरचन्द्र गुप्त
स्वतन्त्र भारत प्रेस
देहली।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ३ (संवत् २००२)

(आधुनिक काल—पद्य)

प्रश्न १ अनिवार्य है। शेष किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

१. निम्नलिखित अवतरणों में से चार की व्याख्या कीजिये—

(क) चिर अविचल पर तारक अमन्द !·········वह आत्म और यह जग दर्शन ॥

व्याख्या—पन्त जी की "एक तारा" नामक कविता का अन्तिमांश है। कवि ने शुक्र तारे का वर्णन किया है।

देर से स्थिर, किन्तु तीव्र (तेज चमकने वाला) तारा है ! वह छन्द बन्ध (सृष्टि या लोक की सीमाएँ) नहीं जानता। वह तो अनन्त (आकाश रूपी सागर) का मत्स्य है (तारा नीले समुद्र में अकेला मत्स्य सा दिखाई देता है।) और अपने एकाकीपन के सुख में मस्त है (सायं को शुक्र सबसे पहिले अकेला चमकने लगता है। रात बढ़ने पर फिर तारों से आकाश भर जाता है, किन्तु शुक्र पृथक् सर्वाधिक चमकता रहता है)। वह अपने स्वरूप में चिर से नवीन (कभी पुराना न होने वाला) ही स्थित है। (दीपक की) स्थिर लौ के समान वह अनुपम जगद्-जीवन के अन्धेरे को भेदता है (घुसता है उसमें), वह शुद्ध है, जागरूक (चेतन) है, वह सम (सदैव एकसा रहने वाला—अविकारी) है और वह शुक्र है।

गूंजते हुए भ्रम सा निर्जन और अपार घनान्धकार मीठा लगता है, अकेलेपन की व्यथा का भार कुछ हल्का हो जाता है (घनी काली रात में चमकते शुक्र को देखकर कवि की उक्ति है।) नभ का आगन जग मग जग मग होने लगा, घनी कुन्द की (श्वेत) कलियों (तारों) से लद गया (अन्य तारों से आकाश भर गया)। वह आत्म-दर्शन है और यह जग दर्शन)।

कवि ने संध्या के स्वाभाविक दृश्य का वर्णन किया है। पहिले आकाश में केवल एक तारा चमकता है, जो अकेला, निश्चल, निर्वात दीपशिखा के समान, जगत के अन्धकार को भेदता है। इसे कवि ने आत्म-दर्शन बताया है। आत्मा भी ऐसी ही निर्वात दीपशिखा के समान है। निःसंग दशा में, निर्द्वन्द्व, और ज्ञान-चेतन रूप है, प्रकाशदायक अज्ञानान्धकार में। वह शुद्ध, बुद्ध है सन है एवं शुक्र (बल-अथवा अग्निरूप) और सम रस है। उसको अकेलापन नहीं अखरता। प्राणी अकेला आता है और अकेला जाता है। यह भय या दुःख सदैव प्राणी के हृदय पर भार बना रहता है। उस अकेलेपन के दुःखाभाव का एक स्वरूप तो यह उपर्युक्त आत्म-दर्शन का है। दूसरा रूप जगदर्शन का है। संसार में अपने अकेलेपन को भूलने के लिए ही मनुष्य सांसारिक विस्तार करता है—कुटुम्ब का। इससे उसका अकेला-पन हल्का हो जाता है, जैसे घना, काला और अपार निर्जन अन्धकार भ्रमर को गुंजार के समान मधुर लगने लगता है। संसार की यही फिलासफी या दर्शन है। छायावाद और रहस्यवाद का अत्युत्तम पद्य है। कवि ने जड़ प्रकृति तारे में अपनी ही मानवीय आत्मा के भावों का वर्णन किया है और उसे सजीवरूप दिया है। आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध (प्रकृति–वेष्टित) दोनों दशाओं की ही विशेषताओं की शुक्र में स्थिति दिखाई गई है।

(ख) सद्वस्त्रा, सदलंकृता...... ... .स्त्री जाति रत्नोपमा॥

व्याख्या—प्रिय प्रवास के चतुर्थ सर्ग का पद्य है। राधा का परिचय दिया जा रहा है।

अच्छे वस्त्रों वाली, अच्छे आभूषणों से अलंकृत, गुणवती, सर्वत्र सम्मानित, रोगियों और वृद्धजनों की सेवा में या उपकार में निरत रहने वाली, सत् शास्त्र के अध्ययन, मनन में लगी हुई, सद्भावना में अत्यन्त अनुरक्त (सदाचारिणी), अनन्य हृदय वाली और प्रेम से पालित हुई प्रसन्न मन और मुखवाली राधा स्त्री जाति में रत्न के समान थी।

राधा और उसके गुणों का स्वाभाविक वर्णन है। उसके रूप और सौंदर्य के साथ, विद्या बुद्धि आदि का भी वर्णन है। उपमा अलंकार है।

(ग) शलभ मैं शापमय वर हूं...... ..   ...मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ॥

व्याख्या—महादेवी वर्मा का पद्य है। दीपशिखा (शमा) की शलभ के प्रति उक्ति है। दीप शिखा और पतंगे का प्रेम प्रसिद्ध है। शिखा कहती है—

हे शलभ ! मैं अभिशापमय वरदान हूँ, किसी का निर्दय दीपक हूँ। (स्वयं जलती हूँ,—मेरा जीवन अभिशापमय है—अन्य के लिए वरदान रूप दीपक बनती हूं, किन्तु अपने प्रेमी शलभ को जलाती हूँ, अतः निष्ठुर हूं)। मेरा ताज अग्नि की शिखा है, चिनगारियों का मेरा शृङ्गार है, मैं ज्वाला के कभी न समाप्त होने वाले कोष (खजाना) सी हूँ, और अंगारे मेरी क्रीड़ा-स्थली है। दीपक की शिखा हिलती हुई, क्रीड़ा करती सी प्रतीत होती है। उस समय उसमें से अंगारे से उछलते है)। मैं विनाश में जीवित रही हुई, किसी के हृदय की सुन्दर साध (आकांक्षा) हूँ। (सब नाश होने पर दिल की इच्छायें ही बच रहती हैं। वे सदैव सुन्दर रहती हैं। आदमी उनकी पूर्ति के लिए ही सदैव कार्य-तत्पर होता है। वे सदैव ज्वाला के समान जलती हैं और मनुष्य को शान्ति नहीं लेने देतीं। अतएव शिखा में साध का आरोप बहुत सुन्दर हुआ है)।

तू (शलभ) नयनों में रह, किन्तु (वहां) आंखों की जलती पुतलियां ही आगार (निवास स्थान) होंगी। प्राणों में कैसे (तुम्हें) बसाऊं, वहां तो (तुम्हारी) अग्निसमाधि होगी (तुम जल मरोगे) ? फिर (हे शलभ !) तुम्हे मैं कहां पालू (पालन करू) ? मैं तो मृत्यु का मन्दिर हूँ (मुझमें जो आयेगा जल मरेगा)।

दीप शिखा और शलभ के प्रतीकों से जीवन की गहरी और व्यापक वेदना का बड़ा सुन्दर अभिव्यंजन किया गया है। शमा का जीवन जलने में ही है। कवि भी करुण में ही जीवन समझता है। कवि की इसी निगूढ़ करुण भावना का रहस्यमय प्रतीक-पद्धति में अभिव्यंजन है। छायावाद और रहस्यवाद का सुन्दर उदाहरण है।

(घ) और (ङ) पाठ्य संग्रहों में नहीं हैं। अतः छोड़ दिये है।

(च) बिरह बिथा की कथा ... .दीनी हिचकीन सों ॥

व्याख्या—उद्धवशतक का पद्य है। कविवर रत्नाकर ने, उद्धव को सन्देश देते समय, व्रज-प्रेम से कृष्ण की क्या दशा हुई, इसका वर्णन किया है।

विरह-व्यथा की कहानी महान् अपार और (अतएव) अकथनीय होती है, जिसे प्रवीण सुकवि लोग भी नहीं कह पाते। रत्नाकर कहते हैं, जैसे ही, कृष्ण, व्रजयुवतियों को कहने के लिए (संदेश) उद्धव को समझाने लगे, वैसे ही अचानक उमड़ कर उनका गला भर आया (प्रेमवश) और प्रेम तरल बन कर आंखों की पुतलियों से चू पड़ा (आंसू गिरने लगे प्रेम के)। शब्दों या वचनों से तो थोड़ा ही कहा, किन्तु (अश्रुपूर्ण) आंखों से बहुत कुछ कह दिया और कहने से जो रही सही बात थी, वह हिचकियों से कह दी।

कृष्ण उद्धव को गोपियों के लिए सन्देश दे रहे हैं, किन्तु प्रेमाधिक्य से मुँह से बात नहीं निकलती। गला रुंध गया। आंसुओं ने हृदय की सच्ची दशा व्यक्त कर दी, जो कह नहीं पाये थे। जो शेष रहा कहने को, वह हिचकियों से व्यक्त हो गया। कृष्ण के अपार व्रज-प्रेम का अभिव्यंजन है। विप्रलम्भ के अनुभावों और सचारियों का सुन्दर वर्णन है।

(छ) इस इन्दीवर से गन्ध भरी..... उल्लास सजीव हुआ कितना।

व्याख्या—इस नील कमल से (निकल कर) पुष्प रस (मधु) की धारा सुगन्धिभरी जाली (ताना) बुन रही है (सुगन्धि के परमाणु व्याप्त हो रहे हैं), जो मानो मन रूपी भ्रमर के लिए अनुराग की कारा (जेल) बुन रही है। (भ्रमर कमल में गन्ध से फस जाता है। मन भी ऐसी सुगन्धि की लहरों में फंस जाता है। उत्प्रेक्षा और रूपका का सौन्दर्य व्याप्त है)।

इन परमाणुओं को विश्राम कहां है ? यह क्रियामय (रचना करने वाला) गतिवाला कम्पन (धड़कन और क्रिया-शक्ति) कितना अविराम नाच रहा है ! यह उल्लास (मानसिक उत्फुल्लता) कितना सजीव (जीवनमय) हो उठा है ?

सृष्टि का प्रतिकण गतिवान् है, एक क्षण को भी विश्राम नहीं लेता। प्रतिक्षण नव नव सृष्टि का कर्ता है। यह उल्लासमय है। कामायनी के काम सर्ग का पद्य है। कवि ने सृष्टि रहस्य का संकेत दिया है।

२. "मेरी कल्पनाओं को जिन जिन विचार-धाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सब का समी-करण करने की मैंने चेष्टा की है।" पं० सुमित्रानन्दन पन्त के इस वाक्य के आधार पर आधुनिक कवि (२) में उनकी विचार-धाराओं का स्पष्टी-करण कीजिये।

उत्तर—आधुनिक कवि में जो कविताओं का संग्रह हुआ है, वह पन्त जी की उपर्युक्त पंक्ति के आधार पर हुआ है। पन्त जी की कल्पना ने जिन भिन्न भिन्न पथों का अनुसरण किया है, उन सब की झांकी इस संग्रह में कवि ने दी है। उनके स्वयं के कथन के अनुसार उनका यह संग्रह उनकी कल्पना की विभिन्न दिशाओं का सूचक है। पन्त की कल्पना किन किन कारणों से प्रेरणा पाकर, किन किन मार्गों में से होकर अभिव्यक्त हुई, उस सबका समन्वयात्मक विवरण आधुनिक कवि में दिया गया है। इसको पढ़ कर और पन्त साहित्य को देखकर उपर्युक्त विचार धारा सत्य प्रतीत होने लगती है। कवि सदैव देश और काल से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। संस्कृति का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव किसी भी सत्कविका साहित्य समकालीन विभिन्न प्रेरणाओं और प्रवृत्तिओं का प्रतिनिधित्व उपस्थित करता है। पन्त की कवित्व-शक्ति का विकास भी क्रमिक रूप में, विभिन्न प्रवृत्तिओं और प्रेरणाओं से प्रेरित होकर हुआ है। विभिन्न कालों में कवि के दृष्टिकोण या विचारों में जो भी अन्तर या परिवर्तन आया, उस के अनुसार ही उसकी कल्पना का विकास हुआ। आधुनिक काल अत्यन्त तीव्रगतिक और अखिल-मुख परिवर्तन का युग है, जिसमें सैकड़ों हजारों साल पुरानी आस्थाएं सिद्धान्त और रूढ़ियां उखड़ कर, नव युगीन विचार-धाराओं का जमाव हुआ है। यह काल अनन्त प्रेरणाओं और अनन्त प्रवृत्तियों का काल है। विचार-संघर्ष का काल है। हृदय और मस्तिष्क अथवा भाव और बुद्धि के संघर्ष का काल है, जिसमें कि अन्त में बुद्धिवाद का पल्ला भारी रहता है। पन्त पर अपने और अपने से पहिले युग की विभिन्न विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ा है और उन सबका सामञ्जस्य-पूर्ण अभिव्यंजन उनकी कविताओं में हुआ है। पन्त ने सब में अपने सिद्धांतानुकूल समन्वय स्थापित किया है। पन्त की कल्पना की प्रथम प्रेरक शक्ति प्रकृति है, जिसके मधुर, सूक्ष्म चित्र कवि सदैव उता-

रता आया है। पन्त को प्रकृति का प्रधान कवि माना जाता है, आधुनिक काव्य में। अपने प्रकृति प्रेम के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है"। प्रकृति के सुन्दर और उग्र (परिवर्तन कारी) दोनों ही रूपों का वर्णन किया है, जो समन्वयात्मक हैं। प्रकृति के संहार और सर्जन ये दोनों ही सत्य रूप हैं। इसके पश्चात् उनकी विचार धारा पर स्वा० रामतीर्थ और दर्शन शास्त्र आदि के विचारों और सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक उल्लास और प्रेम के स्थान में उदासीनता या तटस्थता का प्रभाव बढ़ता है। और, जीवन के कटु सत्य का भी अनुभव होता है। प्रकृति के सुन्दर रूप में विनाश छिपा दिखाई देता है। जीवन में मृत्यु दिखाई देती है, संसार असार प्रतीत होता है। पन्त की कल्पना ने इस उदासीनता का अभिव्यंजन किया है—

खोलता उधर जन्म लोचन,
मूंदती उधर मृत्यु क्षण क्षण।
वही मधु ऋतु की गुंजित डाल,
झुकी थी जो यौवन के भार।
अकिंचनता में निज तत्काल,
सिहर उठती—जीवन है भार॥

जीवन भार भूत और सूना सा लगता है—

आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल।
खो देती उरकी वीणा झंकार मधुर जीवन की।

इस दार्शनिक तटस्थ वृत्ति के दर्शनों का अध्ययन प्रतिक्षण अग्नि के समान जलने वाली एक प्रबल जिज्ञासा भी उत्पन्न करता है। उसकी शान्ति पर ही वास्तविक शान्ति मिलती है। वह शान्ति दर्शन शास्त्र एक चरम सत्य के दर्शन करा के करता है। उस सूक्ष्म किन्तु भासमान चरम तथ्य के प्रकाश से जीवन आलोकित हो उठता है, एक विलक्षण आत्म-तोष उत्पन्न हो जाता है। आधुनिक कवि के कवि ने निम्न शब्दों में इस चरम सुन्दर सत्य से शान्ति मांगी है—

जग के उर्वर आंगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण, तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन !

दर्शनवादी बुद्धि-प्रधान इस विचार-धारा का ज्यों ज्यों कवि पर प्रभाव पड़ता गया, त्यों त्यों उसकी कल्पना हृदय से अधिक मस्तिष्क का आश्रय लेने लगी। पहिले काल में कवि स्थूल सौन्दर्य में आसक्त रहता है, उसका रागात्मक तत्व प्रधान रहता है। उस समय कवि स्थूल रूपों के सरस सुन्दर चित्र खींचता है। उत्तरोत्तर कवि दार्शनिक विचार धारा और जीवन के विकास के साथ साथ भावुकता से बुद्धिवाद की ओर बढ़ने लगता है। वृत्ति बहिर्मुखी की अपेक्षा अन्तर्मुखी होती है। कवि सत्य के आदर्श रूप को अपनाता है। प्रेम या अनुराग भी सौन्दर्य-मूलक न रह कर भाव-मूलक और अन्त में ज्ञान-मूलक होता जाता है। बाह्य द्वन्द्वों की अपेक्षा आन्तरिक द्वन्द्वों की अभिव्यंजना होती है। कवि आदर्श कर्म और आदर्श रूप का चित्रण करता है। काव्य में, अनुभूति की तीव्रता और काव्य की कला की कमी होती जाती है। उसके विपरीत दार्शनिकता और चिन्तन की अधिकता होती जाती है।

पन्त समन्वयवादी कवि हैं। अपने समय में जिन प्रवृत्तियों से भी वे प्रभावित हुए, उन सबका समन्वय ही पन्त में मिलता है। अनेकता में एकता देखना ही कवि का सन्देश है। कवि पर आध्यात्मिक और भौतिक दोनों दर्शनों का समुचित प्रभाव पड़ा है। पन्त दोनों में कोई भेद नहीं समझते। जहां आध्यात्मिक दर्शन उस मूल भूत सृष्टि तत्व को समझाता है, अनेकता में एकता का सिद्धान्त बताता है, वहाँ भौतिक दर्शन भी यही कार्य करता है। उसका आधार भी यही आत्मवत् सर्व भूतेषु का व्यावहारिक सिद्धान्त ही है। अत. पन्त जी ने इन दोनों का समन्वय स्थापित किया है और दोनों का सांस्कृतिक लोक-मंगल रूप ही ग्रहण किया है। द्विवेदी काल की प्रतिक्रिया रूप जब सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रण की शैली का विकास होता है, तो पन्त ने छाया वादी कविता की। किन्तु आन्दोलन और क्रान्ति काल की छाया भी उनकी कविता में मिलती है। बाद में युद्ध के बाद नवीन बुद्धिवाद या भौतिक वाद का उनपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। प्रगति-वाद के रूप में उनके

समाजवादी विचार भी अभिव्यक्त हुए। किन्तु इस समाजवादी धारा में भी आध्यात्मिकता निहित है। वे समाजवादी व्यवस्था की लोक-मंगल की भावना का आदर करते हैं, किन्तु साथ ही उसकी निरीश्वर-वाद की कठोरता या शुष्कता को नहीं मानते। अतएव वे भौतिकता और आध्यात्मिकता, दोनों के समन्वय में लोक-जीवन के भावी मंगल के दर्शन करते हैं। उनकी आध्यात्मिकता निष्क्रिय या निश्चेष्ट नहीं हैं। अपितु वह आदर्श कर्म की प्रेरणा देती है। उनकी आत्मा भौतिकता या मानव मन का पूर्ण विकसित रूप ही है, वहां भौतिकता का तिरस्कार नहीं किया गया है। देखिये निम्न में अध्यात्मवाद और भूतवाद का कैसा समन्वय है—

वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रजतन प्राणिवाद जिसका मन।
औ अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरंतन।

इसी समन्वय में पन्त जीवन का पूर्ण विकास देखते हैं। पन्त की विचार-धारा में इसी लिए, व्यक्ति और समष्टि, अन्दर बाहर, आत्मा और जगत्, ज्ञान विज्ञान और सामन्त युगीन भावुकता, इन सबका समन्वय है।

ब्रम्हज्ञान रे ! विद्या भूतों का एकत्व समन्वय।
भौतिकज्ञान अविद्या बहुमुख एक सत्य का परिचय

इसी को कवि चिरन्तन सत्य मानता है। यह समन्वय ही शान्ति का दाता है। मनुष्य इसीलिए दु:ख पाता है कि वह बाहर ही भूला हुआ है और अन्दर का ज्ञान नहीं रखता। इसी बाह्य अन्तर के समन्वय के अभाव में जीवन दु:खी है—

बहिर्चेतना जागृत जग में अन्तर् मानव निद्रित।
बाह्य परिस्थितियां जीवित, अन्तर् जीवन मूर्छित मृत।

पन्त का यही विश्व का समष्टिगत जीवन आदर्श रहा है—

मानवीय एकता जाति—गत मन में करनी स्थापित
मनः स्वर्ग की किरणों से मानव-मुख-श्री कर मंडित।

समाजवादी प्रगतिवाद में भी वे आध्यात्मिक उत्कर्ष चाहते हैं। आगामी युग में वे आत्मिक उत्कर्ष भी देखना चाहते हैं—

नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण में,

आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में। आदि।

क्योंकि आत्मिक उत्कर्ष शून्य जीवन में शान्ति नहीं, न मंगल ही है। इसी सब को पन्त ने अपनी कल्पना की प्रेरक विचार-धाराओं का समीकरण कहा है।

प्रश्न—महा काव्य के दृष्टि-कोण से प्रिय प्रवास की आलोचना कीजिये और उसके गुण दोषों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर—उपाध्याय जी के कथनानुसार उन्होंने यह काव्य महाकाव्य की शैली और पद्धति में लिखा है। महाकाव्य के शास्त्रीय रूप की प्रतिष्ठा उपाध्याय जी ने यथा-शक्य पूर्णतया की है। नायक नायिका, अलौकिक या गुण-सम्पन्न कृष्ण और राधा हैं, जो सर्व प्रिय हैं। १७ सर्ग हैं, जिनमें प्रथम सात सर्गों में कृष्ण के जन्म, बाल क्रीड़ा, रेंगने, गोद में खेलने आदि का वर्णन है। फिर, कालिय नाग, दावानलपान, गोवर्धन धारण, असुर-मारण आदि वीर कृत्यों का भी वर्णन हुआ है। अन्तिम दश सर्गों में कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् के व्रज विरह का वर्णन है, जिसमें कृष्ण के युवाकाल की अनेक घटनाओं का भी क्रम-शून्य वर्णन है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कृष्ण आदि सभी पात्रों का लौकिक रूप में चित्रण हुआ है। कृष्ण महापुरुष हैं, लोक-सेवा जिनका प्रथम कर्तव्य है। राधा भी पढ़ी लिखी सुशिक्षिता बाला है, ग्रामीण नहीं। नन्द, नन्दरानी, गोप ग्वाले, गोपियों आदि के चित्र चित्रित किये गये हैं। साथ ही, मथुरा, प्रकृति—नदी, तालाब, यमुना, ऋतु, दिन रात, वन वृक्षलता आदि का भी वर्णन महाकाव्य की शैली के निर्वाह के लिए हुआ है। महाकाव्यों के ही ढंग में इसमें शृंगार और करुण दो रस प्रमुख हैं—जिनमें शृंगार प्रधान है। अन्य रस भी शैली-निर्वाहार्थ आये हैं। महाकाव्य के ही ढंग में प्रिय प्रवास में विभिन्न सात वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है, जो मालिनी, मन्दा क्रान्ता, वंशस्थ, बसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी हैं। पद्य-रचना अतुकान्त है। भाषा अलंकृत, संस्कृत-बहुला, संगीत-पूर्ण और वशवर्तिनी है। इस प्रकार

उपाध्याय जी ने प्रिय प्रवास को महाकाव्य के अनेक लक्षणों से युक्त बनाकर लिखा है :

किन्तु, महाकाव्य के उपयुक्त लक्षण होने पर भी प्रिय प्रवास महाकाव्य नहीं है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है, इस काव्य में मुख्यतः कृष्ण-प्रवास का ही वर्णन है, कृष्ण के प्रवास में व्रज जनों की विरह में क्या दशा हुई, इसी को प्रधानतया चित्रित करना कवि का मुख्य उद्देश्य है। इसीलिए कथा का निर्माण और विकास उचित प्रवन्ध काव्य के ढंग का नहीं है। कथा-प्रवाह ७ वें सर्ग में जाकर बन्द हो जाता है। आगे केवल विरह-वर्णन चलता है। कृष्ण के युवा काल की जिन क्रियाओं या घटनाओं का वर्णन इस विरह-वर्णन में हुआ है, वह अक्रमिक है, पहिले होना चाहिये था। यहां वह विरह के अंग रूप में आया है, अतः कथा क्रम में नहीं आता। कथा के विकास में उसको अग्रसर या पुष्ट करने वाला नहीं है। विरह को छोड़कर कृष्ण के अन्य चरित्र का कवि ने वस्तुतः स्वयं वर्णन किया है, उसका स्वाभाविक विकास नहीं दिखाया। इतना कवि के पास स्थल ही नहीं था। अतएव कथा अविकसित है और उसमें गठन, विकास और स्वाभाविक क्रम नहीं है।

कथा के इस अविकसित और प्रवन्ध काव्य के अननुरूप रूप को देखते हुए प्रिय प्रवास महाकाव्य नहीं कहला सकता, हां उपाध्याय जी के स्वयं के शब्दों में 'महाकाव्याभास' वेशक कहा जा सकता है। श्री आचार्य शुक्ल जी के मत में " इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रवन्ध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अत. प्रवन्ध काव्य के इसमें सब अवयव कहां आ सकते ? " परम्परा—पालन के लिए जो दृश्य वर्णन हैं, वे किसी बगीचे में लगे हुए पेड पौधों के नाम गिनाने के समान है।'

प्रश्न—छायावाद से क्या तात्पर्य है ? श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं में छायावाद की कौनसी विशेषताएं वर्तमान हैं ?

उत्तर—छायावाद के, अभी तक, साहित्य में अनेक व्याख्यान किए गए हैं। आचार्यों, आलोचकों और स्वयं छायावादी कवियों ने इस वाद की विभिन्न व्याख्याएं की हैं। अतः इस शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद अभी भी शान्त नहीं हुआ है। छायावाद के साथ में दूसरा शब्द रहस्यवाद

एक ऐसा प्रचलित है कि दोनों के विषय में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कुछ विद्वान् छायावाद और रहस्यवाद में भेद नहीं देखते और कुछ दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं।

छायावाद वस्तुतः सौंदर्य-चित्रण की भावात्मक और प्रतीकात्मक उस शैली का नाम है, जिसमें कवि आत्मा या परमात्मा की सूक्ष्म और गहन अनुभूतियों का चित्रात्मक अभिव्यंजन करता है। इस शैली का उदय द्विवेदी काल की इति-वृत्तात्मकता और स्थूल सौन्दर्य-वर्णनात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतएव उसमें स्थूल वस्तु सौन्दर्य की उपेक्षा करके, उसके सूक्ष्म भावात्मक सौन्दर्य का चित्रण हुआ और इति-वृत्तात्मकता की अपेक्षा भावों या अनुभूतियों का चित्रण हुआ। कवि ने स्थूल प्रकृति के सूक्ष्म भावमय रूपों के सौन्दर्य का चित्रण किया। प्रकृति में या तो उन्होंने आत्मा की छाया देखी और या अपने भावों को ही प्रकृति का रूपरंग देकर साकार रूप में चित्रण किया। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का भी अनुभव किया। ये कवि साधारण भाषा को अपने ऐसे सूक्ष्म चित्रों के लिए असमर्थ पाकर प्रतीक-पद्धति का आश्रय लेते हैं। इन संकेतमूलक प्रतीकों भावचित्रों-के द्वारा वे परोक्ष सूक्ष्म अनुभूतियों और भावनाओं का सुन्दर चित्र बना देते हैं। वस्तु-वर्णन के लिहाज से वे चित्र अपूर्ण से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें भावनाओं के व्यंग्य-मूलक साकार चित्र होते हैं। कवि अपनी कोमल कल्पना का रंग देकर उस भावमय सूक्ष्म संसार के ऐसे मधुर और साकार चित्र उतारता है, जो स्थूल सौन्दर्य चित्रण की पूर्णता से कहीं अधिक पूर्ण होते हैं। इस दृष्टि से छायावाद सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रण की एक प्रतीकात्मक काव्य-शैली का नाम होता है, जो अत्यन्त भावमय, अत्यन्त कोमल, कल्पना-मय, और अत्यन्त संगीतमय होती है।

विषय या वर्ण्य-भेद से इसकी दो सीमाएं बांध ली जाती हैं। एक वह सीमा है, जिसमें कवि अपनी व्यक्ति गत सीमा में रहता है और अपनी आत्मा का ही सृष्टि में अनुभव करता है। सृष्टि के स्थूल रूप का आधार कवि लेता है, किन्तु उसका चित्रण वह उस स्थूल रूप में न कर के, उसके सूक्ष्म भावात्मक रूप का चित्रण करता है, जिसमें कवि की अपनी व्यक्तिगत

भावनाओं का रंग भी चढ़ा होता है। कवि सृष्टि के रूपों को ग्रहण करके, उन्हें अपनी भावनाओं में रंग कर, सूक्ष्म रूप में चित्रित करता है, उस चित्रण में कवि की आत्मा की छाया झलकती है। इसमें कवि की व्यक्तिगत सत्ता प्रधान रहती है। दूसरी सीमा में कवि अपने व्यक्तित्व को भूल कर अनन्त परमात्मा की चिर सत्ता का अनुभव करता है। उसे अपने में और सृष्टि में सर्वत्र अपने उसी अनन्त प्रेमराशि का अनुभव होता है। यहां उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है और वह समष्टि-सत्ता का अनुभव करता है। इन दोनों ही सीमाओं के दो नाम मान लिए गए हैं। ऐसी व्यक्तित्व-मूलक प्रथम प्रकार की रचनाएं छायावाद कहलाईं और दूसरी आध्यात्मिक परमात्म-अनुभूति-मूलक समष्टि-प्रधान रचनाएं रहस्य वाद के अन्तर्गत आईं।

इस वाद का विकास हिन्दी पर अंग्रेजी और बंगला साहित्य के प्रभाव के कारण हुआ। बंगला में प्रचलित ब्रह्म समाज की उपासना-पद्धति ऐसी ही प्रतीकोपासना सी है। उसकी उपासना-गीतिकाओं में इसी प्रकार का प्रतीकमय वर्णन अलौकिक सत्ता के विविध अप्रत्यक्ष रूपों का किया जाता है। उनके प्रतीक उस अनन्त प्रेममय के सौन्दर्य की एक झांकी लेने के लिए झरोखे हैं जिनसे उसका धुंधला सा दर्शन हो सकता है। उस स्वल्प साक्षात्कार के समय उनकी 'हाल' की दशा हो जाती है। ब्रम्ह समाज के ऐसे भाव-दृश्यों को छाया-दृश्य कहा जाता है। इन्हीं की देखादेखी और इन्हीं के अनुकरण और ढंग पर साहित्य में भी जो कविताएं बनीं, उन्हें भी छाया काव्य कहा गया। हिन्दी में भी इस शब्द के प्रयोग का यही निमित्त है। रवि बाबू ने इस छाया-चित्र वाली शैली का विशेष उन्नयन किया और उनका हिन्दी साहित्य पर भी अमित प्रभाव पड़ा है। अतः हिन्दी में य, शैली विकसित हुई।

आचार्य शुक्ल जी छाया वाद को एक शैली-विशेष का नाम मानते हैं। उनके मत से उस शैली में जहां सृष्टि के रहस्य-भूत परम तत्व का वर्णन होगा, वहां उसका नाम रहस्यवाद होगा और जब केवल उस प्रकार की प्रतीकात्मक चित्रण-पद्धति का ही अर्थ अभिप्रेत होगा, तो उसका छायावाद नाम होगा।

"छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण सत्ता की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।"—गंगा प्रसाद पाण्डेय।

डा० राम कुमार वर्मा ने छायावाद को रहस्यवाद का ही एक अंग माना है। उनके मत से छाया वाद रहस्यवाद की वह अन्तिम परमानन्दमय दशा है, जहाँ आत्मा परमात्मा में भेद नहीं रहता, तद्रूपता आ जाती है, "परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में, यही छाया वाद है।"

श्रीमती महादेवी ने कहा है, "छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।"

प्रसाद जी ने "उसमें अर्थ की वक्रता से आनेवाली छाया (कान्ति) की प्रतिष्ठा हुई है" इसलिए उसे छायावाद कहा है।

पन्त ने कहा है, "क्योंकि उसके प्राकृतिक चित्रणों में कवि की अपनी भावनाओं के सौंदर्य की और भावनाओं मे प्रकृति-सौंदर्य की छाया है।"

ये सब छायावाद की ही विविध विशेषताओं की प्रतिपादक व्याख्याएं हैं। इनका सिद्धान्त-सार ऊपर आ चुका है।

श्रीमती महादेवी में छाया-वाद की पूर्ण विशेषताएं मिलती हैं। आचार्य शुक्ल जी की बताई छायावाद की दोनों विशेषताएं—वस्तु या वर्ण्य की और शैली की—पूर्णतया उपलब्ध हैं। महादेवी ने अपने अज्ञात प्रियतम का सृष्टि में दर्शन किया है। उनकी रति का आलम्बन अलक्ष्य अलौकिक प्रियतम है। उसी परमतत्व के दिव्य सौन्दर्य का दर्शन सृष्टि में उन्हें हुआ है। शैली भी उनकी, प्रतीकात्मक, चित्रमय, लक्षक व्यंजक प्रयोगों से भरी छायावाद की है। दूसरे रूप में भी, उनकी कविताओं में व्यष्टि और समष्टिगत दोनों प्रकार की अनुभूतियों के दर्शन होते हैं। अतः प्रत्येक रूप से महादेवी में छायावाद की पूर्ण विशेषताएं मिलती हैं।

प्रधानतया छायावाद की ये विशेषताएं होती हैं—भावमयता—छायावाद की कविता इति-वृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के स्वरूप मे केवल सूक्ष्म-चित्रण की प्रणाली है। स्थूल वर्णन को छोड़कर सूक्ष्म भावात्मक

वर्णन की प्रधानता होना, इसकी प्रथम विशेषता है। महादेवी के काव्य में भाव की गम्भीरता, सूक्ष्मता, विशदता और व्यापकता पूर्णतया उपलब्ध हैं। प्रकृति—छायावाद में प्रकृति का सजीव वर्णन होता है। कवि प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको मानव के समान चेतन समझता है और उसमें मानवीय भावनाओं का वर्णन करता है अथवा उसे अपनी आत्मा या भावनाओं का रङ्ग देकर चित्रित करता है। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता के प्रति उसके हृदय में अनुराग है। वह उसको मानवी के समान वर्णित करता है और उसे विविध मानवीय मनोविकारों से युक्त दिखाता है। महादेवी की कृतियों में प्रकृतिवाद का यही रूप वर्णित हुआ है, जो प्रकृति और मानव मन के सामञ्जस्य को साकार रूप प्रदान करता है। महादेवी के अपने ही शब्दों में, "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रति-बिम्ब के रूप में चला आता था।"

व्यक्तिगतता भी छायावाद की प्रमुख विशेषता है। कवि की व्यक्तिगत अनुभूति की ही उसमें प्रधानता रहती है। महादेवी की कविताओं की मीरां की कविताओं के समान ही यह व्यक्तिगतता प्रधान विशेषता है।

छायावाद की अन्य विशेषता शृङ्गार भावना भी महादेवी की कविता में उक्त शैली की ही है। यह शृङ्गार भावना दो रूपों में अभिव्यक्त होती है। कहीं कवि प्रकृति में नारीत्व का आरोप कर उसकी रस-क्रीड़ाओं का वर्णन करता है। कहीं किसी स्थूल पदार्थ के सौन्दर्य का वर्णन न कर नवीन कल्पना लोक का निर्माण कर, उसमें अपनी भावनाओं के रूप-चित्रों के सौन्दर्य और शृङ्गार का वर्णन करता है। कल्पित प्रिय की वास्तविक अनुभूति की जाती है। यह प्रवृत्ति वस्तुत रीतिकालीन स्थूल शृङ्गार के कुत्सित वर्णन की प्रतिक्रिया-स्वरूप उदित हुई थी। अतएव इसमें वस्तुओं के सूक्ष्म भावमय रूपों के सौन्दर्य और शृङ्गार का वर्णन हुआ है। छायावाद ने विश्व-जीवन के चिरन्तन सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रों का अपनी भावनाओं से अनुप्राणित करके सजीव प्रत्यक्षवत् रूप में चित्रण किया है। श्री महादेवी की कविता में भी इसी पद्धति का अनुपालन है।

छायावादी काव्य में रस शृङ्गार, करुण और शान्त होते हैं। इन सभी की स्थिति महादेवी-काव्य में मिलती है। अवश्य ही उनमें करुणा प्रधान है।

कल्पना भी छायावाद की शैली की मुख्य विशेषता है। महादेवी के काव्य में भी कल्पना का ही साम्राज्य है। देवी जी प्रत्यक्ष जगत् से मुक्त होकर सदैव उसी कल्पना-लोक में विचरती हैं, अपने काव्य में। महादेवी की कल्पना समर्थ है, सुन्दर है और गहन है, जो कहीं कहीं गहन दार्शनिकता में पड़कर साधारण बोध-गम्य नहीं रहती।

प्रतीक-पद्धति या प्रतीकवाद, छायावादी शैली की अन्य प्रमुखतम विशेषता है, जिसका आश्रयण महादेवी की कविता में सर्वत्र हुआ है। छायावादी कवि इन छोटे छोटे किन्तु अत्यन्त अभिव्यञ्जना-शील रूपचित्रों या प्रतीकों की सहायता से अपने अलक्ष्य विषय का साकार रूप खड़ा कर देता है। उल्लास के लिए उषा, प्रफुल्लता के लिए मुकुल और सौन्दर्य-स्निग्धता के लिए चांदनी आदि का प्रयोग प्रतीक-पद्धति में कवि करता है। महादेवी का भी आश्रय यही पद्धति है।

अन्य शैली-गत विशेषता वस्तुओं का मूर्तामूर्तविधान है—अर्थात् निराकार वस्तु का साकार रूप में और साकार वस्तु का निराकार रूप में वर्णन करना मूर्तामूर्त विधान है। प्रायः छायावादी भावनाओं को साकार रूप में और स्थूल को सूक्ष्म-रूप में वर्णित किया करते हैं। देवी जी की कविता में भी यही विशेषता है।

मानवी-करण भी इस शैली की एक विशेषता है। कवि प्रकृति को मानवी के रूप में चित्रित करता है। अथवा, भावनाओं का स्त्री-पुरुष रूप मे चित्रण करता है। महादेवी-काव्य में यह विशेषता मिलती है।

लाक्षणिक प्रयोग भी छायावादी कवि करता है—गान का सिसकना, वेदना का कसकना और अभिलाषा का करवट लेना आदि ऐसे ही लाक्षणिक प्रयोग हैं। महादेवी ने भी लाक्षणिक प्रयोगों का आश्रय लिया है।

छन्द भी प्राचीन छन्द-परिपाटी से स्वतंत्र हैं। महादेवी ने भी प्राचीन रूढ़िगत छन्दों की सीमित परिधि से निकलकर नवीन उद्भावनाओं में काव्य-रचना की है, जैसी कि छायावाद की शैली की विशेषता है।

आध्यात्मिक प्रिय को आलम्बन मानकर उसकी अनुभूति महादेवी के काव्य की अन्य प्रमुख विशेषता है। छायावाद की शैली का आन्तरिक तत्व (वर्ण्यविषय) कहा जाय अथवा रहस्यवाद, यह विशेषतया तो महादेवी के काव्य में विशेषरूप में उपलब्ध है। एक दो उदाहरण—

प्रिय मेरा निशीथ नीरवता में आता चुपचाप।
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पद-चाप॥

❀ ❀ ❀ ❀

विरह का जल-जात जीवन विरह का जल-जात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात॥

❀ ❀ ❀ ❀

मुस्कराता संकेत भरा नभ अलि! क्या प्रिय आने वाले हैं?

× × × ×

क्या पूजन क्या अर्चन रे!
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!

भाव, कल्पना और सूक्ष्मानुभूति इन तीनों ही छायावाद की प्रमुख विशेषताओं की पूर्ण सत्ता, उपर्युक्त आधार पर, महादेवी के काव्य में मिलती हैं। अनुभूति और कल्पना कहीं कहीं शुष्क दार्शनिकता या विचारात्मकता के कारण जटिल हो गई हैं, किन्तु तो भी ये दोनों ही महादेवी-काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं, जिनमें अनुभूति की प्रधानता है। महादेवी की अनुभूति मीरा की अनुभूति के समान, गहन है, अनन्त है, सत्य है और व्यक्ति-गत भी है, अतएव उसमें इतना माधुर्य और संगीत है।

इस प्रकार, छायावाद की ये उपर्युक्त सभी विशेषताएं महादेवी के काव्य में मिलती हैं।

५. द्वापर में पात्रों के जो रेखा-चित्र उपस्थित किये गये हैं, उनमें सर्व-श्रेष्ठ रेखा-चित्र किस पात्र का है ? यथा सभव उदाहरण भी दीजिये।

उत्तर—यह पुस्तक परीक्षा में नहीं है।

६ श्री जगन्नाथदास रत्नाकर और पण्डित सत्यनारायण कवि-रत्न की काव्य शैली की तुलना कीजिये और लिखिये कि व्रजभाषा-काव्य की दृष्टि मे आप उन दोनों में से किसे अधिक महत्व देते हैं।

उत्तर—उपर्युक्त दोनों ही कवियों का आधुनिक काल के व्रजभाषा साहित्य में अत्यन्त ऊँचा स्थान माना गया है। ये दोनों ही व्रजभाषा के अनन्य प्रेमी हैं, जिन्होंने खड़ी बोली का इतना प्रचार हो जाने पर भी, व्रजभाषा में ही रचना की। दोनों का अपने काव्य की भाषा पर पूरा अधिकार था। दोनों भावुक कवि थे, कृष्ण-भक्त।

किन्तु, कविरत्न जी अधिकतया व्रज मे रहे थे, अतः उनकी भाषा अधिकतया बोलचाल की भाषा है। उसमे ठेठ व्रज की बोलचाल की क्रियाओं आदि का भी प्रयोग है, जो कि साहित्यिक व्रजभाषा में नहीं होता। साहित्यिक व्रजभाषा में ठेठ व्रजभाषा का ग्रहण नहीं किया गया। उसमें अपनी साहित्यिक सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली भिन्न विशेषताएं भी होती हैं। कविरत्न जी ने व्रजभाषा के ठेठ रूप को ही साहित्यिक सामग्री से सजाया है। अतएव उसमें ठेठ व्रज के शब्दों और क्रियाओं आदि से अनेक स्थानों पर दुर्बोधता भी आजाती है। वे क्रियाएं आदि प्रदेश-विशेष में ही प्रचलित हैं। रत्नाकरजी की भाषा शुद्ध और साहित्यिक व्रजभाषा है, जिसमें एक निश्चित व्याकरण-नियम के आधीन होकर वे चले हैं। इनका आदर्श प्राचीन साहित्यिक-बिहारी-कालीन-व्रजभाषा है। ये वैसी ही सरस कला-पूर्ण और साहित्यिक भाषा के लिखने में सफल भी हुए हैं।

कविरत्न जी की सब रचनाएं प्रायः मुक्तक हैं। कोई मौलिक प्रबन्ध-काव्य उन्होंने नहीं लिखा। उन्होंने विभिन्न विषयों पर, समयानुसार, कुछ जल्दी में भी, अनेक फुटकल कविताएं लिखीं। स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू आदि कविताएं ऐसी ही सामयिक विषयों य।

प्रसंगों पर रची गई रचनाएं हैं। इनकी अधिकांश मुक्तक मौलिक रचनाएं ऐसे ही सामयिक विषयों पर लिखी हुई रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त जो इन्होंने अन्य मौलिक काव्य रचनाएं कीं, उनमें "अमरदूत और प्रेम कली", विशेष प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्र जहां कविरत्न जी की काव्य-प्रतिभा ने विकास प्राप्त किया है, संस्कृत नाटकों के अनुवाद का क्षेत्र है। उन्होंने भवभूति के दो नाटकों का—उत्तर रामचरित और मालती माधव—का अनुवाद किया है। मूल संस्कृत श्लोकों के अनुवाद रूप में बड़े सुन्दर सवैये रखे है। इनकी भाषा ब्रज भाषा है और बनावट बहुत सुन्दर है। किन्तु मूल भावों की रक्षा में उनकी शैली अनेक स्थानों पर क्लिष्ट, हठा-कृष्ट सी भी हो गई है। अनुवाद में कवि की प्रतिभा को और भी अधिक कष्ट उठाना पड़ता है, क्लिष्ट कल्पना भी करनी पड़ती है। कवित्व के पूर्ण विकास के लिए भी क्षेत्र बहुत संकुचित होता है। इन कारणों से इनका पद्यानुवाद कहीं कहीं दुरूह हो गया है। कहीं कहीं अर्थ भी अस्पष्ट, अपूर्ण रहता है। तो भी ये सफल अनुवादक माने गए हैं। इस प्रकार, ऐसा क्षेत्र इनका बहुत सीमित और थोड़ा हैं जहां इनकी कवि—प्रतिभा को पूर्ण विकास का अवसर मिला हो।

इधर रत्नाकर जी प्रधानतया मौलिक रचना करने वाले हैं। इन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में रचना की है, जो उत्कृष्ट कोटि की है। इनकी कवि-प्रतिभा का स्वच्छन्द विकास हुआ है। इन्होंने मानव मन के विविध भावों के चित्र उतारे हैं। शृंगार लहरी में इन्होंने शृंगार-वर्णन किया है। उद्धवशतक कवित्तबद्ध एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें विप्रलंभ का पूर्ण परिपाक है। वीर रस का भी इन्होंने वीराष्टक लिखा है।

इस प्रकार, सत्यनारायण कविरत्न से रत्नाकर का काव्य-क्षेत्र विस्तृत है, भाव जगत् भी विस्तृत है, और विषय क्षेत्र भी विस्तृत है। कवि-रत्न जी की कविताएं अधिकतया भक्ति रस की है, किन्तु रत्नाकर जी ने अन्य रसों का भी वर्णन किया है। उनकी काव्य कला अधिक परिमार्जित है, सुन्दर है और अधिकृत है। उनके छन्दो-विधान, भाव विधान और कला विधान किसी में भी कमी नहीं। इनके वर्ण्य चित्र-मय सजीव होते हैं। प्रकृति-वर्णन भी इनका अत्यन्त सुन्दर है।

इनकी शैली में या भाषा मे क्लिष्टता या दुरूहता नहीं आई है। वह परम सुन्दर और भाव-मय है। भाषा में मुहावरो का प्रयोग रत्नाकर की प्रधान विशेषता है, जिससे भाषा में प्रभावोत्पादकता दुगनी हो जाती है। भाषा और कवित्व दोनों की दृष्टि से रत्नाकर व्रज भाषा के सर्वोच्च कवियों में स्थान पाते हैं। इस प्रकार कवि-रत्न जी की अपेक्षा रत्नाकर जी की शैली अधिक परिष्कृत, अधिक भावमय, अधिक काव्य कला पूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक है। कवि-रत्न जी की शैली में जहां दुरूहता, क्लिष्टता भी मिलती है, वहां इनकी शैली प्रौढ़, मधुर और संगीत मय है। उसमे रस-प्रवाह और भाववेग अधिक है। कविरत्न जी की शैली अधिकतया वर्णनात्मक ही रही है। भावात्मक नहीं। रत्नाकर जी ने दोनों का प्रयोग किया है। कवि रत्न जी का एक पद्य—

सब ओर जितै तित देखत हैं दृग मोहनी मूरति भाइ रही।
चहुँ बाहर औ उर अन्तर में यहु रूप अनूप दिखाइ रही।
आदि मालती माधव)

बिलखाती, सनेह पुलकाती जसुमति माई।
स्याम विरह अकुलाती पाती कबहुं न पाई॥
आदि (भ्रमर दूत)

रत्नाकर जी का एक पद्यांश—

जोगिनी की भोगिनी की विकल वियोगिनी की।
जग में जागती जमातें रह जायंगी॥
कहै रतनाकर न सुख के रहे जो दिन।
तो ये दुख द्वन्द्व की न रातें रह जायंगी॥
प्रेम नेम छाडि ज्ञान छेम जो बतावत सो।
भीति ही नहीं तो कहा छातैं रह जायगी॥
घातैं रहि जायंगी न कान्ह की कृपा तैं इती।
ऊधौ कहिवे को बस बातें रह जायंगी॥

भाषा कितनी मधुर, भाव पूर्ण और सरल है! शैली में काव्य-सौन्दर्य के साथ संगीत, और स्वाभाविकता है।

उझकि उझकि पदकंजनि के पंजनि पैं।
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै गई॥ आदि

भाषा भाव और काव्य का कैसा सौन्दर्य है! एक वीर-वर्णन देखिए —

वीर अभिमन्यु की लपालप कृपान वक्र।
सक्र असनी लौं चक्रव्यूह माहिं चमकी॥ आदि

अत एव इन कारणों से रत्नाकर जी की काव्य शैली अधिक स्तुत्य और प्रशस्य है।

७ कामायनी मनोवैज्ञानिक सकेतों का एक वृहत् संकलन मात्र है। क्या आप इस मत से सहमत हैं?

उत्तर—कामायनी मनोवैज्ञानिक सकेतों का एक वृहत सकलन मात्र नहीं, अपितु एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक महाकाव्य है, जिसमें ऐतिहासिक कथा भी उसी प्रकार मिली है, जिस प्रकार कि अध्यात्म-निरूपण। कामायनी का कथानक अत्यन्त प्राचीन पौराणिक इतिहास है। इतना प्राचीन इतिहास है कि कालान्तर में इसमें आध्यात्यिक वृत्तियों का आरोप होगया। प्रसाद ने भी अपने काव्य का इस इतिहास और रूपक—दोनों—को आधार बनाया। कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य भी है, क्योंकि उसमें इतिहास के आदिम पुरुष मनु के अखण्ड जीवन का वर्णन हुआ है। किन्तु साथ ही यह एक आध्यात्मिक महाकाव्य भी है, क्योंकि प्रारम्भ से अन्त तक आध्यात्मिक वृत्तियो का पूरा रूपक चलता है। मनु श्रद्धा और इड़ा मन, श्रद्धा और बुद्धि के प्रतीक हैं। कामायनी में मुख्यतः इन तीन पात्रों अथवा मुख्य मानसिक वृत्तियों के विकास आदि का वर्णन है। इन्हीं के साथ कवि ने चिन्ता, आशा, काम, वासना वृत्तियों का भी निरूपण किया है। ज्ञान इच्छा और कर्म के भी स्वरूप को रहस्यमय रूपमें बताया गया है। किन्तु यह सब रूपक काव्य में अधिकत्र व्यग्य रहता है। नहीं तो प्रमुखतया कवि का ऐतिहासिक वर्णन ही अबाधतया प्रकरणानुसार चलता रहता है। साथ साथ यह उपर्युक्त आध्यात्मिक रूपक भी स्पष्ट होता रहता है। कवि उस के लिए सदैव सचेष्ट रहता है।

परन्तु, इस उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक रूपक का आधार लेकर कामायनी को मनोवैज्ञानिक संकेतों का संकलन-मात्र कह देना, समझ का दिवाला दिखाना ही है। कामायनी अत्यन्त भाव-पूर्ण और सरस काव्य है। इतना सरस काव्य है कि कोई कोई तो उसके शृंगार वर्णन में अश्लीलता का दोष भी लगाने लगते हैं। वर्णन अत्यन्त सरस, चित्रमय, अभिव्यंजनात्मक और मधुर हैं। प्रसाद जी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनमें जितनी दार्शनिकता थी, उतनी ही भावुकता भी। अतएव कामायनी के भावपूर्ण और दार्शनिक दोनों ही स्थल पूर्ण बने हैं। प्रसाद ने दोनों का अद्भुत सामञ्जस्य उपस्थित किया है। मनोवैज्ञानिकता या दार्शनिकता के कारण कहीं शुष्कता नहीं आती, अपितु कवि की अनन्त शक्तिमता विधायक कल्पना के रस में डूबकर दार्शनिकता ही स्वयं रसपूर्ण हो जाती है। प्रारंभिक सर्ग में ही प्रकृति का कितना सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन है। हिमालय का चित्र उपस्थित हो जाता है सामने। फिर मानसिक चिन्ताओं, आशाओं का उदय भी कैसा स्वाभाविक दिखाया गया है! देवताओं का विलास-वर्णन रस वर्षा है। शृंगार के सयोग रूप का काम, वासना और लज्जा सर्गों में कैसा प्रवाह बह गया है! क्या वहां भी 'संकलन मात्र' है? श्रद्धा के रूप स्वभाव गुण आदि का विशद चित्रण हुआ है। यही इडा के बारे में भी। द्वेष ईर्षा आदि का भी ऐसा ही चित्रण हुआ है। जीवन का कोई भी मार्मिक पक्ष नहीं छोड़ा गया—राजनैतिक पक्ष तक वर्तमान है। क्या ऐसे काव्य को मनोवैज्ञानिक संकेतों का संकलन बताया जा सकता है? कवि के अपने ही शब्दों में, उसे ऐतिहासिक रूप ही काव्य का अधिक इष्ट है, रूपक वाला नहीं, 'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा, और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" इसका अभिप्राय है कि कवि का प्रधान उद्देश्य इतिहास-चित्रण है, और आध्यात्मिक रूपक आनुषंगिक या गौण। किन्तु कहने के बावजूद भी प्रसाद जी ने रूपक को पूर्णतया निभाने का प्रयत्न किया है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, "यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर ध्यान न दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित

प्रभाव न ढूंढें, श्रद्धा काम लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें, तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है।" भाव और रसों के चित्र उपस्थित करने में कवि को पूरी सफलता मिली है। कथा में महाकाव्यानुरूप सक्रियता, व्यापकता और गतिमत्ता चाहे न हो, किन्तु 'सर्गों में रसकी कमी नहीं, वर्ण्य साकार हो जाता है। अभिव्यंजना की संकेत-मूलक प्रणाली के प्रसाद सिद्ध-हस्त प्रयोक्ता हैं। लक्षणा, अभिव्यंजना और रस भाव आदि का पूर्ण परिपाक कामायनी में मिलता है। अतएव वह एक परम सरस महाकाव्य की कोटि का काव्य है, जो विश्व साहित्य में अनुपम है। मनोवैज्ञानिक संकेतों का संकलन मात्र नहीं। इस को अधिक स्पष्टतया समझने के लिए कामायनी के कुछ एक उदाहरण लीजिये, जिनसे स्पष्ट हो जायगा कि कामायनी क्या है— मनो वैज्ञानिक संकेतों का संकलन मात्र है अथवा उनका रसमय मधुर चित्रण। देखिये एक भीषण प्रकृति-चित्र—

उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियां
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलतीं
फन फैलाये व्यालों सी ।

सुन्दर प्रकृति का मधुर चित्र—

संध्या घन-माला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियां
पहिने हुए तुषार-किरीट ॥

और भी—

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का दो दो साथ हुए।

देखिये रूप-सौन्दर्य का कैसा रसमय चित्रण है—

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंश-अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

कितनी मनोरम उत्प्रेक्षा है! और भी—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध-खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥

इन उदाहरणों से स्वत एव उपर्युक्त प्रश्न-गत उक्ति की भ्रामकता सिद्ध हो जाती है।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ३ सं० २००३

नोट—प्रथम प्रश्न अनिवार्य है। शेष प्रश्नों में से केवल चार के उत्तर लिखिये।

१—निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं तीन की सन्दर्भ-सहित व्याख्या कीजिये। प्रथम अवतरण अनिवार्य है।

(क) किस गहन गुहा से अति अधीर।
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर········
······ ···किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर।

प्रसंग—कामायनी के स्वप्न सर्ग का प्रथम पद्य है। मनु श्रद्धा से नाराज होकर चल दिये हैं, जलता हुआ मन लिये। अपने मन की उसी क्षुब्ध दशा का अभिव्यंजन है। प्राणी के जीवन पर एक दार्शनिक रहस्य का संकेत देती हुई दृष्टि डाली गई है।

व्याख्या—किस गंभीर गुफा से, अति व्याकुल (चंचल), झंझा-वात (सवृष्टिक आंधी) के समान यह जीवन रूपी विक्षुब्ध (हलचल वाला—अधीर) आंधी उद्गत हुई? (कवि ने जीवन को संसार में हलचल मचाने

आश्रय लेकर इन संकेतात्मक प्रश्नों की योजना की है, जिनके व्यंग्यार्थ्योत्तर आध्यात्मिक रहस्य हैं। पंचभूतों के अणुओं की योजना का शरीर लिये, जीवात्मा क्या क्या आपत्तियां और दुःख-क्लेश संसार में उत्पन्न करता है, भय से भीत हुआ औरों को भी भयभीत करता फिरता है, इस भय-उपासना के अतिरिक्त उसके जीवन का लक्ष्य अज्ञात है। आदि अर्थों का अभिव्यंजन है।

(ख) कौन तुम मेरे हृदय में ?

कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित ?

.... कौन तुम मेरे हृदय में ?

प्रसंग—महादेवी के 'आधुनिक कवि' की २१ वीं कविता का प्रथम पद्य है।

व्याख्या—तुम, (अलक्ष्य रहस्यमय प्रियतम) मेरे हृदय में कौन हो ? कौन, अदृश्य बना, मेरी वेदना की कसक (पीड़ा) में माधुर्य भरता है ? तृषित (दुःख-दग्ध) आंखों में कौन अपरिचित घुमड़ घिर कर झर झर बरस जाता है ? निद्रा के शून्य आकाश में स्वर्ण से मनोहर स्वप्नों का चित्रण करने वाले तुम मेरे हृदय में कौन हो ?

महा देवी के करुणावाद या वेदनावाद का सुन्दर उदाहरण है। वेदना में मिठास है, करुणा में ही जीवन है, सन्तोष है, एवं संतृप्ति है, यही वेदनावाद से तात्पर्य है, जो ऊपर के अवतरण से सम्यक्तया प्रस्फुटित होता है। अपने अलक्षित रहस्यात्मक परमतत्व रूपी प्रियतम को लक्ष्य करके कही गई उक्ति है। वह सदैव हृदय में रहता है। उसका विरह भी मधुर है, आंखें जब प्यासी (दुःख से जली हुई) होती हैं, तो वही मधुर स्मृति के अश्रु रूप में टपक पड़ता है, जिससे शान्ति और मिठास का अनुभव होता है। वही, निद्रा में स्वप्नों के जाल को बिछाता है। रहस्यमय अनन्त विरह-दशा का सूचन है। कवि ने प्रश्न अलंकार के द्वारा रहस्यात्मक मधुर संकेतों की नियोजना की है, जो अत्यन्त भाव मय और सरस है। रहस्यवाद का उत्कृष्ट पद्य है।

(ग) दलित देश के दुर्दम नेता ! हे ध्रुवधीर धुरंधर !

... .

राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल ॥

प्रसंग—पन्त के 'आधुनिक कवि' में आई 'महात्मा जी के प्रति' नामक कविता का चौथा पद्य है। गांधी जी की आत्मशक्ति का वर्णन है, जिसके बल से उन्होंने सदियों से मृत भारतीय जाति के शव में नव जीवन का सचार कर दिया।

व्याख्या—पद-दलित (भारत) देश के अदम्य नेता, हे ध्रुव के समान अटल, धीर और धुरंधर ! (प्रधान संचालक शक्ति !) तुमने अपनी आत्म-शक्ति के बल से जाति के मृतवत् शरीर को नव जीवन का बल दिया (उसमें नव जीवन फूका)। विश्व की सभ्यता के स्वरूप का नव निर्माण और नव परिवर्तन होना ही था। तुम्हारा राम-राज्य का स्वप्न योंही निष्फल नहीं गया।

गाँधी जी ने मृतवत् पड़ी भारतीय जनता को स्वाभिमान और निर्भीकता दिये। मट्टी में प्राण डालकर आदमी बना दिये। गांधी जी को ब्रिटिश सरकार कभी दबा नहीं सकी, वे सदैव अदमनीय रहे। वे सत्य पर ध्रुव के समान अटल रहने वाले नेता थे। उन्होंने विश्व को आध्यात्मिक साम्यवाद के व्यावहारिक रूप का प्रदान किया, जिसका प्रभाव विश्व की सभ्यता का रूप-परिवर्तन किये बिना नहीं रहेगा। पाशविक बल का मुख्य आधार रखने वाली शक्ति का आध्यात्मिक शक्ति से मुकाबला किया और विजय प्राप्त की। उनके राम राज्य का स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं गया, क्यों कि राम-राज्य उपस्थित करने लायक स्वातन्त्र्य दशा या अवस्था को उन्होंने ला दिया। भारतीय स्वतन्त्र हैं, अब चाहें तो वे राम राज्य ला सकते हैं। गांधीजी के जीवन के इन्हीं महान् ऐतिहासिक तथ्यों का कवि ने वर्णन किया है। उपमा, रूपक, पर्याय अलकारों का सुन्दर चमत्कार है। कवि की राष्ट्रीय रचनाओं में से एक है।

(घ) इस भाग का अवतरण अब परीक्षा में नहीं है।

(ट) अति समुत्तम अंग समूह था मुकुर मंजुल औ मन-भावना।
....सरसता प्रतिबिम्बित हो रही॥

प्रसंग—प्रिय-प्रवास के प्रथम सर्ग का १७ वां पद्य है। गोचारण से सायं को लौटते हुए, कृष्ण की सुभग शरीर सुन्दरता का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है।

व्याख्या—शरीर के अंग प्रत्यंग अत्यन्त उत्तम कोटि के थे, जो दर्पण के समान स्वच्छ और निर्मल थे, एवं मन-भावने थे। उन (दर्पण तुल्य) अंगोंमें (स्वाभाविक) कोमलता और रसमयता निरन्तर प्रतिफलित होरही थी (झलक रही थी)।

कृष्ण के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन है। शरीर के अंग-प्रत्यंग दर्पण के समान स्वच्छ और निर्मल हैं, जिनमें कृष्ण का स्वाभाविक सौकुमार्य और रसमयता झलक रहे हैं। कवि ने अनुप्रास-गर्भित मधुर भाषा में, रूपक का आश्रय लेकर, कृष्ण के निसर्ग-सौन्दर्य का अभिव्यञ्जन किया है।

विशद चित्रपटी ब्रजभूमि की...... . अहह लोप हुई सब काल को॥

प्रसंग—प्रिय-प्रवास के प्रथम सर्ग का ही अन्तिम पद्य है। कवि ऊपर वर्णित सुन्दर दृश्य से आज ब्रज के रहित हो जाने पर शोक प्रकट करता है।

व्याख्या—ब्रजभूमि की विस्तृत चित्र भूमि (चित्र-फलक), शोक है, आज उस सुन्दर चित्र से रहित हो गई है। यहां पर (द्वापर काल में) जो कृष्ण की शोभा चित्रित हुई थी, वह अब त्रिकाल के लिए लुप्त हो गई है।

कृष्ण की वह मधुर छवि, जो द्वापर काल में ब्रज भूमि में चित्रित हुई थी, आज वहां नहीं है, कभी दिखाई भी नहीं देगी। कवि कल्पना की आंखों से उसका दर्शन करके आह भरता है। कवि ने रूपक का आश्रय लेकर अपनी उक्ति कही है। कृष्ण विषयक प्रेम का अभिव्यंजन होता है कवि के।

२. द्वापर का सन्देश तो सर्वतोमुखी क्रांति का आवाहन लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

धीरोदात्त नायक है। पूरा काव्य प्रसंगानुकूल सर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक सर्ग में भिन्न छन्द का प्रयोग भी हुआ है। कथा-वस्तु का आधार प्रसिद्ध पौराणिक या ऐतिहासिक है, जिसमें दार्शनिक रूपक का भी प्रतिबिम्ब है। शृंगार रस प्रधान है, अपने संयोग और वियोग दोनों रूपों में। अन्य करुण शान्त आदि सहायक रूप में साथ आए हैं। काव्य में महाकाव्यानुरूप प्रकृति-वर्णन भी हुआ है। प्रलय का दृश्य, वसन्त, शिशिर, शरद् आदि विभिन्न ऋतुओं की वन्य और प्राकृतिक शोभा का चित्रण हुआ है। नगर, राज्यव्यवस्था, राजनीति आदि का भी वर्णन है। युद्ध और विद्रोह का भी वर्णन है। पात्रों का- प्रधानतः तीन, मनु, श्रद्धा और इड़ा का स्वभाव और चित्रण भी मनोवैज्ञानिक ढंग पर हुआ है। कवि ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का चित्रण किया है। इन प्रधान पात्रों के समस्त जीवन का, उनके रूप, स्वभाव, वेशभूषा चरित्र आदि का विशद चित्रण है। देश काल का प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट रूप में काव्य में उपलब्ध है। कामायनी में केवल मनु-कालीन ही देश काल का प्रतिबिम्ब नहीं है। उसमें प्रसाद-काल या आधुनिक काल का भी स्पष्ट आभास है। साथ में भविष्य की ओर भी संकेत दिया गया है। कामायनी मानव-कल्याण का एक महान् सन्देश देती है-ज्ञानेच्छा कर्म के समन्वय का, जिसमें कि विश्व-कल्याण का तत्व निहित है।

उपर्युक्त आधार पर, कामायनी में महाकाव्यगत प्रायः समस्त विशेषताएं निहित हैं। किन्तु, तो भी कामायनी को या तो महाकाव्य नहीं माना जा सकता और या माना जा सकता है तो सफल नहीं है। कारण, शैल -गत ये सभी विशेषताएं होने पर भी कामायनी में कथा भाग महाकाव्य के अनुरूप नहीं—न वह इतना व्यापक या विशाल है, न इतना गतिमय और न इतना विविध ही। वह महाकाव्य के विस्तार के लिए छोटा है। वह ठहर ठहर कर चलता है। कवि जब मानसिक चिन्ता आदि वृत्तियों का वर्णन करने लगता है तो कथा जहा की तहाँ खड़ी रहती है। उसका विकास भी स्पष्ट नहीं है। वर्णन अधिक है; कथा भाग कम है। उसमें केवल तीन ही मुख्य पात्रों का सारा कार्य-व्यापार है। कथा भाग में अनेक कल्पनाओं के सम्मिश्रणसे वह क्लिष्ट होजाता है, स्वाभाविक रस-प्रवाहमें बाधा पहुचती है। दार्शनिक या आध्यात्मिक रूपक

का भी उसमें आरोप होने से, दोनों का निर्वाह करने में, स्थूल कथा और भी अधिक जटिल सी होजाती है, जो सर्वजन-ग्रेय नहीं रहती। इसी क्लिष्टता या दुर्बोधता के कारण ही कथा की गति निर्विघ्न और स्वाभाविक नहीं रहती। इसी कारण, कामायनी का कथानक महाकाव्य के उपयुक्त नहीं समझा जाता। और इसीलिए कामायनी को भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, महाकाव्य-गत अन्य विशेषताओं के होते हुए भी। क्योंकि महाकाव्य प्रबन्ध काव्य का बृहद् रूप है, जिसमें कथावस्तु प्रधान तत्व होता है। और, कामायनी में कथावस्तु के विकास की अपेक्षा वर्णन की ही अधिकता है। अतः कामायनी को एक महाकाव्य न मान कर, एक आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक और रोमांटिक काव्य ही मानना अधिक संगत है, जिस रूप में कि वह विश्व साहित्य में एक अनुपम रत्न है। भाव, भाषा और शैली इन तीनों के यथेच्छ निर्वाह में प्रसाद अपना सानी नहीं रखते। किन्तु कामायनी में उनकी वर्णन शैली महाकाव्य के उपयुक्त स्थूल वर्णनात्मक, सरल, स्वाभाविक न होकर, दार्शनिकता और कल्पना के कारण जटिल, दुर्बोध, प्रतीकात्मक, प्रधानतया लक्षणा-व्यञ्जनात्मक ही रही है, जो कि रामचरित मानस जैसे महाकाव्यों की कोटि में कामायनी को नहीं आने देती। कामायनी की दुर्बोधता ही इसे सर्व साधारण द्वारा गम्य नहीं रहने देती। अतः स्पष्ट है कि कामायनी के कवि का झुकाव अधिकतया सौन्दर्य-चित्रण की रहस्य-संकेतात्मक, प्रतीकपूर्ण, छायावाद की शैली की ओर ही अधिक है। इस छायावाद की संकेतमूलक कठिन शैली के कारण भी कामायनी महाकाव्य का स्थान नहीं ले सकती। वस्तुतः तो कामायनी को साधारण महाकाव्य का स्थान देना उसके महत्व को कम करना है। कामायनी अपने ढंग का एक निराला प्रेम प्रबन्ध काव्य है। कवि की अपनी शैली मौलिक है, निर्माण की भी और चित्रण की भी। अतः वह अपने ढंग का मौलिक काव्य है, जिसमें मुख्यतः छायावाद की शैली में प्रबन्ध रचना की गई है। अत एव अन्य काव्यों या महाकाव्यों की श्रेणी में कामायनी को इतनी आसानी से नहीं रखा जा सकता।

महाकाव्य में कथावस्तु और शैली के तत्व को यदि विशेष महत्व न दिया जाय तो कामायनी अवश्य ही एक उत्तम कोटि का महाकाव्य है, जिसकी

उपमा नहीं मिलेगी, अन्यथा तो वह महाकाव्य न होकर एक अत्युत्तम रोमांटिक, आध्यात्मिक काव्य है, जिसमें हृदय और मस्तिष्क के अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किए गए हैं। उनमें कला है सूक्ष्म अभिव्यंजना की, अनुभूति है गहनतम और सूक्ष्मतम, रस का प्रवाह बहता है। इन विशेषताओं को लेकर यदि काव्य से पहिले कामायनी के लिए महा शब्द जोड़ भी दिया जाय तो अनुचित नहीं। प्रसाद महाकवि तो आखिर थे ही। किन्तु शास्त्रीय संकुचित अर्थ में कामायनी मे बहुत त्रुटि हैं—कथा वस्तु विषयक—जिसके कारण उसे महाकाव्य मानने में आपत्ति है।

४. प्रिय प्रवास में ईश्वर भावना का किस रूप में विकास हुआ है? पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में कृष्ण का जैसा चित्रण हुआ है, उसमे प्रिय प्रवास में किए गए चित्रण से कैसी भिन्नता है?

उत्तर—कृष्ण भागवत में १६ कला-पूर्ण अवतार माने गए हैं और आज तक अनेक कवियों और महाकवियों ने उनके अलौकिक और अद्भुत जीवन से कवित्व-प्रेरणाएं प्राप्त करके, अपनी मानसिक सन्तुष्टि की है। विद्यापति, सूर, नन्द आदि एव रीतिकाल के अनेक कवियों ने कृष्ण के जीवन का चित्रण किया है। किन्तु उन सब का दृष्टिकोण भिन्न था—भक्त, कवि का। भक्त दृष्टिकोण भक्ति भाव का था। उनके कृष्ण साक्षात् परब्रह्म थे, उनमें अलौकिकशक्ति थी, वे कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुं की शक्ति से समन्वित थे। संसार में की हुई उनकी लीला नित्य है, जिसमें रमण करने से भक्त की मुक्ति हो सकती है। अत एव उन्होंने इस सच्चिदानन्द परब्रह्म की भावना रखते हुए ही कृष्ण की लौकिक होती हुई भी अलौकिक लीलाओं का भक्ति-भाव में डूब कर वर्णन किया। कृष्ण में ब्रह्म.दृष्टि उन की कभी धुन्धली नहीं होती। अतएव उनके वर्णन में प्रायः सर्वत्र ही कृष्ण की अलौकिकता या परब्रह्मता अभिव्यञ्जित होती रहती है। और, रीतिकाल के कवियों का दृष्टिकोण प्रधानतया शृंगारिक था, उनमें शृंगार और कवित्व की भावना ही अधिक प्रबल थी। उन्होंने कृष्ण को अवतार मानते हुए भी उनके लौकिक सौन्दर्य और प्रेम का ही मनोहर और सरस वर्णन किया। कृष्ण और गोपियों की रास-क्रीड़ा या विलास क्रीड़ा का ही शृंगारमय वर्णन किया। कृष्ण का अलौकिक

अंश उनकी दृष्टि से सर्वथा ओझल हो जाता है। वे कृष्ण के लौकिक नायक के रूप मे ही शृंगार या प्रेम का वर्णन करते हैं। अतएव उनमें से अनेक का शृंगार वर्णन अश्लीलता की कोटि तक पहुंच गया है। रीतिकाल के कवियों ने वास्तव में भक्ति के उद्देश्य से नहीं, अपितु शृंगार का वर्णन करने के उद्देश्य से, कृष्ण चरित्र के वर्णन का आश्रय लिया था। उनका मुख्य ध्येय शृंगार काव्य था। उसी के लिए उन्होंने कृष्ण का आश्रय लिया था। इसी कारण उनकी दृष्टि कृष्ण के केवल प्रेमी और विलासी रूप पर ही अटक कर रह गई, उससे आगे जाकर भक्त दृष्टि के समान वह उनकी दिव्यता के दर्शन नहीं कर सकी। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने कृष्ण को एक अत्यन्त रसिक या छैला युवक के रूप मे ही चित्रित किया है, जिसके जीवन का प्रधान उद्देश्य गोपियों के साथ छेड़ छाड़ करना, उनके साथ विविध प्रेम क्रीडाएं करना और रसोपभोग करना ही प्रतीत होता है। रीतिकाल के इस कृष्ण-शृंगार-काव्य के प्रथम कवि विद्यापति को माना जाता है, जो रीतिकाल से प्रथम कृष्ण शृंगार का वर्णन कर गये।

किन्तु आधुनिक काल में समाज और जाति का दृष्टि-कोण बदल जाता है। शुद्ध भावुकता का स्थान बुद्धि-वाद या भौतिकतावाद लेने लगता है। प्राचीन भक्ति भावना, एकान्त श्रद्धा और विश्वास-भावना का स्थान बुद्धिवाद की तर्क और विज्ञान भावना ले लेती है। कृष्ण के अवतारी रूप के प्रति अनास्था प्रकट होती है और कृष्ण की रास-क्रीडाओं आदि के प्रति महती अरुचि व्यक्त होती है। अतएव इस काल में कृष्ण का जो चरित्त वर्णित हुआ, उस पर आधुनिकता का रंग चढ़ा हुआ है। आधुनिक काल में, सत्यनारायण, रत्नाकर, हरि औध और मैथिली शरण गुप्त आदि ने कृष्ण चरित्र विषयक काव्य लिखे हैं। प्रथम दो कवियों का दृष्टि कोण भी प्रधानतया वही प्राचीन अलौकिकता का रहा है। रत्नाकर ने उद्धव शतक में वही भक्ति का दृष्टिकोण ही प्रधान रखा है। उन्हीं विषयों और तर्कों का आश्रय लेकर ज्ञान के समक्ष भक्ति की विजय दिखाई गई है। द्वापर में गुप्त जी ने भगवान् के व्यक्तित्व का लौकिक रूप में नवीनता के साथ विकास दिखाया है। उन पर आधुनिकता का प्रभाव विशेष पड़ा है। उन्होंने कृष्ण चरित के

मधुर से अतिरिक्त अन्य महत्व-पूर्ण और गौरव-मय रूप का भी चित्रण किया है। किन्तु कृष्ण की अलौकिकता का वे संवरण नहीं कर सके। अन्त में वह अलौकिकता की भावना आ ही जाती है, जहाँ कवि ने राधा कृष्ण की एक-रूपता का वर्णन करते हुए आधी मूर्ति में राधा और आधी में कृष्ण को दिखाया है। द्वापर में आधुनिक युग के विषय के भी संकेत हैं। कंस साम्राज्यवाद का प्रतीक है, जो संसार को पीस रहा है और कृष्ण क्रांति के प्रतीक हैं। इसी नवीन रूप में इन्होंने कृष्ण के चरित का चित्रण किया है।

उपाध्याय जी के कृष्ण बिलकुल आधुनिक महापुरुष के रूप में चित्रित हुए हैं। कवि ने उनकी ब्रह्मता को छुपाने का प्रबल प्रयास किया है। प्रिय प्रवास के कृष्ण परम ब्रह्म नहीं हैं, अपितु अतुलशक्ति शाली, युग-नेता महापुरुष हैं। इसीलिए उनमें मानवी भावनाओं का पूरा विकास दिखाया गया है। कृष्ण सच्चे प्रेमी हैं, किन्तु लोक-सेवा के सामने वे प्रेम को महत्व नहीं देते। लोक-प्रेम के मार्ग में उनका व्यक्तिगत प्रेम आड़े नहीं आता। वे ब्रज त्याग कर ब्रजजनों के विरह में तड़पते भी हैं, किन्तु अपनी कर्तव्य-भावना से विवश हुए वे कुछ कर नहीं सकते। गोपियों के समान ही कृष्ण को भी विरह-विधुर दिखा कर, कवि ने 'तुल्यानुराग' का प्रदर्शन किया है। इसमे कृष्ण में मानवीयता का अधिक पोषण होता है। सत्य, दया, परोपकार, कर्तव्य आदि उदात्त भावनाओं के साथ ही कृष्ण के अन्य मानवोचित सत्स्वभाव—सभ्यता, शिष्टता, विनोद आदि का भी चित्रण हुआ है। कृष्ण युग-पुरुष हैं, एक महान् शक्तिशाली समर्थ नेता। सब लोग उन्हे उनके गुणों और महत्ता के कारण से ही प्रेम करते हैं, उन्हें हर दम याद करते हैं। उनके अद्भुत रूप लावण्य और आकर्षण शक्ति के कारण मोहित हैं। कृष्ण अत्यन्त चरित्रवान् व्यक्ति हैं। उनके ऊपर उच्छृङ्खल व्यभिचार का जो दोषारोपण आज कल किया जाता है, उससे कृष्ण को बचाने का प्रयत्न उपाध्याय जी ने किया है। गोपियों से छेड़ छाड़, प्रेम-मस्ती का वर्णन उन्होंने बहुत कम किया है। रास-क्रीडा में गोपियों के साथ गोप भी सम्मिलित होते हैं। गोपी और गोप दोनों समान रूप में उनके गुणों के कारण उनपर

जान देते हैं। कृष्ण स्वयं स्त्री-सच्चारित्र्य-सतीत्व-की महिमा का वर्णन करते हैं—

थे भाखते पति—रता अवलम्बिता का
कैसा प्रमोद—मय जीवन है दिखाता। आदि।

  

थे यों व्रजेन्दु कहते ललना सती को,
स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता। आदि।

देखिये स्वजाति और स्वदेशभक्ति के कैसे सुन्दर उद्‌गार कृष्ण के मुख से निकलवाये गये हैं—

स्वजाति और जन्म-धरा निमित्त मैं,
न भीत हूंगा विष-काल सर्प से॥

  

प्रवाह होते तक शेष श्वास के,
सरक्त होते तक एक भी शिरा।
सशक्त होते तक एक लोम के,
किया करूंगा हित सर्व भूत का।

राम के समान कृष्ण भी, अपने प्रियजन को कर्तव्य-वश छोड़कर उसके लिए विधुर होते हैं। राधा का प्रेम सन्देश मिलने पर कृष्ण देखिये अपनी विरह-मधुरता का कैसा मार्मिक अभिव्यंजन करते हैं—

उत्कण्ठा से विवश नभ को भूमि को पादपों को,
ताराओं को, मनुज मुख को प्रायशः देखता हूं।

उपर्युक्त आधार पर यही स्पष्ट होता है कि कृष्ण को लौकिक महापुरुष के रूप में ही चित्रित करने का कवि का मुख्य प्रयास है, उनके इसी रूप की रक्षा के लिए, उसने उनकी अलौकिक जीवन घटनाओं का या तो वर्णन ही नहीं किया और यदि किया भी तो उन्हें लौकिक रूप देकर। गोवर्धन धारण की घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने कृष्ण को घोर वर्षा में गिरिकन्दराओं में छिपे हुए व्रजवासियों की बड़ी तीव्रगति से सेवा सहायता

करते हुए वर्णित किया है और उंगली पर पर्वत-धारण की अलौकिक घटना के वर्णन को छोड़ दिया है। उंगली पर गोवर्धन धारण की घटना की उन्होंने यही लौकिक व्याख्या की है।

उपाध्याय जी का प्रधान उद्देश्य कृष्ण का सतत परोपकार और पर-सेवा की सर्व-हित मंगल भावना में आसक्त एक युग-नेता महापुरुष के रूप में चित्रण करने का ही है, जिस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इसीलिए कवि ने मथुरा-गमन से पहिले की कृष्ण की सारी लीला-मय मधुर क्रीड़ाओं को छोड दिया है। वे किसी भी प्रकार का धोप कृष्ण चरित पर नहीं आने देना चाहते, जिससे उसका ग्रहण आधुनिक काल के उपयुक्त न हो सके। किन्तु इतना होने पर भी अलौकिकता एक दो स्थानों पर झलके बिना नहीं रही है। जैसे—

फणीश शीशोपरि राजती रही,
सुमूर्ति शोभामयि श्री मुकुन्द की।

तो भी उपाध्याय जी का कृष्ण-चित्रण लौकिक है, यह उन्हीं के, निम्न शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—मैंने श्री कृष्ण चन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भांति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। मैं श्री मद्भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूं "यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा। तत्तदेवाभिगच्छध्वं ममतेजोंऽश संभवम्। अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है।" "....आधुनिक विचारों के लोगों को यह प्रिय नहीं है कि पंक्ति पंक्ति में तो भगवान् श्री कृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चरित्र लिखने के समय "कर्तुं म कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः" के रंग में रंग कर ऐसे कार्यों का कर्ता उन्हें बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे। ....मैंने इसी विचार को सम्मुख रख कर इस ग्रन्थ को लिखा है और कृष्ण चरित को इस प्रकार अंकित किया है जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सकें।"

९—"आधुनिक व्रजभाषा काव्य में आधुनिक भारतीय समाज का जीवन प्रतिविम्बित नहीं है।" इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है? इस दृष्टि-कोण से रत्नाकर के काव्य की आलोचना कीजिये।

उत्तर—आधुनिक ब्रजभाषा साहित्य के विषय में उपर्युक्त उक्ति सर्वांश मे तो नहीं, पर अधिकांश मे ठीक है। कारण, ब्रज भाषा सैकड़ों सालों से काव्य-भाषा बनी चली आ रही थी। उसमें जो सौन्दर्य, सुषमा और अभिव्यंजन शक्ति आदि की विशेषताएं आ चुकीं थीं, वे काव्य को विशेष चमत्कार-शाली बनाने वाली थीं। ब्रज भाषा के साथ ही उसके प्रमुख विषय भी आधुनिक कवि को बपौती मे मिले। अतः उसने इन दोनों का ही उपयोग किया। आधुनिक काल के प्रारंभ मे, कवि रीति-कालीन और प्रचलित प्रसिद्ध विषयों—शृंगार, भक्ति, आदि—को ही लेकर सुमधुर रचना करता रहा। उसका दृष्टि-कोण अधिकांश में सामयिक जगत की परिस्थितियों से दूर कल्पना लोक मे ही विचरने का रहा। कवि का ठोस जमीन पर पांव नहीं टिका। किन्तु भारतेन्दु के उदय के साथ ही दृष्टि-कोण में नूतन प्रकाश आता है और आस पास की चीजों का सच्चा रूप दिखाई देने लगता है। अपनी अधोदशा का ज्ञान होता है और उसके सुधार की भावना उत्पन्न होती है। अपनी कमियों की ओर ध्यान जाता है और उनको दूर करने की चिन्ता होती है। इतिहास का यह काल कम्पनी के राज्य के बाद का काल है। इस समय अखिल-मुखी जागृति, चैतन्य, सुधार भावना के दर्शन होते हैं। धर्म-जाति, देश, सभ्यता संस्कृति आदि सभी को एक नवीन आलोचनात्मक ढंग से देखा जाता है और सुधार करने की भावना उदित होती है। साहित्य में भी इसका पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ता है। खड़ी बोली गद्य का तो रूप-निर्माण भारतेन्दु के हाथों हो ही रहा था, उसमें विविध सामयिक विषयों पर सामग्री भी निकल रही थी। गद्य क्योंकि हिन्दी में अब तक कई भी विकसित और व्यवस्थित दशा में नहीं थी, अतः अंग्रेजी राज्य के साथ जब भारतीय जीवन भी आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर अधिक व्यापक और जटिल होता है तो गद्य की आवश्यकता तो तुरन्त पूरी करती गई। पद्य रूप ब्रजभाषा का जितना उन्नत और समृद्ध था, उतना नवीन भाषा का कहां से होता? उसमें तो पद्य-रचना अभी प्रारंभ भी नहीं हुई थी। उसका रूप ही स्थिर नहीं था। ऐसी दशा मे, काव्य रचना के लिए प्राचीन परम्परा-प्राप्त काव्य-भाषा ब्रज भाषा का ही प्रयोग चलता रहा। कवि लोग प्रमुखतया ब्रज भाषा मे ही

काव्य लिखते थे। भारतेन्दु ने स्वयं ब्रजभाषा में ही प्रमुखतया रचना की। किन्तु काव्य-रचना के लिए मुख्यतः ब्रजभाषा का और उसके साहित्य के विषयों एवं शैली का ग्रहण होने पर भी, सामयिक परिस्थितियों का ब्रजभाषा काव्य पर प्रभाव पडा। अतः उसमे जहां एक ओर प्राचीन, शृंगार, भक्ति, पुराण पुरुष आदि विषयो पर सुन्दर काव्य-रचनाएं हुईं, वहां सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन के भी विविध रूपों का वर्णन हुआ। विविध समस्याओं को काव्य का विषय बनाया गया। विविध विषयों पर कविताएं लिखीं गईं मुक्तक रूप में। जाति, धर्म, समाज, सभ्यता, संस्कृति से लेकर, स्वदेश, स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा और स्वराष्ट्र आदि कविता के विषय बने। भारतेन्दु इस दिशा मे सर्वाग्रणी थे, इस विषय में। इन्होंने ही वस्तुतः कविता को सर्वप्रथम स्वर्ग से धरातल पर उतार कर जीवन के साथ उसका साक्षात् सम्पर्क स्थापित किया था। जीवन के विविध विषयों का वर्णन इन्हीं के नेतृत्व में प्रारंभ हुआ था। यह सामाजिक विषयों की प्रवृत्ति भारतेन्दु काल के कवियों में इतनी अधिक रही कि इस काल की कविता को सामाजिक कविता का ही नाम दिया जाता है। यह कविता वर्णनात्मक है, उस मे लौकिक विषयों या सुधारों का वर्णन है, रसपरिपाक की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। उसमें तो अधिकतया, व्याख्याता या निबन्धकार की शैली का आश्रय लिया गया है। जीवन के स्थूल विषयों का चमत्कार-कर और प्रभाव-पूर्ण ढंग से व्याख्यान करना ही अधिकांश कविताओं का उद्देश्य है। तो भी उनमें अपने युग-विशेषका स्पष्ट चित्र है। समाज की अच्छी और बुरी दोनों ही दशाओं का चित्र है, इस काल के ब्रजभाषा काव्य में। तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक धरातलों में जो भी प्रमुख—प्राचीन और नवीन—प्रवृत्तिया अभिव्याप्त थीं, उन सब का स्पष्ट प्रतिबिम्ब या चित्र इस काल के ब्रजभाषा-काव्य में मिलता है। मुसलमानी अत्याचार और अराजकता के पश्चात् अंग्रेजी राज्य की सुव्यवस्था पाकर भारतीयों को कुछ सन्तोष सा हुआ था। वे अंग्रेजी राज्य के प्रति भक्ति रखते थे। उनकी राज्य-भक्ति स्वदेशभक्ति की विरोधिनी नहीं थी। इस भावना का प्रकाशन देखिये—

परममोक्षफल राज-पद परसन जीवन मांहि।
वृटन देवता राज सुत पद परसहु चित चाहि॥ भारतेन्दु।

× × × ×

राजभक्ति इनमें रही जैसी अकथ अनूप।
वैसी ही तुम आज हू पैहौ पूरब रूप॥ प्रेमघन।

× × × ×

जयति धर्म मय देश जय भारत भूमि नरेश।
जयति राज राजेश्वरी जय जय जय परमेश॥ अम्बिकादत्त व्यास।

× × × ×

हाय दया की मूर्ति हाय विक्टोरिया माता।
हा अनाथ भारत को दुख में आश्रय दाता॥

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों का वर्णन—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी कियो राज काज इन,
कियो अमित उत्पात होत जे रहे इहा नित॥
... .
लेकर राज कम्पनी के कर सों निज हाथन।
किये सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन॥ राधाकृष्ण।

अंग्रेजी राज्य की महिमा भी गाई गई। रेल, बिजली, राज्यव्यवस्था, शिक्षाक्रम आदि की सुविधाओं की प्रशंसा की गई। अंग्रेजी राज्य इतनी उथल पुथल के पश्चात् वरदान माना जाता था। जाति को उठने का उद्बोधन किया जाता था—

उठो आर्य सन्तान सकल मिलि बस न विलम्ब लगाओ।

× × × ×

बाद में यह भाव असन्तोष में बदलता गया और कवि कहने लगा—

कहाँ चाहियों राज आप केवल भारत-हित।
करत भारत के हित साधन में दीन चित॥ प्रेमघन।

वास्तविक स्थिति का भी ज्ञान अनुभव किया—

अंगरेज सुखसाज सजे भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अतिख्वारी॥

कृषकों की गरीबी और दुर्दशा—

दीन कृषक जन औरहु दयाजोग दरसाहिं।
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र लखियतु कहुँ नाहिं॥

× × × ×

भूखे मरत किसान तहूँ पर कर-हित डपट न थोरी है।
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति विचारी छोरी है॥

× × × ×

भारतीयों की अकर्मण्यता और दुर्दशा खड़ी में भी—

आलस कायरपना निरुद्यमता अब छाई,
रही मूढ़ता वैर परस्पर कलह लड़ाई।

भगवान् से प्रार्थना—

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।

स्वदेशी की राष्ट्रीय भावना—

धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि।

कोट पतलून धारियों की निन्दा—

पहिरि कोट पतलून अरु हैट धारि सिर,
भालू चरबी चरचि लवंडर को लगाइ फिर।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों मे रूढ़िवादी और प्रगतिवादी दोनों विचार-धाराओं का कविता में वर्णन हुआ है। कट्टर हिन्दु धर्मी—

यह हिन्दूगन दीन छीन हैं सरन तुम्हारे,
मारो चाहे राखो तुमही हो रखवारे।

सुधार-वादी हिन्दू धर्म की दुर्दशा का वर्णन करता है—

बहु देवी-देवता भूत प्रेतादि पुजाई,
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दू घबराई।

विधवा और गो-रक्षा—

विधवा विलपैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाथ गोहार नहीं।

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होजाता है कि भारतेन्दु काल के ब्रज काव्य में सामयिक जीवन की परिस्थितियों का पूरा प्रतिबिम्ब पड़ा है। यह बात ठीक है कि ब्रज भाषा में कोई वृहतकाव्य नहीं लिखा गया, जिसमें जातीय जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब हो, किन्तु भारतेन्दु और उनके कुछ देर बाद तक छोटे मोटे काव्यों और फुटकल कविताओं में सामाजिक जीवन की वस्तु- दशाओं का स्पष्ट चित्रण है। यह प्रवृत्ति तब तक चलती है, जब तक कि खड़ी बोली ने ब्रज भाषा का स्थान पूर्णतः नहीं ले लिया। ब्रज भाषा का उस समय गत्यवरोध सा होजाता है और उसमें तब विशेष ब्रज-प्रेमी ही लिखते हैं, अन्य नहीं। अतः इस प्रकार उपर्युक्त प्रश्नगत उक्ति सर्वांशतः ब्रज भाषा काव्य पर लागू नहीं होती। हाँ, ऐसा कोई उत्कृष्ट काव्य बेशक नहीं लिखा गया, जिसमें कि देश काल का वृहत् प्रतिबिम्ब हो। इस युग में ब्रज भाषा से प्रमुख काव्य उद्धवशतक, गंगावतरण, बुद्धचरित्र, वीरसतसई, रसकलश आदि हैं। इनमें किसी का भी विषय सामयिक नहीं। वीरसतसई में आधुनिक बहुत विषयों का दोहों में वर्णन किया गया है, किन्तु वह केवल संकेत मात्र है। बुद्ध चरित्र 'लाइट ऑफ एशिया' का छायानुवाद है। भाव या कल्पना का ही साम्राज्य है।

रत्नाकर भी इस विषय में अपवाद नहीं हैं। उनके फुटकल साहित्य में तो बेशक अनेक सामयिक विषयों का भी वर्णन हुआ है, किन्तु उनके प्रमुख प्रबन्ध काव्य गंगावतरण, उद्धव-शतक आदि में प्राचीन परिपाटी का ही निर्वाह है। इनके विषय लौकिक नहीं, अतः सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं है। वे वास्तविक जीवन से पृथग् भाव या कल्पना जगत् का चित्र उपस्थित करते हैं। पौराणिक कथाओं का आधार लिया गया है। अतः आधुनिक काल में ब्रज भाषा के सर्व प्रमुख कवि होते हुए भी, इनके काव्य में जातीय जीवन का उतना प्रतिबिम्ब नहीं है। इनका आदर्श प्राचीन परिपाटी और प्राचीन विषय ही रहे।

६. 'छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था' महादेवी के इस कथन का समझाइये। प्रगतिवाद की विशेषताओं को बतलाते हुये, उन कारणों

की मीमांसा कीजिए, जिनमें छायावाद का उसके कई प्रवर्तकों द्वारा ही तिरस्कार हुआ।

उत्तर—छायावाद का उदय बंगला और अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से, उनके अनुकरण पर ही हुआ माना जाता है। हिन्दी में उस समय तक प्राचीन काव्य परम्परा ही चल रही थी, प्राचीन परम्परा स्थूल विषयों के चित्रण में ही रत रही है। क्या प्रकृति-वर्णन और क्या सौन्दर्य-वर्णन, सबमें स्थूल चित्रों की ही प्रधानता होती थी। रीतिकाल का प्रधान विषय शृंगार था। वहाँ नायक और नायिकाओं के शरीर-सौन्दर्य का ही प्रधानतया वर्णन हुआ। कवि की आँखें शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य नहीं देखतीं। रीतिकाल के काव्य नायिकाओं के नखशिख वर्णनों से भरे पड़े हैं। प्रेम के भी स्थूल ही रूप का वर्णन हुआ। प्रेम की स्थूल—आलिंगन, चुम्बन आदि—चेष्टाओं का नग्न रसमय चित्र, जो बहुधा अश्लील हो जाता है, उतारा गया है। उनकी यह स्थूल शृंगार वर्णन की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि इसका रूप बहुत हद तक कुत्सित हो चला था। शृंगार के अतिरिक्त जिन अन्य विषयों का भी रीतिकाल में थोड़ा बहुत वर्णन हुआ, वह भी सब स्थूल-वर्णन पर आधारित है। रीतियुग से पहिले कालों-वीर गाथा काल और भक्तिकाल-में भी स्थूल का वर्णन ही प्रधान रहता है। वीर गाथाकाल में तो मुख्य आधार है ही स्थूल वर्णन का, भक्ति काल में भी स्थूल वर्णन ही प्रधान रहता है। भक्त कवियों ने राम सीता-अथवा कृष्ण राधिका आदि के स्थूल रूप के ही मधुर चित्र उतारे हैं। रीतिकाल में यही स्थूल वृत्ति या बाह्य-मुखी वृत्ति लौकिक नायक—नायिकाओं के वर्णन के रूप में आगई।

आधुनिक काल में भी यही प्रवृत्ति आई। ठेठ द्विवेदी जी के काल तक यही प्रवृत्ति चलती है। भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल, इन दोनों ही विशिष्ट युगों में, यद्यपि कविता के क्षेत्र में, अत्यन्त वृद्धि हो चुकी थी, जीवन के प्रायः सभी विषय कविता में स्थान पारहे थे, कविता केवल शृङ्गार और भक्ति की ही बपौती नहीं रही थी, उसका जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, तो भी उसकी वर्णन शैली का आधार पिछला ही था। कविता में स्थूल विषयों का ही वर्णन चलता रहा। जिन्होंने भक्ति या शृङ्गार की रचनाएं कीं

उन्होंने भी स्थूल-वस्तु वर्णन का ही आधार लिया और जिन्होंने अन्य विषयों पर लिखा, उनका भी मुख्य आधार यही स्थूल-वर्णन की प्रवृत्ति रहा। जो शृंगार या प्रेम की कविता थी, वह भी स्थूल और बहुत कुत्सित, अश्लील-वर्णन से कुरुचि उत्पन्न कर रही थी, और जो शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों की कविता थी, वह भी प्रायः इतिवृत्तात्मक—ऐतिहासिक शुष्क वर्णन सी—होरही थी, जिसमें भावुकता का अंश बहुत कम था। यह स्थूल नीरस वर्णन की वृत्ति यहाँ तक द्विवेदी काल में बढ़ी कि हिन्दी—कविता को लोग कोरी तुक-बन्दी कहने लगे थे। प्रकृति-वर्णन भी रीतिकालीन परिपाटी में स्थूल रूपों के वर्णन में ही निहित था।

छायावाद का उदय इसी स्थूल वर्णन की प्रवृत्ति की प्रति-क्रिया-स्वरूप हुआ था। छायावाद ने आन्तरिक और बाह्य, काव्य के दोनों पक्षों में, इस प्राचीन काव्य-परिपाटी का विद्रोह करके, अपनी नवीन शैली की उद्भावना की। प्राचीन काव्य परिपाटी में काव्य की स्थूल कला—अलंकार, रीति छन्द आदि—पर विशेष बल दिया जाता था, काव्य-कला के स्थूल बन्ध इतने जटिल थे कि कवि को बहुत पर-तन्त्र होकर अपना भाव बिठाना पड़ता था। नवीन छायावादी कवियों ने काव्य के इन सभी स्थूल उपादानों का तिरस्कार करके, अपनी नवीन अलंकार-व्यवस्था, नवीन प्रतीक-व्यवस्था, नवीन सूक्ष्म अभिव्यंजना शैली, लाक्षणिक संकेतात्मक पद्धति का विकास किया। छन्द और काव्य के नियमों के विषय में भी स्वच्छन्दता बरती। काव्य के आन्तरिक विषय पक्ष के विरुद्ध भी इन्होंने सफल विद्रोह किया। इनके विषय स्थूल न होकर सूक्ष्म भावनात्मक हुए। स्थूल विषयों से उदास अपनी आंतरिक भावनाओं के ही ये सुमधुर कल्पनात्मक रंगीन-अपनी आत्मा के रंग में रंगे हुए-चित्र उतारते थे। इनका प्रेमालम्बन भी सूक्ष्म अलौकिक सत्ता होती थी, जिसके मिलन और विरह का ये वर्णन करते थे। प्रकृति में नारी-भावना करके उसके सूक्ष्म सौंदर्य का वर्णन करते थे। इससे पहिले के स्थूल वर्णनात्मक काव्य में इतिवृत्तात्मकता अधिक थी और भावुकता एवं कल्पना की नितांत कमी थी। ये दोनों ही वस्तुएं छायावाद का मुख्य आधार बनीं। नारी के स्थूल रूप का उद्दाम वासनामय स्थूल कुत्सित चित्रण करने को अपेक्षा छायावाद ने उसके

सूक्ष्म भाव रूप और आन्तरिक सौन्दर्य का चित्र उतारा, जिसमें शालीनता है, अश्लीलता नहीं। प्रत्येक वस्तु के दो रूप माने जाते हैं—प्रत्यक्ष में दृश्यमान और भाव रूप, जिसे कि हम आंखे बन्द करके अपने मस्तिष्क में देखते हैं। प्रथम वस्तु का स्थूल रूप और दूसरा सूक्ष्म भावात्मक होता है। छायावाद का आधार वस्तु का यही सूक्ष्म रूप होता है, जिसे कवि अपनी भावनाओं की रंगीनी में रंगकर उपस्थित करता है। इस प्रकार, सत्य अर्थों में छायावाद का उदय स्थूल के प्रति विद्रोह के रूप में हुआ है। महादेवी की उक्ति का यही अभिप्राय है

इस शैली का इतना प्रचार हुआ इसकी ओर कवियों की इतनी रुचि बढ़ी कि छोटे बड़े प्रायः सभी कवि इसी शैली को पसन्द करने लगे थे। इसमें अनेक वास्तविक कृतियां बनीं और असंख्य कोरी अनुकरण मात्र ही। तथापि-इस शैली का अत्यन्त प्रचार हुआ। किन्तु इस वाद में अनेक कमियां भी थीं, जिस कारण यह अधिक दिनों तक नहीं टिका रहा, सर्व जनता ने इसका ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत इसकी ओर जनता की अरुचि होने लगी। अपने कालमे, द्विवेदी काल के साहित्य से छायावाद प्रगति-शील गिना जाता था, किन्तु कालान्तर में, परिस्थिति और दृष्टिकोण के बदलते ही, छायावाद की अनेक विशेषताएं अरुचिकर और असामयिक एवं अनुपयोगी मानी जाने लगीं। यह भाव जनता का ही नहीं हुआ, अपितु पन्त जैसे छायावाद के प्रमुख उन्नायकों में, इसी भाव का उदय हुआ और उन्होंने अपने काव्य की दिशा बदल दी। ये कारण निम्न थे, जिनके कारण छायावाद का वही प्रवाह नहीं बना रह सका, जोकि इसके प्रारम्भिक या मध्य काल में था।

श्रीमती महादेवी के मत से, 'छायावाद ने कोई रूढिगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य-सत्ता की ओर जागरुक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन होगया''।

पन्त के अनुसार "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत

बन गया था। ... .वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी।"

संक्षेप में छायावाद के ह्रास में ये कारण दिये जाते हैं:—

छायावादी काव्य की शैली दुर्बोध है। लक्षणा, व्यंजना, सूक्ष्म संकेत-मूलक पद्धति का प्रयोग करने से, वह प्रत्येक की समझ में नहीं आती। नवीन प्रतीकों का अर्थ भी अज्ञात रहता है। उसका आलम्बन भी रहस्यात्मक होने से अस्पष्ट ही रहता है। इस प्रकार यह काव्य सर्व-जन-ग्राह्य नहीं बना। उसकी शैली भी संकेतात्मक होने से अस्पष्ट है और सूक्ष्म होने से आलम्बन भी। अतः उसकी ओर अरुचि उत्पन्न हुई।

सर्व-प्रमुख कारण यह है कि छायावाद-काव्य जीवन से दूर था। वास्तविक जीवन के सुख दुःखों से दूर कल्पना के मधुर लोक में, उस पार कुटिया बनाकर, अनन्त में निवास करना ही कवि का प्रतिभा-धर्म रह गया था। अतः वह वास्तविक जीवन से तटस्थ एक भावनात्मक संगीत बन गया। जीवन से पृथक् होकर काव्य नहीं स्थायी बन सकता। अतएव छाया-वाद को पलायन-काव्य भी कहा जाता है।

देश काल की परिस्थिति का नवयुग प्रारम्भ हो गया था। दृष्टिकोण अधिकाधिक बुद्धिवादी या भौतिकतावादी बनता जा रहा था। जीवन की परिस्थितियाँ जटिल और कठोरतर होती जा रही थीं। महायुद्ध के पश्चात् अन्न वस्त्र का संकट अधिक उग्र होता है। वस्तुवादी पार्थिव दृष्टिकोण में उग्रता आती है। अतः गांधी इर्विन पैक्ट के पश्चात् के बेकारी और निष्क्रियता के काल में, छायावाद में, जो नैराश्य और करुण की वृत्तियों का अभिव्यंजन हुआ था, उनका अब काल नहीं रहा था। अब तो उसके स्थान में, तीव्र और सक्रिय असन्तोष, विरोध और विद्रोह की भावना प्रबल हो गई थी। ऐसे समय में छायावाद की कोमल और जीवन-बाह्य की कल्पना और उसका मधुर-भाव-संगीत काम नहीं दे सकते थे। इस समय तो देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी। वर्ग-संघर्ष प्रबल हो रहा था।

विज्ञान-युग अपना पूरा प्रभाव दिखा रहा था। राष्ट्रीय आन्दोलन प्रतर रूप धारण कर चुका था। ऐसे युग में, जब कि जाति अपने जीवन-रण के संघर्ष में लगी हो, छायावाद के लिए कोई विशेष स्थान नहीं रह कता था। छायावाद वास्तविक नवीन जीवन से परे होने के कारण, कोई वीन युगोपयोगी सन्देश नहीं दे सका। जीवन की जटिल समस्याओं का ोई हल नहीं उपस्थित कर सका। अतएव वह समय से उपेक्षित हुआ। ौर, अतएव छायावाद क उन्नायक कवियों ने भी उस ओर से अपनी दिशा दल ली। छायावाद के विषय में ऐसी भावनायें उत्पन्न हुईं कि—

क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव और मधुमय संगीत,
मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत?
... ...

सार रहित है उस अनन्त की सुखमय मद मदिर मुस्कान।

   

रूखी रोटी या रहस्य गान?
देखूं अरुण उषा की लाली या तन के मुर्झाये प्राण?
शीतकाल के क्रुद्ध अनिल से ढांकू अपना वस्त्र-हीन तन,
या देखूं कवि के अनन्त की सुप्त मदिर मंजुल मुस्कान।

   

इसीलिए, इस युग में, समयानुरूप एक नवीन वाद का जन्म होता है, जिसका मूल इस युग के जीवन और उसकी दशा में निहित है। इस वाद का नाम है, प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद। द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैसे छायावाद का उदय हुआ था, वैसे ही छायावाद की कल्पनात्मक वृत्ति की प्रतिक्रिया-स्वरूप इस वाद का जन्म हुआ। यह वाद देशकाल की आवश्यकता से ही उत्पन्न हुआ और जीवन की स्थूल समस्याओं को लेकर चला। छायावाद का आधार सूक्ष्म था, किन्तु इसका आधार स्थूल बना। प्रगतिवाद ने स्थूल जीवन का ही ग्रहण किया—सुन्दर रूप में भी और असुन्दर रूप में भी। प्रगतिवाद जीवन के सुख दुःखों से

भागकर जान नहीं छुड़ाता। बल्कि वह उनको लेकर संघर्ष करना चाहता है। प्रगतिवाद सामूहिक क्रान्ति का नेतृत्व करता है। वह यथार्थ का कल्पित रूप नहीं पेश करता, अपितु उसका सच्चा रूप उपस्थित करता है। वह समानता और स्वतन्त्रता का सन्देश देता है। वह दलितों और पीड़ितों से सहानुभूति व्यक्त कर, उन्हें बल प्रदान करता है और विद्रोह का पाठ पढ़ाता है। असमानता या परतन्त्रता जहां भी नजर आती है—समाज में, धर्म में, राजनीति मे, वहीं कवि का कुठार पडता है। प्राचीन रूढ़ियों और विश्वासों मे पिसती हुई जनता को मुक्ति दिलाना ही प्रगतिवादी कवियों का उद्देश्य है। प्राचीन व्यवस्था से इन्हे सर्वथा असन्तोष है और ये उसे उखाड़ फेंकने को ही लालायित रहते हैं। ये विश्व के पीडितो की उन्नति चाहते हैं, अपने ही देश के पीडितों की नहीं। ये प्राणी प्राणी मे भेद न देखकर सब के उत्थान के पक्षपाती हैं। अत्याचार इन्हें सह्य नहीं। साम्राज्यवादी व्यवस्था के ये शत्रु हैं। ये वर्तमान जीवन व्यवस्था, सभ्यता संस्कृति को मिटाकर ही नवीन निर्माण करना चाहते हैं। व्यक्ति में विश्वास न रख ये समष्टि में विश्वास रखते हैं—व्यक्ति को समष्टिहित त्याग करना चाहिये। सर्वजन-हित ही इनका मापदण्ड है, जिससे ये प्रत्येक वस्तु को नापते हैं। पन्त के मत से, "प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है। वैसे तो सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहा है, परन्तु आधुनिक काल का प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर, जन-समाज की सामूहिक प्रगति का पक्षपाती है।" प्रगतिवाद वस्तुतः साहित्य में समाजवादी राजनैतिक विचारधारा का प्रकाशन है, जिसमे कहीं कहीं कम्यूनिज्म भी आजाता है। संक्षेप में प्रगतिवाद निम्न उद्देश्यों को लेकर चलता है—

साहित्य को शोषित दलित वर्गों का पक्ष लेना चाहिये। साहित्य और कला दलितों की उन्नति का साधन बनें।

पतनोन्मुख पूंजीवाद शत्रु है। इसलिए उसका विरोध करे।

शोषण मिटाया जाय और समता का भाव स्थापित करे।

जन-सम्पर्क द्वारा जन-संस्कृति का निर्माण करके, नवीन व्यवस्था के लिए क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करे।

प्रगतिवाद की अन्य विशेषताएं संक्षेप में ये हैं।

प्रगतिवाद यथार्थ का पक्षपाती और आदर्श का विरोधी है। जो है वह उसे ग्रहण करता है, जो होना चाहिये, उसमे नहीं फंसता। अतएव प्रगतिवादी साहित्य में जीवन के सुन्दर और भीषण दोनों ही रूपों के चित्र आए हैं। वह कुरूपता पर पर्दा नहीं डालता और न उससे भागता ही है। पूर्व गौरव मे भूलकर वास्तविकता की ओर से भी आंखें नहीं बन्द करता।

प्रगतिवाद सामाजिक दुर्दशा का ही चित्रण नहीं करता है, अपितु क्रान्ति द्वारा, उसका हल भी बताता है।

दलित वर्ग, अत्याचारी वर्ग, राजनैतिक घटनाएं और स्थितियां, सरकारी दमन, विद्रोह, विनाश आदि इसके वर्ण्य विषय बनते हैं।

प्रगतिवाद मे उपयोगितावाद को दोनो रूपो मे लिया गया है—काव्य शैली में भी काव्य के उपयोगी अंगों का ही ग्रहण हुआ है और विषय पक्ष मे भी उपयोगी विषयो को ही लिया गया है। अतएव प्रगतिवादी काव्य मे मधुरता के स्थान में कठोरता और ओजमयता एव सरसता के स्थान में बहुत नीरसता है। प्रगतिवादी कवि एक राजनैतिक व्याख्याता के रूप में प्रतीत होता है। सीधे प्रभावोत्पादक ढंग मे भाव कहे जाते हैं।

प्रगतिवाद मे, दुरूहता है, कृत्रिमता है और सौन्दर्य इतना नहीं, जितनी प्रगति है। कवित्व की अपेक्षा उसमें वाद का वर्णन अधिक है। जीवन की जलन, क्रान्ति और पीडा के साथ जीवन के सौन्दर्य के दर्शन उसमे नहीं है। प्रगतिवादी काव्य की यही रूप-रेखा है। दो एक उदाहरण—

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें,
और उठी जातीं उनपर ही वैभव की ऊँची दीवारें।

× × × ×

कंकालों की अतुलराशि पर अति विस्तृत साम्राज्य खड़े है।

× × × ×

दुनियां भर के श्रमजीवो ! जागो कुछ अपनी ताकत जानो।

....

मदारुद्र का नयन तीसरा प्रलयंकर गति से तुम खोलो।

७—पन्त जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण का क्या स्थान है? अपने कथन के समर्थन में उनकी रचनाओं से उदाहरण दीजिये।

उत्तर—प्रकृतिचित्रण का पन्त-काव्य में बहुत विशेष स्थान है। आधुनिक काल के प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में पन्त जी का नाम सर्व-प्रथम आ जाता है। प्रकृति-चित्रण जितना और जिस ढंग का पन्त-काव्य में हुआ है, उतना और वैसा आधुनिक काल के अन्य किसी कवि के काव्य में नहीं हुआ। वैसे तो छायावाद के प्रचार के साथ ही प्रकृति का नवीन ढंग से चित्रण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु उसकी विशेषता केवल पन्त में ही मिलती है। पन्त प्रकृति से परम परिचित, उसके सहचारी, सूक्ष्म एवं सत्य निरीक्षक और उसके प्रेमी कवि हैं, जिनमें, सौन्दर्य का, कोमल, मधुर और संगीतमय भाषा में, कल्पनारंजित भावमय चित्र चित्रित करने की अद्भुत क्षमता है। पन्त कुमायूँ या कूर्मांचल प्रदेश के रहने वाले हैं, जहां का प्राकृतिक सौन्दर्य अनन्त है। कवि का अधिकांश समय प्रकृति के साहचर्य में ही व्यतीत हुआ है। अतः प्रकृति के स्वरूप का, प्रभाव का, जैसा सत्य, सूक्ष्म और विशद अनुभव पन्त को है, उतना अन्य को नहीं। कवि ने उसका छायावादी शैली में चित्रण भी वैसा ही सच्चा किया है। कवि का प्रकृति विषयक अनुराग भी ऐसा ही अन्यों से विशिष्ट है। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार "छायावाद के भीतर माने जाने वाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम सम्बन्ध पन्त जी का ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति के अत्यन्त रमणीय खण्ड के बीच उनके हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है।" स्वयं पन्त के अनुसार भी कविता की प्रथम प्रेरणा उन्हें प्रकृति से ही मिली थी, "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहिले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिस का श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहिले भी मुझे याद है, मैं घन्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था। .... ..मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य किसी रूप में व्याप्त है।" किन्तु इस समस्त चित्रण को एक ही दृष्टिकोण से नहीं किया कवि ने। उसका प्रकृति-दर्शन, उसके विचारों और अनुभूतियों के साथ बदलता

रहा है। पन्त का प्रकृति-वाद प्रमुखतया तीन दशाओं में होकर विकसित हुआ है, जिसका स्पष्ट अनुभव उनके काव्य में होता है।

छाया-वाद में प्रकृति का वर्णन उसे सजीव या चेतन मानकर होता है। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता मानकर ही कवि उसके प्रति अनुराग की अनुभूति करता है। छाया-वादी कवि-गण प्रकृति को नारी रूप में देखकर ही उसके सौन्दर्य पर लुब्ध हुए हैं, जिस से प्रकृति के साथ मानव-हृदय का साक्षात् और सजीव सा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। महादेवी के अनुसार "छाया-वाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था।" पन्त जी में यह विशेषता अत्यन्त समुज्ज्वल रूप में मिलती है। पन्त जी ने प्रकृति का सजीव सुन्दरी के रूप में चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति की विविध मधुर सुन्दरताओं और सरस चेष्टाओं का चित्रमय शैली में वर्णन किया है। किन्तु यह वर्णन तीन दृष्टि-कोणों से कवि करता है।

पन्त का पहिला प्रकृति-दर्शन प्रकृति के स्थूल सुन्दर रूपों को लेकर चला है। कवि को प्रकृति के सहचार में सहज या प्राकृतिक सुख का अनुभव होता है। वहां उसका यह आनन्दोल्लास ऐसे उमड पड़ता है, जैसे शिशुओं में या पशुपक्षियों में उमड पडता है। यह स्वाभाविक उल्लास प्रकृति की नैसर्गिक शोभा को देखकर उदित होता है और कवि बच्चों की तरह बादलों को देख बोल उठता है—

कभी चौकडी भरते मृग से,
भूपर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते,

छायावाद की पद्धति में पन्त ने प्रकृति का नारी रूप में भी सजीव चित्रण किया। यहां पर कवि प्रकृति के सजीव पर काल्पनिक नारी-सौन्दर्य को देखकर विमुग्ध हुआ है। "प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।"—पन्त-ने उस के विविध सुन्दर और सरस

रूपों का चित्र बनाया है, उसकी रस-भरी चेष्टाओं का चित्र-मय वर्णन किया है—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही, मा!
वह अपनी वय बाली में।

* * *

पथ में विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन में
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आंगन में।

इन काव्यों में छाया-वादी पद्धति के अनुसार कवि ने प्रकृति के रूपों को अपनी भावनाओं में रंगकर चित्रित किया है। "प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है, कभी कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक लिबास पहिना दिया है।" किन्तु अपने व्यक्तित्व से पृथक् होकर भी कवि ने प्रकृति का यथातथ्य स्वतंत्र चित्रण किया है—

बाँसों का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट्।

* * *

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़॥

* * *

[illegible] [illegible] में [illegible], [illegible] है सारा ग्राम प्रान्त।
क्योंकि [illegible] [illegible] सो गया निखिल वन का मर्मर॥
[illegible] [illegible] भी [illegible] लीन निश्चल [illegible] [illegible] मुक्ति-हीन।

[illegible] किसी [illegible] [illegible] [illegible]। कवि प्रकृति की सुन्दरता पर ही [illegible]। किन्तु [illegible] की विचार-धारा में परिवर्तन के साथ ही प्रकृति-

दर्शन में भी परिवर्तन आया। कवि को जीवन के सुख और दुख दोनों का साक्षात् अनुभव होता है। प्रकृति में कवि को सुन्दरता के साथ उग्रता और कठोरता भी नजर आती है, अनवरत परिवर्तन की। प्रकृति में अनवरत परिवर्तन चलता है, सुन्दरता कुरूपता और विनाश में लीन हो जाती है। कवि को सुख का दुख में, सुन्दरता का कुरूपता में और जीवन का मृत्यु में अन्त दिखाई देता है। प्रकृति के सौन्दर्य में भी कवि को विनाश की काली छाया दिखाई देती है—

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूंदती उधर मृत्यु क्षण क्षण,
वही मधु ऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिन्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती, जीवन है भार।
आज तो सौरभ का मधु मास
शिशिर में भरता सूनी सांस।

  

अचिरता देख जगत् की आप
शून्य भरता समीर निश्वास
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आंसू नीलाकाश
सिसक उठता समुद्र का मन
सिहर उठते उडगन।

यहां तक कवि ने प्रकृति के मधुर सुन्दर और कठोर निर्दय रूप दोनों का वर्णन किया है। इससे आगे उसके प्रकृति-वाद में दार्शनिक दृष्टि गहरी हो जाती है। वह इस परिवर्तन को ही जीवन मानता है और मृत्यु में जीवन और रात में प्रातः के दर्शन करता है। सुख और दुख, सुन्दरता और कुरूपता की सापेक्ष स्थिति का दर्शन करता है। कवि को इस दशा में पतझड़ में ही बसन्त के दर्शन होते हैं—

मैं झरता जीवन डाली से
साल्हाद शिशिर का शीर्ण पात ।
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नव मधु का प्रभात ।

कवि को परिवर्तन में ही जीवन नजर आता है । प्रकृति की संहारक उग्र शक्ति में कवि को सर्जन की भावना नजर आती है । कवि के प्रकृति-दर्शन में दार्शनिक चिन्तन का समावेश हो जाता है और कवि प्रकृति की अनन्त सर्व-व्यापिनी सत्ता को स्वीकार करके उसके सुन्दर और कुरूप या जीवनदायी और संहारकारी दोनो रूपों के सामन्जस्य मे ही जीवन का विकास देखता है । पन्त-काव्य मे प्रकृति-वर्णन का यही स्थान और यही स्वरूप है ।

८ "अलंकार काव्य का अनुगामी है, काव्य अलंकार का अनुगामी नहीं ।" इस मत की व्याख्या कीजिये ।

उत्तर—उपर्युक्त मत का अभिप्राय यह है कि अलंकार काव्य के शोभावर्द्धक साधन हैं, जिनका उद्देश्य ही काव्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करना है, अपना ही चमत्कार दिखाना नहीं । व्यक्ति मुख्य है, अलंकार उसके लिए हैं । अत गौण हैं । यही काव्य और अलंकार के विषय में समझना चाहिये । काव्य की आत्मा रस के आस्वाद में अभिवृद्धि करते हुए ही अलकार, काव्य-शास्त्रियों ने वास्तविक अलंकार माने हैं । जहा केवल अलकार के चमत्कार-प्रदर्शन के लिए ही काव्य-का निर्माण हुआ है, वहां साहित्य के आचार्यों ने अधमकाव्य ही माना है । रीति-काल के अनेक कवियों ने अलंकार-चमत्कार के प्रदर्शन के लिए ही काव्य-रचना की । वे लोग स्थूल चमत्कार के विशेष पक्षपाती थे । केशव उनमे प्रमुख हैं । उन्होंने अधिकांश-मे अलकारों के लिए ही अलंकारों का प्रयोग किया है, काव्य के लिए नहीं । अतएव इनके काव्य ध्वनि या उत्तम काव्य की श्रेणी मे नहीं आते । इनके विपरीत तुलसी और सूर की अलंकार-योजना भी है, जो सर्वथैव-भाव या रस के उत्कर्ष के लिए है । अतएव उनके काव्य उत्तम कोटि के हैं । अलंकारों का ऐसा ही सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक के नाते, काव्य के लिए प्रयोग, साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन दोनो ही आचार्यों ने

स्तुत्य और वांछनीय माना है, जो वस्तुतः ठीक है। क्योंकि काव्य और अलंकार का वही सम्बन्ध है, जो मनुष्य और आभूषणों का, दोनों ही प्रकार के अलकार अलंकार्य (मनुष्य और काव्य) वस्तुओं की शोभा को बढ़ाने के लिए हैं। किन्तु, क्या कभी मनुष्य अपने अलंकारों की शोभा को बढ़ाने के लिए अपने शरीर की या अंगों की विकृति करता है, उनकी काट-छांट करके आभूषणों के अनुकूल छोटा करवाता है? कोई करवाता भी है, जैसा कि कर्ण-छेदन और नासिका-छेदन आदि कई स्थानों पर लोग करवाते हैं, तो भी उसकी सीमा है, उस से बाहर निकल कर बुरी तरह अंगच्छेदन करना जंगली-पन का ही सूचक है। दूसरे, वहां भी प्रधान उद्देश्य अपनी शोभा ही होता है। जहां अलंकार-प्रदर्शन के लिए ही—जैसे कि मारवाड़ में—अलंकार पहिने जाते हैं, वहां व्यक्ति का सौन्दर्य विकृत हो जाता है, केवल अलकारों की तडक भडक रह जाती है। यह भी असभ्यता का ही सूचक है। और, जहा अलकारो के पहिनने वाले मे रूप सौन्दर्य का लेश भी न हो, वहां तो अलकारों का ऐसा जमघट अत्यन्त कुरुचिजनक होगा।

काव्य और अलंकार का भी ऐसा ही सम्बन्ध है। सत् कवि अपने काव्य में अलंकारो की योजना इसीलिए करता है, कि उसके भाव के सौन्दर्य और प्रभाव में वृद्धि हो अथवा उसके प्रकाशन में विशदता आये। किन्तु यदि कोई अलकारों के आकर्षण में फंसकर, काव्य के निर्बल भाव—क्योंकि ऐसे अलकार-प्रधान काव्य में भाव निर्बल, अपुष्ट ही रहता है—के गले में इतने अलंकार पहिनादे कि भाव उनके भार से दब जाय, अथवा उनकी चमक दमक में स्वयं ही लुप्त सा हो जाय, तो वह अधम कोटि का काव्य ही माना जायगा। काव्य की आत्मा रस या भाव मानी गयी है, जो सर्व-प्रधान रहनी चाहिये, काव्य के अन्य सब अलकार आदि उपादान, उसी के सहायक के रूप मे, उसके अनुगामी बन कर, आने चाहियें, तभी काव्य वस्तुतः उत्तम काव्य कहला सकता है, नहीं तो अलकार-प्रधान काव्य केवल सूक्ति मात्र हो जाता है। साहित्य के सभी महान् और सत्कवि इसी सिद्धान्त को लेकर चले हैं। उपर्युक्त प्रश्न-गत उक्ति में इसी विचारधारा का संक्षिप्त उल्लेख है।

निम्नलिखित छन्दों में, जो अलङ्कार हों, उन्हें लिखिए तथा संक्षेप में उनके लक्षण भी बताइये:—

(क) सांझ के लाल लाल बादल में है दिखाती कमाल चन्द्रकला।
या वही लाल पर अमी धारा या हँसी होठ पर पड़ी दिखला॥

(ख) क्या हुआ प्यार पालने में पर जो नहीं है कमाल भेजे में।
वे रखे जायं कालिजों में भी जो गये रखे कलेजे में॥

(ग) सखि! नभतल तारे जो लगे दीखते हैं,
वे कुछ ठिठके-से सोच में क्यों पड़े हैं?
ब्रज-दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी?
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं?

(घ) विपुल नीर बहाकर नेत्र से मिस कलिन्द-कुमारी-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती व्रज की धरा॥

उत्तर—(क) सन्देह अलङ्कार है। समानता या सादृश्य के कारण जहाँ उपमेय में अनेक उपमानों का 'क्या' आदि प्रश्न-सूचक शब्दों से सन्देह प्रकट किया जाय, वहाँ सन्देह होता है। जैसेकि, उपर्युक्त उदाहरण में, लाल बादल में वर्तमान चन्द्र-कला पर 'अमी-धारा' आदि अनेक उपमानों का सन्देह व्यक्त किया गया है।

(ख) अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। समर्थनीय अर्थ का जहां समर्थक अर्थ से समर्थन किया जाय, वहां यह अलङ्कार माना जाता है। यह समर्थन कभी सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ से और कभी विशेषार्थ का सामान्यार्थ से होता है। कभी सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से भी होता है। प्रश्नगत उदाहरण में सामान्य अर्थ का "लाडलों को कॉलिजों में भी जाना चाहिए," इस अर्थ का "प्यार से पले भी व्यर्थ हैं यदि दिमाग में कमाल नहीं है" इस सामान्य अर्थ से समर्थन हुआ है।

(ग) प्रश्न अलङ्कार है। जहां किसी अज्ञान जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रश्न किये जायं। इस पद्य में भी ऐसा ही हुआ है। अपनी चिन्ता-ग्रस्त दशा में तारों को भी चिन्तित अनुभव कर कोई उसके विषय में प्रश्न करता है। अवश्य ही ये प्रश्न भाव या चमत्कार-पूर्ण होने चाहिएँ, तभी

वे अलङ्कार कहे जा सकते हैं। अन्यथा साधारण प्रश्न भी अलङ्कार माने जायेंगे। उपर्युक्त अवतरण में प्रश्न चमत्कार-पूर्ण हैं। नायिका की मनोभावना का भी सूचन करते हैं।

(घ) उत्प्रेक्षा अलंकार है, जहां प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की संभावना की जाती है। जहां अपन्हुति-पूर्वक उत्प्रेक्षा की जाय, वह सापन्हवोत्प्रेक्षा होती है। ऐसे स्थल पर मिस, व्याज आदि पद उत्प्रेक्षा के वाचक होते हैं। प्रस्तुत पद्य में उत्प्रेक्षा का यही भेद—सापन्हवोत्प्रेक्षा—है। व्रजभूमि कालिन्दी-प्रवाह के मिस या व्याज से मौन होकर रुदन कर रही है। प्रवाह में अश्रुजल की उत्प्रेक्षा है, वाचक पद मिस है।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ३ संवत् २००४

सूचना—प्रश्न १ अनिवार्य है। शेष प्रश्नों में से किन्हीं चार के उत्तर लिखिये।

१—निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं चार की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिये—

(क) प्रसून योंही न मिलिन्द वृन्द को विमोहता और करता प्रलुब्ध है।
..........................उसे बनाता बहु प्रीति-पात्र है।

प्रसंग—प्रिय प्रवासका पद्य है। मथुरा से कृष्ण द्वारा भेजे ऊधो आये हैं। गोप-मंडली उन्हें घेर कर बैठ गई है। पहिले ऊधो कृष्ण की क्षेम-कुशल सुनाते हैं, तदनन्तर गोपों में एक वृद्ध गोप उद्धव को कृष्ण के गुण सुनाता है।

व्याख्या—फूल यों ही (व्यर्थ में ही) भ्रमरों को मोहित और लुब्ध (आकृष्ट) नहीं करता। प्रत्युत, उसकी (फूल की) प्यारी सुगन्धि ही उसे (पुष्प को भ्रमरों के). बहुत प्रेम का पात्र बनाती है।

अन्योक्ति के द्वारा कवि ने पुष्प भ्रमर के वर्णन द्वारा कृष्ण और व्रज जनों के पारस्परिक प्रीति-सम्बन्ध का वर्णन किया है। जैसे कि भ्रमर पुष्प की ओर निष्कारण, व्यर्थ में ही, आकृष्ट और विमोहित नहीं होते, प्रत्युत पुष्प के रूप रस गन्ध आदि के कारण से होते हैं, ऐसे ही व्रजजन भी

कृष्ण के लिए योंही नहीं तड़पते, अपितु कृष्ण में ही कुछ ऐसा अलौकिक गुण या आकर्षण है कि सब उनकी ओर आकृष्ट हैं।

सरोज है दिव्य सुगन्ध से भरा'' '''मयंक है श्याम बिना कलंक का।

प्रसंग—यह उसी प्रसंग—एकादश सर्ग—का पद्य है। वही वृद्ध कृष्ण के रूप और गुण का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—(वह कृष्ण) दिव्य (अलौकिक) सुगन्धि से भरा कमल है। संसार में (वह) सुगन्धि-युक्त स्वर्ण है। पुष्पों से शोभित पारिजात (एक स्वर्गीय वृक्ष, जो इच्छा का फल देने वाला है) है और वह श्याम बिना कलंक का चन्द्रमा है।

कृष्ण की अलौकिक गुण-सम्पन्नता व्यक्त होती है। कवि ने रूपकों की योजना की है। कृष्ण में कमल, स्वर्ग, पारिजात और चन्द्र उपमानों का आरोप है, किन्तु कृष्ण में कुछ अधिकता दिखाकर। उल्लेख भी है।

(ल) सैकत शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल '' ''
''''''''''सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।

प्रसंग—पन्त की 'नौका विहार' नामक कविता का अंश है। कवि ने चान्दनी रात में निश्चल गंगा का वर्णन किया है। गंगा में स्त्री-रूप का आरोप करके उसे लेटी हुई दिखाया है।

व्याख्या—दूध सी श्वेत, कृशांगी, गर्मी से कृश की हुई (प्रवाह में कम) गंगा, नदी के रेत की शैया पर, थकी सी, व्यथित सी, निश्चल लेटी हुई है। तपस्वी-कन्या (जन्हु ऋषि की ओर सकेत है, जिसने गगा को पीकर जाघ से निकाला था। अतएव गंगा को जान्हवी भी कहते हैं।) गंगा के मुख-चन्द्र से कोमल कर-तल प्रकाशमान हैं और वक्षस्थल पर कोमल कुन्तल (घुघराले काले केश पाश) लहरा रहे हैं। (गंगा के) शुभ्र वर्ण के अंगों पर, आकाश, चंचल आंचल के समान, सिहर-सिहर कर (कम्पित होकर) अत्यन्त चंचल बना लहराता है। (जल में आकाश का प्रतिबिम्ब वस्त्र सा दिखता हैं, जो हिलते हुए शरीरांचल के समान लगता है।) उसपर, चन्द्रमा की रेशम सी कोमल और पीली सी चन्द्रिका से भरकर, गोल गोल और कोमल लहरें, साड़ी की सिकुड़न सी सिमटी हुई हैं। (जल की साड़ी पर

लहरें साड़ी की सिकुड़न सी लगती हैं। वे चांद की चांदनी में रेशम सी हो गई हैं।)

पन्त ने छाया की पद्धति के अनुसार, गंगा को नारी-रूप देकर वर्णन किया है। वह थकी सी निश्चल लेटी है। जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र मुख है। जल में पड़ती हुई छाया काले कुन्तल हैं। चन्द्रिका-पूर्ण जल की रेशमी साड़ी है, जिसमें लहरों की सलवटें पड़ी हुई हैं। तट करतल है। शान्त चन्द्र-दीप्त गंगा का चित्रमय वर्णन है। प्रकृति का इस रूप में वर्णन करना छायावाद के प्रकृति वर्णन की विशेषता है। बड़ा सुन्दर रूपक है।

(ग) बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ ' अधर भी हूं और हेमन्त की चान्दनी भी हूं।

प्रसंग—श्रीमती महादेवी के 'आधुनिक कवि' नामक संग्रह की ३२ वीं कविता का भाग है। एक रहस्यानुभूति का वर्णन है। रहस्यवादी की तदाकार दशा का वर्णन है।

व्याख्या—मैं तुम्हारी बीन भी हूं और रागिनी भी हूं। मैं विनाश भी हूं और विकास (सृष्टि) का क्रम भी हूं। त्याग का (समुज्वल) दिन भी हूं और आसक्ति (मोह) का अन्धकार भी हूं। मैं तार भी हूँ, उस पर किया हुआ आघात (ताड़न) भी हूं और झंकार की गति (लय-तान) भी हूँ। मैं (मधु को) पात्र (कुसुम) भी हूं, मधु भी हूँ, भ्रमर भी हूँ और (उस मधु को पीकर उत्पन्न होने वाली) मधुर विस्मृति (मस्ती) भी हूं। मैं अधर भी हूँ और (अधर पर खेलने वाली) मुस्कान की कान्ति (चमक) भी हूँ।

रहस्यवादी की चरम दशा का वर्णन है, जब विश्वात्मा—अलक्ष्य अलौकिक प्रियतम—के साथ आत्मा की तदाकार दशा हो जाती है। परमात्मा और आत्मा का भेद नहीं रहता और आत्मा में विश्वात्मा (परमात्मा) के गुणों का आविर्भाव होने लगता है। यहां भी विश्वात्मा—अपने प्रियतम—के गुणों का आत्मा मे आविर्भाव दिखाया गया है। तभी आत्मा में विरोधी गुणों की स्थिति वर्णित है। वह संहार भी है, सृष्टि भी है, त्याग भी है और आसक्ति भी है। वह सब कुछ है, तार भी है, आघात भी है और झंकार

भी है। मधु, मधुप और मधुजन्य मस्ती भी है। कारण कार्य का भेद लुप्त हो जाता है। कवि विश्वात्मा के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता है।

(घ) प्रस्तुत पद्य परीक्षा-ग्राह्य है।

(ङ) अन्धकार के अट्टहास सी .....क्षण भर रहा उजाला में।

प्रसंग—ये दोनों ही पद्य कामायनी के चिन्ता सर्ग के हैं। चिन्ता का ही विविध उपमादि से कवि ने वर्णन किया है।

व्याख्या—(कवि चिन्ता को उद्दिष्ट करके कहता है कि तू) अन्धेरे के अट्टहास सी (क्योंकि नैराश्य के अन्धकार का स्पष्ट रूप चिन्ता ही होता निराशा और चिन्ता में कारण-कार्य भाव है) निरन्तर मुखरित (बोलता हुआ) होता हुआ चिरन्तन (आदिम) सत्य है। (चिन्ता का अनुभव सदैव होता रहता है। चेटक लगी रहती है।) तू सृष्टि के कण कण में छिपी हुई है, यह शाश्वत और सुन्दर सत्य है (सृष्टि में चिन्ता सबमें है, सृष्टि की उत्पत्ति ही चिन्ता से होती है। एकोऽहं बहु स्याम् के पश्चात् चिन्तन से ही विश्व की उत्पत्ति हुई)।

यह जीवन तेरा क्षुद्र सा अंश है, जो नीली मेघ माला में व्यक्त है, जो विद्युद् रेखा के समान सुन्दर क्षण भर उजाले में रहा है। जीवन चिन्तामय है, अतः चिन्ता का एक कण है, जो सृष्टि के अन्धकार में क्षण-भर सुन्दर चमकता है, जैसे घन में बिजली चमकती है। जन्म से पहिले और मृत्यु के पीछे घना अन्धकार है, पता नहीं वहां क्या रहस्य है। उस अन्धकार में जीवन ही क्षण भर को—स्वल्प काल के लिए—सुन्दर रूप में चमकता है। वह जीवन चिन्तामय है, अतः उसी का एक क्षुद्र अंश है।

कवि की कल्पना और अभिव्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है। अनेक उपमानों से चिन्ता के विषय में तात्त्विक और रहस्यमय संकेत दिये गये। कवि ने सृष्टि के गूढ़ रहस्य का संकेत दिया है।

(च) यह अवतरण भी कोर्स—ग्राह्य है।

२ "प्रिय प्रवास के कवि ने, कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाज-सेवक के स्वाभाविक और मानुषिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत

करने का प्रयत्न किया है" उदाहरण सहित इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए।

उत्तर—इस उक्ति की सत्यता कवि के अपने ही कथन से प्रमाणित हो जाती है, "मैंने श्री कृष्णचन्द्र को ग्रन्थ में एक महा पुरुष की भान्ति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं"। कवि का कृष्ण के विषय में यह नवीन दृष्टिकोण है। सामयिक विचार धारा से प्रभावित होकर कवि ने कृष्ण चरित्र को ऐसे रूप में चित्रित किया है, जो दिव्य या अलौकिक प्रतीत नहीं होता, अपितु लौकिक प्रतीत होता है। कवि का उद्देश्य है, कृष्ण को ऐसे महापुरुष और असीम शक्ति-शाली एक युग पुरुष के रूप में चित्रित करना, जिसे आधुनिक काल के बौद्धिक लोग भी बिना नाक मुंह चढ़ाए, स्वीकृत कर सकें। कवि ने अपने उद्देश्य को पूरी तरह निभाने की चेष्टा की है और कृष्ण के समस्त दैवी कृत्यों को मनुष्य-कृत रूप में चित्रित किया है। उन सभी अतिमानुषिक (दैवी) घटनाओं या कार्यों का लौकिक और बौद्धिक रूप में समाधान किया है। अर्थात् उन्हें ऐसे स्वाभाविक रूप में दिखाया है कि वे अलौकिक नहीं प्रतीत होती हैं।

कृष्ण महापुरुष हैं, युग के नेता, स्वदेश भक्ति में सबसे आगे, कर्तव्य उनका प्राण है। कर्तव्य के पीछे वे प्रेम का भी बलिदान कर देते हैं। व्रज का मोह तोड़कर कर्तव्य—वश मथुरा में रहते हैं और स्वयं तड़पते हुए भी कर्तव्य को छोड़कर व्रज जाने का विचार तक नहीं करते। व्रजजनों की स्मृति में वे भी तड़पते हैं। राधा को याद करके उनकी क्या दशा होती है, कृष्ण उसका स्वयं वर्णन करते हैं—

उत्कण्ठा से विवश नभ को भूमि को पादपों को,
ताराओं को, मनुज मुख को प्रायशः देखता हूं।

कर्तव्य और स्वदेश की भावना उनमें सर्वोपरि रहती है। देखिए नाग नाथने से पूर्व वे अपनी जन्म-भूमि और परोपकार के प्रतिश्रद्धा भाव का कैसा वर्णन करते हैं—

अतः करूंगा यह कार्य (नागनिर्वासन का) मैं स्वयं,
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को ले।

स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं,
न भीत हूँगा विष काल सर्प से।

❀ ❀ ❀ ❀

सदा करूंगा अप मृत्यु सामना,
सभीत हूँगा न सुरेन्द्र वज्र से।
कभी करूंगा अवहेलना न मैं,
प्रधान धर्माङ्ग परोपकार की।

कवि वर्णन करता है—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा,
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि समूह--कष्ट की,
हुए समुत्तेजित वीर केसरी।

उस महापुरुष को सदैव कर्तव्य, सेवा और परोपकार की धुन रहती है। उसके लिए वह प्राणों तक को हाथ में लिये फिरता है।

व्रज वालों का भी प्रेम किसी अलौकिक भावना के कारण कवि ने नहीं दिखाया। व्रज जन कृष्ण के रूप और गुण एवं उनकी सेवा-भावना पर मोहित थे। उद्धव के आने पर एक वृद्ध गोप देखिये किन शब्दों में इसी भाव की अभिव्यंजना करता है—

विचित्र ऐसे गुण हैं व्रजेन्दु में,
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
निबद्ध सी है जिनमें नितान्त ही,
व्रजानुरागी जनकी विमुग्धता।

❀ ❀ ❀ ❀

अनूप जैसा घनश्याम रूप है,
तथैव वाणी उनकी रसाल है।
निकेत वे हैं गुण, विनीत हैं,
विशेष होगी उनमें न प्रीति क्यों?

कृष्ण की अतिमानुषी लीलाओं का भी कवि ने लौकिक रूप में ही वर्णन किया है। देखिये यमुना से कालीय नाग को सपरिवार निकालने का कैसा मनुष्योचित वर्णन किया है—

अहीश को नाथ विचित्र रीति से,
स्वहस्त में थे वर डोर को लिये।
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहुः,
प्रबोधिनी मुग्धकरी विमोहिनी।

❀ ❀ ❀ ❀

त्रिलोक होती जनता भयातुरा,
मुकुन्द ने एक विभिन्न मार्ग से।
चढ़ा किनारे पर सर्प-यूथ को,
उन्हें भगाया वन ओर वेग से।

जनता को भयभीत जानकर सर्पों को दूसरे रास्ते से वन की ओर खदेड़ दिया। इस सब वीर कृत्य में उनकी बांसुरी ने भी पर्याप्त सहायता दी। वेणुनाद पर विमोहित करके, सर्पों को अपने वश में कर लिया था—

व्रजेन्द्र के अद्भुत वेणुनाद से,
सतर्क संचालन से सुयुक्ति से।
हुए वशी-भूत समस्त सर्प थे,
न अल्प होते प्रति-कूल थे कभी।

इसी प्रकार पूतना को मारने के कार्य का भी देखिये कैसे लौकिक रूप में वर्णन किया है—

परम पातक की प्रति-मूर्ति सी,
अति अपावन पापिन पूतना।
पय अपेय पिलाकर श्याम को,
कर चुकी व्रजभूमि विनाश थी।
पर किसी चिर-संचित पुण्य से,
गरल अमृत अर्भक को हुआ।

विषमयी होकर वह आप ही,
कवल काल-भुजंगम का हुई।

पूतना को जहर चढ़ने में प्राचीन पुण्य संस्कारों को कारण बताकर कवि ने घटना को लौकिक रूप दिया है। शकटासुर, वकवत्स, घोटक, अरिष्ट प्रलम्ब आदि राक्षसों के हनन का भी ऐसे ही संक्षिप्त, संकेतक रूप में, वर्णन कर दिया है, जिससे उसमें अलौकिकता की गन्ध न आये। आकस्मिक विपत्तियों के रूप में उनका वर्णन दिखाया गया है। और, उनके दूर होने में कृष्ण के बल के साथ, प्राक्तन पुण्य को भी कारण दर्शाया गया है—

शकट-पात व्रजाधिप पास ही,
पतन अर्जुन वृक्ष विशाल का।
पकड़ना निज चंचु कराल से,
बक भयानक का बलवीर को।
बधन उद्यम दुर्जय वत्स का,
कुटिलता अघ संज्ञक सर्प की।
विकट घोटक की अपकारिता,
हरिनिपातन यत्न अरिष्ट का।
कपट रूप प्रलय—प्रवञ्चना,
खलपन्ना पशुपालक व्योम का।
यह समस्त महा अनर्थ थे,
व्रज-विभूषण हैं जिनसे बचे।

इन विपत्तियों के टलने के कारण रूप में बताया गया है—

अति पुरातन पुण्य व्रजेश का,
उदय था इस काल स्वयं हुआ।

कंस के बुलाने पर, उस विपत्ति को टालने के लिये लोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

विपति ज्यों अबलौं इतनी टलीं,
प्रभु-कृपा बल, त्यों यह भी टले।

हम दुखी जन का करुणानिधे,
अतिविनीत निवेदन है यही ॥

इसी प्रकार गोवर्धन पर्वत को उगली पर उठाने की घटना का भी लौकिक रूप में समाधान करने की चेष्टा कवि ने की है। दिखाया है कि उस विपत्ति के समय, गिरिगुहाओं में छुपे व्रजजनों की कृष्ण बडी फुर्ती से सेवा करते घूम रहे थे, सेवा भाव में लगे—

पहुँचते वह थे शर—वेग से,
विपत-संकुल ठौर-समस्त में।
तुरत थे करते वह नाश भी,
विपत प्रस्तुत को वरवीर लौं॥
लख अलौकिक स्फूर्ति सुदक्षता,
चकित स्तम्भित लोग समस्त थे।
अधिकतर बंधता यह ध्यान था,
व्रज-विभूषण हैं शतशः बने॥

उगली पर पहाड उठाने की बात कैसे चली—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने, उसे
रख लिया उंगली पर श्याम ने।

इसी प्रकार दावानल लगने आदि की घटनाओं का भी कवि ने ऐसा ही लौकिक मानुषिक रूप-वर्णन किया है, जिससे उनमें ब्रह्म-बुद्धि जागृत न हो। यद्यपि अलौकिकता का भाव भी कहीं कहीं आ गया है, जैसे कि कृष्ण को कालिय नाग के सिर पर खडे हुए वर्णन करने के प्रसंग में—

फणीश शीर्षोपरि राजती रही,
सुमूर्ति शोभामयि श्रीमुकुन्द की।

किन्तु, तथापि कवि ने अपनी बात को निभाने की पूर्ण चेष्टा की है और कृष्ण का परोपकारी, सेवा-व्रती, देश-भक्त, कर्तव्यनिष्ठ और अपार

शक्ति-शाली महापुरुष के रूप में ही चित्रण करने का प्रयत्न किया है। अतः प्रश्न-गत उक्ति की सत्यता सम्यक्तया प्रमाणित हो जाती है।

३—कामायनी के मूल में जो आख्यान है, उसका विवेचन करते हुए कवि की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—कामायनी का आख्यान, जैसा कि प्रसाद जी ने स्वयं ही कामायनी के आमुख में अनेक प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया है, वेद, उपनिषद् और पुराण आदि के आधार पर स्थित है। इन्हीं ग्रन्थों में बिखरे हुए घटना-सूत्रों को एकत्रित कर, कवि ने अपनी योजना और कल्पनानुसार कामायनी के कथानक का निर्माण किया है। कामायनी में मानव-सृष्टि के आदिम काल का इतिहास वर्णित हुआ है। मनु को भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में मानव-सृष्टि का प्रथम उत्पादयिता आदि पुरुष माना गया है, जिसने मानव की उत्पत्ति भी की और मानव जीवन का विकास भी किया। मनु के साथ श्रद्धा और इड़ा दो पात्र और हैं, सृष्टि—उत्पत्ति के इस महानाटक में। इनमें से एक के सहयोग से मनु मानव का उत्पादन करते हैं और दूसरी के साहचर्य से मानव जीवन या भौतिकता का विकास करते हैं। भारतीय पुराणों के आधार पर अनेक मन्वन्तर हो चुके हैं, जिनमें विभिन्न मनु हुए। किन्तु इस आख्यान से जिस मनु का सम्बन्ध है, वह उन मनुओं में अन्तिम वैवस्वत मनु है, जिन्होंने इस मन्वन्तर की सृष्टि की। ये सूर्य-पुत्र हैं और सृष्टि का यह कल्प भी सौर कल्प कहलाता है। अतः इस मन्वन्तर के प्रथम पुरुष या प्रजापति ये ही वैवस्वत मनु हैं। इनके सम्बन्ध में वेदों में अनेक कथाएं उल्लिखित हैं, जिनके सूत्र परस्पर विश्रृंखलित हैं। उपनिषद् पुराण आदि में भी मनु के जीवन-सम्बन्धी इसी प्रकार की विश्रृंखलित अनेक घटनाओं का वर्णन है। उनमें जल-प्लावन (प्रलय) के पश्चात् देवांशभूत मनु के द्वारा श्रद्धा और इडा के संयोग से मनुष्य सृष्टि का उत्पादन और विकास करने की घटना भी एक है, जिसका विशद वर्णन हुआ है। साथ में श्रद्धा और इच्छा के पारस्परिक विरोध का भी वर्णन है। प्रसाद जी ने इन्हीं प्राचीन ऐतिहासिक व पौराणिक कथा-सूत्रों को एकत्र जोड़कर, उनमें अपनी अद्भुत कल्पना का

रंग देकर, कामायनी के कथा-सूत्र का निर्माण किया है। उसमें मनु के इसी सर्जन व्यापार का वर्णन हुआ है, श्रद्धा और इडा के सहयोग से।

कामायनी में प्रमुखतया तीन पात्रों का चरित्र-चित्रण हुआ है—मनु, श्रद्धा अथवा कामायनी और इडा। इन तीनों के ही जीवन का आधार लेकर कथानक चलता है और उन्हीं में समाप्त हो जाता है। मनु सूर्य-पुत्र थे, अतः देवता थे। प्रलयानन्तर जब एक वृहद् मत्स्य द्वारा उनकी नौका एक उच्च पर्वत-शृंग पर पहुंचा दी गई, तो मनु उतर कर प्रकृति के सौन्दर्य से मुग्ध हो, एक जगह बैठ जाते हैं, अपनी जाति—देवताओं—की सृष्टि का संहार होने पर, उनके हृदय से निराशा भरी है। क्रमशः चिन्ता का उदय होता है। मनु देवताओं के विनाश के कारणों पर चिन्ता करते है। देव-सन्तति मनु में मानवता के प्रथम लक्षण चिन्ता का उदय होता है। इसी चिन्ता में पडे मनु देवताओं की कर्म की ओर उपेक्षा से भरी विलास वृत्ति को ही उनके विनाश का कारण मानते है। इसी चिन्ता में, प्रातः होता है। आशा का उदय होता है। मनु एक गुफा में निवास बनाकर, यज्ञ-कर्म करते हैं। एक दिन समुद्र तट पर उनकी श्रद्धा से भेंट होती है। श्रद्धा को प्राचीन ग्रन्थों में काम गोत्र मे उत्पन्न बताया गया है। ऋग् वेद मे श्रद्धा और मनु दोनों का दो ऋषियों के रूप में, दो सूक्तों में वर्णन है। अतः श्रद्धा भी देवांश से उत्पन्न बालिका थी। दोनों परस्पर साथ रहते हैं। जीवन के सुखोपभोग के साधान था जुटते हैं। काम-प्रेरित मनु कामजा या कामायनी श्रद्धा के समर्पण हो जाते हैं। एक असुर पुरोहित के सुझाव से पशुवलि यज्ञ की तैयारी मनु करते हैं, जिससे श्रद्धा रुष्ट होती है, किन्तु मनु की विजय होती है। मनु मे रजोगुणी देवत्व की अधिकार-लिप्सा प्रबल होती है। कर्मप्रवृत्ति जाग उठती है। श्रद्धा उन्हें कर्म तपस्या आदि से हटाकर स्नेह ममता की ओर खींचती है। मनु स्वार्थी हो जाते हैं, श्रद्धा उपेक्षित सी हो जाती है। किन्तु वह गर्भिणी है, अतः उसके हृदय में आगामी स्नेह-प्राणी के लिए अगाध ममता जाग उठती है। वह उसके सुख-साधनों के जुटाने मे लीन रहने लगती है। अतः मनु की उपेक्षा उसे इतनी नहीं अखरती। किन्तु मनु श्रद्धा पर एकान्त अधिकार चाहते थे। वे नहीं देख सकते थे कि श्रद्धा उनके अतिरिक्त किसी

अन्य को अपना प्यार दे। एक दिन ईर्ष्या में जलकर निकल जाते हैं, श्रद्धा को उसी दशा में छोड़कर। वे सरस्वती के किनारे-किनारे सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं, जहाँ उनको वहाँ की अधिष्ठात्री देवी इड़ा से साक्षात्कार होता है, जो अत्यन्त लुभावनी और प्रभावमयी थी। वह सारस्वत प्रदेश का शासन करने को कहती है। इड़ा की उत्पत्ति मनु द्वारा कृत पाक-यज्ञ से हुई थी। इस दृष्टि से उसके जनक मनु थे। किन्तु मनु उस पर आसक्त हो, उसके साथ जाकर रहने लगे। वहाँ जाकर उसी के संसर्ग से मनु राज्य, समाज आदि की स्थापना करते हैं। प्रजा का वर्ण-विभाग करते हैं और राज्य-सत्ता का विस्तार करते हैं। अहंभाव का विकास होता है। मनु सब के लिए नियम बनाकर स्वयं उनसे स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। वे अपने को प्रजापति समझ लेते हैं। इड़ा उन्हें नियम-पालन के लिए कहती है। उनके न मानने पर इड़ा रुष्ट होकर जाना चाहती है। मनु साधिकार उसे पकड़ते हैं, जिससे देवगण कुपित होते हैं, इस अनुचित कृत्य पर। प्रजा विद्रोह करती है, युद्ध होता है और मनु आहत होकर गिर पड़ते हैं।

उधर यह सारा दृश्य श्रद्धा को स्वप्न में दिखता है। वह मनु को ढूंढने के लिए अपने पुत्र मानव को लिए निकल पड़ती है और खोजती ढूंढती, उसी समय पर मनु के पास पहुंचती है, जब मनु आहत हुए भूमि पर पड़े थे। मनु उससे मिलकर शान्ति प्राप्त करते हैं, जो उससे वियुक्त होने पर खोई गई थी। इड़ा से वे अत्यन्त विरक्त हैं, किन्तु श्रद्धा की ओर किये अपने व्यवहार पर भी उन्हें पश्चात्ताप है। वे रात को ही अकेले निकल जाते हैं अज्ञात रूप में। प्रातः इड़ा और श्रद्धा का मिलाप होता है। श्रद्धा इड़ा को समझाती है। इड़ा अपनी मूर्खता पर पछताती है। श्रद्धा अन्त में अपने पुत्र को इड़ा के पास छोड़कर स्वयं मनु की खोज में निकलती है। मनु उसे सरस्वती के तट पर एक गुफा में मिलते हैं। मनु उस समय ध्यान-लीन हुए परम पुरुष परमात्मा का दूर से आभास देख रहे थे। श्रद्धा के पहुँचते ही उन्होंने उसे उसी ज्योतिर्मय परम पुरुष के पास ले चलने को कहा। श्रद्धा उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई, हिमालय

पर चढ़ने लगती है। वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ भूमि की सीमाएँ लुप्त हो जाती हैं। अन्तरिक्ष लोक के दर्शन होते हैं। कवि ने यहाँ आध्यात्मिक रहस्य का वर्णन किया है। मनु को सुदूर अन्तरिक्ष में तीन चमकते हुए पृथक् पृथक् प्रकाश-बिन्दु दिखाई देते हैं। कवि ने उनका इच्छा-लोक, ज्ञान लोक और कर्म-लोक के प्रतीक-रूप में वर्णन किया है। मनु के पूछने पर श्रद्धा प्रत्येक का परिचय देती है और महत्व समझाती है। श्यामल कर्म, लोक है, जहाँ कर्म, अशान्ति और असन्तोष है। तीसरा ज्ञानलोक है, जहाँ बुद्धिचक्र चलता है, यह तर्कमय शुष्क है, यहाँ मोक्ष है, पर सन्तोष या आनन्द नहीं। पिपासा यहाँ नहीं छूटती। श्रद्धा उनका रहस्य समझाती है कि तीनों पृथक्-पृथक् रहते हुए जीवन के दुःख-द्वन्द्वों के जनक हैं, किन्तु परस्पर मिलकर सफल और पूर्ण जीवन के कारण हैं। श्रद्धा के हंसने पर तीनों बिन्दु एक प्रकाश रेखा से मिले हुए दिखाई देते हैं। मनु इस रहस्य को पहिचानते हैं। तीनों बिन्दु एक रूप में प्रज्ज्वलित होते हैं और मनु को शिव के डमरु का अनाहत नाद सुनाई पड़ता है, जिसमें वे लीन हो जाते हैं। इसके आगे आनन्द भूमि का वर्णन है। इड़ा भी वहाँ मानव के साथ आ जाती है। वहाँ परम पुरुष और प्रकृति परस्पर मिले अनन्त आनन्द में डूबे दिखाई देते हैं। मनु वहाँ कैलाश की ओर अक्षय आनन्दलोक अथवा शिवलोक का वर्णन करते हैं, जहाँ एकान्त आनन्द की नित्य दशा है। मनु मानव को उपदेश देते हैं। कथा समाप्त हो जाती है।

आ यात्मिक रूपक का भी कवि ने उतनी ही सतर्कता से निर्वाह किया है, जितनी से कि कथा वस्तु का। आध्यात्मिक पक्ष में श्रद्धा और इड़ा दोनों मन की वृत्तियाँ हैं। एक के मूल में काम या कामना है और दूसरी के मूल में ज्ञान है। श्रद्धा आदर और विश्वास-मूलक गहन रतिका नाम है और इड़ा बुद्धि या प्रज्ञा का नाम है। श्रद्धावृत्ति आनन्द और शान्ति का कारण है और इड़ा तर्क-वितर्कमयी होने के कारण विक्षेप का। इन दोनों के ही साहचर्य से, मन की अथवा मन के प्रतीक मनु की, इसीलिये, आनन्दमय और असन्तोषमय दो दशाएँ होती हैं। इन तीनो

के ही चरित-वर्णन रूप में कामायनी का कथानक चलता है, जोकि मानव सृष्टि के जन्म और मानव मन के विकास की ही कथा है। मन के साथ श्रद्धा या रति का समागम होने से मानव की उत्पत्ति दिखाई गई है। मन अपनी सदसद् विवेकिनी बुद्धि या इड़ा से प्रेरित होकर अनेक कर्मजालों का विस्तार करता है। मनु ने इड़ा के संयोग से ही राज्य-तन्त्र या प्रजा-शासन की व्यवस्था की। यह विज्ञानमयी सृष्टि मनुष्य बुद्धि-संयोग से करता है। यह बुद्धि या इड़ा मनुष्यों की जननी कही गई है। श्रद्धा मनु का पथ-प्रदर्शन करती हुई उन्हें आनन्द-लोक में पहुंचा देती है और बुद्धि उसे कर्मजाल में फँसाकर विक्षेप-ग्रस्त बना देती है। कथानक से, मनु में, प्रलयान्त पर, मानवी भावनाओं, चिन्ता, आशा आदि का उदय होता है, तो वे मानव रूप में आते हैं। बाद में उन्हें पृथक् पृथक् समयों में श्रद्धा और इड़ा दो श्रेष्ठ प्रमुख मानवी वृत्तियाँ मिलती हैं। मनु इन दोनों के साहचर्य से विभिन्न सृष्टियों—मानव सृष्टि और विज्ञान सृष्टि—को जन्म देते हैं। अन्त में फल भी दोनों से पृथक् पृथक् ही प्राप्त करते हैं। मनु जब इड़ा का अनुसरण करते हुए शासन करते हैं, तो अहं-भाव का उदय होता है। संघर्ष उपस्थित होता है और वे घायल होते हैं। वह दुःख वे श्रद्धा से रहित और बुद्धि के सहित होकर पाते हैं। इसी दुःखावस्था में उन्हें श्रद्धा का फिर संयोग मिलता है। उनमें फिर सन्तोष जागृत होता है। श्रद्धा उन्हें इन चक्रों से निकालकर, पथ-प्रदर्शन करती हुई इच्छा, कर्म और ज्ञान लोकों का रहस्य समझाती हुई, आनन्द के शाश्वत लोक तक पहुंचा देती है। त्रिपुर—तीन बिन्दुओं—के वर्णन द्वारा भी यही सन्देश दिया गया है कि इच्छा, कर्म और ज्ञान, तीनों में सामञ्जस्य या एकता स्थापित कर, मानव-जीवन पूर्ण बन सकता है और यह एकता श्रद्धा समन्वित होने से ही स्थापित हो सकती है। तीनों बिन्दुओं को श्रद्धा के हास्य की आभा ही मिलाकर एक रूप में कर देती है। इससे यही सूचित होता है, श्रद्धा से युक्त मनुष्य ही इच्छा, ज्ञान और कर्म का पारस्परिक समन्वय करके, पूर्णता प्राप्त कर सकता है, इन तीनों के पृथक् पृथक् रहने में तो मनुष्य भटक कर क्लेश ही पाता है। श्रद्धा से वियुक्त मन की यही निराधार

और विनिश्चयता होती है, जो मनु की हुई थी। श्रद्धा से इन तीनों बिन्दुओं को अनुस्यूत करके ही मनुष्य आनन्द-लोक की प्राप्ति कर सकता है, जहाँ समरस आनन्द की स्थिति है, जो शिवलोक है। शिव इसी नित्य शाश्वत आनंद के प्रतीक हैं मंगलमय। मानव-जीवन की पूर्णता का यह पथ दिखाना ही कवि को अभीष्ट है। कवि के अनुसार इसी प्रकार से मानव अपने चरम लक्ष्य आनन्द (कल्याण) को पा सकता है। कामायनी के आध्यात्मिक रूपक का यही रूप और यही निष्कर्ष है।

इसके अतिरिक्त कवि ने इस रूपक से, आधुनिक युग के प्रति भी पथ-प्रदर्शनात्मक सूक्ष्म संकेत दिये हैं। श्रद्धा भावुकता के युग का प्रतीक है। इड़ा वर्तमान बुद्धिवाद के युग का प्रतीक है। मनु मानव का प्रतीक है। भावुकता का युग विज्ञान या बुद्धि से वियुक्त होने से रूढ़ि-मूलक अविकासशील था। वर्तमान युग केवल बुद्धि का सहारा लेकर, श्रद्धा और विश्वास-रहित होकर, अनेक वर्ग-जाति-संघर्षों का जनक है, जिससे आनन्द के स्थान में असन्तोष उत्पन्न होता है। श्रद्धा और बुद्धि दोनों के प्रभाव में कर्म करके मनुष्य भिन्न भिन्न फल प्राप्त करता है। कवि दोनों युगों के बीच की राह बताता है। विज्ञान बुद्धि अहंभाव और आसुरी भाव की जनयित्री है। अतः उसके साथ श्रद्धा की भी नितान्त आवश्यकता है, तभी मनुष्य उचित कर्म के द्वारा चरमफल-आनन्द-की प्राप्ति कर सकता है। श्रद्धा और बुद्धि इन दोनों के सहयोग से युक्त मानव, उनके अनुसार ही उचित कर्म करता हुआ, नव व्यवस्था का निर्माण करे, तभी, उसका मगल है, अन्यथा नहीं। बुद्धि से रहित कोरी श्रद्धा या भावुकता मनुष्य को भटका सकती है और भावुकता-विहीन बुद्धि भी मनुष्य को राक्षस बना सकती है। अतः इन दोनों के उचित समन्वय में ही जीवन की पूर्णता है। इसी समन्वय की दशा में किये कर्म शान्ति और एकान्त मंगल विश्व को दे सकते हैं।

४. "श्रीमती महादेवी वर्मा करुणा की सबसे बड़ी कवयित्री है।" इस कथन की सम्यग् व्याख्या कीजिये।

उत्तर—करुण भावना, एक वेदना या टीस सी की अनुभूति श्री महादेवी वर्मा के काव्य की प्रधान विशेषता है। यह विशेषता अन्य किसी कवि में उपलब्ध नहीं होती। करुण भाव की एक सूक्ष्म किन्तु व्यापक सी वेदना का इनके काव्य में बड़ा विशद वर्णन है। कवयित्री को वेदना से विशेष प्रेम है, उसके स्वभाव में यह भाव निहित हो गया है। उसने अपनी इस करुण-प्रिय वृत्ति के विषय में स्वयं लिखा है कि उसकी रचनाओं का प्रारम्भ करुण रस से ही हुआ था। सर्वप्रथम एक करुण कहानी ही लिखी गई थी, सो छन्दों में, मा से सुनकर। पश्चात् भी यह करुण वृत्ति उसकी अधिकाधिक विकसित होती गई और अन्त में वह एक वाद के साम्प्रदायिक रूप में आ गई। कवि की अधिकांश रचनाओं में यह करुण भावना, अनेक मधुर और सुन्दर रूपों में चित्रित मिलेगी। उत्तरोत्तर उसकी करुण भावना का विकास होता गया है—वह व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होती गई है। व्यक्तिगत करुण भावनाएं विस्तृत होती होती विश्व-गत हो गई हैं। करुणा की ऐसी व्यापक और निरन्तर भावना अन्य किसी के काव्य में नहीं है। अतः इस युग में इन्हें करुण की सबसे बड़ी कवयित्री कहा जा सकता है। किन्तु यहां करुणा का शास्त्रीय शोक-जन्य अर्थ लेने से काम नहीं चल सकता। कारण, उस करुण में और इनके करुण वाद में बहुत अन्तर है। शास्त्रीय करुण रस का शोक स्थायी भाव होता है। इनकी करुणा विलक्षण है। वह एक रहस्यवादी की करुणा है। वह अनन्त है, जन्मान्तरों से चली आ रही है। वह जीवन का सत्य है, जो अनेक रूपों में विकसित होता है। कवयित्री के चिर सुन्दर अलक्ष्य प्रियतम ने वह पीड़ा उर में भर दी है। कवि उसी में तन्मय हो गया है। अब वह उसकी आत्मा से चिपट गई है। कवि के जीवन का वही आधार बनी हुई है। कवि उसके बिना जीना नहीं चाहता, मोक्ष भी नहीं चाहता उसके अभाव में, प्रत्युत मिलन भी नहीं चाहता, यदि उससे उस अलौकिक वेदना की शान्ति हो जाती है। वह प्रकृति और प्रिय दोनों में अभिव्याप्त दीखती है। अतएव वह चाहता है, उसकी इस मधुर अनुभूति का अन्त न हो—

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की पीड़ा
तुमको पीड़ा मे ढूंढा
तुममे ढूंढूंगी पीड़ा—

यह पीड़ा प्रियतम की एक ही चितवन ने दे डाली थी—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीडा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

तभी से कवयित्री को रोते रोते युग बीत गये। आंखें आंसुओं से खाली हो गई है—

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आंखों के कोष हुए हैं,
मोती बरसा कर रीते।

अतएव प्रिय—प्रदत्त होने के कारण यह पीड़ा 'मधुमय' मधु' 'मधुर' मदिरा की मस्ती' जैसी होगई है। कवि को उसी मे चिरशान्ति मिलती है। कवि उसी में लीन होजाना चाहता है—

तुम अमर प्रतीक्षा हो, मैं
पग विरह पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊं,
पाऊं न पंथ की सीमा।

यह करुण भावना यद्यपि विरह—जनिता है, तो भी प्रिय का कुछ पता नहीं, वह अलक्ष्य है, अस्पष्ट है और कवयित्री का उससे मिलन भी कभी ही स्वप्न में होता है। अतः उस विरह—वेदना का कभी अन्त नहीं होता। वह मधुर टीस की तरह सदैव बनी रहती है। कवि के लिए वही प्रिय होगई है, वह प्रिय तक पहुंचना नहीं चाहता। अपितु, मार्ग में पीड़ा में ही लीन होजाना

चाहता है। प्रिय को तो मिलते ही कवि की जीवनी-भूत पीड़ा का ही अस्तित्व मिट जायगा। अतः एव कवि मिलन से घबराता है—

यह सुनहला हास तेरा,
अंक उर घनसार सा।
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा,

कवयित्री नहीं चाहती, कभी यह पीड़ा का मादक संसार समाप्त हो—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आँखें भरती आँसू के सागर।

वह प्रिय का भी इन्हीं छलकती आँखों से स्वागत करना चाहती है—

बिछाती हूँ पथ में करुणेश, छलकती आँखें, हँसते ओठ।

वह पीड़ा के बदले में स्वर्ग भी नहीं चाहती—

क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव अरे,
यह मेरा मिटने का अधिकार।

कवयित्री ने अपने इस विशद और गंभीर पीड़ा-वाद को बड़े संयम से प्रकट किया है—

मेरी आहें सोती हैं इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छुपा है इन दीवानी चोटों में।

आहें बाहर नहीं निकल सकतीं। होंठ बन्द कर देते हैं। किन्तु तो भी जितना व्यापक और गम्भीर करुण या वेदना का वर्णन महादेवी की कविता में पाया जाता है, वह अन्यत्र नहीं। कवयित्रियों में भी मीरा की वेदनानुभूति महादेवी के समक्ष रखी जा सकती है, किन्तु मीरा की करुण भावना में उसकी व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता थी। उसके अपने ही हृदय की वेदना का स्वाभाविक व्यंजन उसके काव्य में हुआ है, उसमें सरलता है और स्वाभाविकता है। अनुभूति उसमें प्रधान है, वह भी अनन्त वेदना है, जिसका आदि अन्त लक्षित नहीं होता। किन्तु वह किसी निश्चित चिन्तन-पद्धति का अंग नहीं है।

इधर महादेवी की करुणा एक रहस्यवादी की करुण भावना है, जिस विलक्षणता का उपयुक्त उदाहरणों मे स्पष्टीकरण हुआ है। वह स्वाभाविक है, जीवन के साथ ही उद्भूत—

विरह का जल-जात जीवन विरह का जल-जात रे!

कवि के लिए यह एक निश्चित विचार-धारा है, जो चिरन्तन है, सत्य है और एक मात्र विश्व के लिए मुक्ति-द्वार है। कवयित्री के स्वयं के शब्दों में, "जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की, कठोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की, कभी पराजय नहीं हुई। इसलिए परीक्षित सिद्धान्त को जैसी नयी कसौटी हम चाहते थे, वैसी लेकर हमारा ध्वंस युग आया है। इसके ध्वंसावशेष में निर्माण का कार्य मनुष्यता, करुणा, और भावना मूलक विश्वासही से हो सकेगा, यह मैं नहीं भूलना चाहती।"

इसी सिद्धांत को लेकर महादेवी के वेदना-वाद का निर्माण हुआ है। अतएव उनके काव्य में करुण भावना या वेदना का इतना मधुर और सुन्दर अभिव्यजन हुआ है। करुण का ऐसा अभिव्यंजन अन्य किसी कवयित्री मे उपलब्ध नहीं, अतः इन्हीं अर्थों का उद्देश्य करके उपयुक्त प्रश्न-गत उक्ति कही गई है।

९. आधुनिक हिन्दी काव्य में, प्रकृतिचित्रण की विविध शैलियों का विवेचन कीजिये और पन्त, प्रसाद, निराला एवं माखनलाल चतुर्वेदी के प्रकृतिचित्रण पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर—रीतिकाल से लेकर प्रकृति-चित्रण की जो धारा चली आरही थी, उसका आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य में कई रूपों में विकास होता है। पूर्व परम्परा के अनुसार प्रकृति कवि की भावना का अंग बनती थी, उस के रूप को उद्दीप्त करने वाली। कवि लोग विविध रसों या भावों के प्रसंगों में उनके अनुरूप ही प्रकृति के उत्तेजक रूपों का चित्रण करते थे। प्रकृति-चित्रण उनका साध्य नहीं होता था, अपितु उनकी रस-प्रक्रिया का साधन ही होता था, प्रकृति के किसी सुन्दर दृश्य का चित्र उतारना उनका ध्येय नहीं होता था, ध्येय तो उनका अपने काव्य में वर्तमान अंगी रस का परिपाक ही होता था। रीतिकाल का प्राकृतिक चित्रण प्रधानतया इसी ढग का है। षट् ऋतु

वर्णन भी इसी ढंग में हुआ है। इसी के साथ प्रकृति-चित्रण की एक अन्य शैली भी चली आरही थी भक्ति-काल से। इसमें भी प्रकृति-चित्रण मुख्य नहीं होता, अपितु वह उपदेशक की उपदेश वृत्तिका अंग होता है। प्रकृति के नाना व्यापारों का वर्णन करके कवि उनसे उपदेश देता है। भक्तिकाल में इस शैली मे काफी प्रचार रहा। रीतिकाल में भी यह चलती रही, परन्तु प्रधानता प्रथम प्रकार की शैली की ही रही, शृंगार के अंग रूप में ही प्रकृति-वर्णन हुआ। इन दोनों ही रूपों में प्रकृति के गौणरूप से अधूरे एकांगी चित्र ही मिलते हैं।

किन्तु इस उद्दीपन-वर्णन मे भी, कई कवियों की शैली में एक अन्य ढग की प्रकृति-चित्रण-शैली का भी आभास मिलता है। यह ढंग संस्कृत कवियों के अनुकरण पर, प्रकृति को अपने रतिभाव का आलम्बन मानकर प्रकृति का चित्रण करना है। कवि प्रकृति के रमणीय और नैसर्गिक रूप पर विमुग्ध होकर, बड़े उत्साह से, उसके उस मधुर और मोहक रूप का शब्द-चित्र उपस्थित करता है। उसमे कवि की दृष्टि जितनी भी सूक्ष्मदर्शिनी होगी, उतनी ही उसे सफलता मिलेगी। कवि प्रकृति के विविध रूपों का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण करता है कि प्रकृति का एक २ दृश्य सजीव हो उठता है आंखों के सामने। इस ढंग में कवि का प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग व्यक्त होता है। रीतिकाल के सेनापति जैसे कुछ एक कवियों को छोड़कर, इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण का, अन्य कवियों में अभाव है।

इन्हीं के साथ एक अन्य शैली भी मिलती है, जिसमें कवि अपनी अलंकारप्रियता के लिए ही प्रकृति-वर्णन को अपना लेता है। यह वर्णन बिल्कुल अस्वाभाविक और शुष्क होता है।

प्रकृति-वर्णन की ये ही प्रमुख प्रवृत्तियां या शैलिया आधुनिक काल में चली आईं। आधुनिक काल के प्रथम युग-भारतेन्दु युग—में तो इन्हीं परिपाटियों का निर्वाह हुआ। कवि लोग, जोकि मुख्यतया ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे प्राचीन साहित्य से अप्रभावित्त नहीं रह सके। उन्होंने इन्हीं प्राचीन परिपाटियों में ही प्रकृति वर्णन प्रवृत्त रखा। प्रधानता इस युग में भी प्रकृति का रस या भाव के उद्दीपक रूप में ही वर्णन करने की रही। किन्तु अन्य शैलियों में भी थोड़ा बहुत वर्णन हुआ। ऐसा दो चार ही कवियों

की कविता में हुआ है कि प्रकृति के प्रति कवि का स्वतंत्र अनुराग प्रकट हुआ हो। अन्यथा तो पुरानी लगी-बंधी परिपाटी में ही प्रकृति-चित्रण होता रहा जो इसीलिए पूर्ण नहीं है। उसमें निर्जीवता है, सजीवता नहीं झलकती। किन्तु अन्य शैली मे भी कविताएँ हुईं। इस शैली की रचनाओं में प्रकृति को सजीव अनुभव कर कवि के भावोद्गार निकले हैं। देश भक्ति की कविता में स्वदेश का सजीववत् वर्णन हुआ है। देशभक्ति के अतिरिक्त वैसे भी स्वतन्त्र रूप में कई-ठा० जगमोहनसिंह, बा०बालमुकुन्द गुप्त आदि—कवियों ने प्रकृति के स्वाभाविक रूपों के प्रति अनुराग प्रकट किया है। प्रकृति के स्वाभाविक रूपो से उपदेश दिलवाने के प्रवृत्ति भी बनी रही और प्रकृति के विविध उपादानों का आलंकारिक और अतएव कृत्रिम सा वर्णन करने की प्रवृत्ति भी बनी रही।

अगले द्विवेदी-युग में प्रकृति-वर्णन में परिष्कार होता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप मे वर्णन करने की प्रवृत्ति का इतना जोर नहीं रहा। कवियों की प्रवृत्ति प्रकृति के सुभग सुन्दर रूपों के स्वाभाविक चित्रण की ओर ही अधिक होने लगी। कवि गण प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग का प्रदर्शन करते हैं। प्रकृति के विविध सरस रूपों का भावमय और अपने हृदय के नैसर्गिक प्रकृति-प्रेम से पूरित चित्र उतारते हैं। श्रीधर पाठक और आचार्य श्री शुक्ल जी के नाम इस विषय में सबसे पहिले लिये जा सकते हैं। प्रकृति इनके काव्यों में प्रधान वर्ण्य विषय है, वह किसी भाव का अंग होकर नहीं आई है। इसके अतिरिक्त प्रकृति वर्णन की दूसरी परिपाटी - उद्दीपन रूप मे वर्णन करने की—भी चलती रही है। इस काल में प्रकृति-वर्णन कवि का एक स्वतन्त्र विषय बन जाने पर भी, कवि का उससे रागात्मक या संवेदनात्मक सम्बन्ध इतना विकसित नहीं होता। उद्दीपन रूप मे तो कवि की दृष्टि प्रकृति पर एकांगी रूप में पड़ती है। कवि अपने भाव या रस के अननुकूल प्राकृतिक रूपों के प्रति तटस्थ होता है। प्रकृति का आलम्बन रूप मे वर्णन करने की परिपाटी में भी स्थूल रूपों के चित्रण की ही अधिक प्रवृत्ति है, कवि का भावावेश उसमे उतना नहीं है, जितना कि नवीन काल में मिलता है। कवि प्रकृति का स्वाभाविक और विशद चित्र उपस्थित करता है, उसमें उसकी

भावुकता विशेष रूप में नहीं आई है। कवि का व्यक्तित्व पृथक् बना रहता है। वह प्राकृतिक रति के उल्लास में विलीन नहीं हो पाता, दोनों के साथ ही प्राचीन परिपाटी, प्रकृति का आलंकारिक वर्णन की परिपाटी, भी चलती रही है प्रकृति का उपदेश-दायी वर्णन भी होता रहा है। किन्तु प्रधानता द्विवेदी-काल में स्थूल प्रकृति के मधुर सुन्दर दृश्यों का स्वाभाविक, विशद और स्वतंत्र चित्रण करने की ही अन्त में हो जाती है, उद्दीपन रूप में प्रकृति का निर्जीव वर्णन करने की ओर कवि की उतनी रुचि नहीं रहती। द्विवेदी काल के पश्चात् के नवीन विकास-काल में प्रकृति-वर्णन का नवीन रूपों और शैलियों में विशेष विकास होता है। प्रकृति का विविध दृष्टिकोणों से चित्रण होता है।

इस काल में जैसे अन्य अनेक साहित्यिक वादों की अवतारणा होती है, वैसे ही प्रकृति-वर्णन भी एक वाद के रूप में आ जाता है। प्रकृति कविता का प्रधान विषय बन जाती है। छायावाद में, इस नवीन विकास काल में, प्रकृति-वर्णन कई रूपों में देखा जाता है। कवि ने प्रकृति के नैसर्गिक रूपों पर मुग्ध होकर उसके सुन्दर रूपों के चित्र उतारे हैं, जो अत्यन्त सजीव, अत्यन्त मधुर और मोहक हैं। कवि की प्रकृति के प्रति स्वाभाविक रति प्रकट होती है, ऐसी कविताओं में कवि का नैसर्गिक आन्तरिक उल्लास प्रतिपद में उछलता है। कवि ने प्रकृति के सुन्दर और असुन्दर दोनों रूपों को प्यार किया है। उद्दीपन रूप में भी जो वर्णन इस युग में होता है, वह भी प्राकृतिक वस्तुओं की सूची गिनाने मात्र रूप में नहीं है, अपितु भाव या रस के अनुकूल प्रकृति के रूपों के संश्लिष्ट चित्रण द्वारा हुआ है, जिससे दृश्य पूर्ण होता है। इसमें चित्रमयता और विशदता दोनों है। प्रकृति का आलंकारिक चित्रण भी इस युग में भिन्न रूप में होने लगता है, कवि नवीन प्रतीकात्मक पद्धति का आश्रय लेता है। विविध नवीन प्रतीकों की साम्ययोजना द्वारा कवि प्रकृति के चित्र उपस्थित करता है, जो संकेतमय हैं। यह साम्य योजना कवि भावों का चित्र उतारने को, प्राकृतिक वस्तुओं को उपमान बनाकर भी करता है और प्रकृति के रूप का भावमय चित्र उतारने को, भावनाओं को उपमान बनाकर भी। वह 'फूल सा कोमल भाव' भी कहता है और "भाव सा कोमल फूल" भी कहता है।

प्रकृति को आलंबन बनाकर उसका चित्रण करने वाले कवियों में भी कई शैलियाँ या दृष्टिकोण हैं।

एक शैली में, कवि प्रकृति में स्त्री रूप की भावना करके, उसके मधुर रूपों और रसमय व्यापारों (चेष्टाओं) का वर्णन करता है। छायावादी प्रकृति-काव्य की यह एक प्रमुख विशेषता है। श्रृंगार-वर्णन अधिकांश इसी रूप में किया गया है।

अन्य शैली में, कवि प्रकृति का अपनी भावनाओं में रंग कर अनुरंजित वर्णन करता है। उसमें वह रुदन में रोती और हँसी में हंसती दिखाई देती है। प्रकृति का ऐसा वर्णन किसी भावना में डूबकर कवि करता है, जब उसे प्रकृति उसी रंग में रंगी दिखाई देती है। कवि का मुख्य उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत भावना का अभिव्यंजन है। प्रकृति का चित्रण नहीं।

प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन लेकर, उसके सुन्दर रूपों में सजीवता का अनुभव कर, जब कवि उसका शब्द-चित्र उपस्थित करता है, तब भी उसके दो रूप होजाते हैं। एक में वह केवल चितेरा रहता है, वह प्रकृति का विशद शब्द-चित्र उपस्थित कर देगा, उसको देखकर उठने वाली भावनाओं का वर्णन वह नहीं करेगा। भावनाएं तो स्वयमेव सहृदय के हृदय में उठ जायंगी, यदि वह चित्र वस्तुतः स्वाभाविक और सत्य होगा। कवि के हृदय का प्राकृतिक उल्लास ही यदि सहृदय के हृदय को, चित्र देखने पर, अभिव्याप्त करले, तो समझना चाहिए, कवि प्रकृति का सफल चित्रकार है, अन्यथा नहीं।

किन्तु दूसरे रूप में, वह प्रकृति के स्वरूप से उठी अद्भुत हार्दिक भावनाओं का भी वर्णन साथ में करता है। ऐसा चित्र संवेदनात्मक कहलाता है। प्रकृति के स्थूल चित्र के साथ, कवि के अपने हृदय की संवेदना भी श्लिष्ट रहती है। दोनों ही रूपों में कवि की रति का प्रधान अवलम्ब प्रकृति ही होता है, उसी का चित्रण कवि का प्रमुख उद्देश्य भी होता है।

इनके अतिरिक्त प्रकृति चित्रण का एक दार्शनिक रूप भी है। इस रूप में कवि प्रकृति के सर्जन और संहार के रूपों में आध्यात्मिक रहस्यों के संकेत प्राप्त करता है। कवि प्रकृति के विविध व्यापारों और पदों में गूढ़ रहस्यों के संकेत पहिचानता है।

आधुनिक काल में प्रमुखतया इन्हीं रूपों या शैलियों में प्रकृति-वर्णन हुआ है। इस समय हिन्दी साहित्य का प्रकृति-वर्णन विश्व की किसी भी भाषा के प्रकृति-वर्णन मे समता करने लायक स्थिति में है।

प्रसाद का प्रकृति-वर्णन संस्कृत के ढग का है। वे प्रकृति का सजीव सत्ता के रूप में अनुभव करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है, "साहित्य में विश्व-सुन्दरी प्रकृति मे चेतना का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। उनके मत से "यही प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद" है, जो प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अपने काव्य में प्रकृति-वर्णन किया है। उन्होंने प्रकृति के रूप पर विमुग्ध होकर भी, उसके मधुर चित्र उतारे हैं और उसको रमणी रूप में देखकर उसके शृंगार का वर्णन भी किया है। उसका भावानुरंजित रूप में भी वर्णन किया है और उसके रहस्यात्मक संकेतों का भी उद्‌घाटन किया है। प्रसाद में आध्यात्मिकता और प्रेम ये दो प्रमुख प्रवृत्तियां मिलती हैं। इन दोनों ही के अनुसार उन्होंने प्रकृति का वर्णन किया है। प्रेम की प्रवृत्ति के अनुसरण पर उन्होंने प्रकृति के सुन्दर रूपों का, उसकी मधुर चेष्टाओं, प्रेम-केलियों आदि का रस वर्णन किया है। इन वर्णनों में उनकी प्रेम और सौन्दर्य वृत्तियों का सुन्दर अभिव्यंजन है—

नव कुञ्ज हैं झूम रहे,
कुसुमों की कथा न बन्द हुई।
❀ ❀ ❀ ❀
उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्ष स्थल।
❀ ❀ ❀ ❀
संध्या घन माला की सुन्दर,
ओढ़े रंग बिरंगी छींट।
गगन चुम्बिनी शैल श्रेणियाँ,
पहने हुए तुषार किरीट।
❀ ❀ ❀ ❀

बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट में डुबो रही—ताराघट ऊषा नागरी ।



इन सब से रहस्यमय प्रकृति की सजीविता का दर्शन होता है । अपनी भावनाओं के प्रकाशन के लिए भी प्रकृति का उपमान रूप में प्रयोग किया है छायावादी ढंग से और प्रकृति वर्णन में भावनाओं को भी प्रकृति के उपमान बनाया है । यह प्रतीकात्मक वर्णन, अनेक स्थलों पर दुरूह भी होजाता है, जिससे प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक नहीं रहता । कवि ने इस प्रतीक शैली द्वारा प्रकृति-वर्णन बहुत किया है—

झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरद माला ।

प्रकृति के रहस्यात्मक रूपों के संकेत तो प्रसाद के काव्य मे प्रायः सर्वत्र ही हैं । प्रकृति की निर्माण और संहार की दोनों शक्तियों का रहस्यवादी शैली मे प्रदर्शन हुआ है । प्रकृति के ध्वंसक रूप का भी उन्होंने वर्णन किया है । प्रकृति का भयंकर रूप—

उधर गरजती सिन्धु लहरिया कुटिल काल के जालों सी ।
चली आरही फेन उगलती, फण फैलाये व्यालों सी ॥

प्रसाद को रहस्यमय प्रतीकों की योजना, कल्पनातिशय और रहस्यमय शैली के कारण, कहीं कहीं उनके प्रकृति-वर्णन क्लिष्ट और अस्वाभाविक से हो जाते हैं, वहां कला अथवा वाद की ही प्रधानता रह जाती है । प्रसाद ने कामायनी जैसाप्रकृति काव्य लिखा है, जिसकी कथा का जन्म विकास, और अन्त ही प्रकृति के अनन्त साम्राज्य में होता है । कामायनी मे प्रकृति-वर्णन सभी प्रचलित पद्धतियों में हुआ है । दार्शनिकता या रहस्यात्मकता उस वर्णन की विशेषता है । वर्णन स्वाभाविक, भावमय, (संवेदनात्मक) और चित्रमय हैं ।

पन्त का प्रकृति-वर्णन भी उपयुक्त प्रायः सभी शैलियों मे हुआ है । पन्त ने सर्वप्रथम प्रकृति का स्वतंत्र आलम्बन लेकर, उसके मधुर और सुन्दर रूप का स्वाभाविक चित्रमय वर्णन किया है—

फैली खेतों में दूर तलक, मखमल की कोमल हरियाली।
लिपटी जिसमे रवि की किरणें चादर की सी उजली जाली॥

प्रकृति का स्त्री रूप मे श्रृंगार वर्णन भी किया है—

विधुरा होगई सांझ विनत मुख पर झीना आंचल डाल।
मेरे एकाकी आंगन में मौन मधुर स्मृतियां भर॥

अपनी भावनाओं के रंग मे रंगकर भी प्रकृति-वर्णन किया है—

काली कोकिल सुलगा उरमे स्वरमयी वेदना अंगार।
आया वसन्त घोषित दिगन्त करती भर पावककी पुकार॥

पन्त ने प्रकृति का नारी रूप में भी मधुर चित्रण किया है, जैसा कि प्रस्तुत संग्रह "आधुनिक कवि में गंगा का वर्णन"। इस सब वर्णन में कवि का प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, आन्तरिक उल्लास और सूक्ष्म निरीक्षण लक्षित होते हैं। किन्तु ज्यों २ कवि की विचार धारा का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है, कवि की यह सौन्दर्य प्रवृत्ति कठोर दार्शनिकता कीओर अग्रसर होने लगती है। कवि प्रकृति में जीवन के संकेत ढूंढ़ता है। प्रकृति को एक नित्य चिरन्तन सत्ता मानकर, उसके सर्जक और संहारक दोनों रूपों का वर्णन करता है। पंत ने छायावाद-शैली में, प्रतीक विधान या संकेत-चित्रण प्रणाली में भी प्रकृति-वर्णन किया है। वहा वह स्वभावतः दुरूह होगया है, स्वाभाविक नहीं रहा है। ऐसे स्थलों पर कवि का केवल कलावाद ही लक्षित होता है। पन्त की बाद की प्रकृति-रचनाओं मे यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। प्रकृति के रहस्य-मय तात्विक रूप की भावना प्रधान रहती है। इस प्रकार, पन्त ने अनेक शैलियों में प्रकृति-वर्णन किया है।

पन्त प्रकृति के प्रमुख कवि माने जाते है। इनका प्रकृति-प्रेम स्वाभाविक है, सहज है और सहचार-जात है। अतः इनके प्रकृति-वर्णन मे, जो सूक्ष्म सत्यता, स्वाभाविकता और विशदता है, वह अनुपम है। पन्त प्रकृति के बड़े सूक्ष्म निरीक्षक हैं। अतः इनका प्रकृति-वर्णन सर्व-सुन्दर है। किन्तु जहां ये भी किसी दार्शनिक विचार धारा, छायावादी प्रतीक-प्रवृत्ति, आरोपवाद आदि के प्रभाव में आकर प्रकृति-चित्रण कर गए हैं, वहां वह नीरस सा, कला मात्र सा, हो गया है। मानसिक प्रतीकों के इस विधान से चित्रण क्लिष्ट ही हो

गया है। हिन्दी साहित्य के प्रकृति-कवियो में पन्त का प्रमुख स्थान है। इनके प्रकृति प्रेम की सचाई का स्वर्गीय श्री आचार्य शुक्ल जी ने भी मुक्त कण्ठ से समर्थन किया है।

निराला ने भी उपर्युक्त सभी प्रणालियों में प्रकृति-वर्णन किया है। निराला मूलतः रहस्यवादी कवि हैं। इनकी दार्शनिकता की पृष्ठ-भूमि इनकी सभी कृतियों के अन्तराल में मिलती है। इनका प्राकृतिक दृष्टिकोण भी इसी दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर बना है। प्रकृति को नारी रूप में भावना करके, उसके रूपों का वर्णन इन्होंने भी किया है। प्रकृति के रूपों का उपमा रूपको आदि में भी प्रयोग किया है। प्रकृति को इनके दर्शन में सजीव अनन्त सत्ता है। उसके विविध रूपों का भावानुरंजित वर्णन भी निराला ने किया है।

पंचवटी में इनके प्रकृति-चित्रण के ऐसे अनेक चित्र हैं, जहां इनके लिए, प्रकृति वर्णन का विशेष अवसर रहा है। प्रकृति की अन्योक्तियो के द्वारा भी इन्होंने भावों का अभिव्यंजन किया है। प्रचलित सभी प्रणालियों मे इनका किया हुआ प्रकृति वर्णन मिल जाता है। इनमें प्रकृति विषयक अनुराग होते हुए भी उसमें प्रवीणता नहीं है, जितनी कि पन्त में, न उतनी सूक्ष्म देखने और चित्रण करने की शक्ति है। इनकी प्रणाली अधिकतया दार्शनिक है। शैली छाया-वाद की संकेत चित्रमय, अथवा प्रतीकात्मक है। संध्या का परी रूप में वर्णन—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान मे उतर रही है।
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।

इनके प्रकृति-वर्णन पर संस्कृत और बंगला के साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा है। रहस्यवादिनी प्रवृत्ति के कारण और इनकी लाक्षणिक आरोपात्मक विशेषताओं के कारण, इनका प्रकृति-वर्णन उतना स्वाभाविक और रसमय नहीं, जितना कि प्रकृति के कवि पन्त का। प्रसाद और पन्त की तन्मय दशा—प्रकृति मे लीन हो जाने की—उतनी निराला में नहीं है। उनमें दार्शनिकता की पुट आ जाती है।

गुप्त जी में भी यह तन्मय दशा नहीं है। इनका प्रकृति-वर्णन अधि-

कांश में इतिवृत्तात्मक माना जाता है। उस में स्वानुभूति नहीं, जो प्रकृति का स्वतंत्र अवलम्ब ले कर होती है। इनमें प्रकृति द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रवृत्ति विशेष है। पंचवटी में प्रकृति का स्वरूप चित्रण कुछ नवीन दृष्टि कोण से हुआ है। अब से प्रथम के काव्यों में, प्रकृति का इतना रसमय स्वाभाविक वर्णन नहीं है, जितना कि पंचवटी में। पंचवटी में प्रारंभ, विकास और अन्त प्रकृति की चित्र भूमि में ही हुआ है। इस काव्य को छोड़ कर अन्यत्र कवि का प्रकृति-वर्णन प्राचीन परिपाटी से ऊपर नहीं उठा है। वे साधारण हैं, उपमा रूपकात्मक, अथवा वर्णनात्मक—

इसी समय पौ फटी
हसने लगे कुसुम कानन के
देख चित्र सा एक महान्।

गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं। इनकी प्रकृति इनके भावों के अंगरूप में ही अधिकतया वर्णित हुई है। पंचवटी और साकेत में भी वह हंसती खेलती मिलती है,पर प्रकृति के प्रति कवि में वह रति भाव या तन्मयता नहीं है, जो कि प्रकृति के कवि में अपेक्षित होती है। उनमें प्रकृति के प्रति भावातिरेक नहीं हैं। उन्होंने तो प्रकृति और विश्वके सम्बन्ध मात्र को दिखाया है। उसके प्रति कोई विशेष भावप्रवणता का अनुभव नहीं किया। पचवटी और साकेत में इस प्रकृति वर्णन मे कुछ विशेषता आ गई है। प्रकृति पात्र की भावना में अनुरजित बनी वर्णित हुई है। ऋतु वर्णन भी इसी ढग पर हुआ है। इसी आधार पर गुप्त जी को प्रकृति का कवि नहीं कहा जा सकता। उनमें मनुष्य-मन और प्रकृति का सामञ्जस्य तो पाया जाता है, किन्तु भाव-प्रवणता नहीं। उन में स्वाभाविक प्रकृति प्रेम का अतिरेक नहीं है।

६. आधुनिक युग में गीति काव्य का महत्व सब से अधिक है। इस कथन की मीमांसा कीजिए। प्रबन्ध काव्य और गीति-काव्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए, आधुनिक गीति-काव्य का एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—आधुनिक युग मे गीति-काव्य का सबसे अधिकमहत्त्व है, इस का अभिप्राय यहहै कि इस समय गीतों की अधिकांश उत्कृष्ट कोटि की रचना

हुई है। आधुनिक युग स्वच्छन्दता या स्वतंत्रता का काल है। मानव-स्वतंत्रता इस समय की कविता का वज़न है। प्राचीन सामन्तवादी विचार-धारा में व्यक्ति धर्म समाज और राजनैतिक परवशताओं में पड़ा बुरी तरह तड़प रहा था, उस का व्यक्तिगतता इन बन्धनों में पड़ी मृत-प्राय सी थी। कवि भी अपवाद-रूप नहीं था। उसकी कविता में भी व्यक्तिगतता या अपनी ही हार्दिक अनुभूति का अभाव था। उनका वर्णन या तो आध्यात्मिक था या लोक-परक। आन्तरिक व्यक्तिगत अनुभूति का प्रकाशन नहीं होता था। आधुनिक काल को रीतिकालीन काव्य परम्परा इसी रूप में प्राप्त हुई थी। किन्तु आधुनिक काल नव-स्वतंत्रता, नव विचार, नव-भाषा और नव-शैली का काल है। प्राचीन रूढ़ियों के तिरस्कार के साथ, साहित्य और कला का नव विकास होना ही इस युग की प्रधान विशेषता है। काव्य में भी इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रचार के साथ कवि भी अधिकतया व्यक्ति-मुख हो जाता है। व्यक्तिवाद उसमें भी प्रधान होता है। हिन्दी के साहित्यिक पर इस समय दो बड़े समृद्ध साहित्यों का विशेष प्रभाव पड़ता है। वे साहित्य हैं बंगला और अंग्रेजी। इन की देखादेखी हिन्दी में भी व्यक्ति-प्रधान काव्य का उदय होता है। अंग्रेजी में लीरिकल कविता व्यक्तिगत अनुभूति को ही लेकर चलती है, जिसमें संगीत की मात्रा विशेष होती है। बंगला में भी इस प्रकार की कविता पर्याप्त मात्रा में लिखी गई। हिन्दी के साहित्य में भी इनके प्रभाव में व्यक्तिगत अनुभूति को लिए नवीन कविता शैली का विकास हुआ। कवि लोग अपने मन की मधुर, कोमल और सरस अनुभूतियों और कल्पनाओं का प्रकाशन करने की ओर उन्मुख हुए। इन व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकाशन अंग्रेजी बँगला आदि के काव्यों में अधिकाश में गीति पद्धति में ही हुआ है। रविबाबू के गीत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में भी प्रमुखतया ऐसे व्यक्तिगत वर्णनों के लिए यही पद्धति अपनायी गई। नवी छायावादी कवियों ने प्रमुखतया इस शैली का आश्रय लिया। गीत में, मधुर, सुन्दर और कोमल भाषा में, ऐसी ही व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकाशन होता है। इस गीत पद्धति का चलन पहिले के साहित्य में भी हो गया था, किन्तु आधुनिक काल का गीति-काव्य अपनी विशेषता रखता है।

उसमें लय, यति, गति आदि सँगीत के सौन्दर्य-तत्वों का समुचित विकास करके आज के गीति-कवि ने गीति को पूर्णता तक पहुँचा दिया है। हिन्दी के गीति-काव्य इस समय पूर्ण उन्नत दशा में हैं और किसी भी साहित्य के गीति-काव्यों की प्रतिस्पर्द्धा कर सकते हैं।

आधुनिक काल में गीति का आश्रय यद्यपि प्रथमतः लेना प्रारँभ हो जाता है, किन्तु इसका विशेष प्रचार द्विवेदी काल में होता है। इसके बाद नवीन सौन्दर्य और व्यक्तिगत अनुभूति के चित्रक नवीन कवियों के हाथों में पड़ कर तो यह पद्धति उत्तरोत्तर विकास और परिष्कार प्राप्त करती जाती है। प्राचीन छन्दों की परम्परा यद्यपि ठेठ द्विवेदी काल तक चलती रहती है, किन्तु उसके प्रति कवि का विद्रोह हो चुका था। नवीन कविगण प्राचीन छन्दों के प्रति विरक्त होकर नवीन मात्रिक छन्दों की ओर आकृष्ट हो रहे थे, यह काल मुक्तक काव्य के लिए प्रधानतया प्रसिद्ध है। भारतेन्दु काल से लेकर आज तक भी कवि की प्रमुख प्रवृत्ति मुक्तक काव्य की ओर है। मुक्तकों में भी अपनी ही आन्तर् अनुभूति के प्रकाशन की प्रधानता है। कारण, कवि के व्यस्त और चिन्तामय जीवन में,प्रबंध काव्य-रचना की गुंजाइश नहीं थी। अतः छुटे छुटे स्वतंत्र व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन ही अधिकहोता रहा। गीति काव्य इस विषय में सर्वाधिक उपयोगी वाहन सिद्ध होता है। उसमें कवि को बहुत स्वतन्त्रता होती है। सौंदर्य और संगीत-विधान का भी विशेष अवसर रहता। है। अतः इस ओर कवि की प्रवृत्ति हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में ही प्रारभ में ही दिखाई देती है। भारतेन्दु काल में पूर्व परम्परा से प्राप्त गीत पद्धति में विभिन्न विषयों पर रचना प्रारंभ हो गई थी। बाद के काल में भी विविध विषयों पर गीत रचना हुई। नवीन युग मे गीत पद्धति इतनी परिमार्जित हुई कि वह अपने पूर्ण सौन्दर्य को पहुँच गई। आधुनिक काल में इतनी गीति-काव्य-रचना हुई है कि जितनी संभवतः किसी काल में नहीं प्रचलित हुई। आज के सभी बड़े बड़े प्रमुख हिन्दी के कवियों और महा कवियों ने श्रेष्ठतम गीति काव्य लिखे हैं। अतएव इस काल में गीति-काव्यों का विशेष महत्व है।

यह गीतिकाव्य की पद्धति यद्यपि हिन्दी-काव्य की पूर्व परम्परा मे प्राप्त है, वीर कवियों से लेकर, ज्ञानी, सन्त, प्रेमी, भक्त और शृंगारी कवियों ने अति-सुन्दर और भावमय गीत लिखे हैं, जिन्हें आज भी सुनते हुए लोग अघाते नहीं, तथापि हिन्दी में इस पद्धति का संचालन आधुनिक युग में अंग्रेज़ी और बंगला के गीतिकाव्यों की प्रतिस्पर्द्धा में ही हुआ। आज के हिन्दी-गीत प्राचीन गीतों से अनेक अंगों में भिन्न है, प्रत्युत अधिक विकसित हैं। प्राचीन कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा आदि के गीतों का निर्माण वस्तुतः गाने के लिये ही होता था। अतः उनके स्वर या ध्वनि का आधार संगीत के विभिन्न राग आदि होते थे। किन्तु आज का गीतिकार कवि प्रमुखतया अपने भाव या अनुभूति के संगीत का ही आश्रय लेता है। उसके गीतों की लय, यति, गति आदि की व्यवस्था उनके भाव के अनुकूल होती है। इसका अभिप्राय हुआ कि प्राचीन गीत तो प्रत्येक रागी गा सकता है, किन्तु आधुनिक काल के गीतों को तब तक कोई रागविद्या का पारंगत भी नहीं गा सकता, जब तक कि स्वयं कवि ही—या उससे पूछकर कोई संगीत का ध्वनिकार—उस पर 'नोटेशन' अथवा यति गति आदि के चिन्ह न लिख दे। यह प्रवृत्ति अंग्रेज़ी के गीति काव्य की है, जो नोटेशन के अनुसार गाया जाता है। आज के गीतिकाव्य में नवीन शब्द-योजना, मधुरता, शैली, भाव-विन्यास, अभिव्यंजना आदि के कारण, इतना परिष्कार आ गया है कि वह अनेक अंशों में प्राचीनो का ऋणी होता हुआ भी, सौन्दर्य के क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ है।

आधुनिक काल की अन्य प्रवृत्तियों के उदय के समान ही इस गीति-काव्य पद्धति का संचलन भी भारतेन्दु जी से होता है। प्रथम उन्होंने अपने नाटकों में, उर्दू नाटकों के गज़ल आदि गीतिकाओं की प्रतिस्पर्द्धा मे सुन्दर गीतियोजना प्रस्तुत की। उन्होंने स्वतन्त्र विषयों पर बहुत गीत लिखे। उनकी मंडली में भी गीतिकार हुए। उनका आधार प्राचीन ही था, विषय भी अधिकांश में धार्मिक था। द्विवेदी काल में इस पद्धति का खूब प्रचार होता है। गीतों के विषय लौकिक भी होने लगते हैं। कई अच्छे अच्छे गीतिकार इस समय होते हैं। हरिऔधजी, गुप्त जी आदि ने सुन्दर

गीति-काव्य लिखे। द्विवेदी काल में गीतों के विषय का क्षेत्र भी बढ़ा। धार्मिक, सामाजिक आदि विषय गीतों का विषय बने। प्रेम के गीत विशेष प्रचलित हुए। पत्र पत्रिकाएं ऐसे मुक्तक, विविध विषयों के गीतों से भरी होती थीं। भारतेन्दु काल में पद्य रचना प्रायः ब्रज भाषा में होती थी। अब खड़ी बोली में। किन्तु इस पद्धति में विशेष विकास प्रसाद, पन्त आदि के काल मे होता है। भारतेन्दु से प्राप्त गीति-पद्धति का विकास वस्तुतः प्रसाद की गीत-रचनाओं में हुआ है। पन्त ने उनका परिष्कार किया है। अंग्रेज़ी की लीरिकल गीत शैली के ढंग पर, हिन्दी-गीत-पद्धति का विकास इन्हीं दो प्रमुख कवियों ने प्रस्तुत किया। इन्हीं से गीति-काव्य केवल व्यक्तिगत अनुभूति के वर्णन का क्षेत्र बनता है। ये मानववाद या व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद के पक्षपाती कवि गीति पद्धति को स्थूल प्रेम वर्णन या, धार्मिक सामाजिक क्षेत्रों से निकालकर, शुद्ध व्यक्तिगत अनुभूति के धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित करते हैं। वास्तविक गीति-काव्य किसी भावातिरेक का ही स्थूलरूप गीतिमय होता है। उसका लय-विधान भी भावानुरूप ही होता है। इस रूप में सर्वोत्तम लीरिक ये ही दो महा कवि उपस्थित करते हैं। हिन्दी के गीति-काव्य का यह नवीन विकास काल है। इस क्षेत्र में अन्य विशेष नाम फिर निराला और महादेवी वर्मा के हैं। बच्चन का नाम भी विशेष रूप से आता है, जहां तक लोक-प्रियता का सम्बन्ध है। रामकुमार वर्मा भी इसी युग के गीतिकारों में हैं। इन सभी प्रमुख गीतिकारों की रचनाओं में गीति-काव्य का अत्यन्त परिष्कृत रूप है, जहाँ तक शैली अथवा पद्धति का सम्बन्ध है। फिर तो गीति-काव्य का और भी अबाध और उद्दाम गति से प्रचार होता है। असंख्य गीतिकार उत्पन्न हो जाते हैं। नाटक और सिनेमा के प्रचार से भी गीति-काव्य में सहायता मिलती है। जीवन के सभी पक्षों को लेकर कवि अपनी भावानुभूति का प्रकाश करता है। पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे गीतों की भरमार हो जाती है। संग्रह प्रकाशित होते हैं। अवश्य ही, इन में सभी उत्कृष्ट या सफल गीति काव्य नहीं हैं, परन्तु गीतों की ओर, प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। हिन्दी के आदर्श नवीन ढंग के गीतिकारों में, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा, बच्चन, नवीन, भगवतीचरण वर्मा,

रामकुमार वर्मा, आदि प्रमुख गीतिकार हैं। प्रसाद, पन्त, निराला ने इन का निर्माण और विकास किया है, परिष्कार किया है, अपनी-अपनी विशेषताओं से। महादेवी में इन सब विशेषताओं की समष्टि मिलती है, जिससे उनके गीति-काव्य में अधिक पूर्णता है।

आधुनिक गीति-काव्य का प्रारम्भ भारतेन्दु काल में होता है, प्रचार और परिष्कार द्विवेदी काल में होता है, किन्तु उसका अंग्रेजी के लीरिक-काव्य के ढङ्ग पर नवीन विकास छायावाद, रहस्यवाद या प्रसाद-काल में होता है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि हिन्दी गीति-काव्य के नवीन निर्माता और उन्नायक माने गये हैं, जो सब गीति-काव्य-कारों के आदर्श रहे हैं।

गीति-काव्य मुक्तक काव्य होता है, जिसमें कवि अपनी किसी भावना-विशेष का रूप-चित्र उपस्थित करता है। वह प्रत्येक गीत एक स्वतन्त्र रचना होती है। उसका अन्य गीत से सम्बन्ध नहीं होता। गीति-काव्य वैसे तो गाने लायक प्रत्येक छन्दो-बद्ध काव्य के विषय मे कहा जा सकता है, किन्तु गीति-काव्य का आज जिस अर्थ में प्रयोग रूढ़ हो गया है, वह मुक्तक रचना ही है। गीति-काव्य में कवि प्रमुखतया एक दृश्य या भाव का पूर्ण शब्द-चित्र उपस्थित करता है। उसमें कवि की व्यक्तिगत मानसिक अनुभूति प्रधान होती है। प्रबन्ध काव्य एक कथा और चरित्र वर्णन का शृङ्खला-काव्य बद्ध वर्णन होता है जिसमें हजारों छन्द होते हैं जो कथा-सूत्र से परस्पर सम्बद्ध होते हैं जिन में कोई भी स्वतन्त्र नहीं होता। प्रबन्ध काव्य में समस्त हृदय का चित्रण होता है, किन्तु गीति-काव्य मे उसके किसी एक कण का। प्रबन्ध काव्य का विषय प्रधानतया स्थूल जगत् का वर्णन होता है, किन्तु गीति-काव्य का विषय व्यक्तिगत आन्तरिक सूक्ष्म भावमय जगत् होता है। प्रबन्ध काव्य में वर्णन या चित्रण होता है और गीति-काव्य में गान होता है। सङ्गीतमयता उसका प्राण होता है। दोनों मे यही अन्तर है।

गीतियों या गीतों में कथा-वर्णन की शैली भी प्रचलित है हिन्दी साहित्य में, जैसे कि सूर ने गीतों में कृष्ण-कथा का वर्णन किया। परन्तु वहाँ भी, प्रत्येक गीत किसी स्वतन्त्र भाव, दशा और जीवन के एक अंश

का स्वतन्त्र चित्र उपस्थित करता है, अतएव स्वतन्त्र मुक्तक काव्य है, अपने में पूर्ण। कथा-सूत्र ऐसे स्थलों पर व्यंजित होता रहता है, वर्णित नहीं होता। गीत-पद्धति वस्तुतः स्वतन्त्र मुक्तकध रचनाओं के ही अधिक उपयुक्त है। प्रबन्ध रचना के लिये नहीं।

७ आधुनिक व्रजभाषा काव्य के अवनति के मुख्य कारण निर्धारित कीजिये। रत्नाकर जी के हाथ में पड़ कर, व्रजभाषा का कैसा विकास हुआ? उपयुक्त उदाहरणों द्वारा इसे समझाइये।

उत्तर—आधुनिक व्रजभाषा काव्य की अवनति के कई कारण थे। भारतेन्दुकाल में दो भाषाएं प्रचलित थीं। पद्य में व्रजभाषा और गद्य मे खड़ी बोली। व्रजभाषा-पद्य भाषा-सौन्दर्य के लिहाज से बहुत उन्नत था। व्रजभाषा सैकड़ों वर्षों से काव्य में व्यवहृत होती आ रही थी। भक्तिकाल और शृंगार-कान्त या रीति काल में आकर उसका रूप-सौष्ठव अपने चरम सौन्दर्य को पहुँचा हुआ हो गया था। उस में कलात्मकता की कृत्रिमता हद तक आ गई थी। दुरुहता भी थी, कोई विशेष व्याकरण-व्यवस्था न होने के कारण से और अन्य प्रान्तों के शब्दों के आ मिलने से भी। कारण, व्रज-भाषा साहित्यिक रूप में जरूर रही, किन्तु सब की मातृभाषा नहीं रही। विभिन्न प्रदेशों के कविगण पुस्तकों के आधार पर ही व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त कर, इसमें कविता करने लगने थे। अतः उनके अपने प्रदेशों की भाषाओं के शब्द भी उसमें आते रहे। पूर्वी, राजस्थानी, आदि अन्य भाषाओं के शब्द उसमें अनन्त भरे हुए थे। इन सब कारणों से व्रजभाषा का साहित्यिक रूप जटिल बना हुआ था। कला या रीतिवाद के स्थूल चमत्कार की रूढ़ियों ने उसे जकड कर निश्चेष्ट कर रखा था, ऐसे ही रूप में भारतेन्दुकाल में व्रजभाषा प्राप्त हुई थी। खड़ी बोली का रूप मुसलमानों के जमाने में चल ही चुका था। वह अब और भी प्रचलित हो गया, अंग्रेजी राज्य की प्रतिष्ठा के साथ, अनेक कारणों से। व्रजभाषा के पास क्योंकि गद्य का कोई परिमार्जित रूप उपस्थित नहीं था, अतः गद्य के क्षेत्र में खडी बोली का साम्राज्य निष्कंटक रहा। पद्य के उपयुक्त खड़ी बोली का रूप नहीं था। अतः पद्य-रचना प्रारंभिक काल में व्रजभाषा में ही होती रही। भारतेन्दुकाल में काव्य की

भाषा ब्रजभाषा ही रही, गद्य में खड़ी बोली का व्यवहार रहा। खड़ी बोली को पद्य रचना के अयोग्य समझा गया।

ब्रजभाषा काव्य की रूढ़िवद्धता या संकीर्णता भी आधुनिक काल में अरुचिकर सिद्ध हुई। आधुनिक काल के कवियों की प्रवृत्ति अधिकतया रूढ़ि के विरुद्ध स्वच्छन्दता-प्रिय है। और, ब्रजभाषा काव्य में परिवर्तित होने की सजीवता भी नहीं रही थी। वह जहां की तहां ही रही।

प्रयत्न करके भी भारतेन्दु जी ब्रजभाषा को आधुनिक काल के उपयुक्त सांचे में नहीं ढाल सके। नवीन विचार ब्रजभाषा पद्य में उतनी अच्छी तरह नहीं, खिलते, जितने कि ब्रजभाषा के ही प्रधान विषय।

ब्रजभाषा का ज्ञान भी सबके लिए प्राप्त करना कठिन था। उसमें व्याकरण-व्यवस्था भी विशेष नहीं थी।

ब्रजभाषा काव्य की आलंकारिकता भी अरुचि का कारण बनी।

इन सबके अतिरिक्त द्विवेदी-काल में ब्रजभाषा-काव्य का प्रबल सामूहिक विरोध हुआ। गद्य और पद्य दोनों में खड़ी बोली का ही प्रयोग करने के विषय में प्रबल आन्दोलन हुआ। नये विचारों को नवीन भाषा में ही प्रकाशित करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। इस प्रवृत्ति के बढ़ने में कारण अन्य बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाएं ही थीं, जिन में गद्य और पद्य की एक भाषा होती है। द्विवेदी जी खड़ी बोली के प्रबल समर्थक थे।

खड़ी बोली आम बोल-चाल की भाषा बन चुकी थी, भारत के अधिकांश भू भाग में। अतः, बोल चाल की स्वाभाविक भाषा को ही गद्य और पद्य में अपनाने की प्रेरणा प्रबल हुई।

खड़ी बोली गद्य की व्यवस्था के साथ व्याकरण आदि के नियम भी बन चुके थे।

शिक्षा और सर्कार में भी स्वीकृत कराने के लिए आवश्यक था कि हिन्दी के गद्य और पद्य का एक ही रूप निश्चित हो। गद्य और पद्य की भाषाएं दो रखना हीनता का कारण भी माना जाता था।

इन्हीं प्रबल विरोधी प्रेरणाओं और विचारों के साथ संघर्ष से और अपनी निर्बलताओं के कारण, एवं देश काल की परिस्थितिवश, ब्रजभाषा-काव्य

परम्परा दबती चली गई, उसमें विशेष काव्य-रचना आधुनिक काल में नहीं हुई।

किन्तु समय और परिस्थिति बदल चुके थे। नये विचारों का युग आ गया था। नयी भावनाएं और नयी प्रवृत्तियां उद्‌गत हो रही थीं। समाज, जाति, देश और धर्म सब में गंभीर छान-बीन और परिवर्तन हो रहे थे। नवीन योरोपीय जातियों के सम्पर्क से विचारों में महान् अन्तर आ रहा था। स्वतंत्रता और देशभक्ति की भावनाएं लहराने लगी थीं। सुधार और परिष्कार का युग था। जाति का दृष्टिकोण परिवर्तित हो रहा था। नवीन आन्दोलन और सुधारों का बोलबाला था। कवि भी पीछे कैसे रह सकता था? अतः उसने भी कविता के विषय बदले। प्राचीन धार्मिक, शृंगारिक, वीर और नीति आदि की कविताओं के साथ उसने नव नव सामयिक विषयों का भी ब्रजभाषा काव्य में वर्णन किया। भारतेन्दु जी के द्वारा यह कार्य प्रारंभ होता है। अब से पहिले, रीतिकाल में, ब्रजभाषा काव्य ने वास्तविक लोक-जीवन की उपेक्षा की थी। उसका विषय केवल कल्पना-लोक ही में होता था। किन्तु अब ब्रजभाषा साहित्य का जीवन से सम्पर्क स्थापित किया गया, परन्तु यह सम्पर्क अत्यल्प रहा। कवि लोग अब भी अधिकतया ब्रजभाषा के प्राचीन विषयों पर ही रचना करते थे। तो भी ब्रजभाषा में लौकिक विषयों का प्राचीन काव्य परिपाटी में वर्णन होने लगा। किन्तु आगे और भी नवीन काल में, काव्य के विषय का विस्तार बढ़ने पर, कवियों के सामने कठिनता उपस्थित हुई। ब्रजभाषा पर सभी का समान अधिकार प्राप्त कर लेना आसान नहीं था। वह रूढ़ियों में इतनी जकड़ी हुई थी, कि कवि के लिए और कठिनता हो जाती थी। अतः प्राचीन विषय ही अधिकतया अब भी वर्णित होते रहे ब्रजभाषा-काव्य में। खड़ी बोली के गद्य में, अनेक विविध नवीन-विषयों का विस्तार हो रहा था, ब्रजभाषा पद्य उस समय इस नवीन विचार प्रवाह से तटस्थ सा रहा। जीवन से दूर जा पड़ने के कारण किसी भी भाषा के साहित्य का अस्तित्व नहीं बना रहा करता। ब्रजभाषा में इतनी अमूल्य काव्य-निधि वर्तमान रहते भी, वह आधुनिक पद्य का वाहन बनने में असमर्थ सिद्ध हुई। ब्रजभाषा पद्य की अवनति के प्रथम कारण तो ये ही मानने चाहियें कि वह

नवीन काव्य के लिए समर्थ सिद्ध नहीं हुई और उसका काव्य वास्तविक जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं कर सका।

आधुनिक काल की ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में रत्नाकर जी को सर्व-श्रेष्ठ कवि माना जाता है। इनके हाथों में पड़कर ब्रजभाषा-काव्य ने अपना पूर्ण रीति-कालीन सौन्दर्य अभिव्यक्त किया है। क्या भाव क्या भाषा और क्या शैली एवं क्या आलंकारिक सौन्दर्य-सभी की दृष्टि से रत्नाकर जी का काव्य रीति काल के किसी भी बड़े कवि के समक्ष रखा जा सकता है। उसे देख कर भी वह उसी काल की परमोत्कृष्ट रचना प्रतीत होती है। रत्नाकर जी के विषय भी प्राचीन ब्रजभाषा-काव्य वाले ही हैं—भक्ति, श्रृंगार आदि। उनमें सामयिकता नहीं है।

भाषा रत्नाकर जी की अत्यन्त सुन्दर और मधुर है। उस पर कवि को पूरा अधिकार है। यह अधिकार कवि ने ब्रजभाषा के ग्रन्थों के अध्ययन से ही प्राप्त किया है। वह कवि की मातृभाषा नहीं है। अतः कवि की भाषा ब्रजभाषा काव्य की साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें साहित्यिकता का समस्त सौन्दर्य-विधान उपलब्ध होता है। उसका वही बनाव-ठनाव है, वही सौन्दर्य और वही माधुर्य है। बल्कि कुछ विशेषता भी है। वह यह कि ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों ने शब्दों के रूप-निर्माण और वाग्योजनादि के विषय में किसी विशेष नियम का पालन नहीं किया है, मनमाना आचरण किया है। किन्तु रत्नाकर ने ऐसा नहीं किया। उनके शब्द-निर्माण और वाक्य-योजनादि नियम-बद्ध हैं। उन नियमों का पालन कवि ने सर्वत्र किया है। इससे रीति-काल की अपेक्षा इनकी भाषा में व्यवस्था-सौन्दर्य अधिक है। उसमें, अभिव्यंजना है, सामर्थ्य है और चित्रण-शक्ति है, प्रसाद है, माधुर्य है और लालित्य है।

दीन दसा देखि ब्रज बालनि की ऊधव कौ
गरिगो गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आये मुख बैन नैन
नीर भरिल्याए भये सकुचि सिहाने से।

सूखे से, भ्रमे से, सक बके से, सकेते थके
भूले से भ्रमे से, भभरे से भकुवाने से,
हौले से, हले से, हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥

× × × ×

कूबरी के कूबर तें उबरि न पावै कान्ह,
इन्द्र-कोप-लोपक गुवर्धन उठैहै को ?

× × × ×

कवि ने भाषा में अलंकार-सौन्दर्य भी रीति काल के जैसा ही रखा है। शब्दालंकारों का चमत्कार तो सर्वत्र मिलता ही है। उपमा रूपक आदि की भी सुन्दर योजना हुई है—

राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम रतनाकर हियें यों उमगत है।
त्यौं ही विरहातप प्रचण्ड सौं उमडि अति,
ऊरध उसासको झकोर यों जगत है।
केवट विचार को विचारो पचि हारि जात,
होत गुनपाल ततकाल नभगत है।
करत गभीर धीर-लंगर न काज कछू,
मन को जहाज डगि डूबन लगत है ॥

छन्दोव्यवस्थाभी रत्नाकर जी की नियमित और सुरुचि-पूर्ण है। इन्होंने छन्द भी प्राचीन ही चुने हैं। किन्तु उनका समुचित निर्वाह किया है। छन्दो-भंग तो क्या वर्ण का स्वरभंग भी नहीं करना पड़ता। दीर्घ वर्णों को लघु और लघु कोदीर्घ पढ़ने की प्रवृत्ति से भी ये बचे रहे हैं। इन के छन्दों की गठन स्वाभाविक है, उसमें शिथिलता या यति और गति का भंग नहीं है।

भाव और उसको व्यक्त करने की शैली में भी ये प्राचीन बड़े कवियों की कोटि में पहुँच जाते हैं। देखिये विरह की पंक्तियां—

आवत दिवारी बिलखाई ब्रज नारी कहैं,
अबकै हमारैं गांव गोधन पुजैहैं को ?

   

हाल कहा बूझत विहाल परीं बाल सबै
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।

❀ ❀ ❀ ❀

आह कै, कराहि, नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे कौ चाहि, हिचकी लै, रहिजाइयौ।

गोपियां उद्धव को मना करती हैं कि यहां के दुख की बात कृष्ण को न कहना, नहीं तो—

आँसु भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाय,
व्रज दुख त्रास की न तातैं सांस लीजियौ।

❀ ❀ ❀ ❀

रीतिकालीन पद्धति में ही अत्युक्ति की है—

सूखि जाति स्याही लेखिनी कै नैकु डंक लागै
अंक लागै कागद बररि बरि जात है।

देखिये वर्षा रूप में वर्णन—

रहति सदाई हरियाई हिय घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवाकी है।
पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं,
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर को झरी औ
उठै चित में चमक सो चमक चपलाकी है।
विनु घन स्याम धाम-धाम व्रज मण्डल में,
ऊधो! नित बसत बहार बरसाकी है।

उद्धव के वापिस जाते समय गोपियां अपना सन्देशा नहीं कह पातीं। शब्द नहीं निकलता मुंह से। इतना मात्र कह कररह जाती हैं—

रंचक हमारी सुनौ, रंचक हमारो सुनौ,
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जाति हैं।

इन रचनाओं को देखकर कोई भी इन्हें रीति काल के उन्नत साहित्य की समकोटि में ही रखेगा। रीति काल की जितनी भी प्रमुख प्रवृत्तियां थी,

वे सब अपने विकसित और परिमार्जित रूप में रत्नाकर के काव्य में मिलेंगी। आधुनिक काल में ब्रज-भाषा काव्य का ऐसा निखरा हुआ, ऐसा सुन्दर और चमत्कार-पूर्ण रूप रत्नाकर के काव्य में मिलना आश्चर्यकर है। इसके लिए कवि का विशेष ब्रज-प्रेम ही कारण है, जिसके कारण ये खड़ी बोली के समय में भी इतना उन्नत ब्रज-भाषा-काव्य दे सके। ये अन्तिम ही कवि माने जाते हैं, जिनमें रीति-कालीन प्राचीन ब्रज भाषा-काव्य का पूर्ण सौन्दर्य और चमत्कार प्रकट होता है। इनका काव्य, अतएव आधुनिक ब्रज-भाषा काव्य में सर्व-प्रमुख माना जाता है। इनकी समकोटि में अन्य कोई आधुनिक कवि नहीं आता। इसीलिए इनके साथ ही ब्रज भाषा काव्य की वास्तविक परम्परा की समाप्ति मान ली जाती है।

८—कविवर पन्त के (युग वाणी और ग्राम्या रचनाओं में) लक्ष्य-परिवर्तन पर कला की दृष्टि से अपने विचार प्रकट करिये और प्रगतिशील कविता की युक्ति-युक्त मीमांसा कीजिये।

उत्तर—पन्त जी समन्वय या सामञ्जस्य के हामी हैं। अतएव अपने युग की सभी प्रमुख प्रमुख प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर, उनके रूपों में परस्पर सामञ्जस्य बिठाकर, इन्होंने अपनी विचार-धारा का निर्माण किया है। वह विचार-धारा पन्त जी के विभिन्न रचना-कालों में परिवर्तित होती रही है। पन्त जहां, सौन्दर्य, प्रेम और सुकुमार कल्पना के कवि हैं, वहां बौद्धिक चिन्तन भी उनके सदैव साथ में रहता है। प्रारंभिक कविताएं पन्त ने स्थूल सौन्दर्य और प्रेम से प्रभावित होकर लिखी हैं। उनमें मानव और प्रकृति के सुन्दर रूपों की विविध और विशद अभिव्यंजनाएं हुई हैं। सौन्दर्य, प्रेम, संगीत और मधुर कोमल कल्पना, पन्त के लक्ष्य-परिवर्तन के युग से पहिले की रचनाओं की विशेषता है। आगे चलकर कवि जब भौतिक जीवन का स्वयं क्रिया रूप में प्रत्यक्ष करता है, तो उसका कल्पना और सौन्दर्य का सुख-स्वप्न समाप्त हो जाता है। जीवन के प्रति उसके दृष्टि-कोण में अन्तर आ जाता है। सौन्दर्य की अपेक्षा कवि में चिन्तन की प्रधानता होने लगती है। यह चिन्तन-प्रधानता सर्व प्रथम 'युगान्त' में लक्षित होती है। कवि जीवन के गंभीर सौन्दर्य का दर्शन करता है। प्रकृति की

द्वन्द्वात्मक शक्ति को पहिचान कर उन द्वन्द्वात्मक रूपों में सामञ्जस्य बिठाकर शान्ति ढूंढता है। कवि मानव-स्वतंन्त्रता का पक्षपाती बनकर, अत्याचार के प्रत्येक क्षेत्र में आवाज उठाता है। यह वस्तुतः तात्कालिक भावनाओं की प्रधानता है। कवि सुन्दर स्वप्नों से जागकर मानव को प्रभात देखने की आशा दिलाता है। सुख दुख का स्नेह मिलन भी देखता है और उनमें सामञ्जस्य बिठाता है। लक्ष्य-परिवर्तन का पूर्व आभास इसी रचना में मिल जाता है। इससे आगे युग-वाणी में कवि पर नवीन समाजवादी धारा का विशेष प्रभाव पड़ा है। अध्ययन-शील कवि में सौन्दर्य-प्रियता के साथ ही अध्ययन शील गंभीरता बढ़ती है। कवि नवीन साम्यवादी दृष्टि-कोण से जीवन का दर्शन करता है। किन्तु कवि का यह साम्यवाद गांधीवाद के अधिक निकट है। प्राणी प्राणी में समता के भाव का आधार आध्यात्मिकता को मानते हैं। भारतीय साम्यवादी के समान ही ये अहिंसा में विश्वास भी रखते हैं, किन्तु हिंसा की भी आवश्यकता स्वीकार करते हैं कुछ हद तक—

नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।

युग वाणी इसी भारतीय साम्यवाद के सिद्धान्तों का वर्णन करती है कविताओं में। साम्यवाद के सिद्धान्तों का विवेचन है और समाजवादी दृष्टि-कोण से जीवन को देखा गया है। व्यष्टि से समष्टि को महत्व दिया गया है। सौन्दर्य और प्रेम की अपेक्षा रोटी कपड़े का प्रश्न विशेष तीव्र रूप में इनको दिखाई देता है। उसके हल करने में साहित्य का भी सहयोग दान का कर्तव्य है। इसीलिए इन्होंने अपनी कविता का लक्ष्य बदला है। इस लक्ष्य-परिवर्तन से युग वाणी की कविता में विचार और चिन्तन की प्रधानता हो गई है और भावुकता या रसमयता बहुत कम हो गई है। भाषा का वह सौन्दर्य, कल्पना की वह सुकुमारता और मधुरता, भाव-विन्यास की वह लाक्षणिक चित्रमय शैली, जोकि पन्त-काव्य की अब तक की विशेष विशेषताएं थीं, बुद्धि-प्रेरित चिन्तन-धाराओं में दब जाती हैं। कवि का विशेष प्रयत्न अपने विचारों के प्रकाशन में है, उनकी सौन्दर्य-सज्जा में नहीं। शैली सरल सीधी हो जाती है, जिसमें स्थूल तथ्यों का ही वर्णन है। उसमें

अनुभूति और कला-सौन्दर्य का अभाव सा हो जाता है, हृदय प्रधान न रहकर मस्तिष्क प्रधान हो जाता है। कवि की चेष्टा युग वाणी में बड़े नपे तुले शब्दों में जीवन के सिद्धान्तों की व्याख्या है। अतः उसमें कलामयता और अनुभूति की बहुत कमी है। काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष, दोनों की दृष्टि से, युग वाणी पन्त की पहिले युग की रचनाओं से सर्वथा नवीन पथ पर चली है। उसमें काव्य के भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा विचार-सौन्दर्य अधिक है। देखिये—

सच है जीवन के वसन्त में
रहता है पत-झर।

❀ ❀ ❀ ●

भय का दे पाथेय प्रकृति ने
भेजा मनुज अपरिचित वन में

× × × ×

मध्य वर्ग का मानव वह परिजन पत्नी-प्रिय।

मध्यम वर्ग के मानव का स्वाभाविक तात्विक वर्णन है। देखिये किसान—

वज्र-मूढ़ जड़-भूत हठी वृष बान्धव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों का चिर-रक्षक।

युग वाणी में कवि ने अपने समाजवादी या प्रगतिवादी सिद्धान्तों और धारणाओं की व्याख्या उपस्थित की है। ग्राम्या में कवि अपने इन सिद्धान्तों के अनुसार चला है। अपनी प्रगतिवादी विचार धारा के अनुसार कवि भी ग्राम की ओर को मुड़ा है। प्रगतिवाद जनता का आधार लेकर चलता है। भारत में जनता के केन्द्र ग्राम हैं। अतः समाज वादी राजनैतिक कार्य-कर्ताओं के साथ पन्त भी ग्राम में ही पहुँचे हैं। किन्तु यहां भी उनकी कवि दृष्टि प्रधान नहीं बनती। पन्त ने ग्राम्य जीवन में मिलकर उसके सौन्दर्य का चित्रण नहीं किया है, प्रत्युत एक दर्शक या आलोचक के नाते ही किया है। ग्राम के पीड़ितों के साथ कवि की हार्दिक सहानुभूति नहीं है, अपितु एक समालोचक या दर्शक की बौद्धिक सहानुभूति है। वे ग्राम

के दुखियों को देखकर दुखी भी हुए हैं। किन्तु उनका ग्राम्य-दर्शन समष्टि रूप में है। किसी ग्रामीण व्यक्ति को लेकर, उसके सुख दु.ख से प्रभावित होकर, कवि ने कोई काव्य-सृष्टि नहीं की, जिन, ग्राम नारी, गांव के बच्चे, ग्राम वधू, वुड्ढा, मजदूरनी आदि में व्यक्ति विशेषों का चित्रण हुआ भी है, वे ग्राम्य जीवन के प्रतीक रूप हैं, व्यक्तिगत चित्रण नही, अपितु ग्राम-चित्रण हैं। उनके सुख दुख गांव के सुख दुख हैं।

ज्ञान नहीं है तर्क नहीं है कला न भाव विवेचन
जन हैं, जग है, क्षुधा काम इच्छाएं जीवन साधन।

ग्राम के सरल स्वाभाविक और प्राकृतिक जीवन के सौन्दर्य की अपेक्षा कवि ने उसके आदर्श रूप का ही वर्णन किया है—

मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों में ही अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।

❀ ❀ ❀ ❀

इन कीड़ों का भी मनुज बीज ?
यह सोच हृदय आता पसीज।

इस प्रकार ग्राम्या में कवि का प्रथम कवि-हृदय प्रधान नहीं बनता, अपितु मस्तिष्क की ही प्रधानता रहती है। किन्तु बीच बीच में ग्राम्या में कवि की प्राथमिक कल्पना, अनुभूति और सुकुमार भावना भी फिर जाग उठती है। वहां के चित्र अधिक काव्य-मय होगये हैं—

मरकत डिब्बेसा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त,
निज शोभा से हरत जन-मन।
खींचती उवहनी वह बरबस,
चोली से उभर उभर कस-मस।
खिंचते संग युग रस भरे कलश,
जल छलकाती रस बरसाती।
बल खाती वह घर को जाती है,

❀ ❀ ❀ ❀

किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं ग्राम्या में, जहाँ कवि के भावातिरेक और सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रण के दर्शन होते हों, नहीं तो कवि के बौद्धिक चिन्तन की शुष्क काव्य मयता दर्शन होते हैं। अतः स्पष्ट ही इस लक्ष्य-परिवर्तन से पन्त की कविता में बौद्धिक विकास ही आया, अनुभूति और कला अथवा काव्यत्व की तो हानि ही हुई है।

प्रगतिवाद हिन्दी-काव्य-शैली का नवीन विकास है। द्विवेदी-काल की इति-वृत्तात्मकता या स्थूल-वर्णन की प्रति-क्रिया-स्वरूप जैसे छायावाद का उदय हुआ था, वैसे ही छायावाद की सूक्ष्म और अमूर्त सौन्दर्य के वर्णन की ओर जीवन के कठोर सत्यों से मुँह छिपाकर कल्पना-लोक में पलायन करने की प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप हिन्दी में प्रगतिवाद का चलन हुआ। देशकाल-गत परिस्थितियों और नवीन राजनैतिक विचार-धारा के विकास ने काव्य की इस शैली के विकास में सहायता दी। यह वाद छायावाद कि विरोधी दोनों प्रवृत्तियों को लेकर चला। छायावाद की जीवन के कटु सत्यों से पलायन वृत्ति के विरोध में यह वाद वीरता से जीवन के कठोर सत्यों का सामना करने को कहता है। यह लोक-जीवन से घबरा कर या उससे उदस्य होकर, व्यक्तिगत कल्पनालोक में सुख-विहार करने को कायरता समझता है और कविता का लोक जीवन की प्रगति में साहाय्य-दान का कर्तव्य बताता है। छायावाद के अमूर्त या सूक्ष्म वर्णन की प्रतिक्रिया में प्रगतिवादी कवि स्थूल जागतिक वर्णन को अपनाता है। छायावाद ने व्यक्तिगत पिपासाओं को उत्तेजित तो किया सौन्दर्य-चित्रण द्वारा, किन्तु उनकी शान्ति का कोई हल वह नहीं दे सका। वह हल प्रगतिवाद देने को कहता है। प्रगति वाद स्थूल जीवन के सुख दुख में सौन्दर्य और शान्ति देखता है। मुख्य रूप में इसके सिद्धान्त निम्न हैं—

जीवन प्रगति-रूप है। उससे भागने की अपेक्षा, उसका सामना करना चाहिये, उसकी प्रत्येक प्रगति में सहायता देनी चाहिये। यही, प्रत्यक्ष में वर्तमान जीवन ही सत्य है, इससे परे लोक परलोक कुछ नहीं।

साहित्यिक सौन्दर्य का आधार साम्य-भावना है और यह साम्य-भावना जीवन में स्थापित होने पर ही सौन्दर्य उपलब्ध हो सकता है। अतएव

प्रगतिवादी विषमताओं का विरोध और उन्मूलन चाहता है, जिससे समाज में साम्य भाव आये। यह साम्य भाव विषमताओं का उन्मूलन किये बिना नहीं आ सकता।

व्यक्ति के सुख दुख के प्रकाशन को महत्व न देकर, प्रगतिवादी कवि सार्वजनिक सुख दुख के प्रकाशन को अधिक महत्व देता है।

वर्णन और शैली में कृत्रिम सौन्दर्य के उप-करणों की कमी आ जाती है। कवि सरल सीधा वर्णन करता है—

सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े तस्वीरें नीली पीलीं।

रोमांटिक दृष्टि-कोण उड़ जाता है, कोरा वस्तु-वादी दृष्टि-कोण रह जाता है। टेकनीक सीधी, सरल, भाव-प्रदर्शन के उपयुक्त होती है, जिसमें कृत्रिम सौन्दर्य का प्रयत्न नहीं होता।

इस काव्य में आधार यद्यपि प्रधानतया बौद्धिक रहता है, सहानुभूति का आधार चिन्तन और विचार ही अधिक होते हैं। तोभी कुछ प्रगतिवादी काव्य में वर्ग-गत सच्ची अनुभूति के दर्शन हो जाते हैं।

यह काव्य अभी अपनी पूर्णता को नहीं पहुँचा है। विकास-शील है। आगे इसके रूप और सिद्धान्त में क्या परिवर्तन हो, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ३ संवत् २००५

नोट—प्रथम प्रश्न अनिवार्य है, शेष प्रश्नों में से किन्ही चार के उत्तर लिखिये।

१—निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं तीन की, उनका प्रसंग बताते हुए, व्याख्या कीजिये—

(क) सरलपन ही था उसका मन निरालापन था आभूषन······
·········बाल्य सरिता के कूलों से खेलती थी तरंग से नित।

प्रसंग—पन्त के "आधुनिक कवि" नामक संग्रह में संग्रहीत "उच्छ्वास

की बालिका" नामक कविता का उद्धरण है। कवि ने किसी भोली बालिका का वर्णन किया है।

व्याख्या—उसका मन सरलपन ही था (अत्यन्त सरल था), और आभूषण निरालापन ही था (विलक्षणता ही उसकी सजावट थी)। अजान (अबोध) आंखें कानों से मिली हुई थीं (बड़ी बड़ी थीं) और सजीला (शोभा वाला) शरीर स्वाभाविक रूप से सजा हुआ था (उसके शरीर की शोभा स्वाभाविक सौन्दर्य ही थी)। सुरीले (मधुर शब्द बोलने वाले) और ढीले (खुले हुए) होठों के बीच में उसका अधूरा और लचकीला (लचक कर गाया हुआ) गीत, (उस) विकसित बालकपन की ओर (देखने वाले का) मन खींच कर (आकृष्ट करके), (स्वयं) उसी का प्रति-रूप (उपमान) हो जाता था (गीत भी बालिका अथवा उसके बाल्य के समान ही विकसित स्वाभाविक अधूरा और भोला था)। रंगीन और गीले (आर्द्र) पुष्पों के समान ही अर्द्ध विकसित भावों से प्रफुल्लित (वह बालिकालता), तरंग के समान ही नित्य नदी के तटों के साथ खेला करती थी। (तरंगे भी तट से टकराती हैं और उस पर उछलती हैं और बालिका भी तट पर खेलती थी और बाल्य-क्रीड़ा करती थी।)

कवि ने किसी अस्फुट-यौवना के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर यह प्रेम-काव्य लिखा है। पन्त जी की पहले युग की कविताएं हैं, जिनमें भाव और कला कूट कूट कर भरे हैं। उपमा का सुन्दर सन्निवेश है। उपमान कितने सूक्ष्म रखे गये हैं!

(ख) झलकने प्रति केलिथली लगी ·····रविसुता कल कूल इसी समै।

प्रसंग—प्रिय प्रवास का पद्य है। कवि ने प्राकृतिक वर्णन किया है।

व्याख्या—नभो-मण्डल की वह लाली क्रीड़ा के प्रत्येक स्थल पर झलकने लगी। नदी और तालाबों में पड़ी वह लालिमा बहुत ही मनोहर लगती थी। इसी समय यमुना के मनोहर तट पर, पर्वत की कन्दराओं और वन के मधुरकुंजों (लता से ढके हुए स्थानों) को शब्दायित (गुंजित) करता हुआ, एक वंशी-नाद हुआ (कृष्ण की बंसरी बज उठी)।

(ग) कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित…… ……
……कौन तुम मेरे हृदय में ?

प्रसंग—महादेवी वर्मा के "आधुनिक कवि" की ३१ वीं कविता का अवतरण है। रहस्य-वादी या छाया-वादी ढंग में कवि ने अनन्त जिज्ञासा का प्रकाशन किया है।

व्याख्या—तुम मेरे हृदय में (विद्यमान) कौन हो ? कौन अलक्षित बना, नित्य ही, मेरी कसक (वेदना) में मिठास भर जाता है ? कौन (इन) प्यासे नेत्रों में, अपरिचित बना, घुमड़ कर बरस जाता है ? (किसकी याद में आँसू निकल पड़ते हैं ?) निद्रा के शून्य आकाश में, स्वप्नों का चित्रण करने वाले ! मेरे हृदय में तुम कौन हो ?

अलक्ष्य प्रिय को उद्दिष्ट करके उसके विषय में रहस्यमय जिज्ञासा प्रकट की गई है। परोक्ष सत्ता, अज्ञात है, अपरिचित है, किन्तु हृदय में स्थित है। कवि ने उसके प्रति प्रश्नात्मक संकेत किये हैं। प्रश्न अलंकार है।

(ग) भाग परीक्षा में नहीं है।

(ङ) मैं यहा अकेला देख रही…… …अपने शिशुओं को रहे चूम।

प्रसंग—कामायनी के ईर्ष्यासर्ग का पद्य है। मनु शिकार से लौटे हैं और श्रद्धा साग्रह पूछ रही है कि तब-तक कहाँ भटकते रहे।

व्याख्या—मैं यहाँ मार्ग जोह रही हूँ अकेली, (तुम्हारी) पद-ध्वनि (पाद-चाप) को निश्चलता से सुनती हुई सी, जबकि तुम वन में मृग के पीछे व्याकुल बन भाग रहे होगे। (देखो) पीला पीला (धूप से चमकता) दिन ढल गया है और तुम रक्त के समान लाल (क्रोध में और भागने के परिश्रम से) बने वन में घूम रहे हो। देखो, घोंसलों में पक्षियों के जोड़े अपने बच्चों को चूम रहे हैं।

श्रद्धा के हृदय में मानव जन्म से पूर्व ही स्नेह का उदय हो गया है। अतएव पक्षि-शावकों का वर्णन किया है। वह मनु को हिंसा से विरत करना चाहती है। वह चाहती है, मनु भी वत्स के लिए उतने ही उत्सुक हों, जितनी कि वह स्वयं है। कवि ने बहुत स्वाभाविक वर्णन किया है।

२. सच बात तो यह है कि उर्मिला के आँसुओं पर यशोधरा को

अधिकार होना चाहिए था, यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिए थी।" उक्त कथन का मर्म समझाइए।

उत्तर ३. उपर्युक्त कथन का मर्म यही है कि उर्मिला में, जितनी विरह-जन्य करुण दशा दिखाई गई है, वह यशोधरा में दिखाई गई होती तो, उचित होता, वह दशा उर्मिला में दिखाना औचित्य-पूर्ण नहीं लगता। और, यशोधरा में इस दशा का अभाव भी कुछ खटकता है। यशोधरा की मानसिक भूमि बहुत उन्नत और आदर्शों पर स्थित थी। इस उच्चता की अधिकारिणी उर्मिला को बनाया जाता तो ठीक था। भावना यह है कि उर्मिला का व्याकुलता-पूर्ण विरह यशोधरा में दिखाना चाहिए था और उर्मिला को यशोधरा जैसी उच्च आदर्श भूमि पर स्थापित करना चाहिये था।

यशोधरा और उर्मिला दोनों को पति की जीवन-दशा में ही विरह भोगना पड़ा। दोनों के पति स्वेच्छा से उन्हें छोड़ गए थे। किन्तु उनके उद्देश्य भिन्न थे। लक्ष्मण भाई के आदर्श का पालन करने के लिए और बुद्ध विश्व की मुक्ति के उपाय को खोजने के लिए बनचारी बने थे। अतएव लक्ष्मण का वनवास अवधि-विशेषतक के लिए था और बुद्ध का सर्वदा के लिए उर्मिला के विरह में मिलन की आशा व्याप्त हैं, किन्तु यशोधरा के विरह के अन्त की कोई आशा नहीं। बुद्ध मुक्ति प्राप्त कर आभी जायं, तो भी उस दशा में यशोधरा उनके किस मतलब की ? यशोधरा के ऊपर पुत्र—पालन के कर्तव्य का भी भार है। राजघरों के सुख में पली, आसक्ति—प्रधान यशोधरा के लिए यह वियोग नितान्त दुःख कर था, असह्य था। किन्तु यशोधरा आदर्श-प्रिय रमणी थी। अपने पति में उसे अगाध श्रद्धा थी, उनके उद्देश्य के महत्व से भी वह परिचित थी। वह उस विश्व-मंगल के कार्य में बाधक नहीं बनना चाहती थी। उसके लिए वह आजीवन वियोग भोगने को सहर्ष तैयार थी। उसमें नैतिक आदर्शों का भी पूर्ण मान था। पति उसके लिए सबसे बड़ा देवता था। वह अपने सती के पद से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुई। अपने कर्तव्य की ओर भी वह सचेष्ट थी। पुत्र—पालन बड़े स्नेह से करती थी, उसका मानसिक स्तर बहुत उन्नत, समृद्ध और गम्भीर है। वह बुद्धिमती है, तर्कमती और अद्भुत संयममती है। वह उर्मिला की तरह

झींकती नहीं, रोती नहीं और न किसी को दोष ही देती है। वह विश्वमंगल के लिए अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर देना चाहती है। बुद्ध के उद्देश्य में पूर्ण विश्वास रखती है। उसको केवल एक ही बात का दुःख है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात,
पर चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखी! वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझसे वे पथ-बाधा ही पाते।

बुद्ध के उससे बिना मिले जाने में उसे यही दुःख था कि बुद्ध ने उसे निर्बल समझा।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते,
सखि! वे मुझसे कहकर जाते।

मैं उन्हें—

देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।
यह निःश्वास न उठता हा कर।

यशोधरा प्रिय को बुरा नहीं कहती। अपितु कहने वालों को उत्तर देती है—वे हमारे सुख की खोज में गये हैं। वह सूख जाती है विरह में, राहुल भी उसे पहिचान नहीं पाता, आहें भरती है, किन्तु उसकी वैसी करुणा-जनक विधुर दशा नहीं होती, जो उर्मिला की होती है। यशोधरा में सदैव एक गौरव पूर्ण संयम रहता है। वह अपने आदर्श पर दृढ़ है, उससे जरा भी विचलित नहीं होती। शुद्धोदन आदि पारिवारिक जन बुद्ध के लिए व्याकुल हो, उनकी खोज करने का प्रस्ताव करते हैं। किन्तु यशोधरा उनका विरोध करती है कि क्या वे बच्चे हैं, जिन्हें कोई लेने जाय? अपने प्रति की गई उपेक्षा को सहन नहीं करती? इसीलिए वह तड़पती हुई भी बुद्ध—दर्शन को नहीं जाना चाहती। वह अपने स्थान पर दृढ़ है। अन्त में स्वयं बुद्ध उससे क्षमा याचना करते हैं—

अधिकार होना चाहिए था, यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिए थी।" उक्त कथन का मर्म समझाइए।

उत्तर ३. उपर्युक्त कथन का मर्म यही है कि उर्मिला में, जितनी विरह-जन्य करुण दशा दिखाई गई है, वह यशोधरा में दिखाई गई होती तो, उचित होता, वह दशा उर्मिला में दिखाना औचित्य-पूर्ण नहीं लगता। और, यशोधरा में इस दशा का अभाव भी कुछ खटकता है। यशोधरा की मानसिक भूमि बहुत उन्नत और आदर्शों पर स्थित थी। इस उच्चता की अधिकारिणी उर्मिला को बनाया जाता तो ठीक था। भावना यह है कि उर्मिला का व्याकुलता-पूर्ण विरह यशोधरा में दिखाना चाहिए था और उर्मिला को यशोधरा जैसी उच्च आदर्श भूमि पर स्थापित करना चाहिये था।

यशोधरा और उर्मिला दोनों को पति की जीवन-दशा में ही विरह भोगना पड़ा। दोनों के पति स्वेच्छा से उन्हें छोड़ गए थे। किन्तु उनके उद्देश्य भिन्न थे। लक्ष्मण भाई के आदर्श का पालन करने के लिए और बुद्ध विश्व की मुक्ति के उपाय को खोजने के लिए बनचारी बने थे। अतएव लक्ष्मण का बनवास अवधि-विशेषतक के लिए था और बुद्ध का सर्वदा के लिए उर्मिला के विरह में मिलन की आशा व्याप्त हैं, किन्तु यशोधरा के विरह के अन्त की कोई आशा नहीं। बुद्ध मुक्ति प्राप्त कर आभी जायं, तो भी उस दशा में यशोधरा उनके किस मतलब की? यशोधरा के ऊपर पुत्र—पालन के कर्तव्य का भी भार है। राजघरों के सुख में पली, आसक्ति—प्रधान यशोधरा के लिए यह वियोग नितान्त दुःख कर था, असह्य था। किन्तु यशोधरा आदर्श-प्रिय रमणी थी। अपने पति में उसे अगाध श्रद्धा थी, उनके उद्देश्य के महत्व से भी वह परिचित थी। वह उस विश्व-मंगल के कार्य में बाधक नहीं बनना चाहती थी। उसके लिए वह आजीवन वियोग भोगने को सहर्ष तैयार थी। उसमें नैतिक आदर्शों का भी पूर्ण मान था। पति उसके लिए सबसे बड़ा देवता था। वह अपने सती के पद से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुई। अपने कर्तव्य की ओर भी वह सचेष्ट थी। पुत्र—पालन बड़े स्नेह से करती थी, उसका मानसिक स्तर बहुत उन्नत, समृद्ध और गम्भीर है। वह बुद्धिमती है, तर्कमती और अद्भुत संयममती है। वह उर्मिला की तरह

झींकती नहीं, रोती नहीं और न किसी को दोष ही देती है। वह विश्वमंगल के लिए अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर देना चाहती है। बुद्ध के उद्देश्य में पूर्ण विश्वास रखती है। उसको केवल एक ही बात का दुःख है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात,
पर चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखी! वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझसे वे पथ-बाधा ही पाते।

बुद्ध के उससे बिना मिले जाने में उसे यही दुःख था कि बुद्ध ने उसे निर्बल समझा।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते,
सखि! वे मुझसे कहकर जाते।

मैं उन्हें—

देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।
यह निःश्वास न उठता हा कर।

यशोधरा प्रिय को बुरा नहीं कहती। अपितु कहने वालों को उत्तर देती है—वे हमारे सुख की खोज में गये हैं। वह सूख जाती है विरह में, राहुल भी उसे पहिचान नहीं पाता, आहें भरती है, किन्तु उसकी वैसी करुणा-जनक विधुर दशा नहीं होती, जो उर्मिला की होती है। यशोधरा में सदैव एक गौरव पूर्ण संयम रहता है। वह अपने आदर्श पर दृढ़ है, उससे जरा भी विचलित नहीं होती। शुद्धोदन आदि पारिवारिक जन बुद्ध के लिए व्याकुल हो, उनकी खोज करने का प्रस्ताव करते हैं। किन्तु यशोधरा उनका विरोध करती है कि क्या वे बच्चे हैं, जिन्हें कोई लेने जाय? अपने प्रति की गई उपेक्षा को सहन नहीं करती? इसीलिए वह तड़पती हुई भी बुद्ध—दर्शन को नहीं जाना चाहती। वह अपने स्थान पर दृढ़ है। अन्त में स्वयं बुद्ध उससे क्षमा याचना करते हैं—

यदि मैंने निर्दयता की तो क्षमा करो प्रिय जान।

यह यशोधरा की तपश्चर्या का फल था, जो उसे मिल गया अन्त में। अपनी इस साधना में कहीं पर भी उसके चरित्र में निर्बलता या साधारणता नहीं आती। उसे अपने मन पर पूरा नियंत्रण है, वह काबू से बाहर उसे नहीं जाने देती। भगवान् बुद्ध से उसने तर्क भी किया है और जीवन के कर्तव्यों को छोड़कर मुक्ति की इच्छा से जाने के विरोध में अपना मत भी प्रकट किया है एव उस ओर से मोड़कर उन्हें जीवन-पथ में लाने का प्रयत्न भी किया है—

आओ प्रिय ! भव में भावविभाव भरें हम
डूबेंगे नहीं कदापि तरें न तरें हम
कैवल्य काम भी काम स्वधर्म धरें हम
संसार-हेतु शतबार मरें हम।

मानिनी विरहिणी यशोधरा अपने नियम पर अत्यन्त दृढ़ रहती है। उसमें वह असयत निर्बलता-मूलक विरह-व्याकुलता नहीं आई है, जोकि उर्मिला में है। अतएव कुछ आलोचक उसमें थोड़ी अमानवता भी मानते हैं, कि उसे विरह व्यापा ही नहीं, उसने घर रहकर केवल अपने पुत्र की पालना की आदि। किन्तु यह सब ठीक है भी और नहीं भी है। यशोधरा बुद्ध के योग्य पत्नी थी और उसी योग्यता का उसने अन्त तक प्रदर्शन किया भी। बुद्ध जैसे ससार त्यागी महान् आत्मा की पत्नी में निर्बलता फबती भी नहीं। दूसरे उसके पास राहुल—युगल स्नेह की समुज्ज्वल ग्रंथि—था, जो बहुत हद तक शांति का कारण था। तीसरे, उसके हृदय में स्वाभिमान भी था। हृदय की निर्बलता का प्रदर्शन ऐसा स्वाभिमान कैसे सहन करता ? फलस्वरूप उसका विरह गम्भीर और संयत है। किन्तु यदि कवि उसमें भी वही विधुर-दशा दिखला देता तो इतना अनुचित नहीं होता, जितना कि उर्मिला में प्रतीत होता है। यशोधरा की परिस्थिति ऐसी थी, जिसमें यह विधुर दशा बुरी नहीं लगती, अपितु इसके उचित रूप में दिखाने से चित्र में मानवीयता कुछ अधिक आजाती। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि यशोधरा का उर्मिला के आंसुओं पर अधिकार होना चाहिए था।

दूसरी ओर, साकेत का निर्माण ही रामायण की उपेक्षिता उर्मिला के चित्रण के लिए गुप्त जी ने किया है। लक्ष्मण और उर्मिला ही उसके नायक-नायिका हैं। प्रारम्भ से अन्त तक उर्मिला के वर्णन की ही प्रधानता भी कवि ने रखी है। उर्मिला की परिस्थिति यही विकट थी। वह राजपुत्री थी, सुख वैभव के आनन्द में पली हुई। दुःख का नाम भी नहीं जानती थी। बालिका ही थी। पति-गृह में आते ही उस पर १४ वर्ष के महान् विरह की आपत्ति आपड़ती है। सीता अपने प्रिय पति के साथजाती है। उर्मिला को यह अधिकार नहीं मिला। लक्ष्मण राम के सेवक बन कर गये थे। सेवक के साथ उसकी पत्नी के भी जाने पर सेवा-वृत्ति में अन्तर पड़ता। फलतः उर्मिला न जाने को विवश हुई। उसकी मां ने कहा था, "मिला न वन ही न गेह ही तुझ को।" उसकी अन्य दो बहिनें माण्डवी और श्रुतिकीर्ति अपने पतियों के साथ थीं। विरह-भोग केवल उर्मिला के ही भाग में आया था और फिर दूसरे के कारण। किन्तु वह तर्क नहीं करती। पति में उसकी भी अगाध श्रद्धा और प्रेम है, वह भी उनके उद्देश्य और कर्तव्य के प्रति पूरी श्रद्धा रखती है। वह उसमें विघ्न नहीं बनना चाहती........."हे मन! तू-प्रिय पथका विघ्न न बन।" पति की इच्छा के सामने सिर झुकाती है और विवश होकर चिर-विरह को भोगती है, यशोधरा के समान ही। किन्तु उसका विरह सान्त है, उसकी एक निश्चित अवधि है। उसके पश्चात् सुखोपभोग की उसे आशा है। फिर भी उसकी विरह-पीड़ा असह्य है, उसका सारा समय रोते कलपते ही बीतता है। गुप्त जी ने उर्मिला के आंसुओं की सरयू बहा दी है साकेत में। अधीरता कातरता ही उसके विरह में अभिव्यक्त है, जिससे स्वभावतः उसके प्रति सहानुभूति और दया की भावना उद्गत होती है। बहिनें, माताएं सभी उसके अश्रुओं से नितान्त दुखी होते हैं। उसके शरीर की दशा—

मुख कान्ति पड़ी पीली पीली,
आँखें अशान्त नीली नीली।
क्या हाय यही वह कृश काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया?

ऐसी हो गई थी। वह तो—

अवधि शिला का था उर पर गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी दृग जल धार।

इस प्रकार से विरह काट रही थी। खाने पीने आदि जीवन-व्यापार के प्रति वह बड़ा आग्रह करने पर उन्मुख होती थी—

पिऊं ला, खाऊं ला, सखि ! पहिनलूं ला, सब करूं,
जिऊं मैं जैसे हो, यह अवधि 'का अर्णव तरूं।

उसका जीवन-धारण अवधि की समाप्ति पर प्रिय के दर्शनों के लिए ही होता था। विरह के ताप का वर्णन—

ठहर अरी ! इस हृदय में लगी विरह की आग,
ताल वृन्त से और भी धधक उठेगी जाग।

उसके लिए केवल रोनाही रह गया है—

रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊं किसे मैं अलोना सलोना।

रात में प्रिय-मिलन के स्वप्न भी नहीं आते। निद्रा ही नहीं पड़ती—

हाय ! न आया स्वप्न भी और गई यह रात,
सखि ! उडुगण भी उड़ चले अब क्या गिनूं प्रभात ?

अपने भाग्य को कोसती है—

कूड़े से भी आगे, पहुँचा अपना अदृश्य गिरते गिरते,
दिन बारह वर्षों में घूरे के भी सुने गये हैं फिरते।

वह पागल सी हो जाती है किन्तु मर्यादित भी—

तुम मिलो मुझे धर्म छोड़ के,
फिर मरूं न क्यों मुण्ड फोड़ के।

वह यह नहीं चाहती कि उसके प्रिय उसके लिए अधीर होकर घर भाग आयें और यों कर्तव्यच्युत हों। लक्ष्मण को अकेला आया देखकर कहती है—

दयित क्या आर्त जान कर
घर दिया भेज तुम्हें आप ही।
यह हुआ मुझे और ताप ही

च्युत हुए नाथ जो यथा
धिग् वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।

इतनी व्याकुलता होने पर भी उसे यह चिन्ता खाये जा रही है कि कहीं लक्ष्मण उसकी उस व्याकुलता की चिन्ता न करें। उस को पश्चात्ताप है कि उसने क्यों न कह दिया कि—

वह नारि सुलभ दुर्बलता थी
आकस्मिक वेग-विकलता थी
करना न सोच मेरा इससे।

चित्रकूट में लक्ष्मण के मिलन-संकोच को देखकर वह कहती है—

मेरे उपवन के हरिण आज वन-चारी
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी।

वह उनके पथ में बाधक नहीं बनना चाहती। वह अपनी निःस्वार्थ भाव की उदात्त भावना भी प्रकट करती है—

मैं अपने लिए अधीर नहीं
स्वार्थी यह लोचन नीर नहीं।

लक्ष्मण के प्रति कहती है--

है प्रेम स्वयं कर्तव्य बड़ा
जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा
यह भ्रातृ-स्नेह न ऊना हो
लोगों के लिए नमूना हो।

किन्तु इन सबके साथ ही उसे एक और भी स्वार्थ-सूचक चिन्ता है कि जब तक प्रिय लौटेंगे तब तक उर्मिला का यौवन मद सब ढल जायगा—

पर यौवन-उन्माद कहां से लाऊंगी मैं,
वह खोया धन आज कहां सखि ! पाऊंगी मैं ?

लक्ष्मण के मिलन पर भी वह ऐसी ही भावना व्यक्त करती है—

प्रिय, जीवन की कहां आज वह चढ़ती बेला ?

उस समय—

कांप रही थी देह-लता उसकी रह रह कर

टपक रहे जो अश्रु कपोलों पर बह बह कर ॥

यौवन की समाप्ति पर उसके मन की दशा में भी अन्तर आता है—

जब थी तब थी आलि ! उर्मिला उनकी रानी
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी
मैं शासन की नहीं आज सेवा की भूखी।

उर्मिला की यह विधुर दशा स्वाभाविक है। कोई भी मानवी ऐसी दशा में ऐसा ही आचरण कर देगी। उसे अपनी बीती सुख विभावरियों का भी स्मरण आयेगा, जैसे कि उर्मिला को आता है। उर्मिला का आचरण एक सद्‌गृहस्थ की पत्नी का सा आचरण है। उर्मिला को उसकी अधीरता के लिए कोई दोष नहीं दे सकता। ऐसी दशा सभी की होती है। किन्तु तो भी उर्मिला साधारण स्त्री नहीं थी। न उसका वंश ही साधारण था। वह जनक वंश की पुत्री, सीता की बहिन, रघुकुल की पुत्र वधू राम की अनुजवधू और परमतेजस्वी और अतुलबलशाली लक्ष्मण की भार्या थी। उसका स्थान अत्यन्त गौरवास्पद था। उसके दोनों वंशों में सत्य और आदर्श की पूजा होती थी। प्राण भी उनके पालन में कुछ नहीं समझे जाते थे। लक्ष्मण भी एक कर्तव्य-पालक के नाते बन गये थे। वह स्वयं भी उस उद्देश्य में गौरव का अनुभव करती थी और उससे उन्हें विरत भी नहीं करना चाहती थी अपने कारण। अतः उसमें गंभीरता और संयम विशेष अपेक्षित थे। उसका इतना अधीर होना लक्ष्मण जैसे कर्मठ और तेजस्वी पुरुष की पत्नी में अधिक शोभा नहीं देता। उर्मिला अपने व्यक्तित्व से ऊपर नहीं उठ पाती। यद्यपि वह यह भी कहती है कि लक्ष्मण कर्तव्य-विमुख न हों, तथापि उसकी चिन्ता-धारा अधिकतया व्यक्तिगत ही रहती है। वह अपने पुरातन सुखोपभोगों को स्मरण कर दुःखित होती है। कैकेयी आदि को वह क्षमा नहीं कर पाती। यद्यपि इस घटना का वह कुल विनाशक घटना के रूप में ही वर्णन करती है, तथापि यही घटना उसके भी सुख-विनाश का कारण बनी है। अतः वह इसको कभी नहीं भूलती, उसकी सारी वेदना आत्मगत है। बीच बीच में उदात्त निःस्वार्थ भाव की भी उक्तियां वह कहती है, परन्तु वे उसकी व्यक्ति-

गत दुखानुभूति में डूबी सी रहती है। कवि ने विरह-वर्णन में प्राचीन परिपाटी का भी आश्रय लिया है, जिस से उर्मिला का एक साधारण विरह-कामज्वर-ग्रस्त सुन्दरी के रूप में चित्र समक्ष उपस्थित होता है। सर्वत्र उसकी अधीर दशा ही असंयत भाव से सम्मुख आती है। इससे उर्मिला के प्रति हृदय तो करुणा और सहानुभूति से आर्द्र हो सकता है, किन्तु श्रद्धा उसके प्रति नहीं हो सकती, जो कि राम लक्ष्मण या सीता के प्रति होती है। उर्मिला की इस सारी पीड़ा का फल भी उसे पूर्णतया मिल जाता है, जब—

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में
वह भीग उठी प्रिय चरण धरे दृग जल में।

और 'या' जब श्री राम स्वयं उसके तपश्चरण की प्रशंसा मे कहते हैं—

तूने तो सहधर्म-चारिणी के भी ऊपर।
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू पर॥

ऐसे गौरवास्पद, ऐसे उच्च और ऐसे आदर्शभूत आसन पर विराजमान उर्मिला जब विरह में पागल की-सी बात करती है तो कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। उसकी यह दशा स्वाभाविक मनोविज्ञान के अनुरूप होने पर भी, उसके पद के अनुकूल नहीं जचती। महात्मा गांधी ने भी अपनी सम्मति देते हुए उर्मिला के विरह-वर्णन को आधुनिक समय के अनुपयुक्त और उर्मिला की स्थिति को देखते हुए उद्वेजक सा ही बताया था। उर्मिला का ऐसा साधारण विरह-चित्र किसी महाकाव्य की भी नायिका के अधिक उपयुक्त नहीं है। उर्मिला मे वस्तुतः यशोधरा की सी उदात्तभावना, दृढता, संयमिता, धीरता, बुद्धि और उदारता चाहिये थीं। तभी वह अन्य रामलक्ष्मण आदि पात्रों के सहयोग में पूर्णतया खिलती। तुलसीदास ने उर्मिला का विरह-वर्णन विशेषरूप से इसलिए नहीं किया कि उर्मिला का सतीत्व सीता से किसी प्रकार कम नहीं था, अतः उसका भी वैसा ही पूर्ण वर्णन करने से सीता के चित्रण का रंग उतना गहरा नहीं रहता। किन्तु गुप्त जी ने उर्मिला का प्रधान चित्रण करते हुए भी उसे आदर्श भूमि पर स्थापित नहीं किया। काव्य की नायिका होते हुए भी उर्मिला की अपेक्षा सीता के प्रति ही अधिक श्रद्धा भावना उत्पन्न होती है। गुप्त जी उर्मिला के चरित्र को सीता से

अच्छा तो क्या उसकी समकोटि में भी नहीं दिखा सके। उर्मिला में यदि यशोधरा की विशेषताओं का समावेश होता तो उर्मिला का चित्रण अधिक सफल होता। इसी भाव को लेकर प्रश्नगत उक्ति में कहा गया है कि यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिये थी।

३. 'कामायनी के मूल में जो आध्यात्मिक तत्त्व हैं, वह शैव तत्त्व ज्ञान के आनन्द तत्त्व के ऊपर खड़ा है।" इसका विवेचन कीजिए।

उत्तर:—कामायनी के मूल गत आध्यात्मिक तत्त्व का आधार प्राचीन आगमों में वर्णित शिव-तत्त्व है। इसी का दूसरा नाम आनन्द भी है, कैवल्य भी है। शिव-तत्त्व की उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। अद्वैत में ही आनन्द है, यह मत इसी आधार पर खड़ा है। प्रकृति और पुरुष की आपात एकता को लेकर ही यह मत चलता है। यही शुद्ध नित्य आनन्द की समरस दशा है। प्रकृति और पुरुष के सामञ्जस्य में ही निरानन्द दशा है। कामायनी में प्रसाद ने इड़ा को प्रकृति और पुरुष की इस विशाल रस-क्रीडा का दर्शन कराया है। शंकर के अनुसार 'शिवः केवलोऽहं शिवः केवलोऽहम्" की अनुभूति ही आनन्द दशा है। यह आनन्द इन्द्र द्वारा प्रचलित किया गया था, जिसके बल पर उसे इन्द्रासन मिला था। इसी आनन्दवाद को शैव-वैष्णव आदि ने अपने अपने ढंग से अद्वैत की उपासना के लिए अपनाया। शिव कैवल्य या अद्वैतानन्द के प्रतीक हैं। इस शिव-तत्त्व का तंत्र शास्त्र, शक्ति-तत्त्व शास्त्र आदि शैवागमों में विविध रूपों में ग्रहण हुआ। इसी आनन्दवाद का प्रसाद जी ने कुछ आधुनिकता का रंग चढ़ाकर रूपक उपस्थित किया है। प्रसाद जी स्वयं शैवागमों पर श्रद्धा रखने वाले शिव-तत्त्व या आनन्द तत्त्व के उपासक थे। उसी आनन्द-तत्त्व का स्वरूप और रहस्य उन्होंने कामायनी में समझाया भी है। मनु श्रद्धान्वित होकर जब हिमालय पर चढ़ते हुए अन्तरिक्ष में तीन प्रकाश-बिन्दुओं को देखते हैं, तो कवि श्रद्धा के मुख से अपने इस आनन्दवाद की व्याख्या करवा देता है। श्रद्धा मनु को उन बिन्दुओं का रहस्य समझाती है। पहिला, इच्छा का लोक है, जो रागारुण है, जहां इन्द्रियों के सभी विषय प्राप्त हैं, जहां मादकता, सुन्दरता और शोभा का साम्राज्य है। वहां माया राज्य करती है।

यह इच्छाओं का सुनहरा लोक है, जहाँ सुख और दुःख दोनों ही मिलते हैं। दूसरा कर्म-लोक है, जो श्यामल है, जहाँ कोलाहल, परिश्रम, विफलता की निराशा, संघर्ष आदि व्याप्त हैं। वहाँ इच्छा की पिपासा की शान्ति का प्रयास होता है। किन्तु उसकी शान्ति नहीं होती। तीसरा ज्ञान-लोक या बुद्धि-लोक है, जहां बुद्धि-चक्र चलता है, प्रत्येक अणु निस्संग रहता है दुख सुख से; जहाँ पर तत्वों पर तर्क और विचार ही होता रहता है। वहाँ तृप्ति नहीं मिलती, केवल मोह ही मिलता है। श्रद्धा इनका रहस्य बताती है कि ये तीनों जब तक पृथक् रहते हैं, तब तक दुःख द्वन्द्वों के कारण बनते हैं। किन्तु जब ये श्रद्धा की क्षीण-सी प्रकाश-रेखा से संयुक्त होकर, एक हो जाते हैं तो समरस दशा या निरानंद दशा उत्पन्न हो जाती है। इच्छा, ज्ञान और कर्म के इस सामञ्जस्य या अद्वैत से ही वास्तविक आनंद की प्राप्ति होती है। वह एकता श्रद्धा की स्मित रेखा से कवि ने दिखलाई है। श्रद्धा-पूर्वक इन तीनोंही तत्वों का परस्पर समन्वय किया हुआ मनुष्य-जीवन को पूर्ण और आनदमय बना सकता है। इन तीनों के एकीकरण के ऊपर कवि ने आनंद-लोक का वर्णन किया है, जहां प्रकृति और पुरुष के इस एकत्व में ही परमानंद अभिव्याप्त है। इसी को कवि ने रूपक द्वारा समझाया है। इन तीनों के पृथक् होने में मृत्यु है और एक होने में निरा आनंद है। इच्छाएं व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट कर सकती हैं, केवल कर्म मनुष्य को विपत्ति में डाल सकता है और उसे अन्यायी और अत्याचारी बना सकता है और केवल ज्ञान भी शुष्क हृदयहीन बना सकता है। इन तीनों में श्रद्धा द्वारा साम-ञ्जस्य—स्थापन करने से ही परम सुख की प्राप्ति है। वर्तमान बुद्धिवादी या विज्ञानवादी युग के लिए भी कवि ने अपने रूपक द्वारा यही संदेश दिया है। तभी विश्व में आनंद की उपलब्धि सम्भव है। अध्यात्म और लोक दोनों में कवि ने इस आनंदवाद का स्वरूप स्पष्ट किया है।

यह आनंदवाद शैवानुकूल है, यह उपर्युक्त आधार पर स्पष्ट हो जाता है। कवि ने शिव सम्बन्धी स्पष्ट संकेत भी दिये हैं, जिससे कि उसके सिद्धांत के विषय में किसी प्रकार की भ्रांति न रहे। इड़ा पर अधिकार जमाते समय मनु को शिव की हुंकार सुनाई पड़ती है और अकस्मात् शिव

का अग्नि-नेत्र खुलता प्रतीत होता है। इच्छा, ज्ञान और कर्म-बिन्दुओं में एकत्र स्थापित हो जाने पर, मनु में नवीन चैतन्यानंद जागता है, उन्हें शंकर के डमरू का नाद सुनाई पड़ता है। मनु नर्तन-रत भगवान् शंकर का भी दर्शन भी करते हैं। चंद्र का कवि ने शिव के गरल पात्र के रूप में भी वर्णन किया है। अतः स्पष्ट है कि प्रसाद जी का आदर्श शैवों का आनंद-वाद ही है। वे स्वयं भी शैव थे, शिवतत्व के उपासक और परम आनंद-वादी। अतः स्वभावतः भी उनकी प्रवृत्ति शैव आनंदवाद की ओर ही होनी चाहिए थी, जोकि हुई भी है। इस प्रकार प्रश्नगत उक्ति की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है।

३. प्रिय प्रवास और कामायनी की कल्पना और अनुभूति की दृष्टि से तुलना कीजिए और दोनों की त्रुटियों तथा सफलताओं पर अपने विचार प्रस्तुत करिये।

उत्तर—प्रिय प्रवास की रचना उपाध्याय जी द्वारा उस समय हुई थी, जबकि खड़ी बोली अभी अपने पांवों पर खड़ा होना सीख रही थी। प्रबन्ध काव्य के नाम को उस समय कोई बृहत् प्रबंध उपलब्ध नहीं था। उपाध्याय जी का और उद्देश्यों के साथ एक यह भी था कि खड़ी बोली में एक महाकाव्य लिखकर उसके इस अभाव को दूर किया जाय। उस समय कवियों के सामने भाषा और छंद की बड़ी कठिन समस्या थी। खड़ी बोली का अभी साहित्य में प्रयोग प्रारम्भ हुआ ही था। उसकी अवस्था उस समय ऐसी नहीं थी कि कोई महाकाव्य लिखा जा सकता। छंदों की भी ऐसी ही समस्या थी। प्राचीन परम्परागत कवित्त, सवैया आदि छंदों को लोग पसन्द नहीं करते थे। खड़ी बोली उनमें सजती भी नहीं थी। इसी समय द्विवेदी जी ने मराठी के अनुकरण पर खड़ी बोली में संस्कृत-छंदों का प्रचलन किया। वर्णिक छंदों में लघुगुरु यति आदि का विशेष नियम होता है। खड़ी बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी विशेष प्रयोग रहता है। वे भी संस्कृत छंदों में समस्त रूप में अधिक आसानी से फिट किये जा सकते हैं। इन्हीं कठिनाइयों और समस्याओं को लेकर उपाध्याय जी ने प्रिय प्रवास की रचना की थी। अपने प्रयत्न में वे कहाँ तक सफल रहे, इस

बात को आलोचक के ऊपर छोड़कर, उन्होंने महाकाव्य की समस्त विशेषताओं का ही प्रिय प्रवास में निर्वाह करने का प्रयत्न किया है।

उपाध्याय जी को कवि के नाते केशव का परिष्कृत और आधुनिक रूप कह दिया जाय तो बहुत हद तक उचित ही है। कारण, उनमें भी उन्हीं की सी प्रवृत्तियां प्रतीत होती हैं। वे भी आचार्य हैं, काव्य-रीति का पूरा ज्ञान रखने वाले, उन्होंने रीति-ग्रन्थ भी लिखा है—रसकलश-साथ ही वे उच्च कोटि के कवि भी हैं। उन्होंने कई काव्य-ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें प्रिय-प्रवास प्रमुख है। केशव के समान ही वे भक्त भी हैं. प्रिय-प्रवास भक्ति का काव्य भी है। केशव के समान ही उपाध्याय जी को भी रसिकता प्रारंभ से मिली है। केशव के समान ही उपाध्याय जी भी काव्य की स्थूल कला का काव्य में विशेष स्थान समझते हैं, यद्यपि प्रमुख नहीं, केशव के समान। केशव को भाव अलंकार-प्रदर्शन के लिए चाहिए, किन्तु उपाध्याय जी ने भावों के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है। काव्य में कल्पना का जो रूप केशव का है, वही प्रायः इन का भी है। अन्तर केवल इतना है कि उपाध्याय जी की कल्पना अधिक स्वाभाविक, अधिक औचित्य-पूर्ण और आधुनिकता को लिए हुए हैं। भावानुभूति के क्षेत्र में भी उपाध्याय जी का स्थान केशव से अच्छा है। केशव के काव्य में अनुभूति की मात्रा बहुत कम है, कहीं कहीं विकृत या अस्वाभाविक भी है। ये दोष उपाध्याय जी की कल्पना और अनुभूति पर नहीं लगाए जा सकते। उपाध्याय जी ने औचित्य का सर्वत्र ध्यान रखा है। किन्तु तो भी उन पर आधुनिकता का इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कि प्राचीनता का। उनकी कल्पना के आधार प्राचीन ही हैं। प्राचीन कवियों की परिपाटी और उन्हीं के उपादानों को लेकर उपाध्याय जी की कल्पना चली है। वर्णन में उन्होंने उन्ही प्राचीन उपमा, रूपक, उपमान-उपमेयों आदि को लेकर प्रिय प्रवास मे अपनी कल्पना का प्रसार किया है। उनकी कल्पना में नवीनता नहीं है, उसमें सर्वत्र ही प्राचीनता का आभास है। नवीनता का संयोग उसमें इतना नहीं है, कि प्राचीनता से कुछ विकास कहा जा सकता हो। उनके काव्य के विषय ऐसे हैं, जिन पर अनन्त कवियों ने अपनी कल्पना का रंग चढ़ाया हुआ है। कृष्ण-सम्बन्धी इन विषयों पर बहुत

साहित्य निकल चुका है। उपाध्याय जी ने उन्हीं से अपने काव्य तत्व का निर्माण किया है। नवीनता केवल चरित्र-चित्रण का है, जिसमें कवि ने ब्रज-नायक को आधुनिक सांचे में ढाल कर उपस्थित किया है। नहीं तो उन्हीं पूर्व-वर्णित प्रसंगों को लेकर प्रिय-प्रवास की कल्पना चली है। इस प्रकार प्रिय प्रवास में हरिऔधजी की कल्पना का विधायक रूप नहीं सामने आता जो कि किसी भी महा काव्य का प्रधान आधार होता है। प्रिय प्रवास के कवि की कल्पना का छोटे-छोटे प्रसंगों, रूप वर्णनों, प्रकृति—वर्णनों आदि के निर्वाह में ही विकास हुआ है। इसका कोई इससे आगे का महान् और गहन रूप नहीं मिलता। कल्पना की अपेक्षा प्रिय प्रवास में कवि का आधार अधिकतया वस्तु-वर्णन पर ही है। अनुभूति भी प्रिय प्रवास में पर्याप्त है। प्रिय प्रवास के पढ़ने से अनुभव हो जाता है कि कवि का हृदय भावुक और अत्यन्त कोमल है। कठोरता और निर्दयता उसे सह्य नहीं नहीं। प्रिय प्रवास में मुख्यता दो ही रसों का वर्णन हुआ है—शृङ्गार और वत्सल। दोनों ही हृदय की अत्यन्त कोमल और मधुर भावनाएं हैं। इन दोनों का ही उपाध्याय जी ने अत्यन्त स्वाभाविक परिपाक किया है। गोपियों, ग्वाल बाल, माता पिता और स्वय कृष्ण आदि के चित्रण अनुभूति पर आधारित हैं। इनका चित्रण यद्यपि अधिकतया वर्णनात्मक शैली में हुआ है, नाटकीय अभिनयात्मक शैली में नहीं, तो भी अनेक स्थलों पर हृदय उमले बिना नही रहता, ऐसा अनुभूति-पूर्ण वर्णन है—विशेषतः गोपियों और माता पिता की दशा-वर्णन में। कवि को—कवि—हृदय को, मानव-हृदय के मार्मिक स्थलों की पक्की पहिचान है। उसने ऐसे प्रसंगों का बहुत ही अनुभूति पूर्ण वर्णन किया है। सक्षेपतः उस काल की भाषा की सीमाओं और संस्कृत के छन्दों के बन्धन में जैसा भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप कल्पना या अनुभूति का उपस्थित किया जा सकता था, उपाध्याय जी ने प्रिय-प्रवास में किया है। चतुर्दश सर्ग में, चन्द्र-वर्णन में देखिए कल्पना—

यों थे कलाधर दिखा कहते विहारी,
है स्वर्ण मेरु यह मेदिनी माधुर का।
है कल्प पादप अनुपम तारकों का,

आनन्द अंबुधि विचित्र महामनी है।

चन्द्रमा पर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। षष्ठ सर्ग में, जहां वियोग विह्वला राधा पवन द्वारा अपना संदेशा देती है, वहां प्रिय प्रवास की कल्पना मेघदूत का अनुसरण करने लगती है—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले
जाके आये न मधुबन मे और भेजा सन्देशा।
रो रो के प्रिय विरह मे बावली हो रही हूँ,
जाके मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुनादे।

❀ ❀ ❀ ❀

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन ! बतला फूलसी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है।

और अगर इतना भी कर सके तो:—

पूरी होवे न यदि तुम से अन्य बातें हमारी,
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा,
जी जाऊंगी हृदय तल मे मैं तुझी को लगा के।

प्रस्तुत पद्य कल्पना के सुन्दर उदाहरण हैं। अनुभूति की स्वाभाविक अभिव्यंजना भी अनेकत्र बहुत मार्मिक हुई है। ऊपर के ही पदों में, राधा के हृदय की विरह-व्याकुलता का सुन्दर अभिव्यजन है। प्रकृति-वर्णन में भी कवि ने ऐसी ही कोमल कल्पना से काम लिया है। हरिऔधजी ने प्रकृति का सजीव रूप में, पात्र की भावना से सहानुभूति दिखाते हुए वर्णन किया है। अन्धकार कृष्ण के दर्शन नहीं करने देता। इसे तारक-गण सहन नहीं करते—

यह अभावुकता तम-पुञ्ज की सह सकी नहिं तारक मण्डली।
वह विकास विवर्द्धन के लिए निकलने नभ मँडल में लगी॥

यशोदा की करुण-दशा देखिये। राधा यशोदा को समझाती है और

यशोदा राधा को—

हो उद्विग्ना परम जब यों पूछती थी यशोदा,
क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार मेरे,
तो वे धीरे व मधुर स्वर से हो विनीता बतावीं,
हां आवेंगे, व्यथित ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे ?
आता ऐसा कथन करते वारिधारा दृगों में,
बूंदों बूंदों जो टपक पड़ता गात पे जो कभी था।
औ आखों से सदुख उसको देख पाती यशोदा,
तो धीरे यों कथन करती "खिन्न हो तू न बेटी ॥"

किन्तु उनकी यह अनुभूति अनेक स्थलों पर तथ्य-वर्णन में दब जाती है। रूप-वर्णन में कवि ने अनेक उन्हीं पुरानी लकीरों का अनुसरण किया है, जिनमें आधुनिक काल में विशेष चमत्कार नहीं रहा है। राधा-वर्णन का निम्न पद्य देखिए कैसा नीरस और क्लिष्ट है—

नाना भाव विभाव हाव कुशला आमोद आपूरिता,
लीला लोल कटाक्षपात निपुणा भ्रू भंगिमा पंडिता। आदि।

इसी प्रकार उनके प्रकृति-वर्णन में बार बार एकसी शैली और उपमा आदि द्वारा वर्णन है, जिससे कल्पना में विचित्रता नहीं रहती। कहीं कहीं प्रकृति-वर्णन में भी वृक्षों आदि की लिस्ट देदी है—

जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निंब, फलसा जम्बीर और आंवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमली और शिंशपा इंगुदी ॥

इस प्रकार, प्रिय प्रवास में कवि की कल्पना और अनुभूति दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य भी है और अनेकत्र नहीं भी है। चरित्रों की कल्पना में कहीं कहीं अतिरंजकता के कारण कल्पितता सी आ गई है। कृष्ण को महापुरुष सिद्ध करने में, उन के जीवन की अलौकिक घटनाओं को, लौकिक कल्पित रूप में दिखाने में, अस्वाभाविकता भी आ गई है। तो भी प्रिय-प्रवास अपने समयका उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। उसमें कवि की कल्पना सजीव है, सक्रिय है, कोमल है और मनोरम है। अनुभूति भी अधिकांश में मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक और तीव्र है, यद्यपि वह गहन और विशेष व्यापक नहीं।

कामायनी की सृष्टि ही सारी कल्पनामय है। कवि के पास केवल प्राचीन शास्त्रों में बिखरे मनु के जीवन के विशृंखलित सूत्र ही हैं। उन्हीं को एकत्र कर कवि ने यह अनुपम काव्य-सृष्टि खड़ी की है। उस पर भी उसकी आध्यात्मिक रूपक की कल्पना उसमें और भी अधिक गंभीरता और मार्मिकता भर देती है। कवि को प्रत्येक ईंट अपनी कल्पना से जोड़नी पड़ी है, तब यह भवन बना है। कामायनी की सृष्टि अनन्त कल्पना के क्षेत्र में हुई है। प्रसाद कल्पना-प्रधान कवि थे। उनकी कल्पना अनन्त सामर्थ्यशालिनी और परम विधायक थी। उसका पूर्ण विकास कामायनी में हुआ है। किसी कम कल्पना शक्ति की सामर्थ्य नहीं थी कि कामायनी जैसे आध्यात्मिक और मानवसृष्टि के महान् काव्य की भूमिका का निर्माण करती। श्रद्धा, मनु और इड़ा तीनों प्रधान पात्रों का चित्रण कवि की विधायक कल्पना के आधार पर ही हुआ है। इस कार्य में प्रधान सहायता उसे अपनी कल्पना से ही मिली है। द्विवेदी काल की वस्तु-वर्णनात्मक परिपाटी की प्रति-क्रिया-स्वरूप ही इस नवीन साहित्य का उदय हुआ था। अतएव इसमें कल्पना का गहरा रंग है। प्रकृति के अनन्त चित्रों का वर्णन कितना कल्पना-मय है! कवि ने प्रकृति के एक एक स्वरूप में सैकड़ों कल्पनाएं की हैं। श्रद्धा मनु आदि के वर्णन में भी कवि की कल्पना और प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार है। देखिये कल्पना—

घुल-घुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।

कवि सूक्ष्म और रंगीन कल्पना के लिए प्रसिद्ध है—

चमकूंगा धूलिकणों में
सौरभ हो उड़ जाऊंगा
पाऊंगा तुम्हें कहीं तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

❀ ❀ ❀

निश्वास मलय में मिलकर

छाया पथ छू आएगा

और भी—कैसी सूक्ष्म और मधुर कल्पना है—

विकसित सर-सिज वन वैभव
मधु ऊषा के अंचल में
उपहास करावे अपना
जो हंसी देखले पल में।

प्रलयान्त पर मनु का वर्णन कितना रोमांटिक है—

तरुण तपस्वी सा वह बैठा
साधन करता सुर श्मशान
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का
होता था सकरुण अवसान।

श्रद्धा का वर्णन—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखिला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

प्रकृति के भीषण रूप का देखिए कल्पना-चित्र—

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

प्रसाद जी नवयुगीन छायावादी शैली के जन्मदाता थे, जिसमें अधिकतया कल्पना का ही साम्राज्य होता है। सो, कामायनी में उसी का राज्य है। यह कल्पना कहीं अत्यन्त सूक्ष्म और दुरूह भी हो जाती है, जहाँ कवि प्रतीकों का विशेष प्रयोग करने लगता है अथवा सूक्ष्म उपमानोपमेय जुटाने लगता है—

हे अभाव की चपल बालिके!
री ललाट की खल रेखा
हरी भरी सी दौड़ धूप, ओ
जग माया की चचल रेखा!

माधवी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा सा। (काम)

जहाँ कल्पना में रहस्यवाद का पुट आ जाता है, वहाँ भी उस में दुरूहता आ जाती है—

कौन हो विश्व माया कुहुक सी साकार
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार ?

अनुभूति भी कामायनी का दूसरा प्राण है, पहिला कल्पना है। प्रसाद जी अत्यन्त भावुक कवि थे। कामायनी का मूल आधार यही अनुभूतिवाद है। प्रसाद की अनुभूति अत्यन्त गम्भीर और अत्यन्त विशाल है। कामायनी में प्रारम्भ से अन्त तक मानवीय भावनाओं का ही क्रमबद्ध विकास दिखाया गया है। मुख्य अनुभूति काव्य में आनंदवाद की है। दुःखवाद की भी अनुभूति होती है। कामायनी में प्रारम्भ से अन्त तक घटना-जाल अत्यल्प है। कथा प्रधानतया श्रद्धा मनु आदि की नैसर्गिक अनुभूतियों के ही बल पर चलती है। अनुभूति में चिन्ता, आशा आदि सभी भावनाओं की सहज अनुभूति होती है। मानव मन का पूर्ण विकास दिखाया गया है। अन्त में काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के अत्यन्त उच्च क्षेत्र तक ले जाता है। इसके अतिरिक्त कामायनी का प्रत्येक वर्णन आंतरिक अनुभूति के आधार पर हुआ है। प्रकृति-वर्णन या पात्र-वर्णन, सब में कवि-हृदय की गहन रहस्यात्मक अनुभूति का अभिव्यंजन होता है। प्रकृति के रूप का अनुभव करके प्रकृति-वर्णन किया गया है। रूप-वर्णन भी अनुभूति-मूलक है। कवि की रहस्यात्मक प्रेमानुभूति का सर्वत्र अनुभव होता है। चरित्र-चित्रण का तो प्रधान आधार ही अनुभूति है। श्रद्धा और मनु के पारस्परिक सहवास में अनेक भावों की अनुभूतियों के चित्र हैं। कवि की इस गहन अनुभूति के कारण ही कामायनी के चित्र इतने मर्म-स्पर्शी और कान्त हुए हैं। कामायनी का पर्यवसान भी अन्तिम महानुभूति—अद्वैतानन्दानुभूति—में ही होता है, जिसमे समस्त भावों का लय हो जाता है। हृदयकी सच्ची और स्वाभाविक यह अनुभूति ही कामायनी की कल्पना का भी आधार बनी है। कल्पना सदैव अनुभूति के पीछे चली है। अनुभूति के विरुद्ध उसने कोई भी कार्य

नहीं किया है। अत एव कल्पना भी सच्ची और आदर्श रही है। अनुभूति के बल पर ही कल्पना पृथ्वी से आनन्द-लोक तक की भी उड़ानें भर पथ-भ्रष्ट नहीं हुई है। कल्पना और अनुभूति का यह तादात्म्य ही कामायनी की अनुपमता का रहस्य हैं। किन्तु यह अनुभूति भी कहीं कहीं प्रतीक-पद्धति में पड़कर, गहन रहस्यात्मकता अथवा दार्शनिकता के संयोग से दूरारूढ़ हो जाती है, सहज नहीं रहती। कहीं कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं में पड़कर भी अनुभूति रुल जाती है। किंतु इस दोष के साथ भी कामायनी में कल्पना के साम्राज्य में अनुभूति का ही शासन चलता है और इन दोनों के इस स्वर्ण-गन्ध योग से कामायनी हिन्दी साहित्य में—वस्तुतः विश्वसाहित्य में—बेजोड़ काव्य है। इन दोनों विशेषताओं में अपने समस्त गुणों के साथ भी प्रिय-प्रवास उसे नहीं पहुँच सकता। उसका धरातल कामायनी के से बहुत नीचे रह जाता है।

९. महाकाव्य और गीति-काव्य में क्या अन्तर है? वर्तमान काल के गीतिकारों में निराला जी का क्या स्थान है? कारणों का निर्देश करते हुए अपने मत का प्रतिपादन कीजिए।

उत्तर—महाकाव्य प्रबन्ध काव्य का ही बृहद् रूप है। उसमें किसी इतिहास पुराणादि-प्रसिद्ध कथानक को लेकर, उसका नाटकीय सन्धियों के अनुसार, निर्वाह किया जाता है। वह कथानक इतना विशाल होना चाहिये, जिसमें जीवन का विशद और सांग चित्रण हो पूर्णतया। वह जीवन का एक-देशीय चित्र नहीं उपस्थित करता, अपितु पूर्ण करता है, जैसे कि राम-चरित मानस राम के जीवन का करता है। वह जीवन का एक ऐसा ही आदर्श-मय समुज्ज्वल चित्र उपस्थित करता है, जिसमें जाति या लोक-मंगल की भावना ओत-प्रोत होती है। उसका नायक भी कोई देवता या देवताओं के से गुण वाला सद्वंश जात अत्यन्त प्रसिद्ध महान् व्यक्ति होना चाहिये, जिससे जीवन का पूर्ण आदर्श रूप समुपस्थित किया जा सके, जैसे कि श्रीराम, जिनके जीवन में, जीवन के प्रत्येक रूप का आदर्श उपस्थित है। संक्षेप में, महाकाव्य की निम्न शास्त्रीय मर्यादाएं होती हैं—

(१) वह सर्ग-बद्ध होना चाहिये। सर्ग आठ से अधिक होने चाहियें।

(२) नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय या देवता होना चाहिये।

(३) श्रृंगार वीर और शान्त में से कोई सा एक रस प्रधान होना चाहिये।

(४) कथा ऐतिहासिक या पौराणिक हो, जिसका विकास नाटकीय ढंग में हो।

(५) धर्म अर्थ काम मोक्ष में से एक की सिद्धि करने वाला हो।

(६) सर्गों में विभिन्न छन्द होने चाहियें। काव्य में संगीत होना चाहिये।

(७) प्रकृति वर्णन, विविध दृश्यों का वर्णन, संयोग, वियोग, युद्ध, विवाह आदि विशेष प्रसंगों का विशद चित्रमय वर्णन होना चाहिये।

(८) उसका नाम, कवि या नायक अथवा कथा-प्रसंग के आधार पर होना चाहिये।

मुख्यतया महाकाव्य की यही शैली होती है। महा काव्य में स्थूल-वर्णन प्रधान होता है। स्थूल जीवन का विशद और आदर्श चित्र उपस्थित करना ही महाकाव्य का लक्ष्य होता है। यद्यपि महाकाव्य के मूल में भी कवि की व्यक्तिगत भावना ही काम करती है, किन्तु कवि साक्षात् रूप में अपने मनका चित्रण नहीं करता। उसकी वृत्ति बहिर्मुखी होती है, उसका उद्देश्य लोक-चित्रण ही होता है।

गीतिकाव्य वैसे तो प्रत्येक छन्दो-बद्ध काव्य को कहा जा सकता है, जो कि गाने के योग्य हो, किन्तु पारिभाषिक रूप में यह साहित्य में विशेष अर्थ का बोधन करता है। उस अर्थ के अनुसार गीति-काव्य मुक्तक श्रेणी का काव्य होता है, जिसमें गीतिकार की अपनी आवेश-पूर्ण भावनाओं का प्रकाशन होता है। गीतिकार अपनी ही मानसिक अनुभूतियों का गीत रूप में अभिव्यंजन करता है। वह अभिव्यंजन भाव के अनुकूल ही कोमल, कान्त, स्वाभाविक सरल भाषा और शैली में होता है, जिसमें हृद्गत भावना का सौन्दर्य और माधुर्य अभिव्याप्त होता है। भावावेश में ही गीतों का जन्म होता है। गीतों का आकार भी अतएव निश्चित नहीं होता, वह भाव के अनुसार ही छोटा बड़ा हो सकता है। इस गीत-विधान का स्वरूप प्राचीन और आधुनिक काल में भिन्न रहा। प्राचीन गीतों में संगीत-विधान भावानुकूल विविध राग रागनियों के आधार पर होता था। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी

मीरा आदि के गीत ऐसे ही राग रागनियों के आधीन होकर लिखे गये हैं। इन गीतों का निर्माण केवल गाने के लिए होता था। गीतिकार का संगीतज्ञ होना भी इसीलिए अपेक्षित था। किन्तु लाभ यह था कि इन गीतों को कोई भी भारतीय-संगीत पद्धति का ज्ञान रखने वाला गा सकता है। आधुनिक काल में गीत-ध्वनि या संगीत का विधान पाश्चात्य ढंग में भिन्न आधार पर होता है। आज का गीतिकार-रागरागनियों के चक्कर में न पड़ कर, अपने भाव के संगीत का आधार रखता है। उसके गीत की ताल, लय, यति गति आदि का नियोजन उसके भाव की ताल, लय, यति, गति के आधार पर होता है। इससे कवि को बन्धन से मुक्ति तो मिल जाती है, किन्तु गीत के गाये जाने में कठिनाई उपस्थित होजाती है। कारण, जब तक गीतकार स्वयं ही गीत पर ध्वनि-चिन्ह न बनादे, तब तक उसे पूर्णतया औचित्य पूर्वक नहीं गाया जा सकता। गीत में संगीत ही प्रधान रहता है, काव्य-गत कला यदि उसमें हो तो अच्छा है। संगीत के लिए वैसे काव्यत्व अपेक्षित नहीं। उसका तो प्रधान आधार स्वरलहरी होता है, किन्तु जब उसमें काव्यत्व होता है तो वह गीत काव्य का नाम ग्रहण कर लेता है। निर्माण-शैली के कारण गीत और महाकाव्य में यही अन्तर होता है।

महाकाव्य बहिर्मुख होता है, स्थूल जीवन का आदर्श चित्रण ही उसका लक्ष्य होता है, किन्तु गीतकाव्य में कवि अपने ही अन्तः सूक्ष्म भाव-जगत् का वर्णन करता है, उसकी वृत्ति प्रधानतया अन्तर्-मुखी होती है। अपनी अनुभूति या भाव के आवेश का ही संगीतमय वर्णन उसका लक्ष्य होता है। महाकाव्य प्रबन्ध रूप में होता है और गीतकाव्य मुक्तक रचना होती है। महाकाव्य में कथा-वर्णन होता है और गीतकाव्य, अंग्रेजी की लीरिक कविता के ढंग पर, केवल भावनाओं का ही वर्णन करता है। महाकाव्य में बाहर के जगत् का वर्णन होता है, कवि के मन का नहीं और गीतकाव्य में अपने ही अन्तर् भाव-जगत् का चित्रण होता है कवि के। महाकाव्य में शैली अधिकतया वर्णनात्मक या ऐतिहासिक रहती है और गीतकाव्य की शैली अभिव्यञ्जनात्मक होती है। महाकाव्य जीवन का समस्तांग्र पूर्ण चित्र उपस्थित करता है और गीत-काव्य का विषय अत्यन्त सीमित होता है,

उसमें किसी एक ही छोटे या बड़े भाव का अभिव्यंजन होता है। दोनों में यही भेद होता है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का स्थान आधुनिक गीति-कवियों में प्रमुख स्थान है। आधुनिक गीतिकाव्य के स्वरूप-निर्माताओं में निराला का प्रमुख स्थान है। हिन्दी-गीतों का वर्तमान रूप उपस्थित करने वाले प्रसाद, पन्त और निराला ये तीन ही महा कवि हैं। आधुनिक गीतों का आदर्श रूप इन्हीं कवियों के गीतों में मिलता है।

निराला उत्कृष्ट कोटि के गीतिकार हैं। आधुनिक अंग्रेजी शैली के गीत का श्रेष्ठ रूप वस्तुतः निराला के ही गीतों में मिलता है, जहां तक कि संगीत का सम्बन्ध है। निराला ने प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, विरह, दया, सहानुभूति, देशभक्ति, वीरता आदि की विविध भावनाओं का अभिव्यंजन अपने गीति-काव्यों में किया है। दार्शनिक विचार-धारा भी कहीं कहीं निराला के गीतों का विषय बनी है। शब्द चयन, शब्द माधुर्य और शब्द सौन्दर्य के लिए निराला माने हुए गीतिकार हैं। इनके गीतों की भाषा और संगीत भाव का भक्ति-पूर्वक अनुसरण करते हुए चलते हैं। कोमल भाव के वाहन बनने के समय शब्दों का रूप अत्यन्त कोमल और मधुर होता है। कारण, ये ३० वर्ष बङ्गाल में रहे हैं, अतः इनमें बङ्गाल की सी शब्द-माधुरी आ गई है। डी० एल० राय और कवीन्द्र के गीतों की शैली का इन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। देखिये इनका शब्दचयन—

हुआ रवि अस्ता-चल
संध्या के दृग छल-छल।
× ×
दुःख भार भारत तम केवल
वीर्य सूर्य के ढके सकल दल
खोलो उषा पटल निजकर आर्य
छवि-मय दिन मणि के।

अंग्रेज़ी ढंग का ध्वनि या संगीत-विधान पूर्णतया निराला के गीतों में ही मिलता है। निराला मात्र-संगीत के पूरे पारखी कवि हैं। अपने भावों

ये संगीत लय, आदि के आधीन ही इन्होंने अपने गीति-काव्यों में सङ्गीत-विधान किया है, जिसमें इन्हें पूरी सफलता मिली है। Sound must be an echo to the sense. (ध्वनि अर्थ की प्रतिध्वनि होनी चाहिए) का अविकल निर्वाह निराला के गीतों में मिलता है। गीत का संगीत भाव-संगीत की प्रतिध्वनि सी ही प्रतीत होता है। देखिये—

कण कण कर कंकण प्रिय
किण किण रव किंकिणी
रणन रणन नूपर उर लाज
लौट रंकिणी।

निराला ने ध्वनि-प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिए, अनेक अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। अनेकत्र बंगला के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अनेकत्र संस्कृतमय शैली अत्यन्त दुरूह हो गई है। कहीं कहीं गूढ दार्शनिकता के कारण भी गीत क्लिष्ट हो गया है। इन्हीं कारणों से निराला के गीतों का अधिकतया आदर नहीं हुआ सर्व-जन में। वे गाये भी नहीं जा सकते, जब तक कि वे स्वयं 'नोटेशन' (ध्वनि-संकेत) न कर दें। निराला ने स्वयं स्वीकार किया है कि बिना उनके संकेतों के गीत नहीं गाये जा सकते। यही शिकायत अपने गीतों के विषय में रवीन्द्र को भी थी। निराला के भी वे ही आदर्श थे। अप्रसिद्ध शब्दों का भी ध्वनि के उद्देश्य से प्रयोग उनके गीतों के सर्व-प्रिय होने में बाधक बना। तथापि, निराला आधुनिक हिन्दी साहित्य के गीतिकारों में प्रसाद और पन्त के साथ ही स्थान रखते हैं, उन्होंने गीति-काव्य का स्वरूप प्रतिष्ठित किया है और आगे के अनेक गीतिकारों का आदर्श बने हैं। निराला के गीति-काव्य हिन्दी साहित्य की अनुपम विभूति हैं। उनका स्थान साहित्य में निराला ही है। (और देखिए साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ३ सं० २००४ प्रश्न ६)

६. छायावाद रहस्यवाद एक तरह हैं अथवा उनमें कोई अन्तर भी है? इसकी व्याख्या कीजिए। क्या आपका विचार है कि कविवर पन्त जी ने अपने पूर्व काव्य-पथ का त्याग और प्रगतिशीलता का ग्रहण करके सच-मुच प्रगति की है? पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी काव्य में किस वाद के

समर्थक हैं ?

७—जहां तक शैली का सम्बन्ध है, छायावाद और रहस्यवाद दोनों की एक ही रहस्य संकेतात्मक, सूक्ष्म चित्रणात्मक, प्रतीकात्मक और अभिव्यंजना-लक्षणात्मक है। किन्तु वर्ण्य विषय या आन्तरिक तत्व के लिहाज से दोनों में भेद माना जाता है। व्यक्ति-गत मानसिक या आत्मिक अभिव्यंजनाओं से पूर्ण शैली को छायावाद माना जाता है, कवि जागतिक प्रकृति को अपनी भावनाओं से अनुरंजित करके देखता है, प्रकृति की सजीव रहस्यात्मक सत्ता का अनुभव करता है, उसमें नारी-सौन्दर्य का चित्रण करता है। छाया-वादी कवि स्थूल सौन्दर्य से विमुख होकर सूक्ष्म सौन्दर्य के चित्रण की ओर ही उन्मुख होता है। इसके विपरीत रहस्यवाद में कवि के व्यक्तित्व का समष्टि में लोप हो जाता है। कवि प्रकृति में अनन्त सौन्दर्य के भण्डार अलक्ष्य प्रियतम परम तत्व का अनुभव करता है। उसे सर्वत्र अपने उसी प्रिय के सौन्दर्य का दर्शन होता है। वह सर्वदा उसी के प्रेम और विरह मे डूबता उतराता रहता है। उसे स्वप्न में या वैसे ही 'हाल' की दशा मे प्रिय के दर्शन भी होते हैं। वह इस आनन्दानुभूति का संकेत रूप में, प्रतीक रूप में वर्णन करता है। इस दृष्टि से शैली की एकता रहते हुए भी विषय-भेद से दोनों वादों में भेद माना जाता है। छायावाद की परिधि सीमित है और रहस्यवाद की अनन्त। छायावाद में कवि अपनी सान्त सीमित आत्मा की ही प्रतिच्छाया प्रकृति या विश्व में देखता है और रहस्यवाद में कवि अनन्त की सान्त प्रिय रूप मे कल्पना करता है। दोनों में यह भेद विषय और सीमा-जन्य ही है।

पन्त जी ने अपने पूर्व-पथ—कला पथ—का परित्याग और प्रगति-पथ का अवलम्बन करके कला की दृष्टि से तो अपने काव्य का ह्रास ही किया है, बौद्धिक विकास भले ही किया हो। क्रमशः युगान्त, युग वीणा, ग्राम्या आदि में उनकी कला, भावुकता, कोमलता और संगीतमयता आदि अपनी प्रमुख विशेषताओं का त्याग करके, बुद्धिवाद या विचारात्मकता की ओर अग्रसर होती स्पष्ट लक्षित होती हैं। इस लक्ष्य-परिवर्तन के बाद की उनकी रचनाओं में भावना, अनुभूति और काव्य-सौन्दर्य की कमी आती गई है।

इनका स्थान विचार-चिन्तन ले लेता है। इस बुद्धिवाद-मूलक अपने द्वितीय युग में पन्त ने अपने युग की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व किया है। अतएव इनकी कविता का कोमल कलेवर कठोर होता गया, उसकी आत्मा में हृदय की प्रधानता न रहकर मस्तिष्क की प्रधानता हो गई है, जिससे रस-मत्ता के स्थान में उसमें अब शुष्कता आ गई है। कवि का उद्देश्य कोई बात बताने का रहता है, बताने के ढंग या सौन्दर्य की ओर उसका ध्यान नहीं रहा है। इन कविताओं का जन्म वस्तुतः हृदय की अपेक्षा अधिकतया मस्तिष्क से ही हुआ है। अतः मानना चाहिये कि काव्य-कला के नाते से तो पन्त जी के काव्य का ह्रास ही हुआ है प्रगतिवादी पथ का ग्रहण करने से। (देखिए सा० र० प्रश्न पत्र ३ सम्वत् २००४ प्रश्न ८)

श्री माखनलाल चतुर्वेदी—एक भारतीय आत्मा—क्रान्ति-पूर्ण कविताओं के लिए ही अधिकतया प्रसिद्ध हैं। राष्ट्रीयता, देशभक्ति, क्रांति उनके विशेष प्रिय विषय रहे हैं। कारण, वे एक सफल पत्रकार और एक प्रसिद्ध राजनैतिक कार्यकर्ता भी हैं। जो कुछ उन्होंने स्वतन्त्रता-युद्ध में किया उसी का कविताओं में प्रकाशन किया। इनकी कविताएँ वस्तुतः क्रांति की चिनगारियाँ उगलती हैं। "त्यौहार सदा सूली के दिन, बनते आये त्यौहारों में।" जैसी ही भावनाएँ इनकी कविताओं में मिलती हैं। चतुर्वेदी जी ने स्वतन्त्रता-युद्ध की विशेष विशेष कालों की भावनाओं का प्रकाशन किया है। कहीं-कहीं इनकी कविता और शैली में छायावाद और रहस्यवाद की भी झलक आ जाती है। किंतु प्रधानतया ये इसी क्रांतिवाद के समर्थक हैं। उत्तर-कालीन कविताओं में प्रगतिवाद की सी भावनाएं भी आई हैं। आज कल ये मौन से हैं।

७. भयानक रस का कोई उदाहरण देकर, उसके आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि भावों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—भयंकर वस्तु के देखने अथवा सुनने से हृदय का स्थायी भाव भय ही भयानक रस में परिणत हो जाता है। जैसे—

एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृग राय,
विकल बटोही बीच ही पर्यो मूरछा खाय।

बटोही एक ओर भयंकर अजगर और दूसरी ओर भयंकर सिंह को देखकर भय से मूर्छित होकर गिर पड़ा। यहाँ बटोही भय का आश्रयभूत है, जिसके हृदय में भय का संचार होता है। उसका भय सर्प और सिंह का आलम्बन लेकर अथवा उनके कारण से उद्‌गत होता है। सर्प अथवा सिंह की भयद चेष्टाएं और स्थान की भयंकरता, निर्जनता आदि उस भय को और भी उद्दीप्त कर देती हैं। कातरता, विषाद और ऐसी ही किसी पूर्व की घटना की स्मृति आदि भाव उस भय को नितान्त प्रवृद्ध कर देते हैं और अन्त में बटोही मूर्छित होता है। किन्तु यहाँ बटोही को भयानक रस का आनन्द नहीं आता, उसे तो अपनी मृत्यु दिखाई पड़ती है। भयानक रस का अनुभव तो सामाजिक अथवा सहृदय करता है, जब वह इसी घटना को काव्य में वर्णित देखता अथवा सुनता है। इन कारणों से ही उत्पन्न और उद्दीप्त हुआ सामाजिक के हृदय का भय स्थायी भाव ही अन्त में भयानक रस में परिणत हो जाता है। वह आनन्द का कारण बनता है, मूर्छा का नहीं। उस दशा में भय के इन सर्प आदि कारणों के पारिभाषिक नाम हो जाते हैं। बटोही भय का आश्रय होता है। उस के भय के कारण सिंह, सर्प उस भय के आलम्बन कारण होंगे। सर्प, सिंह की भयङ्कर चेष्टाएं, बीहड़ निर्जन प्रदेश आदि उद्दीपन विभाव होंगे। भय के आश्रय बटोही की चेष्टाएं आदि अनुभाव कही जाती हैं, क्योंकि वे चेष्टाएं ही सामाजिक को बटोही के भय का अनुभव करायेंगी। मन की कायरता, विषाद, पूर्व-स्मृति आदि, बीच बीच में उठने वाले छोटे-छोटे भाव संचारी या व्यभिचारी भाव कहे जायंगे। और, भय को स्थायी भाव कहेंगे। सामाजिक हृदय में स्थित यह भय स्थायी भाव ही, इन उपर्युक्त कारणों से उद्दीप्त और पुष्ट हुआ, अन्त में रस दशा को प्राप्त होकर भयानक रस कहलाता है।

निम्नलिखित में से किन्हीं आठ पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

(१) रसवाद, (२) रीति-पद्धति, (३) सन्देहालङ्कार, (४) यथार्थवाद, (५) प्रगतिवाद, (६) भ्रांत्यपन्हुति, (७) ध्वनि, (८) सांग रूपक, (९) धीरोदात्त नायक, (१०) कुट्टमित हाव (११) वक्रोक्ति (१२) विप्रलम्भ वियोग (१३) पलायन वृत्ति।

उत्तर—(१) रसवाद:—काव्य में रस को ही सर्वस्व या आत्मभूत मानकर चलता है। रसवादी कवि रस को ही काव्य में प्रधान मानकर, उसी के परिपाक के लिए सचेष्ट रहता है। काव्य के अन्य बाह्य उपादान—रीति अलंकार आदि—गौण रूप में रहते हैं, रस के विकास में सहायक होकर। इनका उपयोग कवि इसी लिए और ऐसे ही ढग में करता है कि जिससे रस के चमत्कार में वृद्धि हो। हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में रसवाद के प्रथम संचालक चिन्तामणि त्रिपाठी थे। इन्होंने ही रस को काव्य की आत्मा मान कर काव्य-रीति का वर्णन किया था।

(२) रीति-पद्धति उस साहित्यिक वाद का नाम है, जिसमें काव्य-निर्माण की रीति अथवा शैली को ही सर्वस्व मान लिया जाता है। काव्य के दो पक्ष होते हैं—एक आन्तरिक रस या भाव तत्त्व और दूसरा बाह्य, रीति, अलंकार, छन्द आदि शैली तत्त्व। एक पक्ष आन्तरिक तत्त्व रस भाव आदि को ही काव्य में प्रधानता मानता है। वह रसवाद है, जैसा कि ऊपर कहा गया। दूसरा पक्ष काव्य में काव्य के बाह्यतत्त्व— निर्माण की पद्धतियां रीति-को ही प्रधान मानकर चलता है। इस पक्ष में रस का स्थान गौण होता है और काव्य की रीति का प्रधान। कवि काव्य की बाहरी सजावट या तड़क-भड़क को ही विशेष महत्त्व देता है। उसके लिए उसे रस या भाव की हत्या करने में भी कोई हिचक नहीं होती। साहित्यिकों ने रसवाद को ऊंचा और रीति-पद्धति को नीचा स्थान दिया है। रीतिकाल में इस पद्धति का प्रचालन केशव द्वारा हुआ था। किन्तु बाद के श्रेष्ठ कवियों ने इनकी रीति-पद्धति का ग्रहण न करके रसवाद का ही ग्रहण किया।

संदेहालंकार—वहां होता है, जहां किसी वस्तु के विषय में, सादृश्य या साधर्म्य के कारण, कवि द्वारा चमत्कार-पूर्ण सन्देह का वर्णन हो। अर्थात् वर्ण्यवस्तु या उपमेय में कवि सादृश्य के कारण अनेक उपमानों का सन्देह करता है। अवश्य ही इसमें चमत्कार विशेष होना चाहिए, नहीं तो साधारण विचारात्मक सभी सन्देह अलंकार बन जायंगे। इसके वाचकपद कि, अथवा, वा, या, किधौं आदि विकल्प-सूचक पद होते हैं। जैसे कि निम्न पद्य में कवि ने किसी मोहिनी की मांग में अनेक समान वस्तुओं का सन्देह

किया है—

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि,
श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है।...
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।

यथार्थवाद—वस्तु-चित्रण का नाम है। वस्तुओं या जीवन के सत्य और वास्तविक रूप का ही चित्रण करना काव्य में यथार्थवाद कहलाता है। अंग्रेजी में इसको 'रियलिज्म' कहते हैं। वास्तविक सत्य-चित्रण से ही अभिप्राय है, इसीको वस्तुवाद या वास्तविकतावाद भी कहा जाता है। हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल के काल्पनिक वर्णनों की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही इस वाद का जन्म हुआ आधुनिक काल में। द्विवेदी काल का अधिकांश साहित्य यथार्थवाद पर आश्रित है। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरुप फिर छायावाद के कल्पनावाद का प्रारम्भ हुआ। छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप फिर प्रगतिवाद के रूप में यथार्थवाद को अपनाया गया। जीवन के यथार्थ—यथातथ्य—वर्णन करने को यथार्थवाद कहते हैं। कल्पनावाद और आदर्शवाद, इन दोनों के प्रतिकूल यह वाद है। आदर्शवाद में कवि जीवन के आदर्श रूप का चित्रण करता है और कल्पनावाद में अपनी मानसिक कल्पनाओं का रंग देकर। किन्तु यथार्थवाद में जीवन का यथातथ्य वर्णन होता है। आधुनिक काल का अधिकाँश साहित्य इसी वाद का समर्थन करता है।

(५) प्रगतिवाद काव्य में समाजवादी सिद्धान्तों को लेकर चलता है। वह समाज में सर्वत्र समता चाहता है। विषमताओं को हिंसा या अहिंसा से मिटा देना चाहता है। वर्ग संघर्ष का पोषक है। दुखी, पीड़ित, गरीब, मजदूर, किसान आदि इसकी सहानुभूति के पात्र होते हैं। धनियों, राजाओं और अत्याचारियों को मानवता के शत्रु समझता है। अत एव इन सबको समाप्त कर नवीन समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहता है। यह वर्तमान समाज व्यवस्था को सुधार से परे की वस्तु समझता है, अतः उसका सर्वथा मटियामेट करना चाहता है। ईश्वर में विश्वास न करके, पीड़ितों का स्वयं उठकर क्रांति कर देने को आह्वान करता है। यह इस क्रान्ति को अनि-

थार्य समझता है, अतएव प्रगतिवादी कवि अपना कर्तव्य मानता है कि वह इस क्रान्ति को निकट लाने में सहायता दे। प्रगतिवादी यथार्थ-वर्णन करता है। काव्य की वाह्यकला की ओर प्रगतिवादी कवि की उपेक्षा रहती है। वह तो सीधी सच्ची बात सीधे सच्चे ढंग से कहने का पक्षपाती है। अतएव प्रगतिवादी काव्य विशेष सरस न होकर वस्तु वर्णन-रूप में ही होता है। उसकी भाषा और शैली बहुत क्लिष्ट हो जाती है। (विशेष देखिये सा० र० प्रश्न पत्र ३ संवत् २००४ प्रश्न पत्र ८ एवं प्रश्न पत्र ३ संवत २००३ प्रश्न ६)

(६) भ्रान्त्यपन्हुति—अपन्हुति का वह भेद है, जिसमें उपमेय के प्रति हुई किसी की भ्रान्ति को यथार्थ बात बताकर दूर किया जाय। अवश्य ही यह भ्रान्ति-निवारण चमत्कार-पूर्ण होना चाहिए, अन्यथा तो सभी लौकिक भ्रान्तियों का निवारण अलंकार रूप में आजायगा। उदाहरण—

आनन है अरविन्द न फूले अलिगन भूलि कहा मंडरातु है।

इसमें भ्रमरों की मुख में कमल की भ्रांति को यथार्थ बात कह कर दूर किया गया है।

(७) ध्वनि—व्यंजना या व्यंग्य का नाम भी है और जिस काव्य में व्यंजना या ध्वनि प्रधान हो, उस काव्य को भी ध्वनि-काव्य कहा जाता है। काव्य में ध्वनि से यही अर्थ लिया जाता है। अन्यथा तो शब्द मात्र को ध्वनि कहा जा सकता है। ध्वनि का काव्य में सर्वोत्तम स्थान है, क्यों कि अर्थ के ध्वनित या व्यजित होने में ही विशेष चमत्कार आता है, स्पष्ट रूप में कहने में नहीं। अतएव साहित्य-शास्त्रियों ने ध्वनि या व्यजना-प्रधान काव्य को सर्वोत्तम स्थान दिया है। साहित्य शास्त्र में ध्वनि मार्ग के प्रचालक आनन्दवर्धनाचार्य थे, जिन्होंने ध्वन्यालोक लिखकर इस ध्वनिवाद या अभिव्यंजनावाद का प्रतिष्ठापन किया।

(८) सांगरूपक—रूपक अलंकार का एक भेद है। उपमेय में उपमान का अगों के बिना आरोप करना निरंग रूपक होता है, जैसे—"इस हृदय कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में"। यहाँ बिना अन्य अंगों के साधारण रूप में ही मन में कमल और अलकों में अलियों का आरोप है। यह निरंग रूपक है। किन्तु जहां उपमान का समस्त या अनेक अंगों के

साथ उपमेय में आरोप होता है, वहाँ सांग रूपक होता है। इसी को सावयव रूपक भी कहा जाता है। जैसे निम्न पद्य में अर्जुन में मेघ का अपने समस्त अंगों के साथ आरोप हुआ है —

टंकार ही निर्घोष था, शर वृष्टि ही जल वृष्टि थी,
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युत् दृष्टि थी।
गांडीव रोहित रूप था रथ ही महाक मसीर था,
उस काल अर्जुन वीरवर अद्भुत जलद गंभीर था।

मेघ के सभी अंगों—वृष्टि, गर्ज घोष, बिजली आदि के साथ ही उसका अर्जुन में आरोप हुआ है। अतः यह सांग रूपक है।

(९) धीरोदात्त नायक—नायक का सर्वोत्तम भेद है। नायक चार प्रकार के माने गये हैं। धीरोदात्त उनमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है। उसके लक्षण साहित्यदर्पणकार ने ये बताये हैं—वह अविकत्थन (अपनी प्रशंसा न करने वाला,) क्षमा शील, अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का, महान् आत्मिक बलवाला स्थिर, विनयवान्, दृढ़ व्रत वाला होना चाहिए। ऐसे उदात्त गुणों से युक्त नायक को धीरोदात्त कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जैसे—राम, कृष्ण, मनु, विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त, भीष्म आदि।

(१०) कुट्टमित हाव—नायिका के काव्य में जो २८ अलंकार-रूप अनुभाव माने गये हैं, उनमें से एक भेद है। प्रिय के अंग संस्पर्श से मन में हर्ष होने पर भी, ऊपर से ना ना करती नायिका की हाव चेष्टा का नाम कुट्टमितहाव है। जैसे—प्रिय के अपनी ओर खींचने पर, आँखों से लिपटती और मुख से ना ना करती आगे ही आगे खिंची आती हुई नायिका का बिहारी ने एक दोहे में वर्णन किया है। यह कुट्टमित हाव है।

(११) वक्रोक्ति—वहाँ होती है, जहाँ श्रोता वक्ता के शब्दों का, श्लेष अथवा काकु का सहारा लेकर, वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ निकाले। अवश्य ही अर्थ-चमत्कार-पूर्ण होना चाहिए। वक्ता किसी अभिप्राय से कोई बात बोलता है और सुनने वाला उससे अन्य ही अर्थ निकाल कर बात करता है। ऐसे स्थल पर ही वक्रोक्ति होती है। जैसे—

को तुम ? हरि प्यारी ! कहा वानर को पुर काज ?

यहाँ-राधा के पूछने पर-कि 'तुम कौन हो ?' कृष्ण ने अपना नाम हरि बताया है। किन्तु राधा हरि का अर्थ बन्दर लेकर कहती है कि 'पुर में बन्दरों का क्या काम ?' यहाँ हरि शब्द-से दोनों अर्थों का श्लेष है। काकु से जैसे—प्रोषित्-पतिका नायिका की सखी उससे कहती है, "हे भामिनि ! बरसात लग गई, रास्ते बन्द हो गए हैं, तुम्हारे पति अब नहीं आयेंगे।' नायिका उसी को प्रश्न रूप में बनाकर कहती है, "हे सखी ! बरसात लग गई है, वे अब नहीं आयेंगे ?" इसका अर्थ होगा अवश्य आयेंगे, क्यों कि बरसात लग गई है। ऐसे स्थल पर काकु वक्रोक्ति होती है। काकु का अर्थ कण्ठ-ध्वनि-विकार होता है। इसी कण्ठ की ध्वनि में अन्तर डाल कर अन्य की उक्ति के अन्य द्वारा भिन्नार्थ की कल्पना की जाती है।

(१२) विप्रलम्भ वियोग—शृङ्गार का भेद है। रति स्थायी भाव होता है। नायक के जीवित होने पर भी देश काल गत आदि प्रतिबन्धक कारणों के होने पर, मिलन में बाधा होने से जो वियोग दशा होती है, वही विप्रलम्भ शृङ्गार है। इसमें विरह-जन्य अनेक दशाओं का कवि लोग वर्णन करते हैं। करुणा के समान इसमें भी, विषाद, व्याकुलता, रोना, आदि दुःख की अवस्थाएं होती हैं; किन्तु करुण में प्रिय मर जाता है, अतः रति का स्थान शोक ले लेता है। मिलन की आशा नहीं होती। अनन्त विरह होता है। विप्रलंभ में स्थायी भाव रति है, विरह कुछकाल के लिए है, नायक मृत नहीं होता। जैसे रामवियोग में सीता की विरह-दशा। इस दृश्य को काव्य में देखकर या पढ़ कर सामाजिक या सहृदय के हृदय का रति स्थायी भाव जब परिपुष्ट हो कर रस दशा को प्राप्त हो जाता है, उस समय वह विप्रलंभ रस कहलाता है।

(१३) पलायन वृत्ति—कायरता का लक्षण है। इसका सीधा अर्थ होता है भगोड़ापन अर्थात् किसी बलवान् का सामना न करके उसके सामने से भाग जाने की प्रवृत्ति। साहित्य में भी इसका यही अर्थ लिया जाता है। कवि जब जीवन के कठोर सत्यों का सामना न करके, पृथ्वी से दूर कहीं स्वप्न-लोक या कल्पना-लोक में रमने लगता है, तो उस समय उसके इस कार्य को पलायन वृत्ति कहा जाएगा। साहित्य में इसका प्रयोग रीति-कालीन साहित्य

विषय में भी किया जाता है। आधुनिक काल में छायावाद की कविता पर भी यही लाञ्छन लगाया गया। क्योंकि छायावाद में कवि विश्व-प्रकृति का अपने हृदय के रंग में रंग कर कल्पनामय ही वर्णन करता है। तथा सदैव अपने कल्पना-लोक में ही विचरता है। किन्तु वस्तुतः इस पलायन वृत्ति का आश्रय अनन्त काल से मनुष्य लेता आया है, जीवन की कठिनाइयों से ऊब कर। मजदूर दिन भर परिश्रम कर, सायं को घर जाते समय, संगीत के मधुर लोक में ही आत्मा और मन का विश्राम पाते हैं। यह भी एक प्रकार की पलायन वृत्ति है। किन्तु क्या इसका अर्थ कायरता है? ऐसी ही छाया-वादी कविता की भी पलायन वृत्ति मानी जा सकती है। किन्तु कठिनता यह है कि छाया वादी कवि अपने छाया या कल्पना-लोक से बाहर आना ही नहीं चाहता और मजदूर परिश्रम के बाद ऐसा करते हैं। तो भी छायावाद के मूल में कायरता की पलायन वृत्ति नहीं, यदि वह पलायन वृत्ति है ही। उसका आधार सत्य और सुन्दर की अनुभूति ही है। पलायन वृत्ति शब्द का ऐसे ही अभिप्राय से प्रयोग किया जाता है।

६. "छाया-वाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर, हमें केवल समष्टि-गत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" श्रीमती महादेवी के इस कथन की मीमांसा कीजिए।

उत्तर—श्रीमती महादेवी ने कारण स्पष्ट किया है कि छाया वाद का बाद में अप्रचार क्यों हुआ। छाया-वाद से बाद के प्रगति-वादी लेखकों या विचारकों के द्वारा छाया वाद पर कई आरोप लगाए जाते हैं। उनमें एक यह भी है कि छायावाद यथार्थ से—वास्तविक भौतिक जीवन से—बहुत दूर कल्पना लोक में रहता है। वास्तविक जीवन के तथ्यों की ओर वह उदासीन है। उसके विपरीत प्रगति वाद में स्थूल जीवन के, साम्यवाद के सिद्धान्तों, वर्ग-संघर्ष की फिलासफी का वर्णन है। उसका सम्बन्ध पूर्णतः लौकिक जीवन की वास्तविकता से होता है। भौतिक जीवन के सुख दुख, समस्याएं, उनके हल, समाज व्यवस्था, उसके सिद्धान्त आदि उसके विषय रहते हैं। अतः वह यथार्थवादी काव्य माना जाता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में रूढ़िगत या शास्त्र-परम्परा से प्राप्त सूक्ष्म सत्ता के विशिष्ट स्वरूपों का वर्णन है। वह भी सूक्ष्म सत्ता से सम्बन्ध रखता है, किन्तु उस परम तत्त्व के शास्त्रीय रूप को ही यथार्थ मान, उस काव्य को आन्तरिक सूक्ष्म यथार्थ का प्रतिपादक यथार्थवादी मान लिया जाता है, सूक्ष्म सत्ता के उन सिद्धान्तों और मन्तव्यों का वर्णन मान लिया जाता है।

छाया वाद का आधार भी सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता ही रहता है। उसीका अनुभव कर वह उसका उसी संकेतमय, प्रतीक-मय सूक्ष्म शैली में वर्णन करता है। व्यष्टि और समष्टि दोनों के दो रूप होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। छायावाद ने स्थूल का तिरस्कार कर सूक्ष्म सत्ता का वर्णन किया। इस सूक्ष्म सत्त—व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों—का छायावाद और रहस्य वाद के रूप में वर्णन किया है। वह सूक्ष्म सत्ता भी उतनी ही सत्य है जितनी कि स्थूल सत्ता—बल्कि उससे भी अधिक, क्योंकि वह कारण रूप और अतएव, नित्य है। छायावाद ने उसी के सौन्दर्य और अनुभूति का चित्रण किया है, नवीन सूक्ष्म चित्रण की प्रतीकात्मक शैली में। चिरन्तन सत्ता, चैतन्य और सुन्दर सत्ता की सृष्टि में अनुभूति करके, ऊँच नीच, सुन्दर और असुन्दर, अच्छा बुरा, कुत्ता पशु पक्षी, मनुष्य, चेतन अचेतन, सब में एक ही समष्टि का सौन्दर्य देखते हैं। एकत्व की यह व्यापक अनुभूति ही छाया वादी या रहस्य वादी काव्य की प्राण है। प्रगति वाद भी मानव—ऐक्य के सिद्धान्त पर आधारित है। यह साम्य या एकत्व की भावना ही उसकी भी प्राण है, जो सूक्ष्म रूप है। किन्तु प्रगतिवाद की एकता का आधार स्थूल भौतिकता है और छायावाद की एकत्व भावना का आधार सूक्ष्म सत्ता है। दोनों सत्य हैं, एक उसको किसी रूप में ग्रहण करता है, एक किसी रूप में। प्रगतिवाद या अन्य ऐसे ही भौतिक दर्शन के सिद्धान्त उस एकता का विवेचन परिष्कार करके उसे एक दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक विचार-धारा के रूप में ले आते हैं। उसके सिद्धान्त स्थिर करते हैं, उसके रूप का वर्णन करते हैं और उसकी प्राप्ति के स्थूल साधन भी बताते हैं। ऐसा ही रूढ़िगत आध्यात्मिक वर्णन के ग्रन्थों के विषय में मानना चाहिए। वे भी अध्यात्म का उसी बंधे बंधे रूप में दार्शनिक ढंग से वर्णन करते हैं। प्रगति वाद में उसी एकता को

वर्गगत संघर्ष और क्रान्तिकारी उपायों से प्राप्त करने का मार्ग भी बताया जाता है। ऐसे ही अध्यात्म वर्णन के ग्रन्थ में भी उस सूक्ष्म सत्ता के प्राप्त करने के उपाय बताए जाते हैं। किन्तु छाया वाद ने उस सूक्ष्म प्रेम-सौन्दर्य-मय सत्ता की अनुभूति तो दी, उसके प्रति मानव को उन्मुख भी कर दिया किन्तु उसका दार्शनिक ढंग में विश्लेषण, विवेचन और निरूपण नहीं किया। छायावाद मन के लिए उस सूक्ष्म सत्ता का ऐसा सौन्दर्य मय, ऐसा प्रेममय मधुर चित्र उपस्थित करता है कि हम उसकी ओर उत्सुक और जागृत हुए बिना नहीं रह सकते। चाहे हमें उसकी एक झलक मात्र ही दिखाई देती है, पर उसके प्रति जागरूक अवश्य हो जाते हैं। इसी लिए, क्योंकि छायावाद ने किसी रूढ़ि मूलक, विधि निषेधमय रूप में, विविध सिद्धान्तों और विश्लेषणों से निश्चित करके, उस परम सूक्ष्म और परम सुन्दर सूक्ष्म समष्टि सत्ता का निरूपण नहीं किया, छायावाद को यथार्थ के रूप में आज के इस युग ने स्वीकार नहीं किया, जिसका कि प्रधान आधार ही स्थूल बुद्धि वाद, या वैज्ञानिकता है। छाया वाद ने जीवन की ओर क्योंकि ऐसा वैज्ञानिक दृष्टि कोण नहीं रखा स्थूल रूप में, अतएव उसने यथार्थवाद के ढंग में उसका निरूपण नहीं किया। अतएव छायावाद को यथार्थवाद-रूप में स्वीकृत नहीं किया गया।

हमारे विचार से महादेवी जी की इन कुछ अस्पष्ट सी पंक्तियों का यही अभिप्राय होना चाहिए। इस विचार का आधार भी यही होना चाहिए।

स्वतन्त्र भारत प्रेस, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न-पत्र ३ संवत २००६

नोट—प्रथम प्रश्न अनिवार्य है। शेष में से किन्हीं चार के उत्तर लिखिये।

१. निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं तीन की सन्दर्भ—सहित व्याख्या कीजिये—

(क) लाली बन सरल कपोलों में
आंखों में अंजन सी लगती।
... ...
मैं वह हल्की सी मसलन हूं
जो बनती कानों की लाली॥

प्रसंग—कामायनी के "लज्जा" सर्ग के पद्य हैं। काम-पत्नी रति की प्रतिरूप (आकृति) लज्जा अपना परिचय देती है। मनु और श्रद्धा के प्रथम प्रेम-मिलन में लज्जा का उदय होता है। कवि ने उसी लज्जा-सुन्दरी का मधुर वर्णन किया है। वह स्वयं अपना परिचय दे रही है।

व्याख्या—(मैं) सरलता-पूर्ण कपोलों में लाली (लालिमा) बन कर, (लज्जा में कपोल लाल हो जाते हैं) आंखों में अंजन के समान (मनोहर) लगती हूं। (मैं) घुंघराले केशपाशों के समान घुंघराली मन की मरोर बन कर जागती रहती हूं (लज्जा का भाव भी मन को मरोड़कर—दबाकर—रखता है। इच्छाएं उठती हैं और लज्जा उन्हें दबाती रहती है। अतएव लज्जा को मन की मरोर या मरोड़ (बल) बताया गया है, जो बालों के समान मरोड़दार और सुन्दर है)। मैं चंचल और किशोर (अबोध, भोली बालिका) सुन्दरता (सुन्दरी) की रखवाली करती रहती हूं (भोली और सुन्दर नव बालिका अथवा किशोरी की लज्जा ही रक्षा करती है, नहीं तो पाँव रपटने का संदेह

भय बना रहता है)। मैं वह हल्की सी मसलन (मसलना) हूँ, जो कानों की हल्की सी लाली बन जाती है (कानों को हौले से मसलने से कान कुछ लाल हो जाते हैं, जिससे कान सुन्दर भी लगते हैं। कानों को इतना हल्के से मसलना एक बड़ा हल्का सा नियंत्रण है। लज्जा भी ऐसा ही हल्का सा नियंत्रण या अंकुश है। लज्जा में ऐसी ही लालिमा का उदय होता है, कपोल आदि पर, जो मनोहर लगता है।)

लज्जा भावना का प्रत्यक्षवत् साकार वर्णन है। सुन्दरी, किशोरी का, उनके सूक्ष्म भावात्मक—सुन्दरता, किशोरता—रूप में वर्णन किया गया है। छायावाद का उत्कृष्ट पद्य है, उसकी मानवीकरण और मूर्तामूर्त-विधान की विशेषताएं स्पष्ट उपलब्ध हैं। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी सुन्दर समन्वय है।

(ख) मकरकेतन के कल-केतु से विलसते वर कुण्डल कान के।
· · ··· कल दुकूल अलंकृत कन्ध था।

प्रसंग अथवा सन्दर्भ—प्रिय प्रवास के प्रथम सर्ग के १८-१९ वें पद्य हैं। कृष्ण वन से सायं गाय चराकर सगोप-ग्वाल-मण्डलीक घर को आ रहे हैं। गांव की भीड़ उनके दर्शनों को आ गई है। कवि ने उनके रूप और सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—कामदेव की सुन्दर ध्वजा के समान (तिरछे और काम का प्रभाव उत्पन्न करने वाले) श्रेष्ठ कुण्डल कानों में शोभायमान थे, जिनके सब ओर विविध भावों से पूर्ण (अनेक भावनाओं की सूचक) अलकावली (बालों की लटें) लिपटी हुई थीं।

कमर में पीला वस्त्र विलास कर रहा था (हवा में फहरा रहा था) और मनोहर वस्त्र से सुशोभित शरीर था। वक्ष पर वन-माला (वन्य पुष्पों की माला) लसक रही थी और सुन्दर दुपट्टे से सुभूषित कन्धा था।

- कृष्ण के सौन्दर्य का स्वभावोक्त वर्णन है। उनका रूप बताया गया है। काम की ध्वजा और कुण्डलों की उपमा तो प्राचीन परम्परा से चली आ रही है।

(ग) दीपक-मय कर डाला जब
…… उनके चरणों की रेखा ॥

सन्दर्भ—श्रीमती महादेवी वर्मा के 'आधुनिक कवि' की १२ वीं कविता का भाग है। कवि की अनन्त और अनादि विरह-व्यथा का वर्णन है।

व्याख्या—जब से पतंगे ने, जल कर, (अपने) शरीर को दीपकमय (अग्नि-मय और आराध्य-प्रिय-रूप) कर दिया, और आकाश के आंगन में मेघों के बालकों ने रोना सीखा, एवं चांद ने चांदनी के घूंघट में छुपी हुई रात्रि को देखा (प्रेम से), तब से (तभी से) मैं उनके (अलक्ष्य प्रियतम के) चरणों की रेखा (पद-चिन्ह) को खोज रही हूं (प्रत्यक्ष चरण तो क्या, कवि को उनकी रेखा-चिन्ह तक नहीं मिलता।) ।

पद्य रहस्यवाद का अत्युत्तम उदाहरण है। अलक्ष्य प्रियतम-चिर सुन्दर अव्यक्त तत्व-के लिए, कवि के हृदय में तभी से अनुराग है, जब से कि प्रकृति में—दीपक पतंगे का प्रेम प्रारम्भ हुआ। विरह भी तभी से प्रारम्भ हुआ, जब से कि मेघों ने रोना सीखा। ऐसी ही कल्पना चन्द्र और यामिनी की भी है। सार रूप से, कवि ने अपने अनन्त प्रेम और विरह का अभिव्यंजन किया है। छायावाद या रहस्यवाद, दोनों की विशेषताएं पूर्णतया अभिव्यक्त हैं।

(घ) भाग अब परीक्षा में नहीं है।

(ङ) अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय सांसों में उपचार।
………प्रेम ने पाया था आकार।

प्रसंग—पन्त की "आंसू की बालिका नामक" कविता का भाग है। कवि ने उस आंसू की बालिका के निर्मल सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—(तुम्हारी) अपरिचित चितवन में प्रात. (प्रात काल का स्फूर्तिदायक उल्लास) था। अमृतमयी सांसों में उपचार (जो कि पीड़ा की शान्ति करना है, इलाज) था। तुम्हारी छाया (कान्ति या प्रतिकृति) में आधार था (मन का)। सुखदायक चेष्टाओं में आभार (उपकार) था।

तुम्हारी करुणापूर्ण आंखों में आकाश (नीलिमा और विस्तार) था

और हास्य में शैशव का संसार (बालक के भोलापन, स्वाभाविकता, निश्छलता आदि भाव) था। तुम्हारी आंखों में ही निवास करके प्रेम साकार बना था। (आंखों में प्रेम भरा था। अथवा कवि आंखों को ही विशेष प्रेम करता था। उसके प्रेम ने बालिका की आंखों में ही निवास करके साकार (प्रत्यक्ष) रूप प्राप्त किया था। उसे वे विशेष प्रिय लगीं।)

कवि ने छायावाद-पद्धति में, प्रतीक और संकेतों के द्वारा, आंसू की बालिका के सूक्ष्म भावमय सौन्दर्य का वर्णन किया है। प्रियतमा अज्ञात है, रहस्यमय है। उसके स्थूल-शरीर सौन्दर्य का वर्णन न करके कवि ने, उससे उत्पन्न भाव-सौन्दर्य का अभिव्यंजन किया है।

२. "कामायनी आधुनिक हिन्दी-काव्य का राम-चरित-मानस है", इस कथन की मीमांसा कीजिये और दोनों काव्यों की समताओं और विषमताओं को सप्रमाण समझाइये।

उत्तर—कामायनी को आधुनिक हिन्दी-काव्य का राम-चरित-मानस कहना आधी दूर तक ठीक है। पूर्ण अंश में ठीक नहीं है। कारण, 'मानस' और कामायनी में अनेक समताएं भी हैं और अनेक विषमताएं भी हैं।

'मानस' और कामायनी दोनों ही हिन्दी साहित्य की दो अनुपम निधियां हैं।

दोनों के ही महाकवियों को अपने भाव, शैली और भाषा पर पूर्ण नियंत्रण था।

दोनों ही काव्यों में आध्यात्मिकता का विशेष स्थान है। दोनों ही काव्य युग-प्रेरित, अतएव हृदयोन्थ और स्वाभाविक हैं। तुलसी को प्रेरणा अपने काल के अनाचार, उच्छृंखलता, विलास-वृत्ति, कदाचरण आदि की दशाओं से मिली थी। अतएव तुलसी के काव्य में इन सब दशाओं का प्रतिबिम्ब है। उनका काव्य अपने युग की विचार-धाराओं का प्रतिनिधि है। कामायनी के कवि को भी प्रेरणा अपने युग से ही मिली। अपने काल के जड़ बुद्धिवाद, हृदय-हीनता, स्वार्थ, कर्म की उच्छृंखलता और अकर्मण्यता से ही उसे प्राप्त करके कामायनी का सर्जन किया। कामायनी में अपने युग का प्रतिबिम्ब है। प्रसाद-युग हिन्दी साहित्य में सन्धि-युग कहा, माना गया है, अर्थात् यह

युग प्राचीन युग के अन्त और अगले नवीन युग के बीच का काल है। अत-एव प्रसाद में दोनों कालों का प्रतिविम्ब है। प्राचीन युग भावुकता का युग था, भावुकता भारतीय जीवन का अनादि काल से विशेष अंग रही है। वेद में उसका मूल है। हिन्दी साहित्य का प्राचीन काल भावुकता का ही रहा। आधुनिक काल की भौतिकता विशेष विचार-धारा है, जो भावुकता के प्रतिकूल है, किन्तु उसकी सहचरी भी बन सकती है। कामायनी में इन दोनो ही प्रमुख विशेषताओं का श्रद्धा और इडा के रूप में स्पष्ट प्रतिविम्ब है। श्रद्धा मन की भावुकता की वृत्ति है और इडा बुद्धि का पर्याय, जिसका सम्बन्ध ज्ञान से है।

दोनों ही काव्यों ने अपने युग-विशेष के प्रतिविम्ब उपस्थित करने के साथ साथ, अपने और अपने से आगे के युगों के लिए महान् सन्देश दिये, जिनमें विश्व-मंगल की भावना निहित है। दोनों ही महाकवियो ने जीवन का गहरा दर्शन करके आदर्श जीवन की व्याख्या उपस्थित की है। उसके अनेक विरोधी तत्वों का समन्वय-रूप उपस्थित किया है,जो आनन्द और सुख शान्ति का कारण है। मानस का सन्देश ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय है। मानस के अनुसार ज्ञान भक्ति और कर्म के विना किधर भी नही ले जा सकता, भक्ति ज्ञान और कर्म के विना स्तुत्य नहीं और कर्म भी ज्ञान और भक्ति के विना अकारथ है। इस प्रकार ज्ञान, राम भक्ति और मर्यादित कर्म के यथोचित समन्वय से युक्त जीवन ही मानस के अनुसार आदर्श और मगलदायी है। प्रसाद ने भी यही समन्वय उपस्थित किया है। भक्ति के स्थान में उन्होंने श्रद्धा को लिया है, जो वही वस्तु है। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति से मर्यादित कर्म का सन्देश दिया है और प्रसाद ने श्रद्धा और इडा-समन्वित कर्म का सन्देश दिया है। दोनों ही सन्देश किसी राष्ट्र-विशेष की सीमा में न रह कर, विश्व के लिए मगल-भावना लेकर उदगत हुए हैं। अत दोनों ही विश्व-काव्य की कोटि के काव्य हैं।

मानस में मानव जीवन की स्थूल विशद व्याख्या है और उसका आदर्श रूप राम हैं। प्रसाद ने भी मानव जीवन की विशद किन्तु सूक्ष्म व्याख्या की है। कामायनी मानव के देवत्व से मानवता की ओर विकास का

समुज्ज्वल और रसमय चित्र है। दोनों ही काव्यों का उद्देश्य अक्षय आनन्द-लोक की प्राप्ति है।

दोनों ही काव्य कला से अत्यन्त पूर्ण महाकाव्य हैं—जहां तक विषय, उसके भाव और उसकी शैली का सम्बन्ध है, कामायनी को भी महाकाव्य ही मानना चाहिये। रस, भाव, अलंकार, वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से दोनों ही काव्य अनुपम कोटि के हैं। कवि-प्रतिभा का उभयत्र पूर्ण चमत्कार है।

किन्तु मानस स्थूल वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य का वृहद् रूप है, और कामायनी का विषय अधिकतया सूक्ष्म—मानसिक वृत्तियां—हैं। स्थूल-वर्णन के नाते तो कामायनी में केवल तीन ही पात्रों का चरित वर्णन है। यद्यपि मानव-विकास का पूर्ण रूप कामायनी उपस्थित करती है, तो भी कथा का उसमें महाकाव्य के ढंग का विकास नहीं है। कथा अत्यल्प है, विकसित नहीं होती, उसकी गति अवरुद्ध, कभी कभी स्थिर, हो जाती है। दार्शनिकता के समावेश से जटिल सी हो जाती है। मानस की शैली स्थूल चित्रणात्मक और वर्णनात्मक है और कामायनी की सूक्ष्म-चित्रणात्मक है। मानस में वर्णन अधिकतया अभिधा-मूल है और कामायनी में लक्षणा-व्यंजना-मूल। मानस वस्तुतः, शास्त्रीय पद्धति में अपूर्व महाकाव्य है, किन्तु कामायनी एक नवीन शैली—छायावाद की—में लिखा हुआ अत्यन्त प्राचीन कथा का प्रबन्ध है, जो अपने ढंग का निराला है, वह शास्त्रीय परिपाटी में महाकाव्य न हो, परन्तु कवित्व, भाव, कल्पना, चित्रण, शैली आदि के उत्कर्ष से प्रसाद को महाकवि मानकर कामायनी (उनके कर्म) को महाकाव्य माना जाय, तो अनुपयुक्त नहीं। कामायनी में सभी वस्तुओं के आदर्श अतीव उच्च हैं। नवीन छाया-वाद की शैली की विशेषता उसमें अभिव्यंजना की दृष्टि से और भी चार चांद लगा देती है।

मानस में स्थूल जीवन का सर्वांगपूर्ण और विशद चित्र है। कामायनी में जीवन का विशद चित्र है, पर वह सर्वांग नहीं कहा जा सकता। उसके वर्णन का आधार भी प्रथमतः जीवन का सूक्ष्म मानसिक पक्ष ही है।

रामायण अत्यन्त सरल, स्वाभाविक वर्णन से युक्त, सर्व-बोध-गम्य

है। उसका विषय—राम चरित—भी जन जन—प्रसिद्ध है, प्रत्येक भारतीय की जिह्वा पर श्री राम शब्द विद्यमान है। उसकी भाषा, शैली आदि भी वस्तु-वर्णनात्मक होने से स्वाभाविक सरल है। कथा आद्योपान्त स्वाभाविक गति से निर्बाध शृंखला-बद्ध चलती है। उत्तरोत्तर विकास-शील है। कामायनी की कथा दार्शनिकता के संयोग से जटिल है। उसमें अनेक कल्पनाओं के कारण भी दुरूहता है। शैली छायावाद की है, जो सूक्ष्म संकेत-मूल, लक्षणा व्यंजनामय, प्रतीकात्मक और मुख्य रूप से भावमय है। इन्हीं कारणों से वह असाहित्यिक व्यक्ति के लिए दुर्गम्य या अगम्य है। साहित्यिक को भी, उसको पूर्णतया समझने के लिए, अत्यंत सोच करके सोचने की आवश्यकता पड़ती है। विषय तो कामायनी का है ही, अत्यन्त प्राचीन, जिसे साधारण तो क्या विशेष जन भी पूरी तरह नहीं जानते। इन्हीं कारणों से कामायनी सर्व-प्रियता में मानस का स्थान नहीं ले सकती।

मानस में कवि की आंखों पर भक्ति का उपनयन (चश्मा) चढ़ा रहता है, वह कहीं भी राम की प्रभुता को नहीं भूलता। राम-चरित-चित्रण में भी राम की अलौकिकता के संकेत वाच्य रूप में देता चलता है, जिससे वह उद्वेजक भी बन जाता है, काव्य-दृष्टि से। किन्तु कामायनी में भक्ति का दृष्टिकोण नहीं। उसमें तो शुद्ध कवि भावना के साथ दार्शनिकता का सम्मिश्रण है, जिस कारण उसमें जटिलता और दुरूहता भी अनेकत्र आ जाती है। अतएव मानस में मानवी शृंगार आदि की मधुर भावनाओं का उतना सम्म विकास नहीं, जितना कि कामायनी में। मानस में, प्रकृति-चित्रण में, कवि की यह—भक्ति भावना उपदेश रूप में आ जाती है। कवि प्रकृति के विविध सुन्दर व्यापारों का वर्णन करके, उनसे उपदेश दिलाता है। कामायनी के प्रकृति के चित्र कहीं अधिक सम्पूर्ण, स्वाभाविक और आत्मानुरंजित है।

तुलसी का मौलिकता के विषय में इतना आग्रह नहीं है। मानस में अधिकतया प्रचलित प्रसङ्गों का और प्रचलित काव्य-पद्धति पर स्वाभाविक सीधा वर्णन हुआ है। जीवन की सैद्धान्तिक व्याख्या में तुलसी भी यद्यपि अपनी पूरी मौलिकता रखते हैं, तथापि कामायनी की तो प्रत्येक वस्तु—कथा

से लेकर वर्णन-शैली तक—सब कुछ मौलिक है । कामायनी में प्रसाद मूलतः ही मौलिक है । अतएव इस मौलिकता के आग्रह से भी कामायनी मानस की समता में नहीं आती सर्वजन-प्रियता के लिए ।

मानस और कामायनी की संक्षेप में ये ही उपयुक्त समताएँ या विषमताएँ हैं, जिन के प्रमाण दोनों काव्यों में स्पष्ट उपलब्ध हैं । इनके आधार पर कामायनी को आधुनिक काव्य-साहित्य का रामचरित मानस कहना उपयुक्त है भी और नहीं भी । प्रश्न-गत उक्ति कामायनी के विषय में आधी सार्थक होती है और आधी नहीं ।

२. प्रिय-प्रवास में कृष्ण और राधा के स्थायी वियोग की परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए । सूर—वर्णित कृष्ण-गोपी-विरह की परिस्थितियों से वे किस प्रकार भिन्न हैं और कितने औचित्य के साथ ?

उत्तर—प्रिय-प्रवास में राधा-कृष्ण के वियोग की परिस्थिति में कारण कृष्ण की परोपकार और सेवा की भावना ही है । कृष्ण पर-उपकार और सेवा-व्रत एवं कर्तव्य-भावना को सर्वोच्च समझते हैं । व्रज में राधा के प्रेम का आनन्द लेते हुए, अपने व्यक्तिगत हित की साधना में निरत रहने की अपेक्षा, मथुरा में रहते हुए लोकोपकार-मङ्गल करना, कृष्ण के लिए अधिक महत्व रखता है । वे महा पुरुष, युग-नेता रूप हैं । अतः कर्तव्य उनके लिए सर्वतः प्रमुख स्थान रखता है । कंस-वध के लिए वे मथुरा जाते हैं । और उसका वध करके अन्य अत्याचारियों के हनन के लिए उनका वहां रहना अत्यन्त आवश्यक है । वे इस कर्तव्य से कैसे विमुख हो सकते है ? अतः वे विवश हैं । पीड़ा राधा-वियोग की कृष्ण के हृदय में भी अगाध है, किन्तु वे कर्तव्य-विवश हैं । स्वदेश से अत्याचार का अन्त किये बिना उनका सुखोप-भोग किसी भी प्रकार उचित नहीं । अतः वे सबका त्याग किये हुए हैं । राधा उनकी बाल-संगिनी थी, जिसने बाद में उनके हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लिया था । वह स्वयं भी समर्पित हो चुकी थी । यह प्रेम अभी विवाह रूप में पनपने भी नहीं पाया था कि मथुरा से आह्वान हुआ । कृष्ण के प्रत्यागमन की कोई आशा नहीं थी । उनके ऊपर ऐसा ही वृहद् उत्तरदायित्व आ पड़ा था । फलस्वरूप दोनों विरह-ताप भोगते हैं । कृष्ण ने अपनी हृदय

की स्थिति बताई है राधा को सन्देश देते हुए—

है प्यारी और मधुर सुख और भोग की लालसाएँ।
कान्ते! लिप्सा जगत हित की और भी है मनोज्ञा॥
इच्छा आत्म-परमहित की मुक्ति उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म-उत्सर्ग की है॥

आत्मोत्सर्ग का मार्ग कृष्ण को अधिक प्रिय था। सेवा—भावना उनके मत में सर्व-प्रमुख है—

जो पृथ्वी के विपुल सुख की माधुरी है विपाशा।
प्राणी सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जन्हुजा है॥

अपनी इस कर्तव्य—विवशता पर उन्हे खेद भी बहुत है—

प्राणाधारे! परम सरले प्रेम की मूर्ति राधे!
निर्माता ने पृथक् तुम से यों किया क्यों मुझे है?
प्यारी आशा मिलन जिस से नित्य है दूर होती,
कैसे ऐसे कठिन पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ?

प्रेम और कर्तव्य अथवा आत्म-हित और जगद्धित का यह संघर्ष ही राधा कृष्ण के विरह का कारण बनता है। अनुरागिनी राधिका भी इस परिस्थिति मे कृष्ण जैसा ही महान् निर्णय करती है, आत्मोत्सर्ग का। वह आजन्म कुमारी रहती हुई, कृष्ण मे एकान्त प्रेमनिष्ठा रखती हुई, लोक-सेवा में जीवन बिता देना चाहती है। वियोग मे वह भी व्याकुल हैं, किन्तु अन्त में आत्मोत्सर्ग में ही उसको भी सन्तोष मिलता है। वह प्रथम अत्यन्त दु:खी होती है, पहली रात उसे तड़पते हुए ही बीतती है, किन्तु अन्त में जब उसे अपने स्थायी वियोग की अनिवार्यता दिखाई दे जाती है, तो वह कृष्ण के प्रत्यक्ष शरीर से मोह छोड़ कर, भगवान्—जिसके कि विशेष अंश श्री कृष्ण हैं—को प्रेम करने लगती है। उसका रूप क्योंकि अव्यक्त है, अत: उसके विराट रूप—लोक—से प्रेम करती है। अर्थात् कृष्ण—विषयक व्यक्ति-गत प्रेम उसका समष्टि रूप मे आ जाता है। वह भी लोक-सेवा के पथ मे ही लगकर जीवन को सफल बनाना चाहती है। अतः उसका कृष्ण-प्रेम सुन्दर के साथ साथ शिव भी हो जाता है। यह प्रेम का आदर्श रूप है,

लोक में। आत्मोत्सर्ग से वह स्वर्गिम हो जाता है। राधा पढ़ी लिखी विचार-शीला नवयुवती है। उसमें चरित्र प्रेम और कर्तव्य की दृढ़ता है। वह अपने उस प्रेम को आदर्श और सेवा भाव की वलिवेदी पर चढ़ा देती है। वह उस स्थायी वियोग को बड़े सन्तोष और दृढ़ता से स्वीकार करती है। वह भी अत्र आत्म-प्रियता से लोक-प्रियता को अधिक महत्व देती है। वह भी कृष्ण के पथ की ही अनुगामिनी बनती है। कारण, उसके लिए तो दोनों पथों में आत्मोत्सर्ग ही था। वह तो कृष्ण को समर्पित हो चुकी थी—प्रेम उत्सर्ग ही है। सेवा-पथ में भी उसके लिए उत्सर्ग ही था। अत. उसके लिए उभयत्र ममता थी। वह आदर्श प्रेम का स्वरूप उपस्थित करती है। राधा और कृष्ण का वियोग प्रिय-प्रवास मे इसी कर्तव्य और सेवा की विवशतावश दिखाया गया है।

ऐसा हरिऔध जी ने कृष्ण और राधा मे मानवीयत्ता के पोषण के लिए किया है—कृष्ण-चरित को आधुनिकता के सांचे मे ढालने के लिए, जिससे कि वह आधुनिक जनग्राह्य हो सके। किन्तु, उसका निर्वाह वे अधिक औचित्य-पूर्ण ढङ्ग में नहीं कर पाये। कारण, राधा कृष्ण का वियोग स्थायी रूप मे कुछ असंगत लगता है। राधा जैसी लोकोपकार—रत पत्नी से कृष्ण की परोपकार वृत्ति में सहायता ही मिलती। मिलने मे इसके अतिरिक्त अन्य कोई बाधा नहीं थी। मथुरा व्रज से केवल तीन कोस की दूरी पर है। आना जाना भी कठिन नहीं था। राधा को भी किसी के द्वारा मंगवाया जा सकता था। कृष्ण राजा थे। किन्तु ऐसा क्यों नहीं हुआ, इस मे कोई प्रबल कारण नहीं दिखाया गया। अतः यह स्थायी वियोग कुछ अस्वाभाविक सा लगता है आज के युग मे।

सूर-वर्णित राधा-कृष्ण का वियोग भी कृष्ण के मथुरा-गमन के कारण हुआ था। मथुरा-निवास में कारण राज्य-संचालन था। वे भी माता-पिता की आज्ञा और राज्य के उत्तरदायित्व से परवश थे। सूर के कृष्ण भगवान् थे। उनका समस्त गोपियों से प्रेम था। राधा से विशेष था। वे व्रज छोड़कर उसकी याद मे दुखी होते हैं। किन्तु वे योगी भी है। उन पर उस वियोग का उतना असर नहीं, जितना राधा पर। सूर की राधा प्रेम-योगिनी है,

भोली है, विदुषी नहीं, हृदय के प्रेम से विवश है। उसका प्रेम निःस्वार्थता की कोटि तक नहीं पहुंचता है। वह विरह में तड़पती है, व्याकुल होती है, कृष्ण को निठुर समझती है। छलिया बताती है। उसका प्रेम मोह भी कहा जा सकता है, जो निरा व्यक्तिगत है। उसके सामने लोक-सेवा का आदर्श नहीं है। वह तो केवल प्रिय-दर्शन चाहती है। किन्तु कृष्ण का जीवन परिवर्तित हो चुका है, वे अब नहीं आयेंगे। अत राधा महा दुःख सागर में डूबी है। राधा का प्रेम एकान्त मधुर और सुन्दर है, शिवभावना प्रिय-प्रवास की राधा की सी उसमें नहीं है। उसमें ऐन्द्रियता अधिक है। राधा ने कृष्ण के साथ अनेक रास-क्रीडाओं में भाग लिया था, रस भोगा था, इन सबकी सुधि रह रहकर उसे तड़पाती है। वह चैन नहीं पाती। अन्त में प्रेम योग की दशा तक पहुंच जाता है, जहां केवल प्रिय का ही ध्यान रहता है, अपना नहीं। इसी परिस्थिति में कृष्ण उसके प्रेम को लौकिकता से अलौकिकता की ओर मोड़ना चाहते हैं, किन्तु अपने प्रयास में विफल होते हैं। राधा का प्रेम निस्सीम था, अटल था और एक-निष्ठ था। उसमें अन्तर नहीं पड़ सकता था। इस प्रकार, यह विरह दशा सदैव चलती रहती है। कुरुक्षेत्र जाते समय, एक बार कृष्ण की भेंट सूर राधा से फिर करा देते हैं, जब दोनों की भृङ्गी-कीट की गति होती है—एक दूसरे का रूप बन जाते हैं। किन्तु फिर वही दशा।

अस्वाभाविकता यहां भी आ जाती है। जगन्मर्यादाओं के भंजक कृष्ण के लिए,राधा को भी विवाह लेना क्या कठिन था! वह सर्व-स्वतंत्र था! राधा अनन्य प्रेमिका थी। दोनों का प्रेम सच्चा था। इतने पास होते हुए, कृष्ण एक बार भी ब्रजजनों को सुख देने नहीं पहुचते, और वे—पशुपक्षी तक—उनके विरह में मरते हैं। राधा की दशा अत्यन्त करुणा-जनक है। वे कर्तुं म कर्तुंमन्यथा कर्तुं म् को समर्थ होते हुए भी राधा की पीड़ा की शांति नहीं करते, हालांकि वह उनकी इतनी अनन्य थी। जातिगत ऊंच नीच से यदि बाधा पहुंची विवाह में, तो यह भी कृष्ण के विषय में आदर भाव नहीं उत्पन्न करता। कृष्ण की निष्ठुरता या निस्संग दशा भी हृदयों के लिए उद्वेजक बनती है। वस्तुतः तो इन दोनों ही काव्यों में कवि कृष्ण-प्रवास की स्थायिता के

पूर्णतया औचित्य पूर्ण ढङ्ग से कारण नहीं दिया सके। सूर ने आध्यात्मिकता का आवरण डाल कर अपना कार्य सिद्ध किया और हरिऔध ने आदर्शवाद और कर्तव्य-निष्ठा का। किन्तु आधुनिक आलोचक के लिए दोनों को ही स्वाभाविक मानना कठिन है। यही दोनों गाथाओं की परिस्थितियों में भेद और त्रुटि है।

(४) क्या पन्त जी की उत्तर-कालीन कृतियों में कला का अभाव है ? अपना मत लिखिये और प्रासंगिक पंक्तियां उद्धृत करके अपने कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

उत्तर—पन्त-काव्य के दो युग माने जाते हैं—प्रथम युग युगान्त तक और दूसरा उसके बाद का युग। युगान्त में प्राचीनता से नवीनता की ओर जाने का क्रम है। प्रथम युग सौन्दर्य या कला का युग है। कवि की प्रतिभा, कल्पना और अनुभूति का साम्राज्य है इस युग में। कविपन्त, सुकुमार भावना, कोमल कान्त कल्पना, सौन्दर्य और संगीत के कवि, उनकी कविताओं के इस प्रथम युग के बल पर ही कहे जाते हैं। इस युग में कवि सौन्दर्य पर ही लट्टू हुआ है, वह सौन्दर्य चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, कवि उसी का चित्रण और अभिव्यंजन करता है। काव्य के भाव और कला, दोनों के प्रति समान रूप से सचेष्ट हैं। उनमें अवश्य ही भाव की कला ने रूप-सज्जा की है, कला ने भाव का वांछित सहयोग दिया है। तो भी कहने की बात साथ, कवि का उसके कहने की शैली की ओर भी प्रमुख ध्यान रहा है। वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, परिवर्तन, ज्योत्स्ना में कवि का यही युग चलता है। कवि की कोमल और मधुर काव्य-प्रवृत्तियों का अनुपम चमत्कार इन रचनाओं में अभिव्याप्त है। देखिये वीणा में एक प्रातःकालीन सरस सुन्दर वर्णन—

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर काम-रूप नभ-चर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना।

ग्रन्थि-काल में कवि का नव यौवन काल है। देखिये प्रेम की कैसी सरस सुखद व्याख्या है—

हास सरिता मे सरोजों से खिले
गाल के गहरे गढो को मधुप से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा
उस खिली चम्पा-कली ने क्या किया ?

कितनी मधुर, कोमल और सुखद कल्पना है ! अलंकारो और अन्य शोभावर्द्धक उपादानो का भी प्रयोग कितना सुन्दर बन। है ! पल्लव में प्रकृति-प्रेम के साथ कवि के यौवन का स्वच्छन्द गान है। अनुभूति और भावोन्माद का राज्य है। निराशा और वेदना का कुहरा छा जाने पर--

तडित सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उरचीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनुओं से उड़कर मेरे प्राण।
खोजते हैं तब तुम्हें निदान ॥

और भी—

दिवस का रजत प्रसार।
ऊषा का स्वर्ण सुहाग ॥
निशा का तुहिन अश्रु शृंगार।
साझ का निःस्वन राग ॥
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार।
तरुणतम सुन्दरता की आग।

गुन्जन में यद्यपि कवि की वृत्ति अध्यात्म की ओर झुकी है और कवि--

जग पीडित है अति दुख से।
जग पीडित है अति सुख से ॥
मानव जग मे बंट जाये
दुख सुख से औ सुख दुख से ॥

के रूप मे जीवन के द्वन्द्वो में सामन्जस्य बिठाने लगता है, उसकी

कला में गम्भीरता और चिन्तना का प्रवेश हो जाता है, तथापि कला, कल्पना और मरमता का भी विशेष आदर बना रहता है। कवि ने भावी पत्नी के प्रति कैसी मधुर और सूक्ष्म भावना का कल्पनामय रंगीन वर्णन किया है--

कब से चितौती तुम को।
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती।
सूने नभ के आंगन में ?

ज्योत्स्ना मे कवि ने एक रूपक उपस्थित किया है। जीवन की दुर्घटताओं की सुघटता के लिए कुछ एक जीवन के सिद्धांतो का प्रकाशन किया है। तथापि कवि के कवित्व का भी पूर्ण सहयोग रहता है। देखिए नीचे के पद्य मे कवि की कल्पना और चित्रण—शक्ति का कैसा रुचिर संयोग है। जुगुनुओं का वर्णन है—

जग-मग जग-मग हम जग का मग
ज्योतित प्रतिपग करते जग मग।

\+ + +

चंचल चंचल बुझ बुझ जल जल
शिशु—उर पल पल हरते छल छल ॥

भावना की सुकुमारता और कल्पना की कोमलता के साथ संगीत का भी सुन्दर संयोग है।

किन्तु सौन्दर्य, प्रेम और कला का यह दृष्टिकोण युगान्त में परिवर्तित होता स्पष्ट लक्षित होता है। कवि मे भावना के स्थान में विचार और कल्पना के स्थान मे तथ्यता का प्रभाव बढ़ने लगता है। कवि में नैतिकता की प्रवृत्ति बढ़ती है। कवि का दृष्टिकोण दार्शनिक हो जाता है। कवि मे दार्शनिक आशावाद या आत्मतोष का संचार होता है। मानववाद कवि का इष्ट बनता है। गांधी जी की आध्यात्मिक विचारधारा के निकट कवि पहुंच जाता है। कवि नवीन मानवपन का आह्वान करता है—

गा कोकिल ! बरसा पावक कण !
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन

ध्वंश भ्रंश जग के जड़ बन्धन
पावक पगधर आवे नतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

+ × ×

मैं उसका प्रेमी बनूं नाथ!
जिसमें मानव-हित हो समान।

किन्तु यह दार्शनिक चिन्ता-धारा या विचार-धारा कोरी शुष्क नहीं है; अपितु वह कवि के हृदय की अनुभूति से अनुप्राणित है। इन भावनाओं अथवा विचारों का कवि-हृदय पूर्णतया अनुभव करता है। काव्य शैली की ओर भी उतनी अनास्था नहीं कवि ने प्रगट की, जितनी कि बाद की रचनाओं में। देखिये कवि की कल्पना ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है —

छवि के नव बन्धन बांधो
भाव रूप में गीत स्वरों में
गन्ध कुसुम में स्मिति अधरों में।
जीवन की तमिस्र वेणी में
निज प्रकाश कण बांधो।

युगान्त के पश्चात् वर्तिनी—युगवाणी और ग्राम्या में कवि की प्रवृत्ति प्रगति-वाद की ओर अग्रसर होती है। कवि साम्यवादी या समाजवादी विचार-धारा को ग्रहण करता है। कविता के दोनों-आभ्यन्तर और वाह्य पक्ष नीरस और साधारण कोटि के बनने लगते हैं। भावनाओं, अनुभूतियों का स्थान शुष्क दार्शनिक और भौतिकता—मूलक विचार-धारा या चिन्तन-श्रृंखला ले लेती है। युगवाणी में कवि ने समाजवादी सिद्धांतो की ही सीधे सादे ढंग से व्याख्या की है। उस में जितनी विचारों की उच्चता और गहनता है, कला और सौन्दर्य की उतनी ही कमी है। कवि का ध्यान विचारों की ओर ही रहता है, उनके व्यक्त करने की शैली की ओर नहीं। संक्षेप में कविता हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क से ही अधिकतया उद्गित होने लगती है। कवि उपयोगितावाद—जो कि नवीन वैज्ञानिक युग की भौतिक विचार-धारा का प्रधान सिद्धांत है—को ग्रहण करता है। कवि का उद्देश्य साम्यवाद होता है,

असमानताएं कवि कहीं नहीं देख सकता। मानव-हित सर्वोपरि ध्येय बनता है। अतएव कवि कविता में केवल मानवोपयोगी विचारों को ही स्थान देता है। कवि व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि की ओर झुकता है। अतः मानव-समष्टि-हित-साधन में समर्थ सिद्धांतों का ही कवि प्रतिपादन करता है। कला में भी यही उपयोगितावाद का प्रकाशन होता है। कवि काव्य कला के भाव-प्रकाशन में उपयोगी अंगों का ही ग्रहण करता है। सौन्दर्य-विधान के उपयोगी अंगों को छोड़ देता है। लक्षणा और व्यंजना के स्थान में कवि को अभिधा के द्वारा ही विषय वर्णन अधिक इष्ट हो जाता है। उसके तथ्य अपने सीधे सादे स्पष्ट रूप में ही हमारे सामने आते हैं। कल्पना की उतनी पूछ नहीं रहती। अलंकार आदि और संगीत के प्रति कवि का विशेष आदर नहीं रहता। कविता में से रोमांस चला जाता है, स्थूल वस्तुवाद रह जाता है। देखिये कृषक का कैसी सीधी सादी शैली में चित्रण है—

वज्र मूढ़ जड़ भूत हठी वृषबांधव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों का चिर रक्षक।

× × × ×

मध्य वर्ग का मानव वह परिजन-पत्नी-प्रिय।

× × × ×

सुखियों के कुलपति सामन्त महन्तों के वैभव क्षण
विला गये वह राज तंत्र सागर में ज्यों बुद बुद कण।

इन वर्णनों में कला का पहिले जैसा सुन्दर रूप नहीं है। वह केवल विचार-चित्रक रूप में ही सामने आती है। काव्य में सुन्दरता के स्थान में सत्यता और शिवता का प्राधान्य होता है। किन्तु फिर भी कवि में पुरातन सौन्दर्य और कला-वृत्ति भी बीच बीच में जाग उठती है—

सच है जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार
वर्ण गन्धमय कलिकुसुमों का
पर ऐश्वर्य अपार।

भय का दे पाथेय प्रकृति ने
भेजा मनुज अपरचित वन में ।

युगवाणी के इन अवतरणों में कवि की कल्पना और अनुभूति जागृत हुई है । ग्राम्या में निम्न प्रकार के शुष्क वर्णन हैं—

ज्ञान नहीं है, तर्क नहीं है, कला न भाव विवेचन
जन हैं, जग है, क्षुधा काम इच्छाएं जीवन-साधन ।

किन्तु कहीं कहीं अत्यन्त सरस वर्णन भी मिलते हैं । ग्राम्या बालिका का वर्णन देखिये—

है मांस पेशियों मे उसके दृढ़ कोमलता
संयोग अवयवों में अशलथ उसके उरोज
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज ।

कवि को स्वयं भी अपने इस परिवर्तन का ज्ञान है, "मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है ।" कवि ने उसका समाधान भी किया है, "विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिये । जिस युग में विचार का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है । (इसी लिये) अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य मे उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ ।" किन्तु कला की ओर कवि निरपेक्ष नहीं रहना चाहता, "लेकिन सोने को सुगन्धित करने की चेष्टा स्वर्णकार को अवश्य करनी चाहिये ।" अपनी कल्पना के विषय मे कवि का कहना है, "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अन्श भी मानता हूं । .मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है ।" और कि, "जहां मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है, वहां मैं भावी मानवता के सत्य को सफलतापूर्वक वाणी दे सका हूं और मैं, जहां किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ, वहा मेरी रचनाओं पर मेरे

अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है और मैं केवल आंशिक रूप को दे सका हूँ।"

तथ्य यह है कि कवि उत्तर-कालीन, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या आदि में अधिकतर अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत हो गया है। अतः उन रचनाओं में सरसता नहीं रही है। उनमें वाद ही प्रधान है, भाव नहीं। स्थूल सिद्धांतों या विचारों का सीधा वर्णन रहता है। विचारों का संयोग यद्यपि कविता में सदैव रहता है, तो भी वे विचार जब तक भाव-पूर्ण बन कर, वैसी ही अनुकूल सजधज के साथ, अभिव्यक्त नहीं होते तब तक काव्य की आत्मा नहीं बन सकते। विचारों का छंदोबद्ध प्रकाशन सूक्ति की कोटी में आता है, कविता की में नहीं। अतः पन्त के स्वयं के स्पष्टी-करण के पश्चात भी, कविता में कला की स्थिति आवश्यकी सिद्ध नहीं होती और पन्त की उत्तर कालीन रचनाओं में पहिले युग की अपेक्षा कला का बहुत अभाव मानना ही पड़ता है।

५. हिंदी के वर्तमान कालीन कवियों की काव्य भाषा की आलोचना कीजिए और उसका वह स्वरूप निर्धारित कीजिए, जिसे स्वीकार करने से भार-तीय राष्ट्र का अधिक से अधिक कल्याण संभव है। हरिऔध, रत्नाकर और प्रसाद की काव्य-भाषा पर विशेष रूपसे प्रकाश डालिये।

उत्तर—हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारंभिक युग भारतेन्दु युग-में काव्य भाषा ब्रज भाषा ही रहती है। खड़ी बोली की दशा ऐसी नहीं थी कि वह कविता का वाहन बन सकती। फलत. भारतेन्दु युग के कवियो की भाषा ब्रज भाषा ही रही। किंतु ब्रज भाषा क्योंकि बोल चाल की भाषा नहीं थी, बोल चाल की भाषा का स्थान खड़ी बोली अथवा दिल्ली, आगरा, मेरठ प्रदेश की भाषा ले चुकी थी, दूसरे, ब्रज भाषामें बोल चाल या जीवन व्यवहा-रोपयोगी गद्य का रूप नहीं था, स्वभावतः बोल चाल और अन्य जीवन व्यवहार के लिए खड़ी का ग्रहण हुआ। गद्य साहित्य की रचना भी इसी भाषा में होने लगी। काव्य में ब्रज भाषा चलती रही। किन्तु एक प्रश्न उत्पन्न हो गया था कि पद्य की भाषा भी खड़ी बोली को ही क्यों न बनाया जाय, गद्य और पद्य की दो पृथक् भाषाएँ नहीं होनी चाहियें। खड़ी बोली का प्रयोग पद्य में

करने के लिये बडा आंदोलन चलता है और अन्त में व्रज भापा के स्थान में पद्य भापा भी खड़ी बोली ही बनती है। अच्छे अच्छे बड़े और छोटे कवि ब्रज भाषा का मोह छोड़ कर खडी बोलो में कविता करने लगे। तो भी इस बात का अनुभव सभी को हुआ कि खडी बोलो में शब्द-भंडार बहुत कम है। अत-एव उसमें कर्कशता भी विशेप रहती है। कवि के सामने चुनाव के लिए बहुत कम गुंजायश रहती है। शब्द भण्डार के लिए अन्य भाषाओं की ओर देखा गया। कवि गण अन्य भापाओं से शब्दोंका ग्रहण करने लगे। संस्कृत भारत की प्रायः सभी भापाओं की उपजीविका है, साक्षात् रूप मे चाहे उससे किसी भारतीय भापा का उद्गम नहीं हुआ,किंतु तो भी शब्द भंडार में से सभी भापाओं ने शब्दों की लूट की है। खडी बोली ने भी ऐसा ही किया। खडी बोली के कवि सस्कृत के शब्द भण्डार से मन चाही सामग्री लेने लगे। फारसी भी बहुत प्रचलित थी, अतः उसके भी असंख्य शब्द खड़ी बोली में आगये। अंग्रेजी के प्रचलित होने पर अंग्रेजी के ढेरों शब्द खड़ी बोली में आए। अंग्रेजी के अनेक मुहाविरो, प्रचलित प्रयोगों उक्तिविशेषो का अनुवाद रूप में ग्रहण खडी बोली काव्य मे हुआ। द्विवेदी काल मे मराठी का भी हिंदी काव्य पर विशेप प्रभाव पडा। आगे चलकर, बंगला का भी विशेष प्रभाव पड़ा। इनके अतिरिक्त ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि अन्य भाषाओं का भी व्यक्ताव्यक्त रूप में प्रभाव पडा ही। परन्तु विशेप प्रभाव प्रथमोक्त भाषाओं का ही पडा। खड़ी बोली के कवि ने इन सभी से सहायता लेकर अपनी पदावली का परिष्कार करने का प्रयत्न किया। किन्तु रुचि-भेद से प्रत्येक कवि ने पृथक् पृथक् विशेपता रखी। जो संस्कृत के ज्ञाता थे, उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का विशेप ग्रहण हुआ। संस्कृत की प्रधानता रही। संस्कृत शब्दों से भाषा मे कोमलता भी आती है, साथ हो शब्दों मे अर्थ और व्यंजना की पूर्ण शक्ति भी। संस्कृत के आश्रय से, अतः, कवि ने अपने मार्ग को सरल कर लिया। जो व्यक्ति अंग्रेजी खूब पढ़ लिख कर खड़ी बोली में कविता करने लगे थे, उनकी शैली पर अंग्रेजी वाक्य विन्यास, अंग्रेजी व्यंजक प्रयोगों, उक्तियों रूपक और मुहावरों आदि का विशेप प्रभाव पड़ा। वे खड़ी बोली को भी वैसे ही गढ़ने लगे। छायावादी कवियों पर बङ्गला का

भी विशेष प्रभाव पड़ा। बंगला के अनेक शब्द प्रचलित हुए। कुछ कवियों, जोकि फारसी में निष्णात थे, पर फारसी का विशेष प्रभाव पड़ा। उनकी भाषा में फारसीमयता अधिक है। कांग्रेसी विचार-धारा से प्र भावित काव्यों में विशेष कर। एक पक्ष शुद्धता का पक्षपाती है और संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से शब्द लेना अनिष्ट मानता है। उसकी शैली में संस्कृत-मयता अधिक होती है। दूसरा पक्ष मिश्रण का पक्ष पाती है। वह मानता है कि भाषा की सीमा निर्धारित करने से, वह अवरुद्ध जल के समान सड़ जायगी, विकास नहीं होगा, अतः अन्य भाषाओं से यथावश्यकता शब्द लेना कोई बुरा नहीं। इसकी शैली में विदेशी भाषाओं के शब्दों का यथेष्ट मिश्रण रहता है। इस प्रकार खड़ी बोली के काव्य क्षेत्र में प्रधानतया दो प्रकार की भाषा मिलती है—एक शुद्ध और दूसरी मिश्रित। इनको भी दो दो रूपों में बांटा जा सकता है। एक ऐसी शुद्ध है, जिसमें शपथ-पूर्वक संस्कृत हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार है और दूसरी ऐसी है कि जिसमें सौ में दस पांच प्रतिशत मिश्रण बुरा नहीं माना जाता, बशर्ते कि वे शब्द बहुत अधिक प्रचलित और विशेष व्यंजनाशाली हों। मिश्रित भाषा का एक रूप ऐसा है, जिसमें मिश्रण इतना अधिक होता है कि संस्कृत का अत्यल्प प्रयोग होता है, अथवा होता ही नहीं। हिन्दी—शब्द भी ढूंढने पर ही मिलते हैं। मिश्रित शैली का दूसरा रूप होता है, जिसमें संस्कृत हिन्दी रूप की प्रधानता रहते हुए भी मिश्रण १०-५ फीसदी से कहीं अधिक रहता है। मुख्य रूप से काव्य-भाषा हिन्दी इन्हीं रूपों में उपलब्ध है। द्विवेदी काल की भाषा में संस्कृत-मयता ही प्रधान रहती है। कवि भाषा को विदेशीयता से स्वच्छ रखने को विशेष प्रयत्नशील रहता है। बाद के नवीन काल के छायावादी काव्यों में भी यही विशेषता रहती है। बंगला का भी उन काव्यों में विशेष प्रभाव रहता है। पश्चात् के अन्य नवीन वादों के विकास के काव्यों में मिश्रण अधिक होता है। प्रेमवादी, हालावादी, प्रगतिवादी काव्यों में मिश्रण अधिक होता है।

इनमें से कौन सा रूप भारतीय राष्ट्र के अधिक उपयुक्त रह सकता है, इसका तो उत्तर यही है कि जो वास्तविकता या भारतीय जीवन के अधिक निकट हो। संस्कृत, फारसी या बंगला आदि में से किसी को भी हिन्दी

है [illegible]-निर्माण का ठेका नहीं दिया जा सकता। संभव ही नहीं। काव्य-भाषा जीवन की अभिव्यक्ति करती है, अतः वह यदि जीवन से दूरस्थ होगी, उसकी अभिव्यक्ति का व्यापक प्रभाव नहीं पड़ सकता। न उसमें जीवन के वे ओज और माधुर्य ही आ सकते हैं, जो भारतीय हृदय को प्रभावित करते हैं। भारतीय जीवन अंग्रेजी या संस्कृत में चित्रित आज के भारतीय के लिए उतना स्वाभाविक कभी नहीं होसकता, जितना कि खड़ी बोली में। अतः काव्य-भाषा की कसौटी यही है कि वह जीवन के कितने निकट है। वास्तव, उससे दूर जाकर वह काव्य भाषा नहीं रह सकती। भाषा—विज्ञान का इतिहास इस बात का साक्षी है। अतः आधुनिक काव्य-भाषा चाहे जैसी भी हो, किन्तु भारतीय जीवन के निकट सम्पर्क में होनी चाहिये। तभी उसमें स्थायित्व और राष्ट्रीयत्व आ सकते हैं। वह निकटता यह होनी चाहिये कि उसका उद्गम जीवन में से हो, आकाश से न हो। भारतीय जीवन में हम जैसी भाषा का व्यवहार करते हैं, उससे यदि काव्य-भाषा बहुत दूर चली जाय तो वह सर्वसाधारण को सन्देश नहीं दे सकेगी और इसी कारण वह राष्ट्र-भाषा के पद पर बहुत दिनों नहीं टिकी रह सकेगी। हमारी आज की व्यावहारिक भाषा मिश्रित है, उसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी-शब्दों के साथ स्थान पाते हैं। हिन्दी-संस्कृत शब्दों की प्रधानता रहती है। प्रान्त विशेष में, उसमें प्रान्तीय भाषा का भी प्रभाव कुछ लक्षित होने लगता है। प्रान्तीयता के भाव से मुक्त रहते हुए साहित्य में भी भाषा का [illegible] ही रूप रहना चाहिए। अवश्य ही वह रूप व्यावहारिक भाषा से कहीं अधिक परिमार्जित, अधिक परिष्कृत, अधिक संस्कृत और अधिक अभिव्यंजनामय होगा, जो कि साहित्यिकता के उपयुक्त होता है, किन्तु वह रूप [illegible] व्यावहारिक भाषा के रूप से अधिक दूर नहीं होना चाहिये। संस्कृत भारतीय [illegible] का [illegible] है। भारतीय जीवन का कोई भी [illegible] संस्कृत के बिना संचालित नहीं होता। जन्म से लेकर [illegible] के संस्कारों में संस्कृत की ही आवश्यकता होती है। [illegible] भारतीय भाषाओं में बिखरी पड़ी है। अतः हिन्दी [illegible] (शब्दों का उधार) संस्कृत [illegible]। [illegible] हिन्दी में अधिकतया पाये भी हैं,

अन्यान्य भाषा-शब्दों की अपेक्षा। उनके प्रयोग से हिन्दी में कोमलता और संगीत भी आते हैं। एक और भी बात है। संस्कृत शब्दों के विशेष प्रयोग से काव्य भाषा, बंगाल, महाराष्ट्र, दक्षिण आदि प्रदेशों के लिये भी सुग्राह्य हो सकेगी। संस्कृत शब्दों का वैसा ही प्रयोग उन भाषाओं में भी होता है। अतः हिन्दी काव्य भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग तो अनिवार्य है ही। किन्तु अन्य भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग यथावश्यक होना चाहिये! उसके लिये कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। ऐसा करना भाषा का गला घोटना है। जो शब्द हमारे जीवन में विशेष स्थान पा चुके हैं, उनका बहिष्कार कदापि उचित नहीं, फिर चाहे वे किसी भी भाषा के हों। हिन्दी का स्वरूप सुरक्षित रखते हुए कवि किसी भी भाषा के प्रचलित शब्दों को स्वभाषा में ले सकता है। अवश्य ही उन शब्दों का हिन्दी—करण कर के ही वह उनका प्रयोग करेगा। यह उसकी इच्छा पर है कि वह उनका तत्सम रूप में प्रयोग करता है या तत्भव रूप में। किन्तु व्याकरण के नियम उन पर हिन्दी के ही लागू होंगे, उन भाषाओं के नहीं। ऐसी ही काव्य-भाषा हिन्दी के कवियों को अपनानी चाहिये, जिसमें न शुद्धता की कट्टरता हो और न मिश्रण का स्वेच्छाचार। इनके बीच का उचित मार्ग हो। कवि को लिखते समय ध्यान रहे कि वह नवीन भारतीय प्रजा-तन्त्र महान् राष्ट्र की भाषा लिख रहा है, जो समग्र देश की सम्पत्ति है और कि उस देश में अनेक प्रान्त हैं और अनेक अंतर् जातियां है। तभी वह एक आदर्श काव्य भाषा को उपस्थित कर सकेगा, जो राष्ट्र और उसके जनों का व्यापक हित-साधन कर सकेगी।

रत्नाकर की भाषा व्रज भाषा है। व्रजभाषा चाहे कितनी ही मधुर, सुललित और रीतिकाल के आचार्यों की सी उन्होंने लिखी है, परन्तु वह अब काव्य भाषा नहीं रही है। रत्नाकर की भाषा सुव्यवस्थित है, व्याकरण-संगत है, परिमार्जित है और अलंकृत है, उसमें माधुर्य और संगीत हैं, तो भी वह आधुनिक काव्य की भाषा नहीं है।

हरिऔध जी भाषा के आचार्य थे, भाषा और उसकी शैली पर उनको पूरा अधिकार था। भाषा उनकी इच्छानुकूल चलती थी। यह बात

दूसरी है कि हरिऔध जी ने जब लिखना प्रारम्भ किया था तो हिन्दी की उस समय अव्यवस्थित दशा थी। उसका निर्माण हो रहा था। अभी यह पता हुआ ही था कि खड़ी बोली में कविता भी हो सकती है। ये प्रथम कवि हैं, जिन्होंने संस्कृत-वृत्तों में खड़ी बोली का प्रबन्ध-काव्य या उनके अपने शब्दों के अनुसार, महाकाव्य लिखा। हरिऔध जी ने हिन्दी की सभी शैलियों में कविता करके दिखाई है। अपने बोलचाल नामक ग्रन्थ की भूमिका में ठेठ हिन्दी, बोल चाल की हिन्दी, सरल हिन्दी और उच्च हिन्दी नामक चार प्रकार की शैलियों का वर्णन किया है। इन्होंने इन सभी शैलियों में रचना की है। ठेठ हिन्दी में हिन्दी के केवल तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है, संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी छोड़ दिया है। बोलचाल में अन्य भाषाओं के भी ठेठ तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। सरलता और उच्चता, ये भी विशेषताएं इनकी भाषा में भिन्न २ शैलियों में आई हैं। इन्होंने इतनी संस्कृत-मय हिन्दी भी लिखी है, जो दुरूह हो गई है, जो अनुस्वार आदि के बिना निरी संस्कृत ही है और ऐसी भी लिखी है, जिसमें चलता-[illegible], मुहावरों और बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप भी मिलेगा। इनको सभी शैलियों में सफलता मिली है। परन्तु व्याव-हारिकता के नाते, इनमें से कोई भी आदर्श रूप में गृहीत नहीं की जा सकती। ठेठ हिन्दी अव्यवहार्य है। घोर संस्कृत-रचना भी अव्यवहार्य है। सर्व-साधारण के लिए सरल नहीं। "मलिन कूलमानि लोपी कुन्तलाकान्तिमाली।" और लम्बे लम्बे समास, जिनसे कि प्रिय-प्रवास भरा है, आधुनिक काव्य भाषा के उपयुक्त नहीं। निरी मुहावरे-दार और फारसी-मिश्रित "कुछ बताये भी। कहाँ अब तक, जान पर आ बनी बचा न सके।" वाली शैली भी उच्च भाव-भूमि के उपयुक्त नहीं। हां ऐसी शैली "सरस सुन्दर सावन मास था, घन रहे नभ में घिर घूमते।" अवश्य अनुरूप है, जो सार्व-जनिक प्रयोग के वास्ते उपयुक्त है। [illegible] उपाध्याय जी सम्पूर्ण भाषा-[illegible] के आचार्य थे और [illegible] प्रवृत्ति भी उनके इन शैलियों के [illegible] रूप से किसी आदर्श शैली का निर्माण करने में बाधक रहा। उनका ध्यान विभिन्न शैलियों के नमूने दिखाने की ओर ही

विशेष रहा, जिस कार्य में वे पूरे सफल रहे। किन्तु अपनी कोई ऐसी सर्वोचित आदर्श शैली का निर्माण वे नहीं कर पाये, जिसको कि अन्य भी ग्रहण कर सकते।

बाबू जयशङ्कर प्रसाद की शैली भी प्रधानतया संस्कृत-गर्भित है और उसमें मुहावरे भी नहीं हैं। वह भाव व्यंजना में अत्यन्त समर्थ है। उसमें लाक्षणिक प्रयोगों का विशेष चमत्कार है। प्रसाद जी ने अपनी भाषा से गहनतम, सूक्ष्मतम और विशदतम भावों को अभिव्यंजना की है। लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के कारण उसमें अगाध अभिव्यंजना और चित्रण-शक्ति आगई है। किन्तु वह आधुनिक काव्य भाषा के उपयुक्त नहीं। कारण, उसमें लक्षणा और प्रतीकों का इतना प्रयोग है कि वह सब के लिये बोध्य नहीं रहती। उसे कोई विशेष साहित्य—निष्णात व्यक्ति ही समझ सकता है। आज हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत विस्तारित है—देशव्यापी है। यदि काव्य की प्रेरणा विशाल और विस्तृत करनी है, तो अवश्य ही भाषा में भी वही दृष्टिकोण रख उसे उदार बनाना होगा। वह जितनी भी सार्वजनिक स्तर के निकट होगी, उतनी ही व्यापक प्रभाव रखने वाली होगी। प्रसाद जी की भाषा और शैली अत्यन्त उच्च स्तर की हैं। उनकी भाषा को आज की कविता का आदर्श नहीं बनाया जा सकता।

६—"प्रगतिवाद उपयोगितावाद का दूसरा नाम है," इस कथन की विवेचना कीजिए। भारतीय संस्कृति के साथ उसका समन्वय किस प्रकार सम्भव है? यह समन्वय आवश्यक है या नहीं?

उत्तर—उपयोगितावाद का अर्थ होता है, जिसमें उपयोगिता हो, उसको महत्व दिया जाय। उपयोगिता से स्थूल उपयोगिता से ही अभिप्राय है। आज के बुद्धिवाद के युग में वस्तु का मूल्य उसकी स्थूल उपयोगिता पर निर्धारित किया जाता है। अनुपयोगी वस्तुओं का त्याग और उपयोगियों का ग्रहण उपयोगितावाद है। प्रगतिवादी विचारधारा भी यही है। अनुपयोगी वस्तुओं का ध्वंस और उपयोगियों का निर्माण प्रगतिवाद है। प्राचीन सामन्तयुग ह्रासोन्मुख और अनुपयोगी है, अतः उसको

उखाड़ फेंको और नवीन का निर्माण करो, यही प्रगतिवाद का उद्देश्य है। प्रगतिवाद भावुकता या आदर्शवाद का विरोधी है। उसका आदर्श रोटी और कपड़ा है। वह सम्पत्ति पर एक या दो चार का अधिकार नहीं चाहता। वह समाज का देश की सम्पदा पर अधिकार चाहता है। वह प्राचीन अनुपयोगी व्यवस्थाओं और बन्धनों का उत्खातक है और नवीन समाजवादी उपयोगी बन्धनों का हामी है। वह समस्त वस्तुओं को सार्वजनिक उपयोग के माप-दण्ड से नापता है। इसी विचार-धारा का प्रतिनिधि नूतन कवि भी इन्हीं विचारधाराओं का प्रकाशन करता है। उसके काव्य में भी उपयोगी विषय ही स्थान प्राप्त करते हैं, अनुपयोगी विषयों को वह छोड़ देता है। उपयोगिता का माप-दण्ड उसके पास भी भौतिक उपयोगिता का ही होता है। किसी भी विषयका जनहित में वह भौतिक उपयोग ही देखता है। अतएव वह समाजवादी धारा का प्रबल शस्त्र बन, अनुपयोगी प्राचीन रूढ़ि परतंत्रताओं पर आघात करता है और नवयुगोपयोगी जनहित की व्यवस्थाओं के गान गाता है। काव्य-शैली में भी प्रगतिवादी का यही दृष्टिकोण काम करता है। काव्य के सभी अनुपयोगी सुन्दर अंगों को वे कवि प्राय. छोड जाते हैं और उपयोगी अंगों का ग्रहण करते हैं। केवल सौन्दर्य वृद्धि को वे उपयोगिता नहीं मानते। अतएव उनकी शैली सीधी, वाच्यपूर्ण और कर्कश सी है। उसमें काव्य की सरसता की मात्रा बहुत कम है। उस स्थूल भौतिक बुद्धिवाद का यह उपयोगितावाद ही उपर्युक्त प्रवृत्तियों का कारण है। यही अभिप्राय लेकर कविवर पन्त की प्रश्नगत उक्ति है, जो समुचित सार्थक है।

साम्यवाद भारतीय संस्कृति से असमन्वित हुआ, सर्व-जनहित-साधन नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति के विरुद्ध साम्यवाद कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता, भारतीय जनता के लिये। रूसी साम्यवाद का आधार भौतिक दृष्टिकोण है। उसमें ईश्वर की सत्ता स्वीकृत नहीं है,जो है वह स्थूलता में अनुभूयमान ही है। यह जड़वाद का ही रूप है। यह वाद प्रकृति को अचेतन न मान कर चेतन मानता है और चैतन्य का कारण प्रकृति मे वर्तमान दो विरोधी क्रिया-शक्तियों (Positive) और (Nagative)को मानता है।

अतएव इसका दृष्टिकोण भौतिक है। प्रत्यक्ष से परे यह किसी भी सत्ता को नहीं मानता। मानवता के नाते यह समस्त मानवों को समभाव से देखता है, किन्तु समष्टि को प्रधान मान कर, मानव व्यक्ति को पीसते, उस पर दया नहीं करता। पशु पक्षी तो भला किस गिनती में? उसमें सत्य या अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। वह समाज की दो प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी शक्तियों के निरन्तर संघर्ष में ही समाज की प्रगति देखता है।

किन्तु भारतीय संस्कृति में सत्य और अहिंसा एवं आध्यात्मिकता प्राण-तत्व हैं। उनके बिना उसमें कुछ भी नहीं रहता। भारत ने आध्यात्मिक साम्यवाद का अनुपम रूप उपस्थित किया है। वह साम्यवाद केवल मनुष्यों मनुष्यों में ही साम्य-भाव उपस्थित नहीं करता, अपितु पशु पक्षियों तक पहुंचता है। उसकी दृष्टि में पशु-पक्षी मनुष्य सब उसी अद्वैत चरम चैतन्य सत्ता से अनुप्राणित हैं, अतः समान हैं। इसी सत्य को स्वीकृत करके अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई, हिंसा के लिए स्थान ही नहीं रहता इस दृष्टि में। सब एक ही पिता की सन्तानें और भाई हैं। यह भाई-चारा सृष्टि के अन्त तक व्यापक है। जड़ प्रकृति को ही चिदंश मान लेने पर तो समत्वभाव की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। वर्तमान सामाजिक साम्यवाद वस्तुतः इसी आध्यात्मिक अद्वैत सिद्धान्त का ही व्यावहारिक रूप है—समत्व भाव की स्थूल व्यवस्था। अन्तर केवल इतना है, समत्व का भारतीय आधार सूक्ष्म सर्वगत परम सत्ता है और समाजवादी समभाव का आधार भौतिक भ्रातृत्व का भाव है। अतः दोनों के दृष्टि कोण भिन्न होते हैं। एक हिंसा को साधन न मान कर पाप गिनता है और दूसरा उसको प्रमुख साधन मानता है समता की प्रतिष्ठा के लिए। गांधी जी ने इस भौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद का समन्वय करके ही अपने गांधीवाद की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। गांधीवाद रूसी साम्यवाद का भरतीय रूप है, जिसमें समष्टि को प्रमुख आधार मानते हुए भी, उसी समष्टि के अंगभूत व्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी रक्षा की गई है। गांधीवाद वर्ग-संघर्ष का उदय नहीं करता, न हिंसा-प्रयोग का पक्षपाती है। इसमें क्रान्ति, सत्याचरण, सत्याग्रह, आत्म-बलिदान और तितीक्षा से होनी लिखी है। इसका चरम फल संघर्षों की शान्ति होगा, अशान्ति या संघर्ष नहीं होगा। विदेशी साम्यवाद में संघर्ष का अनवरत सत्ता है। रूढ़िवादी और प्रगतिवादी शक्तियों

के अनवरत संघर्ष की शाश्वत स्थिति स्वीकृत की जाती है। उसमें संघर्ष की स्थिति का अन्त नहीं होता। भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि-कोण के लिए अतएव यह साम्यवाद ग्राह्य या मंगल-दायक नहीं हो सकता; भारत को वह वस्तु प्रदान नहीं कर सकता, जिसकी कि उसे सदियों से नितान्त आवश्यकता है। अर्थात् शान्ति और सुव्यवस्था। यह तो अनवरत संघर्ष का वरदान दे सकता है, जो कि हिंसक और भारत के लिए अतीव घातक है। अतः भारत के लिए वही साम्यवाद ग्राह्य और मंगलप्रद हो सकता है, जिसकी अन्तरात्मा तो भारतीय हो और बाह्य शरीर चाहे रूसी हो। क्यों कि जब तक, पन्त जी के शब्दों में —

बहिर्चेतना जागृत जग में अन्तर्मानव निद्रित ।
बाह्य परिस्थितियां जीवित अन्तर्जीवन मूर्च्छित मृत ॥

जैसी दशा रहेगी, तो मानव अपना मंगल नहीं कर सकता। उसका मंगल तो तभी संभव है, जब वह अपने अंदर और बाहर दोनों रूपों से जागृत होकर कुछ करेगा। अतः गांधीवाद के रूप में हो विदेशी साम्यवाद का भारती-करण या भारतीय संस्कृति के साथ समन्वय करके उसका ग्रहण करना चाहिए, तभी भारतीय राष्ट्र और उसके जनों का मंगल है। युगवाणी में पन्त जी का अभिप्रेत साम्यवाद भी इसी प्रकार का है। यही ग्राह्य भी है।

७ प्रासंगिक पंक्तियों के उद्धरण देकर छायावाद और रहस्यवाद समझाइये। क्या यह कहना अनुचित होगा कि अधिकांश में मध्ययुगीन हिन्दी काव्य की स्थूल वासना के सूक्ष्म रूप ही ने छायावाद को अनुप्राणित किया था ?

उत्तर—आचार्य शुक्ल जी के मत से सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रण की संकेतमय और प्रतीकात्मक पद्धति को छायावाद कहते हैं। उसमें जब परमतत्व परमात्मा की अनुभूति करके कवि बोलता है, तो उसे रहस्यवाद कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य रूप से भी भेद प्रकट किया जाता है। व्यक्तिगत भावनाओं या आत्मा का अभिव्यंजन जहां ऐसी शैली में होगा, वह छायावाद और व्यक्तित्व को छोड़कर समष्टि का अनुभव कवि करके, ऐसी शैली में उसका वर्णन करेगा, तो रहस्यवाद होगा। देखिये रहस्यवाद—

कौन तुम मेरे हृदय मे ?
कौन मेरी कसक मे नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनो में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय मे
कौन तुम मेरे हृदय में ?

अलक्ष्य प्रियतम—चिर सुन्दर—की अनुभूति की गई है। छायावाद का एक उदाहरण—

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है शान्त क्लान्त निश्चल !
तापस बाला गंगा निर्मल शशि मुख से दीपित मृदु कर तल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल !
गोरे अंगो पर सिहर सिहर लहराता तार तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलाम्बर !
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की रेशमी विभासे भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर !

पन्त ने गंगा का एक निश्चल शान्त क्लान्त लेटी हुई तापस-बाला के रूप में वर्णन किया है। कवि की अपनी भावनाओ का ही रंग दिया गया है। प्रकृति में नारीत्व का आरोप कर उसके सौंदर्य और शृंगार का वर्णन करना छायावादी प्रवृत्ति है। (विशेष देखिये हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र २ सं० २००९ प्रश्न ६, एवं प्रश्न पत्र ३ सं २००२ प्रश्न ४)

रीतिकाल की स्थूल वासना के सूक्ष्म रूप से छायावाद को अनुप्राणित बताना अनुचित है। कारण, उसके मूल में वासना नहीं है, शुद्ध प्रेम तत्व है। और, न छायावादी काव्य स्थूल ऐन्द्रियता या वासना को जागृत ही करता है। रीति काल का साहित्य स्थूल वासना-मूलक है और वासना का ही प्रकाशन करता है। नागिन सी अलके, मृगी के से नयन, कीर की सी नाक।

विम्ब से ओष्ठ, उठते हुए, दाडिम से, कुम्भ से उरोज, केले सी जांघें ही उनके वर्ण्य रहे। किन्तु छायावादी प्रतिनिधि कवियों के साहित्य में सौन्दर्य का ऐसा उद्दाम रूप नहीं मिलता। उन्होंने सौन्दर्य का उदात्त रूप वर्णित किया है। वह शुद्ध रति का प्रतीक है, जिसका आधार अज्ञात है, जो केवल भाव-मय सत्ता रखता है। छायावाद पर एक दोष लगाया जाता है कि उसकी रति का आलम्बन अदृश्य रहता है, वह अलक्ष्य है, अत. उसका पूर्ण परिपाक नहीं होता। यही स्पष्ट प्रमाण है कि छायावाद वस्तुत वासनात्मक शृंगार का चित्रण नहीं है। उसमें, संयतता है, सात्विकता भी है, कुरुचि नहीं है। नकल या आभास सभी प्रकार की काव्य-शैलियों में होते हैं। छायावाद या रहस्यवाद कही जाने वाली अनेक रचनाएं होंगी, जिनमें रीतिकाल से भी अधिक वीभत्स शृंगार वर्णन हो, वहां छायवाद की केवल शैली मात्र माननी चाहिये। वाद वहां कुछ और ही समझना चाहिए। सूक्ष्म रूप से प्रेम भी वासना का ही उदात्त रूप है। किन्तु विशुद्ध प्रेम के लिए स्थूल सौन्दर्य अपेक्षित नहीं। उसका सम्बन्ध भावना से होता है हृदय की। कुरूप से भी प्रेम होता है। छायावादी काव्य में प्रकृति के कुरूपो का वर्णन भी मिलता है। छायावादी कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, स्थूल को भी वह सूक्ष्म रूप में देखता है। रीतिकालीन कवियों की वृत्ति वहिर्मुखी थी, व्यक्ति के स्थूल शरीर के अतिरिक्त वे अन्य कहीं सौन्दर्य नहीं देखते। छायावादी कविता वस्तुतः रीतिकाल की वासनात्मकता की प्रतिक्रिया में प्रचलित हुई थी। उन्होंने आन्तरिक सूक्ष्म सौन्दर्य को ही महत्ता दी।

दूसरे, छायावादी काव्य पर मध्यम वर्गीय लोगो की ओर से भी वासनात्मकता का आरोप लगाना अनुचित है। यह वासनात्मकता ठेठ वीरगाथा काल से चलकर चली आ रही है। भक्ति काल का भी इस प्रवृत्ति ने साथ नहीं छोड़ा। कृष्ण के सुन्दरतम स्थूल रूपों का चित्रण हुआ, गोप गोपियों के शृंगार का भी ऐसा ही स्थूल वर्णन रहा। रीतिकाल में कला कला के लिए हो गई थी। उस काल में अत. यह वासना वृत्ति और भी अधिक स्पष्ट रूप में सामने आई। छायावाद ने इस वृत्ति को रोका। उसने सौंदर्य का एक नया दृष्टि-कोण दिया और नया माप-दण्ड दिया। उसकी सौन्दर्य वृत्ति उदात्त है,

गम्भीर है। अतः रति मात्र को ही यदि वासना के रूप में माना जाय। उस दशा में तो हिन्दी साहित्य के सभी युगों के शृंगार-वर्णन में वासनात्मकता विद्यमान है। किन्तु वासनात्मकता से यदि ऐन्द्रियता ही अभिप्रेत है, तो छायावाद उससे बहुत कुछ बचा रहता है। देखिये महादेवी के निम्न पद्य में प्रेमार्चन है या वासनार्चन—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पद रज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !!

प्रतिनिधि काव्य के विषय में तो यही कहा जा सकता है। छायावाद के आभास मात्र अनेक काव्य इसके अपवाद भी हो सकते हैं।

८. "साहित्य सृजन की दृष्टि से प्रतिनिधि कवि प्रायः घाटे में ही रहता है।" इस कथन की मीमांसा कीजिये। मौलिक प्रतिनिधि कवि किसे कह सकते हैं ? किस आधुनिक कवि को आप वर्तमान काल में इस पद पर आसीन करने के लिए तैयार हैं ? सप्रमाण लिखिये।

उत्तर—साहित्य-सृजन की दृष्टि से प्रतिनिधि कवि घाटे में रहता है, यह कहना बहुत कुछ ठीक है। कारण, "प्रतिनिधि कवि की कल्पना और अनुभूति दोनों में उतनी तीव्रता नहीं आ पाती, जितनी कालान्तर में पदार्पण करने वाले कवियों को सुसंस्कृत और साधना द्वारा प्राप्त करने का अवसर रहता है।" प्रतिनिधि कवि अगुआ होता है। वह नेतृत्व करता है भावना और शैली दोनों के क्षेत्रों में। उसे अपने युग के सत्य को अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करना होता है। उसके

साहित्य को लोक-गत और काव्य-गत सभी प्रवृत्तियों का नेतृत्व करना पड़ता है। वह तात्कालिक जीवन का प्रतिबिम्ब भी उपस्थित करता है और भावी युग के आदर्शों को भी सुसज्जित करता है। जाति-गत भावनाओं के अग्रसर करने में उसका साहित्य विशेष प्रयत्न-शील होता है। पश्चात्-अन्य लोग भी उसका अनुसरण करते हैं। यही काव्य-गत प्रवृत्तियों के विषय में भी समझना चाहिये। वह उनका भी नेतृत्व करता है और युगानुरूप उनको नवीन रूप देता है, अथवा युग-सौंदर्य की विशेष अभिव्यंजक नवीन शैलियों का भी उद्भावन करता है। मौलिक प्रतिनिधि कविका लक्षण यही है। उसका साहित्य मौलिक होता है और अपने युग-विशेष का प्रतिनिधि होता है। इस दृष्टि से उसे सर्व-प्रथम होकर नवीन मार्ग का निर्माण करना पड़ता है। उसके मार्ग मे कठिनाई विद्यमान है। साथ ही युगगत विशेष प्रवृत्तियो में ही उसकी कल्पना काम करती है। उसे बन्धन विशेष रहता है। अनुभूति मे भी इन्हीं कठिनाइयों से तीव्रता विशेष नहीं आती। उसकी सीमा रहती है। इस प्रकार, कल्पना और अनुभूति का भी पूर्ण स्वतन्त्रतया विकास नहीं हो पाता, उसके सामने कठिनाइया और बन्धन रहते हैं। अपेक्षाकृत उन लोगों का मार्ग अधिक सरल होता है, जो बाद के काल मे होते हैं। उन्हें बना बनाया मार्ग मिलता है। वे अभ्यास साधना द्वारा अपनी कला का जो प्रकाश करते हैं, वह प्रतिनिधि कवि नहीं कर पाता। उसके ऊपर उत्तरदायित्व का गुरु भार रहता है। अत एव यह उपर्युक्त उक्ति कही गई है।

प्रतिनिधि मौलिक कवि वह होता है, जो युग विशेष का प्रतिनिधि भी हो और मौलिक भी। युग विशेष के सत्य का भी प्रतिबिम्ब उसके साहित्य में होना चाहिये और मौलिकता भी उसमें होनी चाहिये। उसकी मौलिक उद्भावनाएं भी होनी चाहियें, जिनका कि लोग अनुसरण करें। साथ ही उसके साहित्य में युग-गत प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा—अभिव्यंजन—और भावी आदर्शों का स्वरूप होना चाहिये। वही सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि और मौलिक प्रतिनिधि कवि कहला सकता है।

आज का मौलिक प्रतिनिधि कवि किसे माना जाय, इस विषय में

मतभेद है। कुछ लोग भारतेन्दु को आधुनिक काल का प्रतिनिधि कवि मानते हैं और कुछ मैथिलीशरण जी गुप्त को। भारतेंदु मे सर्व-प्रथम आधुनिक युग का सत्य प्रतिबिम्बित होता है। अपने युग की समस्त प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं में मिलता है। समाज, धर्म, जाति-गत सुधार, आत्म-जागृति आदि भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। साथ ही अनेक नवीन प्रवृत्तियों को साहित्य मे जन्म दिया, नवीन शैलियों की उद्‌भावना भी की, आगे के कवियों ने उनका अनुकरण किया। भावी आदर्शों का भी संकेत उनमे मिलता है। अतः उनको हिन्दी के आधुनिक काल का मौलिक प्रतिनिधि कवि माना जाता है। वे मौलिक भी हैं और प्रतिनिधि भी। उन्होने पुरातन काव्य में मौलिक परिवर्तन कर, अपने युग का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उसमें दिया।

गुप्त जी में मौलिकता नहीं है। उन्होने अनुकरण मात्र किया है। अपने काल की सभी शैलियों में उन्होंने रचनाएं की हैं। किन्तु अन्यों का अनुकरण किया है, उनकी स्वतंत्र उद्‌भावना नहीं हुई। युग के प्रतिबिम्ब के विषय में वे पूर्णतया सफल नहीं पाये जाते। भारतेन्दु के युग मे हिन्दू-राष्ट्रीयता प्रबल थी, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में मिलता है। किन्तु गुप्त जी के युग मे राष्ट्रीयता की धारणा बदल चुकी थी। राष्ट्रीयता का आदर्श रूप कांग्रेस ने उपस्थित कर दिया था, परन्तु गुप्त जी के काव्य में हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना ही है, अपने युग की नहीं। क्रान्तिवाद या प्रगतिवाद की भावना का भी पूर्ण अभिव्यंजन वे नही कर सके। भावी आदर्श के संकेत भी गुप्त जी के काव्य मे मिलते हैं। सीता को स्वतन्त्रता का प्रतीक मान कर उसकी प्राप्ति के लिए प्रेरणा दी है। किन्तु वह हिन्दु—भावना में डूब जाती है। उसका राष्ट्र का प्रत्येक जीव अनुभव नहीं कर सकता। उसकी सीमा धर्म विशेष के मानने वालों में ही सीमित हो गई है। उसकी प्रेरणा सर्व-राष्ट्र-गत नहीं है। इस प्रकार से गुप्त जी को प्रतिनिधि कवि नहीं माना जा सकता। शैली के लिहाज से भी उनमे अनुकरण ही है, मौलिकता नहीं है, जो कि भारतेन्दु की विशेषता है।

एक अन्य ढंग से भी उन्हें प्रतिनिधि कवि अवश्य माना जा सकता है,

जैसा कि श्री आचार्य शुक्ल जी ने कहा है, "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है, कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्सन्देह कहे जा सकते हैं।" गुप्त जी की भारत-भारती में भारतेन्दु कालकी राष्ट्रीयता है। बाद की रचनाओं में गाधी-वाद और गांधी-वादी शास्त्रों की भी झलक आई है। किसान मजदूर आदि के प्रति सहानुभूति भी मिलती है। छाया-वादी शैली का भी थोड़ा आभास मिल जाता है। इस दृष्टि से इनमें भावी प्रवृत्तियों की झलक मिल जाती है। किन्तु प्रधानता नहीं है। आगे चल कर साहित्य की प्रवृत्तियों का इसी ढंग का विकास हुआ, पर भिन्न स्वरूप के साथ। अतः इस दृष्टि-कोण से इन्हें भी मौलिक प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

किन्तु भारतेन्दु के पक्ष में बहुमत है। अतः उन्हें ही मानना चाहिये। उनमें यह विशेषता गुप्त जी की अपेक्षा अधिक है।

६. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर टिप्पणियां लिखिये—

(क) अलंकार-मत, (ख) वात्सल्य रस, (ग) सामंत युग, (घ) फ्रायड (ङ) मार्क्सवाद (च) व्यक्ति वाद (छ) महाकाव्य (ज) गीतिकाव्य (झ) प्रकृति का व्यक्ति गत सौन्दर्य (ञ) असूया संचारी (ट) सात्विक भाव (ठ) हिम किरीटिनी (ड) गीतिका।

उत्तर—(क) अलंकार मत—या अलंकार-वाद साहित्य का वह वाद है, जिसमें कवि अलंकार को ही काव्य में प्रधान मान कर काव्य-रचना करता है। वहां कवि की दृष्टि अधिकतया भाव पर न हो कर, अलंकार-कृत वाह्य स्थूल चमत्कार पर ही रहती है। भाव के सौन्दर्य की ओर कवि की उतनी दृष्टि नहीं रहती, जितनी कि अलंकार-चमत्कार के प्रति। इसी लिए बहुधा भाव में अनौचित्य भी आ जाता है। उदाहरणार्थ केशव को लिया जा सकता है।

(ख) वात्सल्य रस—सन्तान-विषयक माता पिता की रति वात्सल्य रस होता है। रति के माता पिता आश्रय होते हैं। सन्तान

आलम्बन होती है। बालक की चेष्टाएं, तुतलाना आदि उद्दीपन के अंतर आती हैं। इधर उधर की लीलामय परिस्थिति भी उस भाव को उद्दीप्त करती है।

(ग) सामन्त युग—आधुनिक काल से प्रथम के काल को सामन्त-युग कहा जाता है। वह काल सामन्तों और महन्तों का था। विशिष्ट उच्च वर्ग के लोग ही जनता का आदर्श था। मध्यम साधारण जनता का रंग ढंग रहन सहन इन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के अनुकरण पर होता था। इन्हीं के आदर्श और इन्हीं की नैतिक सांस्कृतिक सीमाओं को आदर्श मान कर ही उनकी भी सामाजिक व्यवस्था होती थी। व्यक्ति धार्मिक सामाजिक और नैतिक रूढ़ियों की शृंखला मे जकड़ा हुआ था। स्त्रियों की दुर्दशा थी। जातिगत वर्णगत और धर्म-गत संकीर्णताओं का प्रभाव था। इस काल को आज के युग की अपेक्षा पिछड़ा हुआ युग माना जाता है। यह युग अपनी समस्त परिस्थितियों और स्वरूपों के साथ उखड़ चुका है। ह्रासोन्मुख है। नवीन विचार और नवीन धारणाएं उसे उखाड़ने में तत्पर हैं। वह प्रत्येक प्रकार की प्रगति का विरोधी है। वह वर्ग-संघर्ष को रोकता है।

(घ) फ्रायड—प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर था। मनोविज्ञान-सम्बन्धी उसकी नवीन खोज और व्याख्या मनोविज्ञान शास्त्र मे अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। फ्रायड के विचारों और सिद्धान्तों ने आधुनिक बुद्धिवाद के प्रचार में विशेष योग दिया है। उसके सिद्धान्तों का आज के पूर्व और पाश्चात्य दोनों साहित्यों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। फ्रायड के अनुसार जीवन की मूल प्रेरणा काम है। "मानसिक प्रक्रियाएं आवश्यक रूप से अवचेतन है और जो चेतन है, वे अवचेतन मन की इच्छा द्वारा नियन्त्रित होती हैं।"···· इनके मत मे समस्त यौन प्रवृत्तियां मानसिक रोगो की जनक है। किन्तु उनका मनुष्य के मस्तिष्क, समाज, कला और संस्कृति आदि के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ा है। फ्रायड ने काम-सम्बन्धी (सैक्सुअल) और स्वप्न-सम्बन्धी सिद्धान्तो मे महान् परिवर्तन उपस्थित किया है। इनकी खोज इन्हीं दो क्षेत्रो मे विशेष है।

(ङ) मार्क्सवाद—इसी समाजवाद का नाम है, जिसके सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा कार्लमार्क्स द्वारा हुई थी। कार्लमार्क्स समाज में दो शक्तियां

मानता है, एक ह्रासोन्मुख पूंजीवाद, जो प्रत्येक प्रकार की प्रगति का विरोधी है और दूसरी विकासोन्मुख और प्रगतिशील समाजवादी। मार्क्स-वाद समस्त प्रकार के शोषणों का सरल सीधे और आसान ढंग से अन्त करके दुःखितों, पीड़ितों और श्रमजीवियों का समीकरण चाहता है। समाजवाद में सबको समान समझा जाता है। व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि प्रधान है। वह प्राचीन व्यवस्थाओं को प्रगति के लिये बन्धन समझता है और उनमें सुधार को असम्भव मानकर, उन्हें क्रान्ति द्वारा जड़ मूल से उखाड़ कर, नव-व्यवस्था उत्पन्न करना चाहता है। उसका उद्देश्य क्रान्तिकारी है। मजदूर, किसान आदि श्रमिक वर्ग के शोषित व्यक्तियों का उत्थान उसका लक्ष्य है। वह समष्टि-शासन का पक्ष-पाती है। समष्टि-शासन रूप में व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं है। साहित्य में इसी विचार-धारा को लेकर प्रगतिशील साहित्य का उदय हुआ है।

(च) व्यक्तिवाद—मार्क्ससवाद के ठीक प्रतिकूल है। मार्क्सवाद में व्यक्ति अप्रधान होता है और समष्टि प्रधान। किन्तु व्यक्तिवाद में समष्टि की अपेक्षा व्यक्ति प्रधान होता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सर्वप्रमुख महत्त्व दिया जाता है। रूस में समाजवादी शासन है, जो समष्टि-शासन है। अमरीका इंग्लैण्ड आदि में प्रजातंत्र है, जिसमें व्यक्तिवाद या व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पूर्ण प्रतिष्ठा है।

व्यक्तिवाद व्यंजना-वाद को भी कहते हैं। साहित्य में भाव-प्रकाशन की एक विशिष्ट शैली होती है। कवि या साहित्यकार व्यंजना को ही काव्य में सर्व-प्रमुख मान कर, अधिकतर अर्थों को व्यंजनावृत्ति के द्वारा ही अभिव्यं-जित करता है। यही व्यंजनावाद या व्यक्तिवाद होता है। प्रश्न में कौन सा अर्थ अभिप्रेत है, निश्चित नहीं कहा जा सकता।

(छ) महाकाव्य—प्रबन्ध काव्य का वृहद् भेद है। जिस प्रबन्ध काव्य में समस्त जीवन का सांगोपांग चित्र हो, जिसमें अपने काल, जाति संस्कृति और राष्ट्र का पूर्ण प्रतिबिम्ब हो, जो वर्तमान के आदर्शों की प्रतिष्ठा के साथ भावी आदर्शों का स्वरूप उपस्थित करे, भविष्य के विषय में मंगल-मय संकेत दे मानवहित के लिए, ऐसे महान् काव्य को महा काव्य कहा जाता है। उसमें देवता या देवता जैसे ही किसी उच्चवंशीय क्षत्रिय नायकका समस्त जीवन चित्रित होता है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक होता है। सारी कथाका सर्ग

में निबन्धन होता है। सर्गों में भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। शृंगार वीर करुण अथवा शान्त रस प्रधान होता है। अन्य रस गौण होते हैं, उसके सहायक रूप में। बीच बीच में प्रकृति, नगर, वन, तडाग, पर्वत आदि का विशद वर्णन होता है। युग, देश, जाति, संस्कृति का स्पष्ट चित्र होता है। आदि आदि इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। उदाहरण जैसे रामायण आदि।

(ज) गीति काव्य—मुक्तक काव्य होता है, जिस में कवि या गीतकार अपनी ही किसी मानसिक व्यक्ति-गत भावना के आवेश का अभिव्यंजन करता है। अतः यह काव्य अंग्रेजी के "लीरिक" काव्य के समान ही व्यक्तिगत अनुभूति को ही लिये होता है। इसकी रचना राग रागनिओं आदि संगीत के तत्वों के आधार पर होती हैं, छन्दों के आधार पर नहीं। कवि संगीत में आवद्ध करके, सुललित, सुन्दर और मधुर भाषा में, अलकारों आदि काव्य के उपादानों का नियोग करके, अपनी किसी अनुभूति का प्रकाशन करता है।

इसका प्रारम्भ अनादि काल में ही हुआ, जब से मनुष्य ने भावातिरेक में होना सीखा। इसका मूल ऋग् वेद में भी मिलता है। सामगान तो है ही रागमय। हिंदी साहित्यमें प्रथम वीर गीत लिखे गये, फिर ज्ञान और भक्ति के। उनकी रचना संगीत की रागनियों या रागों के आधार पर होती थी। आज हिन्दी में जो गीत हैं, उनका निर्माण प्राचीन राग-विधि में नही होता, अपितु अब अंग्रेजी और बंगला के गीतों के अनुकरण पर, भावानुकूल नयी संगीत-व्यवस्था करके होता है। प्रधानतया इसका निर्माण गाने के उद्देश्य से ही होता है। अतः संगीत प्रधान होता है।

(झ) प्रकृति का व्यक्तिगत सौंदर्य—प्रकृति के विविध रूपों का ही होता है। मेघ, वन, तडाग, कोयल, विद्युत, मृग, मयूर आदि को ही अवलम्बन मानकर, स्वतंत्र रूप से जब प्रकृति-चित्रण होता है, वह प्रकृति के व्यक्तिगत सौंदर्य का चित्रण होता है। वहां कवि का प्रकृति-विषयक व्यक्तिगत अनुराग प्रकट होता है। यही [illegible] का व्यक्तिगत सौंदर्य है।

(ञ) असूया संचारी [illegible] ति को सहन न कर, उ[illegible] की चेष्टा करना असूया [illegible] है। इसके मुख्य चिन्ह बदल जाना, स्वर विकृति [illegible] हैं। उदाहरण—

हिन्दी साहित्यरत्न प्रश्न पत्र ३ (सं० २००७)

नोट—प्रथम प्रश्न अनिवार्य है। शेष में से, किन्हीं चार के उत्तर लिखिये।

१. निम्नलिखित अवतरणों में से किन्हीं चार की सन्दर्भ सहित व्याख्या कीजिये—

(क) जागो जागो, आया प्रभात, बीती वह, बीती अध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचल; बांधो बांधो किरनें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन; आती भारत की ज्योतिर्घन-महिमा-बल।

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद्य निराला के 'तुलसीदास' का है। तुलसी की पत्नी द्वारा भर्त्सना होने पर, तुलसी की ज्ञान-चक्षुएं खुल जाती है। स्त्री के स्थान में उन्हें साक्षात सरस्वती, खड़ी दिखाई देती है, उन्हें ज्ञान देती हुई। वे ज्ञान विमुग्ध हो जाते हैं। जब देहात्म-बोध होता है, तो उन्हें अपने हृदय से एक दिव्यवाणी गूंजती सुनाई देती है—तुलसी को जागृत करती हुई। वह इस पद्य के रूप में है।

व्याख्या—जागो, जागो, प्रात: काल आ गया है। बीत गई वह अंधेरी (सांसारिक मोह माया से आच्छादित) रात बीत चुकी है। पूर्वांचल—उदयाचल-भर-भर कर प्रकाशमय प्रपात [झरना] झर रहा है [पूर्वांचल प्रकाश का सोता बहा रहा है]। तेजस्वी! अन्धकार के विजेता जीवन वाले! [तुलसी के ब्राह्मणत्व के गुण का अभिप्राय करके कहा गया है] इन चेतन [चेतनादायी अथवा चैतन्यरूप] और तेजस्वनी किरणों को बाध ले [संगृहीत करले]। भारतीय ज्योति (सूर्य और ज्ञान), जिसका महिमा बल बहुत है, आ रही है।

कवि को अपने मनोलोक में एक चेतना देती हुई वाणी सुनाई देती है, उठ, अज्ञान की रात्री बीत चुकी, ज्ञानारुण का उदय होने वाला है। पूर्व दिशा (पूर्वी देश) प्रकाश—स्वरूप ज्ञान प्रवाह बहारही है। वह निरा चैतन्यमय है—सूर्य भी और ज्ञान भी। उसकी किरणों का संग्रह कर ले। वाणी तुलसी को होशियार करती है कि भारतीय ज्ञान—सूर्य का उदय हो

रहा है। भारतीय ज्ञान के प्रकाश का संग्रह करके तुम अपने जीवन पथ में बढ़ो। तुलसी को यह अपने मन में ही वाणी सुनाई देती है। यह और भी लम्बी है, पर किसी को सुनाई नहीं देती, केवल तुलसी को सुनती है। तुलसी की आत्म—चेतना निर्णय कर लेती है अपने पथ का।

रूपकातिशयोक्ति का सहारा लेकर कवि ने अरुणोदय के वर्णन द्वारा तुलसी के आत्मज्ञान की दशा को व्यञ्जित किया है। शैली अत्यन्त लाक्षणिक होने के कारण अर्थ—बोध में कुछ कठिनता होती है।

(ख) यह मनुज जो ज्ञान का आगार! यह मनुज जो सृष्टि का शृंगार!
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो विचारो कृत्य।
यह मनुज—संहार-सेवी वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना पाखंड इस का ज्ञान,
यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम अपमान।

सन्दर्भ—कुरुक्षेत्र के षष्ठम सर्ग का पद्य है। कवि महाभारत युद्ध के परिणाम को सामने देखकर अपने युग का वर्णन करता है। उसका कहना है कि मनुष्य ने मनुष्यता से गिरकर अपनी जिन पापीयसी वृत्तियों के फलस्वरूप महाभारत का रक्तपात किया, वे ही वृत्तियां इस समय भी अपनी चरम विकसित दशा को प्राप्त हुई हैं। मनुष्य कितना ऊँचा है, परन्तु इस समय अपने वास्तविक स्वरूप से कितना गिर चुका है, इसी का वर्णन कवि ने (ख) पद्य में किया है।

व्याख्या—(वह कहता है) वह यही मनुष्य है, जो ज्ञान का कोष है! यही वह मनुष्य है, जो सृष्टि का शृंगार है! (सृष्टि की सब से उत्तम और प्रकृष्ट रचना मानव है।) नाम (मनुज—मनु से उत्पन्न) सुनकर भ्रम में नहीं पड़ो (कि मनु का पुत्र श्रेष्ठ होगा), इस के जरा कार्यों पर विचार करो। यह मनुज संहार—सेवी (महा नाश की सेवा करने वाला, संहार में लगा हुआ) है—वासनाओं का गुलाम। इसकी कल्पना (रचना) धोखा (जाल साजी) है, इसका ज्ञान कोरा पाखंड है (उसके आचरण से दूर है अथवा केवल लोक-दिखावा है)। यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम अपमान है।

मनु की सन्तान मनुज, इस नाम का अधिकारी होते हुए भी मनुष्य अपने रूप से नितान्त पतित हो चुका है। जो मनुज सृष्टि का शृंगारभूत और ज्ञान का खजाना है, वह, हा! आज संहार की उपासना में रत है। उसकी समस्त रचनाएँ और ज्ञान धोखा है, पाखंड है। इस समय का मनुष्य वस्तुतः मनुष्यता का कलंक है।

रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कारों, गम्भीर भाव और भाषा के समन्वय से कवि ने आधुनिक असद्ज्ञान घमण्डी, आत्म-विनाशोन्मुख, विवेक और नैतिकता से शून्य, अमानव मानव का स्पष्ट, स्वाभाविक और सत्य चित्रण किया है।

(ग) जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं,
तातैं तुम ऊधो! हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुंह आवत सो बिबस बयात हौ।
सोवत में जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यौं ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
जोग जोग कबहुं न जानैं कहा जोहि, जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कबहुँ बहकि बररात हौ॥

सन्दर्भ—उद्धव शतक के 'गोपी वचन उद्धव प्रति' नामक प्रकरण का पद्य है। उद्धव जब योग ज्ञान आदि का उपदेश देते हुए संसार को स्वप्न बताते हैं, तो गोपियां उनसे ठठोल करती हुई, बड़ा करारा व्यंग्य-पूर्ण उत्तर देती हैं।

व्याख्या—तुम्हें सारा संसार सपना-सा दिखाई पड़ता है, इसीलिए, हे ऊधो! हमें तुम सोते हुए से दिखाई पड़ रहे हो। रतनाकर कहते हैं, सोते हुए की बात कौन सुने? जो बात मुंह में आती है, वही (नींद के) वशीभूत हुए बड़बड़ा रहे हो। जैसे (कोई) सोते में अपने को जागता देखता है (सपने में), वैसे ही तुम भी (अपने को) आप ही ज्ञानी समझते हो (सपने में ज्ञानी बने हो। हमें तो ज्ञानीपने की बात दिखाई नहीं देती) योग के योग्य (जोग जोग) बात भी तुम कभी नहीं जानते। क्या देख देख कर तक रहे हो और कभी बहक कर ब्रह्म ब्रह्म बड़बड़ाते हो?

कवि ने गोपियों की इस करारी फटकार को उपमा, हेतु, अनुप्रास आदि अलङ्कारों में लपेटकर बहुत ही चमत्कारक ढंग से उपस्थित किया है।

(घ) गीत हो कि जी का हो, जी से मत छीका हो,
आँसू के अक्षर हों, स्वर अपने ही का हो,
प्रलय हार, प्रणय जीत, एक गीत एक गीत।

सन्दर्भ—हिम तरंगिणी की ३६ वीं कविता का अन्तिम पद्य है। कवि अपने को बताता है कि वह कैसे गान लिखे। वह कहता है, सजल करुणा पूर्ण गान लिख। न आचार्य ग्रन्थों की ओर देख, न प्रेम के गीत गा, न संस्कृति के गान गा और न युद्ध के गान गा। ऐसा गान गा, जैसा कि प्रस्तुत पद्य में वर्णित है।

व्याख्या—गान ऐसा हो कि जी (हृदय) का हो, हृदय से सूना न हो [उसमें हृदय की भावनाएँ निर्बल न हों]। आँसू के [करुणा भरे] अक्षर हों और अपने ही हृदय की आवाज या पुकार हो। वह प्रलय-हार (बलिदान होने समय का पुष्पहार) और प्रणय (देश-प्रेम) की जीत हो। ऐसा केवल एक गान, एक गीत गा।

कवि कहता है, ऐसा गीत गा, जो हृदय का गीत हो, शब्दाडम्बर न हो। उसमें अपने ही हृदय का स्वर हो और वह स्वर भी करुणा पूर्ण—सजल—हो। वह गीत मृत्यु-माला हो, किन्तु देश प्रेम की विजय हो। केवल एक ऐसा गीत गा।

(ङ) युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द।
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द।
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार।
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार।
वाणी मेरी चाहिएं तुम्हें क्या अलङ्कार ?

सन्दर्भ—श्री पन्त के "आधुनिक कवि" नामक संग्रह की अन्तिम 'वाणी' की अन्तिम पंक्तियां हैं। कवि अपनी वाणी को कह रहा है कि वह उनके विचारों को जनमनों तक पहुँचाने में समर्थ है, युग के सत्य को उद्घाटित करके जनमनों के द्वारों को खोल सकती है। उसे क्या अलङ्कारों की आवश्यकता है ?

व्याख्या—[कवि अपनी वाणी को कहता है] तुम युग-कर्म के शब्द को (ऐसे शब्द को जो युग के कर्म का सन्देश देता है), युग के स्वरूप के शब्द को [युग स्वरूप के वर्णन करने वाले शब्द को] और युग सत्य के शब्द को (जो युग के सत्य को प्रकट करने वाला है, ऐसे को) और भावी युग (भविष्य) के लाखों मूक (उनमें क्या छुपा हुआ है, जो यह नहीं बताते) वर्षों को शब्दायमान करके अर्थात् उनका शब्द रूप में वर्णन करके और मानव मन के जीवन के अन्धकार को नष्ट करके, मानव मन के निभृत (चुप रहने वाले—शब्द रहित) द्वारों को खोल सकती हो। हे मेरी वाणी! तुम्हें क्या अलङ्कार चाहिएँ?

कवि की वाणी सर्वथा समर्थ है। वह युग के कर्म, रूप और सत्य को शब्द-रूप दे सकती है और भावी के लाखों वर्षों का रहस्योद्घाटन कर सकती है। उसकी पहुँच मानव मन के निगूढ़ रहस्यों तक है। कवि आश्चर्य प्रकट करते हैं कि उसे क्या अलङ्कार चाहियें! उसे अलङ्कारों की बाह्य शोभा की क्या आवश्यकता? उसके तो प्रभाव, शक्ति और पहुँच निरलङ्कार होते हुए ही बहुत हैं।

(च) चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम, मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम, काया छाया में रहस्य-मय,
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?

सन्दर्भ—श्रीमहादेवी वर्मा के आधुनिक कवि की ३४ वीं कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं। रहस्यवाद महादेवी की कविताओं की प्रधान विशेषता है। प्रस्तुत पद्य में रहस्यवाद है। कवयित्री ने अपने आध्यात्मिक प्रियतम के साथ अपना तात्विक अथवा पारमार्थिक अभेद बताया है, अवयवावयवी अथवा अंशांशिभाव से।

व्याख्या—तू चित्रित है (तेरा चित्र बना हुआ है) और मैं (उसकी) रेखा-विधि या रेखा-क्रम हूँ (रेखाओं की योजना से ही चित्र पूर्ण होता है। रेखाएँ स्वत्व खोकर चित्रमय हो जाती हैं। वस्तुतः चित्र और उसकी रेखा-योजना एक ही वस्तु है)। तू मधुर राग है और मैं उसका स्वर-संगम (या सरगम, उस राग को बनाने वाले स्वरों का ठाठ) हूं अर्थात् स्वरों के

ही योजना-विशेष के अनुसार सम्मिलन का राग नाम पड़ता है, । दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं । तू असीम है और मैं सीमा का एक भ्रम हूँ । (वस्तुतः आत्मा भी परमात्मा-रूप होने से असीम ही है, किन्तु अज्ञान या भ्रमवश आत्मा अपने को सीमित समझता है। यह ससीमता का भ्रम ज्ञान द्वारा मिट जाने पर आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं । कवि का यही अभिप्राय है ।) काया (शरीर) और उसकी छाया (परछांही) में है रहस्यमय ! प्रेयसी और प्रियतम का अभिनय क्या (कैसा) ? (तू काया है, मैं तुम्हारी छाया हूँ । दोनों अभिन्न हैं । छाया से काया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं । अतः दोनों में प्रियतम और प्रिया का भाव कैसा ? दोनों दो न होकर वस्तुत. एक ही है ।)

कवियित्री ने प्रकृति और पुरुष का रहस्य-सम्बन्ध इस प्रकार से व्यक्त किया है । पुरुष माया शक्ति के बिना स्पष्ट या प्रत्यक्ष नहीं होता । मायोपाधि-विशिष्ट होने पर ही उसकी आकार-कल्पना या चित्र रूप होता है । यह सब रचना-प्रसार प्रकृति का ही है । उस प्रकृति के पसारे में पुरुष का चैतन्य रूप व्यक्त होता है । इसी प्रकार स्वर-कल्पना राग के स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं, वस्तुत. सरगम और राग एक ही वस्तु है, स्वरों के एक योजना-विशेष के अनुसार संगत होने पर, उनकी संज्ञा राग होती हैं । प्रकृति रचना-विधि है, जिस में पुरुष व्यक्त है । इसी प्रकार प्रियतम (अलौकिक) असीम है और प्रकृति सोपाधिक और अतएव ससीम है, जो भ्रम रूप है । काया और छाया में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं । उनको दो समझने का कोई अर्थ नहीं निकलता । कवयित्री कहती है अपने प्रियतम से कि "तेरा और मेरा काया छाया जैसा भेद या अभेद होने से, तू प्रियतम और मैं प्रेयसी, यह अभिनय किसी अर्थ का नहीं ।" जब दोनों में तात्विक अन्तर ही नहीं तो कौन प्रियतम, कौन प्रेयसी ?

श्रीमती महा देवी के रहस्य-वाद का यह पद्य उत्कृष्ट उदाहरण है । अपने आध्यात्मिक प्रियतम से अभेदान्वय बताया गया है ।

(छ) तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त, वेदना का यह कैसा वेग ?
आह तुम कितने अधिक हताश, बताओ यह कैसा उद्वेग !
हृदय में क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवन की निश्शेष ?

सन्दर्भ—कामायनी के श्रद्धासर्ग का पद्य है। मनु श्रद्धा से मिलते हैं। श्रद्धा का परिचय पूछते हैं। वह बताती है और फिर मनु से उनका परिचय पूछती है। इस पद्य में वह मनु की व्याकुल दशा का कारण पूछती है।

व्याख्या—हे तपस्वी! इतने क्लान्त (थका हुआ, व्याकुल) क्यों हो? पीडा का यह प्रवाह कैसा है? (मनु भूत की चिन्ता से और एकाकीपन से विषण्ण थे।) आह! तुम कितने निराश प्रतीत होते हो? बताओ यह अशान्ति (आकुलता) कैसी। हे अधीर! (मनु धैर्य खोकर व्याकुल हो रहे थे) क्या हृदय में जीवन की इच्छा पूर्ण नहीं है (जीना नहीं चाहते)?

श्रद्धा स्वाभाविक रूप से मनु की उमस, निराशा, उदासीनता और व्याकुलता का कारण पूछ रही है।

(ज) कैसी भूली सरस खनि सी प्रीति की गोपिकायें?
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप ग्वाले?
शान्ता धीरा मधुर-हृदया प्रेम रूपा रसज्ञा,
कैसे भूलीं प्रणय प्रतिमा राधिका मोहमग्ना?
कैसे वृन्दा विपिन बिसरा, क्यों लता वल्लि भूलीं?
कैसे जी से उतर ब्रज की कुंज-पुंजें गई हैं?

सन्दर्भ—प्रिय-प्रवास के दशम सर्ग का पद्य है। माँ उद्धव के आने पर उससे कृष्ण का कुशल समाचार बड़ी आतुरता से पूछ रही हैं उन्हें आश्चर्य है कि कृष्ण वृन्दावन और उसवालों को कैसे भूल गये।

व्याख्या—(कृष्ण को) प्रेम की रसमयी खानरूप गोपिकाएँ कैसे भूलीं? सुहृदपन (मित्रता) के सेतु (मर्यादा, सीमा) के समान गोप ग्वाले कैसे भूले? (और फिर) शान्त, धीर, मधुर हृदय वाली, प्रेम रूपिणी, प्रेम में (मोह में) डूबी हुई, प्रेम की मूर्ति और रस का मर्म समझने वाली राधा ही (उन्हें) कैसे भूली?

वृन्दावन कैसे भूला? लता वेलियां क्यों भूल गईं? ब्रज के कुञ्जों के समूह (पुंज) जी से कैसे उतर गये? कैसे (उन्हें) फूले हुए और घने फलों के भार से झुके हुए (नम्र) वृक्ष भूले? (और फिर) वह यमुना के तीर वाला विकसित वृक्ष ही कैसे भूला? (कृष्ण की अधिकांश लीलाएं इसी पे

के नीचे होती थीं। यह उनका प्रिय वृक्ष था। अतएव कवि ने उसका नाम नहीं लिया। अपितु उसका 'सो' (वह) पद से व्यंजन किया है कि वह पूर्वानुभूत प्रसिद्ध वृक्ष।)

मातृ-हृदय की स्वाभाविक शिकायत का कवि ने बहुत सुन्दर स्वाभाविक वर्णन किया है। यशोदा इस समय वास्तव में सारे ब्रज के प्रतिनिधि की हैसियत से बोल रही है। अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक विशेष हैं। अनुप्रास भी प्रिय प्रवास की रचना की विशेषता है, जो इसमें है। राधा को 'प्रेम रूपा' बताकर फिर 'प्रणय प्रतिमा' कहना द्विरुक्ति है।

२. "प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है," इस कथन की आलोचना कीजिये। पलायनवाद किसे कहते हैं? श्री महादेवी वर्मा और स्वर्गीय श्री प्रसाद जी को आप 'पलायनवादी' कहेंगे या प्रगतिशील या दोनों में से कुछ भी नहीं? सकारण उत्तर दीजिये।

उत्तर—प्रगतिवाद के विषय में उपर्युक्त उक्ति अधिकांश में ठीक है। साहित्य में प्रगतिवादी काव्य के मार्क्स सिद्धान्त ही आधार हैं। विषय भी वे ही है। दृष्टिकोण भी वही है। शैली भी वैसी ही है। एक सच्चे मार्क्सवादी के समान प्रगतिवादी कवि संसार की विषमताओं से पूर्ण असन्तुष्ट है। गरीब, मजदूर, किसान, अन्यायग्रस्त के साथ सहानुभूति दिखाकर, समाजवाद या साम्यवाद में उस विपत्ति का हल बताया करता है। धनपति अथवा पूंजीपति का कवि वैसा ही शत्रु है, जैसा कि मार्क्सवादी। प्रगतिवादी कवि वर्तमान रूढ़ि-मूलक अन्याय और विषमतापूर्ण समस्त प्राचीन व्यवस्थाओं को घातक समझता है और उनमे परिवर्तन का भी कोई अवकाश नहीं देखता। अत. उन्हे जड मूल से उखाडकर ही नवीन साम्यवादी व्यवस्था प्रतिष्ठित करना चाहता है, जहा सब समान होगे, व्यक्ति व्यक्ति की आवश्यकताओं मे भेद न होगा, अन्याय नहीं होगा, अत्याचार नहीं होगा, सब पूर्ण स्वतन्त्र होगे। संसार को वर्गों में बांट कर, सामूहिक संघर्ष क्रान्ति द्वारा प्राचीन व्यवस्था को उखाड फेंकना ही इनका लक्ष्य है। पूंजीपति, पुलिस, फौज, आदि इनके आक्रमण के विषय बनते हैं। प्रगति ही जीवन है सृष्टि का। ठहर जाने पर सडांद पैदा हो जायगी। अतः समाज

को सदैव प्रगति-पथ पर चलना चाहिये। रूढ़ि, अन्ध विश्वास के बल पर किसी बात को न मानकर, स्थूल वैज्ञानिक भौतिक माप-दण्ड से नापकर मानते हैं। मानव मात्रमें वैज्ञानिक अथवा भौतिकउपयुक्तता देखते हैं। उपयोगितावाद सब वस्तुओं के निर्णय में आधार बनता है। उपयोगिता के अनुसार ही वस्तु को उसका स्थान दिया जाता है। प्रगतिवादी कवि का आधार भी यही दृष्टिकोण है। कला के क्षेत्र में भी उसका यही दृष्टिकोण काम करता है। व्यर्थ की बाह्य भूषा के फेर मे वह नहीं पड़ता। सीधी, सरल, वास्तविक शैली में बात करने का वह अभ्यासी है। भाषा भी उसकी ऐसी ही सादी, प्रायः निरलंकार, मार्क्सवाद के पारिभाषिक शब्दों और उन्हीं की सी भाव-प्रकाशन-विधियों से जटिल होती हैं। उसके बाह्य सौन्दर्य की ओर कवि ध्यान नहीं देता। कविता के क्षेत्र में भी वह कला की उन्हीं बातों के ग्रहण को तैयार हैं, जो उसकी बात को प्रभाव पूर्वक बताने में परम सहायक हैं। प्रगतिवादी कवि साहित्य का कर्तव्य समझता है कि वह इस नूतन क्रान्ति के शीघ्रातिशीघ्र उपस्थित करने में, पूरा साथ दे। धर्म प्राचीन संस्कृति आदि को कुछ महत्व नहीं दिया जाता इस सिद्धान्त में। शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण के निर्देशन में, नवीन युग-परिवर्तिनी क्रान्ति को परम सहयोग देना साहित्यिक कर्तव्य है। विश्व के समस्त श्रमिकवर्ग एक हैं, इस हिंसापूर्ण क्रान्ति द्वारा, अन्याय अत्याचार से सब की मुक्ति का प्रयत्न प्रथम लक्ष्य है। ऐसे ही मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आधार लेकर प्रगतिवादी साहित्य चला है और खड़ा है। अतएव प्रायः संघर्ष, विद्रोह, हिंसा, रक्तपात आदि के गीत गाता है। व्यापार, मशीन और आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का प्रबल समर्थक है। क्रान्ति के लिए समस्त त्रस्त मानव वर्ग का आह्वान करता है। उपर्युक्त दृष्टि से प्रगतिवाद पूर्णतया मार्क्सवाद के पद-चिन्हों पर चलता है। तो, उसे मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण कहा जा सकता है।

किन्तु एक अन्य भी प्रगतिवादी साहित्य है, जो भारतीय मार्क्स—गांधी—के पद-चिन्हों पर चलकर विश्व का मंगल देखता है। समता आदि के मार्क्सवादी सिद्धान्तो और अन्य ऐसी ही बातों का ग्रहण करके भी गांधीवाद अपने रूप में मौलिक रूप से भारतीय है। उनकी एकता का आधार

आध्यात्मिक है। वह प्राणीमात्र में भेद नहीं देखता। हिंसा में विश्वास नहीं करता। परिश्रम में वह भी विश्वास करता है। मशीन और वैज्ञानिक साधनों का वहीं तक पक्षपाती है, जहाँ तक मनुष्य जड़ न बन जाय। वर्तमान व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा समाप्त कर, वह नवीन सर्वोदय समाज की कल्पना करता है, जहाँ सब समान होंगे, कोई विशेषता नहीं होगी। किन्तु यह क्रान्ति प्रेम और शान्ति पूर्ण बलिदानों से होगी, हिंसा से नहीं। वह संहार नहीं, परिवर्तन चाहता है। जो कवि इस सिद्धान्त को लेकर चलते हैं—जैसे कि निराला—वे वस्तुतः गांधीवाद का साहित्यिक संस्करण उपस्थित करते हैं। उन्हें मार्क्सवादी संस्करण नहीं कहा जा सकता।

पलायनवाद वह है, जिसमें कवि भौतिक जीवन की वास्तविक कठोरताओं से कायरता-वश भागकर, कल्पना-लोक में विचरण करता है, जिसका इस वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आधुनिक पाश्चात्य साहित्यों के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में भी इस समय से अनेक वादों का जन्म हुआ है। छायावादी काव्य शैली के अन्तर्गत या उसके तत्वावधान में इस प्रकार की कई काव्य-प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, जो पलायन वाद के अन्तर्गत आ सकती हैं। एक प्रवृत्ति यह थी कि कवि जीवन की वास्तविकता से दूर, इस जग के पार, अनन्त में, अपनी कुटिया बनाता था, अपनी प्रेम-लीला का क्षेत्र बनाता था। वहाँ न जागतिक द्वन्द्व हैं, न दुःख, न क्लेश और न अभाव की यातनाएँ। इस साहित्य का विषय जीवन के तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। कोरी व्यक्तिगत कल्पना का ही खेल होता था। ऐसे साहित्य को पलायनवादी बड़े औचित्यपूर्वक कहा जा सकता है।

किन्तु प्रसाद या महादेवी के काव्यों को पलायनवादी कहना भूल है। यद्यपि इन दोनों में भी कल्पना ही प्रधान है, कल्पना के ही बहुरंगी चित्र दोनों के काव्यों में वर्णित हुए हैं, किन्तु तो भी उनके साहित्य में जीवन के रहस्यमय चिरन्तन सत्य प्रतिबिम्बित हैं। जीवन के स्थूल सत्यों का वर्णन यद्यपि उन्होंने नहीं किया है, बाह्य रूप से भी उनके साहित्य निष्क्रिय से प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्होंने जीवन के सूक्ष्म सत्यों का प्रकाशन किया है। इस स्थूल जीवन के मूल में जो चिरन्तन सूक्ष्म सत्य निहित है, उन्होंने उसका उद्घाटन किया है। आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धिनी गहन

मार्मिक एवं सत्य अनुभूतियों का चित्रण दोनों के काव्य में मिलता है। यह ठीक है कि उन का साहित्य वहिर्मुख न हो कर अन्तर्मुख है, उस में चिन्तन और अनुभूति की प्रधानता है। किन्तु उनकी यह अन्तर्मुखता निष्क्रिय नहीं है। मनुष्य जीवन का रूप केवल वाह्य स्थूल क्रिया-रूप ही नहीं है, उसका आन्तरिक भावमय सूक्ष्म रूप भी है। वस्तुतः तो वाह्य जीवन का मूल कारण वह आन्तरिक जीवन ही है। क्रिया भावना का ही प्रत्यक्ष रूप है। महादेवी और प्रसाद के साहित्य में मानव के इस आन्तर् भाव-जगत् का ही चित्रण है। महादेवी के साहित्य में प्रेम के साथ वेदना भी प्रधान है। किन्तु उस वेदना में निराशा नहीं है, उल्लास है। कवयित्री के स्वयं के कथनानुसार, वेदना जीवन का वास्तविक सत्य है, उसका सहारा लेकर सुलझाने में विश्व की भयकर समस्याएं सुलझ सकती हैं। उस असीम अलौकिक सत्ता को विश्व के अणु अणु में देखकर, उसकी चैतन्य सत्ता की सर्वत्र अनुभूति करना भी जीवन का ऐसा ही आधार भूत सत्य है। प्रसाद की कामायनी में आज के वास्तविक युग का चित्र न होकर यद्यपि कल्पना-चित्र ही है, किन्तु उसमें मानव मन और सृष्टि के गभीर निगूढ़ रहस्यों की स्पष्ट और साकार अभिव्यंजना है, मानव मन की गहन सूक्ष्म भावनाओं का साकार चित्रण है। मानव मन की गहन अनुभूतियों के मूर्तीकरण के साथ साथ प्रसाद ने कामायनी में जीवन का बहुत बड़ा समन्वय उपस्थित किया है—इच्छा कर्म और ज्ञान का, जिस का परिणाम केवलानन्द है। ये जीवन के गहन निगूढ़तम सत्य हैं, जिनका चित्रण कवि ने अपनी कल्पना के आश्रय से किया है। यदि इन साहित्यों को पलायनवादी कहा जा सकता है तो वेद शास्त्र, उपनिषद् योग आदि समस्त पलायनवाद के अन्तर्गत आएंगे। क्योंकि इस स्थूल जीवन की स्थूल व्यावहारिकता की ओर से मुंह मोडकर ही वे लोग सूक्ष्म तत्व चिन्तन की ओर अग्रसर हुए थे। वह भी पलायनवाद ही माना जाना चाहिये। जीवन के इन गहन सूक्ष्म तत्वों की अभिव्यंजनाओं के अतिरिक्त भी, जहां इन दोनों कवियों ने, केवल सौन्दर्य की सात्विक प्रेरणा के नियोग पर, मधुर कल्पना द्वारा सौन्दर्य चित्र बनाये, वहां भी पलायनवाद का दोष नहीं लग सकता। कारण, वहां भौतिक जीवन से पृथक् होकर अवश्य कल्पना-चित्र बनाये गये हैं, पर वहां कायरता की वृत्ति

नहीं है, स्थूल जीवन की विषमताओं से घबराकर, वहां उस कल्पना-सौन्दर्य-लोकमें शरण नहीं ली गई है, अपितु बाह्य स्थूल जीवनमें संतृप्ति न प्राप्त कर, कल्पना जगत् में उसकी प्राप्ति का प्रयत्न किया गया है। यदि यह पलायन वाद है, तो मज़दूर सारा दिन काम करके, जीवन की कठोरताओं से छुट्टी पाकर, जब राग अलापता हुआ घर को जाता है, वह भी पलायनवाद ही हुआ। किन्तु क्या वस्तुतः वह पलायनवाद है? मनुष्य जब थककर किसी कल्पना के चित्र को गाकर कुछ देर तक अपनी कठोर जागतिक विषमताओं को पीछे छोड़ जाना चाहता है, तो क्या वह डर कर या घबरा कर? यदि यह पलायनवाद है ही, तो इसकी नितान्त आवश्यकता है, मनुष्य के लिए, अपने मानसिक भाव-जगत् को स्वस्थ रखने के लिए। अनादि काल से मनुष्य इस प्रकार के मधुर कल्पनामय पलायनवादों में, अपनी थकी मांदी आत्मा के लिए, वास्तविक संतृप्ति को प्राप्त करता आया है और करता रहेगा। कर्मठ से कर्मठ व्यक्ति भी किसी न किसी समय इस प्रकार के रोमाण्टिक पलायनवाद में आत्मा की शान्ति खोजता आया है। यह दैन्य-पलायन नहीं है, अपितु आनन्द की खोज में आत्मा की ऊर्ध्व गति है।

उपर्युक्त विवरण से कारण स्पष्ट हो जाते हैं, जिनसे कि महादेवी और प्रसाद जी के साहित्यों को पलायन वादी नहीं कहा जा सकता।

हाँ इन दोनों साहित्यों को प्रगतिशील अवश्य कहा जा सकता है। कारण, अपने समसामयिक काव्य-साहित्य की अपेक्षा इन दोनों कवियों के साहित्य अत्यन्त प्रगतिशील हैं। भाव, भाषा, कल्पना, कला, अनुभूति और संगीत इत्यादि सभी की दृष्टि से, इन दोनों के साहित्य अपने काल—द्विवेदी काल—के साहित्यों से बहुत प्रगतिशील हैं। द्विवेदी काल में काव्य-सरणि का जो रूप बन चुका था, उसमें कवित्व सौन्दर्य नहीं था। लोग कोरी तुकबंदी कहने लगे थे उसे। उसमें न भाव-बहुलता थी, न अनुभूति की उचित मात्रा थी, केवल विचार-प्रधान शुष्कता थी। रीति काल के अत्यधिक श्रृङ्गार वर्णन के कारण, प्रतिक्रिया-स्वरूप, इस समय काव्य में शृंगार के प्रति अरुचि हो गई थी। रीति-कालीन साहित्य के कल्पनाधिक्य के प्रतिक्रिया स्वरूप, इसी प्रकार, इस समय काव्य में कल्पना की मात्रा भी बहुत कम हो गई थी। ऐसे ही रीति-कालीन अलंकार-प्राचुर्य की

प्रतिक्रिया के रूप में इसकालमें अलंकारों के प्रति भी विरक्ति हो गई थी। शैली भी सीधी सरल, वाच्यरूप, वर्णनात्मक ढंग की, नीरस सी रह गई थी, इसमें लक्षणा-व्यञ्जनात्मकता का अभाव था। भाषा खड़ी बोली अपरिष्कृत थी, शुष्क थी, असमर्थ सी थी, उच्च भावों के आविष्करण के अयोग्य थी, कठोर थी. मृदुता और शब्द संगीत नहीं थे। इन्हीं कारणों से इस समय के काव्य में रमणीयता और सौन्दर्य नहीं रह गये थे और कोरी तुकबन्दी सी रह गई थी। महादेवी और प्रसाद के साहित्य इस उपर्युक्त साहित्य की अपेक्षा सभी दृष्टियों से प्रगतिशील हैं। इन दोनों ही कवियों के साहित्य में, भाव एवं अनुभूति प्रधान है, सूक्ष्म शृंगार और सौन्दर्य का विशेष चित्रण है, कल्पना की शक्ति अपरिसीम है, काव्य शोभा-कर धर्म अलंकार आदि का प्राचुर्य है, शैली रोचक और चित्रमय है, लक्षणाव्यञ्जनात्मकता की मात्रा बहुत अधिक है, भाषा अत्यन्त परिष्कृत, मृदु, संगीत और प्रवाह पूर्ण, समर्थ, कोमलकान्त और अभिव्यंजनाशील है, जिसमें उच्च से उच्च भाव-काव्य लिखे जा सकते हैं। इन सभी उपादानों ने मिलकर प्रसाद और महादेवी के साहित्यों को अनुपम सुन्दर और कवित्व सम्पन्न बना दिया। ये साहित्य अपने नवीन युग के पूर्ण प्रतिनिधि हैं और अपने समय के साहित्यों की अपेक्षा काव्य कला अथवा काव्य के समस्त सुन्दर उपादानों की दृष्टि से, वास्तविक रूप से प्रगतिशील है, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

३. "काव्य तथा गद्य में विरोध नहीं है, विरोध है काव्य तथा पद्य में"—इस कथन की समीक्षा कीजिये और इसे दृष्टि में रखकर, पन्त जी के ऐतिहासिक भौतिकवाद प्रभावित काव्य की समालोचना कीजिये।

उत्तर—प्रश्नगत उक्ति कुछ संदिग्धार्थक सी है। कारण, काव्य का विरोध न तो गद्य से है और न पद्य से है, यदि है तो केवल कवि की अपनी ही अल्पज्ञता या अशक्ति से है। कवि यदि अशक्त होगा तो चाहे वह गद्य शैली रखे अथवा पद्य शैली, वहां काव्य के लिए विकास का अवकाश नहीं है। किंतु सशक्त है, तो उसके कवित्व का गद्य या पद्य कोई भी वाहन या परिधान हो सकता है। अतः दोनों से काव्य का कोई वास्तविक विरोधाविरोध नहीं है। किन्तु एक अन्य दृष्टि से है भी।

गद्य के लक्षण में ऐसा कोई विशेष नियम नहीं कि वह निष्काव्य हो

सभी गद्य कहलायेगी अथवा काव्य लक्षण में ही ऐसा कोई नियम नहीं जिससे आवश्यक हो कि काव्य गद्य-बद्ध नहीं होना चाहिये। अनादि काल से काव्य गद्य में भी बनता चला आया है। कादम्बरी के जोड़ का गद्य-काव्य विश्व में भी अप्राप्य है। निराला के गद्य गीत क्या काव्य नहीं हैं? उत्तम कोटि के काव्य हैं—

दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी धीरे धीरे.
तिमिराचल में चचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर हैं उसके दोनों अधर
किन्तु गभीर—नहीं है उनमें हास विलास। 'परिमल'

और एक—

विजन वन वल्लरी पर, सोती थी सुहाग भरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल कोमल तनु तरुणी—जुही की कली, दृग बन्ध किये शिथिल, पत्रांक में-
बासन्ती निशा थी, विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन, जिसे कहते हैं मलयानिल।

इनमें क्या काव्यत्व की हानि है? और क्या काव्य हो जाने से ही इनमें गद्यत्व नहीं है? इस प्रकार निश्चित है कि गद्य और काव्य में विरोध नहीं है। किन्तु पद्य और काव्य में है पारिभाषिक अर्थ में। कोरे पद्य का अर्थ छन्दोबद्ध सूक्ति ही लिया जाता है अर्थात् ऐसी रचना, जिसमें छन्दोबद्ध विचार ही व्यक्त किए गये हों, पद्य की कोटि में आती है। जो रचना ऐसी हो, जिस में छन्दोबद्ध हार्दिक भावों का वर्णन हो, वह केवल पद्य नहीं कहलायेगी, या तो वह पद्य काव्य कहलायेगी या केवल काव्य ही। कोरा पद्य काव्य नहीं कहला सकता, यदि उसमें भावरिंगण—भाव तरंग—नहीं है। इस दृष्टि से पद्य और काव्य में विरोध है। दोनों के क्षेत्र पृथक् हैं। छन्दोबद्ध काव्य को केवल पद्य नाम देना भी गलत है और छन्दोबद्ध कोरे विचारों को—पद्य को—काव्य कहना भी, इसी प्रकार, गलत है। इस दृष्टि से, धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद शास्त्रों के छन्दोबद्ध वर्णन कोरे पद्य ही कहलायेंगे, काव्य नहीं। इसी प्रकार खुसरो की पहेलियां, रहीम के नीति के दोहे आदि पद्य ही कहलायेंगे, काव्य नहीं। इस दृष्टि से प्रश्नगत उक्ति की चरितार्थता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार से विचार करने पर, पन्त की उत्तरकालीन अधिकांश रचनाएँ पद्य की कोटि में ही आयेंगी, काव्य की कोटि में नहीं। युगान्त के बाद की रचनाएँ—युगवाणी, ग्राम्या आदि—अधिकांश में काव्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक हैं। कारण, इन रचनाओं में कवि पर भौतिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव पड़ा है। स्थूल भौतिकवाद से प्रभावित होकर कवि ने इन रचनाओं में अपने युग की ऐतिहासिक बुद्धिवादी विचार धारा का ही स्पष्टीकरण किया है। युगानुरूप प्रगतिवादी विचारधारा का ग्रहण किया है। अपने पहिले कविता-काल में बनाए कल्पना-लोक से उतर कर कवि मानव-जीवन के वास्तविक धरातल से अपना सम्पर्क स्थापित करता है—

ताक रहे हो गगन ? मृत्यु-नीलिमा, गहन गहन ?
निस्पन्द शून्य, निर्जन निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को ! मानव पुण्य प्रसू को !

कविता का क्षेत्र केवल भावों का है, विचारों का नहीं, हृदय का है, बुद्धि का नहीं। काव्य का लक्षण रमणीय अर्थ को बताने वाला है और यह रमणीयता भावों में ही है, विचारों में नहीं। हां विचार भी जब अनुभूति के योग्य हो जाता है, तो उसकी भी भाव संज्ञा हो जाती है, किन्तु इतने वह भाव नहीं बनता, इतने वह रमणीय नहीं बन सकता और नाहीं काव्य में उसका वह स्थान हो सकता है। पन्त का उत्तरकाल में, भावों की क्रीडा की सामूहिक जीवन का हित करने की शक्ति से विश्वास नहीं रहा—

किये प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन-हित,

और—

वस्तु विभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलम्बित।

अतएव उनके पश्चात् काल के, ऐतिहासिक वैज्ञानिक विचार धारा से प्रभावित साहित्य में, उन्होंने विचारों का ही प्राधान्य आने दिया। उसमे सुखद कोमल भावना की सुकुमारता और कल्पना की सुन्दरता एवं मोहक-ता के स्थान में विचारों की शुष्कता और चिन्ता की गम्भीरता आ गई हैं। कल्पना का स्थान सीधे सरल वाच्य रूप में वर्णन करने की शैली ने ले लिया है। काव्य के मूल भाव-तत्व के ह्रास होनेके साथ साथ, पन्त की उत्तर-

कालीन रचनाओं में काव्य के बाह्य सौन्दर्य-विधान में भी कमी आ गई। उसमें कल्पना की वह सजीवता नहीं रही, उसके स्थान में वाच्य रूप में यथार्थ वर्णन रह गया। कवि का बात कहने के ढङ्ग या शैली की ओर ध्यान नहीं रहा, केवल अपनी बात की ओर रह गया। प्रथम कविता-युग की लक्षणा-व्यंजनात्मक संकेत-चित्रमय शैली को छोड़ कर कवि ने सीधी सरल वाच्य शैली का ही अधिकतया आश्रय लिया है। इन रचनाओं में आलंकारिक चमत्कार भी अपेक्षाकृत अत्यल्प है। न उनमें वह कोमल कान्त शब्दावली है, न वह शब्द संगीत ही है, जो प्रथम भाव-संगीत में मिल कर पन्त की रचनाओं को अत्यन्त मोहक बना देता था। पन्त ने इस पथ में उपयोगिता-वाद का आचरण किया है। काव्य के उन समस्त सौन्दर्य-साधनों का त्याग कर दिया, जो केवल सौन्दर्याधायक ही थे और अतएव भाव-प्रकाशन में विशेष उपयोगी नहीं थे। उन्होंने विचार-प्रकाशन के उपयोगी अंगों को ही सर्वत्र बड़ी कंजूसी से प्रयुक्त किया है। इस प्रकार, संक्षेप में, पन्त की उत्तर-कालीन कविताओं में उन समस्त काव्य गुणों—सुकुमार भाषा और भावना, कोमल कल्पना, शब्द और भाव का संगीत, सौन्दर्य चित्रण की लक्षणा-व्यञ्जनात्मक चित्रमय शैली, गहन वास्तविक अनुभूति आदि—का प्रायः अभाव है, जिनके कारण कि पन्त का प्रथम-युगीन काव्य प्रसिद्ध है। यह तथ्य उनकी पूर्वोत्तर दोनों कालों की रचनाओं के मिलान से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। देखिये पन्त की, उनकी कविता के सौन्दर्य-युग की एक दो रचनाएं—

त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं, प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को!
तेरे उज्वल आंसू सुमनों में, सदावास करेंगे भग्न हृदय! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी, करुणा उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा—आँसू की बालिका से।

× × × ×

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को मन को खींच उचित बन जाता था उपमान।......
'रंगीले गीले फूलों से अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से खेलती थी तरंग सी नित
इसी में था असीम अवसित।' मैं मन्दहास सा उसके

मृदु अधरों पर मंडराया औ, उसकी सुखद सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया।—उच्छ्वास की बालिका से।

× × × ×

वियोगी होगा पहिला कवि आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

पन्त के इस सौन्दर्य—युग की कविताएं भी, इसी प्रकार, उनके भाव-समुद्र हृदय से उमड़ कर बही हैं। इन कवितास्रों में पन्त-काव्य के समस्त काव्य-सौन्दर्य का वैभव व्याप्त है। इनकी तुलना में अब उनकी उत्तरकालीन बुद्धिवादी रचनाएं देखिये, कितनी नीरस या शुष्क हैं। मानव को सम्बोधित करके कहते हैं—

हा मानव !
देह तुम्हारे ही है रे शव ! तन की चिन्ता में घुल निशिदिन
देह मात्र रह गए—दवातिन !
प्राणि प्रवर
हो गये निछावर अचिर धूलि पर !
निद्रा भय मैथुनाहार—ये पशु लिप्साएं चार—
हुईं तुम्हें सर्वस्व सार ? धिक् मैथुन आहार यंत्र।—चींटी।

× × × ×

पूर्ण पुरुष विकसित मानव तुम जीवन सिद्ध अहिंसक।
मुक्त हुए तुम मुक्त हुए जन हे जग वंद्य महात्मन् !
देख रहे मानव-भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक,
धन्य तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन।—महात्मा जी के प्रति। ग्रामचित्र देखिये—

गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में
यह रवि शशि-कालोक ! जहाँ हंसते समूह में उडगण.......
.........प्रकृति धाम यह, तृण तृण कण कण जहां प्रफुल्लित जीवित,
यहां अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण जीवन्मृत !—ग्राम चित्र।

× × × ×

भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित।
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित।

× × × ×

तुम रूप कर्म से मुक्त शब्द के पंख मार। कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !—वाणी।

× × × ×

गत सगुण आज लय होने को थो, नव प्रभात
नव स्थितियों के सर्जन में हो भय सर्गः उदय,
गत रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय !

× × × ×

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों में स्वयं प्रवर्तित ।
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित ।

× × × ×

हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर ।

इन उपर्युक्त उद्धरणों में और चाहे जो हो, काव्यत्व सघनता नहीं है। कवित्व और उसके सौन्दर्य का दृष्टिकोण इनमें नहीं है। अनेक आलोचकों ने, उनके उत्तर-कालीन काव्य के विषय में, इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। पन्त स्वयं भी इस बात को जानते हैं; "मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव है।" उन्होंने अपना उत्तर भी दिया है कि आज के विचार-प्रधान बुद्धिवादी युग में, काव्य में भी विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिए। आगे के युग में संभवतः ये ही विचार परिपक्व होकर भावना का रूप ले सकते हैं। किन्तु आज के साहित्यिक दृष्टिकोण से तो, ये उत्तरकालीन और भौतिक बुद्धिवादी विचार धारा से प्रभावित रचनाएं, काव्यत्व से बहुत कुछ शून्य प्रतीत होती हैं और काव्य की अपेक्षा पद्य की कोटि में ही अधिक औचित्य से परिगणित हो सकती हैं। काव्यत्व की अपेक्षा इनमें पद्यत्व ही अधिक है। (पन्त के प्रगतिवादी काव्य की अकलात्मकता के विशेष ज्ञान के लिए देखिये सा० र० प्रश्न पत्र ३ संवत २००६ प्रश्न १ तथा प्रश्नपत्र ३ संवत २००४ प्रश्न ८)

५. "प्रिय प्रवास में सूर का माधुर्य भाव है, कामायनी में तुलसी का लोक संग्रह।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? संक्षिप्त विवेचना द्वारा इस विषय को समझाइये।

उत्तर:—प्रसिद्ध समालोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के इस प्रश्न-गत कथन से सहमत होने से काम चलता है। कारण, प्रिय प्रवास और कामायनी के विषय में उपर्युक्त उक्ति सत्यार्थ होती है। प्रियप्रवास उपाध्याय जी का महाकाव्य की शैली में लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है। उसका विषय भी प्राचीन ही सूरवाला—कृष्ण चरित—ही है। कृष्ण की ही लीला प्रिय प्रवास

में भी कुछ आधुनिक ढाँचे में गाई गई है। किन्तु उपाध्याय जी का दृष्टिकोण कृष्ण के विषय में कुछ भिन्न है। वह एकान्त भक्ति-भाव का नहीं है। उसमें लोक-संग्रह की भावना है, अपने युग का प्रतिबिम्ब भी रखने का प्रयास कवि ने किया है। उपाध्याय जी के कृष्ण पूर्णतया सूरवाले कृष्ण नहीं —अलौकिक शक्ति सम्पन्न दिव्य अवतारी नारायण। प्रिय प्रवास के कृष्ण एक महापुरुष, संसार के नेता हैं, आततायियों का हनन और साधु पुरुषों की रक्षा और सेवा करना उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। वे कर्मठ और सच्चे स्वार्थ-त्यागी कर्तव्य-परायण हैं। युग के पथप्रदर्शक एक महान् नेता हैं, जिनकी शक्ति अलौकिकता की चोटि तक पहुँच जाती है। कवि ने उनके अमानुषिक या अतिमानुषिक कृत्यों को भी लौकिक तर्क-सम्मत रूप देने की चेष्टा की है। और भी अनेक ऐसे ऐसे लौकिकता के छोटे स्पर्शों से, कवि ने कृष्ण को जाति के नायक लौकिक महापुरुष का रूप देने की चेष्टा की है। भाव यह है कि कवि ने कृष्ण को आधुनिकता के अनुकूल, वास्तविक लौकिक रूप देकर, उनके समस्त चित्र को ही चित्रित करने का ध्येय सामने रखकर, इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। अपनी भूमिका में उन्होंने स्वयं ऐसा अपना उद्देश्य स्पष्ट किया है। किन्तु ऐसा करके भी वे अपने इस उद्देश्य में पूर्ण सफल नहीं रहे हैं। कृष्ण का सर्वाङ्ग पूर्ण चित्रण करने का ध्येय रख कर भी उपाध्याय जी कृष्ण के मधुर रूप के रस में रम कर, उनके गम्भीर रूप को विस्तृत-सा कर गये हैं। प्रिय-प्रवास के सात सर्गों तक कथा-प्रवाह चलता है, जिनमें कृष्ण की बाल-क्रीडाओं का, नाग-नाथन, दावानल पान, गोवर्द्धन-धारण आदि का संक्षिप्त रूप से वर्णन है। इसके बाद के १० सर्गों में कृष्ण विरह का वर्णन है, उनके मथुरा चले जाने पर। बीच बीच में कृष्ण के यौवन-कालीन अन्य कृत्यों का भी कवि स्मरण करता है, किन्तु कम और वह भी अक्रमिक। इस प्रकार, प्रिय प्रवास में कृष्ण के समस्त चित्रण का ध्येय रहते हुए भी, उसके आधे से अधिक में, विरह वर्णन हुआ है और शेष में भी बाल-वर्णन ने अधिक स्थान लिया है। इससे सिद्ध है कि प्रिय प्रवास के कवि के भी सूर के समान ही वात्सल्य और शृङ्गार ही प्रधान वर्ण्य रस रहे हैं। उपाध्याय जी ने भी कृष्ण के मधुर—बाल और युवा—रूपों को

ही प्रधानता दी है अपने वर्णन में, यद्यपि उनका उद्देश्य कृष्ण का सम्पूर्ण चित्रण करते हुए, उसमें आविर्भूत अन्य वीर आदि रसों का भी वर्णन करने का था। प्रिय-प्रवास नाम से भी कृष्ण के प्रवास जन्य विरह के वर्णन की ध्वनि ही निकलती है। कवि ने विरह वर्णन की ही प्रधानता भी रखी है। अन्य रसों—वीर, रौद्र, शान्त आदि-का वर्णन भी कवि ने यथास्थान अवश्य किया है, अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाहार्थ, किन्तु वह मधुर—वात्सल्य और शृंगार—की तुलना में अपकृष्ट है। इतना तो सूर में भी मिल जाता है। यह बात अन्य है कि इस माधुर्य वर्णन में हरिऔध जी सूर को पहुँचे हैं या नहीं, किन्तु उपर्युक्त से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि सूर के समान ही हरिऔध जी का भी वर्णन अधिकांश में मधुर है। देखिये कृष्ण के बाल रूप का वर्णन—

विलसता कटि में पट पीत था रुचिर वस्त्र विभूषित गात था।
लस रही उर में बन माल थी कल दुकूल अलंकृत कन्ध था।
विशद उज्ज्वल उन्नत भाल में विलसती कल केसर खौरि थी।
असित पंकज के दल में यथा रज सुरंजित पीत सरोज की।

राधा को देखिये—

लाली थी करती सरोज पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल मुखारविन्द गरिमा सौन्दर्य आधार थी।
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिता॥

विरहिणी राधा की कोमल कल्पना देखिये। वायु को सन्देश देने को कहती है। वायु क्योंकि बोल नहीं सकती, अतः उसे पत्ता डालकर संकेत से दशा बताने को कहा जा रहा है—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को॥
यों देना ऐ पवन! बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो, हो, कमल-पग को चूमना चाहती है॥
पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा।

छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊंगी हृदय तल में मैं तुम्ही को लगा के॥

देखिये विरहिणी माँ की कोमल कल्पना—

प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का?
रो रो हो हो विकल अपने वार जो हैं बिताते
हा! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते?
मैं हाथों से कुटिल अलकें जाल की थी बनाती।
पुष्पों को थी श्रुति-युगल-कुण्डलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूली समाती॥

इन पद्यों में वही सूर का माधुर्य विद्यमान है। इसी तथ्य के आधार पर प्रस्तुत पंक्ति में कहा गया है कि प्रिय प्रवास में सूर का माधुर्य है।

कामायनी के विषय में भी उपर्युक्त उक्ति चरितार्थ है। कामायनी छायावादी शैली में लिखा गया, अपने ढंग का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक प्रबन्ध काव्य है। कवि ने इतिहास के इतने पुराने युग का प्रसंग उठाया है कि जिसकी कल्पना ही करना आज के युग में कठिन है। कवि ने मानव सृष्टि के आदि पुरुष मनु का प्रसंग उठाया है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में इधर उधर बिखरी मनु के जीवन की घटनाओं का जोड़ तोड़ मिलाकर कवि ने मनु का पूरा जीवन कामायनी में चित्रित किया है। इस काल का इतिहास कुछ नहीं, वर्णन अत्यल्प प्राप्य है। अतः निश्चय ही कामायनी में प्रायः सारी सृष्टि केवल कवि की कल्पना की ही है। मनु का अधिकांश कवि कल्पित है। श्रद्धा, इडा आदि का भी चित्रण अधिकांश में कवि-कल्पित है। कामायनी की कथा भी प्रकृति के नैसर्गिक प्राङ्गण में प्रवाहित होती है। एक से एक अच्छे प्राकृतिक दृश्यों में होकर कथा चलती है। यहाँ भी कवि की कल्पना की ही सृष्टि है समस्त। कामायनी के अन्य पात्र—चिंता, लज्जा, काम आदि—निराकार मानसिक वृत्तियाँ हैं। वे भी कवि की कल्पना का जीवनदायी संस्पर्श पाकर ही सजीव और साकार बनी हैं।

इस प्रकार कामायनी में प्रारम्भ से अन्त तक केवल कल्पना की सृष्टि है जैसाकि छायावादी शैली में होता है। कामायनी में कल्पना का ही एकच्छत्र राज्य है। किन्तु यह सब होते हुए भी कामायनी मानव जीवन के मानसिक विकास का अत्यन्त सजीव मूर्त चित्रण है। भूतकाल के और आज के युगों की परिस्थितियों की समता के आधार पर, कवि ने अपने युग की परिस्थितियों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब कामायनी में देने की भी सफल चेष्टा की है। मनु में चिन्ता, आशा आदि वृत्तियों का क्रमिक प्राकृतिक विकास होता है और मनु का जीवन इनसे प्रभावित होता है। इन विविध मनोवृत्तियों का जैसा पूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन वर्णन आदि कवि ने किया है, वह इतना वास्तविक है, इतना प्राकृतिक है कि वह सदैव मानव मन के लिये सत्य बना रहेगा। इसके अति रक्त मनु मन के प्रतीक हैं। श्रद्धा भावुकता की वृत्ति है। इड़ा बुद्धि है और बुद्धिवाद का प्रतीक है। इन दोनों के प्रति आकृष्ट होकर मनु अपने जीवन के अनेक उतार चढ़ाव देखता है। प्रथम श्रद्धा की ओर आकृष्ट होता है। कुछ विरक्ति का कारण—पुत्र—उपस्थित होने पर इड़ा की ओर आकृष्ट होता है। वह उसे कर्म-प्रेरणा देती है, भौतिक दृष्टिकोण से उपयोगितावाद के आधार पर वस्तुओं का दर्शन कराती है। फलस्वरूप जब अत्यन्त संघर्ष ग्रस्त होकर आहत होते हैं तो मनु विरक्त मन इड़ा का साथ छोड़ निकलते हैं। फिर श्रद्धा का पल्ला पकड़ते हैं, जो उन्हें फिर मार्ग निर्देश करती हुई आनन्द-लोक तक पहुँचा देती है। मार्ग में इच्छा कर्म, ज्ञान आदि के त्रिकोण का रहस्य भी समझा देती है कि इन तीनों के एकत्र समन्वय में ही जीवन की पूर्णता है। कामायनी का यह आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूपक है। मनु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यह भी निर्विवाद है। प्राय: समस्त संस्कृतियों के साहित्य में उनका नामान्तरों और प्रकारान्तरों से वर्णन मिल जायगा। अत: यह कामायनी का ऐतिहासिक पक्ष है, जो उसका प्रकृत्त: मुख्य वर्ण्य विषय है। उसके निबन्ध से मानसिक वृत्तियों और आभ्यन्तरिक वृत्तियों का भी रूपक स्पष्ट अभिव्यंजित होता चलता है। इस दृष्टि से कामायनी मानव जीवन के सदैव निकट की वस्तु रहेगी—मानव जीवन की मानसिक आभ्यन्तर विकास-प्रक्रिया के एक साकार इतिहास के रूप में।

इसके अतिरिक्त कामायनी में आधुनिक काल का भी रूप प्रतिबिम्बित होता है। मानव आज बुद्धिवाद के ऐसे भयंकर चक्कर मे पडा है कि अपने महाविनाश के सम्मुख खडा है। केवल बुद्धि के संयोग से, उसने भी मनु की तरह, अपना कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और उलझा हुआ असंख्य-मुखी बना लिया है। भावुकता या श्रद्धा बहुत पीछे छूट गई है। बुद्धिवाद के अनुसार चल कर मानव ने इतनी उन्नति कर लेने के पश्चात् भी शान्ति प्राप्त नहीं की। वह अपने ही जालों में, जितना ही छूटना चाहता है, उतना ही फंसता है। कोई निस्तार नहीं दीखता बुद्धिवाद में। उसके निस्तार का सन्देश प्रसाद ने कामायनी में दिया है कि श्रद्धा और बुद्धि के संयोग में ही मनुष्य जीवन की पूर्णता है। मनु श्रद्धा के साथ लग कर वैदिक कर्म-काण्डों के चक्कर में पड़े, जो लोक-विमुखकारी और अधिकांश में विश्वासमूलक है, एक धार्मिक आस्था पर आश्रित है। आज के युग में वह अग्राह्य है। पश्चात् मनु इडा के सम्पर्क में लौकिकता का अत्यन्त विस्तार कर लेते हैं, जो अन्त में उन्हीं की जान का बवाल बनती है। कोरा यह दृष्टिकोण भी ग्राह्य नहीं, आज के युग में, उसका कवि ने मनु के आहत होने में भयङ्कर परिणाम दिखाया है। यहाँ तक कवि ने अपने युग की वस्तुस्थिति का प्रतिबिम्ब दिया है। इससे आगे मानव के लिए मार्ग दिखाया गया है। मनु का श्रद्धा और इड़ा दोनों से मिलाप होता है। वह प्रसन्न है। लोक जीवन इसी प्रकार पूर्ण और आनन्द का भाजन बन सकता है। इससे आगे आध्यात्मिक उड़ान है। केवल श्रद्धा का सहयोग लेकर मनु अक्षय आनन्द-लोक में पहुँचते हैं। मार्ग में इच्छा कर्म और ज्ञान का श्रद्धा से एकत्व करने का रहस्य भी युग के लिए एक स्पष्ट सन्देश है। आज का भौतिक युग भी, जिसमें कि योरुपीय बुद्धिवादी सभ्यता की ही प्रधानता है, इच्छा, कर्म और ज्ञान (विज्ञान) इन तीनों के चक्कर में बुरी तरह चिल्ला रहा है। इन तीनों में कोई उचित सामञ्जस्य-विधायक तत्व न होने पर वह बुरी तरह भटका हुआ है। वह यदि इन में श्रद्धा या मन की सात्विक भावुकता की एक रेखा द्वारा एकत्व संस्थापित कर ले, तो वह अक्षय आनन्द का अधिकारी बन सकता है। अपने युग की भ्रष्ट, पतनोन्मुख, अनैतिक बुद्धिवादी प्रवृत्तियों से त्रस्त मानव के लिए कामायनी में ये ही दो सन्देश दिये गए

है। इस दृष्टि से कामायनी छायावादी काव्य होते हुए भी इह-लोक में—जीवन में बाहर का चित्रण नहीं, उसमें लोक-मंगल और लोक-संग्रह की भावनाएँ आदि से अन्त तक ओत प्रोत हैं व्यंग्य रूप में। 'मानस' में महाकवि तुलसी ने जैसे अपने कालके त्रस्त भीत पतित गलित मानव समाज के लिए एक आदर्श रामचरित्र रख कर लोक-मङ्गल और लोक-संग्रह की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, वैसे ही कामायनी मे भी, अपने युग के लिए मनु का आदर्श चित्रण करके, व्यंग्य रूपमे, लोक संग्रह और लोक मङ्गल की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। कामायनी में युग और उसका सत्य प्रतिबिंबित है और उसके लिए मुक्ति के भी संकेत हैं।

अतः प्रश्नगत उक्ति से सहमत हो कर कामायनी में मानस की लोक-संग्रह की भावना माननी ही पड़ती है।

५. मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के लक्षण उदाहरण समेत लिखिये। उद्धव शतक किस प्रकार का काव्य है? इसमें किस विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है?

उत्तर.—मुक्तक ऐसे काव्य को कहते हैं, जो अपने मे पूर्ण है, जो अकेला ही एक पूर्ण भाव-चित्र या रस-चित्र अथवा किसी दृश्य अथवा सुन्दर व्यक्ति का रूप-चित्र उपस्थित करता है। उसको अन्य पद्यों की आवश्यकता नहीं होती अपने चित्र को पूर्ण करने के लिए। विभावानुभाव व्यभिचारी भाव आदि रस की समस्त कारण-सामग्री उस अकेले एक ही पद्य में निहित होती है और इस प्रकार उसमें एक पूर्ण चित्र होता है। इसी लिए इसको मुक्तक भी कहा जाता है कि यह ग्रन्थ में आये आगे पीछे के पद्यों से मुक्त—स्वतन्त्र—रहता है, प्रकरणादि के वश से किसी के साथ बद्ध नहीं होता।

इसके विपरीत प्रबन्ध काव्य वह होता है, जिस मे किसी कथा-वस्तु का वर्णन होता है। एक ही कथानक प्रारम्भ से चल कर, अन्त तक चलता है। इसके पद्य आपस में कथा-सूत्र से बद्ध होते हैं, जैसे धागे से माला में मनके। उसका कोई पद्य स्वतन्त्र नहीं होता मुक्तक के समान, प्रत्युत कथा में आबद्ध होता है। इस प्रकार अनेक पद्यों को एक कथा-सूत्र में बद्ध कर के बने, इस ग्रन्थ या प्रबन्ध को प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। मुक्तक-काव्य किसी कथा में आबद्ध न हो कर, अपना स्वतन्त्र चित्र उपस्थित करता है। यह

एव उसको (कथा बन्धन से) मुक्त या मुक्तक कहा जाता है और दूसरे को (कथाबद्ध होने के कारण) प्रबन्ध कहा जाता है।

मुक्तक काव्य ठेठ वीर-गाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक लिखा गया है। किसी भी काल में से उदाहरण लिये जा सकते हैं। बिहारी लाल ने बड़ी उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य लिखे हैं—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

शृङ्गार के आलम्बन आदि का पूर्ण चित्र एक दोहे में है। साकार चित्र उपस्थित हो जाता है। आलम्बन की आँखों का देखिये कितना रसमय चित्र उपस्थित किया गया है—

अमिय हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जिन चितवत इक बार॥

देखिये एक प्रकृति-चित्र—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ?
जगत तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

प्रबन्ध काव्य का उदाहरण सब से उत्कृष्ट राम-चरित मानस है। आधुनिक काल में प्रिय-प्रवास, साकेत आदि लिये जा सकते हैं।

उद्धव शतक में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों के गुण मिलते हैं। उस में प्रारम्भ से अन्त तक एक ही कथा चलती है। कृष्ण विरह-व्याकुल गोपियों के पास अपने सखा उद्धव को भेजते हैं। उद्धव ब्रज मे जाते हैं, वहाँ के लोगों—गोप गोपियों आदि—से वार्तालाप करते हैं। अन्त में उनको ज्ञान का उपदेश देते हैं। किन्तु अन्त में उनके प्रेम से प्रभावित हो स्वयं भी भक्त बन कर लौटते हैं। इस प्रकार उद्धव शतक मे यह सारी कथा वर्णित है। इसलिए उसमें प्रबन्धता आ जाती है। किन्तु साथ ही इसका प्रत्येक पद्य अपने में पूर्ण एक उत्तम मुक्तक काव्य का उदाहरण भी है। प्रत्येक पद्य एक स्वतन्त्र और पूर्वापर-निरपेक्ष पूर्ण चित्र चित्रित करता है। उसके चित्र के लिए, आगे पीछे के पद्यों से कुछ लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। देखिये एक दो चित्र, उद्धव को अपना सन्देश देते हुए गोपी-विरह में कृष्ण की क्या दशा होती है—

श्री रसाल जी ने एक विशेषण और जोड़ दिया है "चित्रोपम"। उनके मत से "तुलसीदास नामक यह चित्रोपम महाकाव्य है, जिसमें प्रबन्धात्मक मुक्तक का प्राधान्य है।" प्रबन्धात्मक मुक्तकता की बात सही होने पर भी चित्रोपम विशेषण व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि चित्रमयता तो मुक्तक की सर्वप्रमुख विशेषता है। विद्यापति, [illegible], कबीर, सूर तुलसी, बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, सेनापति भूषण, घनानन्द, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी आदि प्रमुख मुक्तककारों के मुक्तक चित्रमय हैं, उनमें भाव, रस, रूप, प्रकृति आदि में से किसी न किसी का चित्र निश्चित है यदि वह बनाया हुआ। अतः उसका पृथक् कथन व्यर्थ सा लगता है। वस्तुतः तो तुलसीदास नामक को प्रबन्ध काव्य का भेद खण्ड काव्य मानना चाहिए, जो मुक्तक काव्य की पद्धति में लिखा हुआ है। इस दृष्टि से इसे मुक्तक पद्धति में लिखा हुआ खण्ड प्रबन्ध-काव्य और या प्रबन्ध का भेद खण्ड-काव्य मानना चाहिये। ऐसे अधिक संगति प्रतीत होती है।

६. 'तुलसीदास' नामक काव्य में निराला जी ने तुलसीदास जी के व्यक्तित्व का विकास जिस प्रकार अंकित किया है, उसका वर्णन करिये और अपने कथन को पुष्ट करने के लिए, आवश्यक उद्धरण भी दीजिये। क्या उसमें रहस्यवाद की झलक भी है?

उत्तरः—'तुलसीदास' में श्री निराला ने तुलसीदास का चरित्र कोई नवीन नहीं लिखा है। तुलसीदास के प्राप्त जीवन चरितों में वर्णित घटनाओं को ही निराला जी ने लिया है। केवल उनमें से अपने मतलब की कुछ प्रमुख घटनाओं का अपने काव्य में चुनाव कर लिया है। उन्हीं कुछ घटनाओं-का क्रमबद्ध नियोग करके, श्री निरालाने तुलसीदास का आद्योपान्त जीवन चित्रित किया है। उनके स्थूल रूप में कोई अंतर नहीं डाला है। तुलसी उच्च-शिक्षित हैं, सद्वंश-जात ब्राह्मण हैं। चित्रकूट की यात्रा करते हैं। पत्नी के मोह में अत्यन्त आसक्त हैं। पत्नी से ही उन्हें अन्त में शिक्षा या चेतावनी मिलती है। इसके पश्चात् वे प्रसिद्ध भक्त, महात्मा, भारत के महान् कवि होते हैं। स्थूल घटनाएँ ज्यों की त्यों हैं। अन्तर केवल इतना है कि तुलसी के अन्य जीवन-चरित्रयताओं ने जहाँ उनके केवल स्थूल, भौतिक जीवन का ही वर्णन किया है, उनके जीवन की प्रमुख क्रांतिकारी घटनाओं के स्थूल

रूप का ही वर्णन करके सन्तोष कर लिया है, वहाँ निराला जी ने घटनाओं के साथ तुलसी दास जी की आत्मा और मन को भी साथ लिया है। मनुष्य की बाह्य स्थूल लौकिक क्रियाओं का कारण उसके अन्तर की सूक्ष्म भावनाएँ ही होती हैं। बाहर का यह समस्त मनुष्य-निर्मित जगत् मनुष्य की आन्तः सूक्ष्म भावनाओं की ही बाह्य साकार अभिव्यक्ति है। अतः बिना उस आन्तर जगत् के भी चित्रण किये, मनुष्य के केवल बाह्य जगत् का उतना पूर्ण चित्रण नहीं हो सकता। जब तक किसी के बाह्य और आभ्यन्तर चरित्रों का पारस्परिक-कार्य-कारण भाव से सामञ्जस्य न दिखाया जाय, तब तक वह चित्रण पूर्ण नहीं मानना चाहिये। निराला जी ने तुलसी-चरित्र में यही विशेषता रखी है। उनके बाह्य जीवन के चित्रण के साथ उन्होंने उनके आन्तर्जीवन का भी उतनी ही विशदता से चित्रण किया है। तुलसी के मानसिक और आध्यात्मिक विकास का भी 'तुलसी दास' में स्पष्ट चित्र है। तुलसी के जीवन के विविध उतार चढ़ावों, उनके मानसिक उतार चढ़ावों और आत्मा के भी ऊर्ध्व-अधः गमनों का स्पष्ट अभिव्यञ्जन कवि ने किया है। बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि ने तुलसी का मानसिक विकास दिखाया है।

प्रथम कवि ने तुलसीदास के जन्म काल की भारतीय परिस्थितियों का ओजस्वी वर्णन किया है। भारतीय धर्म, समाज, देश आदि सब मुसलमानों से आक्रांत थे। जनता भटकी हुई थी। इन्द्रिय लोलुपता, भीतता, कातरता, छल-प्रपंच, आदि बुरी वृत्तियों का जोर था। ऐसे भूले भटके अत्याचार ग्रस्त समय में तुलसी का प्रादुर्भाव हुआ। मुगलों के अनवरत संघर्ष के पश्चात प्रारम्भिक अकबर कालमें भारत को अपेक्षाकृत अधिक शांति मिली थी। अत एव कवि ने मुगल शासन का चन्द्रके रूप में दर्शन किया है। भारतीय वीरता का तो यह हाल था—

लड़ लड़ जो रण बाँकुरे समर, हो शयित देश की पृथ्वी पर।
अमर निर्जर, दुर्धर्ष, अमर, जगतारण, भारत के उर के राजपूत,
उड़ गये आज वे देव दूत।
जो रहे शेष, नृप वेश सूत—बंदी गण।

मुगल शासन को चंद्रिका के रूप में वर्णित किया है—

अब पीतधरा, खिल गया गगन, उर उर को मधुर तापप्रशमन,
बहती समीर चिर आलिंगन ज्यों उन्मन, झरते हैं शशधर से क्षणक्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन।

ऐसे ही दुष्काल में श्रेष्ठ ब्राह्मण वंश में राजपुर गाँव में तुलसी का जन्म हुआ था। निराला जी ने युवक तुलसी से ही जीवन-प्रारम्भ किया है। तुलसी का सर्व-प्रथम परिचय निराला जी यों देते हैं—

युवकों में प्रथम रत्न चेतन समधीत शास्त्र काव्यालोचन
जो तुलसी दास वही ब्राह्मण-कुलदीपक आयत दृग, पुष्ट देह, गत-भय
अपने प्रकाश में निस्संशय प्रतिभा का मन्दस्मित परिचय संस्मारक।

विवाहित तुलसी का जीवन रस-क्रीड़ा में आसक्त था। एक दिन मित्रों के साथ चित्रकूट यात्रा की योजना बन गई। चित्रकूट में तुलसी का अनत सुन्दर प्रकृति से साक्षात्कार होता है। उस अनत आनद के प्राकृतिक क्षेत्र में जा कर तुलसी आनन्द-स्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं। अनन्त सुन्दर प्रकृति उन्हें चैतन्य का बोध देती हुई प्रतीत होती है। प्रकृति में केवल चैतन्य नहीं देखता तुलसी, वह अनंत आनंद, मस्ती और सौन्दर्यका भण्डार थी वह। किन्तु प्रकृति की यह जड़ता ही उन्हे चैतन्य की ओर जाने की प्रेरणा देती है। प्रकृति उन्हें स्थूल सूक्ष्म का अभेद समझाती अनुभूत होती है—

तरु तरु वीरुध वीरुध तृण तृण जाने क्या हँसते मसृण मसृण
जैसे प्राणों से हुए अरुण कुछ लख कर . ...

जब प्रकृति में स्पष्ट-चैतन्य-सत्ता का अनुभव करते हैं, जो उनके साथ अत्यन्त आत्मीयता प्रकट करती है।

कहता प्रति जड़ "जङ्गम-जीवन! भूले थे अब-तक बन्धु, प्रमन?"......

प्रकृति के ऐसे ही चैतन्यानुभव में कवि का मन उन्मन हो जाता है—

बह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल वन को कर जाती है व्याकुल
हो गया चित्त कवि का त्यों तुल कर उन्मन
वह उस शाखा का बन विहंग
उड़ गया, नभ मुक्त निस्तरङ्ग

इस ऊर्ध्व आकाश में कवि का मन संध्या मूर्ति देखता है। यह संध्या की छवि छाया सी लगती है, जिस तरह प्रात सूर्य का प्रकाश होता है। कवि देखता है, वह छाया भारत को व्याप्त किये है। फल-स्वरूप भारत इस छाया के अन्धकार में हुआ रसातल को जा रहा है —

विधि की इच्छा सर्वत्र अटल, यह देश प्रथम हो गया दुर्बल,
वे टूट चुके थे ठाट सकल वर्णों के तृष्णोद्धत स्पर्धागत सगर्व
क्षत्रिय रक्षा से रहित सर्व, द्विज चाटु-कार हत इतर वर्ग पर्वों के।

इस्लामी शासन की यह छाया सब को व्याप्त किये था। कवि ने यह छाया देखी, "देखी कवि ने, समझा सब—रह गया मौन। इस छाया (मायारूपिणी) ने सब को जकड़ रखा है—

इस छाया के भीतर हैं सब, है बँधा हुआ सारा कलरव,
भूले सब इस तम का आसव पी पीकर

परन्तु कवि को अनुभव हुआ कि इस माया के बन्धन उस अन्धतम के उस पार रवि रूप परमात्मा की ज्योति है—

इस अनिलवाह के पार प्रखर किरणों का वह ज्योतिर्मय घर
रविकुल जीवन चुम्बनकर मानस भर लो।

व्यंग्य रूप में सूर्यवंशी श्रीराम की ओर संकेत है कवि का। इस माया के अन्धकार के पार कवि को सूर्य रूप श्रीराम ब्रह्म ज्ञात हुए। कवि को यह आत्म-बोध होता है और जीवन का लक्ष्य भी प्रत्यक्ष हो जाता है—

है वही मुक्ति सत्य रूप, यह कूप-कूप भव-कूप रूप,
वह रवि, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।

अतः कवि निश्चय करता है, इस तमस को पार करके, उस प्रकाश-स्वरूप श्रीराम ब्रह्म तक जाने का—

करना होगा यह तिमिर पार देखना सत्य का मिहिर द्वार
बहना जीवन प्रखर ज्वार में निश्चय, लड़ना विरोध से द्वन्द्व समर,
यह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।

कवि इस माया के अन्धकार के साथ द्वन्द्व युद्ध करके परम सत्य का

दर्शन करने का निश्चय करता है। वही उसका ज्योतिर्मय असली घर है, वहां देह छोड कर भी जरूर जाना है। और, इस प्रकार उस ज्योतिर्मय तक जाने के मार्ग को अवरुद्ध किये हुए माया के रुद्धद्वार को तोडने के लिए एवं भारत के भारी मोहभ्रम के जाल को काटने के लिए कवि के प्राण उमड पडे—

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम, चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया तम तरने को करने को ज्ञानोद्भत प्रहार
तोडने को विषम वज्र द्वार उमडे, भारत का भ्रम अपार हरने को।

किन्तु इसी समय उन्हें माया का चमत्कार दिखाई देता है। उस सर्व व्यापिनी छाया के पट पर उन्हें अपनी प्रेयसी पत्नी का चन्द्र-मुख दिखाई देता है—

उस क्षण उस छाया के ऊपर नभ तम की सी तारिका सुघर
आ पडी, दृष्टि में, जीवन पर सुन्दरतम प्रेयसी प्राण संगिनी नाम
शुभ रत्नावली—सरोज दाम वामा इस पथ पर हुई वाम सरितोपम।

तुलसी की ऊर्ध्वमुखी वह विचारधारा टूट गई। मन भूमि पर उतर आता है। प्रेम का रंग चढ जाता है। कवि को प्रकृति अपनी प्रेयसी के ही सौन्दर्य में रङ्गी दीखती है—

यह वही प्रकृति, पर रूप अन्य, जगमग जगमग सब देश वन्य
सुरभित दिशि दिशि-कवि हुआ धन्य मायाशय॥

अन्त में उद्विग्न से होकर, अपने मित्रों के साथ, अन्य आसपास के मार्ग से के तीर्थों का दर्शन करते हुए घर आते हैं। पूर्व जन्म के संस्कारवश उनके मन में, जड, चेतन, माया, ब्रह्म आदि के विषय में जो अनुभूति हुई थी, अब उसका स्थान गृहिणी का गहरा कामासक्त प्रेम लिये हुए था। घर आकर तुलसी प्रेमानन्द में दिन बिताने लगे। गृहिणी के मायके से लेने आते थे, पर तुलसी भेजते नहीं थे। निराश वापिस लौटते थे। रत्नावली का भाई लेने आकर उसे बताता है कि—

हम कई बार आ आकर घर लौटे पाकर झूठे उत्तर
क्यों बहिन! तू नहीं सम उन पर बल करते?

एक बार तुलसी जब बाजार गए थे तो रत्नावली का भाई लेने

आता है । आकर माता आदि का चजन को आग्रह सुनाता है । ताने भी देता है—

"क्यों बहन ! व्याह हो जाने पर घर पहला
केवल कहने को है नैहर ? दे सकता नहीं स्नेह आदर ?
पूजे पद हम इसलिए अपर ?" दग दहला !

और भी इस प्रकार की तानाकशी की, कि, सहेलियाँ कहती हैं कि क्या करके हाथ बेच दी है, आदि । अन्त में रत्नावली तत्काल चलने को तैयार हो जाती हैं । भाई कहता है—

बोला भाई "तो चलो अभी, अन्यथा, न होंगे सफल कभी
हम उनके आ जाने पर जो यह कहता—

रत्नावली चल देती है, "चल दी प्रतिमा, घर अन्धकार अब बहता ।" उधर सच्चे प्रेमी तुलसी के मन में भी बाजार में सौदा लेते समय खटका होता है—

लेते सौदा जब खड़े हाट तुलसी के मन आया उचाट ....

घर आने पर देखते हैं—देखा वह नहीं प्रिया जीवन,
नतनयन भवन विषयण प्रागन,
आवरण शून्य वे बिना वरण मधुरा के · · ··

तुलसी को प्रतीत होता है कि, "यह नहीं आज गृह · ·" । उन का मन उसकी वह प्यारी प्रेमगीति सुनने को अत्यन्त आतुर हो जाता है और वह आतुरता इतनी बढ़ती है कि तुलसी लोक-लाज छोड़ कर उधर ही चल देते हैं—

छूटा जग का व्यवहार ज्ञान, पग उठे उसी मग को अजान,
कुल मान ध्यान श्लथ स्नेह दान सक्षम से ।
मार्ग में प्रकृति का आनन्द लेते हुए, सुख स्वप्न लूटते हुए—
सुनते सुख की वंशी के सुर, पहुंचे रत्न-धर रमा के पुर ।

श्वसुर गृह में सबने तुलसी का सम्मान किया । भाभी ने रत्नावली पर व्यंग्य किया, "यह पहचान रतन की ।" अर्थात् रत्नावली रत्न की पहिचान तुलसी को है । इसीलिए वे एक दिन भी उसके बिना नहीं ठहरते । यह व्यंग्य रत्नावली को अत्यन्त असह्य हुआ—

जल गये व्यंग्य से सकल अंग, चमकी चख्दग ज्वाला तरंग,
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला…………

पर रत्नावली ने बात बदल कर सहन किया। पति की बुद्धि पर उसको अत्यन्त क्रोध आया। रात को भोजनादि के पश्चात् शयन कक्ष में तुलसी प्रतीक्षा में जागते रहे। रत्नावली आई, पर आज उसके मन में विद्रोह और रोष की ज्वाला उठ रही थी। उसकी दशा ऐसी थी—

बिखरी छूटी शफरी अलकें, निष्पात नयन – नीरज पलकें,
भयातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता …
… … वह खड़ी शीर्ण प्रिय भाव मग्न निरुपमिता।

कुछ देर इसी प्रकार निश्चल खड़ी रह कर वह अन्त में "स्वर में झरझर जीवन भर कर ज्यों बोली,"

अचपल ध्वनि की चमकी चपला, बल की महिमा बोली अबला
जागी जलपर कमला अमला मति डोली।

उसने तुलसी को बिना बुलाये आने पर, उसी भाव में, लताड़ा उनकी कामुकता पर—

"धिक्! धाए तुम यों अनाहूत, धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म धूत,
राम के नहीं काम के सूत कहलाये! हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़ चाम। कैसी शिक्षा कैसे विराम पर आये!"

ऐसी तीखी फटकार सुनकर तुलसी के प्रथम उद्बुद्ध किन्तु माया के आवरण में फिर सुप्त पूर्व संस्कार जाग उठे—

जागा जागा संस्कार प्रबल रे गया काम तत्क्षण वह जल
देखा वामा वह न थी अनल प्रतिमा वह, इस ओर ज्ञान उस ओर ज्ञान
हो गया भस्म वह प्रथम भान, छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

यहां फिर कवि रहस्य-दर्शन की ओर उन्मुख होता है। तुलसी को सामने खड़ी नील वसना साक्षात् सरस्वती दिखाई दी। कवि उसके साथ ही ध्यानावस्थित, भूजगत् को छोड़कर ऊर्ध्व-गामी उड़ने लगता है। ऊपर अन्त-

रिच में एक और समुज्वल तारक का दर्शन होता है, जिसका नील वर्ण है। भारती क्रमशः मन्द-दीप्ति हो उसी मे लीन हो जाती है। उस तारक की आभा भी क्षीण हो जाती है। अम्बर निस्तब्ध हो जाता है और द्वन्द्व सब मिट जाते हैं। केवल आनन्द अवशिष्ट रह जाता है। यहां भी रहस्य-वर्णन है।

तुलसी को वहां श्री राम ब्रह्म की मूर्ति के दर्शन होते हैं। उसमें ही भारती या सरस्वती लीन हो जाती है। अन्त में निर्विकल्प समाधि दशा में सब कुछ शून्य निस्पन्दमय हो जाता है। तुलसी की आँखें बन्द हो जाती हैं—"ये मुँदे नयन ज्ञानोन्मीलित"। इस निर्विकल्प दशा से नीचे उतरने पर, उन्हें अन्तस्तल में एक दिव्य वाणी सुनाई दी (संभवतः कवि का अभिप्राय अन्तः करण या आत्मा की आवाज से है, जो कि योगिगण समाधि दशा मे सुनते हैं)। वह वाणी उन्हें ज्ञान के सूर्योदय के दर्शन करा कर, चेतना दे रही थी कि उठो, अब तो ज्ञान के सूर्य का प्रकाश फैल चुका है—

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अंधरात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल,
बांधो बांधो किरणें चेतन
तेजस्वी हे तमजिज् जीवन !
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमा बल।
होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर
कवि का प्रति छवि से जीवन हर जीवन भर
भारती इधर हैं उधर सकल
जड जीवन के संचित कौशल
जय, इधर ईश हैं, उधर सबल माया कर।

❀ ❀ ❀ ❀

देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छवि धर

इसका स्वर भर भारती मुखर होएगी'''

कवि का निश्चय हो जाता है कि जड़ माया से युद्ध होगा । उसकी पीठ पर भारती का बल है । एक ओर ईश्वर है; दूसरी ओर माया है । कवि का संघर्ष होगा जीवन भर । कवि अपनी भारती द्वारा यह युद्ध चलाएगा । ध्यानावस्थित दशा में ही तुलसी ने यह सब अन्तर्वाणी का श्रवण किया । अन्य किसी को कुछ पता नहीं लगा । कवि की साधना जाग उठी । ज्ञानोदय हो चुका था । तुलसी ने देखा सामने पत्नी छल-छलाई आँखों वाली खड़ी थी, उसे अनुभव हो रहा था कि वह वियोग सर्वदा का है । तुलसी बोले—

"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उसमें गृह के भीतर,
देखूँगा नहीं कभी फिर कर;
लेता मैं जो वर जीवन भर बहने का"

तुलसी चल दिये । उनके हृदय में वही पूर्व परिचित विश्वाश्रय महिमाधर श्री राम मूर्ति फिर जागृत हो चुकी थी और उन्हें "प्राचीदिगन्त में रवि रेखा" दिखाई दी । ज्ञान के इस सूर्य का दर्शन तुलसी को हो रहा था ।

निराला जी अद्वैतवादी भारतीय वेदान्ती हैं । अद्वैतवाद का रहस्य इसीलिए उनके काव्य में प्रायः मिलता है । तुलसीदास काव्य में भी रहस्यवाद की झलक स्थान-स्थान पर है । चित्रकूट में तुलसी की ऐसी ही रहस्यमयी आन्तर्दशा का चित्रण है । पश्चात् पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर तुलसी फिर उसी रहस्य दशा का अनुभव करते हैं । आन्तर रहस्य भावनाओं के ही चित्रण का कवि का प्रयास रहा है प्रमुखतया । काव्य की शैली भी वैसी ही छायावाद रहस्यवाद वाली है—जिस में, संकेत और रू.कों के द्वारा लक्षणाव्यञ्जनात्मक पद्धति में सूक्ष्म रहस्यों का चित्रण होता है । भावनाओं को साकार रूप में चित्रित करने की विशेषता भी तुलसीदास में आई है । तुलसी की भावनाएँ साकार बन उसे ज्ञान और चेतना देती हैं । तुलसी के मानसिक चित्रण का प्रमुख आधार है काव्य में । अतः सिद्ध है कि तुलसी

दास प्रारम्भ से अन्त तक रहस्य-वादी काव्य है। आलोचकों ने तुलसीदास को कामायनी की श्रेणी में रखा है। कामायनी और तुलसीदास दोनों छाया-वादी शैली में लिखे हुए मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक प्रबन्ध-काव्य हैं। छायावादी काव्य में प्रबन्ध श्रेणी में आने वाले ये ही दो काव्य हैं, जिन में कथा के साथ आध्यात्मिक रूपक भी साथ-साथ अभिव्यक्त होता चलता है।

७. साकेत में उर्मिला का अधिक रोना काव्य-कला की दृष्टि से अच्छा लगता है या खटकता है? हमारी दया की पात्री होने के साथ ही साथ क्या वह हमारी श्रद्धा की पात्री भी बन सकती है?

उत्तर—(देखिये प्रश्न पत्र ३ प्रश्न ? संवत २००४)

८. अहिंसा, क्षमा और प्रतिशोधके सम्बन्धमें कुरुक्षेत्र नामक काव्य का क्या सन्देश है? आवश्यक पंक्तियां उद्धृत कर के, उसकी व्याख्या कीजिए और उसके समर्थन और विरोध में अपना स्वतंत्र मत भी लिखिये।

उत्तर—कुरुक्षेत्र काव्य का प्रसंग उस समय से प्रारम्भ होता है; जब कि महाभारत समाप्त हो चुकता है और शान्ति पर्व का प्रारम्भ होता है। समस्त महाभारत में यह पर्व धार्मिक निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। धर्म के अनेक विशेष प्रश्नों और दर्शन की अनेक विशेष गुत्थियों के परिहार के दृष्टिकोण से यह पर्व महाभारत का सार माना जाता है। युद्ध के महा विनाश और नरमेध को देखते हुए युधिष्ठिर का मन अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता है। उसे लगता है, जैसे वह अत्यन्त स्वार्थी है, जिसने अपने स्वार्थ-राज्य प्राप्ति और प्रतिशोध-के लिए इतना महा विनाश समुपस्थित किया। उसे अपनी विजय मानव-रक्त में सनी दिखाई दी। बजाय हर्ष के, उसके हृदय में घोर पश्चात्ताप और विरक्ति की अग्नि दहक उठती है। उसे लगता है, जैसे उसने युद्ध में दुर्योधन को ललकार कर महा पातक किया है, उसे सब कुछ सहन कर के भी शान्ति रखनी चाहिये थी, वह महा विनाश न किया होता, अपनी क्षमा-सहन शीलता-त्याग, तपस्या और प्रेम से ही दुर्योधन को जीता होता, वह भीख मांग लेता, पर वह भ्रातृ-संहार न उपस्थित

करता। विजयी युधिष्ठिर, अपने स्वार्थ पर, अपनी प्रतिशोध वृत्ति पर, अपने राज्य-लोभ पर, अपने अभिमान पर, अपने अज्ञान पर और अपनी अक्षमा पर आँसू बहा रहा है। उसके हृदय में घोर विषाद और व्याकुलता का साम्राज्य है। युद्ध उसे समस्त आपदाओं और पापों का कारण दिखाई देता है। हिंसा घोर पाप दिखाई देती है। वह अपने को युद्ध का प्रधान कारण मान कर बहुत धिक्कार रहा है। अपनी इन्हीं शङ्काओं के समाधान के लिए धर्मराज मरण शैया पर पड़े भीष्म के पास पहुँचता है और अपना हृदय उनके सामने खोलता है। ऐसी ही शङ्काएँ युद्ध के विषय में अर्जुन के हृदय में भी उद्भूत हुई थीं और वह युद्ध स्थल छोड़ कर भागने को तैयार हो गया था। वहां उसकी शङ्काओं का निवारण श्री कृष्ण ने तत्व ज्ञान देकर किया था। आत्मा, परमात्मा और जगत् का रहस्य समझाया था। अन्याय के सामने से शस्त्र डाल कर, कायरता पूर्वक, क्षमा का बाना पहिन कर भाग जाना, उन्होंने क्षात्र धर्म के विरुद्ध ठहराया था। अन्यायी आततायी के हनन के लिए हिंसा हिंसा नहीं है। युद्ध भी किसी समय आवश्यक हो जाता है। क्षत्रिय का उस समय भागना कर्तव्य-च्युति है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं। सगे सम्बन्धी सब लौकिक सम्बन्ध है, कर्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं होने चाहियें। इत्यादि उपदेश दे कर, कृष्ण ने अर्जुन की अज्ञान-जनित कायरता का निवारण कर के, उसको युद्ध में प्रवृत्त किया था। युद्ध के पश्चात्, युद्ध शान्ति आदि के विषय में न्यायान्याय की शङ्का धर्मराज के हृदय में होती है, जिसका निवारण कृष्ण के जैसे ही समाधानों और सिद्धान्तों से पितामह करते हैं। उनके भी आधार भूत सिद्धान्त वे ही गीता वाले हैं, जो वस्तुतः समस्त उपनिषदों आदि धर्म दर्शन शास्त्रों का निचोट रूप हैं, उनका समन्वय केवल कृष्ण का अपना है। भीष्म भी युधिष्ठिर की शङ्काओं का समाधान करते हुए अहिंसा, क्षमा, प्रतिशोध आदि धर्म के विशेष प्रश्नों का उत्तर देते हैं, अपने ज्ञान और शास्त्र के आधार पर। लेखक ने उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अपने काव्य में अहिंसा क्षमा आदि के विषयमें विचार अभिव्यक्त किये हैं। उनको रखने की शैली और अपने युग के दृष्टिकोण से उन को देखने की मौलिकता कवि

की अपनी है। यत्र तत्र उसने काव्य में उन्हीं सिद्धान्तों की आधुनिक रूप में व्याख्या की है अथवा उन्हीं के आधार पर अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। उन सिद्धान्तों की आलोचना या समीक्षा करते समय यह उपर्युक्त तथ्य अवश्य ध्यान में रहना चाहिये। काव्य में कवि ने इन भावनाओं का स्पष्टीकरण जिस रूप में किया है, उसका रूप संक्षेप में निम्न प्रकार से है।

सर्वप्रथम कवि युधिष्ठिर के मन की व्याकुलता का बड़ा ओजस्वी और करुणा-जनक चित्रण करता है—

रक्त से साने हुए इस राज्य को वज्र हो कैसे सकूँगा भोग मैं ?
आदमी के खून से है यह सना और है इस में लहू अभिमन्यु का।

उसे लगता है, जैसे हार दुर्योधन की नहीं हुई है, उसकी हुई है। अन्त में अपने शङ्का और पश्चात्ताप के भण्डार को लिये पितामह के पास पहुचता है—

हाय पितामह ! हार किस की हुई है यह ?
ध्वंस अवशेष पर सिर धुनता है कौन ?......

+ + + +

जानता कहीं जो परिणाम महा भारत का
तन बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय यह रक्त पात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं भीख मांग मरता।

+ + + +

कृष्ण कहते हैं युद्ध अनघ है किन्तु मेरे
प्राण जलते हैं पल पल परिताप से

× × × ×

मानव को देख आंखें आप झुक जातीं मन
चाहता अकेला कहीं भाग वन जाऊँगा।—

इस प्रकार शङ्का सुन कर भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं। युद्ध की फिलासफी समझाते हैं और उसकी अनिवार्यता बताते हैं। हिंसा ही किसी समय उपाय रह जाता है, मनुष्य के सामने, अन्याय के प्रतिकार अथवा अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए। भीष्म तूफान का रूपक देकर समझाते हैं कि वह प्रकृति-प्रकोप वन्य जीवजन्तु, लता वृक्ष आदि सब को नष्ट कर देता है। वह निष्कारण नहीं है। निदाघ की उष्णिमा से प्रकृति में जो विकार उपस्थित हो जाता है, उसी के निष्कासन या शमन के लिए यह संहार होता है। यह प्राकृतिक है, सकारण है। जो वृक्ष आदि इस से बच रहते हैं अपनी दृढ़ता के कारण, उनको इस विनाश पर पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। युद्ध भी मानव मन के विकारों के परिणाम-स्वरूप ही उपस्थित होता है। पहिले ये विकार कुछ व्यक्तियों में उठते हैं, फिर समुदाय में फैल जाते हैं। फिर युद्ध का ज्वालामुखी फूट उठता है। उस समय यह भाव संक्रामक हो जाता है—युद्ध का उन्माद संक्रमशील है। उस दशा में उन विकारों के प्रशमन के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है, आततायी के हनन के लिए—

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
रोग लेकिन आ गया जब पास हो
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या?
शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।

वस्तुतः कोई भी कार्य स्वयं कोई पाप पुण्य नहीं है। पाप-पुण्य का आधार उस कार्य की कारण-भूत भावना के ऊपर निर्भर है—"मुख्य है कर्ता-हृदय की भावना।" इस लिए पाप-पुण्य की कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। युद्ध तब तक अनिवार्य है, जब तक स्वार्थ खूब फल फूल रहा है। जब तक स्वार्थ दूर नहीं होगा, "युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है—

और जो अनिवार्य है उसके लिए

खिन्न या परितप्त होना व्यर्थ है,
तू नहीं लड़ता न लड़ता आग यह
फूटती निश्चय किसी भी व्याज से।

युद्ध की अनिवार्यता की दशा में युद्ध से ही कार्य चलता है। वहाँ त्याग तपस्या आदि काम नहीं देते। धर्म तप आदि वृत्तियाँ व्यक्ति की शोभा हैं, किन्तु समुदाय का प्रश्न होने पर इन को भूलना पड़ता है—"किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का, भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।"

त्याग तप करुणा क्षमा से भीग कर
व्यक्ति का मन तो बली होता मगर
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।
कौन केवल आत्मबल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

युद्ध की अनिवार्यता, आवश्यकता आदि के विषय में लेखक के विचार मान्य होने पर भी, पशु बल और आत्म-बल के विषय में उसके उपर्युक्त विचार असंगत हैं। कारण, आत्मबल के सामने पशु-बल क्या प्रकृति के भी बल की पराजय होती है, 'साधने हि नियमोऽन्य जनानां, योगिनान्तु तपसा खिल सिद्धिः" (नैषध)। किन्तु हां समुदाय के प्रश्न में आत्म-बल को व्यावहारिक रूप इसलिए नहीं दिया जा सकता कि समुदाय में ही आत्म-बल सम्भव नहीं होता। यदि समस्त समुदाय ही आत्म-बल सम्पन्न हो तो पशु-बल निष्फल हो जायगा। कवि ने एकत्र इसी प्रसङ्ग का राम का उदाहरण भी दिया है कि राक्षसों के अत्याचारों से रक्षा राम के युद्ध ने की, न कि ऋषियों के आत्म-बल ने। किन्तु कवि भूल जाता है कि रावण-हन्ता राम उन्हीं आत्म बल सम्पन्न ऋषियों के सामने नत-मस्तक थे, उन्हीं से समस्त विद्याएं प्राप्त की थीं। राम-चरित का यह रहस्य

विषयान्तर है, किंतु लेखक का पशु-बल और आत्म-बल के विषयमें उपर्युक्त कथन भ्रान्त है। युद्ध अनिवार्य तब है, जब आत्मबल न हो, उस समय युद्ध या हिंसा या शारीरिक शक्ति के सिवा अन्य कोई अवलम्ब नहीं रहता। सारा भेद व्यक्ति और समुदाय के कारण पड़ता है।

अब रही युद्ध की तुलना में शान्ति या क्षमा की भावना और प्रतिशोध की ज्वाला। क्या युद्ध की बनिस्बत शान्ति हर हालत में काम्य है? क्या वह प्रत्येक मूल्य पर श्रेय है? अन्यायी अत्याचारी को क्षमा देकर शान्ति स्थापित रखी जाए? उसको दण्ड न दिया जाय या उससे अन्याय का प्रतिशोध (बदला) न लिया जाय? इनके विषय में भी लेखक ने विचार अभिव्यक्त किये हैं। शान्ति काम्य है, युद्ध निन्द्य है, परन्तु कृत्रिम शान्ति किसी काम की नहीं। अन्याय और अनीति पर, डण्डे के बल से, रखी हुई शान्ति शान्ति नहीं है, न वह स्थायी है, कभी न कभी वह युद्ध के रूप में भड़क उठेगी—

समर निंद्य है धर्मराज, पर
　　कहो शान्ति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर भी
　　बनी हुई सरला है?
हिलो डुलो मत हृदय रक्त
　　अपना मुझको पीने दो
अचल रहे साम्राज्य शान्ति का
　　जियो और जीने दो!

ऐसी कृत्रिम शान्ति को भंग करने एक न एक दिन त्रस्त जन अवश्य उठ खड़े होंगे। उस समय उन पर शान्ति भंग का दोष नहीं है। दोष उनका होगा, जिन्होंने शान्ति भंग करने के कारण उपस्थित किये। और नाहीं वह वास्तविक शान्ति ही है। वास्तविक शान्ति तो तभी सम्भव है, जब विश्व में न्याय का राज्य हो, सब में समभाव हो—

"न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है,"

× × × ×

ऐसी शान्ति राज्य करती है

तन पर, नहीं हृदय पर, ...

× × × ×

कृत्रिम शान्ति सशंक आप

अपने से ही डरती है... ....

इसलिए स्वत्वों या अपने अधिकारों को खोकर कृत्रिम शान्ति खरीदना कायरता है। अतः उन्हें लड़कर लेने में कोई दोष नहीं, दोष अन्यायी पर होगा—

किसने कहा पाप है समुचित

स्वत्व-प्राप्ति हित लड़ना ?...... .

ऐसे स्थल पर क्षमा दया आदि की भावनाएँ कायरता है। उन से उल्टा प्रभाव होता है। क्षमा कायरता समझी जाती है—

क्षमा शील हो रिपुसमक्ष

तुम हुए विनत जितना ही

दुष्ट कौरवों ने तुमको

कायर समझा उतना ही।...... ... .

ऐसी दशा में शान्ति भङ्ग करके युद्ध करना ही न्याय-संगत है। अशक्त कायर बन कर क्षमा का अभिनय करना व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं। क्षमा का मूल्य तो उसके पीछे शक्ति होने से है। असमर्थ, अत्याचार का प्रतिशोध लेने की शक्ति से शून्य निर्बल, पुरुष की क्षमा का दूसरा नाम कायरता है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को

जिसके पास गरल हो।

उसको क्या जो दन्तहीन

विष रहित विनीत सरल हो ?

सहनशीलता क्षमा दया को

तभी पूछता जग है

बल का दर्प चमकता उसके

पीछे जय जगमग है।

अन्याय के सामने निर्बल होकर क्षमा का भाव धारण करना नपुंसकता है। क्षमा के विषय में ये विचार सर्वथा संगत हैं। क्षमा क्षमतावान् को ही शोभा देती है, निर्बल की तो कायरता बन जाती है। उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। राम ने क्षमा धारण करके समुद्र से तीन दिन मार्ग मांगा, उसने नहीं दिया। अन्त में राम का क्रोध और शक्ति देख कर भागा हुआ आया। राम ने उसे क्षमा कर दिया। यह प्रशंसा के योग्य है। किन्तु राम यदि क्षमा धारण किये बैठे ही रहते तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कवि शक्र की इस वास्तविक क्षमावृत्ति के सामने, प्रतिशोध वृत्ति को भी नीचा स्थान नहीं देना चाहता। आततायी या अन्यायी के प्रति प्रतिशोध की भावना भी वीरों का धर्म है। वह वीर क्या जो मान में ठोकर लगने पर गेंद की तरह न उछले और अपमान या अन्याय को सामने बैठा देखता रहे—

प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएं दीप्त
प्रतिशोध-हीनता नरों में महा पाप है।
छोड़ प्रति-वैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वन्हिताप है।
चोट खा सहिष्णु ब' किस भांति, तीर—
जिसके निषंग में करों में दृढ़ चाप है?
जेता के विभूषण सहिष्णुता क्षमा हैं, किन्तु—
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।

ऐसे स्थल पर दोष आततायी का है। अपमान पर वीर में प्रतिशोधाग्नि भड़क उठना स्वाभाविक है, कोई उसे क्यों भड़काये—

धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड वेग वायु को बुलाता है?
किन्तु वहाँ दोष किसका है?—
युद्ध को बुलाता है अनीतिध्वजधारी या कि
वह जो अनीति भाल पे दे पांव चलता?·········

··· · कौन है बुलाता युद्ध ? जाल जो बनाता ?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल सा निकलता ?
ऐसी जगह क्षमा या शान्ति बरतना मनुष्य की पराजय है—
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है,
ईश की अवज्ञा घोर पौरुष की श्रान्ति है।·········

ऐसे स्थान पर शान्ति से मनुष्य की मनुष्यता की कीर्ति खोई जाती है—

नर की कीर्ति-ध्वजा उस दिन
कट गई देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा
जिस दिन निराश हो नर से।

नर का धर्म है—

सब से बड़ा धर्म है नर का
सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी
नहीं किसी का सहना।
आग हथेली पर सुलगा कर
सिर का हविष् चढ़ाना
सूर धर्म है जग को अनुपम
बलि का पाठ पढ़ाना।

अपमान के स्थान पर सोच विचार में पड़ने से वीरता नष्ट होती है—

बात पूछने को विवेक से
जभी वीरता जाती
पी जाती अपमान पतित हो
अपना तेज गंवाती।

इस प्रकार, कवि ने अहिंसा क्षमा प्रतिशोध आदि के विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। अधिकांश में उसका आधार गीता या शान्तिपर्व ही है, अतः मूलसिद्धान्तों के विषय में कोई विवाद नहीं हो सकता।

दर्शन और धर्म-विज्ञान के सर्व सम्मत सिद्धान्त हैं वे। अहिंसा, क्षमा, त्याग, तपस्या, प्रतिशोध वृत्ति का त्याग उदात्त भावनाएं हैं, मनुष्य की उच्चता की प्रतीक भूत, किन्तु लौकिक व्यवहार में सर्वत्र ही इनका पालन संभव नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए प्रचण्ड वीर भाव चाहिये—

जानता हूं किन्तु जीने के लिए
चाहिये अङ्गार जैसी वीरता
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर
छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्यागतप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

हां, जहाँ तक व्यक्तिगत साधना का प्रश्न है, शान्ति, क्षमा, अविरोध, अहिंसा आदि की शक्ति निर्विवाद सिद्ध है। योग दर्शन के अनुसार क्षमा अहिंसा आदि की प्रतिष्ठा (सिद्धि) होने पर, ऐसे व्यक्ति की सन्निधि में वैर का त्याग हो जाता है। क्षमा–अहिंसा–सिद्ध पुरुष के पास में हिंसक जीव भी हिंसा का त्याग कर देगा, मनुष्य का वैर भाव तो क्षण में जाता रहेगा। योगी की अहिंसा उस समय अपने पार्श्ववर्ती क्षेत्र को अभिव्याप्त कर लेती है। परन्तु इन उदात्त भावनाओं का सामूहिक रूप में प्रयोग अन्याय और अत्याचार के प्रतिरोध के लिए लोक में अव्यवहार्य है। कारण, समुदाय में सब के सब अहिंसा आदि को सिद्ध नहीं कर सकते। अतएव समुदाय के लिए अहिसा के स्थान में हिंसा और क्षमा के स्थान मे प्रतिशोध का ही व्यवहार आवश्यक होता है, नहीं तो विफलता होगी, अपमान और अत्याचार सहन करने होंगे। किन्तु यदि वस्तुत. समुदाय ही किसी प्रकार क्षमा-अहिंसा-सिद्ध हो तो आततायी का मन-परिवर्तन निश्चित है। अहिंसा क्षमा, प्रतिशोध आदि के विषय मे कुरुक्षेत्र के विचार और उनकी समीक्षा यही है, हमारे मत से।

६. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर टिप्पणियां लिखिये—

(क) वक्रोक्ति, (ख) उपनागरिका वृत्ति, (ग) द्रुत विलम्बित छन्द;

(घ) लोकोक्ति अलंकार, (ट) चिरन्तन सत्य, (च) स्पन्दनहीन वस्तुवाद, (छ) प्राकृतिक दर्शन (ज) इड़ा, (झ) यथार्थवाद, (ञ) खण्ड काव्य, (ट) प्रतीक विधान, (ठ) प्रगीत मुक्तक ।

उत्तर:—(क) काकुवक्रोक्ति शब्दालङ्कार होता है। जहां वक्ता की बात का श्रोता श्लेष या काकु (कण्ठध्वनिविकार) के द्वारा वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ निकाले, वहां यह अलंकार होता है। श्लेषमूलक और काकुमूलक नाम से इसके दो भेद माने गए हैं। यथा श्लेष-मूलक—

को तुम ? हरि प्यारी ! कहा बानर को पुर काम ?

इसमें कृष्ण का परिचय पूछे जाने पर वे अपना हरि नाम बताते हैं। राधा हरि का दूसरा अर्थ (बन्दर) ले कर उन से पूछती हैं कि "गांव में बन्दर का क्या काम ?" यहां हरि शब्द के श्लेष से दो अर्थ हैं, अतः श्लेषमूला है। काकु का जैसे—

"दस बज गये हैं, वह नहीं आयगा।" इसी को यदि दूसरा व्यक्ति प्रश्न के लहजे में यों कहे कि "दस बज गये, वह नहीं आयगा ?" तो इसका अर्थ विधि रूप लगता है कि अवश्य आयगा। बिना प्रश्न के स्वर-विकार या काकु के, निषेध सूचक अर्थ रहता है।

(ख) उपनागरिका वृत्ति काव्य-वर्णों की रसानुरूप एक विशिष्ट योजना, संघटना का नाम है। माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्णों वाली, न्यून-समास वाली, कोमल शब्द-संघट्टना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। माधुर्य व्यंजक वर्ण टवर्ग को छोड़ कर कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के सब व्यंजन और ह्रस्व र एवं ण होते हैं। अनुस्वार युक्त व्यंजनों का भी इसी में ग्रहण हैं। इसके मधुरा, वैदर्भी आदि अन्य नाम भी हैं। यथा—

अङ्ग अनङ्ग सुरङ्ग रंगे।

(ग) द्रुत विलम्बित छन्द वर्णिक वृत्त होता है। जिस छन्द में नगण भगण, भगण और रगण हों, वह द्रुतविलम्बित छन्द होता है। कोमल—शृङ्गार (विशेषतः विप्रलंभ), करुणा, शान्त आदि—रसों में इसका विशेष प्रयोग होता है—

यह प्रभायुक्ता सम पुञ्जवी मद मकी नहीं तारक मण्डली।
वह त्रिकाल विवर्द्धन के लिए निकलने नभ में लगी॥

(घ) लोकोक्ति अलंकार वहां होता है जहाँ कवि काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ हरि औध जी का बोल-चाल नामक ग्रन्थ लिया जा सकता है, जिसमें समस्त में लौकिक मुहावरों और लोकोक्तियों का काव्य बद्ध प्रयोग हुआ है।

(ङ) चिरन्तन सत्य उस सत्य को कहा जाता है, जो अनादिकाल से है, ध्रुव है, वर्तमान और भविष्य में सत्य ही रहेगा, जो त्रिकालाबाध्य है।

(च) स्पंदन हीन वस्तु वाद ऐसे भौतिकतावाद या स्थूल वाद को कहा जाता है, जो स्थावर हो, जड़वत् निश्चल हो, जिसमें क्रिया न हो, जिसमें कोई प्रगति न हो या जिसमें जीवन और उसके विकास की प्रक्रिया न हो।

(छ) प्राकृतिक दर्शन प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त को कहते हैं। प्रकृति को कौन किस दृष्टिकोण से देखता है, वह उसका प्राकृतिक दर्शन है। कोई प्रकृति को सजीव समझता है, कोई निर्जीव। ये दो भिन्न प्राकृतिक दर्शन हैं। या प्रकृति के दार्शनिक की दृष्टि से दर्शन को प्राकृतिक दर्शन कहा जा सकता है।

(ज) इड़ा बुद्धि का नाम है। इसी को प्रज्ञा भी कहा जाता है। श्री प्रसाद जी के कामायनी काव्य में इडा एक विशेष साकार पात्र रूप में चित्रित हुई है।

(झ) वस्तु के यथार्थ—ज्यों की त्यों—वास्तविक रूप को ही कहना यथार्थवाद है। यथार्थ बात कहने का सिद्धान्त यथार्थवाद है। साहित्य में ऐसे लेखकों को यथार्थवादी कहा जाता है, जो वस्तु के यथार्थ रूप का वर्णन चित्रण करते हैं और उसे अपनी कल्पना या भावुकता का रंग देकर नहीं उपस्थित करते। यथार्थवाद कल्पनावाद से ठीक विपरीत है।

(ञ) खण्ड काव्य प्रबन्ध काव्य का भेद है। प्रबन्ध काव्य में किसी के समस्त जीवन का सर्वाङ्ग वर्णन होता है, उसके जीवन की समस्त प्रमुख घटनाओं का क्रम-बद्ध वर्णन रहता है। किन्तु खण्ड-काव्य में जीवन के किसी एक ही खण्ड अथवा भाग का वर्णन रहता है, समस्त जीवन का पूर्ण चित्रण नहीं होता। वैसे, रचना-शैली प्रबन्ध काव्य के ढंग की होती है।

उसमें कोई अन्तर नहीं होता। उदाहरण के लिए, जयद्रथ-वध, कुरुक्षेत्र आदि लिये जा सकते हैं, जिनमें किसी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन के किसी खण्ड-विशेष का वर्णन हो।

(ट) प्रतीक-विधान प्रतीकों की योजना या नियमों को कहते हैं। प्रतीक का अर्थ चिन्ह या Symbol होता है। जहाँ कवि वस्तु के गुण साम्य, रूप-साम्य अथवा प्रभाव-साम्य के आधार पर उसका प्रतिनिधि चिन्ह या प्रतीक स्थिर कर लेता है और उसकी जगह उसका प्रयोग करता है तो वह प्रतीक-विधान है। छायावादी कवियों ने इस प्रकार की प्रतीक-योजना का अपनी चित्रात्मक शैली मे विशेष प्रयोग किया है। इन सभी कवियों का प्रतीक विधान छायावादी सिद्धान्तों के अनुसार है।

(ठ) प्रगीत मुक्तक मुक्तक-पद्धति में गीत में गाई जाने योग्य काव्य-रचना को कहा जाता है, जिसमें किसी रस, भाव, आदि का पूर्ण चित्र होता है। प्रगीत मुक्तक अंग्रेजी के लीरिक काव्य के ढग का काव्य होता है। इसमें कवि अपनी ही प्रेम, करुणा, आनन्द आदि की व्यक्तिगत भावनाओं का चित्रण या अभिव्यंजन करता है। रचना गाने योग्य गीतों के रूप में होती है। वे गीत कोई शास्त्रीय राग रागनियों आदि मे बांधकर लिखता है और कोई अपने भाव के अनुसार, उसमें स्वयं ध्वनि, यति, गति, लय आदि का विधान करते हैं। सगीत के निश्चित राग आदि मे वे पूर्ण मुक्त होते हैं। पाश्चात्य ढग के गीत इसी धाद की शैली के होते हैं। अतः प्रगीत मुक्तक वह काव्य है, जिसमें कवि मुक्तक गीतो के रूप में, अपने ही सुख दुख, प्रेम, करुणा आदि की व्यक्ति-भावनाओं का चित्रण अभिव्यंजन करता है। वे गीत प्रगीत मुक्तक काव्य होते हैं। जैसे निम्न श्री महा. देवी वर्मा का एक गीतांश—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पद रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।

———————

उत्तमा परीक्षोपयोगी पुष्प ४

साहित्य रत्न प्रश्न पत्र उत्तर सहित

(सं० २००२ से २००६ तक)

चतुर्थ पत्र

लेखक—

श्री सुगण चन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, देहली ।

प्रथम संस्करण सं० २००७ मूल्य २॥)

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र जी गुप्त
व्यवस्थापक
रीगल बुकडिपो
नई सड़क, देहली ।

साहित्यरत्न प्रश्नोत्तर

[सं० २००२ से २००६ तक]

प्रथमपत्र ,उत्तर सहित,	लेखक श्री सुगणचन्द्र शास्त्री	२॥)
द्वितीय पत्र उत्तर सहित	,, ,, ,,	३)
तृतीय पत्र उत्तर सहित	,, ,, ,,	२॥)
चतुर्थ पत्र उत्तर सहित	,, ,, ,,	२॥)
पंचम पत्र (जयशंकर प्रसाद)	ले० गोपीनाथ व्यथित	२॥)
षष्ठम पत्र (भाषा-विज्ञान)	ले० आचार्य जोधसिंह रावत	१॥)

मुद्रक—
पं० धर्मदेव जी
वैदिक प्रेस,
सीताराम बाजार देहली ।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न-पत्र ४ (सं २००२)

सूचना—केवल छः प्रश्नों के उत्तर दीजिये। आठवां प्रश्न अनिवार्य है।

१.—'सदल मिश्र की भाषा भी साफ सुथरी नहीं है। ब्रज-भाषा का भी कुछ रूप है और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं।" नासिकेतोपाख्यान की भाषा से कोई उदाहरण देकर इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिये।

उत्तर—लल्लूलाल की भाषा की अपेक्षा सदल मिश्र की भाषा खड़ी बोली के रूप में अधिक परिमार्जित है, खरी है, मुहावरेदार है, फारसी अरबी आदि के शब्दों का भी बहिष्कार नहीं है, न उसमें लल्लूलाल की भाषा के ढंग में ब्रज भाषा की लचक है, न काव्य भाषा के प्रयोग हैं, न उसमें तुक-बन्दी है। वह एक सुथरा हुआ खड़ी बोली का रूप है। किन्तु लल्लूलाल की तुलना में ऐसी होते हुए भी उसके विषय में कही गई उपयुक्त प्रश्न-गत उक्ति सत्य चरितार्थ होती है। उसमें सफाई नहीं है, "जहाँ देखो तहाँ देव कन्या सब गाती।" जैसे वाक्य मिलते हैं, बहुवचन में "बहुतेरन्ह, सहस्रन, हाथन" जैसे प्रयोग भी हुए हैं, करनहारा, जाननिहारा, आवता जावता' आदि का प्रयोग भी है। ये सब बातें उसकी व्यवस्था और सफाई को नुचित नहीं करते। ब्रज-भाषा का यद्यपि इनकी भाषा पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा है जितना कि लल्लूलाल की भाषा पर तथापि वह प्रभाव से बची नहीं। उसमें ब्रज भाषा के शब्द और क्रियाओं का व्यवहार इन्होंने यत्र तत्र किया है। ब्रज भाषा से भी अधिक इनकी भाषा पर पूरबी का प्रभाव पड़ा है। पूरबी शब्द और क्रियाएँ इनकी भाषा में बहुत मिलते हैं। उदाहरण—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यमकी पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ ब्राह्मण माता पिता मित्र बालक स्त्री, स्वामी, वृद्ध,

गुरु उनका जो वध करते हैं वो झूठी साची भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते और की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे वैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

वाक्य में केवल एक विराम-चिन्ह है अन्त में। वाक्य ऐसे एक दूसरे पर उथलते चलत हैं कि वाक्यों के सम्बन्ध में असम्बन्ध हो जाता है। लेखक ने एक ही सांस में इतनी बड़ी बात कही है कि पाठक को अनुगमन करने में—उसके समझने में—कठिनाई उपस्थित होती है। वाक्य-योजना पूर्णतया अव्यवस्थित है। न उसमें व्यवस्था है और न सफाई है। वो शब्द का प्रयोग भी सुरुचि-जनक नहीं है। जौन, जौन, पूरबी प्रयोग है।

"उसी समय में ब्राह्मण सब आय आय मङ्गल वेदध्वनि और भाँट विखार राजा रघु के वंश का बखान करने लगे।"

"ऋषि की आश्चर्य बात सुन··· ···महाराज! प्राण से भी अधिक प्यारी एक पुत्री हमको थी सही, पर कुछ दोष सुनि मारे क्रोध से उसे घर से निकाल दिया। सो आपके योग्य नहीं। और ईश्वर जाने कि अब वह जीवती है कि मर गई।"

इन दोनों में सुनि, जीवती आदि के रूप में ब्रज-भाषा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उससे ऊपर के उदाहरण में आय आय भी अवधी भाषा का ही प्रभाव मानना चाहिये। "एक दिन स्नान पूजा करि ·······" "अपने अपने गुण को सुफल करि" "कोई रोग न होय" ······आदि जैसे प्रयोगों की बहुत स्थानों पर उपलब्धि होती है। करि होय ब्रज भाषा की क्रियाएं हैं। इन अवतरणों से प्रश्न-गत उक्ति की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। किन्तु कहीं कहीं इनकी भाषा बहुत निखरी हुई भी है—

"यह बात सुनके नरेश ने कहा कि स्वामी! अन्न वस्त्र हाथी घोड़ा द्रव्य, जितना चाहिये हमसे सब ले लीजिये पर कन्या तो मेरे घर में नहीं जो आपको मैं दूं।"

किन्तु ऐसी व्यवस्थित रचना सर्वत्र नहीं मिलती। सर्वत्र के विषय में तो प्रश्न-गत उक्ति ही ठीक सिद्ध होती है।

७—इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन कौशल दिखाना चाहते थे। अपनी कहानी का आरम्भ ही उन्होंने इस ढंग से किया है, जैसे लखनऊ के भाड़ घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।" इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं?

उत्तर—इंशा अल्ला खां की भाषा के विषय में प्रश्न गत उक्ति बहुत कुछ ठीक है। क्योंकि, वस्तुतः, इंशाने अपनी कहानी का प्रारम्भ ऐसी ही तड़क-भड़क, नाच-कूद, लटक-मटक से किया है। उसको देखकर यही भासित होता है कि कोई 'कर्तव्यकार' अपना कर्तव्य दिखाने के लिए प्रारम्भ हुआ हो। चुस्ती, सफाई, लचक-मचक, तुक-बन्दी, चट खम-दम, उछल कूद, सभी भावनाएँ इंशा की भाषा में मिलती हैं, कथा के प्रारम्भ में। उसमें उर्दू ढंग की वाक्य-विन्यास-शैली का बांकापन तिरछापन, कटीलापन नज़ाकत और चुस्ती है। शब्द अवश्य उसने हिन्दी या हिन्दवी के रखने की चेष्टा की है, किन्तु विन्यास और शैली के विषय में उस पर उर्दू का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अपनी पुस्तक का प्रारम्भ इंशाने ऐसी ही चमक-दमक से, भांडपन के भाव से किया है, शोर मचाते हुए, बड़ी उछल कूद के साथ। देखिये किस चुस्ती से सलाम की गई है अपने पैदा करने वाले को—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने, जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने नहीं पाया।" ...

उर्दू ढंग में तुक भी मिलती चलती है, शैली तो है ही चुस्त, नाचती हुई सी। देखिये अपनी कहानी और कला की क्या तारीफ करते हैं भांडपने से-

"इस कहानी का कहने वाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ लोग उसे पुकारते हैं, कह सुनाता है। दाहना हाथ मुँह पर फेर कर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और राव-चाव और कूद-फांद लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपका ध्यान का घोड़ा,

जो बिजली से भी बहुत अचपलाहट में है, हिरन के रूप अपनी चौकड़ी भूल जाय—

टुक घोड़े पर चढ़ कर आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ है कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥"

आगे, देखिये पाठकों या श्रोताओं को भी वे कैसे आंख मिलाकर सुनने को मुखातिब करते हैं:—

"अब आप कान रखके, आंखें मिलाके, सन्मुख होके टुक इधर देखिये। किस ढंग से बढ़ चलता हूँ और अपनी फूल की पंखड़ी जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

इसी प्रकार चुस्ती और उछल कूद के साथ इनकी कहानी प्रारम्भ होती है। कहानी में प्राय: ऐसी ही शैली आगे भी चलती है। इंशा का उद्देश्य वस्तुत: अपनी प्रतिज्ञात शैली को तड़क-भड़क और चमक-दमक दिखाने का है, कहानी कहने का नहीं। अत: प्रश्न-गत उक्ति इंशा की कहानी के प्रारम्भ के विषय में चरितार्थ होती है। ऊपर के उद्धरणों को देखते हुए सह-मत होना ही पड़ता है। इसका कारण उन पर फारसी अरबी और उर्दू शैलियों का प्रभाव है। उनकी अपनी विनोदी वृत्ति भी शैली के ऐसे चटपटेपन का कारण है। इसी विशेषता के कारण यह निराली शैली बनी है। इंशाने उसी शैली में ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है।

३—किसी प्रकार का विषय हो, बाल मुकुन्द गुप्त की लेखिनी उस पर विनोदका रंग चढ़ा देती थी।" शिव शम्भु का चिट्ठा से कोई उपयुक्त उदाहरण देकर इस उक्ति को पुष्ट कीजिये।

उत्तर—बा० बालमुकुन्द अत्यन्त विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कई पत्रों में सम्पादक के पदों पर भी रह चुके थे। उनकी शैली मंजी हुई थी। वे अक्सर औरों से नोंक झोंक भी करते रहते थे। आचार्य श्री द्विवेदी के साथ भी उनकी ऐसी छेड़ खानी एक बार चली थी। उनकी भाषा व्यावहारिक,

बनता रूप लिये हैं। आलोचना के क्षेत्र में उसमें स्वाभाविक विनोद, व्यंग्य और चुभतापन अधिक विशेष रूप से आजाते हैं। यह विनोद वृत्ति उनकी ऐसी प्रबल थी कि वे प्रत्येक विषय में विनोद की मात्रा ले आते थे। उर्दू के अच्छे लेखक होने के कारण उनकी शैली पर उर्दू शैली का भी प्रभाव पड़ा है। शिव शम्भु का चिट्ठा उनके ऐसे ही विनोद पूर्ण छोटे छोटे प्रबन्धों का संग्रह है, जिनमें गुप्तजी ने अनेक विषयों पर विनोद-पूर्ण ढंग से विचार उपस्थित किये हैं। प्रायः गम्भीर विचारों का भी ऊपरी लिबास—शैली—विनोद-पूर्ण होता है। देखिये गरीबों के प्रति सहानुभूति कैसे विनोद का वातावरण उपस्थित करके प्रकट की गई है—

"भंग छान कर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे।'''हाथ पांव सुख में पर विचार के घोड़ों का आराम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बंधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में घुस गये होंगे। पर वह चील कहां गई होगी''' शिव शम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्र-स्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्त्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते।"

इस अवतरण के ऊपर के भाग में घटाओं, बूंदों, और भंग छनने का विनोद-पूर्ण वर्णन हुआ है। इस विनोद के अन्तराल में ही उनके विचार—गंभीर भी—छुपे रहते हैं। अतएव उनके विषय में प्रश्न-गत उक्ति कही गई है, जो उनकी शैली पर पूरी तरह घटती है।

४.—अमृतलाल चक्रवर्ती की हिन्दी संस्कृत-बहुल है। उनकी 'आत्मकथा' और सती सुखदेई में संस्कृतमयी शैली स्पष्ट झलकती है। "चन्दा" के आधार से उसकी समीक्षा कीजिये—स्वमतानुसार उसका खण्डन या मण्डन भी।

उत्तर—'चन्दा' की भाषा संस्कृत की ओर ही अधिक झुकी हुई है। यद्यपि उसमें अन्य भाषाओं के और हिन्दी के तद्भव

शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, मुहावरे भी आये हैं, तो भी संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रति लेखक का विशेष आदर है। किन्तु वह इतना विशिष्ट नहीं है, जितना कि आज के संस्कृत-बहुल निराला या पन्त जैसे लेखक का है। उसमें क्लिष्टता या दुरूहता नहीं आती। कवि ने उपन्यास की भाषा को उपन्यास के उपयुक्त सरल और स्वाभाविक ही रखने का प्रयत्न किया है। देखिये—

"साथी को भी एक महत्तर जीव की मृत्यु के लिए उदार हृदय में शोक का आवेग लाने का अवसर न था। वह भी संगी की भांति आप दोनों की शोचनीय दशा के सोच से विकल हो पड़ा था।"

इस अवतरण में लेखक का रुझान अधिकतया संस्कृत की ओर ही है। अपेक्षाकृत संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ऐसे ही—

"अनुताप की उदासी के स्थान में हृदयवेधकारी अनिश्चयता दूर होने की प्रफुलता उनके मुख पर विराजने लगी। उस शिशिर-शून्य मुखपंकज पर भी किसी अटल प्रतिज्ञा की दृढ़ता चित्रित हो गई।"

इस उदाहरण में भी संस्कृत-बहुलता स्पष्ट लक्षित होती है। आगे के अवतरण में संस्कृत के कठिन शब्दों के प्रयोग से कुछ दुरूहता भी प्रतीत होगी—

"द्वापर के अन्त में कुरु पाण्डवों के पितामह, महाभारत के आदर्श चरित्र महात्मा भीष्मदेव ने पितृ-सिंहासन त्याग देने की जो अमानवी स्वार्थ-शून्यता दिखा कर संसार को चकित स्तम्भित किया था, आज राजकुमार चन्दा ने इस विकट कलि-काल के स्वार्थमय मध्य भाग में उसी निष्कलंक निःस्वार्थ व्यवहार का अनुपम दैव-चरित्र प्रकट किया।"

इन अवतरणों से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि अमृतलाल चक्रवर्ती की भाषा संस्कृत-बहुला है, उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। संस्कृत शब्दों की संख्या सर्वाधिक रहती है। किन्तु चन्दा में सर्वत्र ऐसी ही संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। वर्णन के अनुरूप कवि ने उसमें संस्कृतमयता की मात्रा में अधिकता-न्यूनता

भी रखी है। देखिये निम्न अवतरण में संस्कृत शब्दों के प्रयोग में न्यूनता है और तद्भव शब्दों की अधिकता है—

'नैराश्य के प्रथम धक्के से पार पाकर रानियों ने अपनी सारी चीज वस्तु शेष घोड़े की पीठ पर रखना और आप दोनों पैदल चलने लगे। पथ खो गया।''' ''रोड़ों से पथिकों के पैर फूटने लगे, जंगली वृक्षों के काँटों से शरीर छिलने लगे।

वार्तालाप की भाषा में भी पात्रानुरूप अन्तर डाल दिया गया है—

'हैं! कोई हमें ही ढूंढ रहा है? हम अपरचित देश में अपरिचित मनुष्य हैं। हमारे इधर आने तक का पता किसी को नहीं है। हमारी खोज में कौन आ सकता है?" वर्णन''' ''''शीघ्र ही मालूम हुआ कि तीन चार आदमी एक तेज मशाल लेकर आ रहे हैं।"

"चम्पा की आखें डबडबा आईं। कुछ देर चुपचाप रोकर उसने कहा, "महारानी! उपाय तो और कुछ नहीं सूझता है। राजकुमार चन्दा को राज्य से निकाले बिना कोई उपाय नहीं हो सकता है।"

'आगे फिर चुपचाप दोनों बड़ी देर तक सोचने लगीं। बड़ी रात हुई। राजभवन के घड़ियाल में दोपहर के घण्टे बजे। चम्पा ने मानों नींद से जागकर कहा—"महारानी! आज रात बहुत हो गयी। मुझे एक राह सूझी है। आप कल चिट्ठी लिख रखना, कल रात को मैं एक खेल खेलूंगी।"

इन अवतरणों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चन्दा की भाषा अधिकांश में संस्कृत-बहुल होते हुए भी, विषयानुरूप और बात-चीत के प्रसंग में वह पात्रानुकूल अपनी संस्कृतमयता में अन्तर भी डाल लेती है। इससे और भी औपन्यासिक ढंग का निर्वाह होता है। इस प्रकार, अमृतलाल चक्रवर्ती की भाषा संस्कृत-बहुल अथवा संस्कृत-प्रधान होती हुई भी चन्दा में विषयानुरूप परिवर्तित होती रही है, जैसा कि ऊपर के दोनों प्रकार के उद्धरणों से सूचित हो जाता है। किन्तु फिर भी भाषा प्रधानतया संस्कृत-बहुल ही माननी पड़ती है। अतः अधिकांश में प्रश्न-गत उक्ति चन्दा की भाषा के विषय में उपर्युक्त तारतम्य के साथ चरितार्थ होती है।

५—ग्रामीणों की मनोवृत्तियों और प्रवृत्ति के परखने तथा उनके स्वाभाविक चित्रण में प्रेमचन्द जी कहां तक सफल हुए हैं, कुछ उदाहरण अपनी पाठ्य पुस्तकों से देकर बताइये।

उत्तरः—श्री प्रेमचन्द बहुत बड़े मौलिक उपन्यासकार थे। उनके जोड़ का आज भी हिन्दी में कोई उपन्यास-कार नहीं मिलता। उनके उपन्यास किसी भी भाषा के साहित्य में आदर प्राप्त करेंगे। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र के वे मालिक हैं। उस युग में, जिसमें कि वे उत्पन्न हुए थे, उन्होंने अपनी प्रबल प्रतिभा से हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को एक विशिष्ट दिशा दी। प्रेमचन्द में उन सब विशेषताओं, जो कि किसी भी उपन्यास कार को सर्वोच्च पद प्रदान कर सकती हैं, के अतिरिक्त, इनकी विलक्षण प्रतिभा और कल्पना की शक्ति के कारण इनके उपन्यास हिन्दी-साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखते हैं।

प्रेमचन्द प्रधानतया मध्य-वर्गीय लोगो के वृत्त-चित्रण मे अधिक रुचि लेते हैं। उसी में वे अधिक सफल भी रहे हैं। भारतीय जीवन के दो पक्ष हैं, नागरिक और ग्राम्य। इनमें ग्राम्य अधिक विस्तृत है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में दोनों ही पक्षों का चित्रण हुआ है। नागरिक जीवन में उन्होंने कठिनता-ग्रस्त दुखी मध्यम-वर्ग अथवा निम्न वर्ग का ही अधिक चित्रण किया है। बड़े लोगों का भी चित्रण किया है, किन्तु दूसरे चित्रण—मध्यम वर्गीय के रंग को गहरा करने के लिए अन्तर दिखाकर। ग्राम्य जीवन में प्रेमचन्द को नागरिक से भी अधिक रुचि थी। भारत के गाँव का उनका अपना एक आदर्श है। ग्राम्य जीवन में लेखक को महान् आनन्द मिलता है। वह उनकी स्वाभाविकता, सरलता और निरछलता पर लट्टू है।

प्रेमचन्द का ग्राम-जीवन का अध्ययन भी विस्तृत और सूक्ष्म था। गाव की जरा जरासी बात का चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। गांव के लोगों के गुणों और अवगुणों का पूरा और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। उनकी गरीबी और उदारता, सरलता और कठोरता, उनके रीतिरिवाज,

सामाजिक नियम, कार्य व्यवहार आदि का चित्रमय रूप उपस्थित किया गया है। साथ ही उनकी पीड़ित स्थिति का भी ऐसा सत्य और सजीव चित्रण है कि वह सहानुभूति का उत्तेजक बनता है पाठक की। ग्रामीण जनों--स्त्री पुरुष बाल, वृद्ध--की मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों का इतना स्वाभाविक, विशद, औचित्य-पूर्ण और सजीव चित्रण किया है कि पाठक सिनेमा देखने लगता है, घर में ही।

प्रेमचन्द जी के प्रायः सभी प्रमुख उपन्यासों में गांव का विशेष चित्रण हुआ है, कहीं कुछ उद्देश्य लेकर और कहीं कुछ उद्देश्य लेकर। सभी में उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि और सूक्ष बूझ एवं जीवन को सूक्ष्मतया देखने की शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन होता है। काया कल्प, प्रेमाश्रम रंग-भूमि, कर्म-भूमि, गोदान आदि में ग्राम्य जीवन का विशद वर्णन हुआ है। ग्रामीण जीवन की सभी मस्तियों और विषमताओं का स्वाभाविक चित्रण उनमें हुआ है। अपढ़ धर्म भीरु, दरिद्र, भाग्यवान् दीन हीन किसान, उसका परिवार उसके खेत, खलिहान बैल, हल सब का स्वाभाविक चित्रण है। शोषण के पक्ष में, साहूकार, पटवारी, तहसीलदार. चपरासी. सिपाही और ज़मीदार का भी वर्णन हुआ है। इनके बिना भी ग्राम्य जीवन का चित्र पूरा नहीं बनता। देखिये साहूकार और किसान की बातचीत। साहूकार कुछ गिरवी रखकर १०) देने करके किसान के हाथ पर ५) ही टिका देता है—

'यह तो पांच ही हैं, मालिक।'

"पांच नहीं दस हैं। घर जाकर गिनना।"

"नहीं सरकार ! पांच हैं !"

"एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं ?" "हां सरकार !"

"एक तहरीर का ?" 'हां सरकार।"

"एक कागद का ?" "हां सरकार !"

"एक दस्तूरी का ?" "हां सरकार !"

"एक सूद का ?" "हां सरकार !"

"पांच नकद, दस हुए कि नहीं ?" "हां सरकार ! अब ये पांच भी मेरी ओर से आप रख लीजिये।"

"क्या पागल है।" "नहीं सरकार! एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-करम के लिए।"

इनके अतिरिक्त ढोलक मजीरे का शब्द गाव मे अवश्य सुनाई पड़ता है। होली, आल्हा, कजली, रामायण, आदि उनके गान के विषय बनते हैं। परस्पर बहुत ममत्व है, ग्रामीणों में, परन्तु आपस में ईर्षा द्वेष भी जरा जरासी बातों पर होते रहते हैं। घर मे मार-पीट भी होती है। व्यभिचार वृत्ति का भी वर्णन है। गांव के लोगों की समस्त दिनचर्या--आनन्द-मूलक और कष्ट-मूलक--का विशद चित्रण हुआ है। यह ग्राम्य चित्रण उनकी अनेक कहानियों का भी विषय बना है। इसमें सर्वत्र ही लेखक की प्रखर प्रतिभा और विधायक कल्पना के दर्शन होते हैं। ग्राम्य जनों की आन्तर और बाह्य प्रवृत्तियों का जैसा सूक्ष्म और विशद ज्ञान प्राप्त करके, स्वाभाविक चित्रण किया है, वह अन्य मे प्रत्यक्षवत् है। अतः उन्हें इस ग्राम्य जीवन के चित्रण में पूर्ण सफल मानना चाहिये।

६—"गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के शुभ प्रभाव का स्मरण, जब तक भाषा के लिए शुद्धता की आवश्यकता समझी जायेगी, तब तक बना रहेगा।" इस पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट कीजिए।

७—द्विवेदी-युग भाषा की शुद्धता और परिष्कार के लिए विशेष प्रसिद्ध है। भारतेन्दु युग में खड़ी बोली गद्य में रचना तो बहुत हो चुकी थी, पर उसमें व्याकरण की शुद्धि नहीं थी, न परिष्कृति थी, न व्यवस्था थी। व्याकरण नियम सर्व-स्वीकृत रूप में नहीं बने थे। यह कार्य द्विवेदी जी द्वारा पूर्ण हुआ। सरस्वती के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य का सर्व-मुखी उत्थान किया। उन्होंने अनेक नवीन विषयों की अवतारणा करके हिन्दी की ज्ञान वृद्धि की, साहित्य के विभिन्न अंगों को प्रोत्साहन दिया और सब से अधिक ध्यान भाषा को, व्याकरणनियम और विराम आदि चिन्हों से युक्त, व्यवस्थित और परिष्कृत बनाने की ओर दिया। उन्होंने व्याकरण-नियमों

को लेकर विभिन्न लेखकों की भाषा की आलोचना करके, शुद्ध लिखने की प्रवृत्ति बढ़ाई। नवीन नियमों का निर्माण भी किया। भाषा में विराम-चिन्हों के प्रयोग की व्यवस्था की प्रतिष्ठा की। वाक्य-विन्यास और पद-परिष्कार की ओर भी ध्यान दिया। इन्हीं की प्रेरणा पर श्री कामता प्रसाद गुरु ने सर्व-प्रथम हिन्दी का एक आदर्श और वृहद् व्याकरण उपस्थित किया। इन्हीं की प्रेरणा, नेतृत्व में साहित्य में अनेक कवियों, महाकवियों और बड़े बड़े लेखकों का जन्म हुआ। इन्होंने तीखी परन्तु विद्वत्ता-पूर्ण अपनी आलोचना के दण्ड से अनेक प्राचीन लेखकों की भाषा शुद्ध करवाई, अपने समकालीनों का पथ-प्रदर्शन किया और नवोदितों को शुद्ध और व्यवस्थित एवं परिष्कृत भाषा लिखना सिखाया। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की स्थापना की तो इन्होंने उस को शुद्ध परिमार्जित और व्यवस्थित किया। भाषा की शुद्धता के लिये हिन्दी पर द्विवेदी जी का अपार ऋण है। इसी को मानते हुए हिन्दी-साहित्य का एक युग इन्हीं के नामपर प्रचलित है। अतः यह कहना सर्वथा उचित है, जो कि प्रश्न में कहा गया है

अथवा

रसज्ञ रंजन अब परीक्षा में नहीं है।

७—"ठीक खड़ी बोली के आदर्शों का निर्वाह भट्ट जी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं।" भट्ट निबन्धावली से उदाहरण देकर पक्ष या विपक्ष उपस्थित कीजिए।

उत्तर—भट्ट जी की शैली बड़ी मुहावरेदार और व्यंग्य-पूर्ण है। यत्र तत्र कहावतों का भी प्रयोग उनकी भाषा शैली को बढ़ावा देता है। वाक्य-विन्यास व्यवस्थित है। व्याकरणकृत शुद्धता भी विद्यमान है। उनकी भाषा चलती हुई और प्रभावोत्पादक है। उन्होंने अपने ढंग की गद्य भाषा की शैली को प्रचलित करने के लिए ही हिन्दी-प्रदीप निकाला था, जिसे उन्होंने ३२ वर्ष चलाया। इसमें इनके विभिन्न—साहित्य से लेकर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि—विषयों पर छोटे छोटे निबन्ध रहते थे। इस प्रकार विभिन्न विषयों पर लगातार लिखते रहने के कारण इनकी

भाषा बहुत व्यवस्थित और परिमार्जित हो गई थी किन्तु अवधी या पूरबी का प्रभाव इनकी भाषा पर बहुधा आ जाता है। भाषा सुसंस्कृत होते हुए भी बीच बीच में अवधी शब्दों और क्रिया पदों का व्यवहार खटकता है। विशेपतया, खाय, पाय, जाय आदि अवधी के प्रयोग तो इन्होंने अपनी भाषा में प्राय: सर्वत्र ही किया है। देखिये इनके 'दिल बहलाव के जुदे जुदे तरीके" शीर्षक निबन्ध की भाषा—

'कितने सब काम काज से छुटकारा पाय दिल बहलाने को बाहर निकलते हैं। ... सब काम से फुर्सत पाय किसी बैठक में आ बैठे हाहा-ठी ठी करते हैं... घन्टों तक उसी में समय बिताय घर की राह ली, दिल बहल गया।... नाक चढ़ाय चढ़ाय मुंह बगार बगार... ।

'उपदेशों की अलग अलग बानगी" नामक प्रबन्ध की भाषा देखिये—जिसमें अपना बनै, सो करो । सवेरे उठ साँझलौं .... किसका किसका सुनैं, किसे सच्चा मानैं ...। यह नियत जो डिगमगानी कि साख कोसों दूर हटी।"

किन्तु इन प्रयोगों के अतिरिक्त उनकी भाषा प्रांजल और प्रवाहमय है। उसमें विनोद और व्यंग्य की मात्रा से वह चटखदार बन जाती है—

"व्यौपार में नीयत की बरकत रहती है, जिससे सूत का बांधा हाथी चलता है। हमारे देश की महाजनी में और साख है क्या ? ... हुण्डी परचा बन्द कर दिया। दिवालिये बैठे बैठे सिर खुजलाया करें और मक्खी मारते रहें।"

८. निम्नोद्धृत अवतरणों की विशद व्याख्या कीजिए:—

(क) नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।

(ख यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिए प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं और दूसरे में निवृत्ति का।

उत्तर—नाद ध्वनि का नाम है। नाद-सौन्दर्य से अभिप्राय ध्वनि का

सौन्दर्य या संगीत का सौन्दर्य है। कविता के साथ संगीत या नाद का संयोग वैदिक काल से चला आता है। यह नाद-सौन्दर्य छन्दों विधान के रूप में विकसित हुआ। आदि कवि से लेकर कवियों ने अपनी कविताओं में नाद के सौन्दर्य का संयोग किया है। उन्होंने नाद-सौन्दर्य के लिए, अपने भावों के अनुकूल छन्दों का प्रयोग किया, जिससे उनकी कविता के भाव का स्वरूप और भी अधिक मोहक और विशद बना है। जिन कवियों ने छन्द का प्रयोग न करके गद्य में ही कविता की है, उन्होंने भी अपनी गद्य में भावानुकूल संगीत का ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ कादम्बरी को लिया जा सकता है। गद्य होते हुए भी उसमें भाषा का संगीत अनुभूत होता है, जो भाषागत भाव का पोषण करता है। निराला के गद्य-गीत या स्वच्छन्द छन्द गद्य में भी नाद-सौन्दर्य के प्रभाव के सूचक हैं।

कविता और संगीत दोनों दो पृथक् कलाएं हैं। कविता सार्थक भाषा के द्वारा भावों की अभिव्यंजना करती है और संगीत कला शब्द के केवल नाद (ध्वनि का आधार लेकर ही भावाभिव्यंजन करती है। भिन्न ध्वनियों की योजना के अनुसार नाद उत्पन्न करने से विभिन्न भावों की अभिव्यंजना होती है। गायक निरर्थक "ताना री री" आदि के तरानों से विविध भावनाओं का प्रभाव श्रोताओं के मन पर उत्पन्न कर देता है। इसी आधार पर संगीत का राग-विधान चलता है। कविता में सार्थक शब्दों का सहारा लिया जाता है। संगीतकार कण्ठ-ध्वनि से जिन भावनाओं को साकार कर देता है कवि उनके लिए शब्द और अर्थ का सहारा लेता है। दोनों कलाएँ भाव का सुन्दर साकार अभिव्यंजन करती हैं, पृथक् पृथक् रूप से। किन्तु यदि इन दोनों का ही एकत्र सयोग कर दिया जाय तो अवश्य ही दुगना प्रभाव और सौन्दर्य उत्पन्न हो जायगा। बरसाती राग में यदि बरसात के विषय की ही कविता हो तो सोने में सुगन्ध हो जाती है। राग का प्रभाव दुगना हो जाता है। इसी प्रकार सुन्दर भाव-पूर्ण काव्य स्वतः चमत्कारक होते हुए भी, जब संगीत या नाद के साथ संयुक्त हो जाता है तो विशेष प्रभावशाली हो जाता है। शृंगार—विप्रलंभ—के काव्य का

यदि बरसाती राग में निबन्धन होगा, तो विरह का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट होगा।

कवि लोगों ने राग-विधान के संकुचित नियमों से बाहर निकल कर कविता के लिये नवीन छन्दो-विधान या नाद-विधान की व्यवस्था की। छन्दो-विधान का अनन्त विकास हुआ, भावनानुकूल विविध छन्दों का कवियों ने प्रयोग किया। नाद का आश्रय लेकर भाव में प्रभावोत्पादकता और साकारता आजाती है इसी कारण कवियों ने ही नहीं उपदेशकों, स्मृतिकारों आयुर्वेदकारों तक ने नाद या छन्द का आश्रय लिया। कवियों में बड़े बड़े कवियों ने संगीत-मय ही भाव अभिव्यक्त किये। अतः नाद का सौन्दर्य भाव के चमत्कार, उसकी विशदता और प्रभाव में वृद्धि करके उसका साकार रूप उपस्थित कर देता है, यह सिद्ध हो जाता है।

(ख) राम और रावण के चरित्रों से दो प्रकार की शिक्षाएं मिलती हैं। राम का चरित्र हमें, जो करना चाहिये, उसकी शिक्षा देता है। वह हमें प्रवृत्ति की शिक्षा देता है, कि अमुक सत्कार्यों में प्रवृत्ति होनी चाहिये, कर्तव्य कर्म क्या है, किस प्रकार उसका निर्वाह करना चाहिये। अपने विशाल जीवन में राम ने सभी सांसारिक सम्बन्धों के आदर्श उपस्थित किये हैं, जिन्हें जानकर स्वतः मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होती है। अतः राम का चरित्र हमारे विशेष काम का है। हम उससे लाभ उठा सकते हैं प्रवृत्ति या कर्तव्य की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। रामायण हमें शिक्षा देती है कि "रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् (राम के समान प्रवृत्ति करिये)।"

उन के विपरीत रावण का चरित्र है, जो सब प्रकार से अनाचरणीय है। उस में, दम्भ, अभिमान, हठ, क्रूरता, निर्दयता आदि दुर्गुण मिलते हैं। उसके काम अकार्य हैं। उनके करने वाला पाप और दण्ड का भागी बनता है, जैसे कि रावण बना। मदिरा पान, व्यभिचार, परस्त्री-अपहरण आदि घृणित कार्य सदैव घृणा के योग्य रहेंगे। उन्हें करने वाला वैसा ही दण्ड पायेगा, जैसा कि रावण ने पाया। अतः वे अकरणीय हैं। इस प्रकार, रावण का चरित्र भी हमारे काम का है, वह हमें अपकार्यों से निवृत्ति की शिक्षा देता है, अपना परिणाम दिखाकर। रामायण हमें, रावण के चरित्र से शिक्षा

देती है कि रावण के समान आचरण नहीं करो, "रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत् ।" इस प्रकार राम के चरित्र से जहा हमें सत्कार्यों के प्रति प्रवृत्ति की शिक्षा मिलती है, वहां रावण के चरित्र से हमें अपकार्यों से निवृत्ति या बचने का उपदेश मिलता है । प्रश्नगत उक्ति का यही अभिप्राय है ।

९—मन्त्री राक्षस का चरित्र-चित्रण करते हुए उन त्रुटियों को दिखा इए, जिनके कारण राक्षस को अपने प्रयास मे सफलता नहीं मिली

१०—राक्षस महानन्द का प्रधान मन्त्री था । बड़ा बुद्धिमान् विद्वान्, विलक्षण व्यक्ति था । शुक्र नीति और विदुर नीति दोनों का प्रयोग-कुशल पण्डित था । केवल नीति शास्त्र का ही विद्वान् नहीं था, और भी अनेक शास्त्रों का ज्ञान रखता था । कोरा नीतिज्ञ ही नहीं था, विकट योद्धा था, अत्यन्त बलशाली, जिस की प्रशंसा उसके शत्रु भी करते थे । वह राजनीति और रण नीति दोनों मे परम कुशल था । शस्त्र-संचालन में भी निपुण था । सच्चरित्र था । किसी मादक द्रव्य का सेवन नहीं करता था । पूर्ण स्वामी-भक्त, था स्वामी के मरजाने परभी उसके प्रतिभक्ति में ढील नहीं होने देता था, मरने पर भी उसका बदला लेने के लिए कष्ट उठाता रहा । परम साहसी था, अपने बलपर अभिमान करने वाला, चन्दन दास को अकेला ही लड़कर बचाने चल देता है । अत्यन्त उद्योगी और क्रिया-शील है , गिरती पड़ती दशा में वह इतने राजाओं को सदल बल एकत्र करता है । उसकी विद्या, बुद्धि, सच्च-रित्रता, सत्यता, वीरता, नीति-कुशलता की चाणक्य भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करता है । निरभिमानी भी है चाणक्य की तरह शेखी नहीं मारता । अत्य-न्त मित्र-भक्त था, उसके लिए जान देने को तैयार हो जाता है ।

किन्तु यह सब होते हुए भी वह बहुत सरल प्रकृति का था । सब पर विश्वास कर लेता है । चाणक्य के गुप्तचरों को ही अपने अभिन्न हितू समझ लेता है । वे ही उसे अन्त में धोखा देते हैं । उसे शंका बनी रहती है, कि चाणक्य के कुछ गुप्तचर उसके पक्षमें आ मिले हैं, पर वह अपने निजू व्यक्तियों पर किसी पर भी सन्देह नहीं करता है । चाणक्य की प्रत्येक चाल पूरी होने पर उसे आश्चर्य होता है । इसी विश्वासी वृत्ति के कारण उसे अन्त तक धोखा ही होता है । बहुत उदार भी है, मलय केतु द्वारा

प्रदत्त अलंकार सिद्धार्थक को देदेता है। उसी से अन्त में वह फँसता भी है। भोला है, चाणक्य द्वारा भेजे गहनों को खरीद लेता है, छानबीन नहीं करता। सबसे बड़ी बात यह कि वह प्रत्येक समय चिन्तित रहता है, इस कारण, बात भूल जाता है। मुद्रा गलती से भागते समय, साथ नहीं लेता। वह शत्रु के हाथ में पड़कर अन्त में उसके अन्त का कारण बनती है। अपने गुप्तचरों को भूल जाता है। उसे यही याद नहीं रहता कि किसे किस काम पर नियुक्त किया था। वह रहस्य-गोपन भी नहीं कर पाता। अनेक स्थानों पर गोप्य बात को भी प्रकट कर देता है। अत्यन्त स्नेही और दयालु है। दयनीय स्थिति में देखकर चाणक्य के गुप्तचरों को आश्रय देता है। ये बातें किसी को सफल कूटनीतिज्ञ नहीं बना सकतीं। वह बड़ी २ षड्यन्त्र-योजनाएँ बनाता है, पर ऐसे ही विश्वासघातों के कारण उनमें से कोई भी पूरी नहीं होती, विफलता ही सामने आती है। भाग्यवादी भी है, ज्योतिष के अनुसार चलने वाला भी है। किसी के प्रति निर्दयता नहीं करना चाहता। बड़े से बड़ा दण्ड देश-निर्वासन का देता है। किन्तु ये सब सद्गुण अक्सर राजनीति या कूटनीति में बाधक ही बनते हैं। राक्षस को इन्हीं कारणों से अपमानित होकर मलयकेतु का भी अन्त में साथ छोड़ना पड़ता है। ये ही वे त्रुटियाँ थीं राक्षस में जिनके कारण उस अपने प्रयत्न में पूर्ण असफलता प्राप्त हुई।

१० "प्रसाद के नाटकों में नाटकीय तत्व की अपेक्षा कवित्व-कला का प्राधान्य है।" चन्द्रगुप्त के आधार पर इसका सप्रमाण समर्थन या खण्डन कीजिए।

उत्तर—यह कहना सर्वांश में संगत नहीं है कि प्रसाद के नाटकों में नाटकीय तत्त्व की अपेक्षा काव्यत्व प्रधान है। यह ठीक है कि प्रसाद मूलतः कविहृदय रखते थे। भावुकता उनके स्वभाव की विशेषता थी। वे नाटककार बनने से प्रथम ऊँचे कवि बन चुके थे। यह कवित्व उनके साथ सदैव रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक किसी में भी उनकी यह कवित्व-वृत्ति वियुक्त नहीं होती। नाटक भी काव्य का ही भेद है। उसमें काव्यत्व सदैव रहता है अतः यदि स्पष्ट रूप में नाटकीय शैली काव्यत्व के गुणों से युक्त हो तो

कोई दोष नहीं। प्राचीन संस्कृत नाटकों में सुन्दर से सुन्दर कविता मिलती है। कालिदास, भवभूति आदि भला नाटक-लेखन में अपनी कवित्वृत्ति कैसे छोड़ सकते थे? शकुन्तला या उत्तर-राम-चरित का जहां नाटकीय महत्त्व है, वहाँ कवितागत महत्त्व भी कम नहीं है। क्या उनके नाटकों में कवित्व का प्राधान्य माना जायगा? अथवा शेक्सपियर के नाटकों में क्या कवित्व को प्रधान माना जायगा, नाटकीयता की अपेक्षा? क्या उनमें कविता नहीं है? शेक्सपियर ने कविता ही प्रधानतया नाटकों के रूप में ही की है। क्या कवित्व की विशेष सत्ता बंगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में नहीं मिलती? उनके नाटकों में कवित्व का पूरा परिपाक हुआ है। कारण यह है, कवित्व से उक्ति में चमत्कार आता है, प्रभाव के वैशद्य और चमत्कार में अभिवृद्धि होती है। फिर भला नाटककार उसका मोह कैसे छोड़ सकता है? प्रसाद के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। उन्होंने भी कविता से अपने नाटकों को सजाया है। उनकी शैली उनमें कवित्वमय है। स्वगत भाषणों और कथोपकथनों में कवित्व की छटा का पूर्ण दर्शन होता है। पात्र सुललित, अलंकार-गर्भित, भाव पूर्ण भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। गीतों में कवित्व निस्सन्देह है ही। प्रसाद वस्तुतः माधुर्य से कभी अछूते नहीं रहे. दार्शनिक नीरसता और भावमय मधुरता इन दोनों ही विरोधी गुणों की सत्ता प्रसाद में मिलती है। उनके वीर रस के नाटकों में भी सबमें शृंगार का मधुर संयोग विद्यमान रहता है। इस कवित्व के कारण उनकी नाटकीय शैली में प्रभाव विशेष उत्पन्न हो जाता है। यह बात अवश्य है कि उनकी इस कवित्व-वृत्ति के कारण कहीं कहीं क्लिष्टता भी आजाती है, जिससे, समझने में कठिनाई उपस्थित होती है। विशेषतः संवादों में। संवाद—विशेषतः स्वगत भाषण—कहीं कवित्व के कारण बहुत पेचीदा हो गये हैं। लम्बे भी हो गये हैं, जिससे दर्शकों में उद्वेजकता या शिथिलता सी उत्पन्न होती है। ऐसा विस्तार प्रसाद ने अधिकांश में हार्दिक भावनाओं के आवेग एवं प्रभाव के विशदीकरण के लिए और कवित्व-चमत्कार के लिये किया है। गीत भी अनेकत्र अनावश्यकरूप से लम्बे लम्बे और कवित्व-गर्भित बने हैं।

उनमें अनेक मुक्तक गीति-काव्य हैं उत्तम श्रेणी के। ये कहीं कहीं प्रकरण के अनुरूप भी नहीं होते। नाटकीय शैली में सुकरता और सुबोधता दोनों होनी चाहियें, तभी उसका प्रभाव समस्त श्रोताओं पर समान रूप से पड़ सकता है। आधुनिक नाटकीय विधान में, इसीलिये, नाटक को कवित्व से पृथक् रखने की चेष्टा होती है, नाटककार कवित्व-सौन्दर्य से नाटक को यथासंभव मुक्त रखने को सचेष्ट रहता है। किन्तु प्रसाद के नाटक निम्न वर्ग के लिए न होकर, प्रधानतया शिक्षित वर्ग के लिए लिखे गये हैं, उनके विषयों और शैली से यही सूचित होता है। अतएव उनकी शैली कवित्व-गर्भित है। उसकी वह दुरुहता इतनी दुरूहता नहीं रहती, इस दृष्टि से। विशेष काव्यत्व-गर्भित स्थलों पर अवश्य ही नाटकीयता से कवित्व प्रधान मानना चाहिये, किन्तु इसको उनके समस्त नाटकों की ही विशेषता मान लेना संगत नहीं। प्रसाद ने नाटकीयता के निर्वाह के साथ साथ, उसकी प्रभाव-वृद्धि का भी विशेष ध्यान रखा है। इस प्रभाव वृद्धि में उनके कवित्व ने विशेष योग दिया है।

नाटकीय विशेषताओं का प्रसाद ने पूरा पालन किया है। उन्होंने पौर्व और पाश्चात्य दोनों नाटकों की शैलियों के सम्मिश्रण से अपनी मौलिक शैली का निर्माण किया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र का मूलतः आधार रखते हुए, उसमें समयोपयोगी अनेक आवश्यक मौलिक परिवर्तन करके, अपनी शैली को वे व्यावहारिक रूप में लाये हैं। उनका कथानक नाटकोपयुक्त अत्यन्त गतिशील होता है। प्रथम और अन्तिम दृश्य विशेष प्रभावशाली होते हैं। दृश्यों की पीठिका विशेष आकर्षक रखी जाती है। वस्तु का क्रमिक विकास, पात्रों का चरित्र चित्रण, वेश भूषा आदि सभी नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त हैं। देश-काल तो प्रसाद के नाटकों के प्राण ही हैं। उनके चित्रण में प्रसाद जी को पूरी सफलता मिली है। संक्षेप में, नाटकीय तत्व की प्रधानतया उपलब्धि प्रसाद के नाटकों में होती है। कवित्व का विशेष प्रभाव भी उनमें उपलब्ध होता है, परन्तु उसे प्रधान नहीं माना जा सकता। प्रसाद जी नाटक लिखते समय वस्तुतः नाटक ही लिखते थे, वही उनका प्रधान उद्देश्य रहता था।

हाँ, रंगमंचीयता के लिहाज से उनके नाटकों में त्रुटियां हैं। नाटकों का विस्तार बहुत है। दृश्य-विभाजन और दृश्य-संयोजन भी रंगमंचीय सुविधाओं का ध्यान रखकर नहीं किये गये। अनेक दृश्य भी उनमें ऐसे होते हैं, जो मंच पर दिखाने कठिन हैं। आदि आदि त्रुटियों से उन्हें आसानी से नहीं खेला जा सकता। किन्तु उनमें थोड़ा परिवर्तन करके उन्हें मंच के उपयुक्त बनाया जा सकता है, इस बात को भी कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। अतः प्रसाद के नाटको की नाटकीयता सर्वथा समुचित रहती है।

चन्द्रगुप्त उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में है। रंगमंच की दृष्टि से चन्द्रगुप्त में भी कथानक लम्बा है। उसमें दो विशेष कथाएँ परस्पर मिली हैं—चन्द्रगुप्त की राज्य प्राप्ति की और सैल्यूकस की। इन दोनों का ही समन्वय कर, लेखक ने चन्द्रगुप्त की कथावस्तु का निर्माण किया है। कथा का निर्वाह नाटकीय ढंग पर हुआ है। आरम्भ और फल-प्राप्ति विशेष प्रभावोत्पादक बने हैं। कार्य की अवस्थाएं, अर्थ-प्रकृतियां और सन्धियां नायक, नायिकादि, सभी का निर्वाह उचित नाटकीय प्रणाली में हुआ है। देश-काल का वर्णन और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी नाटकोपयुक्त हुआ है। उनमें मार्मिकता, गम्भीरता और स्वाभाविकता है। चन्द्रगुप्त की भाषा भी नाटकीय ढंग के अनुरूप क्लिष्ट नहीं हुई है। कहीं भावावेश में ही उसमें संस्कृतमयता की क्लिष्टता आई है। नहीं तो वह भावानुरूप रूप बदलती हुई चली है। मधुर स्थानों पर माधुर्य और आवेश-पूर्ण स्थलों पर आवेश उसमें आये हैं। कथोपकथन और शैली नाटकीय गुणों से युक्त है। चन्द्रगुप्त का आरम्भ तक्षशिला के मनोहर प्राकृतिक क्षेत्र में होता है। गुरुकुल के पावन वातावरण का राज्य है। अन्त चन्द्रगुप्त की राज्यप्राप्ति और सिल्यूकस की पराजय में होता है। आरम्भ और अन्त दोनों ही आकर्षक हैं। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिल्यूकस आदि पुरुष पात्रों और अलका, सुवासिनी, कल्याणी, कार्नीलिया आदि स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक है। कथोपकथन बड़े मार्मिक और नाटकीय ढंग के हैं। उनमें इतनी कवित्व पूर्णता भी नहीं है कि उनपर भाव-

अस्पष्टता का दोष लगाया जाय। वे सर्वत्र पात्र के चरित्र, उसके स्वभाव और उद्देश्य का प्रकाशन कर, कथा को गति देने वाले हैं।

यवन—दुर्ग-द्वार टूटता है और अभी हमारे सैनिक इस दुर्ग को मटिया-मेट करते हैं। मालवों के लिए औत्सुक्य है।

मालव सैनिक—सेनापति! रक्त का बदला। इस नृशंसने निरीह जनता का अकारण वध किया है। स्पष्ट स्मृति का रूप है।

सिंहरण—ले जाओ, सिकन्दर को उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यह वही सिकन्दर है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का। यह प्रत्युत्तर है।

❀ ❀ ❀ ❀

चन्द्रगुप्त (सिल्यूकस से)-जाओ यवन! सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना।

❀ ❀ ❀ ❀

चाणक्य—केवल तुम्हीं लोगों को अर्थ-शास्त्र पढ़ाने ठहरा था।

सिंहरण—आर्य! मालवों को अर्थ-शास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी अस्त्र-शास्त्र की।

❀ ❀ ❀ ❀

देश काल का निर्वाह देखिये किस उचित ढग से किया गया है—

सिंहरण—उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्जरित हैं।

राजनैतिकदशा का प्रतिविम्ब दिया गया है। राष्ट्र भावना देखिये—

चाणक्य—मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म सम्मान) मिलेगा।"

सिंहरण—किन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। क्या यही समग्र आर्यावर्त है?

धर्म—संघर्ष का प्रतिविम्ब निम्न वार्तालाप में मिलता है—

राक्षस—केवल सद् धर्म की शिक्षा ही मनुष्य के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है।

चाणक्य—परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो'''

इनके अतिरिक्त नन्द के चरित्र में तात्कालिक विलासिता का दर्शन होता है। अध्ययन-अध्यापन की गुरुकुल व्यवस्था का दर्शन होता है। सामयिक द्वेष, विद्वेष, राज्यनीति और राजनीति आदि का भी प्रतिबिम्ब स्पष्टतया उपलब्ध है।

इस प्रकार, चन्द्रगुप्त समस्त नाटकीय तत्वों से अन्वित उच्च श्रेणी का नाटक है, जिसमें सहायक रूप में कवित्व का भी परिपाक है। अभिनय या रंगमंच-सम्बन्धी जो त्रुटियां दृष्टिगत होती हैं, वे हिन्दी में प्रसाद-काल में कोई व्यवस्थित रंगमंच-परम्परा नहीं होने के कारण है। प्रसाद को शेक्सपियर के समान रंगमच का व्यक्तिगत अनुभव नहीं था। भारतीय रंगमच की जो दशा थी, पारसी कम्पनियों के रूप में, वह भी नगण्य थी। ऐसी दृष्टि से रंगमच विषयक त्रुटिया रह जाना स्वाभाविक था। और फिर यह दोष तो आज शेक्सपियर के नाटकों पर भी लगाया जाता है। किन्तु इससे उन नाटकों के नाटकत्व का व्याघात नहीं होता। प्रसाद क नाटकों में भी इसके कारण नाटकत्व की हानि नहीं होती। उनके नाटकों में नाटकीय तत्व पूर्णतया निहित हैं। उनमें काव्य-चमत्कार भी पूर्ण है, किन्तु वह नाटकीयता का सहायक है, उससे प्रधान बनकर नहीं आया है। हां यह बात दूसरी है कि प्रसाद के नाटकों का नाटकीय दृष्टि से जितना मूल्य है, साहित्य या काव्य की दृष्टि से भी उनका महत्व विशेष है। प्रसाद ने काव्य और नाटक दोनों का संयोग उपस्थित किया है। उनके काव्यों में—कामायनी आदि में—नाटकीयता और नाटकों में काव्यमयता स्पष्ट रूप में अनुभूत होती है। अतः प्रसाद के नाटकों में—विशेषतः चंद्रगुप्त में—नाटकीय तत्व की अपेक्षा कवित्व को प्रधान बताना चरितार्थ नहीं होता।

अथवा

"आज के प्रायः अन्य नाटककार, जहां जिन्दगी की चहारदिवारी के चारों ओर घूमते हैं, वहां लक्ष्मी नारायण मिश्र उसे कहीं न कहीं तोड़कर उसके अन्दर घुस जाते हैं।" इस कथन की सचाई परखिये।

उत्तर—श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक जीवन की गहन समस्याओं को लेकर चलते हैं। उनमें किसी न किसी जीवन-समस्या को लेकर कथा-वस्तु चलती है। योरुप भ्रमण के पश्चात् वहां से एक मिश्रित बुद्धिवाद विचार-धारा को लेकर ये आये हैं। इनका आधार तर्क और बुद्धिवाद है। इसीके आधार पर इन्होंने सामाजिक समस्या को देखा है और उसका हल सोचा है। समस्याओं को लेकर इनसे पहिले अन्य नाटककार भी चले हैं भारतेन्दु के काल में अनेक नाटककारों ने समाज धर्म और अर्थ आदि की अनेकों समस्याओं को लेकर, नाटक-रचना की है। प्रसाद-काल में भी ऐसा ही चलता है, परन्तु मिश्र जी की दृष्टि उन समस्याओं के प्रति विरोध रूप से पड़ी है। अपने बुद्धिवाद के नवीन विचारों, उक्तियों और तर्कों के बल पर, इन्होंने समाज की उन चहार दीवारियों को तोड़कर, अंदर जाकर, व्यक्तिगत जीवन की तह तक की खबर ली है। समाज-पीड़ित व्यक्ति के जीवन कीसमस्याओं को इन्होंने लिया है। इस दृष्टिसे ये अपने और अपने से पहिले के युगों के अपवाद-स्वरूप हमारे सामने आते हैं। व्यक्तिगत समस्याओं को प्रथम नाटकीय विषय नहीं बनाया गया था। प्रधान समस्या स्त्री की है, जिसके विभिन्न रूपों—अशिक्षा, परतंत्रता आदि—को मिश्र ने अपने नाटकों का विषय बनाया है। राक्षस का मन्दिर, सन्यासी, सिन्दूर की होली आदि में इसी समस्या के विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है। ईर्षा द्वेष मत्सर, क्रोध प्रेम, वासना आदि का विश्लेषण और चित्रण इनका बड़ा पूरा है। इनके नाटक नारी की परतंत्र और खेदजनक स्थिति का चित्रण करके उसे, संसार का वीरता और साहस से सामना करने का पाठ पढ़ाते हैं। पाप, पुण्य, सेवा, पति-परायणता स्वातंत्र्य आदि पर इन्होंने आधुनिक तर्क द्वारा अपने विचार चित्रित किये हैं। अत एव कहा गया है कि इन्होंने सामाजिक व्यवस्थाओं के संकुचित दायरे को तोड़कर अंदर पिसते हुए व्यक्तिगत जीवन में घुस कर उसका चित्रण किया है।

प्रश्न १० का विकल्प

"चंद्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त केवल प्रयत्न के फल का भोक्ता कठपुतला भर नहीं, प्रयत्न में अपना सक्रिय भाग सुन्दरता के साथ पूरा करने वाला है।" इस कथन की समीचीनता सिद्ध कीजिए।

उत्तर—चन्द्रगुप्त के विषय में उपर्युक्त उक्ति सर्वथा सत्य है। प्रसाद का चन्द्रगुप्त विशाखदत्त के चन्द्रगुप्त से बहुत अंशों में भिन्न है। मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त के केवल राजनैतिक चरित्र का ही चित्रण हुआ है। उसमें चन्द्रगुप्त चाणक्य के आधीन बना सब कार्य करता है। वह स्वयं कुछ नहीं करता, चाणक्य का केवल आज्ञापालक है। अन्य सब लोग उसके लिए कार्य करते हैं, वह कहीं भी सक्रिय कार्य करता हुआ नहीं दिखाया गया। नाटक में दो तीन बार ही उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, यद्यपि उसकी सत्ता का अनुभव सर्वत्र होता रहता है और नाटकीय कथानक भी सब उसी का उद्देश्य लेकर, उसी के हित-साधन के लिए चलता है। वह प्रच्छन्न रहकर, समस्त नाटकीय फल की प्राप्ति--राज्य प्रतिष्ठा-प्राप्त करता है। कार्य उसके लिए चाणक्य करता है, परन्तु फल वह भोगता है। किन्तु चन्द्रगुप्त का चन्द्रगुप्त ऐसा नहीं है। वह नाटक के चरम फल का भोग भी करता है, वह देश-व्यापी अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करता है, पर वह स्वयं उसके लिए प्रयत्न करता है, संघर्ष करता है। चन्द्रगुप्त के जीवन का स्वतंत्र विकास दिखाया गया है। घटना-सूत्रों का संचालक चन्द्रगुप्त में भी चाणक्य ही है; पर चन्द्रगुप्त भी सदैव उसके कन्धे से कन्धा भिड़ा कर कार्य क्षेत्र में अग्रसर होता है। वह निर्भीक है, युद्ध-व्यवसायी है और परम उद्योग शील है। राजनीति या नीति का निर्माण चाणक्य के हाथों होता है, पर चन्द्रगुप्त उसको क्रिया-रूप देता है। चाणक्य मस्तिष्क है, तो चन्द्रगुप्त उसकी भुजाएँ है, जो उसके अनुसार कार्य करती हैं। वह दुर्भेद्य कारागार में से चाणक्य को अकेला छुड़ा लाता है। गुरुकुल से स्नातक होने के पश्चात्, उसका जीवन सारे संघर्ष को अपने ऊपर लेकर चलता है। वह, आपत्तियों से, कठिनाइयों से लोहा लेता हुआ अपने गुरुवर चाणक्य के शब्द-चिह्नों पर चलता हुआ, अन्त में अपने ध्येय की प्राप्ति करता है। अपने परिश्रम का फल भोगता है। पथ-प्रदर्शन चाणक्य का है. किन्तु परिश्रम उसी का है। इस प्रकार श्री आचार्य शुक्ल जी की यह उक्ति उस पर सर्वथा चरितार्थ होती है।

१४. सिन्दूर की होली में अङ्कित मनोज शंकर के चरित्र का विश्लेषणात्मक विवेचन और परीक्षण कीजिए।

उत्तर—मनोज शंकर के पिता को मुरारीलाल ने, भंग पिलाकर, नाव में से नदी में धक्का दिलवा दिया था, आठ हजार रुपये के लिए। तब से पश्चात्तापवश मुरारी लाल मनोज को अपने पास ही रखे है। नाटक के कथानक के प्रारम्भ से यह घटना १० साल पहिले की है। मुरारीलाल उस समय भी डिप्टी कलक्टर था। मनोज को उसी ने पाला पोसा, बड़ा—२२ वर्ष का-किया, ऊंची शिक्षा दिलाई और उसे सिविल सर्विस के लिए विलायत भेजने की तैयारी में था। अपनी २० वर्षीया पुत्री चन्द्रकला से उसका विवाह कर उसे सर्वस्व सौंपने की मुरारी इच्छा रखता था। उसके उस गुप्त भेद का पता उसके मुंशी माहिरअली क सिवा और किसी को पता नहीं था। उसे उसने फांसी देने का डर दिखा रखा था, जिससे वह चुप था। उसने भी उस हत्या में उसकी मदद की थी। नाटकीय आधार बनी घटनाओं की पृष्ठ-भूमि यही है।

म ोजशकर का नाटक में प्रथम दर्शन तब होता है, जब वह लखनऊ से परीक्षा छोडकर वापिस आ जाता है। उसके आने से पहिले भगवन्तसिंह से १० हजार की रिश्वत लेने की घटना हो चुकी थी। मनोज आदर्श विचारों का भावुक युवक है। वह चन्द्रकला को पत्नी के रूप में देखता है पर न जाने क्यों उसकी ओर पूर्णतया आकृष्ट नहीं होता। उसको बताया गया है कि उसके पिता ने आत्म-हत्या कर ली थी। वह कारण पूछता है तो कोई बताता नहीं। वह उसी दुख में घुला रहता है। उसका स्वास्थ्य भी बिगड जाता है। पढाई में उसको रुचि नहीं होती। उसी दुःख में उसका जीवन नीरस बना हुआ है। वह बसरी का प्रेमी है और उसे बजाकर अपने मन का दुख हलका किया करता है। वह विचारशील है, पर उसमें मुरारीलाल के परिवार के प्रति सन्देह सा रहता है। आत्म-हत्या के कारण को केवल मुरारीलाल जानता है और वह उसे किसी भी शर्त पर बताने को तैयार नहीं होता। मनोज इसी लिए दुखित रहता है।

वह भावुकता-वश चन्द्रकला और मनोरमा दोनों की ओर आकृष्ट रहता है। चन्द्रकला भी, यह जानते हुए भी कि उस से उसका विवाह होना निश्चित है, उसकी ओर पूर्णतया आकृष्ट नहीं है। एक ही दर्शन में रजनी कान्त उसका हृदय चुरा लेता है। मनोरमा उसका चित्र बनाती है। उस पर अधिकार के विषय में भी मनोरमा और चन्द्रकला में विवाद होता है। चन्द्रकला अपने मन की भावना उसे बता देती है। मनोज भी आकर चन्द्रकला में कुछ परिवर्तन देखता है। वह उसकी ओर व्यंग्य तो सदैव करता रहता है। वह भी जानती है कि मनोज उसके प्रेम का विशेष आदर नहीं करता। दोनों में प्रेम नहीं था। चन्द्रकला स्वयं मानती है मनोरमा के पास। रजनी कांत की घायल लाश लाई जाने पर तो चन्द्रकला का बे-हाल हो जाता है। डाक्टर बुलाया जाता है। डाक्टर सब को बबरा देता है। मनोज उसकी दशा कुछ समझता है। रही सही अज्ञानता मनोरमा सची बात बताकर दूर कर देती है। मनोज का सन्देह स्पष्ट हो जाता है। उसे थोड़ा क्षोभ भी होता है, जैसा कि वह उसके थोड़ी देर बाद मुरारीलाल के पास स्वयं कहता है। मनोरमा उसे अपने साथ अविवाहित रहने को राजी कर लेती है, वह शायद उसकी भाव-परीक्षा कर रही थी। वह सत्यता और भावुकता के कारण प्रतिज्ञा कर लेता है। वह मनोरमा के प्रति आकृष्ट है, शायद प्रेम या मोह भी रखता है।

वह अपनी इसी दुविधा और सन्देह-ग्रस्त दुःख-दशा मे चिड-चिड़ा सा, आदर्शवादी, बहस और तर्क-प्रिय और रूखा सा हो जाता है। व्यंग्यमय, कटु और सत्य बात बोलने की सदैव चेष्टा करता है। वह व्यंग्य बाणों से मुरारीलाल, चन्द्रकला, किसी को भी नहीं बख्शता। डाक्टर से बहस करने लगता है। डाक्टर को पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है। चन्द्रकला की बीमारी को नाटक नाम देता है और अन्त में उसे बाहर घूमने को तैयार करके अपनी बात को सिद्ध भी कर देता है। वह अच्छी तरह जानता है कि चंद्रकला की वैसी दशा क्यों है और कि वह कैसे ठीक हो सकती है। वह उसे हस्पताल ले जाना

चाहता है। चन्द्रकला के कपड़े बदलने के लिये जाने पर, मनोरमा के हृदय में फिर कुछ विचलितता होती है। वह मनोज को स्पष्ट उत्तर दे देती है, कि वह विधवा है, इसलिये उसके साथ नहीं रह सकती।। मनोज को वास्तविक दुःख होता है। पर मनोरमा उसे चन्द्रकला को क्षमा करके उससे मिलजाने की प्रेरणा देती है। चन्द्रकला आजाती है और मनोज उसे लेकर हस्पताल ले जाता है कि रजनी कान्त को देखकर चन्द्रकला की हालत सुधर जायगी। मुरारीलाल को ४० हजार और मिलते हैं। हस्पताल से लौटने पर चन्द्रकला अन्दर चली जाती है। उसने रजनीकान्त के हाथ से सिन्दूर लगवा कर अपनी मांग भरली थी। उसने आजन्म वैधव्य भोगना स्वीकृत कर लिया था अपनी इच्छा से। रजनी कान्त की हालत चिन्ताजनक होने पर मुरारीलाल को अन्तिम बयान लिखने को जाना पड़ता है। मनोज माहिर के मुंह से कुछ संदेह-जनक बात सुनकर उससे वह रहस्य पूछने लगता है। वह इन्कार करता है। उसे लेकर मनोज फिर रजनीकांत को देखने हस्पताल जाता है और रास्ते में उससे अपने पिता की हत्या का सारा रहस्य सुन लेता है।

उधर हस्पताल से लौट कर चन्द्रकला मनोरमा को सिन्दूर लगवाने की सब घटना बता देती है। मनोरमा उसे मना करती है, पर वह अपने निश्चय पर दृढ है। इतने में मुरारी भी हस्पताल से रजनीकान्त की मृत्यु की खबर लेकर लौट आता है। वहां उसे चन्द्रकला की पांव दबाने आदि की सारी चेष्टाओं का पता लग जाता है, अतः वह क्रोध में चन्द्रकला को अन्दर से बुलाता है, उसे डांटता है। मनोज भी माहिर के साथ आजाता है। आते ही मुरारी से साफ कहता है कि उसके पिता की उसी ने हत्या की है। मुरारी मान लेता है और मनोज से चन्द्रकला के साथ विवाह करके सारी सम्पत्ति संभालने को कहता है। परन्तु मनोज उसके प्रस्ताव को घृणा से ठुकरादेता है, परन्तु फिर कहने पर कुछ विचार में पड़ जाता है जो उसकी निर्बलता का सूचक है। चन्द्रकला का निश्चय जान कर सबके मनोरथों पर पानी फिर जाता है। वह भी मुरारीलाल-अपने पिता-के पापों का प्रायश्चित्त

करने को आजन्म वैधव्य भोगना चाहती है। मुरारीलाल की सम्पत्ति मे वह भी कोई भाग नहीं चाहती। नाटक समाप्त हो जाता है।

स्पष्ट ही मनोज के चित्रण के लिए लेखक को शेक्सपियर के हैमलैट मे बहुत कुछ प्रेरणा मिली है। अनेक अंशों में मनोज के चरित्र मे हैमलैट की झलक मिलती है। हैमलैट के समान ही उसके पिता की भी हत्या हुई है जिसके रहस्य का पता लगाने को वह भी बेचैन है। वह भी सदैव उदास और दुःख-दशा में रहता है, फिलासफी और आदर्श की बातें करता है। वह भी अत्यन्त भावुक है। बातचीत भी वैसी ही कटु व्यंग्य पूर्ण करता है, जो चोट करती है। हैमलैट को भी पिता का भूत दिखता था, मनोज को भी स्वप्न होते थे। दोनों के स्वास्थ्य और जीवन की दशा खराब थी। स्वभाव रूखा, तीखा और शुष्क सा था। हैमलैट का सा ही अनिश्चय और दृढ़ता उसमें भी है, वह निश्चय नहीं कर पाता, पर एक बार करके उस पर दृढ़ रहता है। मनोज भी हैमलैट के समान ही शक्की मिजाज का है। ओफीलिया की हैमलैट कटु आलोचना करता था, चन्द्रकला की मनोज करता है। भावुकता और परिस्थिति में सदैव संघर्ष रहता है। हैमलैट के समान मनोज भी प्रत्येक के साथ बहस करता है। दोनों मे शराफत, आदर्श-प्रियता और चारित्रिक दृढ़ता पूर्णतया भरी है। संसार से दोनों असन्तुष्ट हैं। मनोज मनोरमा को चाहता है, पर चन्द्रकला की ओर भी उदासीन नहीं रहता। लगातार सन्देह और संकल्प-विकल्प के कारण उसकी मानसिक दशा भी स्थिर नहीं रहती। नाटक के अन्त पर, मुरारी के प्रस्ताव पर वह विचारने लगता है, हालां कि उसे उस दशा मे उस पर थूक देना चाहिये था। मनोरमा के अस्वीकार करने पर वह निश्चय नहीं कर पाता कि वह आगे क्या करे। ऐसी ही अस्थिर चित्त-वृत्ति से युक्त उसका सारा चित्रण हुआ है।

नोट—इसका विकल्प भाग प्रश्न १० के साथ आचुका है।

———※———

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४

(संवत् २००३)

केवल पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सब प्रश्नों के अंक बराबर हैं।

१.—भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर इन आचार्यों में पहिला स्थान इंशा अल्लाखां, दूसरा सदल मिश्र और तीसरा लल्लू लाल को मिलना चाहिये।" इस कथन को पुष्टि उदाहरणों के साथ इंशा और सदल मिश्र की भाषा की तुलनात्मक विवेचना में कीजिए।

उत्तर—गद्य के प्रारम्भिक प्रवर्तकों में चार नाम प्रमुखतया आते हैं—मुं० सदासुखलाल, इंशा अल्लाखां, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चार लेखक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली का एक व्यवस्थित रूप उपस्थित किया अपनी अपनी विशेषताओं के साथ। उनमें मुंशी सदासुखलाल का लिखा सूर सागर उपलब्ध नहीं है पूरा। उनकी भाषा हिन्दुओं की शिष्ट भाषा--जिसमें पाण्डिताऊपन की ओर अधिक झुकाव है-मानी जाती है। वह आज की संस्कृत-मिश्रित खड़ी बोली के बहुत निकट है। उसमें अन्य ब्रज-भाषा आदि के भी शब्द आये हैं, पर वह हिन्दुओं की शिष्ट साहित्यिक भाषा का व्यवस्थित रूप है, जो उर्दू के साथ साथ स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा था और जिसे वे लोग 'भाखा' कहते थे। अतएव कुछ के मत से खड़ी बोली गद्य का व्यवस्थित रूप उपस्थित करने वाले पहले आचार्य ये ही हैं। किन्तु उनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि उसका उल्लेख अनेक इतिहासों में है।

बाकी के तीनों लेखकों में इन्शा अल्लाखां की भाषा ठेठ खड़ी बोली के लिहाज से अधिक सफल है। उसकी गठन, बनावट, चलाऊपन, चुस्ती, व्यंजकता, मुहावरे आदि सब बहुत ठीक हैं। उसमें कहीं भी शैथिल्य नहीं है। रोचक है। प्रवाहमय है। उन्होंने किसी की प्रेरणा से गद्य नहीं लिखी थी, अपितु स्वयं एक उद्देश्य लेकर गद्य लिखी थी। उनके समय में दो प्रकार

की भाषा इस प्रदेश में प्रचलित थी-एक उर्दू और दूसरी भाखा। उर्दू में अर्बी फारसीमयता अधिक थी और भाखा में संस्कृत और ब्रज भाषाकी विशेषता। इन्शा ने इन दोनों के मध्य की ठेठ हिन्दी गद्य लिखने का उद्देश्य सामने रखा, जिसमें हिन्दीपन के सिवा और किसी भाषा की पुट न हो। उसमें न संस्कृत, ब्रज-भाषा, अवधी आदि का सम्मिश्रण हो और न अर्बी फारसी आदि विदेशी भाषाओं का पुट हो। ऐसी ही भाषा उन्होंने लिखी भी। उसमें हिन्दी या हिन्दवी के ठेठ शब्दों का ही प्रयोग किया है। उसकी शुद्धता की भी रक्षा की है। खड़ी बोली का उर्दू रूप अब तक बहुत कुछ मंज चुका था, उसमें बहुत सी साहित्य-रचना हो चुकी थी और इंशा 'के अच्छे बड़े शायर थे। अतएव इनकी भाषा में व्यावहारिकता अधिक है। वह चटकीली है मुहावरेदार है। किन्तु साथ ही उसमें उर्दू का लहजा और वाक्य-विन्यास भी बहुधा आ जाते हैं। उर्दू के ढंग पर ही 'जातियां खातियां, पीतियां आदि विशेषणों में भी वचन लगाकर प्रयोग किया है। उनके कारण कुछ लोगों को उन्हें खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तक मानने में आपत्ति है। किन्तु उनकी भाषा की अन्य सद्विशेषताओं को देखते हुए, यह दोष नगण्य सा है। वास्तव में उनका उद्देश्य हिन्दी लिखने का था और वही उन्होंने लिखी भी। उनकी भाषा हिन्दी की मिश्रित शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"एक दिन रानी केतकी मदन बान से यों बोल उठी—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ, तू मेरा साथ दे। मदन बान ने कहा—क्योंकर? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बताया और सुनाया—यह आंख मुचौवल के झाँई-झप्पे मैंने इसी दिन के लिए कर रखे थे।" आदि।

"आतियां जातियां जो सांसें है, उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं।

देखने को दो आंखें दी और सुनने को दो कान
नाक भी सबसे ऊँची करदी मरदों को जो दान॥

उपर्युक्त उदाहरणों में खड़ी बोली का ठेठ रूप है, जैसा कि इंशा का उद्देश्य था। आचार्य श्री शुक्लजी के मत से, "आरम्भ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली मुहावरेदार और चलती है।"

लल्लू लाल और सदल मिश्र फोर्ट विलियम्स कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने गिलक्राइस्ट साहब के कहने पर हिन्दी की पाठ्य पुस्तकें लिखीं। लल्लू लाल ने प्रेम सागर और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखे। लल्लूलाल की भाषा के विषय में श्री शुक्ल जी का मत है कि 'लल्लू लाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी ब्रज-रंजित खड़ी बोली है।... अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी, वैसी ही खड़ी बोली लल्लू लालने भी लिखी।" लल्लू लालने जान बूझकर उर्दू या अर्बी फारसी के शब्दों को अपनी भाषा में स्थान नहीं दिया, न मुहावरों का प्रयोग किया। उसमे उनकी भाषा में चलाऊपन और सुगठन नहीं आये। इसके विपरीत उसमें ब्रज भाषा पद्य की सी कोमलता, मधुरता अनुप्रास, तुक बन्दी हैं। ब्रज भाषा का विशेष प्रभाव है। ब्रज-भाषा के शब्दों की भरमार है, वाक्य-विन्यास भी वैसा ही है। वही लचक और वही लहजा आया है। इनकी भाषा पद्यमय गद्य है, जिनमें कविता की गई है। उसमें गद्य की अपेक्षा पद्य की विशेषताएं अधिक हैं। अतः इनको भाषा में व्यावहारिकता नहीं है और न व्यवस्था एवं शुद्धता है। वह ब्रजभाषा गद्य सी है। इंशा की भाषा की तुलना में वह नहीं ठहर सकती। उदाहरण—

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख कर पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड सटक गई, भौहों की बंकाई निरख धनुप धक-धकाने लगा, आंखों की बड़ी चचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

इस उदाहरण में उपर्युक्त सब विशेषताएं और दोष स्पष्ट लक्षित हैं।

इनके विपरीत सदल मिश्र लल्लू लाल के दोषों से बहुत कुछ बच गये हैं। इन्होंने लल्लू लाल के समान अर्बी फारसी अथवा उर्दू के शब्दों का शपथ-पूर्वक बहिष्कार नहीं किया था। न मुहावरों का ही परित्याग किया था। ब्रजभाषा के प्रभाव से भी बचे रहे। उनमें न वैसा काव्यत्व है, न अनुप्रास है और न तुक है, जिससे गद्य में पद्य की विशेषताएं प्रतीत हों। वह खड़ी बोली की संस्कृत-प्रधान मिश्रित शैली का अच्छा उदाहरण है।

लल्लू लाल की भाषा की अपेक्षा इनकी भाषा में अधिक परिमार्जन, अधिक व्यवस्था और अधिक चलताऊपन अथवा व्यावहारिकता है। लल्लू लाल की भाषा काव्य के ही अधिक उपयुक्त है, अन्य व्यावहारिक विषयों के लिए नहीं, किन्तु सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा प्रत्येक विषय के लिए व्यवहार्य है। उसमें मुहावरों के कारण चटकीलापन भी है। उसमें शैथिल्य नहीं है, सुगठता है, इस दृष्टि से इनकी भाषा इंशा की भाषा के समकक्ष रखी जा सकती है, किन्तु उसमें शुद्धता और व्यावहारिकता उतनी नहीं है। व्रजभाषा के प्रयोग भी इन्होंने लिये हैं। और, पूर्वी का तो इनकी भाषा पर विशेष प्रभाव है। अनेक पूर्वी शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण—

'राजा रघु ऐसे कहते हुए वहां से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी औ गिडगिडा गिडगिडा कहने लगी कि महाराज! जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज लडके समेत झट उसको बुला ही लीजिये क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है।"

"इतने में जहां सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी आईं समाचार सुनि जुड़ाई मगन हो हो नाचने लगीं वो अपने अपने देह से गहना उतार उतार सेवकों को देने लगीं और अगणित रुपया अन्न-वस्त्र राजा-रानी ने ब्राम्हणों को बोला बोला दिया।"

उपर्युक्त उद्धरण भाषा की दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं, न साफ सुथरे हैं। परन्तु फिर भी लल्लू लाल की भाषा से इनकी भाषा में खडी बोली अधिक परिष्कृत और अधिक व्यवस्थित है। इंशा की भाषा शुद्धता व्यवस्था और परिष्कार में इनकी भाषा से कहीं अधिक उन्नत है। सदल मिश्र की भाषा में सुनि, जुडाई, सोनन के थंभ आदि व्रजभाषा के शब्द और इहां मतारी जौन आदि पूर्वी बोली के शब्द भी इनकी भाषा में आये हैं। उर्दू के वो शब्द का प्रयोग तो बहुत भद्दा है। इंशा की भाषा में ये त्रुटियां उतनी नहीं हैं। उनमें व्यवस्था-सम्बन्धी चाहे कोई दोष आगया हो, परन्तु प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव से वे बहुत कुछ बचे हैं। उनकी शैली में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट

लक्षित होता है। अतः प्रश्न गत उक्ति में इंशा को पहिला, सदलमिश्र को दूसरा और लल्लू लाल को तीसरा स्थान जो दिया गया हैं, वह उचित ही है।

अथवा

सदलमिश्र की भाषा पर फोर्ट विलियम्स कालिज और इंशा की भाषा पर लखनऊ के नवाब आसफुद्दौला का प्रभाव किस प्रकार व्याप्त है?

उत्तर—सदलमिश्र और लल्लू लाल ने गद्य की पुस्तकें फोर्ट विलियम्स कालिज के प्रिंसिपल जान गिल क्राइस्ट की प्रेरणा पर लिखी थीं। ये पाठ्य पुस्तकें प्रधानतया योरोपीय जनों को देशी भाषा की शिक्षा देने के लिए लिखी गई थी। लल्लू लाल ने तो संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा-गद्य जैसी पंडिताऊ या भाखा गद्य लिखी, किन्तु सदल मिश्रने सरल सीधी और मुहावरदार गद्यभाषा लिखी। उर्दू फारसी के शब्दों का भी बहिष्कार नहीं किया। उनका उद्देश्य हिन्दी गद्य की एक सरल, सीधी और आदर्श शैली लिखने का था, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। सदलमिश्र का नासिकेतोपाख्यान ऐसी ही सरल, सीधी, सुगठित और मुहावरेदार एवं व्यावहारिक गद्य भाषा में लिखा गया है, जिस का निर्माण फोर्ट विलियम्स कालिज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर हुआ है। उदाहरण—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनियम की पुरी समेत नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध गुरु इनका जो वध करते हैं, वो झूठी साक्षी भरते हैं, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या त्याग कर दूसरे की स्त्री को व्याहते-औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप में ही गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे वैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

उपर्युक्त अवतरण में लेखक का प्रयत्न भाषा की संस्कृतमयता की ओर होने पर भी वह दुरूह नहीं हो पाई है। वाक्य-विन्यास में गड़बड़ है, पर तो भी भाषा को व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा है। उनकी इस

व्यावहारिकता का कारण फोर्ट विलियम्स कालिज की फर्मायश ही है। उसी की आवश्यकता को देख इन्होंने हिन्दुओं की पूर्व-परम्परा से प्राप्त शिष्ट भाषा-पण्डिताऊ भाषा-को न अपना कर मिश्रित और व्यावहारिक शैली को अपनाया, जिसको देशी विदेशी सरलता से सीख सकें और अपना सकें।

इंशा उर्दू के बड़े भारी शायर थे। दिल्ली के पश्चात् इंशा लखनऊ में आसफुद्दौला के दरबार में आगये थे। वहां इनको कई बड़ेबड़े उर्दू शायरों से मुठभेड़ हुई, जिन्हें उनसे नीचा देखना पड़ा। खड़ी बोली का उर्दू रूप कविता में बहुत मंज चुका था। उर्दू में उत्कृष्ट साहित्य निकल चुका था। इंशा ने जब इरादतन खड़ी बोली का ठेठ रूप लिखने का प्रण किया तो उर्दू ढंग के लहजे, बनावट, वाक्य-विन्यास, मुहावरे भी स्वभावतः इनकी भाषा में आगये। उसमें चमत्कार-पूर्णता भी आई, व्यवस्था और परिष्कार के साथ उर्दू काव्य की चटकमटक, व्यंजना और चलाऊपन इनकी भाषा में निसर्गतः आगये। दरबारी प्रभाव की सौन्दर्य वृत्ति व्यंजना, मजाक, मस्ती चुहलबाजी और चुश्ती का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। उर्दू के ढंग से वाक्यों में तुक भी मिलती चलती है। यथा—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ, अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया है।"

लहजा और वाक्य विन्यास उर्दू ढंग का है। देखिये नीचे तुक भी मिलती चलती है—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आगई-यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

इस उद्धरण में तुक मिलती चलती है। इनके अतिरिक्त इंशा ने उर्दू के अनुसार ही विशेषणों में भी वचन-भेद डाला है। यथा—

"आतियां जातियां जो सांसें हैं, उसके बिन ध्यान यह सब फांसें हैं।"

    

"घर वालियां जो किसी डौल से बहलातियां हैं।" आदि।

उपर्युक्त उद्धरणों में लखनवी उर्दू-काव्य का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है,साथ ही दर्बारी भावनाओं का भी स्पष्ट प्रतिबिम्ब इनकी भाषा-शैली में मिलता है। इसी अभिप्राय को लेकर प्रश्नगत उक्ति कही गई है, जो अधिकांश में सत्य है।

२—बाल मुकुन्द गुप्त के हास्य और व्यग्य में सामयिक समस्याओं पर निश्चित चोट मिलती है। उद्धरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर—बाबू बाल मुकुन्द गुप्त विनोद-प्रिय व्यक्ति थे, जिनके लिए गंभीर से गंभीर विषय में भी हास्य और व्यंग्य की पुट दे देना स्वभावगत विशेषता है।

बाबू बालमुकन्द गुप्त बहुत ही विनोद-प्रिय व्यक्ति थे, हास्य और व्यंग्य उनकी भाषा-शैली की प्रधान विशेषताएँ हैं। वे प्रथम उर्दू के सिद्ध-हस्त लेखक थे, बाद में उन्होंने श्री मालवीय जी और प्रताप नारायण मिश्र जैसे व्यक्तियों के प्रभाव में आकर हिन्दी मे लिखना प्रारम्भ किया था। ये एक कुशल सम्पादक भी थे। प्रथम बंगवासी के प्रधान सम्पादक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की, फिर भारत मित्र के प्रधान सम्पादक बन गये। ये प्रथम उर्दू के लेखक थे। उसी का प्रभाव इनकी खड़ी बोली में भी आया। उर्दू के समान ही इनकी खड़ी बोली में 'तानाजनी' है, हास्य विनोद है, व्यंग्य और कटाक्ष है। इस युग मे विद्रोह के बीज डल जाते हैं। राजनैतिक षड्यन्त्र भी होते हैं। लेखक लोग भी अपने लेखों के द्वारा ऐसी ही विरोध-मूलक भावनाएँ व्यक्त करते हैं। वे विभिन्न सामयिक विषयों पर छोटे-छोटे लेख टीका टिप्पणी करते हैं। बालमुकुन्द गुप्त भी ऐसे ही लेखकों में हैं। ये सदैव अपने पत्र में विभिन्न सामयिक विषयों पर आलोचनात्मक लेख लिखते थे। परन्तु इनके लेखों में कैसा भी गम्भीर विषय हो, हास्य और व्यंग्य की पुट आ जाती है। ये शिवशम्भु के नाम से लेख या निबन्ध लिखा करते थे। ये भंग पीने का बहाना करके, बड़ी हास्य-विनोदपूर्ण शैली में, किसी न किसी सामयिक विषय को लेकर, उसका वर्णन करते थे।

भंग पीने का बहाना कर लेने पर फिर निःशंक कुछ भी कह डालने का अवसर रहता है। बालमुकुन्द जी ऐसा ही रूपक बांध कर विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाते थे। इन निबन्धों में हास्य विनोद और भंग की तरंग की मस्ती रहने के साथ साथ आलोच्य या वर्ण्य विषय के पक्ष विपक्ष मे आवश्यक आक्षेप या व्यंग्य मूलक चोट भी रहती थी। लार्ड कर्जन के जमाने में जब आतंक और कानूनी सख्ती का दौर दौरा था, उस समय, खुल्लम खुल्ला विद्रोह संभव नहीं था और बा० बालमुकुन्द जैसे व्यक्ति के लिए चुप बैठना भी अस्वाभाविक था। फल स्वरूप इन्होंने शिवशम्भु के नाम से ऐसे ही विनोदपूर्ण लेखों या निबन्धों मे ला० कर्जन पर असंख्य व्यंग्यमय चोटें कीं। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' इनके ऐसे ही लेखों का संग्रह है। श्री आचार्य शुक्ल जी ने इनकी इस विशेषता को इन शब्दों में बताया है, "वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेट कर रखते थे, कि उनका आभास बीच बीच में ही मिलता था। उनके विनोद-पूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार लुके छिपे से रहते थे। यह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी।" यही विशेषता—विनोद हास्य और व्यंग्य के वातावरण मे किसी सामयिक विषय के पक्ष विपक्ष में चोट करने की—नीचे के अवतरणों मे सिद्ध हो जाती है। यथा—

"इतने में देखा कि बादल उमड रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार ······ अंधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं, साथ ही तड तड धड़ धड होने लगी। देखा कि ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। बम भोला, कहकर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ·········

"भंग छान कर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द मे निमग्न रहे ······(देखिये विनोद और मस्ती का यह वातावरण तैयार करके आगे भारत की गरीब निरीह जनता की दुर्दशा को लेकर कैसा मार्मिक व्यंग्य किया गया है, स्वार्थी विदेशी अफसरों और अमीरों पर) हाथ-पांव सुख में पर विचार के घोडों को विश्राम नही था। ·······गुलाबी नशे में विचारों का तार बंधा कि बडे लाट फुर्ती से

अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गये होंगे। पर वह चील कहां गई होगी ? ...हा !! शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते।"

और देखिये नीचे के उदाहरण मे आज के राजा और प्रजा के संबंध पर कैसे विनोदी ढंग में व्यंग्य किया गया है -

"नारंगी के रस में जाफरानी बासन्ती बूटी छान कर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़ों की बागें ढीली कर दी थीं। ... अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। ...कानों में यह मधुर गीत बार बार अमृत बरसाने लगा— "चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर" कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ौस में किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिम झिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देखकर अकल जरा चक्कर में पड़ी। (देखिये जमाने के बदल जाने की कैसी मार्मिक सूचना दी है) ... ...ओह कैसा ऋतु-विपर्यय है।"

"इस विचार को छोडकर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन ? ब्रज के राजकुमार और खेलने वाले कौन ? उनकी प्रजा ग्वाल बाल। (देखिये कैसी उस्तादी से लेखक अपने प्रकृत विषय पर आ रहा है)... क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? ...यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्र वर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियां भरे रंग की भरी पिचकारियां लिये अपने राजा के घर होली खेलने जावे ? राजा दूर सात समुद्र पार है। ....क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर

शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ? ओफ ! यह विचार वैसा ही चेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गायी जा रही थी।...... .... माई लार्ड नगर में ही हैं पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल र होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की वा तक नहीं पहुँच सकती।" कैसी मस्ती से प्रारम्भ करके, आहिस्ता आहिस्ता लेखक अपने प्रकृत विषय पर आया है और आकर राजा प्रजा के सम्बन्ध में आक्षेप किया है। लेखक ने इसी प्रकार के अनेक लेख या निबंध लिखे, जिनमें ऐसे ही मस्तीमय, विनोदमय वातावरण का निर्माण करके लेखक अचानक अपने प्रकृत विषय पर आ गया है और आकर अपने विचार यों ही व्यंग्यमय चुभते हुए ढंग से व्यक्त कर देता है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर प्रश्न गत उक्ति कही गई है, जो उपर्युक्त अवतरणों से सार्थक सिद्ध हो जाती है।

अथवा

बालमुकुन्द गुप्त और बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध किन बातों में भिन्न और किन बातों में एक से हैं ?

उत्तर—बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार माने गये हैं। भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। अँग्रेजी उर्दू से भी परिचय रखते थे। ये संस्कृत के प्रोफेसर भी रहे। पश्चात हिन्दी प्रदीप का ३२ वर्ष तक सम्पादन और प्रकाशन किया। इन्होंने असंख्य विषयों पर निबन्ध लिखे, जिन्हें मुख्यतया दो रूपों में बांटा जा सकता है भाव प्रधान और तथ्य प्रधान। शैलियां भी ये दोनों में पृथक् ही रखते थे। इनके दो उद्देश्य थे, सर्व साधारण की हिन्दी की ओर रुचि उत्पन्न करने का और हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने का। इनकी पूर्ति ये अपनी सम्पादक वृत्ति से करते रहे। इनके निबन्धों के विषय हलके से हल्के और गम्भीर से गम्भीर रहते थे। भाषा भाव और विषय सभी की दृष्टि से इनमें गम्भीरता और संयमता विशेष रहती थी। इनकी प्रकृति में हास्य भी था, विनोद भी था और व्यंग्यमय वक्रता भी थी।

गंभीरता व साथ ही कल्पना की भी उड़ान रहती थी। इस दृष्टि से इंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैम्ब की समानता दी जाती है, छोटी छोटी चीजों का आसरा लेकर उसकी भी कल्पना आसमान की खबर लाती थी। यही विशेषता भट्ट जी मे भी उपलब्ध है। ये अधिकतया छोटे छोटे निबंध लिखने के आदी थे।

बालमुकुन्द गुप्त और भट्ट जी के निबंधों में बहुत कुछ समानता है। दोनों ही लेखकों के निबंधों में हास्य विनोद और व्यंग्य की पुट पर्याप्त पायी जाती है। किन्तु यह विशेषता गुप्त जी में विशेष है। भट्ट जी गुप्त जी के समान न भंग का बहाना करते थे, न वैसा विनोदी या मस्ती का वातावरण ही उत्पन्न करते थे, अपितु वर्णन के बीच-बीच में हास्य विनोद की पुट देते थे। इनकी उक्ति-विशेष से ही हास्य विनोद उत्पन्न होता है। किन्तु साथ ही लेखक के हृदय और पाण्डित्य का भी प्रतिबिम्ब सर्वत्र ही निबंधों में मिलता रहता है। व्यंग्य इनका भी गुप्त जी के समान ही मार्मिक और चोट करने वाला होता है। किन्तु भट्ट जी के हास्य विनोद में कुछ चिड़ चिड़ाहट सी रहती है, जो कि गुप्त जी के में नहीं है। व्यंग्य भी भट्ट जी का साहित्यिक कोटि का है। गुप्त जी अपने प्रकृत विषय पर सीधे नहीं पहुँचते, अपितु घूम फिर कर पहुँचते हैं। उनके निबंधों में उनके विचार साफ और सीधे रूप में सामने नहीं आते, अपितु उनके हास्य विनोद में लिपटे हुए व्यक्ति होते हैं। भट्ट जी किसी विषय को लेकर उस पर सीधे रूप में अपने विचार व्यक्त करते हैं। मनोरंजकता दोनों ही लेखकों के निबंधों की विशेष विशेषता है, गम्भीर से गम्भीर विषयों में मनोरंजकता की ओर विशेष प्रयत्न रहता है। दोनों के निबंधों में वैयक्तिकता स्पष्ट झलकती है। गुप्त जी के निबंध गुप्त जी की व्यक्तिगत विशेषताओं से भरे हैं और भट्ट जी भी अपनी व्यक्तिगतता निबंधों में ले आते हैं। भाषा दोनों ही निबंधकारों की विषयानुरूपिणी है। भट्ट जी विशेष गम्भीर विषयों में विशेष गम्भीर और सरल विषयों में सरल भाषा-शैली को अपनाते थे। गुप्त जी की भाषा-शैली भी उनके विषयों के अनुरूप ही रहती थी, यद्यपि उनके विषय अधिकतया अधिक गम्भीर नहीं

रहते थे और यदि कभी गंभीर विषय वे चुनते भी थे, तो उन्हें भी वे अपनी विनोदी शैली में अगम्भीर ही बना लेते थे। भाषा दोनों की मिश्रित शैली की है। गुप्त जी उर्दू के विशेष लेखक थे, अतः हिन्दी में आने पर भी उन पर यह प्रभाव बना रहा। उर्दू से उपयोगी सामग्री वे सदैव लेते रहते थे। उर्दू की लोच, लहजा, मुहावरेदारी, लोकोक्तियाँ, तानाजनी, हास्य विनोद और व्यंग्य आदि विशेषताएं तो उनकी भाषा में थी हीं, साथ ही आवश्यकतानुसार शब्द भी वे निःशंक अन्य भाषाओं से ले लेते थे। भट्ट जी भी यद्यपि भाषा की संस्कृतमयता और शुद्धता के पक्षपाती थे, पर अवसर होने पर वे अन्य भाषाओं से भी शब्द लेने में संकोच नहीं करते थे, वे अपनी भाषा को व्यापक और विशुद्ध बनाना चाहते थे। अंग्रेजी के शब्द, मुहावरे और वाक्यांश तक भी भट्ट जी प्रयुक्त करने में नहीं हिचकते थे आवश्यकतावश। कल्पना का विशेष अंश भट्ट जी में अधिक है, गुप्त जी में कम। गुप्त जी अधिकतया छोटे वाक्य लिखना पसन्द करते थे, परन्तु भट्ट जी के वाक्य कुछ लम्बे होते हैं। व्यंजक और लाक्षणिक प्रयोग दोनों के निबंधों में प्रभूततया मिलते हैं। गुप्त जी की वृत्ति अधिकतया आलोचनात्मक रहती है.-पर्याय से प्रकृत विषय की आलोचना करके व्यंग्य और आक्षेप रूप में अपने विचार प्रकाशित करना ही उनका विशेष उद्देश्य रहता है, किन्तु भट्ट जी का यह प्रधान उद्देश्य नहीं है, उनमें आलोचना की कटुता के साथ-साथ कल्पना की रंगीनी और विचार गम्भीरता भी साथ साथ रहती है, वे विषय के सीधे प्रतिपादन को ही अधिक इष्ट समझते हैं। संक्षेपतः दोनों लेखकों के निबंधों की ये ही समानताएं और असमानताएं हैं। भट्ट जी अलंकार-प्रियता का भी मोह नहीं छोड़ते—

"पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हंसिया की तरह उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानों कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुखी हो क्रोध में आ इसी हंसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिए जारहा है।"

नीचे के अवतरण में केवल प्रयोगों के बल पर ही हास्य उत्पन्न करने की

चेष्टा है, हास्य विनोद का वातावरण नहीं उत्पन्न किया गया गुप्त जी की तरह—

"यावत् मिथ्या और दरोग की कियलेगाह इस कल्पना पिशाची का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है, अनुमान करते हैरान 'गौतम' से मुनि 'गौतम' हो गये। कणाद तिनका खाते खाते तिनका बीनने लगे, पर मन की मन भावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वों की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये।" .....

"इस आंसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते ।अक्षर उनके मुंह से पीछे निकलेगा आंसुओं की झड़ी पहिले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आंसू निकलता है, मानो रोना उनके गिरो रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम की ही अबला और अधीर हैं।.....कितने ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें आंसू नहीं आता। इसलिए जहाँ पर बड़ी जरूरत आंसू गिराने की हो तो उनके लिए प्याज का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई।"

व्यक्ति-गतता देखिये—

"हमारे लिए आंसू बड़ी बला है। नजले का जोर है, दिन रात आंसू टपकता है, ज्यों ज्यों आंसू टपकता है त्यों त्यों बीमारी कम होती जाती है। ... क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे कपार में आकर भर रहा है। ...

गुप्तजी के अवतरणों के लिए इसी प्रश्न का पूर्व-विकल्प देखिये।

२.—चन्द्रा उपन्यास किस कोटि में रखा जासकता है ? इसमें कल्पना की प्रधानता है या जीवन की ? प्रेमचन्द और अमृतलाल चक्रवर्ती के कथा-साहित्य का स्पष्ट भेद लिखिये।

उत्तर—अमृतलाल चक्रवर्ती हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक युग के उपन्यासकारों में से हैं, जब कि उपन्यासों की परम्परा अभी चली ही थी। चन्द्रा उपन्यास इनका इसी समय का है। जैसा कि चन्द्रा के मुख पृष्ठ पर ही लिखा है, यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक ने चित्तौड़ के इतिहास का ही एक पन्ना लेकर अपने उपन्यास की कथा का निर्माण किया है। कथा में

चन्दा, लाखा, कमलावती, चम्पा विशेष प्रमुख पात्र हैं, जो कथा के विकास में विशेष भाग लेते हैं। इनमें चन्दा प्रधान पात्र है, जिसके नाम पर उपन्यास का नामकरण हुआ है। उपन्यासकार का उद्देश्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का होने पर भी, वह उसमें सफल नहीं रहा है। ऐतिहासिक उपन्यास में भी देश काल का ध्यान रखकर जीवन का चित्रण होता है। वास्तविकता उसका प्राण होती है। चन्दा उपन्यास में जीवन का वास्तविक चित्रण नहीं है। लेखक ने अपनी कल्पना का रंग देकर उपर्युक्त सभी पात्रों का चित्रण आदर्श–लोक से दूर–रूप में ही किया है। विशेषतः चन्दा का जीवन तो सर्वथा वास्तविक जीवन की सीमा से बाहर की वस्तु है। उस के पिता लाखा का भी ऐसा ही अस्वाभाविक सा वर्णन है वह वृद्धावस्था में भी अपने लिए विवाह का नारियल समझ लेता है। चाहे मजाक में ही उसके मुंह से इस अभिप्राय के शब्द निकलते हैं। तो भी उस जैसे–चित्तौड़ के महाराणा पद पर आसीन–व्यक्ति के ऐसे विचार अस्वाभाविक हैं। लाखा और चन्दा के जीवन में वस्तुतः महाभारत-कालीन शन्तनु और शान्तनु (भीष्म) के जीवन और आदर्श का स्पष्ट दर्शन कराने की चेष्टा उपन्यासकार ने की है, जो कि इस युग के जीवन की वस्तु नहीं है। चंदा भी वैसी ही प्रतिज्ञा करता है, राज्य न करने की और अविवाहित रहने की। वह कहीं भी अपनी इस भीष्म-प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होता। एक क्षण को भी उपन्यासकार ने उसके जीवन में कहीं स्खलन नहीं दिखाया, जिस से वह मानव न रहकर देवता की कोटि मे पहुँच जाता है। लाखा का चरित्र उस के पद के लिए सर्वथा अस्वाभाविक है, जो अरुचिकर है। कमला की दासी चम्पा इस सारे कथानक में कैकेयी की दासी मन्थरा का काम करती है। कमला भी कैकेयी जैसी ही निर्बुद्धि है। अपने पुत्र को राज्य मिल जाने पर भी वह चम्पा के बहकावे में आकर चन्दा को देश से भगाने के लिए अपने भाई को बुला लेती है। अतः कमला का चरित्र भी अस्वाभाविक है। वह अपनी उच्च अभिलाषा के लोभ में अपने जीवन को हीन बना लेती है। वस्तुतः चित्तौड़ की महारानी के उपयुक्त उसका चरित्र नहीं है। उसमे अनेक विषमताएँ और अनुचितताएँ है। लेखक को यदि कुछ सफलता मिली है तो केवल दासी चम्पा के चित्रण में। उस में लेखक ने एक हीन-स्त्री-मनो-

वृत्ति की दासियों की सी सभी प्रवृत्तियां दिखाई हैं। लेखक ने कमला और चम्पा आदि स्त्री पात्रोंके चित्रण में नायिका-भेद वर्णन की सी चेष्टा की है। नहीं तो, सर्वत्र ही लेखक ने अपने मनोनुकूल पात्रों के चरित्र का वर्णन किया है, वास्तविकता के अनुकूल नहीं। यही उपन्यास के वातावरण के विषय में भी समझना चाहिये। वहां भी देश काल की अपेक्षा कवि की अपनी मनोवृत्ति या रुचि और कल्पना ही काम करती हैं। लेखक ने वस्तुतः जीवन से दूर रहकर ही आदर्शमयता का आश्रय लेकर इस छोटे से उपन्यास का निर्माण किया है। जीवन की वास्तविकता से उपन्यास बहुत दूर है। इसी लिए ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से भी उपन्यासकार का प्रयत्न सफल नहीं माना जा सकता। वस्तुत' तो इतने छोटे से उपन्यास– जिसे कि एक कहानी भी कह दिया जाय तो अनुपयुक्त नहीं–में इतने बड़े कथानक का पूर्ण निर्वाह ही कठिन था, जीवन का चित्रण तो दूर की बात। लेखक का उद्देश्य भी जीवन का वास्तविक चित्रण नहीं था। इसलिए आकारतः चन्दा का कलेवर ऐतिहासिक सा होते हुए भी, उसे कल्पना-प्रधान ही उपन्यास मानना चाहिये, जैसा कि तत्कालीन उपन्यासों का युग था।

उपन्यास-लेखकों के सम्राट स्व० श्री प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से अमृत लाल चक्रवर्ती के उपन्यास-साहित्य की तुलना ही क्या ? चक्रवर्ती जी के चन्दा के अतिरिक्त आत्मकथा और सुखदेवी दो अन्य छोटे छोटे उपन्यास मिलते हैं। चन्दा के समान ही ये भी दोनों ऐसे ही कल्पना चित्र हैं, जो उपन्यास की दृष्टि से बुरी तरह असफल हैं। कारण, उपन्यास कला का इनके समय में कुछ विकास भी नहीं था। अतः चक्रवर्ती जी पर ही यह दोष नहीं आता। उस युग के प्रायः सभी लेखकों की कृतियों में कल्पना की कृत्रिमता ही अभिव्याप्त है जीवन का वास्तविक चित्रण नहीं है। इधर प्रेमचन्द जी का कथासाहित्य अत्यन्त विस्तृत है। प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास कला के निर्माता और पथ-प्रदर्शक थे। हिन्दी में बंगला अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट उपन्यासों की कोटि में रखने योग्य उपन्यास विशेषतया प्रेमचन्द के ही हैं। यद्यपि प्रेमचन्द का क्षेत्र सीमित है, उन्होंने जीवन के विशेष क्षेत्र और विशेष स्तर को लेकर ही चित्रण किया है, तो भी उस में वे

अनुपम है आज भी। कायाकल्प सेवासदन, निर्मला प्रेमाश्रम, रंगभूमि कर्मभूमि, गबन, गोदान, आदि में भारतीय जीवन के विभिन्न अगणित रूपों को लेकर उनका चित्रण हुआ है, जो स्वाभाविक है, वास्तविक है, और सजीव है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का कथानक जीवन से उद्भूत होकर उसी में चलता है, विकसित होता है और उसी में उसका पर्यवसान होता है। यद्यपि जीवन के कुछ एक प्रसंगों के चित्रण के विषय में प्रेमचन्द पर अस्वाभाविकता या हठाक्रान्तता का भी दोष लगाया जाता है तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द जी जीवन के सफल चित्रक उपन्यासकार हैं। जीवन का चित्रण ही नहीं, अपितु उन्होंने जीवन का वास्तविक चित्र उपस्थित करने के साथ साथ उसके आदर्श रूप का स्वरूप भी उपस्थित किया है, जो कि वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में उनके मत से एकान्त मंगलप्रद है। अपने युग की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं में से प्रायः प्रत्येक को लेकर उन्होंने अपने उपन्यासों की कथा का निर्माण किया है। सेवासदन और निर्मला में दहेज प्रथा, विधवा और वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक विषमताओं को लेकर वे चले हैं कायाकल्प में गांव के लोगों—किसान जमींदार आदि—के जीवन पर प्रकाश डालते हुए भी वे एक रहस्यवादी भावना को लेकर चले हैं। एक रहस्यमय अदृश्य शक्ति के वश में उन्होंने मरणोन्मुख रोगी के शरीर का कायाकल्प किया है। इन सब के साथ व्यक्ति के मानस का चित्रण भी उपयुक्त रूप में चलता रहता है। मनोवैज्ञानिकता उनका प्रधान आधार रहती है। रंगभूमि में उन्होंने नागरिक जीवन का भी स्पष्ट चित्र दिया है। बड़े लोगों की स्वार्थ वृत्ति और छोटे लोगों की आदर्श-चरित्रता निश्छलता एवं सच्चरित्रता का स्पष्ट दर्शन कराया गया है। अंग्रेजी सभ्यता, शिक्षा-दीक्षा एवं व्यापारिकता के प्रचार से भारतीय किसानों का कैसे पतन हुआ, कैसे गांव उजड कर उनके स्थान में बड़े बड़े मिलों और नगरों का निर्माण हुआ इस बात पर प्रकाश डाला गया है। पाश्चात्य शिक्षा के साथ हृदय हीन भौतिकता और अर्थ लोलुपता का कैसे प्रचार बढ़ा, यह भी रंगभूमि में दृष्टिगत होता है। विलासवृत्ति बड़े लोगों में कैसे घर करती गई, इस पर मार्मिक प्रकाश पड़ा

है। साथ ही अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध असन्तोष और आन्दोलन का स्वरूप भी उपस्थित किया गया है। प्रेमाश्रम में अफसरों की चरित्र-हीनता के साथ एक आदर्श ग्राम का भी रूप उपस्थित किया गया है। कर्मभूमि में सत्याग्रह आन्दोलन का स्पष्ट चित्र है, जो कि भारतीय इतिहास के आधुनिक युग की प्रधान विशेषता है। गांधीवाद और गांधी-मार्गका प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्पष्ट दर्शन कराया है। गबन में भारतीय जीवन की अनैतिक वृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। गोदान में नागरिक और ग्रामीण दोनों जीवनों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। अवश्य ही उनमें ग्रामीण जीवन के चित्रण में उन्हें विशेष सफलता मिली है। सारांश में भारतीय जीवन का कोई भी अंग प्रेमचन्द की दृष्टि से नहीं बचा है। उन्होंने सभी का आधार लेकर अपने विभिन्न उपन्यासों के कथानक का निर्माण किया है। इस दृष्टि से अमृतलाल चक्रवर्ती और प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की परस्पर कोई तुलना नहीं हो सकती।

विषय को छोड़कर टैकनिक की दृष्टि से भी दोनों उपन्यासकारों के कथा-साहित्य में आकाश पाताल का अन्तर है। चक्रवर्ती जी का कथा-साहित्य विकास की प्रारम्भिक दशा में है। उपन्यास-कला की दृष्टि से वह आधुनिक शैली में बहुत पिछड़ा हुआ है। इनके ये छोटे छोटे उपन्यास नाम को उपन्यास हैं। आधुनिक उपन्यासों की टैकनिक के लिहाज से वे पूर्णतया असफल हैं। उधर प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास कला के विशेष निर्माता हैं, जिन्होंने हिन्दी उपन्यासों को उनकी प्रारम्भिक दशा से निकाल कर उन्हें विशेष दिशा दी। प्रेमचन्द के उपन्यास आधुनिक उपन्यास शैली के आदर्श हैं, जिनका अनुसरण करते हुए बाद के हिन्दी-उपन्यासकारों ने रचना-विषयक पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया और उत्साहदायिनी प्रेरणा प्राप्त की। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द का स्थान प्रधान निर्माता के रूप में है। उनकी इसी विशेषता के आधार पर उन्हें अपने जीवन काल में ही "उपन्यास-सम्राट्" का पद प्राप्त हो गया था, जो कि सर्वांश में उन पर चरितार्थ होता है। उनके इस पद को चैलेंज करने वाला

हिन्दी में आज तक भी कोई उपन्यास-कार उत्पन्न नहीं हुआ, इनके अपने विशिष्ट क्षेत्र में।

अथवा

"प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की परिधि जीवन के किसी भी क्षेत्र को घेर लेती है। वैयक्तिक और सामाजिक जितनी भी समस्याएँ हैं, उन सबका परिचय प्रेमचन्द की लेखिनी को है।" प्रेमचन्द की कुछ रचनाओं के आधार पर इस कथन की परीक्षा कीजिए।

उत्तर—प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की परिधि या सीमा के विषय में व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचार सर्वांश में सत्य हैं। प्रेमचन्द ने एक विशेष उद्देश्य को लेकर कथा-क्षेत्र में पदार्पण किया था। उनसे पहिले के युग में पौर्वकालीन प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य था। साहित्य–विशेषतः कथा-साहित्य–का आधार सामंत-युगीन विचार-धाराएं ही थीं। साहित्यकार कल्पना-लोक में भूला हुआ वास्तविक लोक-जीवन की ओर से उदासीन था। भारत से बाहर के साहित्यों में रूसी राज्य-क्रान्ति के पश्चात् नवयुग का पदार्पण हो चुका था। और वहां टाल्स्टाय, गोर्की जैसे साहित्यकारों का जन्म हो चुका था। शोषक और शोषितों के विभेद को मिटाने के लिए लेखक गण अभिमुख थे। भारत में भी ऐसी ही परिस्थिति आचुकी थी। साहित्यिकों के सामने एक बड़ी समस्या थी कि किसका साथ दे—शोषक का अथवा शोषित का। कथा-साहित्य में उस समय प्रेमचन्द द्वारा पथ-प्रदर्शन किया जाता है। प्रेमचन्द ने व्यक्ति, समाज, देश और जाति की समस्याओं का गहन परिचय प्राप्त किया और साहित्य के लिए शोषितों का पक्ष लेकर उनकी आवाज को बुलन्द करने का निर्णय दिया। भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ भी पीड़ा या शोषण का प्रेमचन्द ने दर्शन किया, उसने उसका पक्ष लेकर अपने कथा-साहित्य का निर्माण किया। धर्म, समाज, जाति आदि की प्रत्येक बुराई का प्रेमचन्द को पूर्ण-परिचय हुआ और उस भावुक साहित्यिक हृदय ने अपने अनुसार उसका हल उपस्थित करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति-गत समस्याओं

दुर्बलताओं से लेकर समाज और जातिगत समस्याओं और दुर्बलताओं तक उनकी पैनी दृष्टि अपनी पूरी शक्ति से पहुँची 'प्रेमचंद के स्वयं' के व्यक्तिगत यातना-पूर्ण जीवन ने उनके दृष्टिकोण के निश्चित करने में पूर्ण सहायता प्रदान की। जीवन के अनवरत संघर्ष और कठोरतापूर्ण वातावरण ने उन्हें प्रत्यक्ष-दर्शी बना दिया था। यही कारण है कि व्यक्तिगत और समाजगत बुराइयों और निर्बलताओं का चित्रण वे ऐसी सजीवता से कर पाये। अतएव उनके उपन्यास एवं कहानियां जहां मनोरंजन की अत्यंत उत्कृष्ट सामग्री बनते हैं, वहां वे हमारे ज्ञान वर्द्धन का भी कारण बनते हैं। जीवन की ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं छूटती, जिसका चित्रण इन्होंने अपने कथा-साहित्य में न किया हो। छोटे चित्रणों, संकेतों और वर्णनों से ये जीवन के अच्छे और बुरे दोनों रूपों का चित्र उपस्थित कर देते हैं जो प्रत्यक्षवत् बोलकर हमें सत् की ओर प्रेरणा और असत्य की ओर से निवृत्ति का उपदेश देते हैं। किसी भी सत्यसाहित्य की यही सबसे बड़ी विशेषता भी होती है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हमें किसानों की दुर्दशा, दयनीय परिस्थिति, जमीदारों के अत्याचार, पुलिस और सर्कारी अफसरों की स्वार्थवृत्ति और अन्याय, दहेज की दुष्प्रथा, वेश्याओं का नारकीय जीवन, बहु विवाह की कुप्रथा के दुष्परिणाम, राजनैतिक आन्दोलन, राजनैतिक दलबंदी, सामाजिक कुप्रथाएं, भूत-प्रेतादि के अन्य अन्धविश्वास, पाखण्ड, झूठ-फरेब, अनाचार, व्यभिचार अमीरों की हृदयहीनता, गरीबों की तंगी ग्रामीण और नागरिक जीवन के दुर्गुण आदि का स्पष्ट वर्णन मिलता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत अच्छाइयों और बुराइयों की ओर भी इनकी दृष्टि बड़ी सचेष्ट रहती है, उनका मनोवैज्ञानिक ढंग पर वर्णन करने में प्रेमचन्द सिद्ध-हस्त-लेखक हैं। इनके उपन्यास और कहानियां भारतीय जीवन की, व्यक्तिगत और समाजगत, ऐसी ही समस्याओं को लेकर चलते हैं।

इनका सर्व-प्रथम उपन्यास 'प्रेमा' माना जाता है, जो छोटा सा है। इसमें भारतीय जीवन के लिए कुष्टभूत विधवा की समस्या को लेकर लेखक की कलम चली है। विधवाओं का दयनीय चित्रण करके उनकी समस्या

का विवाह के रूप में हल उपस्थित किया गया है। अपने दूसरे उपन्यास "सेवासदन" में इसी समस्या के साथ उन्होंने इसकी अन्य आनुषंगिक-सामाजिक कुरीतियों को भी स्थान दिया है। दहेज-प्रथा से क्या दुष्परिणाम होते हैं, पारिवारिक अत्याचार, अनमेल विवाह से स्त्रियां किस प्रकार कुपथगामिनी बनती हैं, समाज विधवाओं का कैसे तिरस्कार करता है, वेश्या बन जाने पर समाज के अच्छे अच्छे व्यक्ति कैसे उनके पावों में लेटते हैं, वेश्याएं किस प्रकार का घृणित जीवन व्यतीत करती हैं आदि हिंदू समाज के जीवन की व्याधियों का स्पष्ट चित्रण हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुरवस्था, जमींदारों के अनाचार और अन्याय, पुलिस की धांधलीबाजी, सर्कारी अफसरों की नीच वृत्ति, वकीलों की हृदयहीन स्वार्थवृत्ति, न्यायाधीशों का अधापन, आदि का दिग्दर्शन हुआ है। व्यक्ति के चरित्र से लेकर, घर और समाज के चित्रण तक, लेखक की कलम इन उपयु क्त कृतियों में चली है। प्रेमाश्रम में लेखक की कलम किसान और जमींदार के मध्यवर्ती अधिकार-युद्ध का चित्रण करती है। किसानों के दुःखों का कारण लेखक प्रधानतया जमीदारों को समझता है। उनको बदलकर ही लेखक साम्यवाद की स्थापना द्वारा किसानों के दुःख का हल बताता है इन उपन्यासों के बाद के काल में, देश में सत्याग्रह का आन्दोलन जोर पकड़ता है, भारतीय जातियां—हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई—परस्पर एक होकर राजनैतिक आन्दोलन को चलाती हैं। सबके स्वार्थ और हित एक होते हैं। गांधी जी का प्रभाव दिनों-दिन वृद्धि करता है। स्वदेश और स्वदेशी की आवाज बुलंद होती है। प्रेमचंद की लेखनी भी व्यक्तिगत और जातीय क्षेत्र से निकल कर, राष्ट्रीय रूप धारण करती है, जिसका स्पष्ट दर्शन "रंगभूमि" में होता है। विनय और सोफिया के व्यक्तिगत मानसिक जीवन की समस्याओं के साथ-साथ लेखक समस्त भारतीय राष्ट्र की भावनाओं का चित्रण करता है। पशुबल का आत्मिक बल से कैसे मुकाबला किया जा सकता है, इसका स्पष्ट दर्शन सूरदास के चरित्र में होता है। सर्कारी अफसरों की धांधलीबाजी और अत्याचार, राजा लोगों की खुशामदी वृत्ति, अमीरों का स्वेच्छा-

चार, म्युनिसपैलिटियों और कौंसिलों में भारतीय सदस्यों की असमर्थता, आदि का स्पष्ट दर्शन इस महा उपन्यास में मिलता है। गाँव उजाड़ कर कैसे बड़े बड़े कारखाने बने, किसानों को लोभ देकर कैसे मिलों में नौकरी के लिए लुभाया गया, कैसे वे अनाचारी बने आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साथ ही व्यक्तिगत चित्रणों की भी उसमें कमी नहीं। बजरंगी, जगधर, भैरों, सूरदास, ताहिर अली से लेकर ईश्वर सेवक, क्लार्क, सोफिया, कुँवर भरतसिंह, महेन्द्रसिंह, विनयसिंह और उनकी माता, जसवन्तनगर के दीवान और महाराजा के व्यक्तिगत और पारिवारिक चित्रणों से उपन्यास परिपूरित है। उसमें हिंदू-मुसलमान, ईसाई आदि के साथ, गरीब, अमीर, मज़दूर, किसान जमींदार, राजा, कलक्टर आदि सभी तरह के पात्र व्यक्ति आते हैं। साथ ही पण्डे, गुण्डे, देश-सेवक देशद्रोही, विश्वासघाती और सच्चे व्यक्तियों की भी कमी नहीं। रंगभूमि के पश्चात् प्रेमचंद की कलम भारतीय जीवन के अन्य प्रधान अंग, आध्यात्मिक विश्वास की ओर मुड़ती है। 'कायाकल्प' का जन्म होता है। कायाकल्प में पुनर्जन्म, सामुद्रिक विद्या, जड़ी बूटी, योग विद्या, मंत्रविद्या में आस्था प्रकट की गई है। साथ ही पारिवारिक और व्यक्तिगत चित्रण की भी उसमें कमी नहीं। निर्मला में बड़ी आयु में विवाह करने के दुष्परिणाम के साथ निर्मला का मानसिक चित्रण हुआ है। प्रतिज्ञा में प्रेमसाधना और कर्तव्यनिष्ठा का उत्कर्ष दिखाया गया है। गबन में दिखाया गया है कि स्त्रियों का आभूषण-प्रेम कितने अनर्थों की जड़ बनता है तथा मनुष्य परिस्थिति से विवश हो कितना नीचे गिर सकता है। गोदान में ग्रामीण- जीवनके अंधकार का प्रदर्शन है। साथ ही नागरिक जीवन की आमोद- प्रियता का भी दर्शन कराया गया है।

इस प्रकार प्रेमचंद का कथा-साहित्य जीवन या व्यक्ति की किसी भी परिस्थिति को लेकर चला है और अंत तक उसका निर्वाह करता चलता है। अतः प्रश्नगत उक्ति सर्वांश में उस पर सत्य चरितार्थ होती है।

४.—"शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आये हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन

रुद्र भावना का, अपनी नवीन कल्पित बातों का बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं।" सन्दर्भ सहित इस अवतरण की व्याख्या कीजिए। साथ ही साथ यह भी निरूपित करें कि किसी भी कवि का प्राचीन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के विपरीत चल पड़ना क्यों अनुचित है।

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्नगत अवतरण आचार्य प्रवर श्री शुक्ल जी के चिन्तामणि' नामक लेख-संग्रह के 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' शीर्षक लेख का है। इसका अभिप्राय यही है कि कवि लोग, जिन्हें कि वास्तविक प्रेरणा मार्मिक भावों की अनुभूति से मिलती है, भी प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कथानकों को लेकर अपनी रचनाओं का निर्माण करते आये हैं। उनका हृदय शुद्ध भाव-प्रेरित होता है, किसी मार्मिक भाव की अनुभूति करके ही उन्हें कवित्व-प्रेरणा मिलती है। तभी उनके मुख से कवित्व फूट निकलता है। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कथाएँ यद्यपि प्रसिद्ध होती हैं, उनमें आए भाव-प्रायः सर्वानुभूत होते हैं, उनमें नवीनता नहीं होती, तोभी मर्म-अनुभूति करने वाले कुशल कवि उन प्रसिद्ध और पुरानी कथाओं को ले कर उन्हें अपनी रचनाओं का विषय बना लेते हैं। जैसे कि, कालिदास, भवभूति जायसी तुलसी सूर, आदि ने प्राचीन कथाओं का आश्रय लेकर ही अपने कवित्व का प्रकाशन किया। किन्तु उन पिष्ट-पेषित विषयों या कथाओं में नवीनता का संयोग करने के लिए वे कविगण उन कथाओं के पात्रों में अपनी अनुभूति और कल्पना के बल से कुछ नवीन परिवर्तन भी कर लेते हैं, जिनसे कि उनमें कुछ नवीन आकर्षण आजाय; जैसे कि उपर्युक्त कवियों ने प्राचीन विषय लेते हुए भी अपनी कल्पना के बलसे उनमें नवीनता, मौलिकता उपस्थित की। किंतु ऐसा करते हुए भी उन्हें इस बात का सदैव ध्यान रहता है कि प्राचीन कथाओं के पात्रों में उनके मौलिक चरित्रों के विरुद्ध कोई बात न आये। प्राचीन कथाओं में उन पात्रों के चरित्र में जिन आदर्शों या सिद्धांतों की प्रतिष्ठा हो चुकी है, वे उनमें मौलिक परिवर्तन नहीं आने देते। मौलिक आधार रूप से वे उन पात्रों के उसी स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए, जो भी नवीनता या मौलिकता ला सकते हैं, उसी को लाने में

प्रयत्नशील रहते हैं। यह ऐसे है, जैसे कि किसी सुन्दर पुष्प-वृक्ष की जड़ को न उखाड़ते हुए, उसको सामयिक सौन्दर्य के सांचे में ढालने के लिए, ऊपर की काट छांट करके, उसके आकार में सौन्दर्य का नया दृष्टिकोण उपस्थित कर दिया जाय। यही कारण है, राम कृष्ण का चरित्र असंख्य कवियों द्वारा वर्णित होकर भी प्रत्येक कवि के लिए नवीन ही रहता है। प्रत्येक कवि मौलिक रूप से राम कृष्ण के चरित्र की प्राचीन विशेषता को अक्षुण्ण रखते हुए भी, उसको अपने मौलिक ढंग से अन्य विशिष्ट बना देता है। कोई उन पात्रों के किसी रूप को महत्त्व देकर अपनी कल्पना से उसे नवीन बना देता है और कोई किसी को। यही कारण है कि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसी के राम मूलतः एक होते हुए भी अपनी अपनी विशेषता रखते हैं। यही बात कृष्ण-चरित के विषय में भी समझनी चाहिये। कृष्ण-चरित भागवत से लेकर आज तक असंख्य कवियों और लेखकों द्वारा वर्णित हुआ है। विद्यापति, सूर, नन्द, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने कृष्ण-चरित का वर्णन किया है। किन्तु क्या सबके कृष्ण निर्विशेष एक ही हैं? और क्या मूलतः वे एक ही नहीं हैं? दोनों बातें सत्य हैं कृष्ण मूलतः एक होते हुए भी कवियों की कल्पनाओं द्वारा ऊपरी रंगरूप में भिन्न दिखाई देते हैं, प्रत्येक कवि की कल्पना और प्रतिभा की नवीनता के संयोग से।

वस्तुतः कवि को उनकी मौलिक विशेषताओं में अन्तर डालने का कोई अधिकार नहीं है और न किसी ने ऐसी चेष्टा ही की है। यदि कोई कवि या लेखक अपनी सामयिक प्रवृत्तियों के प्रभाव में पड़कर उन चरित्रों के मौलिक आधार-भूत सिद्धान्तों या आदर्शों में अन्तर डालता भी है तो उसके काव्य की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य में सर्वगुण-सम्पन्न नायक के रूप में चित्रित किया है और लक्ष्मण से उसे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। किंतु यह काव्य-सरणि के विरुद्ध है, सर्वजन को उस से विरसता या उद्वेजकता ही अनुभूत होगी। कारण, प्राचीन काल से मेघनाद को राक्षसी सिद्धान्तों के प्रतीक रूप में ही चित्रित किया गया है, उसका वही रूप सर्वजन-ग्राह्य भी बना हुआ है, अतः उसको

इस नवीन सद्रूप में चित्रित करने से सामाजिक में रस का पूर्ण परिपाक नहीं होगा। लक्ष्मण के मुकाबले में उसके इस श्रेष्ठ रूप की पूर्ण अनुभूति कभी नहीं हो सकती। क्योंकि लक्ष्मण लक्ष्मण है और मेघनाद मेघनाद। एक आदर्श, कर्तव्य-निष्ठा और धार्मिकता का प्रतीक है और दूसरा उससे विरुद्ध अधर्म-भावना का। ये ही संस्कार प्राचीन काल से उनके सर्व-जन पर पड़े हुए हैं। हठवश कोई उनमें मौलिक परिवर्तन करे तो वह अरुचिकर ही होगा। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र काव्य में नवीनचन्द्र राय ने कृष्ण को ब्राह्मणों के अत्याचार से जनता की रक्षा करने वाले के रूप में दिखाया है, जो कि प्राचीन और सर्व-प्रसिद्ध कृष्ण के मौलिक चरित्र क विरुद्ध है। ऐसा इन दोनों ही उपर्युक्त कवियों ने सामयिक नवीन प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर ही किया है, जो कि पूर्णतया अस्वाभाविक और अतएव अरुचिकर प्रतीत होता है। प्राचीन काल से कृष्ण चरित्र जिन आदर्शों और सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा है, यह उनके सर्वथा विरुद्ध है अतएव सर्वजन में यह अरुचि का ही उत्पादक है सुरुचि का नहीं। यह वस्तुतः कविता के साथ अत्याचार और कवि की बुद्धि का केवल खिलवाड़ मात्र है। कृष्ण तो सदैव से ब्राह्मणों के रक्षक के रूप में ही चित्रित हुए हैं। क्षत्रियों का आदर्श ही यह था कि गौ ब्राह्मण की रक्षा में अपने शरीर की बलि दे दें। उनको फिर ब्राह्मणों के शत्रु के रूप में चित्रित करना कवि का अपने प्रति और अपनी प्रतिभा के प्रति घोर अन्याय ही है। कृष्ण का भारतीय जनता के मन पर जो संस्कार जमा हुआ है वह तो वैसा ही रहेगा, कवि को मुंह की खानी पड़ेगी। हाँ, कृष्ण के मौलिक चरित्र को अक्षुण्ण रखते हुए, उनके सिद्धान्तों और आदर्शों का स्वरूप स्थिर रखते हुए, कृष्ण के चरित्र में ऊपर से जो मौलिकता उत्पन्न की जा सकती है, वह यदि की जाय तो किसी के प्रति अन्याय की संभावना नहीं। उदाहरणार्थ अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा वर्णित कृष्ण-चरितों को लिया जा सकता है। वे चरित नवीनता के संयोग से भी अपने पूर्ण स्वरूप को सुरक्षित रखे हुए हैं, अतएव विरसतापादक नहीं हैं। और, फिर जब कि आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुसार अन्य नवीन चरित्रों की कल्पना करने की

पूर्ण स्वतन्त्रता विद्यमान है तो फिर प्राचीन चरित्रों का इस प्रकार स्वेच्छाचार-पूर्वक विरुद्ध कायाकल्प करना नितान्त अनुचित और गर्हित है। ऐसा करने से नवीनता, मौलिकता और सामयिकता का पोषण नहीं होता, अपितु उस पर दूषण ही लगता है।

प्रश्न-गत अवतरण की यही व्याख्या और यही उसका अभिप्राय है।

अथवा

हिंदी गद्य के विकास में स्वर्गीय महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्थान निश्चित कर यह भी लिखें कि द्विवेदी और शुक्ल के निबंधों मे क्या अतर है।

उत्तर—हिन्दी-गद्य के विकास मे स्व० आचार्य श्री द्विवेदी जी का स्थान निर्माता आचार्य का है। भारतेन्दु-काल में खडी बोली-गद्य के रूप की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी उसमें व्याकरण-गत शुद्धता और परिष्कृति नहीं आ पाई थीं। लेखक-गण व्याकरण-नियमों का मनमाना व्यवहार करते थे। न उसमें परिमार्जन था, न व्याकरण की शुद्धता थी और न विराम-चिन्हों आदि की व्यवस्था ही थी। यह कार्य द्विवेदी जी के अथक परिश्रम और दृढ़ अध्यवसाय के कारण उनके युग में ही होता है। सरस्वती पत्रिका के द्वारा द्विवेदी जी ने प्रधानतया खड़ी बोली की शुद्धता और व्यवस्था के लिए ही प्रयत्न किया। अशुद्ध लिखने वाले लेखकों की आलोचना प्रत्यालोचना करके उन्होंने भाषा-शुद्धि की ओर उन्हें सचेष्ट किया। व्याकरण के नियमों का निर्माण किया। विराम-चिन्हों आदि की व्यवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट किया। संस्कृत शब्दों के आधार पर भाषा का परिष्कार किया। उन्हीं के काल में और उन्हीं की प्रेरणा से कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी का एक प्रामाणिक बृहद् व्याकरण उपस्थित किया। द्विवेदीजी अपनी प्रखर आलोचना का दण्ड हाथ में लेकर लेखकों से इन नियमों का पालन करवाते थे। उनकी इस आलोचना के भय से लेखक चौकन्ने होकर भाषा लिखते थे, जिसमे विराम-चिन्हो की व्यवस्था भी सम्मिलित थी। साथ ही हिन्दी-शब्दों के निर्माण और परिष्कार का भी कार्य द्विवेदी जी के नेतृत्व में ही होता है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी हिन्दी गद्य के व्याकरण-व्यवस्थापक

और परम शोधक आचार्य ठहरते हैं। भारतेन्दु ने गद्य के जिस रूप की प्रतिष्ठा की थी, श्री द्विवेदी जी ने अपनी प्रखर प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य के बल पर उसकी पूर्ण व्यवस्था और परिष्कृति की। इसी अभिप्राय को लेकर आचार्य श्री शुक्ल जी ने द्विवेदी जी के सम्बंध में कहा है कि "गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के शुभ प्रभाव का स्मरण, जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायगी, तब तक बना रहेगा।"

इस शुद्धता और परिमार्जन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि में भी पूर्ण नेतृत्व किया। उनके नेतृत्व और प्रेरणा में अनेक नवीन लेखकों, कवियों, महाकवियों का जन्म हुआ। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद आदि बड़े २ कवियों के नाम इस विषय में लिये जा सकते हैं। नवीन कवियों और लेखकों को प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन देकर उन्होंने हिन्दी साहित्य की अमित वृद्धि की। स्वयं भी उन्होंने सदैव लेख, कविता, आलोचना आदि लिखकर साहित्यवृद्धि की और उसमें नवीन नवीन विषयों की अवतारणा करके उसका विस्तार किया। इस दृष्टि से वे हिंदी साहित्य के एक प्रबल उन्नायक भी सिद्ध होते हैं।

आचार्य श्री द्विवेदी जी ने सरस्वती के दीर्घ सम्पादन-काल में असंख्य लेख, आलोचनाएं आदि लिखे। उनमें से सभी तो निबंधों की कोटि में आने लायक नहीं हैं। किंतु अनेक उत्तम कोटि के निबंधों की श्रेणी में आते हैं। प्रतिभा, कवि और कविता, कालिदास की निरंकुशता आदि इस विषय में उदाहरणार्थ लिये जा सकते हैं। इन निबंधों में वैसे तो गवेषणापूर्ण, आलोचनापूर्ण, वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक प्रकारों के निबंध मिल जायेंगे तो भी उनमें विचारात्मक निबंधों की संख्या अत्यधिक रहेगी। द्विवेदी जी सम्पादक थे और आचार्य भी थे, अपने युग के साहित्यिकों के पथ-प्रदर्शक। अतएव इन्हें एक ओर जहां आचार्य-कृत्य के लिए आलोचना प्रत्यालोचनात्मक और तर्कपूर्ण लेख लिखने पड़े, वहां विविध विषयों का ज्ञान भी हिंदी साहित्य में उपस्थित करना था। इन्होंने अनेक प्रकार के विषयों—वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक,

साहित्यिक आदि—का सरल ज्ञान भी छोटे-छोटे निबंधों में दिया। इस प्रकार, इनका उद्देश्य निबंधों में किसी अत्यन्त गहन विषय का गहन वर्णन करने का नहीं होता था। इसीलिये इनके निबंधों में स्वाभाविक सरलता है। शैली घरेलू है, ऐसा मालूम होता है, जैसे लेखक का लक्ष्य साधारण कोटि के पाठक ही हैं, विशेष उन्नत स्तर के पाठक नहीं। अतएव इन्होंने अधिकांश में व्यास शैली को अपनाया है। बात को संक्षेप से कहने की अपेक्षा उसे विस्तार से समझा कर कहने का ढंग इन्होंने विशेषतया अपनाया है। एक ही बात को घुमा फिराकर, कई ढंगों से कहने की इनकी शैली है। इसीलिये इन के निबंध विचारात्मक कोटि में आते हुए भी विचार-बाहुल्य और विचार-गांभीर्य उनमें नहीं हैं। विचार और तर्क की शृंखला यद्यपि बंधी हुई चलती है, किंतु बीच बीच में टूट भी जाती है। आलोचनात्मक निबन्धों में उनकी शैली भिन्न प्रकार की हो जाती है। उसमें करारापन आ जाता है, व्यग्य और चोट करने की शक्ति अधिक आ जाती है। उसमें ओज आ जाता है। गवेषणात्मक या अन्य गम्भीर निबंधों में यद्यपि भाषा गम्भीर हो जाती है- तोभी शैली वही समझाने बुझाने वाली सरल सी रहती है। उनमें अधिकांशों में विचार-संकलन मात्र है, किसी नई विचार-धारा की अवतारणा उसमें नहीं मिलती, जो पाठक के विचारों को उद्गत करके उन्हें कोई निश्चित प्रेरणा देती है। उद्देश्य अधिकांश में किसी बात को समझाने का रहता है, अथवा किसी विषय पर विचार-सकलन उपस्थित करना। वाक्य छोटे छोटे, बहुत नपे तुले, होते हैं, बीच बीच में संस्कृत आदि के पद्यभी अपनी बात के समर्थन में रखते जाते हैं, जिससे बात सुविधापूर्वक समझ में आती चली जाय। श्री शुक्ल जी ने द्विवेदी जी के निबधों को 'बातों का संग्रह" नाम दिया है, जो बहुत कुछ ठीक है। क्योंकि अत्यन्त उच्चकोटि का निबंध-साहित्य देने का न तो समय ही था और न द्विवेदी जी का उद्देश्य ही था। अतएव उनके विचारात्मक निबंधों में भी उतनी गम्भीरता और विचार-पूर्णता नहीं आई है। देखिये हिंदी का पक्ष किस जोर से लिया है—

"आप कहते हैं कि भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि वह कभी न मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि आप कभी आगरा, मथुरा, फरुखाबाद, मैनपुरी और इटावे तशरीफ लेजाय''''''आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं, वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है। अगर आपकी भाखा नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइये कि श्रीमान् ही के सधर्मी काजिमअली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है? १७०० ईस्वी से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं, जिन्होंने भाखा में बड़े बड़े ग्रन्थ बनाये हैं। हिंदी कवियों की आप खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।"

देखिये प्रतिपक्षी को कैसा कायल किया गया है, ऊपर के अवतरण में। देखिये चोट भी कैसे की जाती है, आर्यसमाज की आलोचना करने पर एक आर्यसमाजी के क्रोधपूर्ण पत्र का कैसा नर्म और करारा उत्तर देते हैं—

"बनावटी या सच्चा नाम देकर बी० सिंह नाम के महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमें उर्दू में भेजा है। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा हमारा सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह! दुःख मत करो। आर्य समाज की धर्मोन्नति होती हो तो—'कर कुठार, आगे यह सीसा।"

कितना मार्मिक व्यंग्य है। नीचे के अवतरण की शैली देखिये कितनी सरल और सुबोध है—

'इलियड नामक महाकाव्य का कर्ता होमर ग्रीस देश का निवासी था। होमर बेचारा अंधा था। वह अपने काव्य के पद गा गा कर सभी रियासतों में भीख मांगता फिरता था। उस समय तो उसकी कदर नहीं हुई।''''' "

श्री शुक्ल जी प्रधानतया 'आलोचक, साहित्य-चिंतक तथा मनोवैज्ञानिक

निबंधकार' के रूप में माने जाते हैं। इनके निबंधों के, विचार, तर्क, और चिन्तन प्रधान गुण हैं। इनकी शैली ठोस, गम्भीर और संक्षिप्त होती है। विचार-गांभीर्य और विचार-बाहुल्य इनके निबंधों की पहली विशेषता है। इनके निबंध अधिकतया गम्भीर विषयों पर हैं—जिनमें उत्साह, क्रोध, करुणा, भय आदि मनोवैज्ञानिक विषयों से लेकर, साहित्य का इतिहास और आलोचना, कवियों की आलोचना आदि इनके निबंधों के वर्ण्य बने हैं। भाषा विषयानुरूप गंभीर और सरल होती चली है। वाक्यविन्यास आवश्यकतानुरूप होता है—लम्बे लम्बे वाक्य और छोटे छोटे वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। विषय अधिकतया गंभीर रहने पर वाक्य अधिकतया लम्बे ही बने हैं। शैली गंभीर है। विचारों की स्वाभाविक लड़ी बंधी चलती है। तर्क का तांता नहीं टूटता। एक एक पैराग्राफ में ठूंस-ठूंस कर विचार भरे होते हैं। शुक्ल जी व्यास की अपेक्षा समास को अधिक पसन्द करते हैं, गहन से गहन विचारों को नपे तुले थोड़े से शब्दों में स्पष्टतया रख देने में शुक्ल जी सिद्ध—हस्त हैं। इनके निबंधों में एक भी वाक्य बिना लड़ी का व्यर्थ नहीं होता। विचारों के समान ही शुक्ल जी के वाक्य ऐसी स्वाभाविक शृंखला में बधे चलते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे लेखक स्वयं ही ऊंचे ऊचे विचार कर रहा हो इनके निबंधों में इनका हृदय स्पष्ट झलकता है, मननशीलता प्रतिवाक्य से टपकती है। इसी विचार-गांभीर्य के कारण अनेक स्थलों पर दुरूहता भी आ जाती है। द्विवेदी जी के विपरीत ये संक्षिप्ततम रूप में विचार को रखने के पक्षपाती थे। द्विवेदी जी के समान उसमें साहित्यिकता का भी संयोग करने की इन्होंने चेष्टा नहीं की। विचारों का संक्षिप्त और स्पष्ट प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य रहा है। किसी विषय पर विचार जब इनके मस्तिष्क में इतने भर जाते थे कि वे बाहर आने को विवश हो जाते थे, तब शुक्ल जी कलम उठाते थे, और वे शान्त रूप में स्वाभाविकतया एक दूसरे के पश्चात् निकलते चलते थे। ये अक्सर कुछ थोड़े से वाक्यों में विषय का संक्षिप्त सार रूप देकर फिर उसकी व्याख्या कर देते हैं, जिससे पाठक को कुछ कठिनाई नहीं होती। शैली में लक्षणामयता और व्यञ्जना-मयता के प्रयोग में भी शुक्ल जी

कुशल हैं। बीच बीच में शिष्ट सभ्य हास्य भी चलता रहता है, जैसे कि ईशा अल्ला खां की गद्य की आलोचना करते समय ये "भांडों के घोड़ा कुदाने" की बात ले आये हैं। उदाहरण देखिये—

"अपने विषय में दूसरों के चित्त मे अच्छी धारणा उत्पन्न करने का प्रयत्न अच्छी बात है। इस प्रयत्न को जो बुरा रूप प्राप्त होता है, वह असत्य के समावेश के कारण—दूसरों की धारणा की अवास्तविकता और अपनी स्थिति की सापेक्षता के कारण। जब हम अपने विषय में दूसरों की झूठी धारणा और अपनी स्थिति के सापेक्ष रूप मात्र से संतोष करना चाहते हैं, तभी बुराइयों के लिए जगह होती है और ईर्ष्या की राह खुलती है। जैसी स्थिति हमारी नहीं है, जैसी स्थिति प्राप्त करने की योग्यता हम में नहीं है, हम चाहते हैं कि लोग हमारी वैसी स्थिति समझें।"

शुक्ल जी वस्तुतः द्विवेदी जी के परिष्कृत रूप हैं, निबन्धों के क्षेत्र में। द्विवेदी जी के निबन्धों में जिस विचार बहुलता, विचार-गम्भीरता की कमी थी, वह इनमें पूर्ण है। द्विवेदी जी की व्यास शैली का भी इनमें उचित रूप आया है। न सर्वत्र समास शैली और न सर्वत्र व्यास शैली का ही शुक्ल जी ने प्रयोग किया है। आवश्यकतानुरूप इन्होंने दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है। समास शैली की ओर अधिक झुकाव होते हुए भी, निबन्धों में आवश्यकता-नुरूप विषय को स्पष्टतर करने के लिए व्यास शैली का भी आश्रय लिया है। यही इन दो आचार्य निबन्धकारों के निबन्धों में अन्तर है।

५.—प्रश्न अब परीक्षा-कोर्स से बाहर है।

६.—गद्यकार महादेवी की विशेषता का निर्देश कर लिखिये कि "स्मृति की रेखाएं" किस कोटि की रचना है। क्या यह आत्म-कथा कही जा सकती है?

उत्तर—श्रीमती महादेवी चांद की सम्पादिका रही है। ये उत्कृष्ट और गम्भीर शैली की निबन्धक भी हैं। इनके निबन्ध गम्भीर चिन्तनशील हैं। उनमें कवित्व की छटा भी बीच बीच में सर्वत्र विद्यमान है। अलंकारों का भी प्रयोग रहता है। विचार-शृंखला मिलती चलती है। शैली की चित्र-

मयता विशेष विशेषता है। भावों का अभिव्यंजन करने की शैली मार्मिक है। इनके निबन्ध अधिकांश में उच्च साहित्यिक स्तर के पाठकों के लिए ही होते हैं। शैली के तथ्य-वर्णन, गम्भीरता, साहित्यिकता, चित्रणात्मकता और ओजपूर्णता विशेष गुण हैं। इनके संस्मरणों में सरलता, सरसता और चित्रमयता अभिव्याप्त हैं। इनके निबन्धों के संग्रह अतीत के चल चित्र, स्मृति की रेखाएं आदि हैं। प्रश्न का शेष भाग परीक्षा-ग्राह्य है।

७.—मौर्य कालीन सामाजिक और राजनैतिक चित्रण सफलता के साथ मुद्राराक्षस मे हुआ है या प्रसाद के चन्द्रगुप्त में? मुद्राराक्षस में एक बूंद भी रक्त नहीं बहा है यद्यपि उसमे कूट नीति अधिक सबल और स्थिर है, उत्तर इस तथ्य के विचार पर अवलम्बित रहे।

उत्तर—मुद्राराक्षस एक शुद्ध राजनैतिक नाटक है। उसके लेखक विशाखदत्त का मुख्य उद्देश्य राजनैतिक नाटक लिखने का ही है। मुद्राराक्षस में यद्यपि नायक चन्द्रगुप्त है, तथापि आदि से अन्त तक के समस्त घटना-सूत्रों को चाणक्य ही अपने हाथ में लिये फिरता है। मुद्राराक्षस में प्रारम्भ से अन्त तक केवल चाणक्य की बुद्धि का ही खेल दिखाया गया है। चाणक्य की नीति राजनीति और कूटनीति ही समस्त कथानक का संचालन करती हैं। चंद्रगुप्त के केवल एक दो बार ही दर्शन होते हैं, यद्यपि समस्त कार्य-व्यापार उसके हित-साधन के लिए है। मुद्राराक्षस का कथानक चंद्रगुप्त की मगध-राज्य की प्राप्ति के पश्चात् से प्रारम्भ होता है। चाणक्य चाहता है कि चंद्रगुप्त का साम्राज्य निष्कंटक और स्थिर हो। निष्कंटक करने के लिए पर्वतेश्वर मलयकेतु जैसे कण्टकों को निकालने की आवश्यकता थी, और स्थिर करने के लिए राक्षस जैसे महामात्य को आवश्यकता थी, चाणक्य स्वयं तो सदैव इस कार्य भार को वहन करने के लिए तैयार नहीं था। राक्षस विरोधी भी था। विरुद्ध बना वह कुछ न कुछ आफत खड़ी किये रखता। चाणक्य के सामने केवल ये दो उद्देश्य थे। इन्हीं को सिद्ध किये बिना, प्रतिज्ञा पूरी करके भी वह अभी अपनी चोटी नहीं बांधता था। अंत में वह अपने इन दोनों उद्देश्यों में पूर्ण सफल होता है। राक्षस मलयकेतु और अन्य पांच राजाओं को मिलाकर चढ़ा लाया था और कुसुम-

पुर घेरे बैठा था। किन्तु इधर चाणक्य केवल अपनी बुद्धि या कूटनीति से ही काम ले रहा था। इन उद्देश्यों के लिए वह व्यर्थ का रक्त नहीं बहाना चाहता था। यही उसने किया भी। बिना रक्त की एक बूंद गिराये, उसने चंद्रगुप्त के मार्ग के कण्टकों को भी निकाल दिया और राक्षस-मलयकेतु में विभेद करा कर राक्षस को अपने वश में भी कर लिया। इस प्रकार, केवल नीति-चातुर्य से ही चाणक्य अपने ये महान् उद्देश्य पूर्ण कर लेता है। राजनीति या कूटनीति (Deplomacy) का फल ही यह है कि जो कार्य हजारों का रक्त बहाकर पूरा किया जा सकता है वह केवल बुद्धि-चातुर्य से पूरा कर लिया जाय। चाणक्य ने वही किया। नाटककार का उद्देश्य कूट नीति के इन्हीं घात-प्रतिघातों का चित्रण करना है। अव्वल तो मुद्राराक्षस क कथानक में कोई युद्ध नहीं होता, जो होने को है भी मलयकेतु के साथ, उसे भी नाटककार टाल जाता है। आपसी विभेद से ही प्रतिपक्षी की सेना का संहार हो जाता है। रक्तपात यहां है तो राजनैतिक गुप्त-घातों में, पारस्परिक विद्रोह में, कूटनीति के कारण। नहीं तो- युद्ध-नीति का आश्रय नाटककार ने कहीं लिया ही नहीं है।

चंद्रगुप्त-काल भारी युद्धों और राजनैतिक चालों का युग था। देश विभिन्न छोटे मोटे राज्यों में विभक्त था।-पारस्परिक भेद प्रबल था। एक दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र चलते रहते थे। विदेशियों की आँखें भी भारत पर ललचा रही थीं। आये दिन युद्ध और संघर्ष की बात रहती थी। अतएव राज्य की रक्षा के लिए जहां बलिष्ठ सेना की आवश्यकता समझी जाती थी, वहां राजा बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञों को भी पास में रखना था। देश-काल के प्रतिबिम्ब के नाते, मुद्राराक्षस में उस युग के केवल एक पक्ष—राजनैतिक और कूटनैतिक—का ही चित्रण हुआ है, युद्ध पक्ष का नहीं—कथानक में वैसा अवसर ही कोई नहीं उपस्थित होता। होता भी है तो वह बड़े कौशल से बचा लिया जाता है। हां, राजनैतिक और कूटनैतिक पक्ष का चित्रण अत्यंत सम्पूर्ण है, उसका कोई भी रूप नहीं छोड़ा गया। नाटककार का नीतिविषयक पूर्ण ज्ञान सूचित होता है। इसके अतिरिक्त देशकाल विषयक अन्य संकेत कुछ एक, कौमुदी महोत्सव, आदि उत्सवों मे मिलते हैं, जिनसे

कुछ सामाजिक जीवन का आभास मिलता है। या बीच बीच में राजनैतिक आवश्यकता के अनुरूप जो सामाजिक जीवन के विषय में संकेत मिलते हैं, उनसे थोड़ा बहुत तात्कालिकी दशा का आभास मिल जाता है। इनके अतिरिक्त नाटककार को देशकाल का कुछ विशेष चित्रण अभिप्रेत नहीं है। उसका मुख्य प्रयत्न तो अपनी राजनैतिक चालों का ताना-बाना बुनना ही है। उसके बीच में यदि कहीं कुछ सामयिक जीवन का चित्र उसको देना पड़ा है, उसने दिया है। इससे विशेष कुछ देने का न उसका उद्देश्य ही था, और न वैसा हुआ ही है। कुसुमपुर वर्णन से भी तात्कालिक नागरिक स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। परंतु स्वतंत्र रूप से उसके चित्रण का नाटककार का उद्देश्य नहीं है। मौर्यकालीन राजनैतिक चित्रण मुद्राराक्षस में इतनी ही मात्रा और इसी रूप में प्राप्त होता है।

उधर, चन्द्रगुप्त केवल राजनैतिक नाटक ही नहीं है। वह एक उच्च कोटि का ऐतिहासिक नाटक भी है। लेखक ने अत्यंत प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करके, उनसे अपने नाटक की कथा-वस्तु का निर्माण किया है। इसमें चंद्रगुप्त के नव यौवन काल से लेकर राज्य-प्राप्ति तक की घटनाओं का वर्णन है। उसी में सिकंदर का पंजाब में आगमन और सैल्यूकस से युद्ध की घटनाएँ भी हैं। मुद्रा-राक्षस में केवल कुछ ही मासों की घटनाओं का वर्णन है किंतु चंद्रगुप्त में लगभग २५ वर्षों की घटनाओं का वर्णन है। चंद्रगुप्त परम वीर था. कैसे उसने अनवरत संघर्षमय जीवन बिता कर इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना की, इस सब का समुचित चित्रण चंद्रगुप्त में है। ऐतिहासिक तात्कालिक दशाओं परिस्थितियों को लेखक ने ठूंस ठूंस कर अपने नाटक में भरा है। राजनीति के संधि, विग्रह, यान आदि उपायों और युद्धनीति, भेदनीति, कूटनीति आदि सभी रूपों का यथावत् चित्रण है। घटनाओं का संचालक इस नाटक में भी चाणक्य ही है। उसी की राजनैतिक चालों का खेल चंद्रगुप्त के कथानक को चला रहा है, परंतु युद्ध-कौशल में चंद्रगुप्त का भी व्यक्तित्व पूर्णतया अभिव्यक्त हुआ है। चंद्रगुप्त में युद्ध का वातावरण प्रारम्भ से अंत तक चलता है। साथ में विभिन्न पात्रों के पारि-

वारिक चित्रणों में सामाजिक स्थिति का भी आभास समुचित रूप से मिलता चलता है। राजनीति और समाज में तत्काल में जो भी भावनाएं देश में अभिव्याप्त थीं, उन सबका दिग्दर्शन चंद्रगुप्त मे प्राप्त होता है। खण्ड खण्ड राज्य थे परस्पर विद्वेष रहता था, आतशत्रु से मिल कर राजा लोग षड-यन्त्र करते थे. विदेशी कैसे देश को लूट खसोट कर उस पर अधिकार जमाते थे, आदि का स्पष्ट पता लगता है। रहन सहन की क्या दशा थी, गुरुकुल शिक्षा की कैसी प्रणाली थी, विद्या के केंद्र कहां थे, कैसी उनकी दशा थी, क्या क्या विषय पढ़ाये जाते थे, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि वर्णाश्रम की क्या व्यवस्था थी, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म की कैसी संघर्ष-ग्रस्त दशा थी आदि का पता दिया गया है। स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस बात का भी पता लगता है। देश की संघर्ष-ग्रस्त और युद्ध-ग्रस्त दशा के साथ राजनैतिक कूट चालों का भी स्पष्ट दर्शन होता है। चंद्रगुप्त में कथा-वस्तु के देश काल के दर्शन कराने का लेखक का इतना आग्रह है कि उस पर यह दोष तक लगाया जाता है कि उसने नाटक की सीमित भूमि मे आवश्यकता से कहीं अधिक घटनाओं को भर दिया है, जिससे अभिनय में कठिनाई उपस्थित होती है। यह बात बहुत अंश में ठीक है। प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त काल की पूर्ण वस्तु-दशा का ही स्वरूप चित्रित करने का प्रयास किया है। विदेशी आक्रमणों से लेकर आन्तरिक देश-दशा तक कोई भी स्थिति लेखक ने नहीं छोड़ी, जिसका चित्रण न किया हो। सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक एवं युद्ध-सम्बंधी, शिक्षा सम्बंधी आदि किसी भी वस्तु स्थिति को लेखक ने चित्रित किये बिना नहीं छोड़ा है। ऐसी दशा में, प्रश्नगत विचार के आधार पर, मुद्राराक्षस की अपेक्षा तात्कालिक सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं का चित्रण चन्द्रगुप्त में ही अधिक सफलता से हुआ है, यह मानना चाहिये।

अथवा

"अनेक स्थान पर नाटक-कार को घटनाओं की गतिविधि सम्भालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वाञ्छित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा

है--अथवा किसी या जबर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है। " चन्द्रगुप्त के आधार पर इस कथन की परीक्षा कीजिये।

उत्तर—चंद्रगुप्त के विषय में उपर्युक्त प्रश्नगत उक्ति अधिकांशत ठीक है। उसके कथानक का आकार वस्तुत: नाटक की परिधि में बड़ी कठिनता से आ पाया है। फिर भी उसमें त्रुटियां रह गई हैं। प्रसाद जी प्राचीन इतिहास के विशेष प्रेमी अन्वेषक थे, उन्होंने अपने प्रायः समस्त प्रमुख नाटक भारतीय इतिहास के प्राचीन युगों के आधार पर लिखे हैं। चंद्रगुप्त में मौर्य-कालीन इतिहास का चित्रण है। चन्द्रगुप्त में मुख्यतया तीन प्रमुख घटनाएं हैं—सिकन्दर का पंजाब में आक्रमण और वापिसी, नन्दवंश का नाश और चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-स्थापना और सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस का आगमन, पराजय और अपनी लड़की को देकर विदा होना। इतिहास की इन तीन घटनाओं का जाल बुन कर नाटककार ने चन्द्रगुप्त की कथा-वस्तु का निर्माण किया है। इन सारी घटनाओं के घटने में २५ वर्षों का समय लगता है। चन्द्रगुप्त में २५ वर्ष के इस दीर्घ काल का पूरा चित्र देने की लेखक ने चेष्टा की है। और, इस २५ वर्षों के ऐतिहासिक कार्यकलाप की सीमा भारतीय पश्चिमीय सीमाप्रान्त से लेकर मगध तक फैली हुई है। इस सारे क्रिया-कलाप में अनेक ऐतिहासिक व्यक्ति सम्बद्ध हैं। उन सब का चित्रण भी नाटक मे हुआ है। चन्द्रगुप्त प्रधान पात्र है, जिसके चरित्र का विकास दिखाना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य है। उसी के चरित्र-विकास के लिये उपर्युक्त सभी घटनाओं का समन्वय लेखक ने दिखाया है। किंतु इतने पात्रों के एकत्र समावेश से, प्रयत्न करके भी लेखक सभी पात्रों का समुचित चित्रण करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ है। श्री शुक्ल जी की राय में "बहुत से भिन्न भिन्न पात्रों से सम्बद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों में विकास का अवसर रह गया है।" इसके अतिरिक्त नाटक की संकुचित परिधि में इतने बड़े और इतने विविध एवं विस्तृत घटनाजाल को समेट लेने से, घटनाओं की शृंखला के निर्वाह में भी लेखक को: बड़ी कठिनाई हुई है। अनेकत्र अस्वाभाविकता और अनुचितता आगई हैं।

आरम्भ में ही सिकन्दर के आक्रमण की झंझट में नाटक का एक बड़ा भाग व्यतीत हो जाता है और मगध की मुख्य घटना तक पहुँचते पहुँचते बहुत देर लग जाती है। इतिहास की इन दो तीन मुख्य घटनाओं के वर्णन में ही सन्तोष न करके, लेखक ने इन पात्रों के पूरे जीवनाध्याय ही खोल दिये हैं, जिससे नायक के जीवन की प्रमुख घटना—साम्राज्य प्रतिष्ठा—की ओर दर्शक का बहुत देर में ध्यान पहुँचता है। कार्यों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें कहीं कहीं अस्वाभाविकता भी आगई है। चतुर्थ अंक के पांचवें दृश्य में चाणक्य चन्द्रगुप्त से रुष्ट होकर जाता है और उससे अगले ही दृश्य में सिन्धु तट पर कात्यायन से बात करता दिखाया जाता है, जो इतनी जल्दी अस्वाभाविक सा लगता है, दूरी को देखते हुए। इसी प्रकार प्रत्येक प्रेमिका को बचाने के लिए लेखक ने उसके प्रेमी को जमीन या आसमान फाड़ कर पैदा किया है, अन्यथा घटनाओं की शृंखला टूटती। अलका की सिल्यूकस से रक्षा के लिए सिंहरण आ टपकता है। फिलिप्स की कुत्सित चेष्टाओं से कार्नेलिया को बचाने चन्द्रगुप्त पहुँचता है। नन्द की कुवासना से सुवासिनी को बचाने के लिए राक्षस कहीं न कहीं से निकल आता है। इन घटनाओं में कुछ अस्वाभाविकता प्रतीत होती है और एक जैसी ही होने के कारण विचित्रता नहीं रहती। इसी प्रकार कथा-सविधान की पटरी बिठाने के लिए लेखक के सामने अवांछित व्यक्ति को मार देने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के प्रणय बन्धन—विवाह—में कण्टक-भूत कल्याणी को लेखक आत्मघात करके को बाधित करता है, मालविका की चाणक्य हत्या करा देता है और तब कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट हो जाता है कि इतने बड़े घटना—विस्तार को नाटक की सीमिति-परिधि में बिठाने के लिए नाटककार को कितनी कठिनता हुई है। और फिर यह सब घटना-जाल नाटक के चार ही अंकों में आया है। पता नहीं क्यों नाटककार ने एक अंक और क्यों नहीं बढ़ा दिया! इससे कुछ सुविधा आ सकती थी। अधिकांश में ३. ५. ७. आदि अंक रखे जाते हैं, निबन्ध में सुविधा की दृष्टि से। किन्तु चन्द्रगुप्त में चार अंकों में सारा घटना-विकास दिखाया गया है। इससे भी लेखक के

मार्ग की कठिनाई बढ़ी ही है। इन के अतिरिक्त श्री शुक्ल जी के मत से नाटक में एक और भी त्रुटि आगई है। इन सारी घटनाओं के संघर्ष में चन्द्रगुप्त के जीवन के २५ साल समाप्त होते हैं। अतः उनके मत से नाटक के प्रारम्भ में जिस पात्र को नवयुवक रूप में दिखाया गया है, उसी को अन्त में भी—२५ वर्ष बाद भी—उसी रूपमें दिखाना नाटकीय औचित्य से बाहर की बात है। एक पात्र को इतनी देर तक एक ही रुप मे दिखाते चलना अस्वाभाविकता का जनक है।

इस उपर्युक्त विवरण से प्रश्नगत उक्ति चन्द्रगुप्त के विषय में बहुत अंशों में सार्थक सिद्ध होती है। प्रसादजी वस्तुतः इतनी घटनाओं का समावेश अपने नाटक में न करके, उनमें से कुछ प्रमुखों का ही चुनाव करके अपनी कथा का निर्माण यदि करते तो चन्द्रगुप्त अधिक सफल नाटक होता। उसमें रंगमंचीयता के गुण भी अधिक आ जाते और नाटकीय चित्रण भी अधिक स्वाभाविक रहता। पर तो भी, इतिहास का यह युग इतना रोमांटिक है, इतना आकर्षक है कि इन दोषों के प्रति पाठक या दर्शक का विशेष ध्यान नहीं जाता। चन्द्रगुप्त की अन्य अनुपम सद् विशेषताओं में ये त्रुटियां डूब जाती हैं और नाटक के आकर्षण में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अपनी समस्त सद्-विशेषताओं और त्रुटियों के भी साथ चन्द्रगुप्त प्रसाद जी का अत्यन्त सफल ऐतिहासिक नाटक सिद्ध होता है। घटना-विस्तार घटना-बाहुल्य का कारण वस्तुतः लेखक की अन्वेषणात्मक ऐतिहासिक प्रवृत्ति ही है। प्राचीन इतिहास के प्रति अगाध प्रेम एवं ज्ञान ने ही प्रसाद जी को चन्द्रगुप्त में उतनी दूरस्थ और समीपस्थ विविध घटनाओं के चित्रण के लिए प्रेरित किया।

८. तितली में लेखक सामाजिक समस्याओं के लिए कोई समाधान भी देता है या वह केवल तथ्य-दर्शक है? कथानक के मार्मिक अंशों के आधार पर उत्तर दें।

उत्तर—उपर्युक्त उपन्यास अब परीक्षा में नहीं। अतः उत्तर छोड़ दिया गया है।

६.—'सिन्दूर की होली' समस्या-नाटक कहा जाता है। इसकी प्रधान समस्या क्या है ? नाटककार ने उसके लिए कोई समाधान भी दिया है ?

उत्तर—श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रधानतया समस्या-नाटक लिखने के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु उनकी समस्याएँ अधिकतर व्यक्तिगत होती हैं। ये समाजगत समस्याओं का व्यक्तिगत रूप लेकर ही उनका चित्रण करने के अधिक पक्षपाती हैं। वैसे तो इनसे पहिले भी समस्या-प्रधान नाटक लिखे गये थे, किन्तु इन नाटककारों ने समस्याओं का अधिकांश में समष्टिरूप ही लिया था। उनके रूप को व्यक्ति-प्रधान बनाकर चित्रण करने वालों में प्रथम ये ही नाटककार ठहरते हैं। योरुप-भ्रमण के पश्चात्, आकर, इन्होंने ऐसी व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर, उनका चित्रण करने की प्रणाली स्वीकृत की।

सिन्दूर की होली भी समस्या-नाटक माना जाता है। इसमें एक समस्या तो मनोज के सामने है—उसके समक्ष अपने पिता की हत्या के रहस्य की समस्या है। किन्तु यह समस्या इस नाटक की मुख्य समस्या न बनकर, किसी जासूसी नाटक की ही बन सकती है। दूसरी समस्या, जिसका कि चित्रण करना नाटककार का प्रधान उद्देश्य है, विधवा की समस्या है। मनोरमा विधवा है, उसके सामने अपने जीवन-निर्वाह की समस्या है। उसे नाटककार ने सर्व प्रथम चन्द्रकला के घर दिखाया है जहां चन्द्रकला के पिता की उस पर कामुक दृष्टि हो जाती है। वह बाल विधवा है जिसे वैवाहिक जीवन का कुछ भी अनुभव नहीं है। अतएव उसे अपना जीवन इतना अखरता नहीं, भुक्त-भोगी के लिए जरा कठिनाई होती है। वह आर्टिस्ट है, चित्रकार, जो अपनी रोजी कमाने में समर्थ है। वह स्वावलम्बन से अपना जीवन निर्वाह करने में पूरी समर्थ है। वह सामाजिक अर्थों में विधवा है। किन्तु साथ ही लेखक एक अन्य विधवा के भी दर्शन कराता है, जो स्वयं अपनी इच्छा से, समाज द्वारा बाधित न होते हुए भी वैधव्य स्वीकार करती है। वह है, चन्द्रकला, जो रजनीकान्त को प्रथम

दर्शन में ही पति मान वैधव्य-जीवन-यापन करने का निश्चय करती है। उन दोनों का मनोज से सम्पर्क होता है, किन्तु दोनों का ही उससे वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता—चन्द्रकला को तो उससे प्रेम ही नहीं होता और मनोरमा अपने प्रेम का स्वीकार नहीं करती, यद्यपि उसमें मनोज और चन्द्रकला के सम्बन्ध से कुछ ईर्षा सी अवश्य होती है। किन्तु दोनों अपने अपने वैधव्य-पथ पर अग्रसर रहती हैं और नाटक पाठक को कल्पना में छोड़कर समाप्त हो जाता है।

लेखक ने वैधव्य की समस्या का यदि कोई हल उपस्थित किया है तो यही कि विधवाओं को ऐसा बना दिया जाय कि वे अपना स्वतन्त्र जीवन चलाने में समर्थ हो जायें, उन्हें कोई न कोई आर्ट या कला सिखादी जाय जिससे वे किसी का आश्रय न खोजें। यह धारणा कि विधवा स्वतंत्र रहकर अपना जीवन निष्कलंक नहीं रख सकती, भी गलत सिद्ध हो जाती है। मनोरमा, चन्द्रकला के पिता के धन के प्रलोभन और मनोज के प्रेम के प्रलोभन से साफ बच जाती है। मनोज के प्रति आकर्षण उसको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। लेखक ने दिखा दिया है कि स्त्री एक को अर्पित होकर स्वमन से उसी के नाम पर जीवन भर रह सकती है। बाल विधवा मनोरमा अपने विवाहित पति के नाम पर ही अपना जीवन उठा ले जाती है। उसके अपने कहने के अनुसार, उसका जीवन सुख-पूर्ण न होने पर भी असह्य नहीं है, क्योंकि उसको वैवाहिक जीवन का अनुभव ही नहीं, वह अपनी आजीविका में समर्थ है, किसी के अवलम्बित नहीं। अतः वह स्वमनोनुकूल आचरण करने में स्वतंत्र है। वह आचरण उसका अन्ततक शुद्ध ही रहता है। लेखक ने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्त्री एक बार ही किसी को मन दे देती है और फिर फिरती नहीं। चन्द्रकला के जीवन में यही तथ्य है। वह एक बार ही रजनीकांत की हंसी को अपना मन अर्पित कर देती है और फिर हस्पताल में उससे सिन्दूर चढ़वा लेती है। इसी जरा से सहारे पर सारा जीवन विधवा के रूप में बिताने को तैयार हो जाती है। उसको मनोरमा और मनोरमा को मनोज विवाह करने की प्रेरणा देते हैं, पर उनमें से कोई मानने को तैयार नहीं होती।

इस प्रकार, लेखक ने वैधव्य-समस्या का न विधवा-विवाह हल बताया है और न विधवाश्रम ही बताया है। नाटकीय चित्रण से यदि कोई हल निकाला जा सकता है कि विधवा को आजीविका में समर्थ बनाने वाली शिक्षा देकर उसे पूर्ण स्वतंत्र कर दिया जाय। वह सुखी रहेगी और सच्चरित्र भी रहेगी। स्त्री एक बार ही मन अर्पित करती है और फिर सदैव उसकी आराधना करती रह सकती है। ये बुद्धिवाद के ही सिद्धान्त हैं।

अथवा

चन्द्रकला और मनोरमा के चरित्रों का निश्चित अन्तर क्या है? नाटककार ने किस उद्देश्य से इन दोनों को एक दूसरे के विपरीत खड़ा कर दिया है।

उत्तर—चन्द्रकला अपने अमीर अफसर पिता की इकलौती पुत्री है, समस्त सम्पत्ति की एक मात्र अधिकारिणी। उसकी कोई भी बात नहीं टलती, पूरी होती है। पिता उसको हर तरह खुश रखना चाहता है। मनोरमा को भी उसी के लिए रखा जाता है, प्रकटतया वह पढ़ी लिखी है, अल्हड़ है, प्रसन्न रहने वाली। मनोज से उसका विवाह निश्चित है, वह उसके साथ जाती आती भी है, पर उसके हृदय में उसके प्रति प्रेम नहीं है, बात चीत के सिलसिले में वह स्वयं मनोरमा के पास यह बात मान लेती है। वह अत्यन्त भावुक और आमोद—प्रिय है, इसलिए मनोज का बीमार स्वभाव और शरीर उसे रुचता नहीं। इसी कारण रजनीकान्त का हँसता हुआ चेहरा एक बार में ही उसका मन हर लेता है। अपने भावावेश में वह उसे अपना पति मान लेती है और आजन्म उसके नाम पर वैधव्य भोगने को तैयार हो जाती है। मनोज के प्रति उसे सहानुभूति है। अपने पिता की अन्याय-प्राप्त सम्पत्ति में से एक पाई भी लेने को तैयार नहीं होती।

उसके विपरीत मनोरमा बाल विधवा है, जिसे जमाने की ठोकरों का भी अनुभव है, जो दुनियां के रूप को भी बहुत कुछ समझती है और इसीलिए जो समवयस्का होती हुई भी गंभीर है। वह अपने जीवन को सुखी नहीं कहती पर सह्य बताती है। वह मनोज की ओर अनुरक्त है, क्योंकि दोनों का स्वभाव प्रायः एकसा है। दोनों फिलासफी के दृष्टिकोण से जीवन को देखते हैं। संसार से असन्तुष्ट हैं। किन्तु मनोरमा प्रकटतया

मनोज को चन्द्रकला की ओर से फिराना नहीं चाहती, उसकी भलमनसाहत उसे मना करती है। पर वह चाहती अवश्य है मनोज को। रजनीकान्त में चन्द्रकला की अनुरक्ति का कारण उसका बनाया रजनी कान्त का चित्र विशेष बनता है। वह अन्ततः प्रसन्न होती हुई भी चन्द्रकला को उधर से निवृत्त करने की चेष्टा करती है। चन्द्रकला के बीमार सी होजाने पर मनोज की चिड़चिड़ाहट का स्पष्ट अनुभव करती हुई, वह उसको अपने साथ अविवाहित रूप से रहने को राजी कर लेती है। परन्तु बाद में जब मनोज चन्द्रकला को हस्पताल ले जाने को तैयार हो जाता है तो वह साथ रहने की बात को अस्वीकृत कर देती है। कुछ डाह का भाव है। मनोज को, मन में और भाव रखती हुई भी, चन्द्रकला के साथ मिल जाने को कहती है। उसके मन के सूक्ष्म घात-प्रति घातों को दिखाने में लेखक को पूरी सफलता मिली है। वह जानती है कि चन्द्रकला के पिता का उसके विषय में क्या भाव है, पर वह अधिकार और सम्पत्ति के लोभ से बच जाती है। यहाँ उसका मनोज के प्रति आकर्षण उसे विशेष सहायता देता है। वह घर छोड़कर दुनियां में उतरने के लिए मनोज जैसा साथी चाहती है। पर वह अपने वैधव्य के आदर्श से भी पतित नहीं होना चाहती, विवाह स्वीकार नहीं करती, अविवाहित साथी चाहती है। किन्तु आगे का घटना—क्रम जिस प्रकार से चलता है, उससे यह बात पूरी नहीं होती। चन्द्रकला के वैधव्य-स्वीकार से मनोज मनोरमा मिलन निर्बाध हो जाने पर भी दोनों के संयोग होने का नाटककार ने कोई संकेत नहीं दिया।

इन दोनों के एकत्र चित्रण करने का नाटककार का उद्देश्य पारस्परिक चरित्र-विकास का ही हो सकता है। मनोरमा के चरित्र का चन्द्रकला पर विशेष प्रभाव पडता है। मनोरमा और मनोज के पारस्परिक भाव का अनुभव करके चन्द्रकला को ईर्षा नहीं होती, कुछ स्वतन्त्रता का सा ही अनुभव होता है। कारण, वह मनोज के प्रति आसक्त नहीं है। रजनीकान्त को देख लेने पर तो यह भाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इधर मनोरमा में भी मनोज के प्रति अनुरक्ति का कारण बहुत कुछ चन्द्रकला के प्रति

ईर्षा ही बनती है। वस्तुतः तो बात यह है कि मनोरमा, चन्द्रकला और मनोज इन तीनों के चरित्र-विकास में ये तीनों ही पात्र परस्पर में कारण बनते हैं। इन तीनों में से एक के भी न रहने पर, दूसरे का चरित्र इस प्रकार विकसित नहीं होता, जिस प्रकार कि हुआ है। मनोज के चरित्र के विकास में मनोरमा और चन्द्रकला दोनों कारण बनी हैं। चन्द्रकला का अस्थिर चरित्र यदि सामने न होता तो मनोज मनोरमा की प्रशंसा न कर पाता। और, मनोरमा न होती तो शायद वह चन्द्रकला के प्रति इतना विरक्त न होता। स्त्री के आत्मत्याग के दो उदाहरण उपस्थित करना भी लेखक का उद्देश्य है। मनोरमा वास्तव मे विधवा है और अपने जवीन पर दृढ़ रहना चाहती है और चन्द्रकला विधवा न होती हुई भी भावावेश में वैधव्य भोगना चाहती है। चन्द्रकला और मनोरमा के एकत्र चित्रण का यही उपयुक्त उद्देश्य हो सकता है। ये तीनों चरित्र सापेक्ष हैं। तीनों के सहयोग से ही तीनों का यथानुरुप विकास संभव था। चन्द्रकला और मनोरमा में स्त्री जीवन की दो महान् विशेषताएं चित्रित हैं।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४

संवत् २००४

सूचना—प्रश्न १० अनिवार्य है। शेष मे से किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

१.—कुछ विदेशी समालोचक नाटकों के दो भेद करते हैं—अभिनेय और पाठ्य। क्या यह भेद-व्यवस्था समीचीन है? क्या हिन्दी साहित्य मे इसके उदाहरण मिलते हैं? यदि हां तो पाठ्य नाटक में नाटकत्व की रक्षा कैसे हो सकती है?

उत्तर—नाटक दृश्य काव्य का ही एक भेद है, जो कानों के साथ साथ आंखों का भी विषय बनता है। काव्य का दूसरा भेद ऐसा है, जो केवल कानों का ही विषय बनता है, अतएव उसे श्रव्य कहा जाता है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि श्रव्य केवल सुनाही जाता है और नाटक

सुना भी जाता है और देखा भी जाता है। श्रव्य से भेद-सूचक इसकी यही दृश्यता है, इसको निकाल देने पर दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। सारांश में नाटक मनुष्य के मन पर दो इन्द्रियों के द्वारा प्रभाव डालता है और श्रव्य काव्य केवल एक इन्द्रिय के द्वारा। निश्चय ही प्रथम की शक्ति दुगनी होगी। अतएव रसमयता के दृष्टिकोण से नाटक को ऊंचा स्थान दिया गया है। श्रव्य की अपेक्षा नाटक या दृश्य काव्य में रस का परिपाक अधिक माना जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि नाटक और श्रव्य काव्य में भेद केवल "दृश्यता और अदृश्यता" का है। दृश्यता का अभिप्राय है कि स्टेज पर अभिनीत किया जासके, उसको दर्शक देख सकें। और, जो अदृश्य हो अर्थात् स्टेज पर अभिनीत होता हुआ देखा न जा सके वह श्रव्य है। इस दृष्टि से नाटक के लिए अभिनीत होने के योग्य होना प्रथम विशेषता है, जिसके आधार पर उसकी श्रव्य से भिन्न स्वतंत्र सत्ता है।

इस आधार पर तो वही नाटक कहलाने के योग्य होगा, जो अभिनीत हो सकता है अर्थात् जिसमे अभिनीत होने की योग्यता है। इस दृष्टि से तो नाटक के दो विभेद—अभिनेय और पाठ्य—बनते ही नहीं, या तो वह नाटक होगा, उसमे नाटकीय प्रधान विशेषता—अभिनेयता—होगी और या वह नाटक नहीं होगा, उसमें अभिनयोपयोगी योग्यता नहीं होगी। किसी बीच के मार्ग के आश्रय की गुंजाइश नहीं रहती। पाठ्य और काव्य में फिर अन्तर ही क्या रह जाता है यदि उसमें अभिनेयता या दृश्यता नहीं है तो?

किन्तु यह भेद-विभा-न किसी सीमा तक ठीक भी है। नाटकीय अभिनेयता को दो भागों में बांटा जा सकता है। नाटक की शैली ही अभिनेय होती है, नाटककार सामने आकर कुछ वर्णन नहीं करता घटनाक्रम पात्रों का सहारा लेकर स्वयमेव गतिमान् रहता है। पात्र स्वयं अपना विकास करते हैं। संवादों से उनकी हार्दिक भावनाओं का प्रकाशन होता है, कथा को गतिविधि मिलती है। यह नाटकीय अभिनेय शैली है। जो काव्य इस अभिनेय या नाटकीय शैली में निबद्ध होगा, वह दृश्य-काव्य या नाटक कहा जायगा। सो पहिली नाटकीय अभिनेयता तो इस प्रकार की है। दूसरी अभिनेयता का सम्बन्ध रंगमंच से है। रंगमंचीय नाटकीय

शैली में लिखित होने पर भी किसी नाटक में रंगमंच पर खेले जाने की दृष्टि से त्रुटियां हैं, उसमें अनेक ऐसी कमियां हैं, जिनके कारण उसे स्टेज पर उचित रूप से नहीं खेला जा सकता। उसमें घटना-सन्निवेश भी रंगमंच का ध्यान रखकर नहीं किया गया। अतएव उसमें रंगमंचीयता या रंगमंच पर अभिनीत होने की योग्यता नहीं है। इस प्रकार दूसरी अभिनेयता यह हुई। अवश्य ही सर्वोत्कृष्ट वही नाटक होगा, जिसमें ये दोनों प्रकार की अभिनेयताएं हों। शैली तो नाटकीय या अभिनय के ढंग की होगी ही, साथ ही उसमें रंगमंचीय योग्यता भी हो। ऐसा ही नाटक पूर्ण सफल नाटक माना जाता है। किन्तु किसी नाटक में रंगमंचीय विशेषता न होने पर भी अभिनेय शैली या रंगमंचीय शैली होती है। अत: वहाँ पर भी नाटकीयता रहने से नाटकत्व रहता ही है। ऐसे नाटकों को पाठ्य (क्योंकि उनके खेलने में कठिनाई होने के कारण, वे सदैव पाठ्य ही रहते हैं) कहा गया है। इसी को साहित्यिक नाटक भी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक ऐसा नाटक है, जिसमें साहित्यिक औचित्य को छोड़कर केवल रंगमंचीय दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है; लेखक ने प्रधानतया स्टेज की आवश्यकता की ओर ही आंखें रखकर नाटक लिखा है। ऐसी रचनाओं में भी साहित्यिकता न होने पर भी, नाटकीय शैली के आधार पर नाटकत्व मानना पड़ता है। यह रंगमंचीय या अभिनेय नाटक है। केवल दृष्टिकोण की प्रधानता का भेद है। एक जगह साहित्यिक दृष्टिकोण प्रधान होता है और दूसरी जगह रंगमंचीय। इन दोनों ही प्रकार के—साहित्यिक या पाठ्य और रंगमंचीय या अभिनेय—नाटकों में नाटकत्व रहता ही है। किन्तु ये दोनों ही प्रकार के नाटक सर्वोत्तम नहीं बन सकते, क्योंकि जिन में ये दोनों ही विशेषताएं विद्यमान होंगी, वे ही वस्तुत: सर्वोत्तम नाटक होंगे। इस दृष्टि से नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय रूप में दो भेद किये जा सकते हैं, यदि पाठ्य और अभिनेय शब्दों का उपर्युक्त अभिप्राय है।

किन्तु कई कथित नाटकों में शैली वर्णनात्मक रहते हुए भी, नाटक के अंक, प्रस्तावना, दृश्य आदि बाह्य चिन्हों के आधार पर ही नाटक-संज्ञा करदी गई है, वहां नाटक की बाह्य स्थूल टैकनिक के दो चार चिन्हों के

अतिरिक्त अन्य कुछ भी नाटकीयता नहीं होती। प्रसाद बेशक बहुत अच्छे होते हैं। नहीं तो, लेखक कवि के समान ही स्वयं घटना-वर्णन करता चलता है ना कीय शैली अभिनेयता वहां नाम को भी नहीं होती। कथा को कवि या लेखक प्रत्यक्ष रूप में चलाता है, तो वह चलती है, उसे पात्र या उनके संवाद नहीं चलाते। ऐसे नाटकों में तो नाटक का आभास मात्र ही मानना चाहिये वास्तविक नाटकत्ता नहीं। इन्हें नाटकीय काव्य ही कहा गया है। क्योंकि ऊपरी चिन्हों के अतिरिक्त इन में शैली मुख्यतः श्रव्य काव्य की सी वर्णनात्मक रहती है। अतः ऐसे काव्यों को नाटक नहीं नाटक का आभास कहा जा सकता है। ये वस्तुतः श्रव्य काव्य हैं, नाटक के दो चार चिह्न लिये हुए। अतः इनका तो पाठ्य नाटकों में ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता। पाठ्य शब्द से इनका ग्रहण इसलिए नहीं हो सकता, कि इन में तो नाटकत्व की अपेक्षा उसका आभास मात्र ही है। उनमें नाटक शब्द का प्रयोग गौण मानना चाहिये। अतः प्रश्न के पाठ्य शब्द से ऐसे नाटकों या नाटकाभासों का अभिप्राय लिया जाता है तो ठीक नहीं है, न उनमें वास्तविक नाटकत्व रह ही सकता है। हिन्दी साहित्य में हनुमन्नाटक, समय सार आदि नाटकीय काव्य हैं। श्री प्रसाद जी के कई नाटकों को साहित्यिक रूप में ले सकते हैं, जो पाठ्य हैं, किन्तु आवश्यक परिवर्तन सुधार के पश्चात् सुविधा से खेले भी जा सकते हैं, उनमें अभिनीत होने की शैली और योग्यता विद्यमान है। अभिनेयों या रंगमचीयों के उदाहरण रूप में पारसी कम्पनियों के नाटक अथवा राधे श्याम कथा वाचक के बहुत से नाटक लिये जा सकते हैं।

पाठ्य और अभिनेय का भेद नाटकों में उपर्युक्त रूपमें ही पड़ सकता है, अन्य किसी रूप में नहीं। वस्तुतः तो आदर्श नाटक वही है, जो उभय विशेषताओं से सम्पन्न हो। इनमें से एक विशेषता ही रखने पर पूर्ण सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। इसलिए, प्रश्नगत 'पाठ्य' और 'अभिनेय' शब्दों के उपर्युक्त साहित्यिक और 'रंगमचीय' अर्थ लेकर तो दो भेद किये जा सकते हैं, उसकी भिन्न विशेषता के सूचक। किन्तु पाठ्य का अर्थ श्रव्य काव्य की शैली में लिखा हुआ और नाटक के कुछ एक अंक प्रस्तावना आदि ऊपरी चिन्हों को लिये हुए नाटक यदि लिया जाता है, तो उसके

ये प्रश्नोक्त भेद नहीं बन सकने, क्योंकि वे पाठ्य नाटक वस्तुतः नाटक होंगे ही नहीं, वे तो नाटकीय काव्य होंगे या नाटकाभास। हां पाठ्य से, अभिप्राय यदि साहित्यिक नाटक का हो, तो ये भेद किये जा सकते हैं, क्योंकि नाटकीय शैली के कारण साहित्यिक नाटकों में वास्तविक नाटकत्व रहता ही है। देखिए इसी विषय में उदयशंकर भट्ट के भी विचार... ... ...

'नाटक केवल अभिनय की ही वस्तु नहीं है, वह पठनीय भी है। ...
यह ठीक है कि यदि वह दृश्य हो तो और भी अच्छा, पर वह पठनीय भी है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। क्या कालिदास, शेक्सपियर, शा भवभूति, प्रसाद आदि के नाटकों को पढ़कर आनन्द नहीं प्राप्त किया जा सकता? क्या पढ़ने पर उनमें वह तत्परता नहीं मिलती, जो देखकर होती है? फिर यह कैसे माना जाय कि उनमें दृश्यत्व ही है पठनीयत्व नहीं?"

२.—उपन्यास के उत्पादक तत्वों का निर्देश कीजिये और उसके सामञ्जस्य विधान की कला का निरूपण करते हुए तितली और परख की तुलना कीजिए।

उत्तर—उपन्यास काव्य के गद्य काव्य का भेद है। उपन्यास में लेखक जीवन का वृहत् चित्र उपस्थित करता है। प्रबन्ध काव्य जैसे पद्य में जीवन का पूर्ण नहीं तो वृहत चित्र उपस्थित करता है, वही कार्य गद्य में उपन्यास करता है। उपन्यास के मूलतत्व भी वे ही हैं, जो कि नाटक के अर्थात् कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, उद्देश्य एवं देशकाल। इन छहों तत्वों को लेकर उपन्यास की रचना होती है। लेखक की योग्यता इसी में है कि वह उपर्युक्त तत्वों का ऐसा पारस्परिक समन्वय करे कि जिससे जीवन का एक सर्वांग-पूर्ण और परम स्वाभाविक, जीता जागता चित्र उपस्थित हो जाय। इसी में उसकी कला और खूबी है। ये सभी तत्व अत्यन्त आवश्यक हैं श्रेष्ठ उपन्यास के लिए। इनमें से एक की ओर से भी लेखक के उदासीन रहने से उसका उपन्यास सफल नहीं रहेगा। इन छहों तत्वों के यथोचित निर्वाह और पारस्परिक समन्वय या सामञ्जस्य में

उपन्यास-कला निहित है। लेखक इनके निर्वाह और समन्वय में जितना भी कुशल होगा, वह उतना ही सफल सिद्ध होगा अपनी कला में। उसे इन तत्वों का संक्षेपतः निम्न प्रकार से निर्वाह और समन्वय करना चाहिये।

कथावस्तु—आधिकारिक प्रसंग को कहते हैं। जो प्रसंग या प्रकरण प्रारम्भ से अन्त तक, अपना अधिकार रखते हुए, प्रधान रूप से, चलता है, वह आधिकारिक प्रसंग होता है। वह मुख्य घटना होती है, जो आरम्भ से चलकर, अपना विकास करती हुई, सबसे प्रधान बनी अन्त तक चलती है। उसमें अन्य छोटी मोटी अनेक घटनाएं भी मिलती रहती हैं, जिनसे मुख्य घटना के आकार, गति और प्रभाव में वृद्धि होती रहती है, जैसे कि एक महानदी में अनेक छोटी मोटी नदियां गिरकर उसके प्रवाह में वृद्धि करती रहती हैं। इस कथा-वस्तु के निर्माण पर ही उपन्यास की सफलता या विफलता विशेष रूप से निर्भर रहती है। वह उपन्यास की रीढ़ की हड्डी या मुख्य ढांचे का आधार होता है। उसका निर्माण बड़ा स्वाभाविक और शृंखलाबद्ध होना चाहिये। घटनाएं एक दूसरी के उत्पादन का कारण होनी चाहियें, एक घटना में से दूसरी निकलती प्रतीत हो और इस प्रकार घटनाओं की एक स्वाभाविक शृंखला बनी होनी चाहिये। उस शृंखला का जैसा विस्तार हो, उसी प्रकार क्रमशः संकोच भी होना चाहिये, जिससे उपन्यास के अन्त में उसका एक स्थायी प्रभाव पड़ सके। इस प्रभाव-ऐक्य के लिए अपेक्षित है कि प्रमुख घटना की शृंखला एक हो और अन्य घटनाएं उसमें मिलकर एक होती जायें। तभी उसके बन्ध में स्वाभाविकता और वैज्ञानिकता रह सकती है, तभी वह जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित कर सकेगी। अतः कथा-वस्तु के निर्माण में लेखक को हठाकृष्टता और अस्वाभाविकता से बचना चाहिये।

पात्र घटनासूत्र के उत्पादक या संचालक व्यक्तियों को पात्र कहा जाता है। समस्त घटनाएं इन पात्रों में से उद्गत होती हैं, उन्हीं के सहारे से चलती हैं और उन्हीं में अन्त को समाप्त होती हैं। प्रमुख घटना या कथा प्रमुख पात्रों के आश्रय से चलती है और अवान्तर कथाएं अप्रमुख पात्रों के सहारे से चलती हैं। पात्र कथावस्तु को अग्रसर करते हैं, उसकी आगे की

गतिविधि निश्चित करते हैं। कथा-सूत्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन पात्रों से ही होता है। जीवन की घटनाओं का आश्रय जैसे व्यक्ति होते हैं, उन्हीं के आश्रय से जीवन चलता है ऐसा ही औपन्यासिक घटनाओं के विषय में समझना चाहिये जीवन के संचालक ये व्यक्ति ही उपन्यास में पात्र कहलाते हैं। इनके चित्रण में भी उपन्यासकार को बड़ी सतर्कता से काम लेना चाहिये। कोई पात्र कृत्रिम रूप से कार्य करता हुआ नहीं होना चाहिए। पात्र के समस्त चित्र का विधान उसकी स्थिति, मनोदशा और कथावस्तु के अनुकूल होना चाहिये। लेखक को पात्र के मनोविज्ञान का ज्ञान होना चाहिये, तभी वह उसका स्वाभाविक और जीवन-प्रतिरूप सत्य चित्र उपस्थित कर सकता है। जैसी परिस्थिति में जिस स्वभाव के पात्र का, जैसा चित्रण होना चाहिये, उसके विपरीत चित्रण करने से लेखक को सफलता नहीं मिल सकती, वहां कृत्रिमता या अस्वाभाविकता आ जायगी। प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व उपन्यास में पृथक् पृथक् प्रतीत होना चाहिये। एक ही जैसे पात्रों के चित्रण से उपन्यास जीवन के सत्य चित्र नहीं उपस्थित कर सकता। जैसे जीवन में असंख्य व्यक्ति अपनी पृथक् पृथक् विशेषताएं रखते हैं, ऐसे ही उपन्यास के पात्र भी होने चाहियें उनकी चारित्रिक विशेषताओं का स्पष्ट चित्रण हो, तभी लेखक का चित्रण स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हो सकता है। वे पात्र प्रारम्भ से अन्त तक कथा-वस्तु का विकास करते हुए अपने चरित्र का भी विकास करते हैं। कथा-वस्तु पात्रानुरूप विकसित होती है। और, पात्रों के चरित्र का विकास कथानुरूप होता है। तभी जीवन का पूर्ण समन्वित और सत्य चित्र उपस्थित हो सकता है।

कथोपकथन—पात्रों की पारस्परिक बात चीत को कहते हैं। उपन्यास में जैसा स्थान कथावस्तु और पात्र का है, वैसा ही आवश्यक कथोपकथन या संवाद का भी है। संवाद पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है और कथा- सूत्र का विस्तार भी करता है। पात्रों के चरित्र का विकास जैसे उनके कार्यों से होता है, वैसे ही उनके पारस्परिक संवाद से भी होता है। क्योंकि बिना संवाद के पात्र मूक बने कथा-सूत्र का कैसे विकास कर सकते

हैं ? कथा-सूत्र भी स्वाभाविक रूप से आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक कि संवाद रूप में पात्रों की हार्दिक भावनाओं और इच्छाओं का ज्ञान न हो। अतः संवाद भी उपन्यास का आवश्यक तत्व है। वह सदैव पात्र के अनुकूल होना चाहिये। पात्र जैसा हो, उसकी बात चीत भी उसी के स्तर की होनी चाहिये। एक ग्रामीण अशिक्षित यदि बड़े गूढ़ ज्ञान या विज्ञान की बातें करने लगे तो अस्वाभाविक या कृत्रिम जंचेगा। अतः पात्रों की मनोदशा के परिचायक संवाद उनके और उनकी स्थिति के अनुकूल होने चाहियें, तभी वे स्वाभाविक रहेंगे। ये संवाद तभी कथा-वस्तु को भी विशिष्ट गतिविधि दे सकेंगे। कथा-सूत्र को संचालित करने के कार्य को तभी संवाद उचित सत्यता और स्वाभाविकता-पूर्वक कर सकते हैं। ये संवाद सरल, संक्षिप्त, विचित्रतामय, वस्तुस्थिति और मनःस्थिति के पूर्णतया अभिव्यंजक होने चाहियें। इन तीनों के इस प्रकार उचित समन्वय से ही जीवन का वास्तविक एवं स्वाभाविक चित्र उपन्यास में उपस्थित किया जा सकता है।

देशकाल—कथा वस्तु जहां और जिस काल में घटित होती है, उस देश और उस काल को देशकाल कहा जाता है। अपने अन्य तत्वों के साथ देशकाल का भी उपन्यास में पूरा महत्व है। जिस काल की और जिस देश की कथा हो, उनका बिना ध्यान रखे, उपन्यास लिखने से भी लेखक को सफलता नहीं मिल सकती। अत एव उपन्यास लिखने से पूर्व लेखक के लिए अपने कथानक के देश-काल की परिस्थिति का भी ज्ञान होना परमावश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो देश काल का ज्ञान विशेष अपेक्षित होता है। अन्यथा, इसमें अन्तर आने पर, कथानक अस्वाभाविक प्रतीत होगा। पृथ्वीराज के समय के कथानक में यदि कोई लेखक किसी राजपूत को आज के हैट कोट वाले वेश में दिखलादे तो हास्यास्पद ही होगा अथवा रेगिस्तान में कोई लेखक हरे भरे बाग बगीचों का वर्णन करने लगे तो भी हास्य-जनक ही होगा। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये। उपन्यास की कथा -पात्र, कथोपकथन आदि की रचना बिना देश काल का ख्याल रखे करने पर, उपन्यास जीवन का स्वाभाविक और सच्चा चित्र उपस्थित नहीं कर सकता।

ऐसा चित्र हास्य ही उत्पन्न करने वाला होगा। अतः इन चारों के समन्वित रूप में ही जीवन का समष्टि रूप में चित्रण संभव है।

शैली—अपने भाव, विचार और सिद्धान्तों को प्रकाशित करने की विशिष्ट प्रणाली ही शैली होती है। उपन्यासकार किस ढंग से अपनी कथा, पात्र, संवाद, देश काल आदि का चित्रण करता है, इस पर भी उपन्यास की प्रभावक शक्ति का बहुत कुछ आधार रहता है। अवश्य ही लेखक की शैली स्वाभाविक प्रवाहमय, सरल, स्पष्ट और रोचक होनी चाहिये। तभी उपन्यास सफल रहेगा। इस शैली तत्त्व में, भाषा की शैली, भाव और पात्र के चरित्र चित्रण की शैली और वस्तुस्थिति के चित्रण की शैली आदि सम्मिलित हैं। उपन्यासकार की शैली उसकी अपनी विशेषता की सूचक है। वह आदि से अन्त तक एक प्रकार की, कथा, पात्र आदि के अनुरूप स्वाभाविक होनी चाहिये।

उद्देश्य—कथानक के चरम फल को कहा जाता है। उपन्यास के प्रारम्भ से ही समस्त कथा—जाल, पात्र आदि किसी एक ही निर्दिष्ट उद्देश्य या लक्ष्य को सामने रखकर उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं। और उसकी प्राप्ति होने पर कथानक शान्त हो जाता है। यह लक्ष्य एक ही होता है: प्रारम्भ से अन्त तक उपन्यास का सब व्यापार उसी की प्राप्ति के लिए क्रिया-शील होता है। लक्ष्य-प्राप्ति की यह एकान्त प्रेरणा ही समस्त औपन्यासिक क्रिया-कलाप को प्रेरणा देती है। जैसे समस्त नदियों का रुख समुद्र की ओर होता है और उस तक पहुंच कर उनकी समाप्ति हो जाती है, इसी प्रकार उपन्यास के समस्त भिन्न व्यापारों का रुख भी उसी लक्ष्य की ओर ही होता है और वहां पहुंचने पर उपन्यास की समाप्ति हो जाती है। किन्तु इस लक्ष्य या उद्देश्य का प्रकाशन उपन्यासकार साक्षात् उपदेशक की भान्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं करता, अपितु वह अपने उपन्यास का निबन्धन—रचना—इस क्रम से और इस ढग से करता है कि वह चरम फल या उद्देश्य अन्त में स्वत एव अभिव्यजित होकर पाठक को विमुग्ध कर देता है। पाठक पर वह लक्ष्य स्वयं अन्त मे अनायास अपना प्रभाव डालता है। सारे उपन्यास को पढ लेने पर अन्तिम प्रभाव के रूप में वह

चरम लक्ष्य स्वयं ही अभिव्यंजित हो जाता है। उपन्यासकार की समस्त कला और समस्त परिश्रम का फल यही अन्तिम फल उद्देश्य होता है, जिसे अभिव्यक्त करने को वह उपन्यास की सारी सृष्टि रचता है। इस उद्देश्य चरम लक्ष्य को वह कितनी सफलता या विफलता से व्यंजित कर पाता है, इसी में लेखक की प्रशंसा या अप्रशंसा निहित है। इस दृष्टि से उद्देश्य का उपन्यासकार की दृष्टि में सर्वाधिक महत्व होता है, क्योंकि केवल उसी को व्यक्त करने के लिए उपन्यास का सारा बांधनूँ बांधा जाता है।

उपन्यास के उत्पादक तत्त्व और उसके सविधान का यही उपयुक्त साम शास्त्र विधान है, संक्षेपतः। इनमें से किसी तत्व के भी निर्बल रहने से अथवा इनके सामञ्जस्य में कुछ भी अन्तर रहने से उपन्यासकार अपने कार्य में सफल नहीं रह सकता।

३.—नाटकत्व की दृष्टि से मुद्राराक्षस और चन्द्रगुप्त की तुलना कीजिये और दोनों की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी विशेषताओं का संक्षेप में निर्देश कीजिये।

उत्तर—मुद्राराक्षस प्राचीन संस्कृत नाट्य-प्रणाली में लिखा गया सफल नाटक है। नाटकत्व के सभी लक्षण उसमें पूर्णतया मिलते हैं। किसी भी दृष्टिकोण से नाटककार नाटकीय नियम के बाहर नहीं गया है। कथा-वस्तु का निर्वाह नाटक में इतना सुगठित और सुन्दर हुआ है, कि कुछ विद्वानों के मत से वैसा कथा-गठन मृच्छकटिक को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। चाणक्य की प्रतिज्ञा का ज्ञान होते ही समस्त नाटकीय प्रयत्न उसके पूर्ण करने को जुट जाते हैं। दोनों पक्षों की शक्ति का विस्तार दिखाकर, क्रमशः चाणक्य की नीति अपनी अन्तिम सफलता की ओर अग्रसर होती चलती है और अन्त में फलावाप्ति होती है। नन्द-वंश का नाश करके भी मौर्य की चञ्चल—कभी चन्द्रगुप्त और कभी पर्वतेश्वर की ओर ढलकती हुई—लक्ष्मी को स्थिर करने के उद्देश्य से चाणक्य अपनी खुली चोटी को नहीं बांधना चाहता। क्योंकि, नन्द पक्ष का नामलेवा एक भी व्यक्ति जबतक विरोध करता है, तब तक चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं मानना चाहता। प्रारम्भ से ही उसकी सफलता होती चलती है, विरोधी

पक्ष चाणक्य के गुप्तचरों से घिर जाता है और चाणक्य-नीति की सफलता के बीज पनपने लगते हैं। आधिकारिक प्रसंग या प्रधान घटना-वस्तु प्रधान रहती है, अन्य प्रासंगिक प्रकरण उसके अंग बने उसके सहायक बने रहते हैं। दृश्य-विधान इतना सार्थक और रोचक है कि वे उत्तरोत्तर रोचकता और आश्चर्यमयता मे वृद्धि करते जाते है। एक भी व्यर्थ नहीं। अन्तिम घटना राक्षस-ग्रहण इतना कारुणिक सुख-पूर्ण और प्रभावोत्पादक है कि दर्शक उद्वेलित हो उठता है।

देश-काल का नाटक में विशेष ध्यान रखा गया है। कोई भी बात ऐसी नहीं आने पायी है जो देश काल के विरुद्ध पड़ती हो। पात्रों की वेश-भूषा से लेकर उनके विचार, रहन सहन, भाषा आदि का देश काल के अनुरूप चित्रण किया है। शैली नाटककार की कुछ जटिल है। उस जटिलता का कारण उसके नाटक का विषय है—राजनैतिक। राजनीति के कूटनीति-पूर्ण और राज्य-नीति रूप—दोनों का सम्यक् चित्रण नाटक में मिलता है। नाटक का ढांचा—प्रारम्भ से अन्त तक—राजनैतिक कूट गुप्त चालों का हो बना हुआ है। किन्तु इस जटिलता के भाव का उत्तरोत्तर आश्चर्य-वृद्धि और रहस्य-ज्ञान से परिहार होता चलता है, जिससे नाटकीय रोचकता में अन्तर नहीं पड़ता। नाटक में वीर रस है, जिसके साथ अद्भुत का संयोग रहता है। शृंगार का सर्वथा अभाव है इसी कारण कोई विशेष स्त्री पात्र नाटक में नहीं आया है। वीर का युद्ध-वीर रूप यद्यपि इसमें नहीं है, युद्धों से नाटककार ने, प्राचीन परिपाटी का निर्वाह करते हुए अपने नाटक को बहुत बचाया है, तथापि कर्म वीर का रूप सर्वत्र मिलता है, अद्भुत के साथ। चाणक्य कर्मशील व्यक्ति है, अपने कार्य—राक्षस ग्रहण—की सिद्धि के लिए सदैव कर्म के प्रति सोत्साह रहता है। कर्म के प्रति उत्साह का उत्तरोत्तर विकास होता है। राक्षस की ओर भी ऐसा ही मानना चाहिये। राक्षस भी कर्मनिरत है और स्वामी के मर जाने पर भी, कोई निजी विशेष स्वार्थ न रहने पर भी, केवल प्रतिकार की भावना से सदैव कर्म-तत्पर रहता है। उधर चाणक्य भी केवल अपनी प्रतिज्ञा के सिन्धु को तैरने के लिए ही समस्त कार्य का भार उठाता है उत्साह-पूर्वक। नाटककार का उद्देश्य भी

यही कर्म-शक्ति का प्रदर्शन है। राक्षस नियतिवादी (भाग्यवादी) है, मनुष्य की सफलता विफलता में दैव का विशेष हाथ मानता है और नाटककार उसकी पराजय का नन्द-दुर्भाग्य को कारण बताता भी है, किन्तु चाणक्य के कर्मशील जीवन से सिद्ध होता है कि भाग्य संचित-कर्म संस्कार का ही नाम है। मनुष्य भोक्ता भी है और कर्त्ता भी है। कर्म का ही फल या संस्कार भाग्य है। संवाद साभिप्राय, विशेष अभिव्यंजक हैं। कथासूत्र का भी सचालन इन से होता है। सवादों के बिना किसी चरित्र को समझा ही नहीं जा सकता। इनसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन होता है।

चरित्र-चित्रण भी नाटककार ने समुचित किया है, अपने उद्देश्य के अनुरूप। मुद्राराक्षस में प्रमुख पात्रों और साधारण पात्रों के उन्हीं अंशों का चित्रण हुआ है, जो मुद्राराक्षस के राजनैतिक जाल में आवश्यक रहे हैं। चन्द्रगुप्त के केवल सम्राट् रूप के ही दो तीन बार दर्शन होते हैं। चाणक्य के भी तपस्वी ब्राह्मण के योग्य, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता निस्पृहता, निःस्वार्थ वृत्ति, परोपकारवृत्ति, हठवृत्ति आदि का ही प्रधानतया चित्रण हुआ है। चाणक्य का केवल कूटनीति की मूर्ति, हठी, क्रोधी रूप ही सामने रहता है। उसके जीवन के अन्य अंश के प्रति लेखक उदासीन है। राक्षस का भी केवल राजनैतिक मंत्री रूप ही सामने आता है। यही अन्य पात्रों के विषय में भी समझना चाहिये। वे भी चाणक्य की बुद्धि की कठपुतलियों के रूप में ही चित्रित हुए हैं। किसी के स्वतंत्र मानसिक भावुक पक्ष का चित्रण नाटककार का उद्देश्य नहीं था। फलतः उसने सभी पात्रों का एकांगी राजनैतिक पक्ष ही चित्रित किया। किन्तु इसके कारण नाटक में नीरसता नहीं आती। उसका स्वयं का विषय और उसका बन्ध इतना रोचक और कलापूर्ण है कि रोचकता में कमी नहीं आती, शृंगार जैसे मधुर रस के न रहने पर भी। कवित्व की मात्रा तो संस्कृत के सभी नाटकों में उपलब्ध होती है। मुद्राराक्षस में भी कवित्व कुछ की विशेषता है। गीत-विधान श्लोकरूप में है। उन पद्यों में विषय भी अधिकतया राजनैतिक और या नैतिक से हैं। दो चार पद्यों में शरत् और चन्द्रिका आदि की प्राकृतिक शोभा का भी चित्रण है। कहीं कहीं पद्यों में शृंगार रस की भी झलक आ जाती है, जैसे कि मौर्य

लक्ष्मी के वर्णन में, किन्तु इनके विपरीत वे स्थल भी हैं, जहां लेखक ने अनुमान जैसे जटिल विषय का भी वर्णन किया है ।

तो भी इसमें सन्देह नहीं, कि मुद्राराक्षस नाटकीय समस्त गुणों से संयुक्त सफल नाटक है, जो अपने ढंग का अनूठा है—अनूठा इसलिए कि केवल इतिहास और राजनीति जैसे सूखे विषय का आधार लेकर, शृंगार की सहायता के बिना, इतना सुन्दर और रोचक नाटक आज तक नहीं अन्य कोई उपलब्ध होता।

चन्द्रगुप्त नाटकीय लक्षणों से युक्त सुन्दर नाटक है। प्रसाद जी के नाटकों में नाटकीय दृष्टि से चन्द्रगुप्त और ध्रुव-स्वामिनी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। चन्द्रगुप्त का आधार भी मुद्राराक्षस की तरह ही इतिहास और राजनीति है। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। विशाखदत्त का दृष्टिकोण केवल राजनैतिक चित्रण था और प्रसाद का साथ में इतिहास-चित्रण भी। अतएव तात्कालिक जीवन का प्रतिबिम्ब जितना चन्द्रगुप्त में मिलता है, उसकी तुलना में मुद्राराक्षस में कुछ भी नहीं। चन्द्रगुप्त में उस युग के जीवन का पूरा चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न है। नाटकीय कलापद्धति के लिहाज से प्रसाद का भी मुख्य आधार प्राचीन भारतीय नाटकीय पद्धति ही है, यद्यपि कुछ ऊपरी आवश्यक परिवर्तन और नवीन संयोग उन्होंने किये हैं। मूल आधार उनके नाटकों में भी प्राचीन पद्धति है। वस्तु, पात्र, रस, कथोपकथन, शैली आदि में उनका दृष्टिकोण मुख्यतया प्राचीन ख्यात आदर्श का ही रहा है। कार्य, कार्य की अवस्थाएं, पंच सधियां आदि प्राचीन आदर्शों का उन्होंने निर्वाह किया है। वृत्त भी रखा है, कुछ परिवर्तन भी किये हैं उन्होंने नाटकों में बराबर युद्ध के दृश्य, हत्या आदि भी दिखाये है। प्रेम क्रीड़ाएं भी दिखाई हैं। गीत विधान में भी अन्तर किया है—मधुर मुक्तक गीत रखे हैं। काव्यमयता भी यथावत् रखी है, प्राचीन ढंग में। इस प्रकार नवीनता का संयोग रखते हुए भी प्रसाद जी का प्रधान आधार मूलतः प्राचीन ही रहा है।

शैली उनकी भी कहीं कहीं दार्शनिकता और काव्यमयता के कारण दुरूह हो गई है। भाषा प्रायः सर्वत्र एकसी रहती है। संवाद चमत्कारक और भावावेश-पूर्ण होते हुए भी एक से हैं, पात्रों के अनुसार भाषा-भेद

कम मिलता है जब कि मुद्राराक्षस में पात्रानुरूप संस्कृत प्राकृत आदि का व्यवहार हुआ है; सभी पात्र प्राय: एकसी 'लच्छेदार' भाषा बोलते हैं। तो भी वे सरस हैं, पात्रों के चरित्र विकास और कथा के सचालन में मुख्य सहायक बनते हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण चन्द्रगुप्त में मुद्राराक्षस की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। इसमें वीर के साथ शृंगार का भी योग है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, राक्षस आदि प्रमुख ऐतिहासिक पात्रों के समस्त जीवन का ही चित्रण किया गया है। उनके केवल बौद्धिक चरित्र के ही चित्र नहीं उतारे गये हैं, जैसे कि मुद्राराक्षस में हुआ है, अपितु उनके मानसिक चरित्रों का भी चित्रण किया गया है। नाटक के प्रारम्भ से ही वीर के साथ साथ प्रणय-व्यापार भी चलते रहते हैं और अन्त तक चलते हैं। चन्द्रगुप्त चाणक्य आदि के हृदय पक्ष का भी पूरा चित्रण प्रसाद ने किया है। कल्याणी सुवासिनी, कार्नेलिया अलका आदि स्त्री पात्रों की भी सृष्टि नाटक में मिलती है। अत: चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण से मुद्राराक्षस की अपेक्षा चन्द्रगुप्त अधिक पूर्ण और अपने समय का प्रतिनिधि है। इन मुख्य पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों का भी चरित्र-चित्रण उस काल के विभिन्न वर्गीय जीवन का प्रतिनिधि है अर्थात् जो जो जिस जिस वर्ग या जाति से सम्बन्ध रखने वाला है, उसके चरित्र में उसके वर्ग की विशेषताओं का ही प्रमुखतया चित्रण हुआ है। अत: चन्द्रगुप्त मे तात्कालिक जातीय जीवन का प्रतिबिम्ब अधिक विशद और स्पष्ट आया है। धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक सभी स्थितियों का आभास चन्द्रगुप्त में मिलता है। इस दृष्टि से पात्रों के चरित्र चित्रण के विषय में चन्द्रगुप्त मुद्राराक्षस से अधिक पूर्ण है।

किन्तु चन्द्रगुप्त की कथावस्तु विशेष विस्तृत है। मुद्राराक्षस में घटना-स्थल एक ही प्रदेश रहता है—मगध। चन्द्रगुप्त में वह पश्चिमी सीमा प्रान्त तक फैला हुआ है, मगध से लेकर। मुद्रा राक्षस में कुछ ही महीनों की घटनाओं को लिया गया है और चन्द्रगुप्त में २५ वर्षों के दीर्घ काल की घटनाओं का समावेश है। मुद्राराक्षस में एक ही प्रमुख घटना का अन्त तक निर्वाह है, चाणक्य चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को दृढ़ करने के लिए राक्षस-ग्रहण का उद्देश्य लेकर चलता है और उसमें सफल होता है। चन्द्र-

गुप्त में सिकन्दर का आक्रमण, मगध राज्य की प्राप्ति और सिल्यूकस की पराजय ये तीन प्रमुख घटनाओं को एक सूत्र मे पिरोया गया है। मुद्राराक्षस में इसलिए सकलन-त्रय (देश काल कार्य संकलन) जितना सरल और समुचित रहा है, उतना चन्द्रगुप्त में नहीं। चन्द्रगुप्त मे नाटककार के सामने इतने बड़े विस्तृत कथा-प्रवाह को नियत्रित करके एक मार्ग मे चलाने में विशेष कठिनता उपस्थित हुई है। बहुत दूर तक अपने कार्य मे सफलता मिलने पर भी, नाटकीय दृष्टिकोण से कथानक विशेष लम्बा है। इसके दृश्य-विधान में भी त्रुटि है। एक दृश्य तक्षशिला का है तो दूसरा ही मगध का है, एक बाग का है तो दूसरा नगर का है, इत्यादि बातें रंग-मंच की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं, क्योंकि देश-सकलन मे कठिनाई पड़ती है। मुद्राराक्षस का कथानक लम्बा होता हुआ भी, दृश्य विधान में ऐसा दोष-पूर्ण नहीं। वे सब दृश्य सुविधा-पूर्वक रंगमंच पर दिखाये जा सकते हैं।

मुद्राराक्षस और चन्द्रगुप्त की नाटकत्व की दृष्टि से यही तुलना है और दोनों के चरित्र-चित्रण में यही अन्तर या विशेषता है।

अथवा

चाणक्य के हृदय का कपाट मुद्राराक्षस में बन्द था, उसे प्रसाद ने अपने चन्द्रगुप्त नाटक मे खोला है।" यह बात समझाइये।

उत्तर—मुद्राराक्षस में चाणक्य के केवल तेजस्वी ब्राह्मण और कूट-नीतिज्ञ रूप का ही चित्रण हुआ है। वह हठी है तपस्वी है, उदार है, अभिमानी है, अगाध विद्वान् है, अपने कार्य के लिये क्रूर और निर्दय भी है, कर्मठ है, षड्यन्त्र विद्या में निपुण है अत्यंत चतुर है आदि विशेषताएं ही सामने आती हैं। अपनी प्रतिज्ञा के कारण ही वह इतना बड़ा संघर्ष मोल लेता है और उसके पूर्ण होने पर अपने मंत्रित्व भार को राक्षस के अर्पण कर देता है। निर्भय और निःस्वार्थ है, अपनी झोपड़ी नहीं छोड़ता। ब्राह्मणत्व अभिमानी है, चन्द्रगुप्त को सदैव वृषल ही कहता है। अपनी बुद्धि का सबसे अधिक भरोसा रखता है, उसीका जाल बुनने में उसका सारा चरित्र समाप्त हो जाता है। उसका सम्बन्ध जिस

किसी मे भी होता है, किसी न किसी राजनैतिक उद्देश्य को लेकर। अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध उसका नहीं दिखाया जाता। किन्तु उस चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसके हृदय है ही नहीं, चाणक्य केवल मस्तिष्क-प्रधान शुष्क बुद्धिवादी है, उसमें मानवता या हृदय की मधुरता है ही नहीं। उसका किसी से भी मधुर सम्बन्ध मुद्राराक्षस में नहीं दिखाया गया। कोई स्त्री पात्र ही नहीं है। चाणक्य का प्रारंभ से अन्त तक केवल बौद्धिक चित्रण ही किया गया है। उसके हृदय की व्यक्तिगत भावनाओं का द्वार मुद्राराक्षस में बन्द ही रहता है, उनके प्रकाशित करने का कहीं अवसर उपस्थित नहीं होता। चाणक्य की आयु उस समय वैवाहिक होनी चाहिये, यौवनकालीन। किन्तु उसके हृदय की मधुर भावनाएं कहीं भी व्यक्त नहीं होतीं।

चन्द्रगुप्त में चाणक्य का हृदय पक्ष भी चित्रित हुआ है। वह एक विद्वान्, धुरंधर राजनीतिज्ञ, कर्मठ और निःस्वार्थ एवं आत्म-त्यागी महापुरुष ही नहीं है, वह एक प्रच्छन्न प्रेमी भी है। वह सुवासिनी के प्रति आकृष्ट है, जिससे उसकी व्यक्तिगत कोमल भावनाओं का प्रकाशन होता है। उसके बौद्धिक चित्रण की ओर ही लेखक का ध्यान नहीं रहा है, अपितु उसके मानसिक पक्ष का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। उसका आदर्श भी उच्च रहा है। केवल प्रतिज्ञा-पालन के लिये ही नहीं, अपितु विदेशियों से राष्ट्ररक्षा की भावना से भी वह प्रेरित है। इस प्रकार चाणक्य का रूप जहाँ एक आत्मत्यागी महापुरुष के रूप में सामने आया है, वहां एक प्रेमी का रूप भी आया है, जिससे उसमें मानवीयता अधिक आ गई है। उसका चरित्र अधिक मानवोचित स्वाभाविक बन पडा है। इसीलिए प्रश्नगत उक्ति कही गई है कि चाणक्य के हृदय का कपाट चन्द्रगुप्त मे खुला है। चन्द्रगुप्त मे उसके कठोर बौद्धिक और कोमल हार्दिक दोनों पक्षों का समुचित चित्रण हुआ है।

४—हिन्दी के आदिम गद्य—प्रवर्तकों में से किसकी शैली में आप को विशेष विकासोन्मुख बीज मिलते हैं और किस शैली का अनुकरण उत्तरोत्तर अधिक होने की सम्भावना प्रतीत होती है ?

उत्तर—हिन्दी खड़ी बोली-गद्य के आदिम निर्माताओं या प्रवर्तकों

में चार नाम प्रमुख रूप से आते हैं—मु० सदासुखलाल, इंशा अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र। इनमें से प्रथम दो लेखकों ने बिना किसी की प्रेरणा के खड़ी बोली-गद्य लिखी थी और अन्तिम दोनों लेखकों ने फोर्ट विलियम्स कालिज की प्रेरणा पर गद्य भाषा लिखी थी। मुंशी सदा सुखलाल उर्दू फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे, पर उन्होंने शुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित होकर हिन्दी या खड़ी बोली में सुखसागर लिखा। इनकी गद्य में पण्डिताऊ भाषा है, जिसमें हिन्दुओं के जन साधारण में धार्मिक कथा वार्ता या व्याख्यान उपदेश आदि का कार्य होता था। इनकी भाषा में संस्कृत प्रधान है, संस्कृत शब्दों का इन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उर्दू फारसी के शब्दों और मुहावरों से ये बचे हैं और अपनी भाषा यथासम्भव संयत और गम्भीर रखने का इन्होंने प्रयत्न रखा है। किसी गहन धार्मिक या दर्शनिक विषय के उपयुक्त गम्भीरता और संयतता इनकी भाषा में मिलती है। नीचे का छोटा भाषावतरण देखने पर इनकी गद्य-भाषा खड़ी बोली के अच्छे व्यवस्थित रूप में मिलती है।

'इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं'। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिये कोई बुरा माने कि भला माने।"

उपर्युक्त अवतरण में एक आध 'होय' जैसा शब्द ब्रजभाषा का भी है। परन्तु अधिकांश में इनकी भाषा ब्रजभाषा के प्रभाव से भी बहुत कुछ बची है। फारसी शब्द भी अधिकांश में नहीं रखे हैं। साथ ही आवश्यकता होने पर इन्होंने ठेठ ग्रामीण तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु इतना होने पर भी, इनकी भाषा खड़ी बोली का साहित्यिक रूप होते हुए भी, वह चलती हुई, मुहावरेदार नहीं है, जिससे उसमें हल्के विषयों या व्यावहारिक विषयों का भी प्रतिपादन उचित स्वारस्य के साथ हो सके। इनकी भाषा श्री शुक्ल जी के मत से

हिन्दुओं की पूर्व-परम्परा से प्राप्त शिष्ट भाषा है। प्रारम्भ में हिन्दी के दो दो रूप चले आ रहे थे—एक फारसी प्रधान, जिसकी संज्ञा उर्दू हो चुकी थी, जिसमें मुसलमानों के प्रभाव से साहित्य-रचना भी बहुत हो चुकी थी और जो इसी लिए बहुत कुछ परिमार्जित भी हो चुका था और दूसरा रूप संस्कृत-प्रधान था, जिसको भाखा नाम दिया, था मुसलमानों ने, जिसमें कि हिन्दुओं की कथा-वार्ता आदि का कार्य होता था, जो अधिकतया पण्डित साधु महात्मा उपदेशक लोग व्यवहृत करते थे और जो राज्याश्रय के अभाव में अधिकतया अविकसित और अव्यवस्थित दशा में थी। मु० सदासुखलाल ने इसी संस्कृत प्रधान, अथवा भाखा रूप में परिष्कार करके लिखा।

इनके विपरीत इंशा की भाषा है। उसमें लेखक ने अहद करके अन्य भाषाओं के शब्दों का मेल नहीं होने दिया है। इंशा ने प्रतिज्ञा की थी कि वे अपनी भाषा में न भाखापन (संस्कृत-मयता) आने देंगे, न विदेशी—फारसी आदि—भाषाओं को आने देंगे और शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी लिखेंगे। फल-स्वरूप उन्होंने अपनी गद्य भाषा में संस्कृत शब्दों को नहीं रखा, फारसी उर्दू के शब्द भी नहीं आने दिये, उनके स्थान में ठेठ हिन्दी तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रज भाषा और अवधी आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं के शब्द भी इन्होंने नहीं आने दिये हैं। इन कारणों से इनकी भाषा ठेठ हिन्दी या खड़ी बोली का उत्कृष्ट उदाहरण है। इंशा उर्दू के भी अच्छे लेखक और अच्छे शायर थे, अतः उसका प्रभाव इनकी शैली पर पड़े बिना नहीं रहा। उर्दू ढंग का लहजा, वाक्य—विन्यास, मुहावरे, तुक, व्यंग्यमयता, लाक्षणिकता इनकी भाषा में सर्वत्र आये हैं। ये बड़ी चुलबुली तबीयत के व्यक्ति थे हास्य-विनोदप्रिय, करारा व्यंग्य करने वाले। ये सब गुण इनकी शैली में पूरी तरह मिलते हैं। इन्हीं कारणों से इनकी भाषा प्रारम्भिक गद्य-लेखकों में सर्वाधिक व्यावहारिक, चलती हुई, चटक मटकदार, लक्षणा व्यंजनामय है, जिसमें रोचकता की विशेष मात्रा है। इनकी 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी ही मुहावरेदार, चुलबुली, उछलती, कूदती, नाचती हुई सी भाषा में लिखी गई है। देखिये एक छोटा सा उदाहरण—

"अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डांग बूढ़े घाघ यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुंह थुथाकर, नाक भौंहें चढ़ाकर, आंखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। सब जितने भले लोग आपस में बोलते हैं, ज्यों का त्यों सब वही डौल रहे और छांह किसी की न है। यह नहीं होने का।"

अवतरण में उर्दू की सी वाक्यों की चुस्ती और मुहावरे-दारी और चलाऊपन की मात्रा विशेष है। किन्तु यह रूप किसी गंभीर विषय के प्रतिपादन के उपयुक्त नहीं है। संस्कृत-आधार लिये बिना हिन्दी-गद्य का कोई विकास संभव नहीं। सद् गद्य की अन्य अच्छी विशेषताओं से पूर्ण होते हुए भी इन की भाषा में गंभीरता और संयतता नहीं है। अतः यह भी सभी विषयों के उपयुक्त पूर्णतया व्यावहारिक गद्य नहीं है।

लल्लू लाल ने फोर्ट विलियम्स कालिज की प्रेरणा पर हिन्दी में प्रेमसागर लिखा। इनकी भाषा पर ब्रजभाषा का विशेष प्रभाव है। ब्रजभाषा-पद्य की सी विशेषताएं उसमें सर्वत्र मिलती हैं। उसमें वही काव्य जैसा लोच है, लहजा है, बड़े बड़े तुक मिलाते हुए वाक्य हैं। बीच बीच में अलंकारों का चमत्कार है, कोमलता है। इनके कारण उनकी भाषा पद्य रूप गद्य प्रतीत होती है। ब्रजभाषा के शब्दों, क्रियाओं आदि की उस में भरमार है। अरबी फारसी के शब्दों का इन्होंने बहिष्कार रखा है मुहावरों को भी इन्होंने छोड़ दिया है। संस्कृत का आश्रय इन्होंने लिया है, पर सदासुखलाल से कम। उर्दू के भी बोलचाल में अत्यन्त प्रचलित ही शब्दों को इन्होंने यत्र तत्र लिया है, नहीं तो इन्होंने उसका पूर्ण बहिष्कार रखा है। इन्हीं कारणों से इनकी भाषा कविता के ही उपयुक्त हो सकी है, उसमें व्यावहारिकता एवं चलतापन नहीं आये हैं। वाक्य-विन्यास शिथिल, अस्त-व्यस्त और अनिश्चित ढंग का है। इन्हीं कारणों से इनकी भाषा खड़ी बोली का आदर्श रूप उपस्थित नहीं कर सकती। देखिये निम्न उदाहरण में कवित्वमयता—

'इस धूमधाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा। तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिस का भोग कर लिया था।"

'ग्रीष्म की अति अनीत देख नृप पावस प्रचण्ड पृथ्वी के पशु-पक्षी जीव-जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल के साथ ले लड़ने को चढ़ आया।"

इन अवतरणों में आडम्बर, काव्य जैसी लचक रमणीयता, मधुरता और कोमलता ही हैं, उत्कृष्ट गद्य की विशेषताएं नहीं हैं, जिससे इनकी गद्य व्यावहारिक नहीं ठहरती। हां, कविता करने के उपयुक्त हो सकती है, किन्तु वह भी बहुत कुछ सुधार परिवर्तन करके।

सदल मिश्र की भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और व्यावहारिक है। सदल मिश्र वस्तुत: मु० सदासुखलाल की श्रेणी के ही गद्य-लेखक हैं। वे उन्हीं की पद्धति पर चले हैं, थोड़े भेद के साथ। इन्होंने भी संस्कृत शब्दों का विशेष प्रयोग किया है, किन्तु इन्होंने मुहावरों की ओर भी विशेष ध्यान दिया है, उर्दू, फारसी के शब्दों का भी इतना बहिष्कार नहीं रखा है। आवश्यकतानुरूप प्रचलित उर्दू-मुहावरों और शब्दों का इन्होंने ग्रहण किया है। इंशा की मुहावरेदारी, ओज और गठन भी इनकी भाषा में मिलती है। किन्तु उनकी जैसी चुलबुलाहट या तड़क-भड़क और आडम्बर से ये बचे हैं, जिससे इनकी भाषा गम्भीर विषयों के भी उपयुक्त रही है। लल्लूलाल की काव्यवृत्ति या कवित्वमयता से भी ये दूर रहे हैं। उनकी भाषा की सी लचक, मधुरता, कोमलता, तुकबन्दी, मुहावरों से शून्यता इनकी भाषा में नहीं आई है। न ब्रजभाषा का ही उस पर इतना प्रभाव है। इनकी भाषा खड़ी बोली का अच्छा व्यवस्थित रूप है, लल्लूलाल की भाषा के समान वह ब्रजभाषा-गद्य सी प्रतीत नहीं होती। वह ऐसी है, जिसमें सभी विषयों का वर्णन या विवेचन संभव है। उसमें यद्यपि पूर्वी भाषा का प्रभाव भी पड़ा है, पूर्वी क्रियाएं और शब्द इन्होंने प्रयुक्त किये हैं, किन्तु तो भी खड़ी बोली का स्वरूप सुरक्षित रहा है बहुत हद तक इनकी भाषा बिना किसी

आपत्ति के आज की खड़ी बोली का आरम्भिक और अपरिष्कृत रूप कही जा सकती है। उसमें मूलरूप से वे सारी प्रवृत्तियां मिलती हैं, जिन्होंने विकसित होकर आज की हिन्दी गद्य को आज का रूप दिया। संस्कृत का सहारा लिये बिना हिन्दी का विकास सम्भव नहीं, अत: इंशा का आदर्श अव्यवहार्य है। कोरी संस्कृतमयता का आश्रय लेकर और उर्दू फारसी आदि अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार करके भी हिन्दी का कल्याण सम्भव नहीं, अत: मु० सदासुखलाल का पण्डिताऊ आदर्श भी आज के युग में अव्यवहार्य है। लल्लूलाल का ब्रज भाषा-गद्य का आदर्श तो आज के जीवन के सर्वथा अनुपयुक्त है, अव्यवहार्य है। मिश्र जी की भाषा मे ये कमियां बहुत कुछ नहीं आई हैं और इन उपर्युक्त लेखकों की अच्छी अच्छी सारी विशेषताएं प्राय: समाविष्ट हुई हैं। अत: सदल मिश्र की भाषा-शैली में ही वे सारे गुण मिलते हैं, जो कि आगे जाकर ग्रहणीय बने, जो कि अब भी गृहीत होते हैं। आज का गद्यकार मु० सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा-शैली का ही अनुकर्ता है, उसके वे ही आदर्श हैं, जो मु० सदासुखलाल और सदल मिश्र के थे। अत: मानना चाहिये कि आदिम गद्य-प्रवर्तकों में सदल मिश्र की ही भाषा-शैली ऐसी है, जिसमें विकासोन्मुख बीज मिलते हैं और जो कि आगे अनुकरणीय बनने के योग्य हैं। एक उदाहरण नासिकेतोपाख्यान से—

"राजा बोले कि पिता माता से प्राणी का एक जन्म ही होता है। और सुख दुख जो पूछो तो जब जैसा बदा तब तैसा, क्या राजा क्या प्रजा सब ही बड़े छोटे को होता है।"

"......हर्षित हो नरेश ने वहाँ से सभा मे जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है। इस आनन्द का कुछ वारापार नहीं, अब निश्चिन्त हो यहां विराजिये, कन्या मंगा आपको मैं दूंगा।"

मुन्शी सदासुखलाल ने यद्यपि खड़ी बोली का, सबसे पहिले और बिना किसी की प्रेरणा पर, साहित्य में प्रयोग किया था, इस दृष्टि से उनका महत्व और भी अधिक हो जाता है, तो भी उनकी भाषा आज की भाषा की आदर्श नहीं बन सकती। कारण, उसमे व्यावहारिकता कम है, वह गम्भीर विषयों

के ही उपयुक्त है। श्री शुक्ल जी ने इन्हीं को इन चारों लेखकों में विशेष स्थान दिया है, "गद्य की एक साथ परम्परा चलाने वाले ... उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा पूरा आभास मु० सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मु० सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्व की है। मु० सदासुख ने लेखिनी भी चारों से पहिले उठाई अतः गद्य का प्रवर्तन करने वालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिये।" तो भी अन्य किसी कारण से मु० सदासुख का महत्व विशेष होने पर भी, मिश्र जी में उनका परिष्कृत रूप मिलता है। वे इतनी शुद्धता या संस्कृत-मयता के भी पक्षपाती नहीं रहे है। ये दोनों ही प्रवृत्तियां भाषा-विकास मे बाधक होती हैं। अत' उनकी भाषा अधिक व्यावहारिक है।

५—प्रेम चन्द्र जी के उपन्यास उनकी चुभती हुई कहानियों की बराबरी न कर सके।" इस कथन के भाव-को ध्यान में रखकर प्रेम चन्द जी की उपन्यास तथा कहानी कला पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर—प्रेम चन्द जी प्रथम कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध हुए थे, बाद में उपन्यासकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हो गये। प्रेमचन्द पहिले से उर्दू में भी कहानी-लेखक ही थे, जिनकी कहानियां उर्दू के अच्छे अच्छे पत्रों में छपती थीं। उर्दू में वे धनपतराय के नाम से लिखते थे। उनके 'सोजेवतन' नामक प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह पर कलैक्टर ने बुलाकर उन्हें तीव्र चेतावनी दी थी और उस पुस्तक की बहुत सी प्रतियों को उनके सामने ही अग्नि की भेंट कर दिया था। उसके पश्चात् से प्रेमचन्द्र के नाम से वे हिन्दी में लिखने लगे। हिन्दी में भी उनकी कहानियां अधिकाधिक प्रसिद्ध होती गईं। प्रेम चन्द ने विदेशी कथा-साहित्य का भी बहुत अध्ययन किया था, जिससे उसका प्रभाव उनकी कहानियों पर पड़ा। उर्दू में लिखते लिखते भी उनकी कहानी-कला उन्नत हो चुकी थी। अतएव कहानी-लिखने में उन्हें हिन्दी के क्षेत्र में भी शीघ्र ही सफलता और प्रसिद्धि प्राप्त हुईं। प्रेम चन्द ने अपनी कहानियों के विविध विषय रखे। वे सर्व-प्रथम लेखक थे, जिन्होंने

ग्रामीण, पीड़ित, निर्धन किसानों, मजदूरों, मुंशियों, क्लर्कों आदि मध्यम या निम्न वर्ग के व्यक्तियों के चित्रण को अपनी कहानियों का विषय बनाया। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याओं को लेकर उन्होंने कहानियां लिखीं। समाज के और राजनीति के विविध आन्दोलन भी उनकी कहानियों के विषय बने। वस्तु-चित्रण, पात्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिकता और टैकनिक आदि किसी की भी दृष्टि से उनकी कहानियां अत्युत्तम बनी हैं। कहानी किसी एक विषय को लेकर चलती है और अन्त तक उसका उसी रूप में उचित निर्वाह करती है। प्रभावैकत्व की दृष्टि से उनकी कहानियां आदर्श हैं। लेखक का प्रत्येक शब्द उसी प्रभाव-एकता की ओर अग्रसर रहता है। फालतू की बात एक भी नहीं कही जाती। छोटे छोटे वर्णनों, संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट संकेतों से कहानी वातावरण और चरित्र का पूर्ण स्वरूप खड़ा करती चलती है। और, अन्तिम प्रभाव ऐसा गहरा पड़ता है कि पाठक रस-विभोर हुए बिना नहीं रहता। उनकी प्रत्येक कहानी अत्युत्तम कोटि की हो, यह बात नहीं, उनमें अनेक तो उन्होंने जबर्दस्ती भी लिखीं, किसी सम्पादक या प्रकाशक के विशेष आग्रह पर। किन्तु उन में बहुत सी ऐसी हैं, जो विश्व साहित्य में अनुपम हैं। उनकी कहानियों में, अन्त में कोई न कोई करारी चोट रहती है किसी अन्याय-कृत्य के उपर, किसी सामाजिक कुरीति के ऊपर अथवा किसी राजनैतिक अत्याचार के ऊपर, प्रेमचन्द की कहानी-कला अधिकांश में उनकी अपनी है, अपने से पहिले की कहानी-कला विरासत में उन्हें जिस रूप में मिली थी, वह प्राचीन परम्परा की और आधुनिक कहानी-साहित्य की दृष्टि से बेकार थी। प्रेम चन्द ने अपनी कहानी-कला का निर्माण स्वय, अंग्रेजी आदि विदेशी कथा-साहित्य को देख कर ही किया था, पर टैकनिक के लिहाज से उन्होंने बिल्कुल अक्षरशः अनुकरण भी नहीं किया, वे टैकनिक की दृष्टि से मुक्त रह कर चले हैं। तो भी उनकी कहानियां आज की कहानी-टैकनिक की दृष्टि से पूरी उतरती हैं, अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उनकी कहानियां आगे के लेखकों की पथ-प्रदर्शिका और आदर्श बनीं और, आज प्रेम चन्द की गणना विश्व के सर्व-श्रेष्ठ कहानी-कारों में होती है।

कहानियों की इतनी उच्च भूमि को प्राप्त करके, प्रेमचन्द ने उपन्यास

लिखना प्रारम्भ किया था। उनके स्वयं के कथन के अनुसार, उन्हे कहानी लिखकर सन्तोष नहीं होता था और कहानी की अपेक्षा उपन्यास लिखने मे उन्हें बड़ा आनन्द आता था। फलतः अपने वाद के युग में वे कहानियों की अपेक्षा उपन्यास ही अधिक लिखने लगे। उपन्यास-कला भी उनके समय में उन्नत नहीं थी। तब तक अधिकतया, तिलिस्मी, ऐतिहासिक जासूसी आदि उपन्यास लिखने की ही परिपाटी थी, जिसमें जीवन की अपेक्षा कल्पना की ही प्रधानता होती थी। उपन्यास लिखने में भी अतएव उनको बहुत कुछ अपनी स्वतत्र प्रतिभा और कुशलता पर ही अवलम्बित रह कर चलना पडा। इस क्षेत्र में भी उन्हे अग्रेजी आदि विदेशी साहित्य के अध्ययन का आश्रय लकर अपना मार्ग बनाना पडा। कहने की आवश्यकता नहीं, इस क्षेत्र में भी वे हिन्दी-उपन्यास साहित्य मे आदर्श रहे। वे आज भी हिन्दी मे सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास कार माने जाते है। उनके उपन्यास हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि माने जाते हैं। अपने उपन्यासों का क्षेत्र भी उन्होंने वही रखा है, जो कि कहानियों का था। सामाजिक कुरीतियां, अनाचार, अत्याचार, ग्राम और नगर के मध्य वर्ग, मजदूर, भिखारी, किसान आदि उनके उपन्यासों के वर्ण्य बने। राजनैतिक और राष्ट्रीय आन्दोलन भी उनके उपन्यासों के विषय बने टैकनिक की दृष्टि से भी उनके उपन्यास अत्युनम कोटि के हैं। आधुनिक उपन्यासों की टैकनिक की दृष्टि से, उनमें कम ही त्रुटिया हैं, विशेषतः प्रारम्भिक उपन्यासों में। उत्तरोत्तर उनकी उपन्यास कला विकसित होती गई है और अन्तिम गोदान उपन्यास उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। किन्तु इतना होने पर भी प्रेमचन्द को विश्व के या भारत के सर्वोत्तम कोटि के उपन्यासकारों में स्थान नही दिया जाता। भारत के रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र आदि उपन्यासकारों से अवरश्रेणी में उन्हें माना जाता है। कारण, उनके उपन्यासों में कथावस्तु के गठन में प्रभाव-एकता की भी कमी रहती है और विश्रृंखलता भी रहती है। कहानी के समान एक-रसता अन्त तक उनमें नहीं मिलती। प्रेमचन्द जीवन का इतना विस्तारशः चित्रण करने लगते हैं कि अन्त में प्रभाव की एकता विश्रृंखलित सी हो जाती है। प्रेमाश्रम, रगभूमि, कर्मभूमि एव

गोदान आदि में एक की बजाय दो दो कथा-सूत्र चलते हैं, दोनों का समान रूप से विकास होता चलता है और अन्त तक दोनों का निर्वाह होता है। इसमें कहानी के समान एक शृंखला नहीं रहती। अनेक प्रमुख घटनाएं रखने पर एक प्रभाव कैसे पड़ सकता है? इसके अतिरिक्त उपन्यासों में और भी दोष आ गए हैं, जिनसे कि उनकी कहानियाँ मुक्त हैं। उनके उपन्यासों की रचना-कला अनेकत्र दोष-पूर्ण है, उसमें अतिनाटकीयता आ गई है, विचित्र संयोग घटित किये गये हैं, असम्भव परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, स्थूल हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा भी ऐसी ही अरुचिकर है, लम्बे लम्बे संवाद हैं, जिनमें किसी विषय पर विचार या तर्क उपस्थित किये गये हैं, बड़े बड़े भाषण, निरर्थक लम्बे लम्बे वर्णन आदि उनके उपन्यासों के स्वारस्य को कम करते हैं। प्रेमचन्द ने अपनी प्रत्येक रचना में कोई न कोई शिक्षा दी है। इस कारण से भी उनके उपन्यास अनेक स्थलों पर नीरस से, विचार—बोझल, हो गये हैं। अनेक घटनाओं और चित्रणों में अस्वाभाविकता भी आ जाती है। इन्हीं कारणों से प्रेमचन्द के उपन्यासों की बजाय उनकी कहानियों को अधिक सफल बताया जाता है। यही उद्देश्य लेकर प्रश्न-गत उक्ति भी कही गई है, कि प्रेमचन्द के उपन्यास उनकी चुभती हुई कहानियों की समता नहीं कर सके। इस उक्ति का संक्षेप में यही उपर्युक्त अभिप्राय है। उक्ति बहुत अंश में ठीक है।

६—सिद्ध कीजिये कि मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का संस्थापक मनोविकार करुणा ही है।

उत्तर—करुण भावना में परोपकार की वृत्ति निहित होती है। दूसरे के दुःख को देखकर हृदय में उसके प्रति जो सहानुभूति-मिश्रित दुःख होता है, वह करुणा के अन्दर आता है। बच्चे को जबतक सांसारिक ज्ञान नहीं होता, तबतक वह निर्लिप्त रहता है, पर ज्योंही उसे दूसरे के दुःख की समझ आती है, वह करुणा का अनुभव करने लगता है। तब उसकी मां बहिन भाई आदि को दुःख होने पर वह भी रोने लगता है। इसी प्रकार

संसार का कार्य-क्रम चलता है। किसी भले मानस और व्यक्ति को मुसीबत में पड़े देख कर हृदय में स्वाभाविकतया करुणा भावना का उदय होता है और करुणा-पूर्ण व्यक्ति दुःखी के दुःख दूर करने की चेष्टा करता है। आनन्द या प्रसन्नता की दशा में भी दूसरे का उपकार किया जाता है परन्तु उसमें थोड़ा अहंभाव निहित रहता है। यह तो प्रत्यक्ष में सामने प्राप्त दुःख के विषय में हुआ कि सामने कोई दुःख भोग रहा है और उसे देख कर कोई करुणा से उसके दुःख दूर करने की चेष्टा करता है। संसार के सुख दुःख का नियम यही है। इस प्रकार, जिस भाव से संसार के दुःख का नाश हो या उसे दुःख न मिले, वह श्रेष्ठ भाव है और वह विपरीत अश्रेष्ठ। किन्तु, मनुष्य संसार के अथवा अपने से भिन्न व्यक्ति के दुःख की सभावना करके भी कोई दुःख जनक कार्य नहीं करता। पड़ोसी अपने पड़ोसी के मार्ग में इसलिए कांटे नहीं बोता कि उसके पाव में चुभेंगे, उसको दुःख होगा। वह ऐसे कार्य कभी नहीं करता जिनसे अन्यों को दुःख पहुँचे। ससार का समाज इसी विचार पर खड़ा है। यदि यह भाव नष्ट हो जाय समाज में से तो समाज का एक दिन में संहार हो जाय आपस के संघर्ष में। यह भाव शील की कोटि में आता है, इसे शील या सत्-स्वभाव कहा जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं, इस शील के मूल में वही करुणा की भावना है। दूसरे के प्रत्यक्ष दुःख को देखकर, व्यक्ति करुणा या उसके दुःख की सहानुभूति के वश में होकर, उसके दुःख-निवारण की चेष्टा करता है और उसीका अनुभव करते हुए वह किसी के सम्भाव्य दुःख का ख्याल करके भी ऐसे कार्य नहीं करता जो उसके दुःख के कारण बनें। सम्भाव्य दुःखों के ख्याल से दुःख-जनक कार्य न करना ही शील है, जिसकी प्रशंसा बड़े बड़े कवियों और महात्माओं ने की है। इसी पर संसार की सारी गतिविधि आधारित है, जिससे संसार सबके रहने लायक बना हुआ है, नहीं तो जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली उक्ति ही चरितार्थ होगी। और इस शील की जननी—जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट है—करुणा ही है, करुणा ही मूल में रहती हुई व्यक्ति में शील की स्थापना करती है।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता है। संसार का यही उद्देश्य है। तो जो भाव संसार की इस उद्देश्य-सिद्धि में सहायक हैं, वे सात्विक या सतोगुणी भाव माने जाते हैं। बड़े-बड़े महात्मा और राजा महाराजा लोग ऐसे सात्विकता के भाव से प्रेरित होकर ही विश्व का मंगल करते रहे हैं। यही दूसरे को सुख देने और दूसरे के दुःख के निवारण की वृत्ति सात्विक कहलाती है। परोपकार की इस वृत्ति की बड़े २ कवियों महाकवियों और महात्माओं ने सदैव प्रशंसा की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

पर उपकार सरिस न भलाई,
पर पीड़ा सम नहीं अघ भाई।

पर-पीड़न करना अधमता या तमोगुणी वृत्ति है और पर-पीड़ा की निवृत्ति करना शुद्ध और श्रेष्ठ सतोगुणी वृत्ति है। ऊपर के कथन के पश्चात् कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि यह परोपकार-वृत्ति या सात्विक भावना करुणा की भावना के बिना संभव नहीं है। जब तक किसी के दुःख का अनुभव ही न होगा, तब तक उसकी निवृत्ति का अथवा ऐसे कार्य न करने का, जिनसे कि दूसरों को दुःख मिले, भाव ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? जब मनुष्य पर-दुःख की सहानुभूति करता है, उसके हृदय में करुणा की अनुभूति होती है, तभी वह दूसरे की पीड़ा-शान्ति की चेष्टा करता है। और, तभी वह संसार के दुःख क्लेशों को मिटाने और सुख शान्ति की वृद्धि के लिए प्रेरित होता है। अतः स्पष्ट होता है कि संसार में सात्विक भावनाओं की प्रतिष्ठा के मूल में भी यही करुणा भावना ही छुपी हुई है। अतएव बौद्ध, जैन दर्शनों में इस भावना की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। इन मतों में संसार दुःख का मूल है, उसकी निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है, जो निर्वाण या महा सुख है। महावीर और बुद्ध का इसी सात्विक भावना से प्रेरित होकर इतना महान् चरित्र हुआ। ईसा, म० गांधी आदि भी इसी सात्विकता के प्रतीक हैं। दुनियां के दुःख से दुःखित होकर ही इन्होंने उसके निवारण के लिए अपना उत्सर्ग किया। अतः सिद्ध हुआ कि उस सात्विकता का भी कारण करुणा

की भावना ही है। तभी, उन करुणा करने वाले महात्माओं के प्रति अन्य संसार की इतनी श्रद्धा भी होती है। श्रद्धा सात्विकता का ही प्रतीक है।

इस प्रकार, श्री शुक्ल जी की यह उक्ति कि मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का संस्थापक यही करुणा मनोविकार या भाव है स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है।

अथवा

श्री रामचन्द्र शुक्ल की शैली की विशेषताएं बतलाइये।

उत्तर—एक जर्मन आलोचक के मत से शैली लेखक के व्यक्तित्व का ही नाम होता है। यह उक्ति शुक्ल जी की शैली के विषय में पूरी तरह चरितार्थ होती है। शुक्ल जी बड़ी गम्भीर, विवेचक किन्तु साथ ही अत्यन्त भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनका अध्ययन भी बड़ा गम्भीर और विशद था। संस्कृत हिन्दी और अंग्रेजी साहित्यों का अध्ययन उनका बड़ा गम्भीर था। उर्दू फारसी के भी ज्ञाता थे। काव्य सम्बन्धी सूक्ष्म और विशद अध्ययन भी उनकी प्रतिभा और भावुकता के कारण उनका बड़ा विस्तृत था। इन्हीं कारणों से उनके स्वभाव में गहरी चिन्तन-शीलता, विचार शीलता, मनन शीलता के साथ भावुकता का भी समावेश पूर्णतया मिलता है। उन्होंने जहा गम्भीर दार्शनिक विषयों, साहित्य के इतिहास और आलोचना आदि का गहरा और व्यापक विवेचन किया, वहा कवियों महाकवियों के काव्य की भी तर्कपूर्ण, अनुभूतिपूर्ण और पाण्डित्यपूर्ण समीक्षा की। काव्य के गहरे से गहरे और सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव में उनकी पैठ बड़ी सुविधा से हो जाती थी। काव्य का अनौचित्य देखने मात्र से ही इन्हें खटक जाता था। कवि के वास्तविक गुण दोषों पर उंगली रखते हुए इन्हें जरा भी देर नहीं लगती थी। हिन्दी साहित्य में ये सर्वश्रेष्ठ साहित्यालोचक और विचारक माने जाते हैं। इनके विषय अधिकतर गम्भीर और आलोचना-पूर्ण रहे हैं।

इनकी शैली में इनका यह गम्भीर, महान् पाण्डित्यपूर्ण और मननपूर्ण व्यक्तित्व स्पष्ट प्रति-फलित होता है। इनकी शैली गम्भीर है, मननशील है उसमें तर्क है, वर्णन है, विवेचन है एवं शुद्धता और स्वाभाविकता है। लेखक का पाण्डित्य, उसकी प्रतिभा, मननशीलता, विचारों की प्रबलता स्पष्ट

झलकती है। शैली स्पष्ट और स्वाभाविक एवं विशद रहती है। लेखक का हृदय स्पष्ट झलकता चलता है, उसमें।

शुक्ल जी की शैली प्रधानतया समास शैली है। अधिक से अधिक विचारों को थोड़े से थोड़े शब्दों में संक्षेप और स्पष्टता से, प्रकट करने के शुक्ल जी पक्षपाती हैं। किन्तु विषय स्पष्ट करने के लिए व्यास शैली को भी ये अपना लेते हैं। प्रायः विषय का सार-संक्षेप प्रथम कुछ पंक्तियों में रख कर फिर ये उसकी व्याख्या विवेचना के लिए प्रवृत्त होते हैं।

विचारों की बहुलता, उच्चता और गंभीरता इनकी शैली की अन्य विशेषता है। शुक्ल जी उस समय लिखते थे, जब कि किसी विषय में इनके मस्तिष्क में इतने विचार भर जाते थे कि वे उनको नहीं रोक सकने को विवश होजाते थे। उस समय वे विचार क्रमशः—एक दूसरे के पश्चात्—ऐसी शान्ति से और स्वाभाविकता से शृंखला-बद्ध निकलते चलते हैं कि पाठक को समझने में जरा भी कठिनाईनहीं होती। इनकी इस शैली को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे लेखक एकान्त में स्वयं ऊँचे ऊँचे विचार कर रहा हो। इनके ये विचार पैराग्राफों में खूब ठूंस ठूंस कर भरे होते हैं। एक भी वाक्य व्यर्थ का नहीं होता, एक को भी निकाल देने से शृंखला टूटी प्रतीत होगी। एक एक वाक्य विषय का रूप खड़ा करता चला जाता है और पाठक उसका स्पष्ट दर्शन करता है। अवश्य ही कहीं कहीं विचारों की इस गहनता, बहुलता और गम्भीरता के कारण इनकी शैली मे दुरूहता आगई है, जैसे कि निम्न अवतरण में—

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं है, गत्यात्मक सौन्दर्य और गत्यात्मक मंगल ही है, पर सौन्दर्य की गति भी नित्य है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौन्दर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं।"……

किन्तु ऐसा विशेष गम्भीर विषयों के प्रतिपादन मे ही हुआ है, नहीं तो इनकी शैली अधिकतया स्पष्ट ही रहती है जैसे, कि नीचे के उद्धरण में—

"वृन्दावन के उसी सुखमय जीवन के हास परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियां कृष्ण के दिन दिन निखरते हुए सौन्दर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख कर मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार अवस्था की चपलता-वश उनसे छेड़-छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है।"

किसी विशेष भाव और सौन्दर्यपूर्ण मधुर विषय के वर्णन में, यह शैली कवित्वमय भी हो उठती है, जैसे कि नीचे के सन्दर्भ में—

'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता से दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर, मिथिला की अमराइयों में, विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैले मुर्झाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने लगीं।'

किसी विरक्त विषय के वर्णन मे, जिसके विषय में कि इनको विमति है या विरक्ति है, इनकी शैली बड़ी रूखी और तीखी हो जाती है, 'अतः केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को रखना उसका अपमान करना है। केशव में तो हृदय का पता ही नहीं।' इसमें लेखक की झुंझलाहट स्पष्ट व्यक्त होती है

अधिकतया गम्भीर शैली के लेखक होते हुए भी शुक्ल जी विचार और तर्क के बीच बीच में विनोदपूर्ण कटाक्ष भी कर देते हैं। इशा की शैली का वर्णन करते हुए उसकी लखनवी भांड के घोड़ा कुदाने से उपमा देना ऐसी ही बात है। इसी प्रकार के सूक्ष्म कटाक्ष और व्यंग्य करने की प्रवृत्ति का दर्शन उनकी शैली के बीच-बीच में होता रहता है, 'इसमें नायक को कहीं बाहर वन पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है। वह घर के भीतर ही लुकता छिपता चौकड़ी भरता दिखाया गया है।' अथवा, 'यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए

मुर्गी, हँसिया, आदि का कोई स्थान न होना चाहिये।' ऐसे ही, "बिहारी की नायिका जब सांस लेती है तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। यहाँ भी पेंडुलम की सी दशा उपस्थित रहती है।" इसी प्रकार 'एक उर्दू के शायर साहब ने गालिब को गूँ या खटमल का बच्चा बना डाला है।'

शुक्ल जी की वाक्य-योजना, सुसम्बद्ध, व्यवस्थित और मार्मिक होती है। वाक्य-विन्यास वैज्ञानिक ढंग से—कार्यकारण भाव से—होता है। उस में कहीं शिथिलता या अव्यवस्था और व्यर्थता नहीं होती। वाक्य गभीर विषयों के अनुरूप बड़े बड़े होते हैं, किंतु आवश्यकता-वश हल्के वर्णनों मे वे छोटे छोटे भी होते हैं। इनके विषय क्योंकि प्रायः गम्भीर ही रहते हैं, अतः वाक्य भी इनके बड़े ही रहते हैं। पर तो भी कहीं अस्पष्टता या असम्बद्धता नहीं आती। वाक्य-योजना स्पष्ट रहती है।

भाषा के विषय में ये संस्कृत के पक्षपाती हैं। इन की भाषा मे संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। किन्तु अन्य भाषाओं, उर्दू अंग्रेजी आदि के भी विशेष प्रचलित शब्दों का आवश्यकतानुरूप इन्होंने ग्रहण किया है। विशेष गम्भीर दार्शनिक विषयों का वर्णन बिना संस्कृत के शब्दों के संभव नहीं था। अत एव इनका शब्द-प्रयोग अधिकतया संस्कृत के आश्रित रहा। किंतु बीच बीच में जहा इनकी वृत्ति हास्य, व्यंग्य या विनोद की ओर आकृष्ट हुई है, इन्होंने उर्दू, फारसी, आदि के शब्दों का विशेष प्रयोग भी किया है, जैसे कि ऊपर के उदाहरणों मे मिलेगा तारीफ, चीज, जरूर, मजाक आदि उर्दू शब्दों का प्रयोग तो इन्होंने निर्विशेष किया है। इस प्रकार, भाषा की दृष्टि से शुक्ल जी विशुद्ध संस्कृत-प्रधान शैली के पक्षपाती हैं।

आलोचनात्मक निबन्धों मे इन्हे पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण करना पड़ा है। उसके लिए इन्हे या तो संस्कृत की ओर देखना पड़ा है, दार्शनिक और काव्य विषयों के अधिकतर पारिभाषिक शब्द तो इन्हे संस्कृत से प्राप्त हुए, और या अंग्रेजी से इन्होंने ऐसे पारिभाषिक शब्द लिये हैं। किन्तु अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों या प्रयोगों को शुक्लजी ने बिल्कुल तत्सम

सिकता मूलक है। 'होना चाहिये' को वह यद्द महत्व नहीं देता है, 'जो है' उसी को महत्त्व देता है। मिश्र जी के मत में ये सिद्धान्त समाज या साहित्य किसी को भी हानि पहुँचाने वाले नहीं हैं।

'सिन्दूर की होली' का निर्माण भी लेखक ने इसी विचार-धारा पर आधार रखते हुए किया है। मनोरमा विधवा है और वह विधवा ही रहना भी चाहती है। पर वह किसी भी प्राचीन रूढ़ि या संस्कार के वश से यह निश्चय नहीं करती। प्राचीन रूढ़ियों को तो वह तोड़कर पर-गृह में निवास करती है, पर-पुरुषों में रहती है, हिलती मिलती है, किसी प्रकार का संकोच नहीं करती। ऐसा वह अपने मन की नैसर्गिक प्रवृत्तिके कारण करती है, उसका मन उसको यही करने को कहता है। वह मनोज के प्रति आसक्त भी होती है, यह भी उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति ही है। लेखक ने उसके अन्तर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण किया है। वह अपने जीवन के विषय में तर्क करती है, विवाह से इन्कार करती है, मुरारी के काम—प्रस्ताव को ठुकरा देती है, वह जो कुछ भी करती है, अपनी मानसिक स्वतंत्रता के साथ, परन्तु आंखे खोलकर। तभी उसकी सत्यता और आदर्श-चरित्रता में कोई कमी नहीं आती। उसकी प्राकृतिक प्रवृत्ति ही उसकी रक्षा करती है। चन्द्रकला भी मानसिक स्वतंत्रता बरतती है। प्रथम दर्शन में ही उसका उस हंसते हुए युवक से प्रेम हो जाता है और वह उसके मरने पर आजन्म वैधव्य स्वीकार कर लेती है। किन्तु ऐसा वह किसी प्राचीन संस्कार या रूढ़ि के वश से नहीं करती। उसकी मानसिक प्रवृत्ति ही ऐसी है। वह इसी सत्यता का अनुभव भी करती है। वास्तव में उसके मन में ऐसा ही प्रेम उत्पन्न हो गया था, जिसकी ओर से वह आंखें नहीं मूंद सकती थी। उसने पितृगृह की सभी रूढ़ियों को तोड डाला, जो कि किसी कन्या के लिए आवश्यक होती हैं। कुल मर्यादा का उल्लंघन उसके लिए कोई बात नहीं। वह अपने वास्तविकता के आदर्श पर जमी है, मनोज से पाणिग्रहण को स्वीकार नहीं करती, पिता की सम्पत्ति पर भी लात मार देती है और पृथक् स्वतंत्र जीवन-यापन करना चाहती है। उसका सारा जीवन बुद्धि या स्वाभाविक मानसिक प्रेरणा से प्रेरित होने पर भी, वह अपने आदर्श से च्युत नहीं होती। उसका आदर्श कोई

पुरातन सीता दमयन्ती वाला नहीं था, अपितु वह उसी शुद्ध मानसिक प्रवृत्ति से जात था, किन्तु उच्चता में वह भी कम नहीं था। चन्द्रकला उस पर दृढ़ रहती है और पथ-भ्रष्ट नहीं होती। साहित्य में ऐसी नायिकाओं के वर्णन से हीनता नहीं आती, अपितु उस का गौरव ही बढ़ता है।

मुरारी लाल के चरित्र में भी इसी बुद्धिवाद का प्रकाशन है। वह उपयोगिता के अतिरिक्त और किसी पाप पुण्य को नहीं मानता। मनोज के पिता की हत्या करके भी वह उसका प्रतिदान उसके पुत्र (मनोज) को देना चाहता है। परन्तु किसी पाप पुण्य के विचार से नहीं, अपितु उसका मन उसको ऐसा करने को मजबूर कर रहा है और कोई पुत्र न होने से वह उसे अपने यहां रखना भी चाहता है। वह रिश्वत को भी गुनाह नहीं समझता, जब कि उससे प्रत्यक्ष में किसी की कोई हानि नहीं होती हो। वह चुपके से १० हजार की रिश्वत ले लेता है मनोज को विलायत भेजने के लिए। किन्तु उसके इस कृत्य से किसी की भी सहानुभूति नहीं होती क्यों कि बुद्धिवाद में सच्चाई और ईमानदारी का भी विशेष महत्व है, इनके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का उन्नत विकास सम्भव नहीं। फल-स्वरूप मुरारी सब की निन्दा का पात्र बनता है और अन्त में कोई भी उसका साथ देने को तैयार नहीं होता। मनोज भी नवीन विचारों का हामी है, पर उसकी दशा प्रारम्भ से अन्त तक विक्षिप्त भी रहती है। उसमें दृढ़ता नहीं है। वह भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है। प्रेम में स्वतंत्रता का पक्षपाती है, चन्द्रकला को दूसरे में अनुरक्त देखकर स्वयं उसकी उसके कार्य में सहायता करता है। वह ईमानदारी और सच्चाई में भी विश्वास रखता है, इसीलिए मुरारी की सब सम्पत्ति और दौलत पर लात मार देता है। वह भी मनोरमा की ओर आकृष्ट है, पर उसकी स्वतंत्र मनोवृत्ति के विकास में जबर्दस्ती नहीं करना चाहता। वह स्वयं अव्वल दर्जे का सच्चरित्र है नवीन आदर्शों का प्रेमी है।

इनमें से कोई भी पात्र—मुरारीलाल को छोडकर—समाज के लिए घातक नहीं। सभी सच्चे, ईमानदार, नवीन आदर्शों के प्रेमी, सच्चरित्र

व्यक्ति हैं। कोई भी अन्ध विश्वासी या पुरानी लकीर का फकीर नहीं है, न आडम्बर और दिखावे का पक्ष-पाती है। सभी सत्यता, तथ्यता और मानसिक स्वाभाविक प्रवृत्ति की स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। कोई भी समाज या धर्म के हानिकारक आदर्श नहीं उपस्थित करता। ऐसे पात्रों का वर्णन साहित्य के लिए घातक हो सकता है? कदापि नहीं। इनके चरित्रों का प्रभाव समाज या साहित्य पर अच्छा ही पड़ेगा बुरा नहीं। इस प्रकार सिन्दूर की होली के आधार पर उसके लेखक की उपर्युक्त प्रश्नगत उक्ति ठीक सिद्ध हो जाती है। बुद्धिवाद के सिद्धान्तों के व्यावहारिक रूप में पालन करने में चाहे कठिनाई उपस्थित हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त रूप से तो ये सिद्धान्त समाज और साहित्य के लिए मंगलकर ही हैं, ऐसा उपर्युक्त कथन और सिन्दूर की होली के आधार पर सिद्ध हो जाता है।

८.—'सदल मिश्र की भाषा साफ सुथरी नहीं है—व्रज भाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं।" नासिकेतोपाख्यान की भाषा से उदाहरण देकर इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए।

उत्तर —देखिये साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४ संवत २००२ प्रश्न १।

९. रसज्ञ रंजन के निबन्धों पर दृष्टि रखते हुए पुस्तक के नाम की सार्थकता के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट सम्मति लिखिये।

उत्तर—प्रश्नगत पुस्तक अब परीक्षा में नहीं है।

१०.—निम्नलिखित गद्यांशों में से किन्हीं चार की सन्दर्भ-सहित व्याख्या कीजिये—

(क) जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप मधुर गुंजार, कोकिल कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इस प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमविन्दु मंडित, मरकताभ शाद्वलजाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण

स्फुरण की विशालता भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण श्री शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' नामक संग्रह के 'कविता क्या है' नामक लेख का है। काव्य में मनुष्येतर या मनुष्य से भिन्न बाह्य प्रकृति का किस रूप में ग्रहण होता है, इसकी विवेचना करते हुए ये वाक्य कहे गये हैं।

इसका भाव यह है कि प्रकृति अपने अच्छे बुरे, सुन्दर असुन्दर, स्निग्ध मधुर और रूखे बेडौल, अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। सच्चा भावुक कवि उन सभी रूपों में अपने प्रकृति-प्रेम का अनुभव करता है। मनुष्य में प्राचीन प्राकृतिक साहचर्य से एक प्रकृति-विषयक वासना चिर-प्रतिष्ठित है, मनुष्य और प्रकृति का प्रेम शाश्वत है, अनादि काल से चला आता है। बड़े बड़े कवियों, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि ने प्रकृति के इन सभी रूपों के प्रति स्वाभाविक अनुराग व्यक्त किया है, इस में डूब कर ही उन्होंने प्रकृति के अनन्त विविध और परस्पर विरुद्ध रूपों में स्वाभाविक सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। प्रकृति के सुन्दर रूपों में जैसे अनुरक्ति हुई है, वैसे ही असुन्दर रूपों में भी। प्रकृति के सुखकर रूपों को देख कर वे जैसे मुग्ध हुए हैं, वैसे ही उसके भयंकर रूपों को देख कर भी आनन्द और विस्मय-विमुग्ध हुए हैं। उनके इस प्रेम का कारण स्वय का सुखोपभोग नहीं है, जो कि प्रकृति के सुन्दर और रस-मय रूपों को देख कर होता है अपितु उनका यह प्रेम नैसर्गिक व्यक्त सत्ता मात्र की एकत्वानुभूति करके उदित होता है। यह अद्वैतानुभूति है, जिसके कारण से सचराचर व्यक्त जगत में एकता का अनुभव कर, भावुक हृदय प्रकृति के सभी रूपों के प्रति प्रेम-प्रवण होता है। साहित्य के अच्छे अच्छे और बड़े कवियों का प्रकृति-विषयक प्रेम इसी प्रकार का होता है किन्तु कुछ व्यक्ति प्रकृति के भयंकर और कुरूपों की ओर आकृष्ट नहीं हो पाते, वे केवल प्रकृति के अपने को सुख देने वाले रूपों को ही देखकर, उनमें लीन होते हैं, उनमें वह शुद्ध प्रकृति-विषयक रागतत्व नहीं होता, जो कि उपर्युक्त कवियों में होता है, वे केवल प्रकृति के उन्हीं रूपों को पसन्द करते हैं, जो उनकी

इन्द्रियों को सुख देने वाले हों। अतः उनके इस सुन्दर प्रकृति के प्रेम में, प्रत्यक्ष सत्ता में एकत्व की अनुभूति कराने वाला सात्विक और नैसर्गिक प्रेम-तत्व नहीं होता, अपितु भोगलिप्सा होती है। ऐसे ही व्यक्तियों के विषय में ये प्रश्न-गत पंक्तियां कही गई हैं।

जो केवल खिले फूलों की गन्ध, पुष्प रस के लोभी भ्रमरों की मधुर गुंजार, कोयलों के शब्दों से गूंजते हुए कुंजों और ठण्डी सुख देने वाली वायु का ही वर्णन किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं (क्योंकि उनको वे ही रूप प्रिय हैं, जो उनकी इन्द्रियों को सुख पहुँचाते हैं। अतः उनकी इस प्रकृति-प्रीति में ऐन्द्रियता होती है, शुद्ध प्राकृतिक प्रेम तत्व नहीं)। इसी प्रकार जिन लोगों का हृदय चमकते हुए ओसकणों से सुशोभित, नीले रत्न के जैसे हरे हरे घास, बड़े भारी पर्वत से गिरते हुए झरने के गहरे गढे से उठती हुई जल-बिन्दुओं की रंग-बिरंगी फुहार की विशालता, सुन्दरता और विचित्रता में ही रमता है, वहां ही उसे कुछ मिलता है, वे भी तमाश-बीन हैं, सच्चे भावुक और सहृदय नहीं। (क्योंकि वे भी प्रकृति के आनन्द-दायी विचित्र चमत्कार में ही उलझे रहते हैं। प्रकृति के विविध आश्चर्य और आनन्दकर रूपों में ही उनका मन रमता है प्रकृति के प्रति वह नैस-र्गिक चिरन्तन शुद्ध राग तत्व उन में नहीं है, जिसने कि भास, कालिदास प्राचीन महाकवियों के हृदयों को प्रकृति-प्रेम से उद्वेलित किया और जिसके मूल में व्यक्त सत्ता में एकत्व की अनुभूति है।)

(ख) त्याग और क्षमा तप और विद्या तेज और सम्मान के लिए है—लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी दी हुई विभूति से हमीं को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता। कात्यायन! अब केवल पाणिनि से काम नहीं चलेगा, अर्थ-शास्त्र और दण्ड-नीति की आवश्यकता है।

उत्तर—प्रस्तुत उद्धरण चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक के सप्तम दृश्य से लिया गया है। चाणक्य बंदी-खाने में है। क्रोध और प्रति-हिंसा की भावना में अपनी विवशता के कारण उबल रहा है। दया की भीख नहीं

मांगना चाहता किसी भी शर्त पर। वह मुक्ति चाहता है, पर गिर कर नहीं। ऐसे ही समय में, उसके पास राक्षस और वररुचि एक प्रस्ताव लेकर पहुंचते हैं। राक्षस चाणक्य को बताता है कि वे उसके पास एक काम लेकर आये हैं और कि उस पर चाणक्य अपना हठ छोड़ कर विचार करे। वररुचि भी चाणक्य को राक्षस की बात मान लेने को कहता है। इस पर चाणक्य वररुचि को बुरी तरह लताड़ता है उसे बौद्धों के संसर्ग में ब्राह्मणत्व से गिरा हुआ बताता है, खुशामदी कहता है। इस पर वररुचि चाणक्य को समझाता है कि 'ब्राह्मण हो भाई ! त्याग और क्षमा के प्रमाण—तपोनिधि ब्राह्मण हो ! इतना— इसके उत्तर में चाणक्य यह प्रश्न-गत उत्तर देता है.—

त्याग, क्षमा, तप, विद्या (जो कि ब्राह्मण के गुण हैं) मान और तेजस्विता के लिए दान हैं, इसलिए नहीं कि इन को लेकर भी ब्राह्मण शस्त्रों के पाशविक बल और सोने के प्रलोभन के सामने सिर झुकाये। ब्राह्मण इसलिए नहीं बने हैं। हमारे दिये हुए ऐश्वर्य से (ज्ञान विज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्य के देने वाले ब्राह्मण ही माने जाते थे। क्षत्री लोग इसी लिए उनके लिए प्राण-विसर्जन करना भी अपना कर्तव्य मानते थे।) हमारा ही अपमान किया जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। कात्यायन ! अब केवल पाणिनि से काम नहीं चलेगा (वररुचि प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरणकार है। इसने पाणिनि के व्याकरणसूत्रों का संकलन और व्याख्यान किया था। चाणक्य से भी यह इस कार्य में सहायता चाहता था। इसी का उद्देश्य करके चाणक्य ने यह बात कही है कि अब केवल ब्राह्मणों के व्याकरण लिखने से ही काम नहीं चलेगा।। इस समय तो अर्थ-शास्त्र और दण्ड-नीति की आवश्यकता है।। चाणक्य इन दोनों विषयों में पारंगत था और इन्हीं की आवश्यकता थी ब्राह्मण के लिए, जिससे इन दोनों का आश्रय लेकर, देश से निर्धनता दूर की जासके और क्रोधित, अभिमानी एवं उच्छृङ्खल नन्द जैसे, ब्राह्मणों का तिरस्कार करने वाले शासकों को दण्ड दिया जासके। इसी अभिप्राय को लेकर चाणक्य ने यह बात-चीत की है। चाणक्य नन्द और राक्षस को क्षमा नहीं करना चाहता, अपितु उन्हें दण्ड देना चाहता है।)

(ग) भाग अब परीक्षा-कोर्स से बाहर है।

(घ) भाग भी परीक्षा कोर्स मे नहीं रहा है।

(ङ) विधवा-विवाह हो रहा है, लेकिन वैधव्य कहा मिट रहा है ? समाज इस आग को बुझा नहीं सका, इसलिए उसे अपने छज्जे से उठाकर अपनी नींव में रख रहा है। तुम्हारे सुधारक, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार सभी विधवा के आंसुओं मे बहते हुए देख पड़ रहे हैं। अपनी विशेषता मिटाकर संसार के साथ चलना चाहते हैं। वैधव्य तो मिटेगा नहीं, तलाक का आगमन होगा।

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण 'सिन्दूर की होली' के दूसरे अंक का है। मनोज और मनोरमा की बातचीत के प्रसंग मे मनोरमा की उक्ति है। विधवा-समस्या का प्रसंग है। मनोज विधवाओं को समाज के लिए कलंक बताता है और विधवा-विवाह का समर्थन करता है। किन्तु मनोरमा विधवा को समाज का आदर्श बताती है, जिसमे आत्म-त्याग, आत्म-साधना और तपस्या का भण्डार भरा है और इसी लिए जो समाज की चेतना के लिए उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी लिए वह विधवा-समस्या का हल विवाह को नहीं मानती, अपितु आत्मिक स्वतंत्रता त्याग, तपस्या, संयम और आत्मबलिदान को मानती है। उसकी राय मे विधवा का जीवन परम आदर्श-भूत पवित्र जीवन है, जो समाज को त्याग, तपस्या, संयम और आत्मबलिदान का पाठ पढ़ाता है। इसी लिए वह विवाह से विधवा-समस्या का हल नहीं मानती। वह कहती है—

विधवा विवाह हो रहा है लेकिन वैधव्य कहाँ मिट रहा है? समाज इस आग को बुझा नहीं सका, इसलिए छज्जे से उठाकर अपनी नींव में रख रहा है। समाज इस समस्या का हल नहीं ढूँढ सका है इसलिए प्रकटतया विधवा न रहने देकर, उन्हें विवाह रूप मे अपने मूल में रख रहा है। जब तक उपभोग वृत्ति बनी है, आत्मत्याग और आत्म-संयम के प्रति आदर नहीं उत्पन्न होता, तब तक विधवा की समस्या का हल नहीं हो सकता। समाज के मूल में वैधव्य के बीज निहित रहेंगे। विधवाएं होती रहेंगी, विवाह भी होते

रहेंगे। अतः सबकी दृष्टि से ओझल करके उन्हें समाज अपने अन्तर में छुपा रहा है।) तुम्हारे समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार सभी विधवाओं के दुःख से दुःखी प्रतीत हो रहे हैं, ये सभी अपने ढंग में अपनी कलाओं में विधवा की समस्या का चित्रण करते हैं और विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं। ये लोग अपनी भारतीय आत्म-संयम तपस्या, बलिदान, त्याग एवं साधना की विशेषताओं को छोड़कर अन्य योरुप आदि के देशों के साथ चलना चाहते हैं-विधवा-विवाह करके जैसा कि उन देशों में होता है। किन्तु विधवा स्त्री के त्याग तपस्या बलिदानमय रूप की ओर से आँखें बन्द करके, केवल उसके उपभोग रूप को ही लेकर सोचा हुआ विवाह का हल, वास्तविक हल नहीं है। उससे विधवा की समस्या का तो हल नहीं होगा, बल्कि एक और बुरी समस्या—तलाक—का आगमन हो जायगा। असंयम और उपभोग-लालसा के कारण और संयम, त्याग, तपस्या आदि की उच्च भावनाओं के अभाव में, विधवा के साथ तलाक की और समस्या उत्पन्न हो जायगी

मनोरमा की उपर्युक्त उक्ति की यही विशद व्याख्या है। नाटककार द्वारा-प्रतिपादित विधवा-समस्या का हल भी यही स्पष्ट होता है नाटक में।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४

संवत् २००५

सूचना—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। प्रश्न ११ अनिवार्य है।

१.—सदल मिश्र और इंशा अल्लाखां की गद्य-शैलियों के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। आधुनिक आवश्यकताओं को देखते हुए क्या किसी ग्रन्थकार की शैली को पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया जा सकता है—?

उत्तर—इंशा अल्लाखाँ की शैली चुलबुली है। उसमें चटक मटक है।

उछलती कूदती मचलती हुई चलती है। उसमें उर्दू के ढंग की चुस्ती है, लचक है कटाक्ष है, लाक्षणिकता है, मुहावरे हैं, लहजा भी वैसा ही है, तुकबन्दी भी वैसी ही मिलती है। वाक्य-विन्यास पर उर्दू का प्रभाव है। और, इनके अतिरिक्त उसमें यात्रा चमत्कार, शब्दों की तड़क-भड़क और खिलवाड़ विशेष हैं। इंशा ने ठेठ हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। इसकी भाषा में न संस्कृत के तत्सम शब्द हैं, न उर्दू, फारसी के शब्द हैं, न अवधी ब्रजभाषा आदि के प्रान्तीय शब्द हैं। इस योग से उनकी शैली बहुत चुस्त मंजी हुई, सगठित और व्यावहारिक है। श्री शुक्ल जी के मत से इंशा की भाषा इन प्रारंभिक गद्य-लेखकों में सबसे अधिक चलती हुई था व्यावहारिक है। देखिये—

'पर कुंवर जी का रूप क्या कहूँ। कुछ कहने में नहीं आता। न खाना न पीना, न मग चलना, न किसी से कुछ कहना न सुनना। जिस ध्यान में थे उसी में गुंथे रहना और घड़ी घड़ी कुछ सोचकर सिर धुनना। होते होते लोगों में इस बात की चरचा फैल गई, किसी किसी ने महाराज और महारानी से कहा—कुछ दाल में काला है। वह कुंवर उदयभान, जिससे तुम्हारे घर का उजाला है, इन दिनों कुछ उसके बुरे तेवर और बेडौल आँखें दिखाई देती हैं। ... ...घरवालियां जो किसी डौल से बहलातियां हैं तो और कुछ नहीं करता ठंडी ठंडी सांसें भरता है। और बहुत किसी ने छेड़ा तो छपरखट पर जाके अपना मुंह लपेट के आठ आठ आंसू पड़ा रोता है।"

अवतरण पर उर्दू प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। घर वालियां बहलातियां, में उर्दू ढंग से ही विशेषण में वचन विशेष्य के अनुसार रखा गया है। उर्दू मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इस विशेषता के कारण इंशा हिन्दी उर्दू दोनों के प्रारंभिक गद्य-लेखक माने जाते हैं।

सदल मिश्र की भाषा-शैली कुछ अधिक संयत और गम्भीर है। लल्लूलाल के समान न उनपर ब्रजभाषा का विशेष प्रभाव पड़ा है और न इंशा के समान उर्दू-गद्य की शैली की ओर ही वे इतने झुके हैं। उन्होंने हिन्दी गद्य लिखने का

आदर्श सामने रखकर अपनी शैली निर्धारित की, जो कि आगे चलकर सर्व-ग्राह्य, बन सके। सदल मिश्र ने इंशा की शुद्धता का पालन नहीं किया। मिश्रजी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग किया और उर्दू के विशेष प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नहीं किया। अन्य पूर्वी ब्रजभाषा आदि के शब्दों का भी अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया। मुहावरों का भी त्याग नहीं किया। वाक्य-विन्यास व्यवस्थित है। योजना शिथिल नहीं है। न उसमें उर्दू ढंग की तुक-बन्दी है, न वैसा लहजा ही है। शैली व्यावहारिक है। किन्तु तो भी अव्यवस्था भी है। श्री शुक्ल जी के मत में इनकी भाषा साफ सुथरी नहीं है। ब्रजभाषा के भी प्रयोग थोड़े बहुत मिलते हैं। पूरबी शब्दों और क्रियाओं का विशेष प्रयोग है। उर्दू का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है। विशेषतया उर्दू शब्द वो का प्रयोग तो बहुत भद्दा लगता है। फिर भी इनकी भाषा-शैली व्यवस्थित है, व्यावहारिक है, चलती हुई है। गम्भीर और सरल, हल्के दोनों ही प्रकार के विषयों के लिए व्यवहार्य है। उदाहरण—

"जब कुमति आ घेरती है तब कैसहू कोई ज्ञानी होय, ज्ञान ठिकाने में नहीं रहता, एक तो पहिले आज्ञा में चूके ही थे फिर ज्ञान की चर्चा में ढिठाई कर पिता को बराबर जा उत्तर दिया।" इसमें होय, कैसहू शब्द ब्रज, पूरबी के हैं। और भी—

"इतना कह माता सहित पिता वो ऋषि को प्रणाम कर झट वहां से अन्तर्द्धान हो शिव का मन्त्र जपते वो ब्रह्मा का ध्यान करते चले, और बढ़े थे इस कारण पल भर में यम की वह सभा में कि जहां अत्रि आदि अनेक ऋषि लोग अपनी अपनी पोथी खोल न्याय विचार यम राजा से कहते थे, जा पहुँचे।" इस अवतरण में वो शब्द का प्रयोग खटकता है, वाक्य-योजना भी असम्बद्ध है। तथापि इनकी भाषा खड़ी बोली का प्रारंभिक और अव्यवस्थित रूप है। उसमें व्यावहारिकता भी है, संयतता और गम्भीरता भी है। हल्के और गहरे दोनों ही प्रकार के विषयों में इनकी शैली चलने के योग्य है। इनका उद्देश्य एक आदर्श हिन्दी-गद्य-शैली का निर्माण था, जिस कार्य में ये बहुत कुछ सफल रहे।

इन दोनों ग्रन्थ-कारों में से आज की आवश्यकताओं को देखते हुए पूर्णत: तो किसी की शैली ग्राह्य नहीं है। इंशा की भाषा का लेहजा और बनावट उर्दू ढग के हैं। उसमें शब्द और ढांचा हिन्दी का है, पर विन्यास, लहजा, शब्द-योजना और मुहावरे आदि उर्दू ढंग के हैं, इससे वह आज को हिन्दी-गद्य का पूर्ण आदर्श नहीं बन सकती। उसकी व्यावहारिकता, चुस्ती, गठन मुहावरेदारी, लाक्षणिकता और शब्द-चमत्कार निस्सन्देह ग्राह्य हैं, भाषा को मंजी हुई और रोचक बनाने के लिए। पर इस रूप में वह हल्के चलते हुए विषयों के ही अधिक उपयुक्त है, गम्भीर विषयों के नहीं। क्योंकि संस्कृत-शब्दों के बिना हिन्दी में वह गम्भीर प्रतिपादन की सामर्थ्य नहीं आसकती। और न अन्य भाषाओं के ही शब्दों का बहिष्कार करने से हिन्दी का विकास संभव है। अतः इंशा की शैली के कुछ तत्त्व ग्राह्य होने पर भी अन्य तत्व हिन्दी के स्वरूप के लिए घातक हैं। फलत: वह आजकी विविध जटिल आवश्यकताओं के उपयुक्त सिद्ध नहीं होती पूर्णत:। उसकी संकुचित सीमा, जो कि इंशाने स्वयं निश्चित की थी, आज की गद्य के विकास में बाधक है।

मिश्रजी की भाषा अधिक ग्राह्य है। आजकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमें अधिक योग्यता है। उसमें संस्कृत-शब्दों की प्रधानता है, जिससे हिन्दी में सामर्थ्य बढ़ती है, गम्भीरता और व्यन्जना आती है। इससे भाषा गम्भीर विषयों के उपयुक्त बनती है। साथ ही उसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी आये हैं, जो विशेष प्रचलित हैं। इससे भाषा के विकास के होने में सहायता मिलती है, उसकी सीमा संकुचित नहीं होती। मुहावरों के प्रयोग की ओर भी लेखक का ध्यान रहा है। इससे भाषा में चलाऊपन और रोचकता एवं व्यावहारिकता आदि-गुण आते हैं। भाषा में हल्के विषय भी बड़ी रोचकता पूर्वक वर्णित किये जा सकते हैं। इस प्रकार, भाषा विकास, भाषा गाम्भीर्य; भाषा की व्यावहारिकता और रोचकता की दृष्टि से यह शैली आधुनिक गद्य के लिए आदर्श हो सकती है। उसमें भाषा के भावी विकास के समुचित बीज मिलते हैं। उनकी शैली सर्व-ग्राह्यता के उपयुक्त है। किन्तु पूर्णता से नहीं। क्योंकि उसमें त्रुटियां भी हैं। वो जैसे शब्द का प्रयोग,

विशेष्य के अनुसार विशेषण में भी वचन बदलना, पूर्वी शब्दों का प्रयोग, वाक्य-योजना में असम्बद्धता, अनियमितता आदि त्रुटियों को निकाल कर ही यह आजकी गद्य का आदर्श बन सकती है। तो भी, प्रारंभिक गद्य-लेखकों में मिश्रजी की शैली आजकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य है। इसमें भावी विकास के चिह्न बहुत कुछ उपलब्ध होते हैं। अतएव इनकी शैली इंशा की शैली की अपेक्षा आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिक समर्थ है। उसमें आदर्श गद्य के बीज अधिक निहित मिलते हैं। वह आजकी गद्य-शैली के अधिक निकट एवं व्यवहार्य है। आजकी सभी आवश्यकताओं में व्यवहार के उपयुक्त है।

किन्तु पूर्णतः तो इनकी शैली भी आज के गद्य-कारों के लिए ग्राह्य नहीं है। इसमें अनेक ऐसी त्रुटियां हैं, जो दूर किये बिना, यह आजकी गद्य का आदर्श नहीं बन सकती। वह विशेष व्यवस्थित नहीं है। उसमें व्याकरणगत नियमों की सर्व-मान्य व्यवस्था नहीं है। वाक्य-योजना भी अनेकत्र गड़बड़ा जाती है। पूर्वी भाषा की ओर अधिक झुकाव भी आजकी हिन्दी गद्य के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। ब्रज भाषा का भी थोड़ा बहुत प्रभाव उस पर लक्षित होता है। इन कमियों को दूर करके मिश्रजी की भाषा-शैली के सिद्धान्त निस्सन्देह मान्य हैं। संस्कृत का प्रधान आश्रय रखना और अन्य भाषाओं—देशीय विदेशीय—के अत्यन्त सर्व-जन-प्रचलित शब्दों को बहिष्कार्य न मानना, मुहावरों का प्रयोग आदि सिद्धान्त आजकी हिन्दी गद्य-भाषा के लिए भी मान्य हैं। बिना इनके हिन्दी का विकास सम्भव नहीं। मिश्रजी के बाद के आदर्श गद्य-लेखकों ने इन सिद्धान्तों का अनुसरण करके ही गद्य की प्रतिष्ठा की है। संस्कृत की सहायता के बिना हिन्दी समर्थ नहीं हो सकती। अन्य भाषा के प्रचलित शब्दों के बिना उसमें व्यावहारिकता नहीं आ सकती, मुहावरों के बिना किसी भाषा में चलतापन और रोचकता भी सम्भव नहीं। इस दृष्टि से मिश्रजी की भाषा-शैली ही पूर्णतः नहीं तो पर्याप्त अंश में आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उपयुक्त हो सकती है। उसमें भावी विकास के बीज भी निहित हैं।

२.—निबन्ध-रचना के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए बाल मुकुन्द गुप्त के निबन्धों का मूल्यांकन कीजिए।

प्रसंग—कहानी उपन्यास आदि से निबन्ध-कला कठिन कार्य है, इस अर्थ में कि कहानी में कथागत स्वारस्य पाठक का आकर्षण बनाये रखता है पर निबन्ध में लेखक को अपने विषय और अपनी शैली के आकर्षण पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निबन्ध की शैली एक प्रकार से पत्र-लेखन जैसी है। पत्र के समान ही एक निबन्ध-लेखक किसी विषय विशेष पर अपने क्रम-बद्ध और अनुभूति-पूर्ण विचारों का स्पष्ट प्रकाशन करता है। निश्चय ही पत्र-लेखक के समान ही निबन्ध-लेखक की शैली भी व्यक्तिगत विशेषताओं को लिये होगी। अन्तर केवल इतना रहता है, कि पत्र का लक्ष्य, जहां एक दो चार कुछ सीमित व्यक्ति होते हैं, वहां निबंधकार का लक्ष्य सभी पाठक होते हैं। पत्र में विषय जहां ऐसा होता है कि जिसमें पाठक की व्यक्तिगत दिलचस्पी होती है, वहाँ निबन्ध का विषय व्यक्तिगत आकर्षण से भिन्न साधारण होता है। इसलिए निबंधकार के लिए अपनी रचना को आकर्षक और रोचक बनाने के लिए विशेष कला-कौशल की आवश्यकता होती है।

निबंधकार किसी भी विषय को लेकर निबन्ध-रचना करता है। उसके विषयों की सीमा नहीं होती। वह विश्व का कोई भी विषय ले सकता है। कभी-कभी वह विषय अत्यन्त सरस भी होता है, किन्तु नीरस भी होता है। एक चाक जैसी चीज को भी लेकर बड़ी सरस निबंध-रचना की जा सकती है। इसलिए निश्चित नहीं कि निबंध की सरसता उसके विषय पर ही निर्भर करती है। एक ही विषय पर कई व्यक्तियों द्वारा भी निबंध-लेखन हो सकता है और उन सबके निबंध एकसे नहीं होंगे, किसी को पाठक पसन्द करेगा, किसी को नहीं, अथवा उनमें से कोई किसी पाठक को पसन्द होगा और कोई किसी को। ऐसा भी होगा कि कोई निबंध किसी को भी अच्छा नहीं लगेगा। अतः सिद्ध है कि निबंध की सरसता के लिए सरस विषय ही अपेक्षित नहीं, अपितु लेखक की व्यक्तिगत

शैली भी है। विषय सरस हो तो अच्छा है। कभी कभी सरस विषय को भी ऐसी भद्दी शैली में लिखा जाता है कि उसकी ओर देखने को भी रुचि नहीं होती। अतः सिद्ध है कि निबन्ध की सरसता के लिए, उतनी विषय की सरसता ही अपेक्षित नहीं है, जितनी कि लेखक की शैली। लेखक किसी विषय को लेकर किस प्रकार उसका वर्णन और निर्वाह करता है, उसकी सफलता बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करती है। अच्छा निबंधकार किसी विषय को लेकर स्वाभाविक गति शृंखलाबद्ध रूप से उसका वर्णन या विवेचन करता चलता है, अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर। उसके समस्त वर्णन या विवेचन में उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप लगी रहती है। उसका हृदय सर्वत्र झलकता रहता है। वह केवल अपना दिमाग लेकर ही निबंध लिखने नहीं बैठता, अपितु उसका हृदय भी उसके साथ रहता है और ये दोनों ही उसके निबन्ध में स्पष्ट रूप में मिलते हैं। कोई विनोदी लेखक अपने विषय के विनोदपूर्ण अंशों को महत्व देगा, उसकी शैली में भी विनोद की पुट मिलेगी, कोई गम्भीर लेखक विषय के गंभीर चिन्तन-प्रधान रूपों को महत्व देगा और उसकी शैली भी अधिकतया गंभीर होगी, कोई विवेचक होगा तो वह विषय के विवेच्य अंशों को ही लेगा। किसी को करुण पसन्द है किसी को प्रेम, किसी को शान्त और किसी को वीर। सब अपनी अपनी पसन्द के विषय लेंगे और उनके भी अपने इष्ट अंशों को ही महत्व देंगे। इस प्रकार निश्चत होता है कि निबंधकार विषय-निर्वाचन और उसका निर्वाह अपनी व्यक्तिगत रुचि का ही ध्यान रखके करता है।

निबन्ध की सरसता में उसकी भाषा भी विशेष महत्व रखती है। लेखक को भाषा पर पूरा अधिकार रहना चाहिये, जिससे कि वह अपनी इच्छा के अनुसार विषय का वर्णन कर सके। उसकी भाषा पूर्णविषय-वर्णन कर सके। उसकी भाषा विषय-वर्णन या विवेचन के अनुरूप ही स्वरूप बदलती हुई, लेखक के इशारों पर नाचती हुई, चलनी चाहिये। तभी निबंध-कला का पूरा निर्वाह होता है।

अच्छा निबन्धकार अपने विषय के निरूपण या विवेचन करने में ऐसे ढंग से और ऐसे क्रम से चलता है, जिससे कि कोई बात छूटे नहीं, कोई व्यर्थ की बात भी न आये; कोई तत्त्व परस्पर विरुद्ध न आयें, विषय का कोई स्वरूप अधूरा न रहे, उसके सभी रूपों का यथोचित विस्तार हो। उसका प्रारंभ, विस्तार और निवहण या समापन यथोचित रूप में हो, बेडौल न हो—कोई बड़ा कोई छोटा तभी उत्कृष्ट प्रबन्ध की रचना हो सकती है।

निबन्ध कई प्रकार के होते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, आलोचनात्मक। ये भेद निबंधकार के लक्ष्य के अनुसार हो सकते हैं। इन प्रकारों में लेखक आवश्यकतानुरूप भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियों का आश्रय लेता है। विचारात्मक निबंधों में समास और व्यास शैली का आवश्यकतानुरूप स्वीकार किया जाता है। भावात्मक निबंधों में शैली प्रवाह, तरंग, विक्षेप युक्त होती है। वर्णनात्मक निबंधों की शैली चित्र-मय अधिक होगी। आलोचनात्मक निबंधों में लेखक की शैली आलोचना-प्रधान होगी, तर्कमयता उसमें विशेष होगी।

श्रेष्ठ निबन्धों की विशेषताएं प्रायः येही होती हैं।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त बड़े कुशल सम्पादक थे ये बंगवासी, भारत मित्र आदि कई प्रमुखपत्रों के प्रमुख सम्पादक रहे थे उन पदों पर रहते हुए उन्हें सदैव ही आलोचनाएं, प्रत्यालोचनाए, सामयिक सामाजिक राजनैतिक विषयों पर छोटे छोटे लेख आदि लिखने पड़ते थे। उन लेखों में अनेक श्रेष्ठ निबंध भी हैं। उन निबन्धों के विषय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार के रहे हैं प्रकारों में भी विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और आलोचनात्मक सभी प्रकार के निबन्ध यथा कथंचित् इनके मिल जायगे। अव्वल तो इनके प्रत्येक निबन्ध में ही ये सभी प्रकारों की विशेषताएं मिल जायंगी। इन निबन्धों के एक दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

गुप्त जी बहुत विनोदी व्यक्ति थे। विनोद, व्यंग्य, हासपरिहास, आक्षेप, तानाजनी आदि इनकी शैली की विशेषताएं हैं। ये विशेषताएं उर्दू के

अच्छे लेखक होने के कारण ही इनकी शैली में आई हैं। ये सामयिक राजनीति आदि के विषयों पर शिवशम्भु के नाम से अत्यन्त हास्य विनोद-पूर्ण लेख निबन्ध आदि लिखा करते थे। इन निबन्धों में ये भंग पीने का बहाना बनाकर, प्रथम मस्ती और विनोद का समा बांध लेते थे, फिर प्रकृत विषय पर क्रमशः आजाते थे। इनके विचार प्रायः इनके विनोद हास्य और व्यंग्य में लिपटे हुए रहते थे। इन लेखों में ये करारी आलोचना और आक्षेप करते थे। हास्य विनोद और मस्ती में एक गहरी करारी चोट रहती थी। तत्कालीन अंग्रेज अधिकारी गणों पर इस रूप में छींटाकसी ये आये दिन करते थे। इनके इस प्रकार के निबन्धों का संग्रह 'शिवशम्भु का चिट्ठा" नाम से प्रकाशित मिलता है।

हिन्दी-निबन्धों में इनके निबन्धों का विशेष स्थान है। अपनी हास्य-विनोद-पूर्ण और व्यंजना-लक्षणात्मक विशेषताओं के लिए, इनके निबन्ध-हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। उनमें निबन्धगत सारी विशेषताएं मिलती हैं। इनके विषय अनेक प्रकार के सामयिक विषय बने हैं। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार है। वह विषयानुरूप बदलती चली है। लेखक ने उसका मनचाहा प्रयोग किया है। उसमें रोचकता, लोच, चुभन, लक्षणा व्यंजना और मुहावरे आदि का विशेष प्रयोग है। शैली में गुप्त जी का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। इनका कोई भी निबन्ध उठा कर पढ़ने से प्रतीत हो जाता है कि इनका लिखा हुआ है। इनकी विनोदी और मस्ती की वृत्ति की स्पष्ट झलक इनके निबन्धों में मिलती है। विषय का निर्वाह ये ऐसे समुचित ढंग में करते हैं कि पाठक के लिए आकर्षण प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है। इस प्रकार, निबन्ध-कला की समस्त प्रमुख विशेषताओं के साथ इनके निबन्ध हिन्दी साहित्य के निबन्धों में विशेष स्थान रखते हैं और अपनी हास्य-विनोद-व्यंग्यपूर्णता की विशेषताओं के कारण तो अपने ढंग का अनूठा स्थान रखते हैं इनके ढंग के निबन्ध हिन्दी में बहुत थोड़े ही लिखे गये हैं। उनमें गंभीरता, गहनता, विचारात्मकता आदि गुण चाहे इतने न हों, किन्तु अपनी विशेषताओं के कारण इनके निबन्ध हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं और सदैव स्मरणीय हैं।

३—"मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।" निर्मला और प्रेम द्वादशी के आधार पर प्रेमचन्द के इस कथन की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

उत्तर—इस प्रश्न का विषय परीक्षा-पाठ्य कोर्स में नहीं रहा है।

४—"रामचन्द्र शुक्ल की शैली में शुष्कता और नीरसता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—श्री शुक्ल जी हिन्दी साहित्य में अधिकतया एक विद्वान् और आदर्श साहित्य-समालोचक, इतिहासकार और साहित्यिक निबन्धकार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इन्होंने साहित्य का खोजपूर्ण इतिहास लिखा, सूर, तुलसी, जायसी जैसे महाकवियों की वृहद् आलोचनाएँ कीं, साहित्यिक गवेषणाएँ कीं और क्रोध, ईर्षा, करुणा आदि मनोविकारों का दार्शनिक विवेचन भी किया। इनका व्यक्तित्व भी बहुत ऊँचा था। बड़े प्रकाण्ड पण्डित और विवेचक थे। कई संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि साहित्यों के मर्मज्ञ थे। अतएव इनके व्यक्तित्व में गम्भीरता का अंश विशेष है। इनके व्यक्तित्व की छाप इनकी शैली में भी पूर्णतया विद्यमान है। वह भी गंभीर है, मननशील है, विचार और चिन्तन उसकी प्रधान विशेषता है, वह व्याकरण से शुद्ध है, व्यवस्थित है। शुक्ल जी अधिकतया समास शैली के पक्षपाती हैं। बड़ी से बड़ी बात को थोड़े से थोड़े शब्दों में कहने के ये पक्षपाती हैं। इनके निबन्धों में इसीलिए विचारगांभीर्य और विचार-बाहुल्य विशेष रूप में मिलते हैं। इनके पैराग्राफों में विचार ठूंस ठूंस कर भरे होते हैं, जिससे वे कहीं कहीं साधारण पाठक के लिए दुरूह भी हो जाते हैं। इनका उद्देश्य अधिकतया थोड़े से थोड़े और संक्षिप्त स्पष्ट रूप में अपने विचार प्रकट करने का रहता है। व्यर्थ की सजावट, भाषा-चमत्कृति की ओर इनका ध्यान नहीं होता। इनकी शैली में एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं होता। वे परस्पर में ऐसी शृंखला से आबद्ध होते हैं कि उनमें से एक को भी पृथक् नहीं किया जा सकता। इन्हीं कारणों से, अधिकांश में, इनकी शैली तथ्य-वर्णनात्मक है, उसमें भावात्मकता की मात्रा प्रायः नहीं रहती। तथ्यों का वास्तविक निरूपण ही संक्षिप्त स्पष्ट शैली में इनका ध्येय रहा है। इसी कारण इनकी शैली में रसात्मकता की मात्रा

कम रहती है। शब्दों का चुनाव और गठन ये विषय की स्पष्टता के दृष्टि-कोण से करते हैं, न कि भाषा-सौन्दर्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि से इसीलिए इनकी शैली में तथ्य-वर्णन ही प्रधान रहने से, वह अधिकांश में नीरस सी लगती है। वाक्य अधिकतया लम्बे होते हैं, पर उनमें शिथि-लता या असंबद्धता नहीं होती। एक उदाहरण देखिये—

"मैं समझता हूं, अब यह दिखाने के लिये और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलम्बन हैं; उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएं और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियां तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य के अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे जो उसके आदिम जीवन के बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुराने व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी।"

ऊपर के अवतरण में संक्षिप्त स्पष्ट शैली में कोरा विचार-प्रतिपादन या तथ्य-वर्णन है जिससे इसमें नीरसता प्रतीत होती है। यह विशेषता उनकी शैली में अधिकतर मिलती है।

किन्तु शुक्ल जी कवि भी थे। कविगत भावुकता भी उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। अतः कहीं कहीं किसी मधुर और सुन्दर विषय का संयोग पाकर उनकी वाणी भी सरस हो जाती है। जैसे कि नीचे के अवतरण में—

"जयदेव की देव वाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर, मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चल कर व्रज के करील कुंजों में फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्री कृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने लगीं; जिनमें सब से ऊँची सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि सूरदास की थी।"

उपर्युक्त अवतरण में काव्य गत सौन्दर्य अलंकार आदि का समन्वय उचित मात्रा में मिलता है। इसीलिए शैली में रसमयता आगई है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। नहीं तो, उनकी शैली अधिकांश मे तथ्य-वर्णन रूप और प्रायः नीरस सी ही रहती है।

५—हिन्दी गद्य के विकास में महावीर प्रसाद द्विवेदी के महत्व को स्पष्ट कारये।

उत्तर—देखिये हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्नपत्र ४ संवत् २००० प्रश्न ४ एवं साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४ संवत् २००२ प्रश्न ६।

६.—विषय की दृष्टि से बाल कृष्ण भट्ट के निबन्धों के कितने वर्ग बनाये जा सकते हैं? "भट्ट अपने निबन्धों में पाठकों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।" इस कथन की पुष्टि आप कैसे कर सकते हैं!

उत्तर—पं० बाल कृष्ण भट्ट एक कुशल सम्पादक थे। हिन्दी-प्रदीप को उन्होंने ३२ वर्षों तक घाटा देकर निकाला। इस पत्र में अनेक विषयों पर लेख निबन्ध आलोचनाएं आदि भट्ट जी लिखते रहते थे। उनके निबन्धों में, कल्पना, हास्य, विनोद, व्यंग्य, भाषा की सजावट आदि विशेष रूप में मिलते हैं। भट्ट जी के इन सारे ही मुख्य-मुख्य निबन्धों के संभवतः पाच संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, जो विविध परीक्षाओं के कोर्स में नियत हैं। विषय-भेद से इनके निबन्धों को ५ वर्गों में बांटा गया है— १) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर, (२) सामयिक विषयों पर, (३) कल्पना-पेक्ष विषयों पर, (४) गम्भीर अथवा शिक्षाप्रद विषयों पर (५) सामाजिक अथवा राजनैतिक विषयों पर। "ईश्वर क्या ही ठठोल है!" 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है" जैसे लेख प्रथम प्रकार के निबन्धों में हैं। "हमारी परि-वर्तन-विमुखता", 'इसे इलाहाबाद कहें या खाकाबाद" आदि निबन्ध द्वितीय श्रेणी के निबन्धों में आते हैं। 'बाल्य भाव' आंसू 'जाग्रत' आदि चतुथ वर्ग में आते हैं। सम्पादक के नाते सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर तो उन्होंने बहुत ही निबन्ध लेख आदि लिखे हैं।

लिखते समय भट्ट जी को पाठकों का ध्यान कभी नहीं भूलता था। वे ध्यान रखते थे कि किस ढंग से बात कही हुई पाठक को रुचिकर प्रतीत

होगी। किस प्रकार से पाठक हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट हो सकते हैं, इस बात की उन्हें सदैव चिन्ता रहती थी। उनका एक उद्देश्य जहाँ हिन्दी में विदग्ध-साहित्य उत्पन्न करना था, वहां अन्य हिन्दी साहित्य की ओर पाठकों की रुचि को आकृष्ट करना भी था। इसी ख्याल से वे अपनी शैली में हास्य विनोद, व्यंग्य-कटाक्ष एवं कल्पना और सौंदर्य की विशेष पुट रखते थे। गम्भीर से गंभीर विषयों में भी वे हास्य और व्यंग्य की पुट ले आते थे जिससे पाठकों को उनके निबन्ध रुचिकर प्रतीत हों और उनकी ओर अधिका-धिक पाठक आकृष्ट हों। अपनी शैली को रोचक बनाने के लिए मुहावरों और कहावतों का भी ये विशेष प्रयोग करते थे। इनके लक्ष्य वे पाठक भी होते थे, जो अंग्रेजी पढ़े लिखे थे, जो कि उस समय अधिकांश में प्राप्त होते थे शिक्षित वर्ग में। वे उनका भी ध्यान रखते थे। इसीलिए स्थान-स्थान पर बीच में ब्रेकट में अंग्रेजी शब्द एवं प्रयोग और वाक्यांश भी रखते चलते थे। बल्कि किसी लेख का तो शीर्षक भी अंग्रेजी में ही रख देते थे। इससे यही स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को भी हिन्दी की ओर आकृष्ट करने के लिए वे कितने सचेष्ट रहते थे। अतएव वे पाठकों का ध्यान अपने निबन्धों के विषयों का निर्वाचन करते समय भी रखते थे और ऐसे विषय चुनते थे, जो पाठकों को रुचिकर हों, साथ ही उन विषयों के प्रति-पादन की अपनी शैली के निर्माण के समय में भी रखते थे। वे जहाँ असाधारण (शिक्षित) पाठकों के उपयुक्त विदग्ध साहित्य की अभिवृद्धि चाहते थे, वहां यह भी कि हिन्दी साहित्य के पाठकों की अभिवृद्धि हो। उनके ये दोनों ही उद्देश्य उनकी शैली से सिद्ध होते हैं। देखिये आंसुओं का रहस्य —

"मनुष्य के शरीर में आंसू भी गड़े हुए खजाने के माफिक हैं। जैसे कभी कोई नाजुक वक्त आ पड़ने पर संचित पूंजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष शोक भय प्रेम इत्यादि भावों को प्रगट करने में जब सब इन्द्रिय स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आंसू ही उन-उन भावों को प्रगट करने में सहायक होता है।" किन्तु इसी में रोचकता लाने के लिए, व्यक्ति गतता के साथ कैसे विनोद और हास्य की पुट देदी गई है आगे—"बहुध

आंसू का गिरना भलाई और तारीफ मे दाखिल है। हमारे लिए आंसू बड़ी बला है। नज़ले का जोर है, दिन रात आंसू टपकता है, ज्यों ज्यों आंसू गिरता है त्यों त्यों बीमारी कम होती जाती है। सैकड़ों तदवीरें हम कर चुके पर आंसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे कपार में आकर भर रहा है। आंख से तो आंसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी आंसू ही पर कलम चलादी, पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

नीचे के अवतरण में अंग्रेजी शब्द का प्रयोग देखिये —

"इन दिनों झूठा विश्वास (False beleif ' पड़ा है।" इसी विश्वास शीर्षक लेख में इन्होंने Eat drink and be merry, this is the golden rule. कहावत का भी प्रयोग किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भट्ट जी को अपने सभी श्रेणी के पाठकों का कितना ध्यान रहता था।

७—सिद्ध कीजिए कि मुद्रा राक्षस नाटक में संस्कृत नाटक शास्त्र के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं।

उत्तर—मुद्राराक्षस संस्कृत साहित्य मे अपने ढंग का आप ही है, विषय की दृष्टि से। जिस विषय को लेकर मुद्राराक्षस का निर्माण हुआ है, उस विषय को लेकर अन्य किसी नाटक का नहीं हुआ। नाटककार विशाखदत्त को नाट्य शास्त्र का पूरा ज्ञान था, यह उसके नाटक की टैकनिक को देखने से पता लगता है। नाटककार ने अपने इस नाटक को प्रत्येक दृष्टि से सफल नाटक बनाया है। संस्कृत नाट्यशास्त्र की मर्यादा से कहीं भी नाटककार बाहर नहीं निकला है, उसने प्रत्येक प्रमुख नियम का पालन किया है। अतएव मुद्राराक्षस संस्कृत नाटक-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।

वस्तु, पात्र, कथोपकथन आदि नाटकीय प्रणाली मे बड़े उचित ढग से निर्वाहित हुए हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकीय कथा-वस्तु प्रसिद्ध, पौराणिक, ऐतिहासिक होनी चाहिये, साधारण व्यक्ति की घट-

नाओं को नाटक में स्थान नहीं दिया जाता. रूपक के अन्य भेदों में दिया जाता है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस की कथा वस्तु ऐतिहासिक है। इतिहास के विशिष्ट व्यक्ति—चन्द्रगुप्त चाणक्य आदि और नन्दवंश के नाश और चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-प्रतिष्ठा जैसी इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं को लेकर मुद्राराक्षस का निर्माण हुआ है। इसकी कथावस्तु का गठन, निर्वाह आदि नाटकीय दृष्टि से बहुत उपयुक्त हुए हैं। दृश्य-विधान बहुत सुन्दर है, उसमें रंगमंच का भी ध्यान रखा गया है। नाटकीय कार्य का नाटकीय पंच सन्धियों, विभिन्न अवस्थाओं में स्वाभाविक विकास दिखाया गया है। आधिकारिक या प्रधान घटना प्रारंभ से अन्त तक बड़े संबद्ध और स्वाभाविक रूप में विकसित होती है। विभिन्न दृश्य ऐसे शृंखलाबद्ध और सुगठित हैं कि उनमें एक भी व्यर्थ नहीं। एक को भी निकाल देने से कथावस्तु के विकास में व्याघात पहुँचता है। बीच में उठने वाले छोटे-छोटे प्रसंग या स्वल्प घटनाएं प्रधान घटना में संयुक्त होकर उसके विकास और प्रभाव में अभिवृद्धि करती हैं। नाटकीय विधान में वर्णित उसकी अवस्थाएं बीज, बिन्दु, प्रकरी आदि मुद्राराक्षस में स्पष्ट लक्षित होती हैं, नाटककार इस विषय में पूर्ण जागरूक रहा है। प्रारंभ में कथा का बीज डल जाता है जब चाणक्य चन्द्रगुप्त के राज्य की दृढ़ता के उद्देश्य से राक्षस को महामात्य के पद पर आसीन करने का अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करता है यही सारी कथा का बीज है। राक्षस की मोहर मिलना, फिर शकटदास द्वारा लिखे पत्र पर मोहर लगा कर, मलयकेतु के पास दिखाने को भेजना, बिन्दु है, जो स्नेह-बिन्दु के समान चहुँघा फैलता है। यही घटना आगे चलकर विस्तृत बनती है, राक्षस को फांसने का प्रधान जाल यही है। नाटक में आगे इसी का विस्तृत रूप है, इसी के नाम पर नाटककार ने नाटक का नामकरण भी किया है। विराधगुप्त द्वारा कुसुमपुर से लौटकर राक्षस को उसके सारे षड्यन्त्रों के असफल हो जाने की सूचना देना, कार्य की पताका नामक अवस्था है, जिसमें व्यापक प्रसंग का वर्णन या सूचन होता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के झूठे कलह की सूचना राक्षस को देना प्रकरी नामक अवस्था

है, जिसमें देश-व्यापक चरित्र का वर्णन होता है। राक्षस का मन्त्रित्व स्वीकार करना अन्तिम कार्य है। कार्य के साथ कथावस्तु का विकास भी पूर्णतया प्राच्यनाट्य प्रणाली के आधीन ही हुआ है। नाटक के प्रारम्भ में ही नाटककार चाणक्य का निश्चय सुनवाकर और साथ ही राक्षस की मोहर की प्राप्ति दिखाकर कथा के फल का या नाटकीय वस्तु-स्थिति का पूरा ज्ञान करवा देता है। इस प्रकार आरंभ नाट्य प्रणाली के अनुसार समुचित है। आगे दूसरे और तीसरे अंकों में यत्न की स्थिति है—राक्षस की सब नीतियां विफल होती हैं, चाणक्य-चन्द्रगुप्त का ऊपरी विवाद होता है। यह सब यत्न है। आगे के दो—चौथे पाँचवें—अंकों में प्राप्त्याशा है—मलयकेतु राक्षस पर सन्देह करने लगता है और अन्त में दोनों में पूर्ण विभेद और विच्छेद होता है। फल-प्राप्ति की आशा हो जाती है, किन्तु निश्चय नहीं होता कि राक्षस चाणक्य की बात स्वीकार कर ही ले। वह और कोई षड्यन्त्र भी खड़ा कर सकता है। यह फल-प्राप्ति का निश्चय अगले छठे अंक में होता है, जब राक्षस वध-स्थान में जाकर चन्दनदास की घटना सुनता है और उसको बचाने को तत्पर हो जाता है। चन्दनदास के कारण उसका चाणक्य के फन्दे में फंसना निश्चित हो जाता है। अतः षष्ठम अंक में नियताप्ति हो जाती है। सातवें में राक्षस फंस जाता है चाणक्य की नीति में और चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकृत कर लेता है। यह फल-प्राप्ति है, जो अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। इस प्रकार, सिद्ध है, मुद्राराक्षस की कथावस्तु के निर्वाह के विषय में नाटक में इन संस्कृत नाट्यकला के नियमों का पूरा पालन किया गया है। वह गतिमान है। पात्रों के लिहाज से नाटक नाट्य शास्त्र के अनुसार पूरा है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में देश कालगत स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण समुचित भिन्नता और सजीवता के साथ हुआ है। पात्र कथावस्तु को प्रतिपद पर अग्रसर करते हैं और उसका रुख निश्चित करते हैं। चन्द्रगुप्त नायक है, जो नाटकीय नियमानुसार धीरोदात्त है, प्रख्यात है, गुण सम्पन्न और वीर है। केवल सद्-वंशजात नहीं है, चाणक्य उसे वृषल ही कहता है। यह कमी प्रसाद के चन्द्रगुप्त में दूर कर दी गई

है उन्होंने मौर्य वंश को श्रेष्ठ क्षत्रिय वंश सिद्ध किया है ।

कथोपकथन बहुत सुन्दर और कथावस्तु को गति और विधि देने वाले एवं पात्रों के चरित्र का आविष्कार या विकास करने वाले हैं । उनमें कहीं दीर्घता भी आ जाती है और जटिलता भी आ जाती है, परन्तु नाटकीय विषय को देखते हुए यह त्रुटि क्षम्य है । प्रत्येक पात्र अपनी स्थिति के अनुसार भाषा का प्रयोग करता है, जैसा कि संस्कृत नाट्य शास्त्र का नियम है । उच्च पात्र संस्कृत बोलते हैं और उनसे निम्न प्राकृत बोलते हैं । स्वगत-भाषण और आकाश भाषित आदि का भी प्रयोग है ।

शैली नाटककार की नाटकीय है । उसमें नाटकीय नियमों का पूर्ण पालन है । विषय के कारण वह जटिल सी अवश्य है, किन्तु उसमें रोचकता की कमी नहीं है ।

उद्देश्य की दृष्टि से नाटककार ने कर्म-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है । नियति या भाग्य का भी जीवन में निःसन्देह स्थान है, परन्तु वह संचित कर्म-संस्कार के सिवा और कुछ नहीं । जो कुछ व्यक्ति करता है उसका समष्टि रूप ही भाग्य है । राक्षस बहुत कुछ भाग्यवादी हैं, चाणक्य कर्मवादी है, वह कर्म और भाग्य के वास्तविक रहस्य को समझता है । नाटककार द्वारा भाग्यवादी पर कर्म-वीरता या कर्मत्व की विजय दिखाई गई है । नाटककार का यही प्रतिपाद्य सिद्धान्त या शिक्षा है ।

देश काल के विषय में पहिले बताया गया है कि उसका विशेष ध्यान रखा गया है । वस्तु-स्थिति और पात्र-चित्रण में देश-काल-गत औचित्य का पूरा ध्यान रखा गया है ।

इनके अतिरिक्त नाटककार ने नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना, विष्कम्भक भरत वाक्य आदि सभी नाटकीय वस्तुओं का नाटक में उचित नियोग किया है । इस विषय में पूर्ण औचित्य का पालन किया है ।

अपने विषय के अनुरूप नान्दी अथवा प्रारम्भिक मंगल-स्तुति की है, जो नाटकीय घटनाओं का आभास देने वाली पत्रावली नाम की है । प्रस्तावना उद्घात्यक नाम की है । इसमें पात्र प्रारम्भ में, सूत्रधार आदि के वाक्यों के उनके अभिप्रेत अर्थों से भिन्न अर्थ लेकर रंगमंच में प्रविष्ट होते हैं ।

मुद्राराक्षस में भी चाणक्य चन्द्र-ग्रहण का चन्द्रगुप्त का ग्रहण अर्थ समझकर चोटी फटकारता क्रोध में प्रविष्ट होता है। नाटक में वर्जित विषयों का प्रदर्शन नाटकार ने नहीं किया है. लम्बी यात्रा, युद्ध, प्रेम-क्रीड़ा, नायक नायिका की मृत्यु, वध, स्नान आदि को नाटकार ने नहीं दिखाया है। इस विषय में नाटककार ने ध्यान रखा है।

नाटकीय नियमानुसार नाटक का प्रधान रस वीर या शृंगार में से ही कोई एक हो सकता है, अद्भुत का सन्धि-स्थल में सयोग होना चाहिये, जिससे कि आगे की घटना के प्रति दर्शकों की उत्सुकता कम न हो। मुद्राराक्षस में वीर रस प्रधान है सर्वत्र कर्म-वीरता का ही दर्शन होता है कर्म के प्रति उत्साह अधिकाधिक बढ़ता है और अन्त तक उसका विकास होता है कर्म के प्रति यह उत्साह या उद्योग चाणक्य और राक्षस दोनों मे मिलता है अद्भुत का संयोग तो नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक सहायक रूप में चलता है। पाठक या दर्शक की उत्सुकता और आश्चर्य की वृत्ति एक बार उद्गत होकर अन्त तक बढ़ती चलती है।

इस प्रकार, मुद्राराक्षस संस्कृत नाटय प्रणाली का सर्वाङ्ग-पूर्ण आदर्श नाटक सिद्ध होता है। संस्कृत नाट्य रचना के सिद्धान्तों का नाटककार ने पूर्णतया पालन किया है। किन्तु नाटक की अपनी विशेषता, जो अन्य किसी नाटक में नहीं मिलती, है, मुद्राराक्षस में कोई नायिका नहीं है, उसमें शृंगार रस का सर्वथा अभाव है। करुण का भी प्रवेश नहीं है, कहीं करुणा-जनक दृश्य नहीं उपस्थित होता। मुद्राराक्षस का प्रधान विषय राजनीति है और राजनीति में शृंगार की और करुणा की दोनों मनोवृत्तिया निर्बलता उत्पन्न करने वाली हैं, अतः नाटककार ने उन्हें सर्वथा छोड ही दिया है। यह मुद्राराक्षस की अपनी अनूठी विशेषता है।

८---चद्रगुप्त नाटक के चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्रों की तुलना करते हुए बतलाइये कि नाटक का नायक किसे मानना चाहिये।

उत्तर—चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही विशेष प्रमुख पात्र हैं, जिनसे कथावस्तु चलती है, विकसित होती है और समाप्त

होती है। कथा-सूत्रों का प्रधान संचालक चाणक्य है। किन्तु उनको क्रिया-रूप देने में प्रधान चन्द्रगुप्त है। चाणक्य सोचता है और चन्द्रगुप्त वैसा करता है। दोनों ही सदवसरों में उत्पन्न, योग्य, कुशल पण्डित, बुद्धिमान और गुण-सम्पन्न हैं। धीरता वीरता और विचक्षणता दोनों में हैं। दोनों ही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। चरित्र-विकास भी चाणक्य का चन्द्रगुप्त से कम नहीं। नाटककार ने उसके चरित्र-चित्रण में पूर्ण प्रयास किया है। जितना विशद चित्रण चन्द्रगुप्त के रूप गुण स्वभाव शक्ति आदि का हुआ है, उतना ही चाणक्य के स्वभाव शक्ति आदि का भी हुआ है। दोनों का एक उद्देश्य है, एक प्रयत्न है। दोनों में समान उत्साह है कार्य के प्रति। एक क्षात्र तेज से उद्दीप्त हुआ द्वन्द्व युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहता है और दूसरा ब्राह्म तेज से चमकता हुआ बुद्धि-विवाद के लिए उद्यत रहता है

किन्तु इतना होने पर भी चन्द्रगुप्त नाटक का चाणक्य नायक नहीं बन सकता, चन्द्रगुप्त ही बन सकता है। कारण, यह ठीक होते हुए भी कि नाटकीय कार्य में दोनों की समान स्थिति, समान क्रिया-शीलता एवं समान सहयोग भावना हैं, नाटकीय फल का उपभोक्ता चाणक्य नहीं बनता प्रत्युत चन्द्रगुप्त बनता है। नाटक का समस्त कार्य-व्यापार चन्द्रगुप्त के ही हित-साधन के लिए होता है। चाणक्य निःस्वार्थ है। अन्त में चन्द्रगुप्त को ही फल भोगने को छोडकर स्वयं तपस्यार्थ चला जाता है। वह जो कुछ भी करता है, वह चन्द्रगुप्त के हित-साधन को। उसका अपना तो स्वार्थ केवल प्रतिज्ञा-पूर्ति है। उसका उद्देश्य अत्यन्त निःस्वार्थ है, देश-मंगल उसका प्रधान लक्ष्य है। नाटक में योजना चाणक्य बताता है, परन्तु उसे क्रिया रूप देने और सफलता होने पर उसका फल भोगने को सर्वदा ही चन्द्रगुप्त ही पहुंचता है। प्रारंभ में विदेशियों से भारत-रक्षा की शपथ करके कार्य के प्रधान उत्तर-दायित्व को चन्द्रगुप्त ही ग्रहण करता है अपने कन्धों पर। नाटक की प्रमुख तीनों घटनाओं—सिकन्दर का आक्रमण, नन्द वंश के विनाश के पश्चात् राज्यप्राप्ति, एवं सैल्यूकस की पराजय—का फल चन्द्रगुप्त को ही प्राप्त होता है। अतः इस दृष्टि से नाटकीय फल का उपभोक्ता होने की दृष्टि से, चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक हो सकता है, चाणक्य नहीं।

नाट्य शास्त्र की दृष्टि से भी नायक सत् क्षत्रिय वंश से समुद्भूत कोई राजवंशीय विशिष्ट व्यक्ति होना चाहिये। अतः इस दृष्टि से भी चाणक्य नहीं, चन्द्रगुप्त ही चन्द्रगुप्त का नायक होना चाहिये।

वस्तु-योजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

उत्तर—चन्द्रगुप्त में वस्तु-योजना बड़े कौशल से की गई है। इतिहास के बहुत बड़े काल की घटनाओं को लेकर कथा-वस्तु की योजना चन्द्रगुप्त में हुई है। कथानक में तीन प्रमुख घटनाएं हैं—सिकन्दर के आक्रमण की नन्द नाश और राज्य-प्राप्ति की एवं सैल्यूकस की पराजय की। इन तीनों प्रमुख घटनाओं को, जो कि ऐसी विशेष और विशद घटनाएं हैं कि प्रत्येक किसी पृथक् नाटक का स्वतंत्र और उपयुक्त विषय बन सकती है, एक सूत्र में पिरोने के लिए लेखक ने तीनों को चन्द्रगुप्त के जीवन से जोड़ दिया है। इन तीनों ही घटनाओं से प्रधान पात्र चन्द्रगुप्त के चरित्र का विकास होता है। इनके साथ में अन्य प्रासंगिक अनेक घटनाएं भी हैं, जो इन्हीं से सम्बद्ध हैं। इन घटनाओं के विस्तार का क्षेत्र मगध से पश्चिमी सीमा-प्रान्त तक विस्तृत है। नाटकीय कार्य का केन्द्र कभी सीमा-प्रान्त रहता है और कभी मगध बनता है। इतनी विस्तृत और इतनी दूरस्थ विभिन्न घटनाओं का नाटककार ने ऐसा क्रमिक, कार्य कारण भाव से एकत्र गुम्फन किया है कि नाटक के आस्वाद में कुछ शिथिलता या असम्बद्धता नहीं प्रतीत होती। घटनाओं की योजना शृंखला-बद्ध चलती है। कथा के विकास की अवस्थाएं, संन्धियां, कार्य की अवस्थाएं आदि सब समुचित ढंग से आई हैं। नाटक के प्रारंभ और अन्त अत्यन्त प्रभावशाली बने हैं। प्रारम्भ में ही तक्ष-शिला विद्यालय के रमणीय प्राकृतिक दृश्य का चित्र है, पाठक या दर्शक जिसमें तुरन्त लीन हो जाते हैं। वैसा ही गुरु-कुल का भव्य वातावरण है, जहाँ बड़े २ राजकुमार विद्याध्ययन के लिए एकत्रित होते हैं। यहीं पात्रों की पारस्परिक बात चीत और खड्ग संचालन से नाटकीय वस्तुस्थिति का दर्शन हो जाता है। नाटक के दो फल हैं—नन्द नाश और चन्द्रगुप्त की राज्य-प्रतिष्ठा। पहिला फल नन्द-नाश पर ही पूर्ण हो जाता है, किन्तु नाटक का कथानक चलता रहता है। जब तक विदेशीयों के आक्रमण जारी हैं, पूर्ण

साम्राज्य-प्रतिष्ठा और दृढ़ता कहां ? अतः दूसरे फल की प्राप्ति के उपाय चलते रहते हैं। यह फल अधिक व्यापक और राष्ट्रीय रूप में है। सैल्यूकस की पराजय, उसके साथ सन्धि और उसकी दृढ़ता के लिए कार्नेलिया के विवाह के साथ दूसरे फल की भी प्राप्ति हो जाती है और नाटकीय कार्य विरत हो जाता है। चाणक्य तपस्यार्थ चला जाता है। प्रारम्भ और अन्त दोनों प्रभावशाली और आकर्षक हैं। कथा-वस्तु के विकास की अवस्थाओं का सुन्दरतया निर्वाह किया गया है। आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलाप्ति का भी समुचित निर्वाह किया गया है। इस दृष्टि से, नाटकीय वस्तु-योजना की दृष्टि से, चन्द्रगुप्त बहुत सफल नाटक है।

किन्तु इतनी बड़ी कथा–वस्तु को चार अंकों में समेटने के कारण बीच में कई स्थानों पर त्रुटियां भी रह जाती हैं। कई स्थानों पर वस्तु योजना अस्वाभाविक भी हो गई है। चाणक्य चन्द्रगुप्त से रुष्ट होकर जाता है और दूसरे दृश्य में सिन्धुतट पर कात्यायन से बात करता दिखाया जाता है, जो दूरी को देखते हुए अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसी प्रकार सिंहरण राक्षस और चन्द्रगुप्त अपनी अपनी प्रेमिकाओं को दुष्टों के हाथ से बचाने के लिए कहीं न कहीं से आ जाते हैं, जो कुछ अस्वाभाविक हठाकृष्ट सा लगता है। सिकन्दर के आक्रमण की घटना में नाटक का काफी बड़ा भाग समाप्त हो जाता है, चन्द्रगुप्त की राज्य–प्रतिष्ठा की घटना देर में आती है। इसी वस्तु योजना के निर्वाहार्थ नाटककार को अनावश्यक पात्रों की हत्याएं भी करनी पड़ी है। कार्नेलिया के विवाह के लिए कल्याणी और मालविका की हत्या करनी पड़ी है। इस प्रकार की त्रुटियां या अस्वाभाविकताएं नाटक की वस्तु–योजना में इसलिए आ जाती हैं कि चन्द्रगुप्त की वस्तु योजना के विस्तार और दूरी बहुत बड़े हैं। इतिहास के इन २५ संघर्षमय वर्षों की घटनाओं को एकत्र एक सूत्र में योजना करने के कारण ही ये त्रुटियां आई हैं। एक आलोचक के मत से इसीलिए नाटक-कार को घटनाओं की गतिविधि समालना कठिन हो गया है। किन्तु तो भी इससे चन्द्रगुप्त की सफलता में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इस समस्त वस्तु योजना में, कुछ एक त्रुटियां होने पर भी, प्रसाद जी ने बड़े नाटकीय कौशल से काम लिया है और दृष्ट

प्रभाव उत्पन्न किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। अपनी इन त्रुटियों के साथ भी चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना, बहुत समुचित और स्वाभाविक है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक-कार को बहुत सफलता मिली है। नाटक के सभी प्रमुख पात्रो का चित्रण नाटककार ने बडे कौशल से किया है। पात्र अपनी स्थितियों संस्कारों के प्रतिकूल नहीं जाता। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर, राक्षस, सिंहरण, सिल्यूकस, नन्द आदि का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। कार्नेलिया, कल्याणी, सुवासिनी, मालविका आदि प्रमुख स्त्री-पात्रों का चित्रण भी समुचित रूप से हुआ है। व्यक्ति-गत रूप मे एवं अपनी वर्ग-गत विशेषताओं के द्योतक प्रतिनिधि रूप मे चित्रण स्पष्ट और स्वाभाविक हुआ है। पात्रों के आदर्श हैं, वे अपने पथ पर अविचल हैं। उनकी वेशभूषा, बात चीत, व्यवहार कार्य आदि अपनी अपनी विशेषताओ के साथ परम स्वाभाविक और सजीव हैं। किन्तु इतने अधिक पात्रो के समावेश से, श्री शुक्ल जी के मत से, सभी पात्रो के चित्रण पूर्ण विकसित नहीं हो पाये, लेखक के पास अवकाश ही नहीं रहता किसी के भी चरित्र का पूर्ण चित्रण करने के लिए। उनमे कहीं कहीं हठाकृष्टता सी भी आजाती है, जैसा कि ऊपर वस्तु-योजना मे दिखाया गया। पात्रों का अपनी अपनी प्रेमिका को बचाना, अनावश्यक व्यक्तियों की हत्या आदि मे चित्रण की अस्वाभाविकता सी प्रतीत होने लगती है। पात्रों के पारिवारिक और व्यक्तिगत चित्रण में उनके जीवन के अनेक आवश्यक रूपो का चित्रण छूट जाता है। किन्तु तो भी चरित्र-चित्रण उच्च कोटि का है। आदर्श और मनोविज्ञान दोनो का सामञ्जस्य चित्रण में स्वाभाविक रूप से मिलता है। पात्रो के चित्रण मे सजीवता और स्वाभाविकता की कमी का अनुभव नहीं होता। इतिहास के ये प्रमुख व्यक्ति इतने प्रसिद्ध और रोमांटिक आकर्षक हैं कि चित्रण की इस सीमा से उनके आकर्षण में कोई अन्तर नहीं पडता। फलस्वरूप वस्तु-चित्रण और चरित्र चित्रण, दोनों की दृष्टि से, अपनी कुछ एक त्रुटियो के साथ भी,

चन्द्रगुप्त प्रसाद जी का अत्यन्त सफल ऐतिहासिक नाटक है यह कहते ही बनता है।

१—नाट्य रचना के किन सिद्धांतों के आदर्श पर 'सिंदूर की होली, की रचना हुई है ? इस प्रयास में नाटक-कार कहा तक सफल हुआ है

उत्तर—सिन्दूर की होली की रचना नवीन पाश्चात्य नाट्यकला के नियमानुकूल हुई है। इब्सन की प्रणाली का अनुयायी बनकर नाटककार ने इस नाटक की रचना की है। इब्सन नाटक में भावुकता का अंग नहीं उपयोगी समझता। कवित्व, कल्पना, नाटकीय सजावट, तड़क भड़क आदि को वह व्यर्थ समझता है। न उदात्त विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र को ही वह नाटक का विषय मानता है, वह प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व देता है। समाज व्यक्तियों से बनता है, अत. व्यक्तियों का महत्व भी पूरा है। वह इसलिए व्यक्तिगत समस्याओं और प्रवृत्तियों को लेकर ही नाटकीय रचना करने का पक्षपाती है। शैली सीधी, सरल, भावुकता, कल्पना या अन्य कृत्रिम शोभा से रहित, ज्ञान और तर्क पर आश्रित, संक्षिप्त है, जिससे नाटक के अभिनय में कोई बाधा न उपस्थित हो और प्रत्येक नाटक कम्पनी—बडी या छोटी —उसका अभिनय कर सके उसके सिद्धान्त बुद्धिवादी हैं, व्यक्तिगत मानसिक स्वतन्त्रता और प्रत्यक्ष उपयोगिता उसके सिद्धान्तों के आधार हैं। अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के अनुरूप स्वच्छन्द प्राकृतिक जीवन को व्यतीत करने का वह सबको समान अधिकार मानता है। अतएव व्यक्तिगत नैसर्गिक-प्रवृत्तियों और समस्याओं को प्रधानता देकर ही उसने नाटक-रचना की है। शैली संक्षिप्त, अभिनय के योग्य, सरल, चित्रणात्मक और स्वाभाविक होती है। कथावस्तु का विस्तार अनावश्यक रूप से विस्तृत नहीं होता। कुछ एक पात्रों का चित्रण ही प्रमुख ध्येय रहता है। उसमें गाने के गीतों का भी अभाव सा रहता है। मिश्र जी ने सिन्दूर की होली का निर्माण इब्सन के इन्हीं बुद्धिवादी नाटकीय सिद्धान्तों के आधार पर किया हैं।

सिन्दूर की होली में प्रमुख पात्र चार पांच हैं। अधिक नहीं हैं। उन्हीं

की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों और समस्याओं को लेकर नाटककार ने चित्रण किया है घटनाओं का स्थल भी सीमित स्थान है। मुरारीलाल के घर में सारी नाटकीय घटना घटती है। कथा-वस्तु अत्यंत संक्षिप्त है। नाटक दो तीन घंटे में अभिनीत हो सकता है। उसकी योजना अत्यन्त सुगठित, शृंखला-बद्ध है, उसमें विचित्रता नहीं है, न बाह्य सजावट है न कल्पना एवं भावुकता का ही संयोग है। शैली तथ्य-चित्रण मूलक सीधी और स्पष्ट है। एक ही प्रमुख घटना का उत्तरोत्तर विकास होकर वह चरम परिणाम पर पहुँचती है, जो प्रभावोत्पादक है। समस्त कथानक इन्हीं चार पांच व्यक्तियों से सम्बद्ध है और उन्हीं तक सीमित रहता है। साधारण पारिवारिक चित्रण के साथ इन पात्रों के व्यक्तिगत मानसिक चित्रण को उपस्थित करने की ओर ही नाटककार का ध्यान रहा है। उसी के लिए उसने प्रयत्न किया है। केवल मनोरंजन का उद्देश्य लेकर उसने नवीन कल्पित और व्यर्थ की घटनाओं को नहीं जोटा है, न उसमें वृथा की सजावट है। कथावस्तु का स्वाभाविक और सीधे रूप मे विकास होता है। उसमें हास्य मनोविनोद के लिए प्रसगों या पात्रो की कल्पना भी नहीं है। न गाने योग्य गीत हैं, न नृत्य हैं और नाही अन्य मनोरंजन के कृत्रिम-साधनों का उपयोग है। नाटक मे प्रारंभ से अन्त तक घरेलू वातावरण चलता है, नाटक के प्रारंभ और अन्त उसी वातावरण मे होते हैं। केवल मनोरंजन के लिए विचित्रता लाने का नाटककार का प्रयास नहीं है। इस दृष्टि से, सिन्दूर की होली आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है, जो रंगमचीयता या अभिनेयता और नाटकीयता दोनों की दृष्टि से सफल नाटक है। उसका अभिनय बड़ी सुविधा से, कोई भी, थोडे से रंगमंचीय साधन रखने वाली नाटक-मंडली कर सकती है।

१०–प्रश्न अब परीक्षा-कोर्स मे बाहर है। अतः छोड़ दिया गया है।

११–निम्नांकित अवतरणों मे से किन्हीं तीन की सदर्भ-सहित व्याख्या कीजिये—

(क) आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व

नाम मिला, वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं। और महाराज, धर्म के नियामक ब्राह्मण हैं, मुझे पात्र देखकर उसका संस्कार करने का अधिकार है। ब्राम्हणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है।'

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक के नवम दृश्य का है। पर्वतेश्वर की राज-सभा में चाणक्य जाकर मगध-विद्रोह के लिए पर्वतेश्वर से सहायता मांगता है। पर्वतेश्वर यवनों से युद्ध देखता हुआ अपने किसी सैनिक को मगध भेजने को तैयार नहीं होता। परन्तु पूछता है कि इस मगध—विद्रोह का केन्द्र कौन होगा। चाणक्य के चन्द्रगुप्त का नाम लेने पर कटाक्ष करता है कि क्या चाणक्य पिप्पली कानन के अन्य वृषल मौर्यों को राज्य देने को तैयार होगा कारण यह था कि राज्य सिंहासन शुद्ध क्षत्रिय वंश के व्यक्ति को ही मिलता था और चन्द्रगुप्त के पूर्वज भी पिप्पली कानन के मौर्य थे जो वैदिक संस्कारों को छोड़ देने के कारण वृषल कहलाते थे, अतः उनमें से किसी को चन्द्रगुप्त को—सिंहासनासीन करना उचित नहीं था। यही अभिप्राय लेकर पर्वतेश्वर पूछता है कि क्या पिप्पली कानन के अन्य मौर्यों से भी चन्द्रगुप्त जैसा ही व्यवहार करने को चाणक्य तैयार है, वे चन्द्रगुप्त के समान ही वृषल हैं। वृषल का अर्थ निम्न होता है—

शनकैस्तु क्रिया-लोपा-दिमाः क्षत्रिय जातयः,
वृषलत्वं गता लोके ब्राम्हणाना मदर्शनात् ॥

धीरे धीरे- वैदिक क्रियाओं से शून्य हो जाने के कारण ये क्षत्रिय जातियां वृषलता (वैदिक संस्कार-शून्यता अथवा शूद्रता) को प्राप्त हो गईं।

पर्वतेश्वर के ऐसा कटाक्ष-पूर्ण प्रश्न करने पर, चाणक्य ने यह प्रश्नगत उत्तर दिया है। वह कहता है कि वस्तुतः तो ये (चन्द्रगुप्त आदि पिप्पली कानन के मौर्य) क्षत्रिय ही हैं, आर्य धर्म के संस्कारों से शून्य हो जाने के कारण उनका नाम वृषल पड़ा है। बौद्ध-धर्मियों के प्रभाव में आ जाने से, उनके वैदिक संस्कार (क्रियाएं) यद्यपि छूट गये हैं, तथापि वे (मूलतः)

क्षत्रिय है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। (आगे, चाणक्य अपने संस्कृत कर लेने के ब्राम्हणाधिकार का भी दावा करता है) और फिर, धर्म के नियामक (नियमित करने वाले) ब्राम्हण हैं, इसलिए चाणक्य को अधिकार है कि वह किसी को सुपात्र देखकर उसका वैदिक संस्कार करले। ब्राम्हणत्व (ब्रम्हाचरण-ज्ञानाचरण) विश्वजनीन, नित्य, ज्ञान का ऐश्वर्य है अर्थात् ज्ञानाचरण विश्व के लिए, सदैव का बुद्धि-ऐश्वर्य है, ब्रम्ह (ज्ञान) विश्व की सर्वोच्च विभूति है, उसका आचरण ही ब्राम्हणत्व है। अतः उसे अधिकार होता है धर्म के नियमन का या किसी का संस्कार करने का, धर्म के विषय में वह सर्वोच्च अधिकारी है।

(ख) ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारण-कर्त्ता स्वामी के सामने भी मुंह खोलकर नहीं आती। उसके रूप आदि का पूरा परिचय न पाकर भी धारण-कर्त्ता उसका हरम की वेगमों से अधिक पर्दा करता है वह कभी प्रत्यक्ष रूप में समाज के सामने नहीं आती।

उत्तर— श्री शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' नामक संग्रह के ईर्ष्या शीर्षक लेख के अन्तिम पैराग्राफ का प्रारम्भिक भाग है। ईर्ष्या मनोविकार का स्वरूप शुक्ल जी ने बताया है।

ईर्ष्या बहुत लज्जाशील मनोवृत्ति है, वह जिसमें होती है, उसके सामने भी स्पष्ट रूप में नहीं आती (भाव यह है कि ईर्ष्या ऐसी हीन वृत्ति है कि ईर्ष्यालु पुरुष स्वयं भी उसे नहीं मानना चाहता अपने हृदय में कि वह किसी से ईर्ष्या करता है। उसे स्वयं लज्जा आती है, इस बात को स्वीकार करते हुए। अतः वह उधर से आंखें बन्द किये रखता है और ईर्ष्या की भावना दबे छिपे रूप में अपना कार्य करती रहती है)। ईर्ष्यालु व्यक्ति, ईर्ष्या को अपनी भावना को स्पष्ट रूप में न देखता हुआ भी, उसे औरों से गुप्त रखता है, जैसे कि नवाब अपनी वेगमों को रखते थे यह वृत्ति सबके सामने कभी प्रकट रूप में नहीं आती। (भाव यह है कि ईर्ष्या जैसी वृत्ति को व्यक्ति न अपने प्रति प्रकट होने देता है, उसे स्वीकार करते हुए उसे अपने मन में स्वयं ही लज्जा आती है, वह उसके रूप को स्पष्ट देखने का कभी साहस नहीं

करता और न उसे किसी अन्य के सामने प्रकट होने देता है। अन्य क्रोध, भय आदि भावनाओं की व्यक्ति में बाह्य चिन्ह प्रकट हो जाते हैं, किन्तु ईर्ष्या का कोई विशेष चिन्ह प्रकट नहीं होता। व्यक्ति अपनी क्रोध की बात तो दूसरे को बता देता है यह भी बता देता है कि उसे अमुक से बैर है, पर यह कभी किसी के पास स्वीकार नहीं करता कि वह अमुक से ईर्ष्या करता है। अतः ईर्ष्यालु कभी किसी के सामने वास्तविकता का रूप प्रकट नहीं होने देता। किसी के प्रति ईर्ष्या होने पर उसकी यदि बुराई भी की जाती है तो ईर्ष्या के भाव को छुपाकर, बड़ी सभ्यता और ऊपर से कभी कभी हित-चिन्तकता और स्नेह जताते हुए भी, जिससे कोई यह न समझ पाये कि वह उससे ईर्ष्या करता है।

उपर्युक्त प्रश्नगत पंक्तियों का यही भाव है।

(ग) कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लेजाती है, जहां जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है।

उत्तर—यह अवतरण 'चिन्तामणि' के 'कविता क्या है' नामक लेख के प्रारंभ के द्वितीय पैराग्राफ का है। शुक्ल जी ने कविता की सामर्थ्य और उपयोगिता को बताया है, इन पंक्तियों में।

मनुष्य जीवन में सदैव अपने सुख-दुख का और उस सम्बंध से अपने से भिन्न प्रकृति का अनुभव करता आया है। उसकी अनुभूति में उसकी व्यक्तिगतता रहती है, किन्तु कविता के आनन्द या रस में अपना ज्ञान भूल कर व्यक्ति केवल आस्वाद्यमान विषय में या रस में लीन हो जाता है। उस समय कविता में वर्णित संसार की विविध क्रियाओं के साथ उसका रागात्मक या अनुभूतिपूर्ण सम्बंध स्थापित हो जाता है। वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को छोड कर, अन्यों के (काव्य जगत् के) सुख

दुःखों की अनुभूति करता है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान उसे नहीं रहता और वह तदाकार हो जाता है। जगत् के अनेक रूपों और व्यापारों के साथ मानव-हृदय का पुरातन अनुभूति-मूलक सम्बन्ध स्थापित है। दुखी को देख कर दुखी होना सुखी को देखकर सुखी, जगत् की सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्ति और असुन्दरों में विरक्ति आदि की प्राचीन भावनाएं हैं। ये शुद्ध अनुभूति-मूलक हैं किन्तु व्यक्ति अपनी संकुचित व्यक्तिगत सीमाओं में फंसा हुआ इनकी शुद्ध अनुभूति नहीं कर पाता, उसकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियां ही उस सार्वभोम एवं समष्टि रूप, जिसमें कि व्यक्तिगतता का अंश नहीं है, के लिए अवकाश नहीं छोड़तीं। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों में फंसा हुआ, उस शुद्ध अनुभूति की भूमि तक नहीं पहुंच पाता अपने आप। यह सामर्थ्य केवल कविता में ही है कि वह उसे उस भूमि तक पहुंचा देती है, जहा वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की संकुचित परिधि में से निकल कर, विश्व-जीवन के व्यापारों की शुद्ध अनुभूति करता है। वहा वह संसार के वास्तविक, व्यक्तिगतता से मुक्त, शुद्ध रूप का दर्शन करता है। वहां केवल अनुभूयमान विषय या रस और या उसका अनुभव, ये ही दो वस्तुएं रह जाती हैं, अनुभव करने वाले की सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। काव्य में लोक-जीवन का चित्रण या अभिव्यंजन होता है। लोक-जीवन का वह चित्रण व्यक्तिगतता से रहित शुद्ध होता है। काव्य का आनन्द लेने वाला अपने व्यक्तित्व को भूल कर, काव्य-वर्णित जीवन के समष्टि-रूप में अपने को खो देता है। इसी भाव को लेकर प्रश्नगत पंक्तियां कही गई हैं।

कविता ही मनुष्य के मन को उसके व्यक्तिगत स्वार्थों की सीमित परिधि से निकाल कर, समष्टिगत भावानुभूति के क्षेत्र में ले जाती है। वहां जगत् के वास्तविक (व्यक्तिगतता से अनुरंजित नहीं) मूलगत व्यापारों और रूपों की सच्ची अनुभूति वह करता है। वहां केवल अनुभूति का ही प्राधान्य होता है। इस भूमि पर पहुंचने वाला व्यक्ति 'कुछ देर के लिए अपने आपको बिल्कुल भूल जाता है। उसकी अपनी व्यक्तिगत सत्ता लोक-जीवन के समष्टि रूप में लीन हो जाती है अर्थात् उसकी अनुभूति उस समय व्यक्तिगत न रहकर समष्टिगत (सार्वजनीन) हो जाती है।

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४

संवत २००६

सूचना—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। पहला प्रश्न अनिवार्य है।

१.—निम्नांकित अवतरणों में से किन्हीं तीन की सन्दर्भ-सहित पूर्ण व्याख्या कीजिए—

(क) भाग का अवतरण परीक्षा-कोर्स से बाहर है।

(ख) जो केवल अपने विलास या शरीर सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूंढा करते हैं, उनमें उस सर्गात्मक 'सत्व' की कमी है, जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है सम्पूर्ण सत्ताएं एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण श्री शुक्ल जी के "चिन्तामणि" नामक संग्रह के "कविता क्या है" शीर्षक प्रबन्ध का है। लेखक स्पष्ट कर रहा है कि व्यक्ति किस भिन्न भाव से प्रकृति के रूपों से प्रेम करते हैं।

कुछ लोग प्रकृति के उन्हीं रूपों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो उनकी इन्द्रियों को सुख देने वाले हैं, उनके प्रिय प्राकृतिक रूप वे ही बनते हैं, जो उनकी विलास-क्रीड़ा में आनन्दवर्द्धक हैं। लेखक के मत से उन लोगों में उस रागात्मक या प्रेमानुभूति रूप सत्व (रजोगुण और तमोगुण दोनों को दबाकर जब सतोगुण का मन पर राज्य होता है, उस समय उस मन की सत्व संज्ञा होती है। यह एकांत आनन्द की दशा है। इस दशा में व्यक्ति की सीमित परिधि का अन्त हो जाता है, अनुभव-कर्त्ता के व्यक्तित्व का लोप

हो जाता है और केवल अनुभूयमान और उसका अनुभव ही शेष रह जाते हैं। व्यक्ति की अनुभूति उस समय सीमित न रहकर निःसीम हो जाती है) की कमी हो जाती है, जो कि दृश्यमान प्रत्यक्ष सृष्टि-सत्ता के साथ चिरन्तन एकत्व की अनुभूति में लीन करके व्यक्ति अनुभवकर्त्ता) के हृदय की व्यापकता का आभास देता है अर्थात् इस सत्त्व दशामें विद्यमान मन जब अनन्त प्रत्यक्ष सत्ता के प्रति प्रेम का अनुभव करता है और अपने व्यक्तित्व को खो देता है, उस समय यह पता लगता है कि मानव हृदय की सीमा कितनी व्यापक है, वह व्यक्तिगत अनुभूति भी करता है सीमित बनकर और सत्वदशा में निःसीम बनकर वह समष्टिगत अनुभूति भी करता है। समस्त सत्ताओं का एक ही चरम सत्ता (परमात्मा) में और सब अनुभूतियों का एक ही चरम अनुभूति (परमात्मानुभूति—अनन्तानुभूति) में अन्तर्भाव हो जाता है। (भाव यह है कि सचराचर व्यक्ति जगत् का परमात्मा में ही लय है, अन्त में केवल अद्वैत-एकत्व—ही रह जाता है)। इसलिये, सदसद्विवेचनात्मक बुद्धि की सहायता से जैसे हमारा ज्ञान उस अद्वैत-भावना तक पहुँचता है, उसी प्रकार हमारा भावनारूप हृदय भी इस रागात्मक सत्व की सहायता से पहुँच जाता है (अर्थात् बुद्धि की सहायता से जैसे हम उस अद्वैतरुप को जान लेते हैं, वैसे ही इस सात्विक प्रेमतत्व के बल पर, हमारा हृदय उस अद्वैततत्व की अनुभूति करता है)। इस प्रकार, अन्त में जाकर, दोनों पक्षों (बुद्धि पक्ष और मनःपक्ष) के व्यापारों का परस्पर सामञ्जस्य हो जाता है (दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहते, अपितु दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ज्ञान के द्वारा उस अद्वैत का ज्ञान होता है और हृदय के द्वारा उस अद्वैत का अनुभव होता है)। मानसिक और बौद्धिक पक्षों के इस सम्बंध के बिना मानवता की पूरी साधना नहीं हो सकती अर्थात् मन और बुद्धि के इस उपर्युक्त सामञ्जस्य के बिना मनुष्यत्व का पूर्ण विकास संभव नहीं।

(ग) भाग का अवतरण परीक्षा-कोर्स से अब बाहर है।

(घ) कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता! तुम्हारा आलोक जगत् का मंगल करे! मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूं।

विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अपने अन्तर निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्यसागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है। तो क्या मेरा कर्म-कुलालचक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका ? हाँ, तो प्रभात पवन के साथ, सबकी सुखकामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव ! आज मैं धन्य हूँ।

उत्तर—प्रस्तुत अवतरण चन्द्रगुप्त नाटक के चतुर्थ अंक और १५ वें दृश्य से लिया गया है। चाणक्य की, हादरायन के तपोवन में स्वगत उक्ति है। चाणक्य ने अपने सब कृत्य समाप्त करके तपस्यार्थ वन का ग्रहण किया है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर चुका है, ब्राह्मणत्व के अपमान का बदला ले चुका है। इस के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त की राज्य-प्रतिष्ठा और भारत-रक्षा के लक्ष्य भी समस्त पूरे हो चुके हैं और इस समय उसे वह सुख अनुभूत हो रहा है, जो किसी को मीलों लम्बा कठिन मार्ग पार करके, अपने गन्तव्य स्थल पर पहुंच कर होता है। आज वह अत्यन्त निश्चिन्तता और शान्ति का अनुभव कर रहा है। उसकी इच्छाएं पूरी हो चुकी हैं और अब उसके हृदय में कोई इच्छा अवशिष्ट नहीं रही है। आज उसे ब्राह्मण की वास्तविक भावनाओं–शान्ति, क्षमा, सन्तोष, त्याग, निस्पृहता, आत्मिक आनन्द आदि–का अनुभव हो रहा है। ब्राह्मण का वास्तविक स्वरूप वस्तुतः यही होता है। अपने इसी मानसिक आनन्दानुभव का वह अपनी इस प्रश्न-गत उक्ति में वर्णन करता है। वह पहिले किसी ध्यान में मग्न था। फिर आंख खोलता हुआ कहता है—

आज का सूर्योदय कितना गौरव-पूर्ण है ! क्योंकि आज मेरे लिए नवीन सन्तोष और तपस्यामय जीवन का प्रारम्भ हुआ है। भगवान् सविता ! (सूर्यदेव !) तुम्हारा प्रकाश संसार का कल्याण करे। (ब्राह्मण अत्यन्त तृप्त या सन्तुष्ट होकर संसार का मंगल ही चाहा करता है)। मैं आज मानों कामनारहित (इच्छा रहित) हो रहा हूँ (उसके हृदय में अब कोई कामना शेष नहीं थी। सब पूरी हो गई थीं)। आज ऐसा लग रहा है कि अब तक जो

कुछ किया था, वह सब भ्रम था, सत्य नही, असली चीज तो आज सामने आई है (भाव यह है कि अबतक जो कुछ किया, उसमे वास्तविक आनन्द नहीं था, कोरा भ्रम ही था। सांसारिक क्रिया-कलाप मे वास्तविक सन्तोष भावना कहां ? वास्तविक आनन्द या सत्य वस्तु तो आज मिली है. इस त्याग-मय अन्तर् मुख जीवन मे, संसार से विमुख होकर । आज आत्मा निर्द्वन्द्व है, उसमें क्रोध, द्वेष आदि के कारण-विशेष नही है शान्त है, और ज्ञान चक्षु स्वच्छ है (उसमें सांसारिक राग द्वेष के कारण मलिनता नहीं है, जो व्यक्ति को वस्तु का वास्तविक दर्शन नही करने देती । तो क्या मेरा कर्म-चक्र रूपी कुम्हार का चाक अपना कर्म रूपी बर्तन बनाकर नीचे रख चुका अर्थात् कुम्हार का चाक जैसे अपने बर्तन को बनाकर नीचे रखकर शान्त हो जाता है, क्या इसी प्रकार मेरा कर्म-चक्र अपना भोग समाप्त कर चुका और इसी लिए शान्त हो चुका है) ? यदि यह ठीक है, तो आज सब की सुख-लिप्सा प्रभात-कालीन पवन के साथ शान्त है अर्थात सबके मन अपनी-अपनी इच्छा-पूर्ति करके शान्ति का अनुभव कर रहे हैं । (चाणक्य अपनी आत्मा की शान्ति के समान ही जगत् की शान्ति का अनुभव कर रहा है, "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के सिद्धान्त के अनुसार । प्रकृति मे प्रातःकालीन शान्ति व्याप्त है, वायु शान्त है, उस सारे संयोग से चाणक्य अपनी आत्मा और जगत् दोनों मे अभूत-पूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा है) । हे देव ! आज मैं धन्य (कृत-कृत्य, अतएव पूर्ण सन्तुष्ट) हो गया हूँ ।

२.—आधुनिक हिन्दी गद्य के इतिहास को किन कालों में विभक्त किया जा सकता है ? प्रत्येक काल की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए ।

उत्तर—आधुनिक हिन्दी-गद्य के इतिहास को प्रमुखतया चार भागो या काल-विभागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारम्भिक काल, भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल और वर्तमान काल । प्रारम्भिक काल भारतेन्दु से पहिले पहिले का काल है । इस काल मे हिन्दी गद्य या खड़ी बोली गद्य की नींव पड़ी थी । रीति-काल तक साहित्य में ब्रज-भाषा का ही राज्य

चलता है। पद्य मे भी और गद्य मे भी। पद्य-रचना मे तो व्रज-भाषा का राज्य था ही गद्य-रचना प्राय: बन्द सी थी, बहुत थोड़ी लिखी जाती थी, उसमें भी व्रज भाषा का ही प्रयोग होता था अधिकतर। खड़ी बोली प्रदेश-विशेष की भाषा थी। उस समय उस प्रदेश में तो उसका प्रयोग कोई साहित्य मे करता हो तो करता हो, अन्यथा तो उसका साहित्य में चलन नहीं था। हां, इतनी बात अवश्य थी कि मुसलमानों के राज्य-विस्तार के साथ खड़ी बोली —दिल्ली आगरे की भाषा—का प्रचार-क्षेत्र भी विस्तृत हो रहा था। वह रूप बहुत कुछ फारसी-मिश्रित हो गया था। पर थी वह (खड़ी बोली ही) किन्तु उसमें साहित्य-रचना नहीं होती थी। मिलने को खुसरो, कबीर की भाषा में भी खड़ी बोली के दर्शन हो जाते हैं। वैष्णव भक्तों के दो सौ वैष्णवों की वार्ता" और 'चारासी वैष्णवों की वार्ता में भी खड़ी बोली के अच्छे रूप के दर्शन हो जाते हैं। कविवर गंगभाट ने भी खडी बोली लिखी थी। जटमल ने भी लिखी और भी किसी ने लिखी होगी किन्तु विशेष रचना खडी बोली की इस काल को उपलब्ध नहीं होती, खड़ी बोली के इस समय तक दो रूप प्रचलित हो चुके थे। एक ऐसा रूप था, जो फारसी-मिश्रित था और जिसे उर्दू कहा जाने लगा था, जिसका साहित्य में यवन-दर्बार के प्रभाव में सर्वत्र प्रचुर प्रयोग होने लगा था और इसीलिए जिसका विकास और परिष्कार भी विशेष हो चुका था. और दूसरा रूप संस्कृत-मिश्रित था, जो राज्याश्रय के अभाव में केवल धर्माश्रित होकर जीवित था। यह संस्कृत-प्रधान भाषा हिन्दुओं की सामान्य शिष्ट भाषा थी, धार्मिक कथा वार्ता, उपदेश व्याख्यान आदि मे इसी का प्रयोग हिन्दु लोग करते थे, किन्तु व्यवहार में हिन्दू लोग भी अधिकांश में उर्दू फारसी का व्यवहार करते थे। साहित्य में भी व्रजभाषा के सामने इसकी प्रतिष्ठा नहीं थी। फलतः यह अविकसित, अव्यवस्थित दशा मे रही। इस में व्रजभाषा का भी प्रभाव रहता था, अन्य प्रान्तीय अवधी आदि भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग रहता था। ऐसी दशा थी इसकी। इस प्रकार मुस्लिम शासन में खड़ी बोली दो रूपों में आगई थी। अंग्रेजी शक्ति के विस्तार के सामने, जब मुस्लिम साम्राज्य उखड़ने लगा और मुस्लिम शक्ति के केन्द्रभूत स्थान दिल्ली आगरा से उजड

कर प्रमुख व्यक्ति, व्यापारी, सेठ साहूकार आदि यहां से भागकर अन्य प्रदेशों मे जाने लगे तो उस समय यहां की बोली—खड़ी बोली — का क्षेत्र और भी विस्तृत हुआ, परन्तु साहित्य-रचना अब भी विशेष प्रारंभ नहीं हां, धार्मिक ग्रन्थ दो चार लिखे गये। उनमे पटियाला निवासी राम प्रसाद 'निरंजनी' का लिखा 'भाषा योग वाशिष्ठ', बसवा निवासी पं० दौलतराम लिखित जैन पद्म पुराण का भाषानुवाद प्रमुख रचनाए हैं। इनमें भी योग वाशिष्ट की भाषा खड़ी बोली का खासा व्यवस्थित रूप है। ये कोई विशेष साहित्यिक रचनाएँ नही हैं। तो भी इनसे इतना अनुभव अवश्य हो जाता है कि खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होने की नींव पड गई थी। अंग्रेजी राज्य की नींव जमते ही देश भाषा के उत्थान में कुछ सहायता मिलती है। अँग्रेजों के सामने भारतीय समाज में उस समय देश-भाषा खड़ी बोली के दो रूप प्रचलित थे—हिन्दी खड़ी बोली और उर्दू। उन्होने समझ लिया था कि उर्दू यहा की वास्तविक देशभाषा का रूप नहीं है, पर वह कचहरियों, अदालतों, और सर्कारी क्षेत्रों मे प्रधानतया प्रचलित थी। अतः उन्हे हिन्दी और उर्दू दोनो को प्रोत्साहन देना पड़ा। जब देश भाषाओ के सीखने और सिखाने के लिए विद्यालयों मे हिन्दी-गद्य की पुस्तकों की आवश्यकता हुई तो एक भी पाठ्य-ग्रन्थ होने योग्य पुस्तक नहीं मिली। योग वाशिष्ठ और पद्म पुराण के उपरान्त अन्य विशेष पुस्तकें दो और लिखी गई थीं, हिन्दी खड़ी बोली गद्य में—मु० सदासुखलाल का सुख सागर और इंशा अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी। मु० सदासुखलाल की भाषा शुद्ध संस्कृत-प्रधान और पण्डिताऊ ढग की थी, उसमें प्रचलित उर्दू शब्दों और मुहावरों के परित्याग से उतनी व्यावहारिकता नहीं थी कि वह प्रत्येक विषय के योग्य हो सके, परन्तु गभीर धार्मिक आदि विषयों के लिए वह उपयुक्त भाषा थी। उधर इंशा की भाषा विशेष आदर्श लेकर लिखी गई थी। इंशा ने अहद किया था कि वह अपनी भाषा मे हिन्दी या हिन्दवी को छोडकर अन्य संस्कृत, ब्रज भाषा, अवधी आदि एवं उर्दू फारसी की पुट नहीं आने देंगे।

अतः वह भाषा भी, अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक होती हुई भी, सभी विषयों के उपयुक्त नहीं थी। उस समय न तो कोई उपयुक्त पाठ्य ग्रन्थ ही उपलब्ध था और न कोई सर्व-ग्राह्य उपयुक्त हिन्दी गद्य शैली ही उपलब्ध थी। इस परि-स्थिति में, फोर्ट विलियम्स कालेज के प्रिंसिपल गिल क्राइस्ट ने लल्लूलाल और सदल मिश्र को पाठ्य ग्रन्थ तैयार करने की आज्ञा दी। लल्लूलाल ने उर्दू और हिन्दी दोनों प्रकार की पाठ्य पुस्तकें लिखीं। उर्दू में बेताल पचीसी और हिन्दी में प्रेम-सागर नामक पुस्तकें लिखीं। इन्होंने अपनी खड़ी बोली को फारसी उर्दू से बहुत दूर रखने का प्रयत्न किया, उर्दू फारसी के शब्द ही नहीं आने दिये, मुहावरों का भी प्रयोग नहीं किया। इसके विपरीत संस्कृत और उसमे भी अधिक ब्रजभाषा का विशेष सहारा लिया। उसमें ब्रजभाषा-पद्य की सी सभी विशेषताएं आगई हैं, केवल छन्दों को छोड़कर। इससे यह खड़ी बोली गद्य की अपेक्षा ब्रजभाषा-गद्य ही अधिक प्रतीत होती है। सदल मिश्रने नासिकेतोपाख्यान लिखा। इनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है, उसमें संस्कृत प्रधान है, किन्तु प्रचलित उर्दू शब्दों और मुहावरों का भी उचित प्रयोग किया गया है। पर उसमें भी पूर्वीपन बहुत आगया है। इन्होंने पूर्वी शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग विशेष किया है। इस प्रकार, इस समय खड़ी बोली गद्य की कई शैलियां सामने आती हैं। व्यवस्थित और सर्व स्वीकृत कोई एक शैली प्रतिष्ठित नहीं होती। इनसे आगे के काल में दो अन्य प्रमुख और प्रबल गद्य लेखक होते हैं—राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द और राजा लछमणसिंह। उस समय तक हिंदी उर्दू का विरोध कुछ उग्र हो जाता है। मुसलमान हिंदी का स्पष्ट विरोध करते हैं और उसे गवारू भाषा कहते हैं। शिक्षा-संस्थाओं में स्वीकृत कराने में बाधा उपस्थित होती है। राजा शिव प्रसाद प्रथम संस्कृत प्रधान सदा-सुखलाल और सदल मिश्र के सिद्धांतों के मानने वाले थे, परन्तु बाद में फारसी-प्रधान भाषा के पक्षपाती बने। इनकी प्रारंभिक पुस्तकों मानव धर्म सार और अन्यों जो कि इन्होंने स्कूलों के लिए पाठ्य ग्रन्थों के रूप में लिखीं

थीं, में संस्कृत-प्रधान गद्य है, किन्तु बाद के इतिहास-तिमिर-नाशक ग्रन्थ और बनारस अखबार में नागरी अक्षरों में उन्होंने उर्दू लिख मारी। उनके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत के शकुन्तला आदि नाटकों का अनुवाद किया तो संस्कृत-प्रधान शुद्ध शैली को अपनाया, जिसमें उर्दू फारसी के शब्द नहीं हैं। किन्तु इनमें फारसीपन के स्थान में पूर्वीपन आ गया है। ये भाषा की शुद्धता के पूर्ण पक्षपाती थे और उर्दू और हिन्दी की ये ही विशेषताएं बताते थे कि एक फारसी प्रधान है और दूसरी संस्कृत-प्रधान। इसाइयों के धार्मिक प्रचार ने भी हिन्दी के रूप को ही ग्रहण किया। उन्होंने शुद्ध पण्डिताऊ हिन्दी में ही इसाई धर्म के अनेक ग्रन्थ और पैम्फलेट आदि लिखे। इसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को रोकने के लिए बंगाल में ब्रम्ह समाज की स्थापना हुई। राजा राम मोहन राय ने वेदान्त सूत्रों का हिन्दी में अनुवाद किया। उसमें सस्कृत प्रधान है, बंगला का भी प्रभाव है। पश्चिमोत्तरीय प्रदेश मे आर्य समाज के प्रचार से भी हिन्दी के प्रचार में सहायता मिली। सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी मे ही लिखा गया। आर्य समाज के व्याख्यान उपदेश शास्त्रार्थ आदि हिन्दी में ही होते थे। फल-स्वरूप हिन्दी-प्रचार के लिए कई शक्तियां उत्थित हो गई थीं। छापाखानों के प्रचार ने भी हिन्दी-प्रचार में विशेष योग दिया। इस प्रकार, भारतेन्दु से पहिले पहिले, हिन्दी-गद्य का प्रचार होने लगा था, उसमें अनेक पुस्तकें भी निकल चुकी थीं और उसका प्रचार उत्तरोत्तर विकासमुख था। जो कमी थी वह किसी व्यवस्थित और सर्व-स्वीकार्य आदर्श रूप की थी और विभिन्न विषयों को गद्य-साहित्य मे स्थ न देने की थी। इसी समय हिन्दी के सौभाग्य से इस क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का उदय होता है।

भारतेन्दु विशेष शक्तिशाली महापुरुष थे। उनका प्रयत्न हिन्दी-साहित्य का सर्व-मुख उत्थान करने के लिए था। विशेषतः गद्य के लिए तो उनका व्यक्तित्व अति सौभाग्यप्रद रहा। भारतेन्दु से प्रथम गद्य का प्रचार तो निःसन्देह होने लगा था, गद्य में अनेक पुस्तकें भी लिखी जा चुकी थीं, चाहे उनका महत्व साहित्यिक दृष्टि से कुछ भी क्यों न हो, गद्य की शैलिया कई प्रकार की सामने आ चुकी थीं, चाहे उनमें से आदर्श कोई भी नहीं थी, पर शैली-विषयक मत-भेद चला आ ही रहा था, उसका अन्त नहीं हुआ था, जिससे आगे के

लेखकों के लिए बड़ी दुविधा उपस्थित थी कि कौनसे मार्ग का अवलम्बन किया जाय। भारतेन्दु ने सर्व-प्रथम इस दुविधा को मिटाया। पूर्व प्राप्त गद्य-शैलियों की समस्त सद् विशेषताओं को लेकर, उन्होंने एक ऐसी सर्व-ग्राह्य, सभी विषयों के उपयुक्त, व्यावहारिक रूप लिये और आदर्श-भूत ऐसी गद्य-शैली का रूप उपस्थित किया कि वास्तविक रूप से उन्हें ही खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तक कहा जाता है हिन्दी-साहित्य के इतिहास में। उनका व्यक्तित्व भी अत्यन्त प्रबल और प्रभावशाली था। अपने समय के वे साहित्यिक क्षेत्र के नेता थे। उनकी शैली सबकी आदरणीय बनी। भारतेन्दु के गद्य का सर्व प्रथम व्यवस्थित और आदर्श रूप हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका में दृष्ट हुआ उसी को आदर्श मान अन्य लेखक, उसी के आधार-भूत सिद्धान्तों पर चले भारतेन्दु की प्रधान शैली में श्रेष्ठ गद्य के सभी गुण हैं। वह प्रधानतया संस्कृत के आश्रित है, क्योंकि संस्कृत के बिना उसमें सामर्थ्य और विकास नहीं आ सकते, न वह गम्भीर विषयों के प्रतिपादन के ही योग्य हो सकती है। किन्तु साथ ही अन्य भाषाओं के भी प्रचलित शब्दों और मुहावरों का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया है। ऊर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों से उन्होंने —लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिंह की तरह—कट्टर विरोध नहीं दिखाया किन्तु साथ ही राजा शिवप्रसाद के समान हिन्दी अक्षरों में उर्दू लिखने को भी उन्होंने ग्राह्य नहीं समझा। इसी प्रकार इंशा के समान अन्य भाषाओं की पुट अपनी भाषा में न आने देने की भी उन्होंने प्रतिज्ञा नहीं की थी लल्लूलाल एवं सदल मिश्र के समान व्रज-भाषा और पूर्वी प्रभाव भी उनकी भाषा में नहीं आया है। इन सब के दोषों से बचकर, और इन सबकी सद् विशेषताओं को लेकर, उन्होंने एक अत्यन्त व्यवस्थित और आदर्श गद्य शैली की प्रतिष्ठा की थी, जिसमें, रुचिरता, मधुरता, गंभीरता के साथ व्यावहारिकता भी पूर्ण मात्रा में है। उनके नाटकों में हिन्दी गद्य का वास्तविक रूप दृष्टिगत होता है। वैसे, विषयानुरूप उनकी कई प्रकार की शैलियां दिखाई देती हैं, किन्तु इन सब में एक मुख्य आदर्श गद्य का रूप है, जो आगे लेखकों द्वारा गृहीत हुआ। भारतेन्दु की साहित्यिक मण्डली से भी अनेक उत्कृष्ट गद्य-लेखक निकले। उन लोगों की शैली में मुख्यतः भारतेन्दु के आद

का ग्रहण होने पर भी अपनी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं हैं, कई लेखकों की तो विषयानुरूप दो दो, तीन तीन, शैलियां हैं। भारतेन्दु का ध्यान गद्य की रूप-प्रतिष्ठा की ओर जैसे गया था, वैसे ही साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति की ओर भी गया था। फलतः उनके युग मे साहित्य के अनेक अंगों की पूर्ति के प्रयत्न हुए। पद्य-रचना तो अब भी व्रजभाषा मे ही होती थी, किन्तु गद्य के अनेक अंगो का विकास करने का प्रयत्न किया गया। भारतेन्दु स्वयं कवि थे, एक उत्कृष्ट नाटककार थे, आलोचक और प्रबन्धक भी किसी हद तक थे। उन्होंने प्रधानतया नाटक लिखे। नाटकों के विविध विषय हैं, जिनमें सामाजिक समस्याओं से लेकर स्वदेशीय समस्याएं भी चित्रित हुई हैं। इतिहास भी उनके नाटकों का विषय बना है। इनके अतिरिक्त इनकी मण्डली मे अनेक नाटक-कार, कहानी उपन्यास लेखक, आलोचक, प्रबन्ध लेखक, आदि हुए, जिन्होंने गद्य-साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति की चेष्टा की। उनके साथ ही दैनिक, मासिक, साप्ताहिक आदि पत्र व पत्रिकाएं भी बहुत निकलीं। इस प्रकार से, भारतेन्दु युग में, जहां खड़ी बोली-गद्य के एक आदर्श रूप का निर्माण होता है, उसकी प्रतिष्ठा होती है, उसके प्रचार के लिए आन्दोलन होता है, वहां गद्य-साहित्य के विविध अंगों की रचना भी इस काल में प्रारब्ध हुई। जीवन के विभिन्न विषय साहित्य मे स्थान पाते रहे।

किन्तु, इतना कुछ हो जाने पर भी इस काल में हिन्दी-गद्य के विकास के संबंध में कुछ त्रुटियां रह जाती हैं। इस समय गद्य के आदर्शरूप की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी, उसमें व्याकरण-व्यवस्था नहीं थी, व्याकरण-संबन्धी नियम स्थिर नहीं किये गये थे। पदावली अपरिष्कृत थी। शब्दों के रूप-निर्माण लेखक-गण यथेच्छ कर लेते थे। विभक्ति, विशेषण, क्रिया, प्रत्यय आदि लगाने बनाने के नियम नहीं बन पाये थे, शब्द भी अपरिष्कृत रूप में आते थे, कर्कशता की मात्रा विशेष थी मधुरता और कोमलता पर्याप्त-मात्रा में नहीं थी। साथ ही, उसमें विराम-चिह्नों आदि की भी कोई व्यवस्था नहीं थी, इससे वाक्यों का संबन्ध बिठाने में बड़ी कठिनाई थी। शैली-निर्माण हो जाने पर भी, शुद्धता, व्यवस्था और परिष्कार की कमी पूरी नहीं होती। साहित्य में भी विविध अंगों की रचना होने लग पड़ने

पर भी, उनमें गम्भीरता, विविधता और आधुनिक दृष्टिकोण का अभाव था। उस समय गद्य में वस्तुतः विदग्ध-साहित्य बनता है, गम्भीर साहित्य का निर्माण नहीं होता। ये सब कमियां आचार्य श्री द्विवेदी जी के काल में पूरी होती हैं।

द्विवेदी जी ने सरस्वती-पत्रिका के सम्पादन काल में हिन्दी की सेवा का ही ध्येय रखा। भाषा-विषयक त्रुटियों की पूर्ति उनका लक्ष्य बना उन्होंने सरस्वती में आलोचना-प्रत्यालोचनाएं करके, लेख निबन्ध आदि लिख-कर, भाषा-विषयक दोष दिखाने का कार्य किया। साथ ही व्याकरण के नियम भी निर्धारित किये, औचित्य, तर्क और पाण्डित्य के बल पर। विराम-चिन्हों आदि की व्यवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट किया और उसकी व्यवस्था भी बनाई। लेखकगण अब शुद्धता, व्यवस्था और परिष्कार की ओर विशेष चौकन्ने थे। द्विवेदी जी के काल में ही उनकी प्रेरणा और प्रभाव से हिन्दी का एक बृहद् व्याकरण भी बनाया गया कामता प्रसाद गुरु द्वारा। हिन्दी की पदावली के भी परिष्कार की ओर ध्यान दिया गया। पदावली में संस्कृत का विशेष आश्रय रहा वैसे हिन्दी की पदावली पर, बंगला मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि प्रत्येक का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है। इस कार्य में फारसी का सहयोग भी रहा है। गद्य की इस शुद्धता, व्यवस्था और परिष्कृति के साथ साथ गद्य-साहित्य के सभी अंगों की पूरी पुष्टि हुई। कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, प्रबन्ध आदि कोई भी अंग अछूता नहीं बचा। अर्थ, नीति विज्ञान, दर्शन, धर्म, समाज इतिहास आदि सभी विषय साहित्य में आये। मौलिक रचनाएं भी हुईं, अनुवाद भी बहुत हुए। अनेक प्रकार से हिन्दी-साहित्य की विस्तृति और श्री-वृद्धि करने की ओर ध्यान दिया गया। इस समय एक विशेष बात और होती है, जो इससे पहिले के युग में नहीं हुई थी, खड़ी बोली का इस समय पद्य में भी अधिकार जम जाता है। गद्य और पद्य दोनों में खड़ी बोली का सर्व-सम्मत प्रयोग होने लगता है। इस प्रकार इस युग में गद्य और पद्य की एक भाषा हो जाती है, ब्रज-भाषा-युग समाप्त हो जाता है। इस समय भाषा संस्कृत-

प्रधान, किन्तु अन्य भाषाओं के भी सुप्रचलित शब्दों का ग्रहण करती हुई, मुहावरेदार, भाव-प्रकाशन और भावाभिव्यंजना में समर्थ होती है। किन्तु थोड़ी कर्कशता अब भी रहती है।

इसके बाद के युग में, इसी गद्य में और भी परिमार्जन और परिष्कार आ जाता है, उसमें मधुरता, कोमलता, लक्षणा और अभिव्यंजना की शक्ति विशेष आ जाती है। वह किसी भी बात में कम नहीं रहती। उस पर अंग्रेजी का भी प्रभाव पड़ता है। अभिप्राय यह है कि भाषा-सौन्दर्य की कमी इस युग में पूरी हो जाती है। रूप प्रतिष्ठा, भारतेन्दु काल में और व्यवस्था और परिष्कार द्विवेदी काल में होते हैं. किन्तु सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्य, लक्षण, अभिव्यंजन आदि गुणों का समावेश खड़ी बोली में वर्तमान काल में ही होता है। इस युग में भाषा अपने पूर्ण-यौवन सौन्दर्य में खिल उठती है। उसका साहित्य भी उन्नत होता है। गद्य-साहित्य का निर्माण नवीन पाश्चात्य पद्धति और विचारों से प्रभावित होकर होता है। उसमें मौलिकता की वृद्धि होती है। कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रबन्ध, आलोचना, इतिहास, कोष. व्याकरण, भाषा-विज्ञान आदि सभी अंगों पर विविध, गम्भीर, उच्च कोटि की रचनाएं होती हैं।

हिन्दी-गद्य के विकास को इतने ही युगों में विभक्त किया जा सकता है और येही उपर्युक्त उसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। इसके बाद में तो हिन्दी गद्य के एक अन्य रूप—हिन्दुस्तानी—की कल्पना और होती है। यह कल्पना राष्ट्रीय परिस्थिति की आवश्यकता को देखते हुए कांग्रेस द्वारा की गई थी, किन्तु इसका पूर्णतया ग्रहण न हिन्दुओं ने किया और न अन्य मुस्लिम आदि जातियों ने ही किया। इसमें मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिए फारसी-शब्दों का विशेष प्रयोग होता है, लहजा भी उर्दू के ढग का होता है, अतः इसे यदि उर्दू का ही जरा नर्म रूप कहें तो गल्ती नहीं है। किन्तु अब तो इसका प्रश्न ही नहीं रहा है, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकृत कर लेने पर।

२.—बालकृष्ण भट्ट तथा बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—देखिये साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४ संवत् २००५ प्रश्न २ एवं प्रश्न ६ तथा साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४ संवत् २००३ प्रश्न ३ एवं प्रश्न ७।

४.—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"

इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—"गद्य' कवीनां निकषं वदन्ति" के आधार पर कही गई श्री शुक्ल जी की यह उक्ति सर्वथा उचित है। कवि में कितना कवित्व या कितनी सामर्थ्य है इसका अन्दाज करने की कसौटी गद्य है। छन्दो-बद्ध काव्य में कवि को संगीत के सौन्दर्य और माधुर्य का सहारा भी रहता है। अवश्य ही छन्दोबद्ध या संगीत-बद्ध भावों में चमत्कार की मात्रा विशेष हो जाती है। गद्य में कवि के लिए वह सहारा नहीं रहता। वहां तो कवि को संगीत-रहित गद्य में ही अपना कवित्व दिखाना पड़ता है। गद्य भी यदि वह वैसी ही रोचक, कोमल, मधुर और संगीतमय सी लिख सकता है, जिससे कि उसका कवित्व चमक उठे, तब तो वह सत्कवि है उसमें वास्तविक कवित्व-सामर्थ्य है, अन्यथा नहीं। अतः कवि की कवित्व शक्ति को देखने की कसौटी गद्य है। इसी प्रकार निबन्ध गद्य की कसौटी है। नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्य आदि में कथा या कवित्व-जन्य स्वारस्य रहता है, भाषा यदि परिमार्जित न भी हो, तब भी अखरती नहीं, उस रस में वह दोष डूब जाता है। किन्तु निबन्ध में ऐसा कोई भी रस नहीं रहता। वहाँ तो लेखक को प्रधानतया अपनी वर्णन शैली या विषय की रोचकता पर ही प्रधानतया निर्भर करके चलना पड़ता है। उसमें किसी वर्णनीय विषय के वर्णन की, किसी निरूपणीय विषय के निरूपण की, किसी आलोच्य विषय के आलोचन की, किसी चित्रणीय विषय के चित्रण की, अद्भुत सामर्थ्य होनी चाहिये, तभी वह अपने निबन्ध को आकर्षक और रोचक बना सकेगा। किन्तु ये सामर्थ्यें होने पर भी प्रबन्ध लेखक का यदि अपनी गद्य पर पूर्ण स्वत्व

का अधिकार नहीं होगा, तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। उसकी भाषा सामर्थ्यवती होनी चाहिये, उसमें वर्णन, चित्रण अभिव्यञ्जन आदि के साथ भाषा-सौन्दर्य की भी प्रचुर मात्रा होनी चाहिये, तभी निबन्ध पूर्णतया चमत्कार कर सकेगा। अतएव कहा गया है कि निबन्ध गद्य की कसौटी है, क्योंकि निबन्ध में पता लग जाता है कि लेखक का अपनी गद्य भाषा पर कितना अधिकार है।

उपर्युक्त गद्य विषय की विशेषता शुक्ल जी की गद्य में पूर्णतया उपलब्ध होती है। शुक्ल जी अधिकतया एक उत्कृष्ट कोटि के समालोचक, इतिहास-लेखक एवं विचारक हैं। इनके विषय गम्भीर होते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास एवं आलोचन से लेकर गंभीर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर इन्होंने बड़े बड़े ग्रन्थ और निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्ध चिन्तामणि नाम से कई भागों में संग्रहीत हैं। उनके विषय प्रधानतया गंभीर-चिन्तन-पूर्ण हैं। अतएव उनके निबन्ध विचारात्मक और आलोचनात्मक श्रेणी में आते हैं। विचार-गाम्भीर्य, विचार-बाहुल्य और विचार-उच्चता उनकी प्रमुख विशेषता है विचार प्रत्येक पैरे में खूब ठूंस ठूंसकर भरे होते हैं। एक भी वाक्य व्यर्थ का नहीं होता। विचार एवं तर्क क्रमश शृंखला-बद्ध चलते हैं। शुक्ल जी लेखिनी उस समय उठाया करते थे, जब इनके मस्तिष्क में किसी विषय पर विचार इतने संग्रहीत हो जाते थे, कि उनको व्यक्त किये बिना वे रह नहीं सकते थे। उस समय वे विचार क्रम-बद्ध, शांत भाव से, स्वाभाविक रूप से, ऐसे व्यक्त होते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है मानो कोई स्वयं ऊंचे ऊंचे विचार कर रहा हो। विचारों के इस स्वाभाविक प्रकाशन से, पाठक को उनके समझने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। जहां कहीं साधारण पाठक के लिए कुछ दुरूहता उनमें प्रतीत होती भी है, वह प्रधानतया विचारों की उच्चता और गहनता के कारण ही है। शुक्ल जी बड़े प्रकाण्ड पण्डित, अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। अतएव उनके निबन्धों में भी उनका यही गम्भीर विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व प्रति-फलित हुआ है। उनके निबन्ध गम्भीर और उच्च कोटि क विचारात्मक निबन्धों के आदर्श-भूत हैं।

उनकी गद्य-शैली भी उनके विषयानुरूप अत्यन्त गम्भीर है। वाक्य बड़े बड़े होते हैं, पर उनमें असम्बद्धता नहीं मिलती। वाक्य-योजना अत्यन्त सुगठित और व्यवस्थित है। आवश्यकतानुरूप छोटे छोटे वाक्य भी शुक्ल जी लिखते हैं। किन्तु प्रधानता विषय की गम्भीरता के अनुसार बड़े बड़े वाक्यों की ही होती है, जिन्हें समझने में पाठक को विशेष बाधा नहीं होती। शैली अत्यन्त संक्षिप्त होती है, किन्तु विषय की विशदता और स्पष्टता कहीं नहीं छूटती। शुक्ल जी अधिक से अधिक और गम्भीर से गम्भीर विचारों को भी संक्षिप्त और स्पष्ट, शुद्धता-पूर्ण शैली में व्यक्त करने में पूरे सिद्धहस्त हैं। वे समासशैली के पक्षपाती हैं, किन्तु विषय की स्पष्टता के लिए व्यास शैली को भी अपनाते हैं। किसी विषय की सिद्धि या उसका खण्डन करने के लिए ये तर्कों की शृंखला बाँध देते हैं और अन्त में बड़ी स्वाभाविक गति से, बिना परिश्रम के पाठक को निष्कर्ष पर पहुँचा देते हैं। ये पूर्व कुछ एक पंक्तियों में विषय का साधारण संक्षिप्त रूप देकर, फिर उसकी विशद व्याख्या में प्रवृत्त हो जाते हैं। भाषा पर इनका पूर्ण स्वत्व है, वह इनके तर्कों, विचारों एवं प्रतिभा का पूर्णतः उपयुक्त वाहन है। उसमें अर्थ को समासतः और स्पष्टतः अभिव्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है। उसमें भाषा-गत कृत्रिम सौन्दर्य, बाह्य तड़क भड़क चाहे नहीं है, परन्तु वह अत्यन्त स्वाभाविक, तथ्य-वर्णनात्मक और अत्यन्त सामर्थ्य-वती है। विषय के निरूपण, वर्णन, एवं आलोचन में इनकी गद्य भाषा विषयानुरूप होकर चलती है। उसमें शिथिलता, अव्यवस्था नहीं है। विषय का स्पष्ट स्वरूप उपस्थित करती है। किसी श्रेष्ठ गद्य की, लक्षणाव्यञ्जनात्मक विशेषता, गठन एव व्यवस्था उसमें पूर्णतया मिलती है। गंभीर से गंभीर और उच्च से उच्च विषय में भी उसकी गति निर्बाध रहती है, कुण्ठित नहीं होती। अतः शुक्ल जी, जैसे, गंभीर विचारात्मक निबन्ध लिखने के लिए सर्व-प्रसिद्ध हैं, वैसे ही गंभीर कोटि की अत्युत्कृष्ट और सामर्थ्य-शालिनी गद्य भाषा लिखने के लिए भी प्रख्यात हैं।

विषय की इस उच्चता, गभीरता और भाषा की इस सामर्थ्य के स्वर्ण-संयोग से शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक श्रेणी के आदर्श-भूत हैं। इस श्रेणी में इनसे अच्छा निबन्ध-कार अन्य कोई नहीं माना जाता। निबन्ध-

साहित्य में इनके निबन्धों का, अपने क्षेत्र में, सर्वोच्च स्थान है। वे हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति हैं, जिसके बल पर हिन्दी-निबन्ध-साहित्य किसी भी उन्नत भाषा के निबंध-साहित्य की प्रतिस्पर्द्धा कर सकता है।

अथवा

निम्नलिखित किन्हीं दो निबन्धों में व्यक्त लेखक के प्रधान विचारों की समीक्षा कीजिए—

(क) लोभ और प्रीति, (ख) कविता क्या है, (ग) साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, (घ) काव्य में प्रकृति-दृश्य।

उत्तर—(क लोभ और प्रीति, लेखक के मत से एक ही वृत्ति के दो नाम हैं। उनका अनुभूति क्षेत्र, विकास का क्रम, विकास आदि एक ही ढंग के हैं।

केवल अपने विषय के आधार से दोनों के दो नाम पड़ते हैं। किसी आनन्द-दायक अथवा सुन्दर वस्तु के अभाव में उसकी प्राप्ति की इच्छा और प्राप्त हो जाने पर उसकी रक्षा की भावना से ही दोनों का उदय होता है। दोनों का मूल एक है, दोनों के चिन्ह और स्वरूप प्रायः एक से हैं। आगे शुक्ल जी ने इस लोभ वृत्ति और प्रीति का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है।

किसी सुन्दर वस्तु की प्रशंसा सुनकर, उसके अभाव में उसकी प्राप्ति की इच्छा होना लोभ का उदय है। उस आकर्षक वस्तु को प्राप्त करने या उसका सामीप्य प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होती है। जब वह मिल जाती है, तो फिर उसको लोभी जाने नहीं देना चाहता, उसकी रक्षा की चिन्ता उसे हो जाती है। इन दोनों ही रूपों में लोभ की वृत्ति प्रकट होती है। किन्तु प्रीति के विपरीत यह लोभ वृत्ति सामान्य के प्रति होती है। जिसको रुपये का लोभ है, उसे वह किसी भी रूप में मिल जाय, नोट रूप में, रेजगारी के रूप में, उसके लिए कोई अन्तर नहीं। यह सामान्य वृत्ति है। किन्तु कुछ लोग केवल सिक्का ही चाहते हैं, साक्षात् रुपया, यह उनके शौक में या रुचि में समाविष्ट हो जाता है। किसी को स्त्रियों का लोभ है, उसे सुन्दर असुन्दर कैसी भी स्त्री मिल जाय, प्रसन्न होगा। किन्तु किसी को किसी एक

विशिष्ट की ही चाहना है, वह लोभ नहीं प्रीति होगी। प्रीति सदैव विशेषोन्मुख होगी। कोई सिगरेट का लोभी है तो वह प्रत्येक प्रकार की सिगरेट ले लेगा, वह लोभ है। किन्तु कोई प्लेयर या कैंची ही चाहता है, वह भाव लोभ के अन्दर नहीं आयेगा, वह उसकी ललक या शौक ही कहलायगा। यह लोभ की साधारण वृत्ति है। किन्तु जहां यह बढकर अन्यों के लिए कष्टप्रद हो जाती है अथवा अन्यों के स्वार्थ में व्याघात करने लगती है, तब निन्दनीय बन जाती है। रुपये का लोभ सभी को होता है, क्योंकि रुपया आराम और सुख का सबसे प्रधान साधन है, अतः सभी, उसके स्वरूप मे कोई विशेष सौन्दर्य और आकर्षण न होने पर भी, उसके लिए लालायित रहते हैं। किन्तु जब यह लोभ इतना बढ जाय कि उसके सामने मानव की अन्य समस्त सद्‌भावनाएं दब जाय, तो वह लोभ वृत्ति अधम है। ऐसा लोभी वस्तुतः मृतवत् है। उसके लिए साध्य पैसा ही हो जाता है। स्वार्थ की यह अतिमात्रा, जो कि अन्यों के स्वार्थ की हानि करने लगती है, वस्तुत लोभी की निन्दा का कारण बनती है। लोभी अपने लोभ की वस्तु को यदि पूर्णत. अपने लिए ही न चाहे, अन्यों को भी अवकाश दे, तो वह निन्दनीय नहीं रहता। कोई उस सुन्दर वस्तु पर इतना अधिकार चाहता है कि जितना और चाहते हैं और कोई इतना कि अपना एक स्वत्व। इन दोनों ही भावनाओ से अन्तर आ जाता है। लोभ की वस्तु मिल जाने पर भी कोई उसे अपनी छाती के नीचे ही दबाकर रखना चाहता है और कोई दूसरे के द्वारा भी उसकी रक्षा मे कोई हानि नहीं समझता। कोई अपने बागीचे में सैर करने का अपना ही अधिकार मानता है और कोई सबको भी अधिकार देना चाहता है। लोभ का पहिला रूप निन्दा या संघर्ष का कारण बनता है और दूसरा नहीं। घर, अपने मुहल्ले, गांव, देश आदि का लोभ इसी प्रकार का होता है। इनकी व्यक्ति रक्षा चाहता है. क्योंकि वे उस को प्रिय हैं, इसलिए वह इनका लोभी है। किन्तु इस वृत्ति में यदि इतना स्वार्थ आ जाय कि अन्य घर, गांव, देश आदि के अहित करने पर उतर आय, तो यह निन्दनीय है। जिनका विश्व ही अपना है, उनमें दृष्टिकोण का यह संकोच नहीं होता, अतएव वे संघर्ष का कारण नहीं बनते। एक

लोभ में प्रतिहिंसा की भावना भी हो जाती है। ऐसा लोभी किसी लोभ की वस्तु को, अपने को मिलती न देखकर, इसलिए तोड देता है कि वह किसी और को भी न मिले, यह सच्चा लोभ नहीं। सच्चा लोभ अपने लोभ की वस्तु को नष्ट नहीं देखना चाहता, वह उसे जहा कही भी वर्तमान देखना चाहता है। किसी को ऐतिहासिक स्थानों से बहुत प्रेम है, वह उनका सान्निध्य या लाभ चाहता है, पर उसे यदि वे स्थान प्राप्त नहीं होते, तो वह उन्हे नष्ट नहीं करना चाहता, वह उन्हे देखकर ही प्रसन्न रहना चाहता है। श्रेष्ठ लोभ ऐसा ही होता है।

श्री शुक्ल जी का यह लोभ का मनोवैज्ञानिक विवेचन यथा-तथ्य है। लोभ की वृत्ति के उद्गम, विकास और स्वरुप बिलकुल ऐसे ही होते है। लोभ की सीमा है, जिसके अन्दर वह बुरा नहीं गिना जाता और जिससे बाहर निकलने पर वह निन्दा की कोटि मे पहुंच जाता है।

प्रीति के भी मूल उद्गम, विकास और उसकी व्यजक वृत्तियां आदि इसी प्रकार के होते हैं। किसी सुन्दर गुण-शाली को सुनकर अथवा देखकर उसकी प्राप्ति की या उसके सामीप्य की इच्छा उदित होती है। उस पर प्रेमी अधिकार चाहता है। परंतु यह अधिकार जब औरो के अधिकारो पर कुठाराघात करता है तो संघर्ष का कारण बनता है। इसी प्रकार, उसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी जब वह उस पर अपना ही अधिकार चाहता है, तो संघर्ष का उदय हो सकता है। किंतु यह वृत्ति विशेषोन्मुख है। जब केवल स्त्री-मात्र के प्रति आकर्षण होता है, आज एक से, कल दूसरी से और परसों तीसरी से प्रेम होने लगे तो वह व्यभिचार है, प्रेम नहीं। प्रेम तो एक ही से होता है, उसके सामने अन्य कोई नहीं रुचती। यह इस रूप मे लोभ के विपरीत है। लोभ सामान्य के प्रति होता है और प्रीति विशेष के प्रति। लोभ और प्रीति साहचर्य से और भी विकसित होते है वस्तु या प्रिय को पा लेने पर और भी अधिक उसकी रक्षा की चिंता रहती है असंतोष रहता है। इस प्रकार प्रीति लोभ से भिन्न वृत्ति नहीं ठहरती। विषय-भेद से, किसी वस्तु के प्रति आकर्षण या उसकी प्राप्ति की इच्छा को लोभ कह दिया जाता है और किसी व्यक्ति की प्राप्ति की इच्छा को प्रीति कहा जाता है। नहीं तो, मूलतः

दोनों में कोई अंतर नहीं। अंग्रेजी के 'लव' शब्द, सैक्सन शब्द 'लुफु' एवं लैटिन शब्द 'लुबेट' संस्कृत के 'लुभ्' शब्द का ही अपभ्रंश हैं। यह भी लोभ और प्रीति की एकता को ही सूचित करता है

किन्तु इन दोनों में थोड़ा अन्तर भी होता है। लोभ में केवल लोभी का ही एक हृदय-पक्ष काम करता है, लोभ की वस्तु जड़ होती है, उसके हृदय नहीं होता, पर प्रीति में प्रेमी और प्रिय दोनों हृदय- सम्पन्न व्यक्ति हैं। प्रेमी जैसे स्वयं प्रेम करता है, वैसे ही वह यह भी चाहता है कि प्रिय भी उसको प्रेम करे। इसीलिए वह प्रत्येक चेष्टा करता है अपने चरित्र और रूप को प्रिय की आंखों में ऊँचा दिखाने के लिए, जिससे कि वह भी उसे प्रेम करे। काव्यों में प्रिय को प्रसन्न करने के लिए प्रेमी के अनेक साहसिक और वीरता के एवं अद्‌भुत सामर्थ्य के कृत्यों का वर्णन होता है। क्योंकि इस प्रकार से दोनों ओर प्रेम उत्पन्न होने पर ही वास्तविक आदर्श प्रेम का परिपाक होता है, नहीं तो यह प्रेमाभास ही होता है, सत्य नहीं। इस प्रीति के कई रूप होते हैं, जिनमें सभी प्रशस्य नहीं होते। एक प्रेमी प्रेम से मस्त बना प्रिय की प्रसन्नता के लिए जगत में बड़े बड़े कृत्य करता है, जैसा कि वीरगाथा के काल-काव्यों में मिलेगा। यह प्रेम का बड़ा क्रिया—शील रूप है। यह प्रेम का उदात्त रूप है। प्रिय की प्रसन्नता में ही प्रेमी का व्यक्तित्व लीन हो जाता है, उसकी प्रसन्नता को ही वह अपनी प्रसन्नता मानता है। पर कहीं वह प्रिय की प्राप्तिके अभाव में जगत्‌से नाता तोड़कर विरहमें बीमार बनकर घर में पड़जाता है। यह रूप निकृष्ट है। प्रिय न मिले, तो कोई उसके लिए एक प्रेमी युद्ध करने पर उतारू होता है। प्रिय के न चाहने पर, प्रेम में प्रति-हिंसा की भावना सच्चे प्रेम का रूप नहीं। प्रेमी इस प्रतिहिंसा में प्रिय का विनाश करता है, तो यह उसका जघन्य रूप है। किन्तु कोई प्रेमी प्रिय के न चाहने पर अथवा उसके मिलने की असंभावना में, अपने स्वार्थ को छोड़ कर, उसको जहाँ कहीं भी हो, सुखसे देखना चाहता है। प्रेम का यह नि-स्वार्थ उच्च भूमितक उत्थान अत्यन्त उज्ज्वल और सात्विक प्रेम का उदाहरण है। प्रेम की यह वृत्ति रूप-सौन्दर्य से भी उत्पन्न होती है और साहचर्य से भी। साहचर्य-जन्य प्रेम के लिए कभी कभी सौन्दर्य भी अपेक्षित नहीं रहता।

साहचर्य से उत्पन्न यह प्रेम अधिक स्थायी प्रभाव रखता है। सौन्दर्योद्-गत प्रेम भी साहचर्य प्रेम में परिणत हो जाता है। साहचर्य-प्रेम वियोग के समय अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है।

लोभ और प्रीति की सबसे बड़ी विशेषता, जो अन्य क्रोध आदि की भावनाओं में नहीं मिलती, है कि इसमें प्रिय के होने पर अन्य प्रकार की और न होने पर अन्य प्रकार की चेष्टाएं होती हैं। अन्य भावनाओं में ऐसा नहीं होता। इसीलिए श्रृंगार के संयोग और वियोग में दो प्रकार की आनन्द-सूचक और दुःख-सूचक चेष्टाएं होती हैं। यह विशेषता लोभ और प्रीति में ही होती है।

लोभ और प्रीति का यह एकत्व-विवेचन प्रायः सत्य है। दोनों वृत्तियों का उद्भव एक ही मूल वृत्ति से होता है। एक का विकास किसी रूप में होता है और एक का किसी रूप में। दोनों के आदर्श और निकृष्ट दोनों रूप हैं। प्रेम का रूप अधिक उदात्त होता है। किन्तु लोभ वृत्ति भी कुछ हद तक अपने क्षेत्र में प्रशस्य है। दोनों की सीमाएं और आदर्श हैं। लेखक का इस विषय में मनो-वैज्ञानिक विवेचन अनुभूति, विचार और तर्क पर समाश्रित है। अतः वह सत्य है और स्वभाव-सिद्ध है।

(ख) श्री शुक्ल जी ने इस प्रबंध में कविता का निरूपण किया है। कविता का लक्षण क्या है, उसका कारण क्या है, उसकी शक्ति क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है और उसकी आवश्यकता क्या है आदि प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

'कविता क्या है?' का उत्तर उन्होंने दिया है कि हृदय की मुक्त दशा की साधिका वाणी कविता है। अपनी सीमाओं में बंधे व्यक्ति का हृदय अपने क्षेत्र की सीमा में आबद्ध होता है वह उससे बाहर का अनुभव नहीं करता। अतः वह अपनी सीमाओं में बंधा हुआ मुक्त नहीं है। मुक्त तो वह तब होगा, जब वह अपनी स्वार्थ-मूलक संकुचित सीमा से निकल कर, अपने से भिन्न सृष्टि या उसके व्यापारों का अनुभव करे, तब उसे अपनी

स्वार्थ-सीमाओं के बन्ध से मुक्ति मिलेगी। कविता यही कार्य करती है। कविता व्यक्ति से भिन्न सृष्टि का भी अभिव्यंजन करती है, जो साधारणरूप में अनुभूत होता है। वहां व्यक्तिगतता नहीं रहती। नाटक में दर्शक और श्रव्यकाव्य में श्रोता दोनों उस काव्यगतजीवन के चित्रण के रस में अपनी व्यक्तिगतता को खोकर, विमुग्ध हो जाते हैं। वे अपने को भूल जाते हैं। यही हृदय की मुक्तदशा है। वह उस समय अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त होकर अपने से भिन्न जगत् के क्रिया व्यापारों और अनुभूतियों का अनुभव करता है। कविता हृदय की इस मुक्त-दशा की साधिका है। अतः लक्षण समुचित है। शुक्ल जी ने हृदय की इस दशा को भावयोग बताया है, जो वस्तुतः ठीक है। साहित्य शास्त्र में इस दशा को योग समाधि से कम नहीं माना गया है। समाधि में ध्यान करने वाला लुप्त हो जाता है, केवल ध्येय और उसका ध्यान ही अवशिष्ट रहते हैं त्रिपुटी में से केवल द्विपुटी रह जाती है। रस दशा में भी यह स्थिति है। वहां भी सहृदय या दर्शक अथवा श्रोता का लोप हो जाता है, या तो नाटकीय कार्य व्यापार सामने रहता है और या उसका प्रत्यक्ष अनुभव, देखने वाला नहीं रहता। अतः उसे भावयोग ठीक ही कहा गया है इसको ज्ञान-योग और कर्म-योग के समकक्ष बताया जा सकता है, जैसे कि शुक्ल जी ने बताया है, किन्तु उद्देश्य और विषय के कारण, जो अन्तर हो सकता है, वह तो रहता ही है। हां दशा या अनुभूति की अवस्था उभयत्र अवश्य समान है। इस भाव-योग की आवश्यकता आगे बताई गई है, लेख में। इस अवस्था से शुक्लजी के मत से हृदय के मूल भावों का व्यायाम होता है। मूलभाव वे भाव हैं, जो सृष्टि के प्रारंभ से मनुष्य समाज को प्रभावित करते आये हैं। प्रकृति अथवा सृष्टि—जड़ और चेतन—में अनन्त व्यापार, अनन्त चेष्टाएं और रूप हैं। मानव-हृदय में भी अनन्त भाव हैं, जो सृष्टि के उन उन रूपों से आबद्ध हैं, उनके साथ उनका नित्य सम्बन्ध है। कुछ रूप उसे पसन्द हैं, कुछ को वह बुरा समझता है। अतएव इन मूल भावनाओं में और सृष्टि के उन रूपों में बार बार सम्बन्ध कराते रहने से, हृदय के वे मूल भाव सबल

रहते हैं, मानव को जगत के समष्टि रूप से तादात्म्य का अनुभव होता रहता है। वह वन पर्वत, नदी, और जीवन के अनेक व्यापारों रूपों पर लुभाता आया है। आज भी, यद्यपि सभ्यता के नवीन आवरण में, हमारा जीवन कृत्रिम सा बन गया है, ये वस्तुएं मानव सृष्टि को आकर्षित करती हैं। इनके प्रति हृदय में मूलगत भावनाएं हैं, जो स्थायी हैं। कविता इन्हीं मूल भावनाओं को जागृत करती है, तदनुकूल जीवन का चित्रण उपस्थित करके। इस मूल भाव के जागृत होने पर, मानव के अन्तर्जगत् अथवा भाव-क्षेत्र का बाह्य जगत् से एकत्व स्थापित होता है, जो मानव की भावात्मक सत्ता के विकास में परम सहायक है। मानव के भाव,जगत् का संकुचित सीमाओं में विकास सम्भव नहीं, उसका भाव-पक्ष जड़वत् हो जाता है। कविता मनुष्य के इस भाव पक्ष का विकास करती है। अतः मानव-विकास में कविता का विशेष महत्व है।

कविता की शक्ति भी सर्वाधिक शुक्ल जी ने बताई है। सांसारिक सारे कार्य-व्यापारों की प्रेरणा भाव से ही होती है। मनुष्य को बुद्धि प्रेरणा नहीं देती है, उसको केवल सद् असद का ज्ञान-मात्र करा देती है। मनुष्य की प्रवृत्ति तब होती है, जब इच्छा, घृणा आदि भावनाएं उसको प्रेरित करती हैं। तभी मनुष्य की किसी काम में प्रवृत्ति और किसी से निवृत्ति होती है। अतः सिद्ध है कि मनुष्य भाव-प्रेरित होकर काम करता है, विचार या बुद्धि-प्रेरित नहीं। कविता इन भावनाओं को प्रेरणा देती है। अत. इस दृष्टि से कविता की शक्ति विश्वव्यापिनी है, अप्रतिरुद्ध है। वही कर्म-क्षेत्र का विस्तार करती है, व्यवहार की प्रेरणा देती है। यहां शुक्ल जी ने उनके प्रति भी उत्तर दिया है, जो कविता को केवल कल्पनालोक-विहारिणी और अकर्मण्यता का प्रतीक मानते हैं।

इस दृष्टि से कविता मनुष्य को उच्च भाव भूमि-पर पहुंचाती है और उसके हृदय को उसके नैसर्गिक रूप में रखती है, कहीं वह निरा पशु न बन जाय, अपनी स्वार्थ वृत्ति की संकुचितता में पड़कर।

लेखक ने काव्य वर्णित प्रकृति का भी निरूपण किया है। प्रकृति के नर,

नरेतर और समष्टिरूप सचराचर रूपों का कविता में ग्रहण हुआ है। इनमें भी नरक्षेत्र, मानव-वर्णन प्रमुख रहा है। विश्व के काव्यों में मनुष्य-प्रकृति के ही चित्रण की प्रधानता रही है। मनुष्य से भिन्न प्रकृति का भारतीय प्राचीन काव्यों में उद्दीपन रूप में ही ग्रहण हुआ है। नरेतर प्रकृति मानव-चरित्र के विकास का साधन बनकर आई है। अधिकांश में काव्य-परिपाटी यही रही है। इसके अपवाद भी हैं, पर संख्या में समान नहीं। उद्दीपनरूप में कवि प्रधानतः अर्थमात्र का ग्रहण करता है, ऐसी वस्तुओं के नाम गिना देता है, जो प्रकृतभाव के विकास में सहायक हों। यह अश्लिष्ट चित्रण है, जो चित्ररूप नहीं है। इसके विपरीत कवि कभी कभी प्रकृति के प्रति वास्तविक अनुराग की अनुभूति कर, जब उसका पूरा चित्र खींचता है, केवल कमल न कह कर उसके पूरे रूप का चित्र उपस्थित करता है और इस प्रकार उस वस्तु का बिम्ब-ग्रहण कराना चाहता है, तो वह संश्लिष्ट चित्रण होता है, जो चित्र-रूप है। नरेतर प्रकृति को प्रधानतया इन्हीं दो रूपों में कवि ने लिया है। द्वितीय रूप में प्रकृति उसकी रति का साक्षात् आलम्बन है, वहां कवि प्रकृति के अच्छे बुरे, सुन्दर असुन्दर दोनों रूपों का चित्रण करता है, वह दोनों पर मुग्ध है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त कभी कवि दार्शनिक दृष्टिकोण से भी प्रकृति के समष्टिरूप—चराचर रूप—को देखकर, उसमें निगूढ़ जीवन-तथ्य देखता है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति का ग्रहण काव्य में बहुत कम हुआ है। प्रकृति के विषय में उपर्युक्त विचार उपयुक्त हैं। प्रकृति के विषय में काव्यों में ये तीन ही दृष्टिकोण प्रचरित हैं।

भावना या कल्पना का स्थान शुक्ल जी के मत से काव्य में साधन का है। वह काव्य का लक्ष्य नहीं, जैसा कि योरूपीय काव्य के कल्पना-वाद का सिद्धान्त है। शुक्ल जी का मत भारतीय सिद्धान्त पर आधारित है। कल्पना काव्य का आवश्यक अंग अवश्य है, क्योंकि किसी विषय को प्रत्यक्ष आकार देना कल्पना का कार्य है और आकार-कल्पना के बिना भाव-तरंगित नहीं हो सकते। अतः कल्पना काव्य का आवश्यक अंग है। कल्पना कवि में विधायक रूप में होती है, कवि की कल्पना निर्माण करती है अपनी सृष्टि

का, किन्तु सहृदय—काव्य का आनन्द लेने वाले—में यह कल्पना ग्राहक रूप में होती है, यह कवि कल्पना द्वारा उपस्थित चित्र में रंग भर कर उसका ग्रहण करा देती है, कवि कहीं कुछ छोड़ गया हो तो यह उसको भी पूर्ण कर लेती है। कल्पना-विषयक उपर्युक्त विवेचन साहित्य-सम्मत है।

कविता का उद्देश्य केवल मनोरंज ही मानने वाले योरोपीय मत का भी शुक्ल जी ने निराकरण किया है। कविता का उद्देश्य या लक्ष्य मनोरंजन नहीं बन सकता है। काव्य का उद्देश्य तो अपनी बात या स्वगत भाव का आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करना है। मनोरंजन तो सहृदय की चित्तवृत्ति को विचलित न होने देकर एकाग्र रखने का एक प्रबल साधन है काव्य का, वह लक्ष्य नहीं बन सकता। लक्ष्य तो काव्यगत रस या भाव ही है। मनोरजन साधन ही रहता है। यह भी प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार है। कविता का सृष्टि के मार्मिक पक्षों और रूपों के साथ मानव-हृदय का सामञ्जस्य घटित करना प्रमुख लक्ष्य है। कवि जीवन के सुन्दर और असुन्दर दोनों रूपों की अभिव्यंजना करता है। सुन्दर तो सुन्दरतर हो ही जाता है काव्य में, असुन्दर में भी सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है कवि। राम का क्रोध कितना सुन्दर और प्रशस्य है! तदात्म-अनुभूति में सौंदर्य परम सहायक तत्व है। कवि जगत के रूप सौन्दर्य के साथ, भाव और क्रियाके सौन्दर्य की भी अनुभूति कराता है। शुक्ल जी के अनुसार कवि सृष्टि को दो रूपों में ही देखता है—सुन्दर और असुन्दर। इससे भिन्न माप-दण्ड उसके पास अन्य नहीं है। किन्तु प्राचीन मत से शिवता या मंगल-भावना भी उसके साथ लगी रहनी चाहिये, सत्यता भी होनी चाहिये। प्रधानता अवश्य सौन्दर्य की होगी कवि-दृष्टि में, क्योंकि यही धर्म, विज्ञान आदि के शास्त्रों से काव्य की विशेषता है, अन्यथा शिवत्व और सत्यता तो वहां भी हैं ही। कवि के दृष्टिकोण में सौन्दर्य ही प्रधान होता है। किन्तु कवि के उस वास्तविक सौन्दर्य में सत्यता और शिवता भी छुपी रहती हैं। ये तीनों वस्तुतः एक ही तत्व हैं। सत्य ही शिव और सुन्दर हो सकता है। सत्य शिव सुन्दर परस्पर भिन्न नहीं। कवि जगत् को अपने इसी वास्तविक सौन्दर्य के दृष्टि-कोण से देखता है। इसी कारण वह असौन्दर्य में सौन्दर्य भी देखता है।

शुक्ल जी का कवि के दृष्टिकोण के विषय में मत अतएव मान्य है।

शुक्ल जी ने चमत्कार-वाद का भी खण्डन किया है। जो केवल चमत्कार को ही काव्य का सर्वस्व मान कर चलते हैं, उनके मत को निराधार सिद्ध किया है। चमत्कार—उक्तिचमत्कार—मनोरंजन का साधन और अत एव काव्य की प्रभाव-वृद्धि में सहायक तत्व है। वह काव्य का सर्वस्व नहीं बन सकता। कोरे चमत्कार से भरी उक्ति सूक्ति ही कहलायगी, काव्य नहीं।

काव्य-भाषा के विषय में भी शुक्ल जी ने विचार व्यक्त किये हैं। काव्य-भाषा में जितनी लाक्षणिकता होगी, उतनी ही उसमें चित्रण-शक्ति होगी। कविता में तो निराकार को साकार रूप दिया जाता है, अतः लाक्षणिकता आवश्यक है। दूसरी विशेषता यह है कि कवि अपने चित्रण के लिए, सामान्य सूचक या जातिवाचक शब्दों को नहीं लेता, विशेषता-सूचक या व्यक्तिवाचक शब्दों को लेता है। क्योंकि चित्रण में सामान्य-सूचक शब्दों का प्रयोग कैसे हो सकता है? चित्र तो विशेष ही का होता है। अतः व्यक्तिवाचक शब्दों द्वारा ही विशिष्ट चित्रण वह करता है। तीसरी विशेषता वर्ण-विन्यास की है। वर्ण-विन्यास अत्यन्त सुन्दर और संगीत-पूर्ण होना चाहिये। चौथी विशेषता नाम-चयनकी है। नाम-चयन भावानुकूल होना चाहिये—कृष्ण, हरि, गोपाल, गिरिधर आदि एक ही व्यक्ति के विभिन्न गुणों के सूचक नाम हैं। इनमें से जैसा भाव हो उसके अनुकूल चुनाव होना चाहिये। इससे चित्रण में गहनता और स्पष्टता आती है। उपर्युक्त तत्व किसी भी स्तुत्य काव्य-भाषा के स्वाभाविक गुण हैं।

अलंकारों का शुक्ल जी काव्य में गौण ही स्थान मानते हैं। वह काव्य की शोभा बढ़ाने वाला एक साधन मात्र है। जो लोग अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले हैं, उनके मत का खण्डन होता है। क्योंकि अलंकार ही अलंकार्य नहीं बन सकता। अलंकार्य तो काव्यगत रस या भाव है। अलंकार साधन हैं, अतः साध्य नहीं बन सकते। इस विषय में शुक्ल जी के विचार शास्त्र-सम्मत हैं।

कविता को किसी विशिष्ट व्यक्ति के मनोरंजन का साधन बनाना धन

के लोभ से अथवा अन्य किसी लालच से, शुक्ल जी के मत में, उसके साथ अत्याचार है। क्योंकि कविता तो स्वतंत्र विषय है। स्वांतः सुखाय वह तो लिखी जाती है, परांतः सुखाय नहीं। अतः किसी राजा महाराजा के मनोरंजन का अंग बनाकर कविता का अपमान करना है।

अन्त में शुक्ल जी ने कविता की आवश्यकता का बड़े प्रबल शब्दों में वर्णन किया है, जो समुचित है। आवश्यकता के विषय मे ऊपर भी विचार देकर, अन्त मे इन्होंने स्पष्ट किया है कि अपनी जटिल समस्याओं में पड़कर मानव अपने मन के प्राकृतिक सामञ्जस्य को भूल जाता है, उसका हृदय भाव-प्रवण न रहकर शुष्क होने लगता है, अत उसको प्रकृत दशा मे बनाये रखने के लिए कविता की सदैव आवश्यकता है। अतएव कविता प्रत्येक जाति के इतिहास में प्रचुरतया उपलब्ध है। उसकी शक्ति को संसार मानता है, नतमस्तक होकर।

कविता क्या है, नामक लेख में श्री शुक्ल जी की विचार-धारा काव्य के उपर्युक्त विषयों को ही स्पर्श करती हुई चली है। ये विचार काव्य विषयक परिपक्व ज्ञान के सूचक हैं और अधिकत. प्राचीन साहित्य–सिद्धान्तो के ऊपर निर्धारित हैं।

(ग) साधारणी-करण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद लेख मे, लेखक ने साधारणीकरण के भारतीय सिद्धान्त का निरूपण किया है, उसका समर्थन किया है और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का निराकरण किया है। साधारणीकरण का मोटे-रूप में शुक्ल जी ने यह स्वरूप समझाया है कि कवि के भाव केवल उसीकी व्यक्ति-गत अनुभूति का विषय नहीं हो, अपितु उनकी अनुभूति सब लोग करते हैं, जो भी उसकी कविता का आनन्द लेते है। अतः कवि अपने भावों को ऐसा ही सर्व-साधारण का रूप देकर कविता में रखता है कि जिसे सब लोग निर्बाध अनुभूत कर सकें। यही भावों का साधारणीकरण है। यह साधारणीकरण भारतीय रस प्रक्रिया का आधार-भूत तत्व है। इसके बिना रसदशा नहीं हो सकती। काव्य-जगत् व्यक्तिगतता से रहित, अलौकिक जगत् होता है, उसमें चित्रित लोक-जीवन, लोक का होते हुए भी अलौकिक

होता है। काव्य मे विशिष्ट व्यक्तियों का ही चित्रण होता है, क्योंकि चित्रण विशेष वस्तु का ही संभव होता है, सामान्य, जो कि अमूर्त या निराकार होती है, का नहीं। किन्तु काव्य-वर्णित विशिष्ट व्यक्ति-या व्यापार, जब-तक अपनी विशेषता को छोड़कर साधारणता का ग्रहण नहीं कर लेते, तब-तक रसानुभूति सभव नहीं। काव्य के विभाव, अनुभाव, आलम्बन, स्थायी भाव, आदि जबतक साधारण बनकर सहृदय के सामने नहीं आयेंगे, जबतक सहृदय का विशेष ज्ञान कि ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं, उसके हैं अथवा उसके नहीं हैं आदि है तब तक उसे रसानुभूति नहीं होती। दूसरे के भाव का दूसरे को अनुभव कैसे हो? जिस समय सामाजिक को रस-प्रतीति होती है, उस समय उसका विशेष ज्ञान लुप्त हो जाता है, उसका अपना व्यक्तित्व भी भूल जाता है और इन भावों का अपने पराये होने का विशेष ज्ञान भी लुप्त होता है। उस समय ये भाव एक साधारण रूप में प्रतीत होते हैं, जिससे कि वे सर्व-साधारण की अनुभूति के योग्य होते हैं। यही भावों का साधारणीकरण है। कवि इस साधारणी करण के लिए अपनी व्यञ्जना की शक्ति का आश्रय लेता है। वह अपनी अभिव्यजना प्रणाली से उनको ऐसे साधारण रूप में अभिव्यक्त करता है कि वे सबकी अनुभूति का विषय बन सकें। उसको भाव और विभाव के विधान में विशेष कौशल से काम लेना पड़ता है। भाव के अनुरूप ही विभाव—आलम्बन और उद्दीपन—होना चाहिये, जिससे कि वह अधिक साधारण अनुभूति के योग्य हो सके। बद सूरत और चरित्र-हीन स्त्री किसी को ही प्रिय हो सकती है, सबा को नहीं। इसी प्रकार गुरु-जन के प्रति क्रोध किसी को ही हो सकता है, सब को नहीं। काव्यकार यदि दिखाता है इन भावनाओं को तो वह उनको सर्व-जनों की अनुभूति का विषय बनाने के लिए, उचित कारणों और विशेष परिस्थिति का चित्रण करता है, जिससे कि सब लोग उनका अनुभव कर सकें। जगत् के समस्त व्यक्ति अपनी अपनी विशेषताएं रखते हैं, किन्तु सब में कुछ ऐसी समानताएं भी हैं, जिनके आधार पर उन्हें एक जाति—मनुष्यत्व—से सम्बन्ध रखने वाले एक ही कहा जा सकता है। सब मनुष्य हैं, असंख्य भावों की स्थिति सब के हृदय में समान रूप से मिलती है। कवि अपने कौशल से ऐसी ही भावनाओं

को उत्तेजित करता है, जो सबके हृदय को समान प्रेरणा देती हो। उन सर्व-साधारण भावनाओं को जागृत करने के लिए, वह यद्यपि जीवन का विशिष्ट चित्रण ही उपस्थित करता है, तथापि उस विशिष्ट चित्रण का सर्व-साधारण रूप ही उसको इष्ट होता है। तभी सामाजिक पात्र के हृदय की अनुभूति कर पाता है। उसका हृदय उस समय पात्र के हृदय के साथ एकाकार हो जाता है, उसको अपने व्यक्तित्व का ज्ञान नही रहता, यह भाव-योग की तादात्म्य-दशा अथवा रस-दशा है। रस-प्रक्रिया मे साधारणीकरण विशेष अनिवार्य अंग माना गया है। शुक्ल जी के मत का आधार यही पुरातन सिद्धान्त है, यद्यपि निरूपण की उनकी अपनी विशेषता है।

किन्तु साथ ही वे एक मध्यम रस—दशा का भी वर्णन करते है, जहां सामाजिक पात्र के भाव का अनुभव नहीं करता, अपितु उसके शील या स्वभाव—वैचित्र्य का ही अनुभव करता है। किसी बुरे निन्दनीय पात्र के भाव का सामाजिक को अनुभव नहीं होता। ऐसे पात्र के प्रति उसके मन मे भिन्न भावना रहेगी और वह वही भावना होगी जो कि कवि के हृदय में है और जो कि कवि सामाजिक के हृदय मे उत्पन्न करना भी चाहता है। उस दशा में सामाजिक कवि की अनुभूति का अनुभव करता है, वह जो भी हो। रावण या कुम्भकर्ण के राम के प्रति क्रोध में सामाजिक भाग कैसे लेगा ? उसके प्रति तो उसके मन में अन्य घृणा आदि का भाव होगा। हां, कोई अन्य पात्र यदि रावण का तिरस्कार करे तो अवश्य उसकी अनुभूति सामाजिक को होगी। जहां कवि के भाव का ही दर्शक अनुभव करता है, वहां शुक्ल जी ने मध्यम रस-दशा मानी है। वस्तुत: तो इस दशा का रस नाम ही नहीं होना चाहिये। यह तो भाव—दशा ही है। इस प्रकार के अनेक भाव रस-दशा मे उठते बैठते रहते है। वे भाव नाटक के विभिन्न व्यापारों से उद्‌गत होते रहते हैं। किन्तु उनमे से सभी का प्रधान स्थायी भाव जैसा विकास नहीं होता। वे भाव की कोटि में ही रहते हैं।

भारतीय साहित्य शास्त्र मे रस को ही काव्य की आत्मा माना गया है, उनके मतसे काव्य मे वही प्रधान है। श्रव्य और दृश्य दोनो के विषय मे उनके ये ही सिद्धान्त हैं। किन्तु, पाश्चात्य काव्य—सिद्धान्त में, नाटक मे

व्यक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता दी गई है। शुक्ल जी ने इस मत का खण्डन किया है। और वह खण्डन शास्त्र और तर्क दोनों से सम्मत है। व्यक्ति-वैचित्र्य का अर्थ है, व्यक्ति की विचित्र प्रकृति का ही प्रधानत. चित्रण किया जाय। नाटक में इस मत के अनुसार व्यक्ति—वैचित्र्य ही प्रधान है। किन्तु यह वैचित्र्य रस दशा का कारण नहीं बन सकता नाटक में कारण साधारणी-करण के अभाव में रस दशा कहां? और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद साधारणी-करण के सर्वथा प्रतिकूल है। वह विचित्रता ही क्या जो साधारणीतया मिल जाय? पात्र की विचित्र, विलक्षण प्रकृति, जो सामाजिक में नहीं मिलती, उसके अनुभव का विषय नहीं बनेगी, समानता न होने से। सामाजिक उस भावना में लीन नहीं हो सकेगा। ऐसी वृत्ति के तीन परिणाम होंगे— आश्चर्य-युक्त चित्तप्रसाद (प्रसन्नता), आश्चर्यपूर्ण अवसादन या विषादन (दुःख) और केवल कुतूहल मात्र। भरत जैसे पात्र का अपूर्व आत्म-त्याग, लोक-विचित्र प्रकृति है, किन्तु आश्चर्य के साथ प्रसन्नता का भाव भी रहता है। इस उदात्त भावना का कोई उदात्त सामाजिक अनुभव भी कर लेगा। किसी जल्लाद को अपने जल्लाद-कृत्य पर प्रसन्न होते देख कर, आश्चर्य के साथ साथ विषाद भी होता है, किन्तु उसकी अनुभूति नहीं होती। ऐसा भी होता है कि ऐसी लोकबाह्य या लोकोत्तर अद्भुत प्रकृति का चित्रण किया जाता है, कि वहां न प्रसन्नता होती है, न दुःख, केवल कुतूहल या आश्चर्य मात्र रह जाता है। उसका भी पूर्ण परिपाक होकर रस-रूप नहीं होता। इस वाद में मि० डंटन का स्थान प्रधान है। किन्तु यह वाद साधारणीकरण के अभाव में सबकी आनन्द-अनुभूति का कारण नहीं बन सकता। कवि या नाटककार तो मानव हृदय के ऐसे तारों को छेड़ता है, जो सबके हृदय में बजते हैं, तभी सामाजिक अपने को भूल कर अपने से भिन्न समष्टि जगत् की अनुभूति करता है, सामाजिक के हृदय और लोक-हृदय का एकत्र सामञ्जस्य हो पाता है। प्रकृति के वैचित्र्यों के वर्णन से वह लोक-सामान्य-भूमि पर नहीं पहुँचाया जा सकता। अतः ऐसी विचित्रताओं के संयोग से कविता का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। शुक्ल जी की यह विचार-धारा तर्क और शास्त्र पर आश्रित है।

इस योरूपीय वाद में कल्पना के संयोग से व्यक्ति या जीवन में विलक्षणता, विचित्रता उत्पन्न करके चित्रण करने की प्रणाली को विशेष महत्व दिया गया है। कल्पना और व्यक्ति सर्वोपरि हैं। इस सिद्धान्त का भी शुक्ल जी ने खण्डन किया है। कल्पना काव्य का साधन है, साध्य नहीं, साध्य तो रस है, जो काव्य में चित्रित जीवन से उद्भूत होता है। कल्पना इस चित्रण में अनिवार्य साधन है। कल्पना के बिना अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप कैसे दिया जा सकता है? अतः कल्पना काव्य का आवश्यक अंग होते हुए भी प्रधान लक्ष्य नहीं बन सकती। कवि का लक्ष्य कल्पना के वैचित्र्य खेल दिखाना नहीं, भाव या रस-परिपाक है, कल्पना उस रस-परिपाक का साधन है। इस प्रकार से शुक्ल जी ने इस योरुपीय साहित्यिक-वाद को निराधार सिद्ध किया है, जो समुचित है। भारतीय सिद्धान्त में साहित्यिक विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म है, शुक्ल जी ने उसके आधार पर यह सारा विवेचन उपस्थित किया है। तर्क और विचारशील व्यक्ति इनके विचारों से सहमत हैं। सबका अनुभव भी इनके विवेचन में प्रमाण है।

(घ) भाग का प्रश्न अब परीक्षा में नहीं है।

४.—"प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठ-भूमि में इस कथन पर विचार कीजिए।

उत्तर—श्री प्रेमचन्द के विषय में प्रश्न-गत उक्ति यथार्थ है। आधुनिक ढंग के और वास्तविक मौलिक उपन्यासों की परम्परा को जन्म देने वाले प्रेमचन्द ही थे। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास को प्रमुखतया चार युगों में बांटा जा सकता है। प्रथमयुग देवकीनन्दन खत्री का युग है। इस युग में अधिकतया आश्चर्यजनक, घटनावैचित्र्य को लिये, उपन्यास लिखे गये, जिनमें तिलिस्मी, जासूसी, साहसिक कृत्यों से भरे, आदि प्रकार के उपन्यास सम्मिलित हैं। ये उपन्यास जीवन के वास्तविक चित्रण से दूर हैं, इनमें केवल आकर्षक कल्पना वैचित्र्य है, चरित्र-चित्रण और वस्तु-चित्रण की दृष्टि से निरी कृत्रिमता है। यह युग द्विवेदी जी तक चलता है। द्विवेदी जी के युग में अधिकतया अनुवाद होते हैं, अन्य भाषाओं से। बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद

हुआ । अँग्रेजी, रूसी आदि विदेशी साहित्यों के—विशेषतः अँग्रेजी साहित्य के-उच्च श्रेणी के उपन्यासों के अनुवाद हुए। अन्य भाषाओं के इन श्रेष्ठ उपन्यासों को देखकर मौलिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति उदित होती है। यह तीसरे काल की प्रवृत्ति है और यह विशिष्टरूप में सर्व-प्रथम प्रेमचन्द में ही अभिव्यक्त होती है। सर्व-प्रथम प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र में प्रयास किया सफलता प्राप्त की और फिर आगे के उपन्यास-लेखकों को आदर्श दिखाया। प्रेमचन्द ने जीवन का वास्तविक चित्रण किया। पीडित व्यक्ति उनके चित्रण के अधिक विषय बने। जीवन के अनेक रूपों की उन्होंने मार्मिक अभिव्यंजना की। प्रेमचन्द में मौलिकता की सब प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। आधुनिक उपन्यास-प्रणाली उन्हें बपौती में नहीं मिली थी। उन्हें अपने मार्ग का स्वयं निर्माण करना पड़ा था। उपन्यास-कला में पाश्चात्य उपन्यास-कला के तत्वों का सहारा रखते हुए भी, उन्होंने अपनी कला का मौलिक निर्माण किया है, उनका शिल्पविधान अपनी विशेषता रखता है। उन्होंने पाश्चात्य-उपन्यास कला के सिद्धान्तों के विषय में अनेक स्थानों पर स्वतन्त्रता बरती है। वास्तविक जीवन के चित्रण को उपन्यास का विषय बना कर, उन्होंने उपन्यास-कला का वास्तविक जीवन से साक्षात् सम्पर्क स्थापित कर दिया। मौलिक उपन्यासकार भारतेन्दु काल में भी हुए थे, देवकीनन्दन, सब से बड़े मौलिक तिलिस्मी उपन्यासकार थे। स्वय भारतेन्दु जी ने भी एक 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा" नामक मौलिक उपन्यास लिखा था। किशोरीलाल गोस्वामी भी मौलिक उपन्यासकारों में थे। किन्तु आधुनिक उपन्यास-कला के लिहाज से वे पूर्णतः असफल हैं। वे मौलिक हैं, परन्तु वास्तविक आधुनिक उपन्यास नहीं। उनका जीवन से सम्बन्ध न होकर कल्पना-लोक से है। जीवन का सत्यचित्रण उनका उद्देश्य नहीं, उद्देश्य प्रधानतया मनोरंजन है। जीवन चित्रण नहीं।

प्रेमचन्द ने 'सेवा सदन' मे हिन्दी में मौलिक वास्तविक उपन्यास लिखने की नींव डाली। अनन्तर और भी अनेक, प्रेमाश्रम, काया-कल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, गोदान जैसे श्रेष्ठ उपन्यास लिखे, जिनमे तात्कालिक परि-

स्थितियों, समाज की आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक दशाओं का सजीव चित्रण है। सामाजिक चित्रण-रूप इन वास्तविक मौलिक उपन्यासों के लेखन का सूत्र-पात्र, इस प्रकार, प्रेमचन्द से ही होता है। प्रेमचन्द ने आगे के उपन्यासकारों को इस दिशा में प्रकाश दिखाया; उपन्यास के कथा पात्र, कथोपकथन, शैली आदि तथ्यों का नवीन वस्तुवादी दृष्टिकोण उपस्थित किया। उनमें आजकी उपन्यास-कला की दृष्टि से कुछ त्रुटियां हो सकती हैं, किन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि उनके उपन्यास वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्र लिये, वास्तविक और मौलिक हैं। हिन्दी-साहित्य की वे उपन्यास अमूल्य निधि हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द का सर्व-श्रेष्ठ मौलिक आधुनिक उपन्यासकार का स्थान आज भी ज्यों का त्यों बना है। प्रेमचन्द से अच्छा आधुनिक उपन्यास का कर्ता हिन्दी में आज भी अन्य कोई नहीं है। अपने क्षेत्र और अपनी सीमाओं में प्रेमचन्द का उपन्यास-साहित्य अपनी उपमा नहीं रखता। इसीलिए उपन्यास-साहित्य के इतिहास में उन्हें प्रथम मौलिक उपन्यासकार माना गया है। इस स्थान के प्रेमचन्द वस्तुतः योग्य हैं। प्रश्न-गत उक्ति इसलिए यथार्थ है, विचार और तर्क पर आश्रित है, और अतएव माननीय है।

अथवा

उपन्यास-कला के प्रमुख तत्वों के आधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—उपन्यास के आधार-भूत छः तत्व होते हैं—कथा, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। प्रेमचंद के उपन्यासों के इन तत्वों का समुचित विकास हुआ है, जिस कारण से उनका हिन्दी साहित्य में उतना मान है। उनके इन तत्वों का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास हुआ है। प्रारम्भ के उपन्यासों की त्रुटियां उत्तरोत्तर आगे के उपन्यासों में, दूर होती गईं और अंत में उनकी उपन्यास-कला का पूर्ण विकास हुआ।

कथा-वस्तु के विषय में प्रेमचंद ने दो प्रणालियों का ग्रहण किया है। उनके प्रारंभिक उपन्यासों—सेवा-सदन, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन—में एक ही

कथा-वस्तु का आधार रखा गया है। समस्त उपन्यास में प्रारम्भ से अंत तक एक ही कथानक चलता है किंतु बाद के उपन्यासों—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, काया-कल्प, कर्म-भूमि और गोदान—में दो दो कथानक बराबर बराबर चलते हैं। दोनों का विकास और चित्रण उपन्यास करता है। इन उपन्यासोंमें जीवन के दो दो भिन्न और स्वतंत्र कथानक होते हैं। उन्हें उपन्यासकार संयुक्त कर देता है, पर वे दोनों ही चित्र अपना इतना पूर्ण विकास कर चुकते हैं कि मिलाने पर भी वे भिन्न चमकते रहते हैं, एक उपन्यास में दो उपन्यासों का आनन्द आता है। यह बहुत कुछ दोषकर भी है, उपन्यास-कला की दृष्टि से। कारण, जो प्रभाव की एकता उपन्यास के अन्त में अभीष्ट होती है, उसमें अन्तर पड़ जाता है। अन्तिम फल का प्रभाव एक नहीं रहता। उपन्यास क्या, काव्य के किसी भी रूप का मुख्य आधार अन्तिम परिणाम की एकता ही होता है। प्रभाव में एक-रूपता एक-सुरता ही उसकी अधिकता का कारण है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का यह दुहरी कथा का निर्माण दोष-युक्त माना जाता है। इसके अतिरिक्त कथा-वस्तु में नाटकीय ढंग से आश्चर्य-कर, अस्वाभाविक और कभी कभी असंभव घटनाओं को भी घटित किया गया है। घटनाओं की शृंखला में शिथिलता भी है। किन्तु इन सब दोषों के साथ भी प्रेमचंद कथा गठन में कुशल थे। उन्होंने जीवन की विशेष मार्मिक स्थितियों का उपन्यास में ऐसा सुचारु गठ-बंधन किया है, वे घटनाएं इतनी सजीव हैं कि पाठक को ऊपर कहे दोषों का पता नहीं लगता। जैसी वे मार्मिक हैं, वैसा ही स्वाभाविक और सजीव उनका चित्रण भी हुआ है। कथावस्तु के विषय की उपर्युक्त त्रुटियां उत्तरोत्तर दूर होती गई, पर दुहरी कथा लिखने का उनका मत परिवर्तित नहीं हुआ। अन्तिम उपन्यास गोदान दुहरी कथा का ही आधार रखता है। कथावस्तु के गठन में शिथिलता का अनुभव होने पर भी, उसके चित्रण में अत्यंत स्वाभाविकता, सजीवता और चित्रमयता है। विभिन्न घटनाओं के चित्र प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

चरित्र-चित्रण आदर्श और यथार्थ के संयोग से हुआ है। वह स्वाभाविक है, मनोविज्ञान पर आश्रित है, देश-काल और परिस्थिति के अनुरूप है। पात्र चलते फिरते अनुभूत होते हैं। पात्र के अन्दर और बाहर का साम-

रहस्य रखते हुए वह चित्रण हुआ है। किंतु वह आज का सा मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं है। आज के पात्र-चित्रण मे व्यक्ति के मनोविज्ञान को ही प्रधानता दी जाती है। प्रेमचंद्र का पात्र-चित्रण इस प्रकार का नहीं। उनके उपन्यासों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत होता है, उनमे जीवन के विभिन्न रूपों की अनेक समस्याओं का चित्रण होता है। एवं उनमे पात्र भी विभिन्न वर्गों श्रेणियों आदि के प्रतिनिधि होते हैं। अत उनमे से प्रत्येक के व्यक्तिगत मनोविज्ञान के चित्रण का न अवकाश ही है और लेखक ने किया भी नहीं है। पात्र के स्वभाव, कार्यों आदि के चित्रण मे मनोविज्ञान का आधार अवश्य है, किंतु व्यक्तिगत मनोविज्ञान को प्रधानता न देकर वस्तुस्थिति के चित्रण को दी गई है। प्रेमचंद मे वस्तुतः सुधारक-वृत्ति भी विशेष है, वे सुधार चाहते हैं, समाज, धर्म, राजनीति आदि मे। आदर्श और नैतिकता इसलिए उनके पात्रों के साथ सदैव आबद्ध रहती हैं। इसी लिए, उनकी इस आदर्शमयता के कारण, उनमे उतनी मानवीयता नहीं रहती, वे देवता से प्रतीत होते हैं, उनमे अतिमानवता आ जाती है। अपनी इसी आदर्श और सुधार-वादिनी प्रवृत्ति के अनुकूल उन्होंने पात्रों के व्यक्तिगत मनोविज्ञान का विशेष चित्रण नहीं किया। उनके पात्र वस्तुतः अपनी अपनी श्रेणी, अपने अपने वर्ग आदि के प्रतीक या प्रतिनिधि हैं। उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं से अधिक उनकी वर्ग-गत विशेषताओं का विशेष चित्रण है। वे पात्र वस्तुत वर्ग या श्रेणी का समष्टिरूप हैं। समाज-चित्रण प्रेमचन्द का प्रधान उद्देश्य था, व्यक्ति—चित्रण उससे उतर कर था तो भी आदर्श-मयता के कारण से उत्पन्न उस अस्वाभाविकता या अमानवीयता के साथ भी प्रेमचद के उपन्यासों के पात्र सजीव हैं, लौकिक हैं, वे आदर्श भी हैं और यथार्थ भी हैं। आदर्श और यथार्थ के इस संयोग में ही लेखक ने मनुष्य-जीवन का पूर्ण विकास देखा है। पात्रों के चरित्र का स्वाभा-विक, मनोवैज्ञानिक और परिस्थिति के अनुकूल विकास होता है। वे कथा-वस्तु का स्वाभाविक नियंत्रण करते हैं, उसे चलाते हैं। उनकी वेशभूषा व्यवहार स्वभाव आदि देशकाल एवं परिस्थिति के अनुकूल होते हैं। चित्रण के लिहाज से गोदान का होरी प्रेमचन्द का आदर्श और सर्व-

श्रेष्ठ पात्र माना जाता है। वर्गों में प्रेमचन्द मध्यमवर्ग के पात्रों का चरित्र अधिक सफलता से कर सके हैं। उच्चवर्गीय पात्रों के चित्रण में प्रेमचन्द पूरे सफल नहीं रहे।

कथोपकथन प्रेमचन्द के उपन्यासों के बहुत सरस, स्वाभाविक और समयानुकूल होते हैं। वे पात्र की स्थिति के अनुसार होते हैं। पात्र जैसी विशेषता या योग्यता का है, वैसा ही उसकी बातचीत का ढंग है। गांव का व्यक्ति अपने ढंग की भाषा बोलता है और नागरिक अपने ढंग की। वकील, बाबू, मुंशी, सेठ साहूकार मजदूर, किसान, राजा, नवाब, पण्डित मुल्ला, आदि पात्र अपनी विशेषता वाली भाषा बोलते हैं। इससे बातचीत में सजीवता और स्वाभाविकता विशेष आजाती है। वाक्य प्रसंगानुकूल छोटे बड़े होते हैं। बातचीत पात्र के चरित्र का विकास करने वाली और कथा को गतिविधि देने वाली है। उदाहरण देखिये—

पं० ओंकारनाथ गोदान में—"मैंने अपने धर्म की थाती मिस मालती के कोमल हाथों में सौंप दी और मुझे विश्वास है वह उसकी यथोचित रक्षा करेगी उनके चरण कमलों के प्रसाद पर मैं ऐसे एक हजार धर्मों को न्योछावर करदूं।"

गोदान में ही एक जगह मिर्जाजी बोलते हैं—"आज आप सभी साहबों की जवामर्दी और हुस्न-परस्ती का इम्तहान है। आपको इश्क की कसम माशूक की आदतों की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटाइये।'

गोदान में ही होरी बोलता है—"तुझे रस पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर हो गई, मालिक से भेंट न होगी। असनान पूजा करने लगेंगे तो घण्टों बैठे बीत जायगा।"

इसी में एकत्र पुन्नी देखिये कैसी नारी-जनोचित भाषा में बोलती है—'तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जायं, तुझे इन्फ्लूइन्जा हो जाय। भगवान् करे तू कोढ़ी हो जाय, हाथ पांव कट कट गिरें।"

उपर्युक्त उदाहरणों मे भाषा-भेद पात्रानुरूप है। इससे चित्रण मे स्वाभाविकता और सजीवता विशेष आजाती है। किन्तु, कहीं कहीं उपदेशक वृत्ति के विशेष प्रभाव मे, कथोपकथन बहुत लम्बे, जटिल, व्याख्यान से भी हो गये हैं। उनमे किसी विषय पर तर्क छिड़ गया है तो वही चलता रहता है। इन कारणों मे कथोपकथन अनेक स्थलो पर नीरस और अस्वाभाविक से हो गये हैं। किन्तु यह त्रुटि भी आगे आगे चलकर दूर होगई। गोदान के कथोपकथन उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

शैली, वर्णन और चित्रण दोनों की सरल, स्वाभाविक और विशद है। लेखक ने लाक्षणिकता और व्यञ्जना का विशेष प्रयोग किया है। वस्तु-स्थिति या वातावरण के चित्रण मे, अलंकारों का भी सहयोग लेखक ने लिया है। देखिये एक मानव-चित्र, कैसा व्यंजित होता है—

वह गांव में पुण्यात्मा मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य सत्य नारायण की कथा सुनते, पर पटवारी होने के नाते खेत वेगार मे जोतवाते थे, सिंचाई वेगार में करवाते थे और आसामियों को एक दूसरे से लड़ाकर रकमें मारते थे। सारा गांव उनसे कांपता था।" ...(गोदान)

देखिये, कैसे सरल स्वाभाविक शब्दों से एक वाता-वरण का चित्रण दिया गया है—"दूसरे पेड़ के नीचे दातादीन का निजी पैरा था। चार बैलों से मडाई हो रही थी। धन्ना चमार बैलो को हांक रहा था।"

अलंकारों का प्रयोग देखिये—'आकाश पर तारे भी ठिठुरते मालूम हो रहे थे।" "अन्तस्तल की गहराइयों से एक लहर सी उठती हुई जान पड़ी, जिसमें उसका अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भांति उतराता हुआ दिखाई दिया।" 'गोबर के शब्द तपते हुए बालू की तरह धनिया के हृदय पर पड़े और चने की भांति सारे अरमान झुलस गये।"

प्रेमचन्द की यह शैली ऐतिहासिक है। कवि स्वयं कथा कहता है। उसका कथा कहने का ढंग सरल, स्पष्ट, विशद और स्वाभाविक है। जीवन की मार्मिक समस्याओं का स्वरूप चित्रित करके, आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करना उसका उद्देश्य है।

देश-काल का चित्र ही प्रेमचन्द के उपन्यासों का विषय है। समाज, जाति और देश से लेकर, विभिन्न वर्ग-गत समस्याओं का चित्रण ही उपन्यासों में अधिकतर हुआ है। विभिन्न देश काल की परिस्थितियों में लिखे गये उपन्यासों में उनका स्पष्ट प्रति-बिम्ब है। समाज धर्म और राजनीति के अनेक आन्दोलनों के स्पष्ट और सजीव चित्र हैं उनमें। अतः प्रेमचन्द के उपन्यासों में देश-काल-विषयक पूरा औचित्य रखा गया है।

उद्देश्य के बिना प्रेमचन्द कोई उपन्यास नहीं लिखते थे। उनके प्रत्येक उपन्यास का कुछ न कुछ उद्देश्य है। वे सुधार-वादी थे, सुधार और परिवर्तन चाहते थे गली सड़ी बातों का। वे जीवन के दो रूप देखते हैं-सुरूप और कुरूप, उनमें सुरूप आदर्श-भूत अच्छा रूप है और कुरूप घृणित एवं त्याज्य है। प्रेमचन्द आदर्श रूप को ही प्रधानता देते थे। कुरूपताओं के वैसे ही सार्थक चित्रण से तो उनकी ओर प्रवृत्ति होने का भय है, जो कि मनुष्य के विकास में बाधक है। इनसे बचाकर, जीवन के अच्छे आदर्श रूपों के प्रति, समाज या व्यक्ति को आकृष्ट करने का कला का उद्देश्य प्रेमचन्द मानते हैं। अतः जीवन में इन्होंने उसके आदर्श रूप को ही महत्व दिया है। प्रेमचन्द न कोरे आदर्शवाद, जो संसार की कठोरताओं से भागने वाला हो, में और न कोरे यथार्थवाद, जो कि मनुष्य-हृदय की सरसता को समाप्त करता है, में मनुष्य का पूर्ण विकास देखते हैं। उनके सिद्धान्त से यथार्थवाद और आदर्शवाद इन दोनों का यथोचित सामञ्जस्य ही मानव-विकास का मूल मन्त्र है। अतएव जीवन के आदर्श रूपों की महत्ता का अभिव्यंजन इनके सभी उपन्यासों में मिलेगा। यही इनकी उपन्यास-कला का वास्तविक उद्देश्य है, जो इनके विभिन्न उपन्यासों में, भिन्न भिन्न रूपों में प्रतिपादित हुआ है।

६.—संस्कृत नाट्य शास्त्र तथा आधुनिक पश्चिमी नाटक के प्रमुख सिद्धान्तों की तुलना कीजिए।

उत्तर—नाट्यकला-विषयक अनेक सिद्धान्तों में, समान होने पर भी प्राचीन संस्कृत नाट्य-प्रणाली और आधुनिक पश्चिमीय नाटककला में पर्याप्त भेद है। मौलिक रूप से दोनों के नाटकीय सिद्धान्त एकसे हैं। वस्तु,

पात्र, कथोपकथन आदि विषयक मौलिक सिद्धान्त एकसे हैं। कथावस्तु के विकास की भी दोनों में एकसी पाच अवस्थाएं हैं। देश-कालगत औचित्य का भी पालन दोनों मे होता है। संकलनत्रय का उभयत्र पूरा ध्यान रखा जाता है। शैली दोनों मे नाटकीय होती हुई भी पर्याप्त भिन्न है। प्राचीन शैली में मनोरंजन की मात्रा विशेष रहती है, नाटककार की कल्पना के चमत्कार का भी योग रहता है और नृत्यगान का विधान भी रहता है। आज के पाश्चात्य नाटक मे कल्पना, कविता, नृत्य गान आदि मनोरंजन के साधनों को व्यर्थ समझते हैं। जीवन का वास्तविक चित्रण सीधी सादी तथ्य-मूलक शैली मे होना चाहिये पाश्चात्य नाटक-सिद्धान्तानुसार। संस्कृत-नाट्य शास्त्र में रस को प्रधानता दी जाती है, किन्तु आज का नाटककार व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को प्रधानता देना चाहता है। संस्कृत नाटक वियोगान्त नहीं होते थे, जीवन का मंगलमय रूप ही वे रखते थे। उनके आदि, मध्य और अवसान मे मंगल ही होता है। अतएव प्रस्तावना और नान्दी का विधान हैं। किन्तु पाश्चात्य नाटककार जीवन के सुखान्त और दुःखान्त दोनों रूपों का चित्रण करता है। प्राचीन नाट्य शास्त्र नाटक का उद्देश्य मानता है, किन्तु वर्तमान पाश्चात्य नाटककार कला के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं मानते। संस्कृत नाटक मे विशेष पात्र ही नायक के पद पर आसीन किया जा सकता है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य नाटक में साधारण से साधारण और विशेष से विशेष सभी पात्र नायक बन सकते हैं। संस्कृत-नाटकों मे बाह्य व्यापारों का विशेष चित्रण होता है, आज के नवीन नाटकों मे जीवन के मानसिक पक्ष का ही अधिक चित्रण होता है। पाश्चात्य नाटकों के वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य तत्व माने जाते हैं। संस्कृत नाटक में ये तत्व केवल तीन ही माने गये हैं—वस्तु, पात्र या नायक और रस। कथोपकथन का नायक में अन्तर्भाव कर लेते हैं और शेष तत्वों का रस मे ग्रहण हो जाता है। संस्कृत-नाटक अपनी कला सम्बन्धी जटिलताओं से बहुत आबद्ध हैं, आज का नाटककार बहुत स्वतंत्र है। संक्षेप मे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन निम्न है।

संस्कृत-नाटक में नाटककार और कथा-प्रसंग के परिचयार्थ प्रस्तावना,

नान्दी, भरत-वाक्य, सूत्रधार आदि का समावेश होता है। पाश्चात्य नाटक-कार यह कार्य—नाटक का परिचय आदि—अन्य ढंग से करते हैं, प्रकाशित करके बांट देते हैं।

संस्कृत-नाटकों में ५ से लेकर ७ और १० तक अंक होते हैं। आज के नवीन नाटकों में अव्वल तो तीन और नहीं तो ५ तक ही अंक होते हैं, जिससे कि थोड़े से परिमित काल में ही अभिनीत हो सकें।

संस्कृत-नाटकों में मनोरञ्जन के उद्देश्य से अनेक साधन जुटाये जाते हैं—कल्पना, कवित्व, गीत, उक्ति-वैचित्र्य आदि सौन्दर्य और चमत्कार के साधन। आज के नवीन पाश्चात्य ढंग के नाटकों में अधिकतया गद्य-शैली का प्रयोग होता है। उनमें उपर्युक्त सौन्दर्य—साधन नहीं होते। कल्पना, कवित्व, गीत आदि से वे मुक्त रहते हैं। जीवन का यथार्थ चित्रण ही उनमें रहता है।

संस्कृत-नाटकों में मानव-जीवन के स्थूल रूप और व्यापारों पर विशेष बल दिया जाता है। परन्तु नवीन पाश्चात्य नाटककार मानव के अन्तर्द्वन्द्व पर ही विशेषतया बल देता है।

संस्कृत-नाटकों में, सबमें रंगमंचीयता का ध्यान नहीं रक्खा गया है। कारण, संस्कृत में रंगमंच-सम्बन्धी विशेष विवेचन होने पर भी, रंगमंच का उत्तर काल में अभाव ही रहा, जब कि ये नाटक लिखे गये थे। इसलिए, रंग-मंचीयता उनमें सबमें नहीं मिलती है। पाश्चात्य नवीन नाटकों का रंगमंची-यता विशेष गुण है। संस्कृत नाटकों की सी साहित्यिकता उनमें नहीं है।

प्राचीन संस्कृत नाटकों में अवान्तर प्रसंग भी बीच में कल्पित कर लिये जाते हैं, मनोरंजन या अन्य किसी उद्देश्य से। किन्तु आज के पाश्चात्य नाटक-सिद्धान्त के अनुसार नाटक में व्यर्थ की बातें नहीं आतीं। एक ही घटना-प्रसंग का आद्यन्त निर्वाह होता है।

कथोपकथन भी प्राचीन नाटकों में लम्बा, चमत्कार-पूर्ण, कवित्व पूर्ण एवं रोचक होता है। पाश्चात्य नाटकों का कथोपकथन सरल, संक्षिप्त, भावों का अभिव्यंजक, मर्मस्पर्शी और वास्तविक जीवन के कथोपकथन जैसा स्वा-भाविक होता है। उसमें, कवित्व नहीं होता, व्यर्थ की कल्पना की विचित्रता

भी नहीं होती। वह लम्बा नहीं होता। संस्कृत नाटकों में, स्वगत-भाषण, आकाश-भाषित आदि का प्रयोग होता है। आज के नाटकों मे इन्हें उचित नहीं समझा जाता। यह प्रणाली अस्वाभाविक मानी जाती है।

सस्कृत नाटकों और पाश्चात्य नाटकों के नाटकीय सिद्धान्तों और प्रणालियों का यही तुलनात्मक वर्णन है।

७—मनोरमा और चन्द्रकला (सिन्दूर की होली) के चरित्रों का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि लेखक को इन चरित्रांकनों मे कहा तक सफलता मिली है?

उत्तर—चन्द्रकला और मनोरमा दोनो का चरित्र-चित्रण 'सिन्दूर की होली' में बढ़िया हुआ है। नाटक मे उनके चरित्रों का जो भी अंश चित्रित हुआ है, वह स्वाभाविक है, मनो-वैज्ञानिक है एवं आकर्षक है। सजीवता के कारण दोनों की मूर्तिया सामने घूमने लगती हैं। चन्द्रकला नाटक की नायिका उसी के जीवन की सर्व-प्रमुख घटना को लेकर नाटक-कार ने अपने नाटक का नामकरण किया है। उसके स्वरूप के विषय में नाटक-कार ने स्वय कहा है कि 'यों तो चन्द्रकला की अवस्था बीस वर्ष की हो चुकी है, लेकिन उसकी आकृति से लड़कपन की सरलता झलकती है, जो उसकी सुन्दरता को और भी लुभावनी बना रही है।" वह अल्हड है। धनी एव अफसर पिता की अकली लडकी है। उसका अभाव से नाता नहीं, पिता द्वारा उसकी कोई बात नहीं टाली जाती। उसी के लिए मनोरमा को भी घर में स्थान दिया गया है। वह शिक्षित है, ऊँचे आचरण की है, सत्यता, ईमानदारी एवं स्वतंत्रता आदि उच्च विचारों को रखने वाली है। जीवन में दुःख का अनुभव उसे अभी तक नहीं हुआ है। वह सदैव सर्वथा प्रसन्न रहना चाहती है। पिता मुरारीलाल उसका अपने मित्र के पुत्र एवं स्वयं-रक्षित मनोज शंकर से विवाह करके घर-जमाई रखना चाहता है। चन्द्रकला एव मनोरमा दोनों इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं। किन्तु मनोज की प्रकृति दूसरे प्रकार की है। उसे अपने पिता की आत्म-हत्या–विषयक सन्देह की खोज करने की सदैव चिन्ता रहती है। उसे मुरारीलाल की बात में भारी सन्देह है क उसके पिताने आत्म-हत्या की थी। इस रहस्य को खोजने की

उसकी चिन्ता इतनी बढ़ती है कि उसे अन्य किसी ओर रुचि नहीं होती, पढ़ने में मन नहीं लगता, खेल तमाशा, सैर, हंसी मज़ाक में उसकी रुचि नहीं। यह चिन्ता उसके शरीर को जलाते जलाते उसके मानसिक और शारीरिक अस्वास्थ्य का कारण बनती है। उसका शरीर दुर्बल, व्याधि-ग्रस्त सा रहता है। स्वभाव, गंभीर, रूखा, शक्की सा, हो जाता है। बीच बीच में तीखे व्यंग्य कसना, कटाक्ष करना, उसकी आदत में हो गया है। वह सच्चरित्र है, सभ्य है, शिक्षित है, आधुनिक नवीन विचारों का आदर्श-प्रिय व्यक्ति है। देखने मेंभी सुन्दर है। किन्तु चन्द्रकला का उससे प्रेम नहीं होता, चन्द्रकला की प्रकृति उसकी प्रकृति से मेल नहीं खाती। फल-स्वरूप उसके हृदय मे सहानुभूति तो अवश्य है, किन्तु वह प्रेम नहीं है, जो नारी या पुरुष को सब कुछ करने पर कटिबद्ध कर देता है। उसकी इस विरक्ति का नाटककार ने चन्द्रकला की बात-चीत में कई जगह अभिव्यंजन किया है। प्रारम्भ मे ही पिता के मनोजके पत्र के बारे में पूछने पर बड़ी विरक्ति से उत्तर देती है, "उनकी बीमारी फिर उभड़ आई थी। किसी दिन दो घण्टे से अधिक बेहोश रहे।" आगे मुरारीलाल, जब मनोज की अपने स्वास्थ्य की ओर बेपर्वाही की आलोचना करते हुए मनोज को एक झंझट बताता है, तब तो वह अपनी विरक्ति का और भी स्पष्ट रूप में प्रकाशन करती है, 'लेकिन यह झंझट भी तो आपने स्वयं नहीं। तो उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं।" वह पिता की आज्ञा को मान कर, उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए, मनोज से विवाह करने को राजी है, उसे अनिवार्य समझती है, पर उसका हृदय उसको इस बात के लिए तैयार नहीं होने देना चाहता। उसके हृदय के अन्तर् द्वन्द्व का लेखक ने सुन्दर चित्रण किया है। यह अन्तर्द्वन्द्व आगे चलकर पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, जब कि चन्द्रकला रजनी कान्त के "हंसते हुए मुख, लम्बी लम्बी रतनार आंखों, उभरे हुए मस्तक और उन काले बालों की दो चार लटों को देखकर एक बारगी अपना तन मन उसके समर्पित कर देती है। यहां नाटक-कारने स्त्री-हृदय के एक गहन तथ्य का चित्रण किया है। स्त्री-हृदय जिसका होता है, प्रथम बार हो जाता है, वह संस्कार अमिट होता है। चन्द्रकला के मन पर रजनी कान्त का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार का प्रभाव

यद्यपि आज के जीवन में दृष्टि-गत नहीं होता, वह पिछला युग था, जब कि ऐसा होता था या होता वर्णित किया जाता था, तथापि असम्भावित नहीं है, हो सकता है। होता भी है। इसी तथ्य के आधार पर चन्द्रकला के चरित्र का अंकन हुआ है। चन्द्रकला प्रथम मनोरमा से, चित्र-दर्शन के समय बात चीत में, छिपाती है, मनोरमा के यह कहने पर कि "लेकिन, तुम तो इतनी विकल हो रही हो, जैसे तुम उसके प्रेम में ' ' वह उत्तर देती है, "तुम जानती हो मैं किस से प्रेम करती हूँ, प्रेम दो चार से तो हो नहीं सकता और अब फिर प्रथम दर्शन में प्रेम होने का समय भी नहीं रहा। वह तो युग दूसरा था''''''उसके (रजनी कान्त के) साथ प्रेम की नहीं'''विनोद की बात हो सकती थी उनके साथ खिलवाड़ हो सकता था तबीयत बहलाई जा सकती थी।" ऊपर से ऐसा कहती हुई भी वह रो पड़ती है। मनोरमा भांप कर जब उससे सत्य पूछती है तो वह मान लेती है कि मनोज से उसका कभी प्रेम नहीं हुआ था। भावावेश, जो कि उसकी आयु, प्रकृति और उसकी सम्पन्न स्थिति के सर्वथा उपयुक्त है, उसके हृदय को व्याप लेता है और वह इस प्रथम प्रेम में ही अपना विवाह मान लेती है। विधवा समझने लगती है अपने को। उसके आगे के चरित्र में स्त्री के त्याग, तपस्या, बलिदान और एक-निष्ठता का चित्र है। उसके अन्तर्द्वन्द्व का रूप अधिक उग्र होजाता है। मनोज के आगे वह प्रकट नहीं होने देती पर उसकी विरक्ति बढ़ जाती है। रजनी कान्त की लाश देखकर उसकी दशा खराब हो जाना भी स्वाभाविक है, उस प्रकार के प्रेम में और उस प्रकार की कोमल प्रकृति की स्त्री में। उसके मन की वास्तविक दशा का पता केवल मनोरमा को है। मनोज भांप लेता है पश्चात् मनोरमा उसे बताभी देती है। वह चन्द्रकला को हस्पताल ले जाता है। वहां वह रजनी० सिर टांग आदि दबाती है और अपने मन की इच्छा पूरी करती है। अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता की मोहर लगाने के लिए वह मांग में उसके हाथ से सिन्दूर भी चढ़वा लेती है, जिसे कोई नहीं देखता, चढ़ाने वाला भी वेहोशी में होता है। घर आकर चन्द्रकला को सारा वृत्त बता देती है। उसका यह कृत्य उसके स्वभाव के अनुरूप है। वह अत्यन्त भावुक और सत्य-प्रिय है। अब उसका निश्चय अभेद्य हो जाता

है। रजनीकान्त की मृत्यु पर वह अपने को मनोरमा से कम विधवा नहीं समझती। दोनों के अन्तर को वह स्वयं स्पष्ट करती है, 'तुम्हारी मजबूरी पहिले सामाजिक फिर मानसिक हुई, मेरी मजबूरी प्रारम्भ से ही मानसिक हो गई।" अन्त में पिता की सारी सम्पत्ति पर लात मारकर वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है और स्वतंत्र आत्मावलम्बन का जीवन बिताने को कटिबद्ध होती है। प्रेमस्वातंत्र्य और मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार जीवनयापन की स्वतंत्रता, सत्यता, दृढ़ता, आदि बुद्धिवादी सिद्धान्तों का आदर्श विकास चन्द्रकला के चरित्र मे दिखाया गया है। मनोरमा मे यह आदर्श भिन्न-तया चित्रित है। यहां, कुछ को, संभव है, चन्द्रकला के चरित्र में कुछ अस्वाभाविकता प्रतीत हो, किन्तु वस्तुतः यह अस्वाभाविकता नहीं है, विचित्रता अवश्य कही जा सकती है।

मनोरमा का चित्र नाटककार ने यों उतारा है, "मनोरमा की अवस्था चन्द्र-कला से दो साल कम है। शरीर उसका कुछ अर्द्ध-विकसित सा है। बाल खुले, रूक्ष, और अव्यवस्थित हैं। बायीं ओर से बालों की एक लट दायें कान से होकर सीधे आगे की ओर नीचे की ओर लटक रही है। उसकी आंखें नितान्त चंचल और चमकती हुई हैं। भौंहों के बाल इतने लम्बे हैं कि दोनों बगलों में दाईं ओर बायीं ओर घूमकर छोटे बड़े कई वृत्त बना रहे हैं। उनके शरीर का रंग बिल्कुल पछाहीं चम्पे का है।" उपर्युक्त विवरण से नवयौवना मनोरमा का चित्र खिंच जाता है आंखों के सामने। वह बाल-विधवा है। आठ वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ और उसके दो वर्ष पश्चात् विधवा हो गई। वह शिक्षित है। चित्रकार है। स्वयं आजीविका के उपार्जन में स्वतंत्र है। मुरारीलाल के घर में चन्द्रकला की सहेली के रूप में रहती है। नवीन विचारों की है। आदर्श की प्रेमिका है। प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर वह चन्द्रकला के यहां रहती है। किन्तु अपने मन के अनुसार चलती हुई भी वह चरित्र में अत्यन्त दृढ़ है। मुरारीलाल के प्रेम-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती। विचारों की ऊंची, सच्ची, एवं गम्भीर है। त्याग तपस्या, आत्मबलिदान, आत्म-संयम आदि को स्त्री का विशेषतः विधवा का आदर्श चरित्र मानती है। इसी आधार पर वह विधवा-विवाह के सिद्धान्त

का विरोध करती है। वह विधवा को मनोज के समान समाजका कलंक नहीं बता ती, अपितु उसका आदर्श बताती है। अपना जीवन उसे असह्य नहीं है, क्योंकि उसे वैवाहिक जीवन का अनुभव ही नहीं है, पर अखरता बेशक है। उसके लिए पद पद पर प्रलोभन हैं, पर वह बचती है। उसकी स्थिति मे उपर्युक्त सभी बातें कुछ अस्वाभाविक सी लगेगी किसी को, उसका चरित्र मानवीय न खँच कर दैवीय सा लगेगा, परन्तु लेखक ने उसमे मानवीयता का भी पूरा संयोग रखा है। वह मनोज की ओर आकृष्ट होती है। उसकी प्रकृति भी उसी जैसी है, गम्भीर, विषाद-पूर्ण सी, संसार-सुख से विरक्त सी। आकर्षण परम स्वाभाविक है। मनोज भी उधर आकृष्ट होता है। दोनों में प्रच्छन्न प्रेम का अनुभव होता है यद्यपि दोनों उसका स्पष्ट स्वीकार नहीं करते। किन्तु मनोज चन्द्र कला से बंधा है। मनोरमा चन्द्रकला की हानि नहीं कर सकती। उसका स्वात्माभिमान चन्द्रकला के प्रेम में विघ्न नहीं डालना चाहता। चन्द्रकला को मनोज से विरुष्ट और रजनीकान्त की ओर आकृष्ट देखकर वह उसे समझाती है। जब उसे निश्चय हो जाता है कि दोनो में प्रेम नहीं है, तो वह मनोज को अपने साथ अविवाहित रूप में रहने को तैयार कर लेती है। परन्तु जब वह चन्द्रकला को लेकर फिर हस्पताल जाने को तैयार हो जाता है, तो वह उसे चन्द्रकला को क्षमा करके उससे मेल करने का उपदेश देने लगती है। मनोज के हृदय में दृढ़ता न देखकर ही, उसका यह भाव बदलता है। पश्चात् मनोज के आग्रह करने पर वह अब स्वयं अपने पहिले प्रस्ताव से फिर जाती है। उसके हृदय का यह उतार-चढ़ाव, अन्तर्द्वन्द्व का लेखक ने बड़ा स्पष्ट चित्र अंकित किया है। उसके सामने कोई पुरातन सीता सावित्री आदि का आदर्श नहीं रखा हुआ है। उसकी प्रवृत्ति बुद्धिवादी सिद्धान्तों के अनुसार मन की स्वतन्त्र प्रेरणा द्वारा होती है, किन्तु वह मन शुद्ध है सत्यता-प्रिय है, उसमे त्याग, तपस्या, बलिदान, दृढ़ता आदि की भावनाओं की प्रधानता है। अतएव वह कहीं भी अपने मार्ग से भ्रष्ट नहीं होती। अन्त में भी वह अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के अनुरूप ही जीवनयापन करने का निश्चय करती है अकेली। उसके चरित्र मे भी बुद्धिवादी सिद्धान्तों के अनुसार

आदर्श जीवन के चित्रण द्वारा कुछ अस्वाभाविकता सी प्रतीत हो सकती है, जो कि वस्तुत' है नहीं, हां विचित्रता अवश्य है, ऐसे चरित्र जीवन मे कभी ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार से लेखक ने उसके जीवन का स्वाभाविक, और सजीव चित्रण किया है।

लेखक ने इन दोनों नारी-पात्रों के चित्रण में बड़े मार्मिक अभिव्यजनों से काम लिया है। बातो के सिलसिले मे मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यंजनाए बड़े सूक्ष्म और स्पष्ट रूपमे होती हैं। दोनों के चित्रण में नारी के आदर्शरूप का चित्रण हुआ है। दोनो का आन्तरिक और बाह्य विश्लेषण अनुभूति और तर्क के आश्रित है। स्त्री-हृदय के मनोविज्ञान का चित्रण समुचित है, स्वाभाविकता, सजीवता, यथार्थता और आदर्शमयता आदि जीवन के उच्च सिद्धान्तों का समावेश है। नाटककार स्त्री-मनोविज्ञान के चित्रण में दक्ष है, उसके अन्य नाटकों और इस नाटक के आधार पर, ऐसा वास्तविक रूप से कहा जा सकता है। प्रस्तुत नाटक मे भी नाटककार मनोरमा और चन्द्रकला के चरित्र-चित्रण मे अपने उद्देश्य के अनुसार पूरा सफल रहा है। दोनों का आन्तरिक और बाह्य-चित्रण स्वाभाविक और सजीव है।

म—"जयशकर प्रसाद की नाट्यकला पूर्णतया आदर्शवादी है।" उदाहरण देते हुए इस कथन की सत्यता पर अपना मत प्रकट कीजिये।

उत्तर—प्राचीन भारतीय नाट्य प्रणाली के अनुसार जीवन के आदर्श रूप का ही चित्रण होता है। नायक नायिका आदि को सर्व गुण-सम्पन्न आदर्श उदात्त रूप में और उनके विरोधी प्रतिनायक आदि पात्रों को अनेक अवगुणों के आधार रूपमें चित्रित करने की प्रणाली रही है। इसी कारण आदर्श नायक आदि पात्रों के चरित्र में उनकी सफलता के और प्रति-नायक आदि में उनकी विफलता के कारण-भूत चिन्ह प्रथम ही प्रकट कर दिये जाते हैं। इससे पात्रों के चरित्र के चित्रण और कथा-वस्तु के नाटकीय निर्वाह में अधिक सरलता आ जाती है। दोनों के संघर्ष का विस्तार दिखलाते हुए अन्त में

सत पक्ष की विजय और असत पक्ष की पराजय बड़ी स्वाभाविकता और सुगमता से दिखा दी जाती है। राम-रावण, कृष्ण-कंस आदि इस प्रणाली के उत्तम उदाहरण हैं।

किन्तु आधुनिक नाट्य कला में आदर्शता का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। वे लोग जीवन के केवल आदर्श रूप के चित्रण को अस्वाभाविक मानते हैं। उनके मत से ऐसे चरित्र श्रद्धा, पूजा आदि की आदर भावनाएं तो उत्पन्न कर सकते हैं, उनके भावों की अनुभूति साधारण सामाजिकों को नहीं हो सकती, जो कि साहित्य का लक्ष्य है। अतः वे जीवन के सुख एवं दुःख दोनों से पूर्ण द्वन्द्वात्मक वास्तविक चित्रण को ही उचित समझते हैं। वास्तविक जीवन में यथार्थ का जो रूप मिलता है—अच्छा या बुरा—वे लोग इसी के चित्रण को महत्व देते हैं। वही चित्रण आजकल स्वाभाविक और नाटकों के उपयुक्त समझा जाता है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों के प्रधान पात्रों नायकों के चित्रण में तो उसी प्राचीन आदर्श-चित्रण की प्रणाली को ही अपनाया है। उनके नाटकों के सभी प्रधान पात्र नायक आदि आदर्श चरित्र हैं। उनका चरित्र सब दृष्टियों से परम उदात्त है शौर्य, वीर्य, पराक्रम, साहस, विद्याबुद्धि, कौशल, धैर्य, क्षमा दया, परोपकार, निःस्वार्थता, सच्चरित्रता आदि किसी भी सद्गुण की कमी नहीं है, अवगुण या निर्बलताएं उनमें नहीं हैं। अत एव उनकी स्वाभाविक विजय होती है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, बन्धु-वर्मा, पर्णदत्त, गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त, सिंहरण, चाणक्य आदि इसी प्रकार के आदर्श पात्र हैं। इनके जीवन में आदर्शों का ही महत्व है। अतएव ये पात्र लोक-जीवन के नहीं प्रतीत होते, अपितु उससे उच्च, उसके आदर्शभूत प्रतीत होते हैं।

किन्तु अन्य प्रतिद्वन्द्वी प्रति-पक्षी पात्रों के विषय में प्रसाद जी ने प्राचीन प्रणाली का स्वीकार नहीं किया है। उन्हें प्राचीन प्रणाली के अनुसार निरे अवगुणों का ही भण्डार नहीं दिखाया गया है। वहां उनमें यथार्थता का समावेश भी किया गया है। उनमें गुण भी हैं, और अवगुण भी। भटार्क और राक्षस आदि में निरे दोष ही दोष चित्रित नहीं हुए हैं। उनमें अनेक

सद्‌गुणों की भी स्थिति दिखाई गई है, जिनकी विरोधी भी प्रशंसा करते हैं। शर्वनाग, जयमाला, पर्वतेश्वर, आंभीक आदि पात्रों में यथार्थता का अधिक चित्रण हुआ है।

पात्रों का चित्रण व्यक्तिगत और वर्गगत दोनों रूपों में प्रसाद जी ने किया है। आदर्श पात्रों में भी सभी विशेषताएँ व्यक्तिगत नहीं हैं उनमें अधिकतर अपने वर्ग—आदर्श व्यक्तियों के वर्ग—की है, जिनका चित्रण उस पात्र के चरित्र में हुआ है। दूसरी श्रेणी के पात्रों का भी चित्रण अधिकांश में अपनी वर्ग-गति विशेषताओं को लिये है। वे पात्र अपने विश्वासों, रूढ़ियों और संस्कारों में इतने आबद्ध हैं, कि उनके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करता। ब्राम्हण पात्र ब्राम्हण के लिए अनुचित कार्य को नहीं करता। क्षत्रिय भी ऐसा ही करता है। कोई पात्र ऐसा करने पर उतारू होता भी है तो नाटककार कोई न कोई ऐसा कारण उपस्थित कर देता है कि उसका विचार बदल जाता है और वह उस कार्य से विरत हो जाता है। कोई अन्य साधन न होने पर, महात्मा, साधु आदि के उपदेश को ही कारण बना दिया जाता है, दिवाकर मित्र, प्रेमानन्द, व्यास आदि ऐसे ही पात्र हैं। इस प्रकार आदर्श व्यक्तियों में उनकी प्रकृति और स्वभाव आदि की व्यक्तिगत विशेषताओं का चित्रण होते हुए भी, वे अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार, अन्य साधारण पात्र भी अपनी व्यक्तिगतता के साथ अपने वर्ग के आदर्श प्रतिनिधि हैं, उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का आभास उनमें कम मिलता है। प्रसाद जी ने व्यक्तिगत चित्रण की अपेक्षा वर्गगत चित्रण ही अधिक किया है। इसका कारण भी था। कारण यह था कि उनके नाटक ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल के चित्रण के आग्रह से विभिन्न वर्गों की चारित्रिक विशेषताओं के चित्रण को ही उन्होंने अधिक महत्व दिया है। इससे नाटक में देश-काल का प्रतिबिम्ब अधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है। अतएव प्रसाद जी की प्रवृत्ति प्रधानतः आदर्शता की ओर रही है। वर्गगत चरित्र-चित्रणों में भी वर्गगत आदर्श आ ही जाते हैं। यथार्थमूलक व्यक्तिगत मनोविश्लेषणात्मक चित्रण प्रसाद के नाटकों में कम ही हुए हैं।

आदर्शवाद वस्तुतः तो कहीं भी नहीं छूटता। सत्पक्ष की विजय और

असत् पक्ष की पराजय, कठोर पर कोमल का शासन, पीड़ित के प्रति दया और अत्याचारी के विरुद्ध रोष आदि का निर्वाह किया गया है। कोई पात्र आदर्श से च्युत हो भी जाता है तो कोई न कोई कारण उपस्थित करके उसे फिर वहीं पहुँचा दिया जाता है। चाणक्य ने ब्राम्हणत्व के आदर्श से गिरकर कूटनीति का आश्रय लिया था। किन्तु अपने उस सारे कार्य-क्रम को समाप्त करके, वह फिर तपोवन में ही पहुँच जाता है। जाने पर, स्वय अपने भूतकालीन संघर्षमय जीवन को भ्रम-मात्र बताकर, उस ब्राम्हण-जीवन में ही वास्तविक सन्तोष रखता है। इस प्रकार के अनेक पात्र हैं, जिनका अपने आदर्श से पतन हुआ है और फिर हृदय-परिवर्तन हुआ। वहीं पहुँच गये हैं। व्यक्तिगत चित्रणों में स्वभाव, जाति, धर्मवर्गगत आदर्शों की ही प्रधानता होती है। आदर्श चरित्र तो भला हैं ही आदर्श, उनका तो बल, पराक्रम, स्वभाव गुण व्यक्तिगत होते हुए भी मनुष्यता के आदर्श होंगे। चन्द्रगुप्त आदि ऐसे ही आदर्श वीर योद्धा हैं। अत स्पष्ट ही प्रसाद जी ने चरित्र-चित्रण में आदर्श को कही भी ओझल नहीं होने दिया है। प्रायः सभी साधारण और विशेष पात्रों के चित्रण मे यथार्थ और आदर्श का यह समन्वय, जिसमें कि आदर्श यथार्थ से प्रधान है, ही सर्वत्र प्राप्त होता है। व्यक्ति का लक्ष्य कोई न कोई आदर्श रहा है। उसकी प्रवृत्ति, घूम फिर कर, गिर पड़कर, उसी की ओर होती है। प्रसाद के नाटकीय पात्रों का चरित्र किसी न किसी आदर्श के आधार पर खड़ा है। कथानक किसी न किसी उच्च आदर्श को लेकर चलता है नाटकीय व्यापार में, क्रिया मे, घटनाओं में, मानवता के ऊँचे आदर्शों का आधार रखा गया है। नाटकीय कला-विधि भी उनकी नाटकीय प्रमुख सिद्धान्तों या आदर्शों के ऊपर स्थित है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्राय. सभी प्रमुख आदर्शों का उन्होंने पालन किया है। किन्तु मौलिकता या स्वच्छन्दता भी रखी है। नाटकीय टैकनिक में उन्हे कई आवश्यक सुधार करने पड़े समयोपयुक्त। मूलरूप से प्राचीन आदर्शों का आधार रखते हुए, आवश्यक नवीनता के सयोग से, उन्होंने अपने नाट्य-विधान का निर्माण किया था। इस प्रकार, किसी भी दृष्टि से प्रसाद जी के समस्त नाट्य-विधान में आदर्श ही प्रमुख स्थान रखते हैं। अत: उपर्युक्त

आधार पर प्रश्न-गत उक्ति कि "जयशंकर प्रसाद की नाट्यकला पूर्णतया आदर्शवादी है।" समुचित सिद्ध हो जाती है।

६.—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक तथा अनूदित नाटकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। हिन्दी नाट्य-साहित्य में इन कृतियों का क्या स्थान है?

उत्तर—भारतेन्दु जी को हिन्दी नाटकों का पिता कहा जाता है। हिन्दी साहित्य का नाटकीय अंग बहुत ही अविकसित था। वास्तविक नाटक थे ही नहीं। भारतेन्दु ने इस अंग की पूर्ति की विशेष चेष्टा की। स्वयं बहुत नाटक लिखे और प्रेरणा करके लिखवाये भी। उनकी अपनी समस्त नाटक-रचनाओं को तीन रूपों में विभक्त किया गया है—मौलिक, रूपान्तरित और अनूदित। मौलिक रचना उनकी अपनी स्वतंत्र उद्भावना है। इसके निर्माण के लिए किसी दूसरी नाटकीय रचना का आधार नहीं लिया गया है। भारतेन्दु की मौलिक रचनाएं अनेक हैं। अनुवादित रचनाओं में वे रचनाएं हैं, जो कि संस्कृत, बंगला आदि किसी अन्य भाषा के नाटक आदि का अनुवाद हो। भारतेन्दु ने कई अनुवाद किये। इनसे भिन्न एक तीसरे प्रकार की अन्य रचनाएं भी हैं, जो न पूर्णतया अनुवाद ही कही जा सकती हैं और न मौलिक ही, किन्तु उनमें मौलिकता और अनुवाद दोनों की विशेषताएँ हैं। वे ऐसे अनुवाद हैं, जिनमें यथारुचि लेखक ने बीच बीच में परिवर्तन भी किया है। ये रूपान्तरित नाटक कहे जाते हैं। इस प्रकार की भी रचनाएं भारतेन्दु जी ने की हैं। उद्देश्य उनका यही था कि नाटक-साहित्य की किसी न किसी प्रकार वृद्धि हो।

भारतेन्दु ने निम्न मौलिक रचनाएं कीं—

प्रेम योगिनी (१८७५) यह छोटी सी चार गर्भांकों (दृश्यों) की नाटिका है। कथानक कुछ नहीं है। लेखक ने बनारस के चार दृश्यों का चित्रण किया है। पहिले में मन्दिर, पंडा, पुजारी, गुंसाईं, ब्रह्मचारी आदि में फैले व्यभिचार, अनाचार आदि का आंखों देखा सजीव चित्रण है। दूसरे दृश्य में, बनारस के दो अन्य स्थानों—ऐशी, गैबी—के दृश्य हैं। दलाल, गंगा पुत्र, भडेरिया, गुंडा, यात्री, आदि सबका चित्रण है। और तीसरे दृश्य में मुगल

मराय स्टेशन का चित्रण है। यात्रियों के लिए पंडे लोग, इक्के वाले, कुली लोग किस प्रकार समुत्सुक रहते हैं और उनके आने पर किस प्रकार का उनका आचरण होता है, यात्री लोग क्या प्रभाव लेकर जाते हैं, आदि का चित्रण है। चौथे दृश्य में काशी-निवासी दक्षिणी ब्राह्मणों के जीवन का चित्रण है। भंग पानी और भोजन की चिन्ता उन्हें सदैव लगी रहती है। सब केवल इन चार दृश्यों मे ही यह नाटिका पूर्ण हो जाती है। कथावस्तु कुछ नहीं है। नाटिका अपूर्ण है। पात्रों का चरित्र चित्रण संवाद, वस्तु-स्थिति आदि का सुन्दर चित्रण है। भारतेन्दु ने हिन्दी में सर्व प्रथम जीवन के वास्तविक चित्रण को नाटक का विषय बनाया। आगे के नाटक-साहित्य में इस वास्तविकता–चित्रण की नाटकीय धारा का ही विकास हुआ। इस दृष्टि से यह छोटी सी नाटिका हिन्दी नाटक-साहित्य में यथार्थ- चित्रण की नवीन धारा की प्रवर्तिनी है।

चन्द्रावली—इनकी दूसरी मौलिक नाटिका है। यह १८७६ मे बनी। इसमें चार अंक हैं। दृश्य कोई नहीं, अंकावतार एक अंक में है। प्राचीन नाट्य-प्रणाली में नान्दी-विष्कम्भक आदि का भी प्रयोग हुआ है। शृंगार रस का—विशेषतः वियोग रूप का–विशेषतर परिपाक हुआ है। विशेष भगवद् भक्ति भी है। यह एक सुन्दर प्रेम-नाटिका है, जो आगे के नाटक-साहित्य में प्रेम-प्रधान नाटकों की धारा की जन्म-दात्री है।

भारत जननी—(१८७७) इनकी तृतीय रचना है, जो नाटक के ढंग की तो है, पर नाटक नही है। भारतेन्दु ने इसे आपेरा (अंग्रेजी नाटक का एक भेद) कहा है। विषय राष्ट्रीयता है। भारतीयों को प्रबल उद्बोधन दिया गया है, जाग जाने का। एक ही दृश्य है, प्रारम्भ से अन्त तक। राष्ट्र–प्रेम को नाटकीय विषय बनाने की प्रवृत्ति का जन्म यहीं से होता है।

भारत दुर्दशा—(१८८०) चौथी रचना भी इसी राष्ट्रीय धारा का छः अंकों का नाटक है। इसमे, भारत की अधोगति का चित्रण करके, प्राचीन गौरव की स्मृति दिलाकर, उद्बुद्ध होने की प्रेरणा दी गई है। राजनैतिक वस्तु-स्थिति का चित्रण इसका विषय है, जो कि इस दिशा में सर्व-प्रथम प्रयत्न है। हिन्दी-साहित्य के नाटकों की राजनैतिक धारा का प्रथम नाटक

यही सिद्ध होता है। इसकी शैली प्रबोध-चन्द्रोदय वाली मानवी-करण की है अर्थात् अमूर्त भावनाओं का मूर्त पात्र के रूप में चित्रण करना। भारत, भारत-दुर्दैव, भारत दुर्दशा, सत्या नाश, निर्लज्जता, मदिरा, अन्धकार, रोग आदि निराकार भावनाए और दशाए साकार रूप में नाटक में नाटकीय पात्र बनकर रंग मंच पर आती हैं। इस नाटक में यथार्थ-चित्रण है। भारत की तात्कालिक आर्थिक राजनैतिक आदि दुर्दशाओं का सजीव स्वाभाविक चित्रण हुआ है। भारतीयों की अशिक्षा, मूर्खता, विदेशियों की राजनैतिक चालों आदि का दर्शन कराया गया है। नाटक रोचक है। संवाद बहुत सुन्दर हैं। भाषा परिमार्जित और समर्थ है।

नीलदेवी—(१८८१) पांचवी मौलिक रचना है, यह गीति-नाटिका है। कुल दस दृश्य हैं। कथानक इतिहास से लिया गया है। अमीर अब्दुस्सरीफखां द्वारा राजा सूर्यदेव को पकड़ कर मरवा देने पर उसकी रानी नीलदेवी, उसका बदला लेने के लिए नाचने वाली का वेश बनाकर, अमीर के खेमे में जाती है और शराब आदि से उसे बेखबर करके उसके छुरा मार देती। है इतना ही कथानक है। पति के लिए वीर बनने का उपदेश भारतीय नारी को दिया गया है। भाषा उर्दू-प्रधान इसलिए है कि पात्र अधिकतया मुसलमान हैं। अन्य हिन्दू पात्र हिन्दी ही बोलते हैं। गीत भी हैं। नाटक सुन्दर और नाटकों की ऐतिहासिक नाटक-परम्परा को जन्म देने वाला है।

सती प्रताप—(१८८३) छठी मौलिक नाटक-रचना है, यह नाटक पूरा नहीं है। इसका कथानक सावित्री सत्य-वान के चरित्रों के आधार पर बना है। भारतेन्दु इसे पूरा नहीं कर सके।

इन नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु ने कई मौलिक प्रहसन भी लिखे। इन प्रहसनों में मनोरंजन के साथ किसी सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक कुरीति या अन्याय पर करारी चोट भी हुई है। किसी न किसी कुरीति को लेकर ही इन प्रहसनों का निर्माण हुआ है। समाज के सामने उसके किसी अन्याय, अत्याचार या मूर्खता के चित्र को व्यंग्य रूप में, वक्रता के साथ रखकर, उस पर चोट करना प्रहसनों का लक्ष्य है। मनोरंजन का साथ

में विशेष ध्यान रखा जाता है। भारतेन्दु ने तीन प्रहसन लिखे हैं—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' (१८७३), 'विषस्य विषमौषधम्'' (१८७६) एवं ''अंधेर नगरी'' (१८८१) इस प्रकार प्रहसन-परम्परा की नींव पड़ती है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में मांसभोजी और अमांस भोजी चरित्रों का चित्रण है। मांस-भोजी वेद-विहित हिंसा—बलि आदि—को हिंसा नहीं मानते और अन्य मानते हैं दोनों की पारस्परिक खण्डन-मण्डन, आक्षेप प्रक्षेप, उक्तियां प्रत्युक्तियों में हास्य और करारा व्यंग्य सर्वत्र है।

विषस्य विषमौषधम में, विष की औषधि विष ही है, इस तथ्य का आधार लेकर, बड़ौदा नरेश मल्हार राव गायक वाड़ को सिंहासन-च्युत करने की घटना का नाटकीय चित्रण है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार यह उप-रूपक का 'भाण' नामक भेद है। रूपक या नाटक इसे नहीं कहा जा सकता।

तीसरा ''अंधेर नगरी' नामक प्रहसन अधिक सफल है। इसमें छः अंक हैं। इन्हे छः दृश्य भी कहा जाय तो कोई हानि नहीं। अंक बहुत छोटे हैं। इसमें किसी ऐसे राज्य का चित्रण है जहा धर्म, कर्म, कानून, व्यापार, शासन की सर्वत्र अव्यवस्था है। सबको एक ही लाठी से हाका जाता है। अपराधी, निरपराधी में कोई भेद-भावना नहीं है। ऐसे अन्धेर शासन का इसमे हास्य-व्यंग्यमय चित्रण हुआ है। मनोरंजन भी पूरा होता है।

इन प्रहसनो मे वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और अन्धेर नगरी ये दो प्रहसन विशेष सफल हैं। इन प्रहसनों को लिखकर भारतेन्दु ने सामाजिक जीवन के विषयों को लेकर प्रहसन लिखने की परिपाटी चलादी। ये नाटक प्राचीन नाट्य प्रणाली के अनुसार नाटकीय विशेषताओ से समन्वित करके लिखे गये हैं।

रूपान्तरित रचनाओं मे उनकी तीन रचनाएँ आती हैं। इन रचनाओं मे भारतेन्दु की मौलिकता भी है, किन्तु छाया-रूप मे अन्य नाटकों का आधार भी रखा गया है। इनमें मौलिकता और अनुवाद दोनों की विशेषताएं उपलब्ध हैं। इनमें रूपान्तर-कर्त्ता की यही विशेषता और परीक्षा है कि

वह रूपान्तर करते समय नाटकीय विषय के साथ कितना और कैसा न्याय करता है, विषय में उसके रूपान्तर करने में चमत्कार और रस की वृद्धि होती है या हानि, मौलिक आधार-भूत नाटक से रूपान्तरित नाटक सुन्दरतर बना है अथवा असुन्दर। इसी कौशल और कलाशक्ति पर उसकी सफलता या विफलता निर्भर करती है। भारतेन्दु ने सफल रूपान्तर किये हैं। निश्चय ही वे उनके मौलिक आधार-भूत नाटकों से अधिक सुन्दर बने हैं।

इनमें पहिला रूपान्तरित नाटक विद्यासुन्दर है। यह नाटक बंगला के यतीन्द्र मोहन ठाकुर द्वारा लिखित 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक के आधार पर लिखा गया है। इसमें विद्या और सुन्दर नामक एक राजकुमारी और राजकुमार के प्रेम का चित्रण है। उनका प्रथम लुक-छिप कर प्रणय होता है और पश्चात् विवाह हो जाता है। किन्तु इसका घटना-विकास दोष-पूर्ण है। शृंखला और नियोग बीच-बीच में टूटे हुए हैं। अनेक घटनाओं के संबन्ध का ज्ञान नहीं होता। अतः भारतेन्दु जी की यह उत्कृष्ट रचना नहीं मानी जाती। सम्भव है, ये मूलग्रन्थ की त्रुटियां हों, सम्भव है रूपान्तर में ही ये त्रुटियां आगई हैं।

इनकी दूसरी रूपान्तरित रचना सत्य हरिश्चन्द्र है। इससे पहिले पुराण-प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र के चरित्र को लेकर दो नाटक—क्षेमीश्वर का चण्डकौशिक और रामचन्द्रकृत सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्—संस्कृत में विद्यमान थे। भारतेन्दु ने इनकी बहुत सी बातों, घटनाओं आदि का आधार लेकर, अपनी मौलिक प्रतिभा से उसमें नवीन रूपान्तर करके अपना नाटक लिखा है। उसमें अनेक स्थल तो चण्डकौशिक के अनुवादमात्र हैं और अनेक उनकी अपनी मौलिक सूझ-बूझ है। घटनाएं भी कुछ उन्हीं नाटकों से ली हैं और कुछ भिन्न कल्पना प्रसूत अथवा अन्यत्र पुराण आदि से संगृहीत हैं। अतः इसमें मौलिकता और अनुवाद दोनों के गुण मिलते हैं। अतएव इसके विषय मे विद्वानों और आलोचक भिन्न-मत हैं। बा० श्यामसुन्दर दास, ब्रजरत्नदास आदि इसे भारतेन्दु का मौलिक नाटक मानते हैं, "कुछ लोगों का कहना है कि यह क्षेमीश्वर के चण्ड कौशिक का

छाया-अनुवाद है। पर उसमें और इसमें कई बातों में अन्तर है। सत्य हरिश्चन्द्र में नाटक का आरम्भ इन्द्र के द्वेष-भाव से होता है, वही विश्वामित्र को उत्तेजित करा के राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने और उन्हें धर्म-च्युत करने के लिए उद्यत करता है। पर चण्डकौशिक में राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को एक कन्या का बलिदान देते देखकर, उनकी भर्त्सना करते हैं और विश्वामित्र के शाप देने पर समस्त पृथ्वी का दान देकर उस शाप से मुक्ति पाते हैं। ...... इस नाटक का उद्देश्य राजा हरिश्चन्द्र की सत्य प्रतिज्ञा की महिमा दिखाना है। 'इस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र और चण्ड कौशिक के मूल आधार में ही बड़ा अन्तर है, अतएव एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है।" इनके विपरीत आचार्य शुक्लजी के मत से यह चण्डकौशिक का अनुवाद है, मौलिक नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अनेक स्थल ऐसे दिखाये हैं, जो अविकल अनुवाद हैं। पर वस्तुत: न यह पूर्णतया मौलिक ही कहा जा सकता है और न अनुवाद ही। इसमे दोनों की विशेषताएं हैं। चण्डकौशिक के अनेक स्थलों का अनुवाद भी हुआ है। किंतु अनेक अंशो में दोनो में भेद भी है। सत्य हरिश्चन्द्र की इन्द्र-सभा, नारद आदि का आना, रानी का फांसी लगाना आदि घटनाएं चण्ड-कौशिक में नहीं हैं। चण्डकौशिक की राजा-रानी विदूषक की बातें, विघ्नराट् का बाराहरूप धारण करना आदि घटनाएं सत्य हरिश्चन्द्र में नहीं। दोनों का आदि अन्त भी एकसा नहीं। अङ्क एक में पांच हैं, एक में चार हैं। इन मौलिक भेदों से वह पूर्णतया अनुवाद भी नहीं कहला सकता। अत: सत्य हरिश्चन्द्र को रूपांतरित मानना चाहिये। ऐसा करने से उपर्युक्त मत भेद के लिए भी स्थान नहीं रहता। है भी उसमे रूपांतर की ही प्रधान विशेषता, वह अनुवाद की अपेक्षा मौलिक अधिक है।

कुछ नाटकीय रचनाओं का, भारतेन्दु जी ने संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी के साहित्यों से अविकल अनुवाद भी किया है, जो बहुत समुचित है, जिसमें मूलगत भावों के साथ पूर्ण न्याय किया गया है। मूलभावों को विकृत न करके, उन्हें समुचित तथा स्पष्ट किया है। किसी भी अनुवादक की यही प्रथम विशेषता होती है कि वह मूल के भावों की यथानुरूप

(४) कर्पूर मंजरी—यह नाटक एक इसी नामके प्राकृत नाटक का अनुवाद है। अनुवाद समुचित है। मूल भावों की यथावत् रक्षा की गई है।

(५) मुद्राराक्षस—(१८७८) कविवर विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अविकल और अत्यन्त सुन्दर अनुवाद है, जिसे पढ़कर मौलिक नाटक का सा आनंद आता है। मुद्रा-राक्षस सात अंकों का नाटक है। प्राचीन संस्कृत नाट्य-प्रणाली के आधीन निर्मित हुआ है। इसकी कथा-वस्तु राजनैतिक है। नन्द-नाश के पश्चात, राज्य-प्राप्ति हो जाने पर भी, राक्षस युद्ध को तैयार रहता है, कुसुमपुर को पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु आदि की सहायता से घेर लेता है। चन्द्रगुप्त की राज्य-लक्ष्मी चंचल प्रतीत होती है। चाणक्य उसे स्थिर करने का निश्चय करता है और उसके लिए राक्षस को चन्द्रगुप्त के मंत्रित्व पद पर आसीन करने का उद्देश्य बनाता है। उसके निश्चय करते ही, उसकी बुद्धि ऐसी राजनैतिक गूढ़ चालें चलती हैं, कूटनीति के ऐसे घात प्रतिघात नाटक में चलते हैं कि कथा की रोचकता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। चाणक्य का पक्ष प्रबल रहता है, उसकी समस्त योजनाएं सफल रहती हैं और राक्षस की विफल होती हैं। अन्त में चाणक्य का निश्चय पूरा होता है। राक्षस पकड़ा जाता है और विवश होकर चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद संभाल लेता है। नाटक समाप्त हो जाता है।

जटिल विषय के कारण नाटक में थोड़ी जटिलता भी आ गई है। संवाद भी कहीं कहीं जटिल हैं। पर अनुवाद में भावों की पूरी रक्षा की गई है। भाव कोई अस्पष्ट नहीं रहने दिया गया है। गद्य पद्य का अनुवाद तद्‌नरूप ही हुआ है, गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में। इसमें भारतेन्दु के भाषाधिकार का पूर्ण दर्शन होता है। वह व्यंजनाशील, सुगठित और समर्थ है।

(६) दुर्लभबन्धु—यह शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटक मर्चेंट आफ वीनिस का अनुवाद है। अनुवाद में काफी स्वतंत्रता बरती गई है। गद्य में अनुवाद अधिक हुआ है। शेक्सपीयर के जैसे मुक्त वृत्त में अनुवाद नहीं किया गया है। छन्दोबद्ध कविता का पद्य में अनुवाद हुआ है। पात्रों के नामकरण में भारतीय नामों का प्रयोग किया गया है, अंग्रेजी नाम नहीं रहने दिये हैं। शैलक, बसैनियो, ऐन्टोनियो आदि पात्रों के नाम शैलाक्ष, बसन्त,

अनन्त आदि हो गये हैं। अनुवाद मूल भावों की पूर्णतया रक्षा करने वाला यथोचित सुन्दर है। अतः अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद करने का उनका यह प्रथम प्रयत्न सफल रहा है।

भारतेन्दु अपने युग के सबसे बड़े साहित्यिक नेता थे। उनकी नाटक-कृतियां भी हिन्दी नाटक साहित्य का नेतृत्व करती रही हैं। भारतेन्दु से पहिले भी यद्यपि यथाकथंचित् मौलिक और अनूदित नाटकों की धाराएं चली आ रही थीं, पर वास्तव में हिन्दी साहित्य की नाटकीय धाराओं का जन्म इन्हीं से होता है। मूल-रचनाओं और अनुवाद-रचनाओं की वास्तविक परम्परा इन्हीं से चलती है। अनुवाद के क्षेत्र में, संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी से अनुवाद करने की परिपाटियों को उन्होंने चालू किया। मौलिक क्षेत्र में भी अनेक धाराओं को जन्म दिया, जो तब से निरन्तर विकास करती हुई अब तक प्रवाहित हो रही हैं। वास्तविक-चित्रण को, इतिहास चित्रण को, प्रेम-प्रधान, राजनीति-प्रधान, राष्ट्रीय धारा, भक्ति-धारा, प्रहसन धारा, आदि सभी धाराओं का प्रारम्भ उनकी इन विभिन्न कृतियों से होता है। उनका नाटकीय महत्व कितना है, इस बात को छोड़कर, वे हिन्दी नाटक-साहित्य के प्रारम्भिक आदर्श-भूत नाटक हैं, जिन्होंने आगामी नाटक साहित्य का पथ-प्रदर्शन किया है।

ये रचनाएं वास्तव में, हिन्दी-नाटकों के युग का परिवर्तन करने वाली हैं। इन रचनाओं से ही हिन्दी नाटकों का वास्तविक श्री गणेश होता है। नाटक-रचना के विभिन्न रूप आते हैं। लोकजीवन का चित्रण नाटक का विषय बनता है विषय भेद से इन्हीं नाटकों से विभिन्न नाटकीय धाराओं का विकास होता है। भारतेन्दु से पहिले अनुवाद की परम्परा आ रही थी मौलिक परम्परा भी जैसे तैसे रूप में विद्यमान थी। भारतेन्दु की अनुवाद-रचनाओं में इन दोनों धाराओं का विकास हुआ। भारतेन्दु की नाटक रचनाएँ, अनुवाद के आदर्शों का पालन करती हुई, आदर्श अनुवाद हैं। इनसे अनुवाद का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। पहिले संस्कृत, प्राकृत आदि के ही अनुवाद होते थे। अब भारतेन्दु ने बंगला, मराठी तक अनुवाद-क्षेत्र विस्तृत किया। अनुवाद का एक नवीन रूपान्तरित रूप भी उपस्थित

किया। मौलिक क्षेत्रमें भी भारतेन्दु की रचनाएँ, अनेक नवीन नाटक-परम्पराओं को जन्म देती हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेम-प्रधान, वास्तविकता प्रधान, प्रहसन आदि प्रकारों के नाटक लिखने की परम्पराएं भारतेन्दु की इन्हीं मौलिक रचनाओं से प्रारम्भ होती हैं। इन रचनाओं का मुख्य आधार प्राचीन संस्कृत परिपाटी है, किन्तु उसमें नवीन आवश्यक सुधार भी भारतेन्दु ने किये हैं। उन्होंने प्राचीन नाट्य-प्रणाली को एक आधुनिक रूप देकर उपस्थित किया है। अतएव ये रचनाएँ, हिन्दी साहित्य के नाटकों में सर्व-प्रथम वास्तविक आदर्श-भूत रचनाएँ, हैं, जो कि हिन्दी के आगामी नाटक-साहित्य के लिए पथ प्रदर्शन के प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हुई, विभिन्न मार्गों में। ये रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अमर हैं, उसकी अमूल्य निधि-भूत, उनमें हिन्दी नाटकों के एक पूरे युग के विकास का इतिहास है। हिन्दी-साहित्य में ये सदैव आदर्श ही रहेंगी।

१०. निम्नलिखित ग्रन्थों में से किन्हीं दो पर विवेचनात्मक टिप्पणियां लिखिए १. चन्दा, २, आश्चर्यवृत्तान्त, ३ रसझरञ्जन, ४ पिपासा ५ स्मृति की रेखाएं।

उत्तर—चंदा एक बहुत छोटा सा—जिसे एक कहानी भी कहा जा सकता है—उपन्यास है। पृष्ठ संख्या ७५ है। लेखक उसके श्री अमृतलाल चक्रवर्ती हैं जो ख्यात नामा लेखक थे। चंदा का विषय या कथानक ऐतिहासिक है। चित्तौड़ के महाराणा लाखा के पुत्र राजकुमार चंदा की भीष्म-प्रतिज्ञाका वर्णन है। राजकुमार चदा के लिए ब्राह्मण विवाह का नारियल ले के आते हैं। दर्बार में महाराणा लाखा उन्हे मजाक से अपने लिए कह बैठता है। हास्य में वह ऐसा कर बैठता है राजपूती परम्परा के अनुसार कहने मात्र से विवाह मान लिया जाता है, किसी राजपूत रमणीका। चंदा की वह मातृस्थानीय बन जाती है। लाखा को अस्वीकार करते न बना। जब गद्दी के वारिस का प्रश्न उपस्थित हुआ तो चदा भीष्म के समान भीषण प्रतिज्ञा करता है राज-सिंहासन को छोड़ने की इसी आधार पर कथानक चलता है। लाखा का विवाह हो जाता है, चदा कुमार रहता है। लाखा के एक पुत्र उत्पन्न होता है। वही बढा होकर गद्दी का वारिस बनता है। चंदा

उसको राजावत् मानता है अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार। किंतु उसकी नव विमाता उसके विरुद्ध अपने भाई के साथ मिलकर फिर भी षड्यंत्र करती हैं, जिससे वह वहां से चले जाने को विवश हो जाता है। इसी प्रकार का कथानक है।

उपन्यास में ऐतिहासिकता इतने रूप में है कि उसकी घटनाएँ, पात्र स्थान आदि ऐतिहासिक हैं। उस युग की वास्तविक दशा का वर्णन थोड़ा बहुत वाच्य रूप में अवश्य किया है, किन्तु उसका वास्तविक चित्रण नहीं है, चित्रण में लेखक का कल्पना का ही दृष्टिकोण प्रधान रहा है। चरित्रों में आदर्शता की प्रधानता है। चन्दा का चित्रण आदर्श-भूत है, कहीं भी मानवीय दुर्बलताओं का लेश नहीं है। वह देवोपम लगता है। वह भीष्म से किसी अंश में कम नहीं है, अतएव वह वास्तविकता से दूर एक असाधारण पात्र है। अन्य पात्रों के चित्रण में भी स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता नहीं है। वस्तु-चित्रण अधिकतया वर्णनात्मक ढंग से किया गया है। यह उपन्यास हिन्दी-उपन्यासों के प्रारंभिक युग की रचना है। उस समय उपन्यासों का, तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक उपन्यासों का युग था। जीवन के वास्तविक चित्रण की अपेक्षा, उसके कल्पनात्मक चित्रण की ही प्रधानता थी। चन्दा उसी काल की रचना है। उसमें अपने काल की इन्हीं प्रवृत्तियों का दर्शन है। आधुनिक उपन्यास-कला की दृष्टि से उसमें अवश्य त्रुटियां हैं, परन्तु इसके लिए उपन्यास-साहित्य की उस समय की दशा-कारण है, उस समय कोई विशेष आदर्श उपन्यास-परम्परा हिन्दी में नहीं थी। फिर भी, उपन्यास के अनेक उत्कृष्ट गुण इस उपन्यास में प्राप्त हैं। अपने युग-विशेष का प्रतिनिधि होने के नाते से इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इन सभी दृष्टियों से चंदा अपने काल की एक विशेष रचना है, जिसमें आधुनिक प्रणाली में उपन्यास लिखने का सुंदर प्रयत्न है। संवाद, पात्र, वस्तु-चित्रण आदि स्वाभाविक न होते हुए भी रोचक हैं। मनोरंजन और शिक्षा उपन्यास के दोनों लक्ष्य हैं। चंदा अपने युग की सुन्दर उपन्यास कृति है छोटी सी।

विशेष—इससे आगे के ग्रन्थ अब परीक्षा-क्रम में नहीं हैं। अतः छोड़ दिये गये हैं।

वैदिक प्रेस, सीताराम बाजार, देहली

हिन्दी साहित्य रत्न प्रश्न पत्र ४ संवत् २००७

(१) आधुनिक गद्य-लेखकों मे आचार्य शुक्ल जी का स्थान निर्धारित करते हुए यह बताइये कि उनके निबन्ध विचार-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।

उत्तर—श्रद्धेय दिवंगत आचार्य श्री शुक्ल जी उन ऊँचे आचार्यों मे हैं, जिन्होंने हिन्दी गद्य को सामर्थ्यवाली बनाया, उसका परिष्कार किया और अपने अविश्रान्त प्रयत्नों से, अनेक अमूल्य ग्रन्थ निर्मित कर, उसको समृद्ध भी किया। हिन्दी गद्य लेखकों में श्री शुक्ल जी का स्थान कई रूपों मे है, उन्होंने निबन्ध लिखे हैं, आलोचनाएं लिखी हैं, इतिहास लिखा है। प्रामाणिक बृहत् शब्द कोष बनाये हैं, भाषान्तरों से अनुवाद भी किये हैं। कहानियाँ भी उन्होंने प्रारंभ मे लिखीं कुछ एक। इस प्रकार हिन्दी गद्य लेखकों के मध्य मे, श्री शुक्ल जी एक उच्च श्रेणी के निबन्धकार, एक गभीर एवं निष्पक्ष आदर्श वैज्ञानिक आलोचक, एवं साहित्य के एक बहुत बड़े इतिहासकार, कोष-कार और एक कुशल अनुवादक के रूपों मे विराजते हैं। कहानी-कारता नाम मात्र के लिए हैं। गद्य के इन उपर्युक्त क्षेत्रों मे उच्च साहित्य-निर्माण करने पर भी शुक्ल जी समालोचना और इतिहास के क्षेत्रों में आदर्श माने जाते हैं। हिन्दी गद्य 'साहित्य मे उनका इसी रूप में विशेष परिचय है। उन्होंने हिन्दी साहित्य का एक प्रामाणिक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचना-पूर्ण एव खोज पूर्ण विस्तृत इतिहास उपस्थित किया है। आगे के साहित्यिक इतिहासकारों का यह इतिहास मूलाधार बना। आज भी इनका इतिहास सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। आलोचना के क्षेत्र में भी वास्तविक आधुनिक ढग की आलोचना का श्रीगणेश इन्हीं से होता है। नवीन आधुनिक दृष्टिकोण से, प्राचीन काव्य शास्त्र का आधार रखते हुए, काव्य-कृतियों की तर्क और अनुभूति पूर्ण आलोचना का अवतरण इन्हीं से होता है। प्रसिद्ध आलोचक श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी के शब्दों मे "हिन्दी मे आधुनिक शैली के जन्म-दाता शुक्ल जी है। वे हमारे वर्तमान समीक्षा-साहित्य के आदि गुरु हैं।" इन दोनों ही क्षेत्रों मे वे आदर्श थ

आचार्य माने जाते हैं। निबन्धों के क्षेत्र में भी सर्व-प्रथम आधुनिक ढंग के, तर्क, विचार, आलोचना पूर्ण निबन्धों का श्री ग`ेश उन्होंने ही किया। मनोविज्ञान सम्बन्धी विवेचन का भी निबन्धों में विशेष चलन उन्हीं से होता है। कोषकार के रूप में भी उनका महत्व कम नहीं है। कोष-निर्माण में उन्होंने नवीन शब्दों का भी निर्माण किया है, जो पारिभाषिक हैं विभिन्न शास्त्रों के। उन का शब्द ज्ञान बहुत विस्तृत और प्रामाणिक था। तो भी, साहित्य के इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उनका स्थान सबसे ऊंचा और आदर्श का है। इन दोनों ही क्षेत्रों में वे सदैव आदि तो रहेंगे ही, गुरु भी अवश्य रहेंगे, उनके सिद्धान्तों के आधार इतने दृढ़ हैं। हिन्दी गद्य लेखकों में श्री शुक्ल जी का स्थान एक सर्वप्रथम आदर्श और गंभीर उच्च समालोचक, एक प्रामाणिक आदर्श इतिहास-लेखक एवं गंभीर आदर्श निबन्धकार और एक विद्वान् प्रामाणिक कोषकार के नाते से सदैव श्रद्धास्पद तथा वन्दनीय है।

निबन्धों के क्षेत्र में भी विचार-पूर्ण गभीर निबन्धों का श्री गणेश उन्हीं के गंभीर, आलोचनाशील लेखों से होता है। क्रोध, श्रद्धा, भय, कविता क्या है, आदि निबन्ध ऐसे ही तर्क-विचार-पूर्ण निबन्ध हैं। श्री शुक्ल जी हिन्दी में वस्तुतः गंभीर और तर्क विचार पूर्ण-साहित्य के स्रष्टा हैं। निबन्धों में भी उनका यही रूप रहा है। उनके निबन्ध अधिकांशतया विचार-पूर्ण हैं। जिस विषय को उन्होंने उठाया है, उसमें तर्क, आलोचना एवं विचार-शीलता के साथ वे आगे बढ़ते जाते हैं। विचारों की ततियां चलती हैं, बंधी हुई। एक के बाद एक संयोगी विचार स्वाभाविकतया बंधा चलता है। फलस्वरूप, यदि पाठक उनकी संस्कृत-गर्भित गंभीर भाषा को समझ सके, तो वह अनायास शुक्ल जी के साथ लगा लगा उनके निर्णय पर पहुँच जाता है और प्राय. उनके निर्णय से सहमत होता है। उनके विचारों की इस स्वाभाविक योजना के कारण ही वे गहन से गहन विचारों को आसानी से समझा देते हैं। उनके निबन्धों की इसी विशेषता को बताने के लिए उनके निबन्धों की 'स्वगत भाषणों' से तुलना की जाती है। वे स्वगत भाषण से प्रतीत होते हैं, मानो कोई गंभीर विद्वान् विचारक अकेला बैठा किसी विषय पर ऊंचे ऊंचे विचार कर रहा हो। इनकी शैली ऐसी

विचारशील, प्रधानतया विषयमुखी है, विषय का प्रतिपादन ही संक्षिप्त स्पष्ट रूप में इनका प्रधान उद्देश्य होता है। केवल अपनी भाषा-शैली के बल पर किसी को प्रभावित करने की इनकी प्रवृत्ति नहीं है। विषय के प्रतिपादन एव तर्क-पूर्ण विचारशीलता के द्वारा ही वे पाठक को मनाना चाहते हैं। श्री शुक्ल जी, इस प्रकार, एक आदर्श विचार-पूर्ण निबन्धों के लेखक हैं। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में, अपने काल मे विचार-पूर्ण तर्क-शील एवं गंभीर श्रेणी के निबन्ध-साहित्य के अभाव की इन्होंने जो शिकायत की है, उसी के निवारण का प्रयत्न इन्होंने, वस्तुतः, अपने निबन्धों मे किया है। अतएव विचार पूर्ण गंभीर श्रेणी के निबन्धों में श्री शुक्ल जी के निबन्ध सर्व प्रथम एवं आदर्श हैं। वैसे तो हिन्दी का प्रत्येक साहित्य का अध्येता श्री शुक्लजी के निबन्ध साहित्य से परिचित है, तो भी उदाहरणार्थ उनके निबन्ध का एक स्थल देखिये—

"जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावो के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है। जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है, क्योंकि भाव का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति भाव के रस दशा तक पहुंचने की योग्यता 'दाम्पत्य रति' में ही मानिये, तो पूर्ण भाव के रूप मे भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं मे बराबर मिलता है।........."

उनके निबन्धो में ऐसा ही तर्क और विचारो का विन्यास स्वाभाविक गंभीरता-पूर्वक चलता है। ऐसे स्थल बहुत कम आते हैं, जहाँ लेखक विचारात्मकता से व्यक्तिगतता में पहुँचा है। नहीं तो उनके निबन्धों में एक सी विचारधारा चलती है। (देखिये सा० र० प्रश्न पत्र ४ प्रश्न ४ का विकल्प संवत् २००२)

अथवा

भारतेन्दु युग की गद्य शैली की सामान्य विशेषताएं बताते हुए, बालकृष्ण भट्ट की शैली की मौलिकता का निर्देश कीजिये।

उत्तर—भारतेन्दुयुग आधुनिक हिन्दी गद्य का वस्तुतः जन्म काल

है। आधुनिक हिन्दी का जो रूप है, वह रूप उसे भारतेन्दु-काल में ही मिलता है। भारतेन्दु से पहिले हिन्दी-गद्य का जन्म बेशक हो चुका था, चार पांच अच्छे-अच्छे शक्तिशाली लेखकों ने अपने-अपने ढग से उसका प्रयोग भी किया था, किन्तु तो भी उसका स्वरूप स्थिर नहीं था। इन से प्रथम के गद्य लेखकों में कोई भी ऐसा भाषा-स्वरूप नहीं उपस्थित कर सका था, जो सर्व-स्वीकार्य हो। अतएव भारतेन्दु युग से प्रथम या तो खड़ी बोली गद्य निरी उर्दू मय लिखी गई, या कोरी संस्कृतमय, और इनमें भी ब्रजभाषा, पूर्वी आदि का विशेष प्रभाव रहता था। भाषा का ऐसा कोई भी रूप स्थिर नहीं हुआ था जो आदर्श हो और जिसका समस्त अनुकरण कर सकें। यह अभाव भारतेन्दु के द्वारा दूर होता है। सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ही इस क्षेत्र मे नेतृत्व करते हैं, अपने नाटकों में एक सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श गद्य रूप की प्रतिष्ठा करते हैं। अन्यों ने उनका अनुसरण किया गद्य-सिद्धान्त में। अतः भारतेन्दु युग की हिन्दी गद्य शैली की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उसमें रूप-स्थिरता है, लेखक अंधेरे में न भटक कर भारतेन्दु द्वारा निर्धारित राजपथ पर निःशंक चलता है।

भाषा का रूप स्थिर होने के साथ साथ भाषा के परिष्कार एवं चमत्कार के लिए विशेष प्रयत्न किया गया। लेखक प्रत्येक उपाय से अपनी भाषा को चमत्कार और प्रभाव से पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता था। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से उसमें चुस्ती और चलाऊपन लाया जाता है। लाक्षणिक प्रयोगों की ओर भी लेखक विशेष आकृष्ट हैं। भाषा में व्यंजनात्मक प्रयोग भी विशेष हैं। आधार मुख्य संस्कृत का रहता है; शब्द भण्डार आदि के लिए, किन्तु अन्य भाषाओं—उर्दू आदि—से भी अत्यन्त प्रचलित शब्दों को ले लिया जाता है। लेखक का ध्यान अपने विषय की ओर इतना नहीं रहता, जितना अपनी भाषा-शैली की बनावट एवं चमत्कृति की ओर। इस समय की शैली से स्थिरता के अतिरिक्त लक्षणा-व्यजनात्मक शक्ति, मृदुता, विनोद वृत्ति, चटक मटक, चुभन, सौन्दर्य, चमत्कृति आदि विशेष रूप से मिलते हैं। भाषा का रूप जब पूर्णतः स्थिर हो जाता है, तो लेखकों के व्यक्तित्व के अनुसार, उसमें पृथक् शैलियों का भी

जन्म होता है। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी गद्य शैली की उपर्युक्त विशेषताओं की सत्ता यद्यपि समान रूप से इस समयके सभी विशिष्ट गद्य लेखकों में प्राप्त होती हैं, तथापि किसी की भाषा-शैली में किसी विशेषता का आधिक्य है और किसी की में किसी का। किसी लेखक की भाषा-शैली, हास्य विनोद-पूर्ण, व्यंग्यात्मक, चुभती हुई है तो किसी की गम्भीर, अनुप्रासमय। कोई मुहावरों का अधिक प्रयोग करता है, कोई कम। कोई लम्बे वाक्यों का प्रयोग करता है, कोई छोटों का। अतः इन उपर्युक्त विशेषताओं के तारतम्य से इस युग में विभिन्न लेखकों की विभिन्न व्यक्तिगत शैलियों का विकास होता है। यही नहीं, अपितु, एक एक लेखक की विषय के भेद से अनेक शैलियां होती हैं—कोई गम्भीर, कोई विनोदपूर्ण, कोई आलोचनात्मक आदि। स्वयं भारतेन्दु जी की व्यक्तिगत तीन चार शैलियां दृष्टिगत होती हैं, जो वे भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखते हुए प्रयोग में लाते थे। इसीप्रकार अन्य लेखकों की भी कई कई शैलियां रहीं। अतः भारतेन्दु काल की गद्य शैली की यह भी एक बड़ी विशेषता है कि उसकी, अनेक प्रकार की, विषयानुरूप, लेखकों की व्यक्तिगत उपशैलियों का विकास होता है। अनुमान के लिए इस समय की कुछ गद्य-शैलियों के उदाहरण देखिये—

समझदार की मौत है

सच है "सब ते भले हैं मूढ़, जिन्हे न व्यापै जगत मति।" मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई त्यौहार आ गया तो गंगा-पुत्र को चार पैसे देकर सेंत-मेंत में धरम-मूरत धरम-औतार का खिताब पाना, संसार परमार्थ दोनों तो बन गये, अब काहे की हैहै और काहे की खैखै ? आफत तो बेचारे जिन्दा-दिलों की है, जिन्हें न यों कल और न वों कल। जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था, तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणीषु विशाल बुद्धिस्तथान्य भाषा रसलोलुपोऽहम्।" अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट [उर्दू] छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिन्ता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।"—

प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु जी की भावावेश पूर्ण एक गद्य शैली देखिये—

"झूठे झूठे झूठे ! झूठे ही नहीं विश्वास-घातक ! क्यों इतना छाती ठोक और हाथ उठा उठा कर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते, जहन्नुम में पड़ते । भला क्या काम था, इतना पचड़ा किया ? किस ने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनन्द था। फिर क्यों यह विषम संसार किया ? बखेड़िए ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयायी परले सिरे की।" ... पूरी निर्लज्जता ! लाज को जूतों मार मार के, पीट के, निकाल दिया है ।" ...
इन्हीं की एक गम्भीर शैली देखिये—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा-नाटकों का एक मात्र जीवन-दाता हरिश्चन्द्र ही दुखी हो ?"

"सहज सुन्दर मनहर सुभाव वि सुभाव से सब का चितचोर, सुचारु सजीव चित्र रचना चतुर चितेरा और जब देखो तब ही अभिनव सब नव रस रसीली नित नव भाव वर सरसीली, अनूप रूप सरूप गरबीली, सुजन मन मोहन मन्त्र की कीली," ... "छबीली कविता कल्पना कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अंग-अंग मोहिनी कला की सबला, सुभाव सुन्दरी, अति सुकोमला अबला की नवेली, अनोखी पर परम चोखी भी प्रेम पोखी .... भोली रूप छवि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी सी दरसा कर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, सरसाना, हरसाना और रिझाना ही है।"—गोविन्द नारायण मिश्र।

बाल कृष्ण भट्ट जी की शैली भी अन्य लेखकों के समान अपनी मौलिकता लिये है। अपने समय के वे उत्कृष्ट गद्य-उन्नायक लेखक हैं। उन्होंने हिन्दी-प्रदीप पत्र निकाल कर तीसों वर्ष उसके द्वारा हिन्दी की सेवा की। उसका सम्पादन करते समय असंख्य विषयों पर उनकी कलम चली हूँ होगी। अत एव उनकी शैली विशेष मज चुकी थी। उनकी शैली की प्रमुख विशेषता उनका हास्य और विनोद है, उनके गम्भीर से गम्भीर लेखों या निबन्धों में हास्य विनोद की पुट देदी गई है बीच बीच में। आलोचना करते समय हास्य

विनोद के साथ, अनोखी चोट करने वाली लक्षणा, व्यञ्जना भी विशेष आ जाती है। इस समय उनकी शैली उनके शिकार पर चोट करती हुई तीखा व्यंग्य रूप धारण कर लेती है। भट्ट जी अपनी शैली में व्यावहारिकता और चलतापन लाने के लिए कहावतों और मुहावरों का भी विशेष प्रयोग करते हैं—यद्यपि कहावतों का कम और मुहावरों का विशेष। शुद्धि की दृष्टि से भट्ट जी का झुकाव प्रधानतया संस्कृत की ओर है। उनकी शैली संस्कृत-प्रधान है; यद्यपि हास्य, विनोद, कटाक्ष, व्यंग्य आदि के लिए वे प्रचलित उर्दू शब्दों और मुहावरों का भी बहिष्कार नहीं करते। संस्कृत भाषा का ज्ञान और शास्त्रीय विद्वत्ता उनकी शैली में स्पष्ट झलकते हैं। बीच २ में संस्कृत की उक्तियाँ, प्रामाणिक उदाहरण आदि देते चलते हैं। तथापि उनका दृष्टिकोण इतना संकुचित नहीं है। उर्दू शब्दों और मुहावरों के साथ ही, अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को हिन्दी की ओर आकृष्ट करने के लिए, अंग्रेजी शब्दों, मुहावरों और कहावतों का भी हिन्दी में प्रयोग कर देते हैं, कभी कभी अंग्रेजी शब्द का हिन्दी अनुवाद करके और कभी कभी अंग्रेजी के तत्सम रूप में ही। कभी कभी ब्रैकेट में अंग्रेजी शब्द या वाक्य आदि भी दे देते हैं। कई लेखों के शीर्षक तक अंग्रेजी में ही हैं। इस-प्रकार शुद्धतावादी होते हुए भी उनका दृष्टि-कोण भाषा के विषय में इतना अनुदार नहीं है। इनके अतिरिक्त उनकी शैली की अन्य प्रमुख विशेषता है, उनकी कल्पना। कल्पना का रङ्ग उनकी शैली में सर्वत्र मिलेगा। छोटी-छोटी बातों को भी वे कल्पना का ऐसा रङ्ग देते हैं कि विषय और भी अधिक सुन्दर और प्रभावक बन जाता है। भट्ट जी की अन्य विशेषता है, उनके व्यक्तित्व का बीच में आ जाना। किसी भी प्रसंग में वे अपना व्यक्तित्व-वर्णन भी ले आते हैं, जो उसी प्रसंग का होता है, जिसके कारण उनकी शैली में रोचकता और भी विशेष हो जाती है। घरेलू प्रसङ्गों को भी कल्पना और अपने व्यक्तित्व का रङ्ग देकर इतना सुन्दर वर्णन करते हैं कि उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक चार्ल्स लैम्ब से की जाती है। साहित्यिकता भी उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में सर्वत्रैव साहित्यिकता प्रस्फुटित होती है—अनुप्रास, उपमा रूपक आदि अलङ्कारों का चमत्कार

उनकी शैली में प्रायः मिलता है। इन सभी विशेषताओं के संयोग से भट्ट जी अपने काल के उच्च श्रेणी के, सुसंस्कृत, परिमार्जित, व्यंग्य विनोद पूर्ण, व्यावहारिक एवं शुद्ध प्राजल गद्य शैली के लेखक हैं। उनकी शैली अपनी है, मौलिक है और विशिष्ट है। नीचे कुछ गद्यांशों के उद्धरण देखिये, जिन में उनकी उपर्युक्त मौलिक विशेषताएँ लक्षित होती हैं देखिये चन्द्रोदय पर उनकी साहित्यिक कल्पनाएँ—

.........'यह पूनो का चांद किसके मन को न भाता होगा ? यह गोल गोल प्रकाश पिण्ड देख भाँति-भाँति की कल्पनायें मन में उदय होती हैं कि क्या वह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है, या उसके कान का कुण्डल अथवा फूल है, या रजनी रमणी के ललाट पर बुक्के का सफेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चन्द्र मानो त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुन्द के सफेद फूलों का गुच्छा है, कामवल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ कबूतर है अथवा आकाश रूपी बाज़ार में तारा-रूपी मोतियों का बेचने वाला सौदागर है।'' ..

देखिये उनकी शैली का चलताऊपन, चमकतापन, विनोद, मुहावरे, कहावतें एवं अन्त में अपने व्यक्तित्व का वर्णन—

''इस आंसू में भी भेद है। कितनो का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आंसुओं की झड़ी पहिले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आंसू निकलता है, मानो रोना उनके सिरे रखा होता है। इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला हैं और अधीर हैं। दुःख के वेग में आंसू को रोकने वाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहां हर दम रहता है, तब इन के आंसू का क्या ठिकाना ? सत्वशाली धीरज वालों को आंसू कभी आता ही नहीं। कड़ी से कड़ी मुसीबत में दो चार कतरे आंसू के मानों बड़ी बरकत है। बहुत मौकों पर आंसू ने गजब कर दिया है। सिकन्दर का क़ौल था कि मेरी माँ की आंख के एक कतरा आंसू की कीमत मैं बादशाहत से भी बढ़कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ने ही परशुराम से २१ बार क्षत्रियों का संहार कराया। कितने ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें आंसू नहीं आता। इसलिए जहां पर बड़ी

जरूरत आंसू गिराने की हो तो उनके लिए प्याज का गट्टा पास रखना यही महज तरकीब निकाली गई। प्याज ज़रा-सा आंख में छू जाने से आंसू गिरने लगता है।

"किसी को बैंगन बावले किसी को बैंगन पथ्य"।

बहुधा आंसू गिराना भलाई और तारीफ में दाखिल है। हमारे लिए आंसू यही बला है। नजले का जोर है, दिन रात आंसू टपकता है, ज्यों ज्यों आंसू गिरता है, त्यों त्यों बीमारी कम होती है। क्या जाने बंगाल की खारी खाला समुद्र हमारे कपार से आकर भर रहा है। आंख से तो आंसू बहा ही करता है, आज हमने लेख में भी आंसू ही पर कलम चला दी, पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।"

भट्ट जी की शैली की ये ही ऊपर वर्णित मौलिक विशेषताएँ हैं।

अथवा

गद्य-साहित्य में गद्य काव्य का क्या स्थान है? "अतीत के चल चित्र" को आप गद्य काव्य की कोटि में रखेंगे या उसे आप कोई अन्य नाम देंगे?

उत्तर—भारतीय काव्य शास्त्र की दृष्टि से तो गद्य साहित्य में, गद्य काव्य का वही स्थान है, जो पद्य साहित्य में पद्य काव्य का, अर्थात् गद्य साहित्य हो या पद्य साहित्य, दोनों में काव्य को काव्य का ही स्थान मिलेगा। काव्य के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर दो भेद होते हैं—दृश्य और श्रव्य। श्रव्य के भी छन्दोबद्धता के आधार पर दो भेद होते हैं—गद्य काव्य और पद्य काव्य। अतः काव्य की दृष्टि से दोनों का स्थान अपने-अपने साहित्यों में समान है। इस दृष्टिकोण से, उपन्यास, कहानी, जीवन, संस्मरण, निबन्ध आदि समस्त रचनाएँ गद्य-काव्य के अन्तर्गत आएंगी, यदि उनमें काव्यत्व विद्यमान होगा। वे सभी गद्य काव्य हैं। किन्तु आज के साहित्यिक युग में गद्य काव्य शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में होता है।

आज, गद्य-साहित्य में, गद्य काव्य से, ऐसा, एक मुक्तक ढंग का, काव्यत्व और भाव पूर्ण गद्य-चित्र समझा जाता है, जिसमें कवि की अपनी भावनाओं और विचारों का ही प्राधान्य होता है। गद्य काव्य में कवि किसी

क्योंकि मुंह धोने से लेकर सोने के समय तक हमारा उससे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दश भिन्न दिशाएं खोजती हुई उंगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े बूढ़े के समान संभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गये थे''... .. .. ..

(मुंह धोते समय) "रामा के एक हाथ की चक्र-व्यूह जैसी उंगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शन-चक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी।"

(पर्दे के कठघरे में बन्द एक विधवा बालिका) "उस समाधि जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी साथी, बिना किसी आमोद प्रमोद के, मानो निरन्तर वृद्धा होने की साधना में लीन थी।"

(एक करारा कटाक्ष) "एक बच्चे को कन्धे से चिपकाये और एक की उंगली पकड़े हुए जो भिखारिन द्वार द्वार फिरती थी वह भी तो बच्चों के लिए ही कुछ मांगती फिरती थी। अतः मैंने निश्चित रूप से समझ लिया था कि संसार का सारा कारोबार बच्चों को खिलाने पिलाने सुलाने आदि के लिए ही हो रहा है और इस महत्त्व पूर्ण कर्तव्य में भूल न होने देने का काम मां नामधारी जीव को सौंपा गया है।"

(एक गभीर तथ्य) "स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है, तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण, इस सत्य को सत्य मान लेना पुरुष के लिए कभी संभव नहीं हो सका। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिए ही संभवतः वह अनेक विषम परिस्थितियों और संकीर्ण सामाजिक बन्धनों से उसे बांधने का प्रयास करता रहता है। साधारण रूप से वैभव के साधन ही नहीं मुट्ठी भर अन्न भी स्त्री के सम्पूर्ण जीवन से भारी ठहरता है।"

"स्त्री में मां का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है। जब वह इन विशेषताओं के साथ पुरुष के जीवन में प्रतिष्ठित हो

ाती है तब उसका रिक्त स्थान भर लेना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।"

इस प्रकार जीवन के इन धुंधले से अस्पष्ट अधूरे से चित्रों में कव-यित्री की कवित्व शक्ति, भाव प्रवणता, विचार शीलता एवं गहन दार्शनिकता प्रतिपद प्रदर्शित होती है। कवयित्री की आंखों ने जीवन को जिस रूप में देखा, ग्रहण किया एवं प्रदर्शित किया, उसी का प्रतिबिम्ब इन चित्रों में है। ये चित्र कवि-जीवन की एक-सूत्रता में बद्ध होने पर भी परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतंत्र हैं। अतः इस आधार पर 'अतीत के चलचित्र' स्पष्ट ही गद्य काव्यान्तर्गत होते हैं, वे उत्तम श्रेणी के संस्मरणात्मक गद्य-काव्य हैं।

२. हिन्दी भाषा के राष्ट्रीय स्वरूप की विवेचना करते हुए यह बताइए कि 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की रचना मानी जाए या उर्दू की।

उत्तर—हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा स्वीकृत हो जाने के पश्चात भी, उसके रूप के विषयमें अभी भी खींचातानी बन्द नहीं हुई है। इस खींचातानी के पीछे कई संकुचित मनोवृत्तियां काम कर रही हैं। उन्हीं में भूल कर लोग इस समय भाषा के आधार-भूत विकास-सिद्धान्त की ओर आंखें मूंद बैठते हैं। एक साहित्यिक वर्ग अधिकाधिक संस्कृत शब्दों के प्रयोग का पक्षपाती है, चाहे वह उस से, विसर्ग बिन्दु के बिना, निरी संस्कृत ही क्यों न बन जाए? वे लोग अन्य भाषाओं, विशेषतः उर्दू फारसी के शब्दों, मुहावरों आदि के प्रयोग से बचते हैं। किन्तु आश्चर्य होते है, जब ये ही शुद्ध संस्कृत-वादी लेखक अंग्रेजी शब्दों मुहावरों, आदि को तत्सम अथवा उनके अविकल अनुवाद रूप में रखते संकोच नहीं करते। एक अन्य वर्ग है, जो हिन्दी को अत्यन्त उदार, साधारण बोल-चाल के निकट का रूप देना चाहता है, जिसमें अन्य भाषाओं का भी प्रयोग हो। इस रूप में, अंग्रेजी, उर्दू, अथवा अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं के भी शब्द, मुहावरों आदि का प्रयोग होता है। अर्थात् यह मिश्रित शैली है, जिसमें लेखक अपने विषय, लक्ष्य एवं परिस्थिति के अनुरूप, किसी भी स्वदेशी या विदेशी भाषा के चालू शब्दों को मिला सकता है, तत्सम या तद्भव रूप में। इन दोनों ही

प्रकार के भाषा-वादियों में अभी भी मतभेद चल रहा है। अपने-अपने पक्ष में दोनों उक्ति-प्रत्युक्ति-तर्क आदि उपस्थित करते हैं।

शुद्धता या संस्कृतमयता के पक्ष वालों का कथन है कि हिन्दी को यदि वास्तविक रूप में राष्ट्रभाषा बनाना है, जिसे कि बिहार, बङ्गाल, महाराष्ट्र गुजरात आदि भारत के समस्त प्रान्तों में बोला समझा जा सके सुविधा से, तो अवश्य ही संस्कृत का प्रमुख आधार रखना होगा। हिन्दी में शब्द निर्माण, उनके मत से, संस्कृत से ही होना चाहिये; जितने भी व्यावहारिक, साहित्यिक अथवा वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण हो, वह संस्कृत से हो, अन्य भाषाओं—विशेषतः विदेशी उर्दू आदि—के शब्द हिन्दी में गृहीत न हों—या तो उनका संस्कृतानुवाद रखा जाय अथवा उनका हिन्दीकरण हो जाय। इस प्रकार से उनके मत से, हिंदी का वास्तविक रूप भी सुरक्षित रह सकता है और हिंदी का क्षेत्र भी विस्तृत हो सकता है, अन्य (अहिंदी) प्रान्तीय लोग भी हिंदी को सुविधा से सीख सकेंगे। क्योंकि, मराठी, गुजराती, बिहारी, बङ्गाली, राजस्थानी आदि भाषाओं का भी वही—संस्कृत या अपभ्रंश—स्रोत है। इन सब का उद्गम एक ही भाषा-परिवार से हुआ है, अपभ्रंश ने इनको शरीर दिया है, आत्मा संस्कृत ने दी है। लिपि भी एक सी है, थोड़े भेद से। संस्कृत का शब्द भण्डार भी इन भाषाओं के लिये सदैव खुला रहा है और उसका इन भाषाओं ने बड़ी उदारता से उपयोग भी किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ, इन भाषाओं से शब्द निर्माण भी अधिकांश में संस्कृत से ही होता है। इसके अतिरिक्त, दक्षिणी द्राविड़ भाषाओं का स्रोत हिन्दी परिवार से भिन्न होता हुआ भी संस्कृत के अत्यन्त निकट है। शब्द-भण्डार का उपयोग उन्होंने भी संस्कृत ही से अधिकांश में किया। इन दक्षिणी तामिल तैलगू आदि भाषाओं में भी ५०–६० प्रतिशत शब्द संस्कृत के प्रयुक्त हैं। अतः संस्कृत का ही प्रमुख आधार रखते हुए हिन्दी इन समस्त प्रान्तों में सुगमता से ज्ञेय बन सकती है। साथ ही, संस्कृत का आधार हिन्दी के साहित्यिक विकास एवं सामर्थ्य-वृद्धि का भी कारण है। संस्कृत शब्दों का प्रमुख आश्रय रखते हुए हिन्दी में संक्षेप एवं औचित्य-पूर्वक भाव-प्रकाश की सामर्थ्य बढ़ती है, साहित्यिक सौंदर्य एवं प्रभाव आते हैं, वह राष्ट्र भाषा

के पद या निर्वाह, जिसमे सभी विषयों का उचित सामर्थ्य पूर्वक वर्णन हो सके—भी तभी अधिक योग्यता से कर सकती है। इस वर्ग की ये ही प्रमुख युक्तियाँ हैं और इन्हीं के आधार पर नवीन वैज्ञानिक आदि शब्दों का निर्माण किया जा रहा है।

इस वर्ग के सिद्धान्त साधारणतया मान्य एवं स्तुत्य होते हुए भी भाषा-विकास एवं वास्तविकता के विरोधी है, अपनी चरम सीमा मे। कारण, इस पक्ष के अनुसार लिखी हुई उच्च संस्कृत गर्भित हिन्दी—जैसी कि निराला, पन्त, नगेन्द्र आदि आजकल लिखते हैं—यदि राष्ट्र-भाषा का रूप हो तो वह अन्य अहिन्दी—प्रान्तीय लोगों के लिए तो भले ही सुबोध हो जाय, किन्तु हिन्दी-प्रान्तीय सब लोगोंके लिए तो अवश्य दुर्बोध हो जायगी—उसका सार्वजनिक प्रयोग अव्यवहार्य है, समाज मे। उसके पूर्णतः समझने के लिए या तो संस्कृत पढ़नी पडे अथवा किसी की सहायता लेनी पडे। अब ऐसी हिन्दी मे सरकारी साहित्य या रेडियो ब्राडकास्टों का प्रभाव कितना और कितने क्षेत्र में होगा, यह भी सिद्ध हो जाता है। इंगलैण्ड में यदि अंग्रेजी के नाम पर सरकार शेक्सपीयर अथवा मिल्टन की अंग्रेजी मे व्यवहार करने लगे, तो सर्व साधारण अंग्रेज के लिए तो वह एक विभाषा सी प्रतीत होगी। भारत मे ऐसी स्थिति जान-बूझ कर क्यों उपस्थित की जाय? हिन्दी-प्रान्तों की सार्वजनिक बोली का जो शिक्षित रूप आजकल प्रचलित है, उसपर कई ऐतिहासिक कारणों का प्रभाव पड़ा है। उसका विकास जनता की वास्तविक दशाओं के परिवर्तन के साथ-साथ स्वाभाविक रूप में हुआ है। भारतीयो की सभ्यता, संस्कृति आदि पर जैसे मुसलमान एवं अंग्रेजों के प्रबल प्रभाव पडे हैं, वैसे ही भाषा और उसके साहित्य पर भी पड़े है। इतने दिनो के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण, मुसलमानोंके साथ व्यवहारमें, अनेक फारसी शब्दों का उसमे दूध पानी की तरह मिल जाना नितान्त स्वाभाविक है। अंग्रेजों के सम्पर्क से भी भारत की समस्त भाषाएँ प्रभावित हैं। अंग्रेजी विचार-परम्परा के साथ असंख्य अंग्रेजी शब्द भी उसमे इतने घुल-मिल गये हैं कि उनका हरेक को पता नहीं कि वे अंग्रेजी के है। हिन्दी का यह एक सार्वजनिक शिष्ट रूप है, जो कि हिन्दी-प्रान्तों में प्रचलित है, थोडे स्वरूप—भेदके साथ। उसको

छोड़ कर, भाषा को संस्कृत के धरातल पर पहुँचा कर, उस सर्वजनीन सम्पर्क से पृथक् करके, उसे राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाना, उसके भाग्य में उस पद से शीघ्र-पतन की रेखा खींच देना है। कारण, प्रजातंत्र राष्ट्र एक सार्वजनिक विषय है, जन-सम्पर्क उसका प्रधान आधार होता है। ऐसी दुरूह भाषा ले कर, न जन-सम्पर्क कर सकता है और न अपना दैनिक व्यवहार ही चला सकता है राष्ट्र। हिन्दी के इस रूपके भविष्यके लिए भी यह मत शुभ सूचक नहीं। कारण, भाषा-विज्ञान इस तथ्य का साक्षी है कि जब जब भी जन-सम्पर्क से दूर जा कर किसी भाषा-रूप ने कोई कृत्रिम दुरूह रूप स्वीकृत किया कि उसका पतन हुआ, तत्काल एक नवीन उद्गत रूप उदित हुआ उसका स्थान ले लेता है। भारतीय राष्ट्र-भाषा का भी यदि यही रूप रखा गया, जिसमें इतनी संस्कृतमयता हो कि हिन्दी के तद्भव शब्दों को भी न्यूनतम रूपमें प्रयुक्त किया जाय, अन्य भाषाओं का तो प्रश्न और, तो वह उसका कृत्रिम रूप होगा, वास्तविक सार्वजनिक नहीं, अतएव अस्थायी होगा, चिर-स्थायी नहीं। सार्वजनिक भाषा का स्वाभाविक उदित रूप उसका शीघ्र ही स्थान ले लेगा—उसका नाम चाहे हिन्दी हो और चाहे—यदि संकुचित शुद्धता-वादी दृष्टिकोण उसे हिन्दी मानने को तैयार न हो तो—हिन्दुस्तानी। राष्ट्र ऐसी संकुचित एवं सर्वजन के लिए दुरूह, अस्वाभाविक भाषा को ले कर, विश्व की समस्त प्रगतियों के साथ सहचार नहीं रख सकता। विश्व के इस प्रति-क्षण नवप्रगतिशील विकास में, ऐसी अविकासशील एवं अनुदार असार्वजनिक भाषा से किसी राष्ट्र का काम नहीं चल सकता। एवं केवल संस्कृत के बल पर ही आधुनिक विशाल प्रगतियों के साथ समपद रखना हिन्दी के लिए भी सम्भव नहीं। नहीं तो संस्कृत को ही क्यों अव्यवहार्य समझा जाय? यदि नवीन समस्त प्रकार के शब्दों का निर्माण संस्कृत में कर भी लिया जाय, तो भी वे शब्द यौगिक ही रहेंगे—रूढ़ होने के लिए बहुत समय लगेगा। सर्वत्र इसी नियम का पालन अतः भाषा के विकास में बाधक है। इससे तो अच्छा संस्कृत को ही राष्ट्रभाषा बना लिया जाय, उसे सर्वत्र समझते हैं बहुत से लोग। हिंदी में अधिक सांस्कृतिक भंडार है उस में। वह भी वैसी ही या उससे कुछ विशेष असार्वजनिक है, विशिष्टजनों की भाषा है। हिन्दी के [illegible]-प्रचारित

संस्कृत-शब्दों को सीखने में भी प्रायः उतना ही परिश्रम पड़ेगा जितना कि स्वयं संस्कृत के सीखने में। और, फिर संस्कृत-ज्ञान होना दोनों जगह दुर्निवार्य है। कारण, वैसी हिन्दी—शुद्ध संस्कृत प्रधान पर—पूरा अधिकार प्राप्त करने के लिए संस्कृत-ज्ञान अपेक्षित है। कोई भी असंस्कृतज्ञ वैसी हिन्दी का लेखक अपनी भाषा की शुद्धता का दावा नहीं कर सकता, जैसे कि फ़ारसी न जानने वाला अपनी ऊँची उर्दू की शुद्धता का दावा नहीं कर सकता। अतः संस्कृत ही क्यों नहीं अपनाई जाय? नहीं अपनाने में कारण यही है कि वह मातृ भाषा नहीं रही है, सार्वजनिक नहीं है। हिंदी अपने वास्तविक, ऐतिहासिक, स्वाभाविक रूप में भारत के अधिकतम भू भाग की मातृ भाषा भी है और सार्वजनिक व्यवहार की भाषा भी है। किंतु उसी हिन्दी का अधिकांश में संस्कृतीकरण करके, कृत्रिमरूप में, उसको राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाना, उसके भविष्य को मार देना है। निश्चय ही उसका अधिकार सार्वजनिक भाषा शीघ्र ही ले लेगी। इस बात को कोई साहित्यिक या वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं रोक सकेगा।

दूसरी ओर, मिश्रित भाषा के पक्षपाती अन्य साहित्यिकों के सिद्धांत अधिकांश में उपर्युक्त सभी दोषों से बच जाते है। इस मत में, हिन्दी प्रधानतया संस्कृत के आश्रित रहनी चाहिए, आवश्यक हिन्दी शब्दों का संचय और निर्माण संस्कृत से ही किया जाना चाहिये, किन्तु अन्य भाषाओं के और स्वयं अपने प्रति भी भाषा को पूर्ण उदार होना चाहिये। हिन्दी के अपने देशज तद्भव उपयुक्त शब्द होने पर, उनके स्थान में संस्कृत के तत्समशब्दों का प्रयोग सर्वत्र उचित नहीं और नाहीं अन्य देशी विदेशी भाषाओं के भी हिन्दी मे दीर्घकाल से अत्यन्त प्रचलित शब्दों को, केवल साहित्यिक संकुचित दुराग्रह-वश छोड़ देना उचित है। अन्य भाषाओं के नवीन व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक शब्दों को भी तत्सम या तद्भव रूप में गृहीत कर लेने के ये पक्षपाती हैं। इस प्रकार, इस मत से, हिन्दी में सार्वजनिकता भी बनी रहेगी और वह विश्व-प्रगति के विस्तृत और अनन्त विषयों को भी आत्मसात करने मे अधिक समर्थ बनेगी। इस मत से, ऐसे ही सार्वजनिक एवं उदार रूप मे, हिन्दी को अपनी राजभाषा बनाकर, भारतीय राष्ट्र अधिक

सफल रह सकता है और हिंदी के विकास का भी भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। हाँ, इस रूप के साथ, हिन्दी का यदि संस्कृत-गर्भित दुरूह साहित्यिक रूप भी विशेष उच्चशिक्षितों की रुचि-पूर्ति के लिए बना रहे, तो भी इन लोगों को कोई आपत्ति नहीं। उदाहरणार्थ हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द की भाषा ली जा सकती है। इस पक्ष के सिद्धांत वस्तुतः भाषा साहित्य एवं राष्ट्र सब के लिए हितकर हैं। इन्हीं उदार एवं भाषा विज्ञान पर आधारित सिद्धांतों का आधार रखकर हिंदी का उन्नय सम्भव है, तभी वह सार्वजनिक रहती हुई, राष्ट्र-कर्म संचालन में समर्थ रह सकती है और अपने साहित्य का विश्व-प्रगति से सहचार रख सकती है।

किंतु, इसमें भी अनौचित्य तब आ जाता है, जब राजनीति के क्षेत्र में जाकर, इन सिद्धांतों की मट्टी पलीत होने लगती है, जैसाकि कांग्रेसी क्षेत्रों में, हिंदुस्तानी के नाम पर, हिंदी के वास्तविक स्वाभाविक रूप की धोखाधड़ी हुई। मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए, हिंदी में संस्कृत शब्दों और फारसी के शब्दों का एक ही प्रत्युत फारसी का संस्कृत से अधिक अनुपात रखकर, हिंदी का आधा तीतर आधा बटेर—और वास्तव में कुछ भी नहीं—रूप उपस्थित किया गया। भाषा के साथ यह राजनैतिक बलात्कार अस्वाभाविक, अन्याय्य एवं उद्वेगकर है। इससे न भाषा का, न साहित्य का और न राष्ट्र का ही भला हो सकता है। यह मिश्रित भाषा-वादी सिद्धांतों की चरम एवं अस्वाभाविक सीमा है, जहाँ जाकर वे सिद्धांत अपनी उपयोगिता छोड़कर दोषकरता का ग्रहण कर लेते हैं। सौभाग्य से अब इस प्रकार की भाषा-विकृति के लिए अवकाश नहीं रहा है, पाकिस्तान के पश्चात्। किंतु, यह पूर्वोक्त राजनैतिक आवश्यकता समाप्त हो जाने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि भाषा अन्य व्यवहार-प्रचलित भाषाओं की ओर से मुँह मोड़ कर, केवल संस्कृत का ही पल्ला पकड़कर बैठ जाय। औचित्य को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है कि ये ऊपर कहे दोनों प्रकार की विचार-धाराएँ हिन्दी गद्य के विषय में बहुत पुरानी हैं। [illegible] के पूर्व से दो रूप प्राप्त होते हैं—एक ऐसा रूप है, जो संस्कृत-

प्रचुर है और अधिकांश में धर्म कथा आदि के रूप में शिष्ट समाज में प्रचलित है और दूसरा ऐसा रूप है, जो मुसलमानों के सम्पर्क से उदित हुआ था, जिसमें संस्कृत कम है और फारसी शब्द भी निस्संकोच मिले ए हैं। ये दोनों ही रूप बहुत देर तक साथ-साथ चलते रहे। कालांतर में, इस द्वितीय मिश्रित रूप से, मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के कारण, एक नवीन भाषा का निर्माण हुआ, जिसमें फारसी शब्दों की भरमार थी, जिसका ढांचा हिंदी का होते हुए भी जिस पर का मांस और लहजा एवं प्रारमा भी फारसी ने दिये थे और जिसका नामकरण उर्दू हुआ। किंतु इस उर्दू से पृथक् रह कर भी हिंदी के उन दो संस्कृत-प्रधान धार्मिक और फारसी-मिश्रित व्यावहारिक रूपों की सत्ता बनी रही। कुछ साहित्यिक मुसलमानों की भाषा-विषयक उस संकुचित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया में हिन्दी को शुद्ध संस्कृतमय बनाकर लिखने के पक्षपाती थे और कुछ उसको सहज प्रचलित मिश्रित रूप में रखने के ही पक्षपाती थे। भारतेन्दु से पहिले के लेखकों में इन दोनों रूपों की सत्ता है। भारतेन्दु ने इन दोनों ही रूपों की मध्यवर्तिनी आदर्श भाषा-शैली का निर्माण किया। उनकी शैली मिश्रित है, किंतु उस मिश्रण में संस्कृत का प्राधान्य है। इसी शैली का तात्कालिक साहित्य में ग्रहण हुआ। स्वयं आचार्य द्विवेदी जी इसी पक्ष के रहे। पश्चात्, राजनैतिक वातावरण में, जब मुस्लिम लीगियों की घोर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति और भी भयंकर रूप में परिणत हुई, तो राष्ट्र भाषा का प्रश्न झमेले में पड़ गया—हिंदी राष्ट्र भाषा बने या उर्दू। एक राष्ट्र के लिए दो समान भाषाएँ रखना अत्यन्त व्यय-साध्य एवं अव्यावहारिक है। फलस्वरूप हिंदुस्तानी का प्रचलन किया गया, राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन करने के लिए। उसमें बड़े बेढंगेपन से संस्कृत और फारसी का समान अनुपात रखने का अनुचित प्रयत्न किया गया। साथ ही, इस संकुचित भाषा-विषयक लीगी मनोवृत्ति के विरोध में प्रतिक्रियावादी नवीन लेखक हिंदी को और भी अधिक संस्कृतगर्भित करके लिखने लगे। उनके साथ ही उचित मिश्रणवादी पक्ष भी चलता रहा। आज भी ये दोनों विचार धाराएँ प्रचलित हैं, यद्यपि उनमें, पाकिस्तान बन जाने के बाद से

संस्कृतवादियों का मत अधिक शक्ति में है। हिन्दी-रूप-विषयक विवाद का यही संक्षेप में इतिहास है, जिससे स्पष्ट हो जाता है, कि इस विवाद के पीछे केवल एक संकुचित मनोवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तो, फिर, मार्ग क्या है? क्या इन दोनों विरोधी मतों में कोई सामञ्जस्य नहीं हो सकता? हो सकता है, बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य हो सकता है, भारतेन्दु जी ने करके दिखा भी दिया है। किन्तु, यह तभी संभव है, जब ये दोनों ही मतों के सिद्धान्त अपनी चरम सीमा को छोड़कर अपनी वास्तविक स्वाभाविक सीमा में आ जाएँ अर्थात् शुद्ध संस्कृत-वादी अपनी कट्टरता छोड़कर, केवल संस्कृत का मुखापेक्षी होना छोड़ दें और मिश्रणवादी दुराग्रहवश अधिकाधिक फारसी की ओर झुकना छोड़ दें। तभी, इन दोनों के सिद्धान्तों के सामञ्जस्य से एक ऐसे भाषा रूप का उदय होगा, जो अत्यन्त समर्थ, साहित्यिक, व्यावहारिक एवं सार्वजनिक होगा। इसी रूप मे हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा का औचित्य है, अन्यथा नहीं। इस रूप में, राष्ट्र भाषा बन जाने पर, फिर, यदि उसकी अन्य साहित्यिक शैलियाँ भी विकसित होती रहें, तो कोई आपत्ति नहीं-प्रत्युत उसकी सजीवता और विकास-शीलता की सूचक होगी। राष्ट्र भाषा हिन्दी के विषय में ऐसा ही उचित एवं स्वाभाविक निर्णय करने में भाषा, साहित्य एवं राष्ट्र का मङ्गल है।

उपर्युक्त विचार से, इंशा की भाषा के विषय का प्रश्न भी हल हो जाता है। इंशा की भाषा हिन्दी है। उस पर अहिन्दी होने का सन्देह होने का कारण केवल यह है कि इंशा ने फारसी के साथ संस्कृत शब्दों का भी बहिष्कार रखा है और शुद्ध तद्भव देशज शब्दो का ही प्रयोग किया है। तथा च उनकी भाषा मे उर्दू लहजा और उसी के ढंग के मुहावरे आदि आ गये हैं। किन्तु इसी आधार पर वह अहिन्दी नहीं बन सकती। उसका समस्त ढांचा, प्रकृति प्रत्यय विभक्तियां आदि हिन्दी के हैं। इंशा ने स्वयं भी हिन्दी लिखने की ही प्रतिज्ञा की है। हिन्दी के ही तद्भव देशज आदि शब्दो, मुहावरों आदि का प्रयोग किया है। उर्दू ढग की वाक्य-योजना व लहजा आ जाने से वह उर्दू या अहिन्दी नहीं बन जाती। उर्दू ढंग पर विशेष्य के अनुसार विशेषण में वचन-व्यत्यय करके, "खातिया पीतियां

जातियां" लिखने का कारण हिन्दी में उस समय व्याकरण का अभाव है। और, ऐसा सदल मिश्रने भी किया है। केवल लहजा या रूप विन्यास के परिवर्तन से बदरूप हो सकता है, मूल जन्मगत विशेषता नहीं बदलती, जब तक कि उसका ढांचा—शरीर—एवं आन्तरिक आत्म तत्व—विचार आदि—ही परिवर्तन में नहीं आ जाते। इंशा की भाषा ठेठ हिंदी है, जैसी कि हरि औध जी के ठेठ हिंदी का ठाठ की भाषा है, एक विशेष शैली के आधीन होकर लिखी हुई। अतः 'रानी केतकी' की भाषा राष्ट्र-भाषा की पूरी विशेषताएं न रखती हुई भी, अहिंदी नहीं मानी जा सकती, उर्दू तो किसी भी सूरत में नहीं। कारण, फारसी, उर्दू शब्दों का इंशा ने बहिष्कार रखा है। नीचे के उदाहरण को देखकर क्या कोई इसे उर्दू या अहिंदी कह सकता है?—

"इस बात पर पानी डाल दो, नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझ से कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुंह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूंगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह सुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूंगी।"

अथवा

हिन्दी गद्य की आधुनिक परम्परा का प्रवर्तन करने वालों का संक्षिप्त परिचय देते हुए सदल मिश्र का गद्य-साहित्य के बीच स्थान निश्चित कीजिये।

उत्तर—हिन्दी गद्य की आधुनिक परम्परा का प्रवर्तन करने वालों में चार नाम सर्व प्रमुख हैं—सदासुख लाल, इंशा, लल्लूलाल एवं सदल मिश्र। इन्हीं लेखकों ने, विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर, खड़ी बोली गद्य में, ग्रन्थ रचना कर, उसके रूप का प्रवर्तन किया था। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न है।

मुं० सदासुखलाल—(१८१८—१८८०) दिल्ली के निवासी कायस्थ थे। उर्दू के भी अच्छे शायर थे, उपनाम नियाज़ था। ईस्ट इंडिया

कम्पनी के एक पदाधिकारी भी रहे। अपनी आयु के अंतिम दिनों में नौकरी छोड़कर प्रयाग आकर रहे और हरिभजन में लगे गये। इन्होंने खड़ी बोली गद्य में योगवाशिष्ठ लिखा। इनकी गद्य-भाषा संस्कृत-प्रधान पंडिताऊ ढंग की है, जैसी कि हिंदुओं में उस समय धार्मिक कथा-वार्ता आदि में प्रचलित थी। उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों की अधिकता है, जिससे साहित्यिकता झलकती है। फारसी अथवा उर्दू शब्दों से प्रायः बचे हैं। भाषा पर ब्रज भाषा एवं पूर्वी का प्रभाव है। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाये।" "उन्हीं लोगों से बन आवै है।" 'जो बात सत्य होय।' जैसे प्रयोग सर्वत्र हैं। इनकी भाषा गंभीर धार्मिक आदि विषयों के उपयुक्त होते हुए भी व्यावहारिक, चलता एवं विशेष व्यवस्थित नहीं। यह वस्तुतः उस समय शिष्ट समुदाय में प्रचलित पण्डिताऊ भाषा है, जिसे मुसलमान 'भाखा' कहा करते थे। गद्य का एक उदाहरण—

. . . "विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठोर कीजिए और मन को, जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है निर्मल न कीजिए। तोता है, सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान नहीं।'

इन्होंने स्वतः, अपनी प्रेरणा से ही हिन्दी गद्य लिखी थी। अतः वह अपने विषय के अनुरूप संस्कृत-गर्भित एवं पण्डिताऊ है।

इंशा अल्लाखाँ—इंशा उर्दू के भारी शायर एवं लेखक थे। ये कश्मीरी थे। इनके पिता हकीम थे और बहुत दिनों दिल्ली सम्राट् के पास रहे। मुगल साम्राज्य की अवनति के काल में इनके पिता लखनऊ के नवाब के यहाँ आ गये। यहीं इंशा उत्पन्न हुए। इंशा ने अरबी फारसी की ऊँची शिक्षा पाई और बड़े उत्कृष्ट कवि हो गये। नवाब सिराजुद्दौला के मारे जाने पर इंशा शाह आलम द्वितीय के पास दिल्ली चले आए। वहाँ इनसे अच्छे अच्छे दरबारी कवियों ने मात खाई। मुगल सम्राट् की गिरती पड़ती दशा में वे फिर लखनऊ में चले आये। लखनऊ में तात्कालिक नवाब ने इनकी प्रतिष्ठा

की। किन्तु अन्त में किसी दिल्लगी पर रुष्ट होकर नवाब ने इनका वेतन आदि बन्द कर दिया, जिससे इनके अन्तिम दिन कष्ट-पूर्ण रहे। अन्त में संवत् १८७५ में ये मर गये।

इन्होंने उदयभान चरित अथवा रानी केतकी की कहानी खड़ी बोली गद्य में लिखी। इनकी भाषा सदा सुखलाल की पण्डिताऊ भाषा से सर्वथा भिन्न व्यावहारिक और चलाऊ है। उसमें, उर्दू ढङ्ग की चटक मटक, चोज, कटाक्ष, लक्षणा व्यंजना, तीखापन, चुलबुलापन हैं। लहजा भी उर्दू के ढंग का है, 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूं अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।' जैसी वाक्य योजना मिलती है। उर्दू ढंग में ही विशेष्य के अनुसार विशेषण में भी वचन बदला है, 'आतियां जातियां जो सांसें हैं······ आदि भी प्रयोग किये हैं। इन कारणों से इनकी भाषा अधिक चुस्त, चुलबुली एवं व्यावहारिक है। किन्तु उसका रूप ठेठ हिन्दी का है। इंशा ने प्रतिज्ञा करके अपनी भाषा लिखी थी कि उसमें अरबी फारसी आदि विदेशी, ब्रज अवधी आदि देशी एवं संस्कृत की पुट नहीं आने देंगे। इसीलिए इन्होंने हिन्दी के ठेठ देशज अथवा तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है। एक उदाहरण—

एक दिन बैठे बैठे यह अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा दिल फूल की कलि के समान खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो।·············अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धराने, डांग बूढ़े घाग यह खटराग लाये ········और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छांव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इंशा की यह भाषा ठेठ हिन्दी है। किन्तु साधारण चालू हलके विषयों के उपयुक्त व्यावहारिक होते हुए भी, यह भाषा गम्भीर विषयों के उपयुक्त नहीं है, इसमें कोई विशेष उन्नत गम्भीर साहित्य-रचना संभव नहीं।

लल्लूलाल—आगरा निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। ये सं० १८२० में जन्में और १८८२ मे मरे। ये कलकत्ता के फोर्ट विलियम्स कालिज में देशी भाषाओं के अध्यापक थे। देशी भाषाओं में कोई विशेष साहित्य न होने के कारण, इन्हें कालिज के प्रिंसिपल की ओर से, देशी भाषाओं के पाठ्य-ग्रन्थ लिखने की आज्ञा मिली थी। उसी के अनुपालन में इन्होंने हिन्दी, उर्दू और ब्रजभाषा में पुस्तकें लिखीं। हिन्दी खड़ी बोली में इन्होंने प्रेमसागर लिखा, उर्दू में सिंहासन बत्तीसी, बेताल पचीसी आदि चार पुस्तकें लिखीं और ब्रजभाषा गद्य में हितोपदेश की कहानियां लिखीं राजनीति नाम से। इनका अपना एक 'संस्कृत प्रेस' नाम का प्रेस भी था, जिसकी छपाई की बहुत प्रशंसा थी। अन्तिम दिनों में ये आगरे आ गए थे। इनकी मृत्यु फिर जाने पर कलकत्ता में ही हुई। ये संस्कृत एवं उर्दू फारसी के विशेष उच्च शिक्षित नहीं थे।

इनकी भाषा मु० सदासुखलाल की श्रेणी की शुद्ध हैं। इसमें इन्होंने प्रायः उर्दू आदि का मेल नहीं किया। सदा सुखलाल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का आधिक्य है, किन्तु इनकी भाषा में उनका इतना आधिक्य नहीं है। इन्होंने अधिकांश में इंशा की तरह खड़ी बोली के तद्भव शब्दों का विशेष प्रयोग किया है, किन्तु साथ ही ब्रजभाषा का भी विशेष मिश्रण किया है। इस पर यद्यपि पूर्वी प्रभाव भी है, पर ब्रजभाषा का तो इतना रंग है कि यह ब्रजभाषा का पद्यमय गद्य प्रतीत होती है। इसमें ब्रजभाषा पद्य की, छन्दों को छोड़कर, समस्त विशेषताएँ मिलती हैं। वही कोमलता, वही वाक्य रचना, वही तुकबन्दी, वही अनुप्रास, वही वर्णनशैली, क्रियाएँ, प्रत्यय, कारक आदि भी अधिकांश में ब्रज और पूर्वी के हैं। इनसे अनायास ही वह ब्रजभाषा गद्य सी लगती है। खड़ी बोली के प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी इन्होंने नहीं किया है। इन्हीं कारणों से इनकी भाषा कवित्व-पूर्ण, मृदु एवं संगीतपूर्ण तो है, पर उसमें व्यावहारिक अनुपयोगिता है, जीवन के साधारण कार्य-व्यवहार के वह सर्वथा अनुपयुक्त है। एक उदाहरण से ये सब विशेषताएँ प्रकाशित हो जाती हैं—

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति

देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अन्धेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचुली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आँखों की बड़ाई चंचलाई देख मृग, मीन, खजन खिसाय रहे।"

सदलमिश्र—बिहारी थे। लल्लूलाल के समसामयिक एवं उन्हीं के समान फोर्ट विलियम कालिज में देशी भाषाओं के अध्यापक थे। लल्लूलाल के समान ही इन्हें भी देशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने की आज्ञा मिली थी। इस आज्ञा के पालन में लल्लूलाल ने जहाँ भागवत दशमस्कंध का आधार लिया था, वहां इन्होंने गरुड़ पुराण का आधार लिया। गरुड़ पुराण के आधार पर इन्होंने नासिकेत ऋषि का उपाख्यान लिखा। उसकी भाषा खड़ी बोली है।

इनकी भाषा-शैली पूर्व के तीनों लेखकों से अधिक प्रशस्त है, अधिक विकसित एवं अधिक प्रकृष्ट है। जहां तक संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की बात है, ये मुं० सदासुखलाल के अनुयायी हैं, इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है, जिससे इनकी भाषा गम्भीर विषयों के भी उपयुक्त है। किन्तु सदा सुखलाल की भाषा में खड़ी बोली में प्रचलित उर्दू शब्दों और मुहावरों के अभाव से जो व्यावहारिकता एवं चलाऊपन की कमी थी, वह इनकी भाषा में नहीं है। इन्होंने खड़ी बोली में अत्यन्त प्रचलित उर्दू शब्दों और मुहावरों आदि का निस्संकोच प्रयोग किया है, जिससे इनकी भाषा में व्यावहारिकता भी है। इस दृष्टि से ये इंशा की श्रेणी में चले जाते हैं। तद्भव शब्दों और प्रचलित मुहावरों के प्रयोग में ये इंशा का अनुसरण करते हैं। लल्लूलाल की ब्रजीयता से भी ये प्रायः बचे रहे हैं, यद्यपि पूर्णतः ब्रजभाषा के प्रभाव से नहीं बचे हैं। ब्रजभाषा की सी वाक्य-योजना, तुकबन्दी, अनुप्रास एवं कवित्व इनकी भाषा में नहीं आए हैं। परन्तु इनकी भाषा में एक अन्य दोष आ गया है। वह है अत्यधिक पूर्वी प्रभाव। पूर्वी शब्दों क्रियाओं का इनकी भाषा में विशेष प्रयोग पाया जाता है। व्यवस्था की दृष्टि से, वैसे तो उपरोक्त सभी लेखकों की भाषाएं बहुत पीछे हैं, इनकी भी है, तो भी अपेक्षाकृत इनकी भाषा अधिक व्यवस्थित है।

इस प्रकार से, इनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित, व्यवस्थित एवं उत्कृष्ट है। यह गम्भीर और चलते दोनों प्रकार के विषयों के उपयुक्त है। अतएव यह आधुनिक हिन्दी के अधिक पास है, उसमें आधुनिक हिन्दी की प्रायः सभी विशेषताएँ अपने प्रारम्भिक रूप में मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक उदाहरण—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ ब्राह्मण, माता पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो बध करत हैं, वो झूठी साची भरते, झूठ ही कर्म में दिनरात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे वैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण आज की हिन्दी का प्रारम्भिक रूप निस्संकोच माना जा सकता है। श्री शुक्ल जी के मत से, "गद्य की परम्परा चलाने वाले··· ······चारों लेखकों में से आधुनिक गद्य हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुन्शी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है।" प्रत्युत सदासुखलाल की भाषा की अपेक्षा सदल मिश्र की भाषा में अधिक मिलता है। कारण, उसमें साहित्यिकता के साथ व्यवहारोचित चलाऊपन भी है। इस दृष्टि से हिन्दी गद्य साहित्य मे, आधुनिक गद्य परम्परा के प्रवर्तकों में, सदल मिश्र का स्थान सर्व प्रमुख माना जाता है। (सदलमिश्र की भाषा के सम्बन्ध में और भी देखिये प्रश्न पत्र ४ संवत् २००२ प्रश्न १ और प्रश्न पत्र ४ सवत् २००३ प्रश्न ३ तथा प्रश्न पत्र ४ सवत् २००५ प्रश्न १)

२. प्रेमचन्द को आप यथार्थवादी उपन्यासकार मानते हैं अथवा आदर्शवादी ? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

उत्तर—श्री प्रेमचन्द न कोरे यथार्थवादी हैं और न कोरे आदर्शवादी, वे, उनके अपने ही शब्दों के अनुसार, "आदर्शोन्मुख यथार्थवादी" हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के जन्म का कारण ही यथार्थवाद था। प्रेमचन्द

स्वयं भी औपन्यासिक क्षेत्रमें यथार्थवाद की ही अनुभूति करके आये थे। उनसे पहिले के उपन्यासों का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन था। कल्पना उनका प्रधान आधार था। बड़े-बड़े विशिष्ट व्यक्तियों के हास विलास आदि के कल्पनो-चित्र उपस्थित करके मनोविनोद करना उनका उद्देश्य था। तात्कालिक स्थूल जीवन की ओर से वे उपन्यास उदासीन थे। भारत में उस समय क्या दशा चल रही थी, इससे उनका सम्बन्धयनहीं होता था। राजनैतिक धरातल पर भी विद्रोह भावना उतनी नहीं पनपी थी। अंग्रेजों के प्रति इतनी विरक्ति नहीं थी। किन्तु प्रेमचन्द के काल में समय बहुत बदल चुका था। जीवन अत्यन्त जटिल हो चुका था। राजनैतिक अन्याय अत्याचारों के साथ सामा-जिक अत्याचारों का भी कुछ ठिकाना नहीं था। धार्मिक संकीर्णताएँ हिन्दु जाति को अन्धविश्वासों के गर्त मे ढकेले जा रही थीं। किसान, गरीब, मजदूर लोगों की जीवन ढोते-ढोते कमर टूट रही थी। स्त्रियों की बुरी दशा थी। समाज, धर्म, सबके आदर्श केवल पाखण्ड मिथ्याचार के रूप में रह गए थे। राजनीति की दृष्टि से तो अब परतंत्रता के प्रति रोषभावना जोर पकड़ ही रही थी। देश में महान् परिवर्तन का एक नवीन युग उपस्थित हो रहा था। विदेशों में समाज, धर्म एवं राज्य की बड़ी-बड़ी क्रान्तिया हो चुकी थीं। पाश्चात्य भौतिक सभ्यता पूर्वी देशों पर अधिकार करती जा रही थी। जीवन अधिक कठिन और जटिल हो गया था, विशेषतः धन-रहितों के लिए। ऐसी ही युग परिस्थि-तियों के चित्रण के लिए प्रेमचन्द ने उपन्यास क्षेत्र में पदार्पण किया था। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभूयमान जीवन के ही यथार्थ चित्रण के लिए उपन्यास-कला को अपनाया था। वे अपने से पूर्ववर्ती उपन्यासकारो के समान कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र मानने वाले कलाकारों में से नहीं थे। उन्होंने कला को साधन माना जीवन के चित्रण और अभिव्यंजन के लिए। चित्रण के साथ-साथ अपने आदर्शों के अनुकूल समाज को पथ-प्रदर्शन देना भी, साहित्यकार का बड़ा भारी कर्तव्य है। सो, प्रेमचन्द ने अपने समय की या आधुनिक युग की समस्याओं का ही चित्रण नहीं किया, अपितु उनके हल भी अपने मत से सुझाये। अपने उपन्यासों में वे जीवन की अनेक

बड़ी-बड़ी समस्याओं के चतुर चितेरे बने हैं और साथ ही पथ-प्रदर्शक भी। समाज, धर्म, नीति, राजनीति आदि क्षेत्रों की अनेक अन्ध परम्पराओं का उन्होंने भंडाफोड़ किया है। आदर्शों के कृत्रिम आडम्बर की धज्जियाँ उड़ाई हैं। गरीबों की दशा का चित्रण प्रेमचन्द का विशेष सजीव है। प्रेमचन्द ने अपने युग की पीडित जनता का ही पक्ष लेकर सदैव आवाज़ उठाई। इस दृष्टि से जीवन का यथातथ्य वर्णन करने वाले प्रेमचन्द पूर्णतया यथार्थवादी हैं। उनके चित्र वास्तविक जीवन के यथार्थ चित्र हैं।

किन्तु उनका यह यथार्थवाद निरा पार्थिववाद नहीं है स्थूल दृष्टि वाला। उनका यथार्थवाद उनके आदर्शवाद पर आश्रित है। यथार्थवादी बनकर जब वे जीवन का चित्रण कर चुकते हैं तो वे ऊँचे मानवता के आदर्शवादी बनकर फिर पथ-प्रदर्शन करते हैं, जीवन की विकट समस्या में से निकलने के लिए। उनके आदर्शों के आधार यद्यपि सामन्तयुगीन अथवा प्राचीन भारतीय ही हैं, तथापि वे ऐसा कोई आदर्श नहीं रखते, जो यथार्थवाद में न आ सके अथवा आकर भी जिसका रूप विकृत हो जाए। उनके आदर्श व्यावहारिक आदर्श हैं, जिनका निर्वाह मनुष्य जीवन के लिए मंगलकर है। त्याग, तपस्या, प्रेम, दया, परोपकार, सुधार, भक्ति, धर्म, कर्तव्य आदि के आदर्शभूत अनेक चित्र और चरित्र उन्होंने अपने उपन्यासों में दिये हैं। वे यथार्थवाद को आदर्शवाद के आधार पर ढालना चाहते थे, इसी में उन्हें सब जीवन की समस्याओं का हल प्रतीत होता था। ये आदर्श नैतिक एवं आस्तिक आदर्श हैं। इन्हीं के आधार पर मनुष्य जीवन देवोपम आदर्श बन सकता है। सूरदास, विनय, सोफिया, विनय की माता, होरी आदि विशिष्ट चित्र किसी न किसी आदर्श पर आश्रित हैं। किन्तु आदर्श के फेर में पड़कर प्रेमचन्द ने वास्तविकता अथवा यथार्थ को अयथार्थ नहीं किया है। उनके देव चरित्र, जो देवोपम दीखते हैं, भी मानव हैं, अपनी दुर्बलताओं के साथ। वे सब के लिए आदर्शभूत होते हुए भी मानव हैं, यथार्थ पर आधारित हैं। यथार्थ से विमुख नहीं हैं। बल्कि यथार्थवाद की ही आत्मा वे आदर्श हैं। अतः उन्होंने, वस्तुतः, एक प्रकार से, प्राचीन नैतिक आदर्शों का स्थूल यथार्थ चित्र उपस्थित किया अपने उपन्यासों में। इसी प्रकार यथार्थ का भी आदर्श-

रूप चित्रण करके उन्होंने उसको सब सुन्दर और मंगलमय बना दिया। उनके पथ-प्रदर्शक समस्त आदर्श चरित्र इसी यथार्थ और आदर्श के संयोग के उदाहरण हैं। प्रेमचन्द ने दो प्रकार के चरित्र रखे हैं,—एक ऐसे हैं, जो अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं और दूसरे ऐसे हैं, जो मुख्यतया अपने ही व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं। प्रथम प्रकार के चरित्रों में—राजा, प्रजा, अफ़सर, ज़मींदार, किसान, मालिक मज़दूर आदि में—उनके आदर्श सार्वजनिक आदर्श हैं। द्वितीय प्रकार के व्यक्तिगत चरित्रों में—सूरदास, होरी आदि—में लेखक के विशुद्ध नैतिक आदर्श आधार बनते हैं। इस प्रकार के यथार्थ और आदर्श के पूर्ण सामञ्जस्य में ही वे मनुष्य-जीवन का मंगल देखते थे। इसी में वे जीवन की पूर्णता समझते थे।

इस प्रकार, प्रेमचन्द न कोरे आदर्शवादी हैं, वास्तविकता से दूर, कल्पनालोक में सैर करने वाले और न कोरे स्थूल पार्थिव यथार्थवादी हैं, जो भौतिक आदर्शों के अतिरिक्त अन्य कोई आदर्श मानने को तैयार नहीं। वे वस्तुतः आदर्शवाद और यथार्थवाद के सामञ्जस्यवादी हैं। वे दोनों हैं—अकेले कोई भी नहीं।

अथवा

"झांसी की रानी" उपन्यास नहीं जीवन चरित्र है," इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—"झांसी की रानी" एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास की सभी विशेषताएँ उसमें उपलब्ध हैं। उपन्यास का विषय आद्यन्त ऐतिहासिक है। इतिहास के एक विशेष युग का चित्र उपस्थित करने का लेखक का विशेष प्रयत्न रहता है। अपने युग की प्रायः समस्त विशेष प्रवृत्तियों का उसमें विशद चित्र हैं। धर्म, समाज, देश, राजनीति आदिकी विविध क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का उपन्यास में समुज्वल चित्रण है। उस समय अंग्रेज़ों का आधिपत्य कैसी-कैसी कूट चालों से फैलता जा रहा था, मुगल राज्य की क्या दशा थी, देश के अन्य भागों में भारतीय राज्यों की क्या दशा थी, अंग्रेज़ उनसे कैसा व्यवहार करते थे, अंग्रेज़ी सेनाओं में भारतीयों की मनोदशा क्या थी, अंग्रेज़ों की उपेक्षावृत्ति अथवा

उच्छृंखलताएँ किस प्रकार भारतीय प्रजाओं—हिन्दु मुसलमान सब—में कैसी असन्तोष और संघर्ष की भावनाओं को उत्तेजित कर रही थीं; अन्त में देशव्यापी इस महान् क्रान्ति के क्या कारण बने, कैसे उसका संगठन और संचालन किया गया; उसके प्रधान संचालक पात्र कौन-कौन थे, क्रान्ति का रूप क्या रहा, कैसे वह भड़की और शान्त की गई, अंग्रेज़ों ने क्या अत्याचार किये, आदि सब का वर्णन बहुत ही विशद एवं रोचक है। उस युग के भारत के एक बृहत्तम प्रदेश का ऐतिहासिक चित्र समुपस्थित हो जाता है, साकार रूप में। उपन्यासों के घटना-वर्णन बड़े रोचक और स्पष्ट हैं। उपन्यास के पात्र चलते फिरते सजीव अनुभूत होते हैं। अवश्य ही उपन्यास में प्रारम्भ से अन्त तक वीरता एवं युद्ध की भावनाएँ ही प्रधानत. रहती हैं, तो भी अन्य प्रेम आदि की घटनाओं का भी स्पष्ट चित्रण है, जिनसे तात्कालिक धार्मिक एवं सामाजिक दशाओं का चित्र सामने आता है। राजा और प्रजा का कैसा सम्बन्ध था सामाजिकता-पूर्ण, न्याय व्यवस्था कैसी थी, प्रजा की दशा कैसी थी, राजा के प्रति कैसे भाव थे, शिक्षा, सैनिक शिक्षा, कर-ग्रहण आदि का क्या रूप था आदि सब का मनोरंजक चित्र उपस्थित किया गया है। तांत्या टोपे, नाना साहब, खुदाबख्श, जवाहरसिंह, रानी की सहेलियाँ आदि सबके चरित्रों का अच्छा सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण किया गया है। राजा के स्वभाव के रंगीलेपन, क्रोधीपन, उदारता, वीरता एवं दानशीलता का अच्छा चित्रण किया है। वह निर्दयी भी था, मौजी भी था, क्रोधी भी था, वीर भी था किन्तु समय देखते हुए कायर भी था, राजत्व का अभिमानी एवं भावुक था। इसी प्रकार अंग्रेज़ अधिकारियों और उनकी पौलिसी का भी स्पष्ट दर्शन कराया गया है। घटनाओं के वर्णन एवं चरित्रों के विकास में यद्यपि लेखक उपन्यास कला की दृष्टि से पूर्णता नहीं ला सका, अपने ऐतिहासिक विषय के विस्तार एवं वैविध्य के विशद सांगोपांग वर्णन करने के फेर में पड़कर, तथापि वे सजीव हैं, यथार्थ हैं और अपने काल के सत्य प्रतिनिधि हैं, अपनी अपनी सीमा में, चाहे उनके जीवन के पूर्ण रूप का चित्रण करने के लिए लेखक के पास अवकाश न रहा हो। घटनाओं की प्रगति में पात्रों के जीवन का

जितना संपर्क रहा, उसका स्पष्ट चित्र दिया गया है। पात्रों की क्रियात्मकता के साथ-साथ उनके मानसिक भावों का भी सजीव चित्रण हुआ है, चाहे वह कितने ही परिमाण में है। हिन्दू मुसलमान, सिख, ईसाई और अन्य जातियों की तात्कालिक दशाओं का स्पष्ट आभास दिया गया है, उन जातियों के प्रतिनिधियों का चित्रण ऐसे ढग से किया गया है, जिससे उनकी जातिगत प्रवृत्तियों एवं गुणों का आभास मिलता है। झांसी के राज्य से सम्बद्ध घटनाओं एवं राजनैतिक चालों का तो लेखक स्पष्ट, विशद एवं यथार्थ ऐतिहासिक चित्र देता ही है, साथ ही उपन्यास की रोचकता, रसमयता के वर्द्धन के लिए लेखक ने कई काल्पनिक प्रेम प्रसंगों की भी उद्भावना की है। लेखक ने ऐतिहासिक सत्यपूर्ण अपने शुष्क नीरस विषय को उपन्यासके योग्य रोचक एवं रसमय बनाने का शक्तिभर प्रयास किया है और अपने प्रयास में वह बहुत हदतक सफल भी रहा है। इतने बडे ऐतिहासिक युग का विशद एवं पूर्ण चित्र देने में यद्यपि अनेकत्र लेखक इतिहास के जैसा संक्षिप्त-सा, अकलात्मक नीरस वर्णन कर गया है, तथापि उपन्यास में सरस, मार्मिक एवं रोचक स्थलों की भी कमी नहीं हैं। बीच की नीरसता, इतिहास वर्णन की प्रवृत्ति लेखक के महान् प्रयास की आवश्यकता को देखते हुए क्षम्य हो सकती है। इस दृष्टि से झांसी की रानी अपने काल का विशेष सांगोपांग चित्र उपस्थित करने वाला एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास सिद्ध होता है।

किन्तु, एक अर्थ में, इसे जीवन चरित भी कहा जा सकता है। वह यह कि सारा उपन्यास इतिहास के केवल एक विशिष्ट पात्र—लक्ष्मीबाई—के चरित्र को प्रमुख रखकर चलता है। उपन्यास का प्रारम्भ मनु अथवा लक्ष्मीबाई के बालकपन के चित्रण से मुख्यतः होता है और उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है। आद्यन्त महाराणी के जीवन का ही वर्णन चित्रण आदि किया गया है। उसके जीवन से सम्बन्ध होने के कारण और उतने ही सीमित रूपमें अन्य समस्त ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों का भी चित्रण किया गया है। समस्त कथानक एवं पात्र उस अकेले जीवन के चारों ओर ही चक्कर काटते हैं। रानी उन सब में प्रमुख है। सब उसके चरण

छूते हैं। बालकपन से लेकर रानी बनना, अंग्रेजों से संघर्ष उपस्थित होना, महान् क्रान्ति का योजन करना और अन्त में उस क्रान्ति की ज्वाला में स्वयं भी आहुति बनना आदि में ही उपन्यास समाप्त हो जाता है। रानी के चरित्र के विकास में भी जीवन चरित की-सी शैली रखी है। उसका पूर्ण मानवीय विकास नहीं दिखाया गया है। वह प्रारम्भ से अन्त तक एक-रस है, विविध नहीं है। बाल्य से रानी की कुश्ती, शस्त्रास्त्र अश्व संचालन, वीरता, शक्ति की ओर रुचि दिखाई गई है। विवाह होने पर भी इस रुचि के विकास का अवसर रहता है। साथ ही राजनैतिक अनुभव भी रानी को होता है, यद्यपि राजनैतिक दशा का बहुत सा यथार्थ ज्ञान उनको पहिले से ही—बाल्य से ही—था, वह अंग्रेजों को भारत से निकाल कर देश की स्वतन्त्रता का समुज्ज्वल स्वप्न प्रारम्भ से ही देखा करती थी। विवाहोपरान्त उसके इस स्वप्न को साकार करने का अवसर भी उसे मिलता है। वह महान् क्रान्ति की प्रधान संयोजिका बनती है, स्वयं भाग लेती है, जीतती है अनेक बार शत्रुओं के दांत खट्टे करके और अन्त मे अभूतपूर्व वीरता के साथ स्वय बलिदान होती है। यौवन में ही वैधव्य भोगती हुई, धर्मपरायण जीवन चलाती हुई, वह साधना-पूर्ण जीवन बिताती है। जीवनमें उसे रक्तवर्षिणी स्वतन्त्र क्रान्ति की आयोजना के अतिरिक्त और कुछ कार्य नहीं है। जागते सोते उसे यही चिन्ता रहती है। प्रातः से सायं तक उसका जीवन एक कर्मठ संन्यासिनी का जीवन है। उसमें पौरुष, बल, साहस, बुद्धि, दया, परोपकार, राजनीति, चातुर्य आदि की पूर्ण सत्ता है। प्रारम्भ से अन्त तक, यौवन में वर्तमान, समस्त राज्य सुख साधनों की उपस्थिति में, वीर योद्धा युवा पुरुषों में रहती हुई में, उसमे नाम को भी कहीं स्त्री-जनोचित दुर्बलता लेखक ने नहीं दिखाई है, वह प्रारम्भ से शक्तिमती है, उत्तरोत्तर शक्तिमती होती जाती है, उसका दीप्त तेज प्रारम्भ से अन्त तक एक-सा रहता है। इससे वह मानवी न रहकर देवी की कोटि मे जा पहुँचती है। लेखक इसमें अन्तर डाल भी नहीं सकता था। झांसीबाई जैसे इतिहास-प्रसिद्ध, पूज्य भावना से समन्वित, श्रद्धेय पात्रका अन्यथा-चित्रण वह कर भी नहीं सकता था, इतिहास-विरोध एवं श्रद्धा-विरोध दोनों होते। फिर भी लेखक ने रानी के चरित्र को

पूर्ण अमानवीय होने से बचा लिया है। उसके पत्नी एवं माता दोनों रूपों का भी लेखक ने समुज्ज्वल चित्र दिया है। अपने सौभाग्य काल में रानी के गार्हस्थ्य प्रेम का भी उज्वल चित्र है। पुत्र जन्म और उसकी मृत्यु के उपरान्त अपने दत्तक पुत्र के लिए उसका मातृ हृदय सदैव स्नेह से लबालब भरा रहता है। अपने प्रिय दत्तकपुत्र को वह अन्त तक अपने से चिपकाये रहती है। "हरदी कूं कूं" के उत्सव के समय अपने पति का नाम बताते हुए रानी भी साधारण स्त्री के समान ही झेंप खाती है। तोप चलाते-चलाते आहत होकर मर जाने पर वह धूल में पटी बख्शिन की लाश से रोती हुई चिपट जाती है। झांसी से अन्तिम बार विदा लेते समय भी रानी का हृदय भर आता है। जाते समय किले को नमस्कार करती है तो आँखों में आँसू आने की सम्भावना हो जाती है। रानी में ये सब मानवीय दुर्बलताएँ दिखा कर लेखक ने उसे मानवीय बनाये रखने की चेष्टा की है। तो भी, चरित्र में असाधारणता या देवोपमता तो आ ही जाती है, जो कि लाना वस्तुतः लेखक को इष्ट भी है। इस उपर्युक्त अर्थ में झासी की रानी को यदि जीवन चरित भी कह दिया जाए तो असंगत नहीं है। इस दृष्टि से हम "झांसी की रानी' को ऐतिहासिक उपन्यास के ढङ्ग में सफलता पूर्वक लिखा हुआ झांसी की रानी का जीवन चरित औचित्यपूर्वक कह सकते हैं। लेखक ने इतिहास के एक महान् चरित्र के वर्णन करने के लिए इस उपन्यास की सृष्टि की है।

किन्तु, तो भी, उपन्यास कला की दृष्टि से "झाँसी की रानी" का महत्व कुछ कम नहीं होता। चाहे एक ऐतिहासिक जीवन का चित्रण उसका उद्देश्य है अथवा अपने काल का, 'झासी की रानी' एक ऊँची श्रेणी का ऐतिहासिक उपन्यास है, जो हिन्दी साहित्य का एक स्थायी रत्न है। उसे कोरा जीवन चरित कहना भूल होगी।

अथवा

'शेखर' उपन्यास की भाषा-शैली की विवेचना करते हुए यह बताइए कि उसका उद्देश्य क्या है।

उत्तर—जिस प्रकार का उपन्यास या जीवनी शेखर है, उसी प्रकार की उसकी भाषा-शैली है। शेखर का कथानक तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक

भाग स्वतंत्र है, किन्तु अपूर्ण है, अधूरा है। शेखर की जीवनी के इन तीन भागों में कथा सूत्रों की उपन्यास की जैसी एकता—एक सूत्रता—नहीं है। एक भाग का भी कथा-सूत्र विशृङ्खलित सा, साधारण जीवन की घटनाओं से बना है। वर्णन शैली भी उसकी वैसी ही अधूरी, अधिकांश में संकेत करती हुई, बहुत कुछ पूर्ति का भार पाठक पर छोड़ती हुई है। इसी प्रकार की भाषा शैली है। भाषा शैली असयत, भावावेश पूर्ण, उखड़ी सी, अधिकतया संकेत करती हुई, अधूरी भी है, जिसमें अनेक वाक्यों की पूर्ति का भार पाठक पर छोड़ कर उनके आगे डाट·· · · ···· ··स गा दिये जाते हैं। भाषा में अन्य भाषाओं का मिश्रण है। कहीं-कहीं वह मिश्रण दुरूहता की कोटि तक पहुँच गया है। संस्कृत के आधिक्य से भाषा साधारण पाठक के लिए दुरूह हो जाती है। फारसी शब्दों मुहावरों आदि का प्रयोग भी हुआ है। अंग्रेजी के तो शब्द क्या, वाक्य के वाक्य उठा कर लेखक ने रख दिये हैं। इन सभी कारणों से उसकी भाषा-शैली साधारण पाठक के लिए दुरूह बन जाती है। एक तो शेखर में, कथा सूत्र नाम मात्र का होकर, सर्वत्र मनोविश्लेषणात्मक एवं भावात्मक निरूपण ही चलता है। वे विचार अत्यन्त सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक हैं और प्रायः साधारण पाठक की पहुँच के बाहर हैं। उस पर फिर उनके वर्णन, प्रतिपादन की शैली भी क्लिष्ट, संकेत मूलक, अधूरी—बहुत कुछ छोड़ती हुई—है। उस पर भी उसकी क्लिष्ट एवं दुरूह, अस्पष्ट सी भाषा साधारण पाठक को और भी हतोत्साह करने वाली है। डैस, डाट, ब्रैकेट, भावावेश चिन्ह आदि विराम चिन्हों की भरमार के कारण पाठक का वैसे नाक में दम आया रहता है। यदि लेखक के प्रत्येक भाव और विचार के संकेतों को समझने के लिए, मनोयोग पूर्वक शेखर को पढ़ा जाए, तो एक घण्टे में चार पांच पन्नों से अधिक नहीं पढ़ा जा सकता—ऐसी क्लिष्ट भाव और विचार की योजना अथवा कल्पना लेखक ने उपस्थित की है। भाषा एवं शैली में ओज और सामर्थ्य होते हुए भी लेखक ने जान बूझकर भावावेश में उसे उखड़ी पुखड़ी सी, अस्पष्ट सी, अधूरी सी एवं क्लिष्ट रखने का प्रयत्न किया है। नीचे के दो चार उद्धरणों में उपर्युक्त समस्त विशेषताएं प्रतिफलित प्रतीत होंगी। कैसी संकेतमय अधूरी अस्पष्ट अभिव्यंजना है—

"जा रहा हूँ। कहाँ—जहाँ हम दोनों अपरिचित हैं। क्योंकि हम अभिन्न हैं, अत्यन्त एक हैं। और हमारा एकत्व मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है।"

ऐसा कोई ही पृष्ठ होगा शेखर में, जिसमें दो चार वाक्य ऐसे डॉटदार न हों। यथा पृष्ठ ६६ देखिये—

"ईश्वर की बड़ाई के छोटे-छोटे दृष्टान्त सच्चाई का महत्व सिद्ध करने के लिए लम्बे लेक्चर, मितव्ययिता के बारे में कोई चुटकला, उस लड़के के कमीनेपन पर फटकार, जिसने सवेरे मुरब्बा चुराया था और स्वीकार नहीं किया (चाहे कोई हो)

'उसे जान पड़ रहा था कि शीघ्र ही कोई ऐसा अवसर आने वाला है जब कि वह दबा हुआ सन्देह फूट पड़ेगा और न मालूम क्या रूप धारण करेगा ....पर बाहर से वह शान्त था और हाँ सुखी भी था... .. .

"सौन्दर्य को देख कर वह तन्मय नहीं होता, लेकिन उसके प्रत्येक कार्य में मानो जीवन का जोर बढ़ जाता है .. . ...

अंग्रेजी के शब्द इतने बड़े-बड़े आगये हैं—

"शेखर ने जा कर Moore's Family Medicine निकाली और आरम्भ से उसके पन्ने उलटने लगा (अनुक्रमणिका देखनी उसे तब तक नहीं आती थी)...इसी प्रकार सौ पचास रोगों के लक्षण अपने में पा कर वह मानसिक रोगों तक पहुँचा, तब उसने देखा, Melacholia भी उसे है। उसके बाद वह Hypoehondria पर पहुँचा......

अंग्रेजी उद्धरणों में कविताओं के स्टेंजे ही आगये हैं। अनेकत्र वार्तालाप में अंग्रेजी के वाक्यों का प्रयोग है।

ब्रैकेट प्रयोग—

"और इसी प्रकार सारा दिन नियम के बाहर कोई चीज नहीं खानी (पानी पीने के भी समय नियत थे) किसी से बोलना नहीं, ताश नहीं खेलनी (ऐसा फिजूल कोई खेल नहीं खेलेगा)...... .

"आखिर—द्वार। वहाँ पिता खड़े थे-जिनके मुख की ओर एक बार देख कर वे भीतर चले गए। उसके मुख पर वह था जो दो बार नहीं

दीखता—न किसी को दीखे।

ऐसी ही अस्पष्ट सी संकेत व्यंजना पूर्ण, बहुत कुछ दुरूह भाषा शैली शेखर की है। वह भाव-प्रधान, नवीन ढङ्ग की, विश्लेषणात्मक है।

शेखर का उद्देश्य अन्य कला-कृतियों के समान ही जीवन का एक चित्र उपस्थित करना है। शेखरमें एक विशेष व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखे हुए जीवन का चित्र है। स्वयं लेखकके अपने शब्दोंके अनुसार, शेखर में एक विशेष व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन-दर्शन या जीवन की फिलासफी है अथवा एक विशेष व्यक्तिगत दृष्टिकोण से की हुई जीवन की आलोचना है। वह दर्शन या आलोचना सर्व स्वीकरणीय है या नहीं, इस प्रश्न को एक ओर छोड़ कर लेखक ने जीवन को जिस दृष्टि कोण से देखा है और उसका जो निष्कर्ष निकाला है, उन्हीं को उपस्थित करना शेखर का उद्देश्य है। उपन्यास की दृष्टि से शेखर विफल रचना है, क्यों कि उसमें न वह टैकनिक पूरी है और न वह चित्रण शैली है। उसमें तो जीवन का मन का मतिष्क का विलोडन है, वह विश्लेषण और वह विलोडन ही उपस्थित करना शेखर का उद्देश्य है।

४. हरिश्चन्द्र ने नाट्यरचना में जिस मौलिकता या नवीनता का संचार किया, उसका संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

उत्तर—हिन्दी नाट्य रचना का वास्तविक सूत्रपात ही भारतेन्दु जी से होता है। हिन्दी साहित्य में नाटक रचना केवल नाम लेने को उपलब्ध थी। वह भी ऐसी कि जिसे नाटक रचना कहना सत्य का गला घोटना है। कारण, वे वस्तुतः नाटक हैं ही नहीं, नाटक का भास मात्र हैं। हिन्दी साहित्य के काव्य का तो भारतेन्दु से पहिले अनन्त विकास हो चुका था, किंतु नाटकादि अन्य अङ्ग तो विस्मृत ही रहे थे, साहित्यिकों को। उसके ऐतिहासिक कारण भी थे। परन्तु यहाँ तो केवल इतना अभिप्राय है कि भारतेन्दु से पहिले की हिन्दी में कोई भी उत्कृष्ट नाटक रचना नहीं उपलब्ध होती। अतः किसी नाटक रचना पद्धति का भी जन्म नहीं हुआ था। जो नाटक नाम से रचनाएँ मिलती भी हैं पहिले की, वे भी नाटकीय होने की अपेक्षा अधिकांश में श्रव्य काव्य ही हैं। नाटक का सारा व्यापार पद्य बद्ध होता है। बातचीत छन्दों में है। और फिर, नाटककार श्रव्य काव्यकार की भांति

ही साक्षात् सामने आकर वर्णन करता है नाटकीय विषयों का, न करे तो नाटक का कथानक नहीं चलता, इस प्रकार नाटककार स्वयं अपने नाटक का विशेष कथा-संचालक पात्र बन जाता है। पर नाटकीय शैली में नाटककार का स्टेज पर कहीं पता भी नहीं होता। वह व्यक्तित्व को अन्तर्भूत रख कर चित्रण करता है। अतः पहिले से प्राप्त उन नाटकों में नाटकीय शैली की अपेक्षा श्रव्य काव्य की ही शैली है। हाँ, सूत्रधार, अङ्क, दृश्य, प्रस्तावना आदि नाटकीय नाम अवश्य उनमें आये हैं, जिनके आधार पर उन्हें नाटक कह दिया जा सकता है गौण रूप में। वस्तुतः वे नाटक नहीं। अतः हिंदी नाटक रचना के क्षेत्र में तो भारतेन्दु ने जो कुछ भी किया, वह सारा का सारा नवीन ही नवीन है। उन्होंने सारी पद्धति का ही नव निर्माण किया। उसकी अनेक धाराओं को जन्म दिया। और, इसी पद्धति एवं इन्हीं धाराओं के प्रसार एवं विकास का इतिहास ही वस्तुतः आगे के हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास है।

हाँ, संस्कृत की नाटकीय पद्धति परमोन्नत थी, प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण से। संस्कृत में नाट्य शास्त्र का पूरा विवेचन था। सूक्ष्म सी बात भी कोई नहीं छोड़ी हुई थी। वस्तु, पात्र, रस आदि नाटकीय तत्वों के साथ, नाटकीय स्थूल सूक्ष्म सभी बातों का पूर्ण ज्ञान उपस्थित किया गया है। रङ्ग शाला तक का बड़ा नपा-तुला विस्तृत वर्णन है। उन्हीं नाटकीय नियमों के आधीन हो कर लिखे गये अनेक आदर्श कोटि के नाटकों की भी संस्कृत में कमी नहीं है। उनके अनुवाद हिन्दी में प्रायः होते रहे हैं। अतः स्वभावतः हिंदी में नाटक-रचनाका प्रारम्भ करते समय, भारतेन्दु ने संस्कृत नाटक-सिद्धान्तों का ही प्रधानतः सहारा लिया। उसी के आधार पर नाटक लिखने प्रारम्भ किये। किन्तु संस्कृत नाटक सिद्धान्त मूलतः आज भी मान्य होने पर भी, उनमें से अनेक आज के समय के उपयुक्त नहीं हैं। उन्हें छोड़ने की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन नाटक प्रणालीमें आधुनिकता के उपयुक्त कुछ आवश्यक नवीन सुधार भी करने की आवश्यकता थी। भारतेन्दु का बङ्गला नाटकों एवं अँग्रेजी नाटकों से भी परिचय हो चुका था, अतः नवीन नाटक कला का आभास भी भारतेंदुजी को मिल गया था। उसकी अनेक बातें उन्हें आजके समय

के अधिक उपयुक्त जान पड़ीं। फलत. उन्होंने उनका अपनी नाटक-प्रणाली में ग्रहण भी किया। और, यों संस्कृत नाटक सिद्धांतों का मुख्य आधार रखते हुए भी, नवीन कालोपयोगी एवं नवीन नाटक रचना प्रणाली के आधार पर, उसमें आवश्यक त्याग एवं ग्रहण द्वारा, सुधार करके, उन्होंने अपनी नाटक शैली को जन्म दिया था, जो वस्तुतः प्राचीन है, अपने मूल रूप में समयोपयोगी कुछ नवीन परिवर्तन लिये हुए। यह नवीनता भारतेन्दु नाटक के कई तत्वों में लाये। उनका संक्षेप में व्यौरा निम्न दिया जाता है।

अनुवादों में भारतेन्दु कोई नवीन विशेषता नहीं लाये। ला भी नहीं सकते थे। अनुवादक को इतनी स्वतंत्रता नहीं होती। इतनी नवीनता अवश्य लाये कि अनुवादों में, नाटक के बीच बीच में गाये जाने के लिए, इन्होंने गीतों की रचना करके, परिशिष्ट में दे दिये। उनके गाये जाने से अनूदित नाटकों में मनोरञ्जन एवं रोचकता की मात्रा बढ़ जाती है। अनुवादों के साथ पहिले से रूपान्तरित नाटकों की भी एक अधूरी-सी प्रणाली चली आ रही थी। भारतेन्दु जी ने उसको भी अपनी मौलिकता के साथ नवीन आधुनिक रूप दे कर अपनाया। भारतेन्दु के कई सुन्दर रूपान्तरित नाटक हैं, जिनमें सत्य हरिश्चन्द्र भी गिना जाता है। इन नाटकों में भारतेन्दु की मौलिकता के कारण मौलिक नाटक कासा आनँद आता है।

इन क्षेत्रों से निकलकर इन्होंने मौलिक रचनाओं की भी अनेक धाराओं का प्रचालन किया। ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रेमप्रधान, भक्ति पूर्ण, सामाजिक, राजनैतिक, प्रतीकात्मक, समस्यापूर्ण आदि अनेक नाटकीय धाराओं का श्रीगणेश किया, जिनका आगे के कालों में पूर्ण विकास हुआ। इनके साथ ही एक व्यंग्य हास्य पूर्ण प्रहसनों की परम्परा को भी जन्म दिया। इस प्रकार से संस्कृत नाटक की सीमित परिधि से निकल कर अनेक प्रकार के नाटकों की रचना का सूत्रपात किया।

नाटकों की वस्तु या कथावस्तु के क्षेत्र का भी विस्तार किया। संस्कृत के नाटकों में किसी आदर्श भूत, दिव्यादिव्य, महान् प्रसिद्ध पौराणिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति के कथानक को ही नाटक का विषय बनाने का नियम था और भारतेन्दु को ऐसे धामिक पौराणिक संस्कृत नाटकोंकी परम्परा मिली भी थी।

भारतेन्दु ने नाटकों के विषय की इस संकुचित सीमा को विस्तृत किया और धर्म, इतिहास एवं वास्तविक जीवन के अनेक लौकिक प्रसंगों को लेकर नाटक-रचना की। संस्कृत में नाटकों में कल्पना का विशेष आधिक्य होता है, उस कल्पना का आधार इतिहास पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ होते हैं, वास्तविक जीवन से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं होता। इन्होंने भारतीय नाटकीय क्षेत्र का वास्तविक तात्कालिक जीवन से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित किया। जीवन के किसी भी क्षेत्र को इन्होंने अपने नाटकों का विषय बना लिया है। इस प्रकार से विषय के क्षेत्र में इन्होंने विविधता एवं विस्तृतता ला कर, इस क्षेत्र में भी अपनी मौलिकता या नवीनता बरती।

पात्रों के क्षेत्र में भी इन्होंने संस्कृत नाट्य-शास्त्र से स्वतन्त्रता या अपनी नवीन मौलिकता रखी है। पात्रों के चुनाव के विषय में भी संस्कृत नाट्य शास्त्र के बन्धन बड़े कड़े हैं। नायक विशेष लक्षण-सम्पन्न कोई अलौकिक शक्तिवान् विशिष्ट प्रसिद्ध व्यक्ति हो सकता है। इस नियम को भारतेन्दु ने तोड़ कर, जीवन के अनेक क्षेत्रों से साधारण और विशिष्ट दोनों प्रकार के पात्रों को अपने नाटक के नायक बनाया है। अन्य पात्र भी सभी श्रेणी के आये हैं नाटक में। इन में छोटे छोटे और बड़े-बड़े, सभी प्रकार के हैं। उनके चरित्र चित्रण के विषयमें भी मौलिकता है। उसमें वास्तविकता का अंश लाने का प्रयत्न हुआ है, केवल आदर्श का सहारा लेकर चित्रण नहीं किया गया है, जैसा कि संस्कृत नाटकों में हुआ है। मनोविज्ञान का भी आधार आया है, कोरी कल्पना ही नहीं है।

रस विधान के विषय मे भी भारतेन्दु ने स्वतंत्रता रखी है। संस्कृत नाटक शास्त्र के अनुसार केवल वीर या शृङ्गार मे से ही कोई एक रस नाटक का प्रधान रस बन सकता है। किन्तु भारतेन्दु ने इस नियम को नहीं माना। शृङ्गार या वीर इन दोनों रसों से भिन्न अन्य हास्य करुणा आदि भी उनके नाटकों में प्रधान बने हैं। साथ ही संस्कृत नाटककार रस-प्रवणता की वृद्धि के लिए कल्पना के साधनों से विशेष काम लेते थे। दृश्यों मे कल्पना से रङ्ग भर कर, कवित्व पूर्ण वार्तालाप एवं संगीत के लिए श्लोक रख कर, वे रस-प्रवणता को बढ़ाते थे। अतएव संस्कृत नाटकों में गद्य की अपेक्षा पद्य का

बहुत आधिक्य है। भारतेन्दु ने रस-प्रवणता के लिए कवित्व और कल्पना का आश्रय नहीं लिया है उतना, अतएव गद्य और पद्य की उनके नाटकों में समुचित व्यवस्था रही है। न गद्य की भरमार है और न पद्य की—दोनों की उचित मात्रा है। रस की संकुचित सीमा में पड़ कर उन्होंने अपने चित्रण में अन्तर नहीं डाला है।

एक अन्य नवीनता गीत-विधान की है। संस्कृत नाटकों में श्लोक व्यवस्था थी। रंग मंच पर गाये जाने के लिए श्लोक रखे जाते थे, जो बहुत संख्या में होते थे। भारतेन्दु ने उनके स्थान में विविध भावनाओं एवं परिस्थितियों के व्यंजक मधुर गीत लिखने की मौलिकता बरती। भारतेन्दु की मौलिक रचनाओं में उनके मधुर गीत विशेष सम्पत्ति हैं।

इनके अतिरिक्त, संस्कृत के नाटकों में, नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, नट नटी, विष्कम्भक, आकाशभाषित, भरत वाक्य आदि का जो कठिन बन्धन है, उसको भी भारतेन्दु ने तोड़ दिया। उनके बाद के नाटकों में इनका प्रायः अभाव है, यद्यपि पहली रचनाओं में उन्होंने इनमें से अनेक का ग्रहण किया है। किन्तु पश्चात्, उन्होंने इन्हें अनावश्यक एवं आधुनिक रंग मंच के अनुपयुक्त समझकर छोड़ दिया। इसी प्रकार संस्कृत नाटकों के वर्जित विषय युद्ध आदि भी इन्होंने दिखाये।

संस्कृत के नाटकों में रंग मंच का ध्यान प्रायः नहीं रखा गया है, उतना। वे प्रधानतया साहित्यिक हैं। अथवा आज के रंग मंच पर खेले जाने में वे अनुपयुक्त हैं। किन्तु भारतेन्दु के नाटकों की यह भी एक मौलिक विशेषता है कि उनमें साहित्यिकता के साथ रंगमंचीयता भी है, वे पढ़ने में भी आनन्दप्रद हैं और अभिनीत होने योग्य भी हैं, उनमें दोनों गुण हैं।

स्थूल संक्षिप्त रूप में, भारतेन्दु जी ने, नाट्य रचना में ये ही प्रमुख मौलिक विशेषताएं अथवा नवीनताएं उपस्थित कीं। उनका प्रमुख आधार प्राचीन नाटक शैली ही था, किन्तु उसे उन्होंने अपनी मौलिकता के संयोग से आधुनिकता का रंग देकर गृहीत किया है। (भारतेन्दु के नाटक के विशेष परिचय के लिए देखिये प्रश्न पत्र ४ संवत् २००६ प्रश्न ६)

अथवा

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक कौन है और उसमें कौन प्रधान है ?

तर्क पूर्ण उत्तर दीजिये।

उत्तर—चन्द्रगुप्त नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है और उसमें प्रधान पात्र चाणक्य है। इनसे भिन्न इनकी बराबरी का अन्य तीसरा पात्र उसमें नहीं है। प्रसाद जी प्राचीन संस्कृत नाटक प्रणाली के अनुयायी थे, वही उनकी नाटक रचना का मूलतः आधार थी। अतः प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्णित नायक के गुणों और विशेषताओं की दृष्टि से नायकत्व की योग्यता चन्द्रगुप्त में ही प्राप्त होती है। वही असाधारण शक्ति सम्पन्न, कुलीन क्षत्रिय, रूप श्री सम्पन्न, त्यागी, कृती, वीर, साहसी, धीरोदात्त के गुणों से युक्त है, जैसा के उसे प्राचीन परिपाटी के अनुसार होना चाहिये। इस दृष्टि से चाणक्य में ये गुण नहीं हैं। वह एक तपस्वी ब्राह्मण है, जो कि उसके नायक बनने में बाधक है। आन्तरिक घटना सूत्र की दृष्टि से भी चन्द्रगुप्त ही नायक ठहरता है। समस्त घटना सूत्र उसी के लिए चलता है। सारा कार्य व्यापार उसी के द्वारा क्रिया रूप में परिणत होता है, घटनाओं का प्रधान फल उस पर होता है, वही स्वतंत्रता के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध भी होता है, किसी भी महत्त्वपूर्ण समय में वही प्रधान बनाया जाता है और अन्त में नाटक के फल का भोक्ता भी वही बनता है। अतः इस दृष्टि से भी चन्द्रगुप्त ही नायक ठहरता है।

किन्तु घटना सूत्रों का संचालन प्रधानतया चाणक्य के दीमाग से होता है। चाणक्य की राजनीति ही सर्वत्र प्रधान रहती है, अन्य सब पात्र—चन्द्रगुप्त भी—उसी में बंधकर चलते हैं। प्रत्युत, चाणक्य योजना बनाता है और चन्द्रगुप्त उसको क्रियारूप देता है, सोचता है चाणक्य और पूरा करता है चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त स्वयं कर्ता बनता है और फल भोगता है, किन्तु उसका दिग्दर्शक चाणक्य है। अतः घटनाओं का प्रधान संचालक होने के नाते चाणक्य नाटक में सर्व-प्रधान है। किन्तु वह नायक का पद इसलिए नहीं पाता कि वह स्वयं एक निःस्वार्थ देश-भक्त तपस्वी ब्राह्मण है, राज्य-प्राप्ति जिसका कार्य नहीं है। अन्त में भी वह संसार त्याग कर तपोवन में ही पहुँचता है। नाटक के क्रिया-संचालन में वह चन्द्रगुप्त से भी प्रधान रहता हुआ, सब कुछ उसी के (चन्द्रगुप्त के) हित या स्वार्थ के लिए करता है। अतः चाणक्य नाटकीय घटनाओं का प्रधान सूत्रधार होते हुए भी, नायक

चन्द्रगुप्त ही है सब तरह से। (विशेष देखिये प्रश्न पत्र ४ संवत २००४ प्रश्न ८)

अथवा

समस्या नाटक क्या सामान्य नाटकों से भिन्न हैं? सिन्दूर की होली कौन-सी समस्या उपस्थित करती है और उसके चित्रण में नाटककार सफल हुआ है या असफल?

उत्तर— जहाँ तक नाटक रचना के सिद्धान्तों अथवा टेकनिक का प्रश्न है, समस्या नाटकों में अन्य सामान्य नाटकों से कोई भेद नहीं होता। नाटकीय नियमों का उभयत्र समुचित पालन होता है। किन्तु विषय के चित्रण एवं शैली की दृष्टि से कुछ भेद पड़ जाता है। समस्या नाटकों में नाटककार जीवन की धर्म, समाज, राजनीति आदि की अथवा व्यक्ति की किसी समस्या को लेकर उसका चित्रण करता है। उस समस्या के दोनों विरोधी पक्षों का कथानक रूप में चित्रण करके, विरोधी पक्षों के तर्क युक्ति आदि का वर्णन करके, सत् पक्ष की विजय और असत् की हार दिखाता है, अथवा वह समस्या के जिस पहलू के पक्ष में है, वह उसको इसी ढंग से सिद्ध करता है। दोनों पक्षों की उक्तिप्रत्युक्ति के रूप में संवाद लम्बे रखने पड़ते हैं, चित्रण में अधिक कौशल से काम लेना पड़ता है। बातचीत रोचक, तर्क पूर्ण, चमत्कार वाली रखनी पड़ती है, जिससे दर्शकों को नीरसता न प्रतीत हो और साथ ही पाठक नाटककार के साथ सहमत भी हो जाय। ऐसे नाटकों में कवित्व और कल्पना के सौन्दर्य का उतना भाव नहीं होता, जितना अन्य सामान्य नाटकों में। लेखक को अपने चित्रण एवं विचार-शैली के ढंग से ही दर्शकों पर अपना इष्ट प्रभाव डालना पड़ता है। इस दृष्टि से समस्या नाटक का कार्य अधिक कठिन है। उसमें रोचकता और तर्क-संगतता लाने के लिए लेखक को द्वन्द्व का चित्रण बहुत मार्मिक एवं तर्क पूर्ण करना पड़ता है। तभी वह सफल होता है, नहीं तो नाटक एक बहस करने का मंच सा बन जाता है। उसको रोचक बनाकर अपना कार्य पूरा करने में लेखक को बहुत योग्यता और कौशल से काम लेना पड़ता है। भारतेन्दु काल में, विधवा, गौरक्षा, विवाह, नारी आदि समस्याएं नाटक का विषय बनीं।

आज के बुद्धिवादी समस्या-नाटकों में, दो चार पात्र रखकर, उनके व्यक्तिगत अन्तर्द्वन्द्वों को स्पष्ट, सीधी सादी शैली में चित्रित करके, किसी

समस्या के तर्क-संगत रूप की पुष्टि की जाती है। इनमें गीत या अन्य मनोरंजन के साधन प्राय: नहीं रखे जाते। कल्पना की भी वृथा की तड़क भड़क ये पसन्द नहीं करते। कवित्व का भी इनमें अभाव रहता है। इसीलिए ये नाटक कहीं भी आसानी से खेले जा सकते हैं। थोड़ी-सी सीमा में ही दो चार आदमियों के चित्रण द्वारा ही नाटक अपनी इष्ट-सिद्धि करता है। इन्हीं अर्थों में समस्या नाटक अन्य सामान्य नाटकों से भिन्न होते हैं, अन्यथा नहीं।

भारतेन्दु युग में भी सार्वजनिक समस्याओं को लेकर नाटक-रचना हुई थी, किन्तु वह विशेष सफल नहीं नाटकीय दृष्टि से, यद्यपि प्रयत्न सराहनीय है। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने भी समस्या प्रधान नाटकों की धारा को ही पसन्द किया। ये विदेश योरुप भ्रमण कर, वहाँ के नवीन नाटक साहित्य और नवीन बुद्धिवादी विचारों से परिचित हो चुके थे। बुद्धिवाद के हामी भी थे। बुद्धिवाद व्यक्ति-स्वतन्त्रता, बुद्धि, मनन, सत्यता, निश्छलता, प्रेम की स्वतंत्रता आदि मूल तत्वों पर आश्रित है। मिश्र जी ने अत: व्यक्तिगत समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाकर। इस क्षेत्र में मौलिकता का नियोग किया है। उनके नाटकों में प्रधानतया नारी समस्या का चित्रण हुआ है, नारी की ही अनेक समस्याओं को लेकर नाटक रचनाएं की हैं। शुद्ध काम वासना को लेकर आन्तरिक द्वन्द्वों के चित्रण की भी मिश्र जी के नाटकों की विशेषता है और इस दिशा में वे नाटक हिन्दी साहित्य के नाटकों में सर्वप्रथम हैं।

"सिन्दूर की होली" भी एक नारी समस्या को ही लेकर लिखा गया है। उसमें विधवा की समस्या है। उसमें दो विधवाएं हैं—एक वास्तविक और एक अपनी इच्छा से भावुकतावश बनी हुई अवास्तविक। उन दोनों की ही व्यक्तिगत समस्याओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटकार ने किया है। विधवा को नाटककार समाज का एक अभिशाप नहीं मानता, अपितु त्याग, तपस्या एवं एक-निष्ठा के लिए समाज का आदर्श मानता है। उस समस्या का हल भी वह पुनर्विवाह, अथवा उसे चहारदीवारियों में, कठिन नियंत्रण में घोटकर रखने में नहीं देखता, अपितु बुद्धिवाद के अनुरूप उन्हें मानसिक और काम की पूरी स्वतंत्रता देना चाहता है, जिससें वे समर्थ होकर अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाये रखकर, निश्छलता, सत्यता एवं दृढ़ता पूर्वक अपने जीवन पर चल सकें। शिक्षा और साधन उन्हे मिलने चाहिएँ। वे समाज के

लिए घातक नहीं अपितु एक शोभा होगी, यह नाटक में दोनों विधवाओं के चित्रण से दिखाया गया है। दोनों ही शिक्षित, नई शील युक्तिशाली हैं। अन्ध विश्वास या श्रद्धा उनमें नहीं है, फिर भी आचरण एवं विचार की शुद्धता है। झूठ, फरेब, दिखावा, विश्वासघात, आदि से दूर हैं। लेखक ने साहस एवं सीमा से दोनों का मनोवैज्ञानिक स्पष्ट चित्रण किया है, जो रोचक है, विचारपूर्ण है, एवं रसमय है। लेखक इस समस्या को अपने अभीष्ट रूप में चित्रित करने में सफल है, यह नाटक पढ़ने या देखने पर, विश्वास हो जाता है। (और, विशेष देखिये प्रश्न पत्र ४ सं० २००३ प्रश्न ६ एवं प्रश्न पत्र ४ संवत् २००५ प्रश्न ६ ।)

५ नीचे लिखे अवतरणों की व्याख्या कीजिए—

आ—हाय ! मानव के छोटे से मस्तिष्क और हाय ! अन्त के विराट् सत्य ! पर क्या इसी विचार में सान्त्वना नहीं है, इसी में हमारी सारी गति और सारे विकास का तत्व नहीं है, इसी अनन्त नश्वरता, अनन्त पुनर्जन्म, अबाध परिवर्तन में, इसी सिद्धान्त में कि कोई दो क्षण एक से नहीं हो सकते, कि प्रत्येक छोटे से विपल में उसकी मृत्यु और उससे अगले विपल का उद्भव अवश्यम्भावी है ....मैं मरता हूं, क्योंकि मेरा जीवन केवल उस मरण की भूमिका है, जिसमें लाखों करोड़ों आगामी जीवन निहित हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त उद्धरण 'शेखर' पृष्ठ ४२ से लिया गया है। जेल की कोठरी में बन्द शेखर अपने को फांसी पर झूलता हुआ देखता है। कभी वह अपने विगत जीवन का सिंहावलोकन करता है। कभी वह जन्म और मृत्यु के विषय में दार्शनिक दृष्टि से विचार करने लगता है। वह प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त में सान्त्वना पाता है कि जीवन का स्थूल तत्व —भौतिक तत्व—नष्ट हो जाता है, कि उसकी चित् शक्ति बच रहती है, वह नष्ट नहीं होती, अपितु आगे नवीन परिवर्तित रूप धारण करती है और कि इस प्रकार जीवन एक शरीर में अव्यक्त होकर नव शरीर में व्यक्त हो जाता है। यह जग परिवर्तनशील है, इसका कारण रूप सूक्ष्म तत्व नष्ट नहीं होता अपितु परिवर्तित होता रहता है—सृष्टि की विकास-प्रक्रिया ऐसी ही है। किन्तु यह विराट् सत्य मनुष्य के छोटे से दीमाग में कैसे पूरी तरह समा सकता है ? वह उसको समझ नहीं पाता और अतएव दुःख पाता है मरण-

समय। इसीलिए कहा गया है—

हाय ! मानव के छोटे से मस्तिष्क और हाय ! संसार के विराट् सत्य ! अर्थात् कहाँ मानव का यह छोटा सा मस्तिष्क एवं कहाँ सृष्टि का यह विराट् सनातन सत्य ! मनुष्य का छोटा दिमाग उसे कैसे पूरी तरह समझे कि तथ्य क्या है ?

किन्तु क्या इसी विचार (कि मरने पर पुनर्जन्म होगा) से शान्ति नहीं रहती मनुष्य को और क्या इसी (विनाश एव नव निर्माण) के सिद्धान्त के आधार पर ही सृष्टि का सारा विकास नहीं हुआ है ? इसी अनन्त विनाश, जन्म अथवा नवरूप-परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर, कि समय के दो पल या क्षण कभी एक से नहीं हो सकते अर्थात् प्रत्येक क्षण नवीन होता है और कि प्रत्येक नष्ट होता हुआ क्षण अपने से आगे के नवीन क्षण को जन्म देता है, क्या सृष्टि का विकास नहीं हुआ है ? मैं मरता हूँ, इस लिए, कि मेरा मरण आगे के अनन्त जीवनों का कारण बनेगा अर्थात् मेरे इस मरण में अनन्त जीवनों का "विकास" निहित है। (बौद्धों की क्षण प्रक्रिया का आधार लिया गया है।)

ङ—अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—'कौन' ? कहकर सबको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। फिर उसी मे प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द सी उसमें छिपी रहती हैं।

धड़कते हुए रमणी वक्ष पर हाथ रखकर उसी कम्पन में स्वर मिला-कर कामदेव गाता है। वही काम संगीत की तान, सौन्दर्य की रंगीन लहर बनाकर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।

व्याख्या—चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अंक दृश्य ६ का उद्धरण है। ग्रीक शिविर में सुवासिनी वन्दिनी बना ली जाती है। सिल्यूकस उसे अपनी लड़की कार्नेलिया के पास भेजता है। कार्नेलिया प्रथमतः चन्द्रगुप्त की ओर आकृष्ट हो चुकी थी, अतः उसमें प्रेम की मस्ती छा रही थी। यौवन और प्रेम के ज्वार में वर्तमान कार्नेलिया को प्रेम चर्चा के सिवा अन्य कुछ अच्छा नहीं लगता। सुवासिनी से भी उसका परिचय आदि पूछ कर वह उससे अपने

मतलब की बात पूछती है, ..."अच्छा यौवन और प्रेम को क्या समझती हो ?" इसी के उत्तर में सुवासिनी यह प्रश्नगत उत्तर देती है। कानन, वसंत कोकिल आदि का रूपक बांध कर प्रश्न का कवित्वमय उत्तर देती है।

जब कि एक बालिका अभी किशोर अबोध अवस्था में ही होती है, उसके जीवन रूपी वन (जिसमें फलफूल नहीं हैं) में अचानक, पूर्णिमा की रात्रि (बालकपन की उल्लासमय आनन्द दशा) में छुपकर (अज्ञात रूप से) बसन्त (यौवन का विकास) प्रवेश कर जाता है। शरीर की सब क्यारियां (अंग प्रत्यंग) हरी भरी (विकसित रस पूर्ण) हो जाती हैं। वह विकसित सौन्दर्य रूपी कोकिल फिर, किसी पारखी की चाहना में, सबको रोकने टोकने लगता है अर्थात् वह विकसित सौन्दर्य सब की ओर उत्सुक होता है और सब उसे देखकर रुक जाते हैं, आकृष्ट होकर।... .....फिर एक दिन उसी बसन्त विकसित कानन में प्रेम की कली भी खिल जाती है अर्थात् किसी के लिए मन में प्रेम का अंकुर फूट उठता है, जिसमें वेदना पूर्ण स्मृतियों का पुष्प-रस भरा होता है अर्थात् प्रेम मधुर वेदनामय स्मृतियों से भरा होता है।

इसके पश्चात् कार्नेलिया प्रसन्न होकर सुवासिनी को गले से लगाती है और उसे अपने पास नौकर रख लेती है। सुवासिनी उसी प्रसंग में कार्नेलिया को कहती है कि प्रेम में केवल स्मृति का ही सुख है। स्मृति की वह मधुर टीसही प्रेम का प्राण है। प्रत्येक स्त्री को इसका अनुभव होता है किन्तु प्रत्येक इसे जान नहीं पाती। किन्तु यह स्त्री-जीवन का सत्य है। जो इसे नहीं जानती कहती है, वह दुनिया को और अपने को धोखा देती है। इसी प्रसंग मे सुवासिनी प्रश्नगत अगली उक्ति कहती है।

प्रेम की इस वेदनामय मनोधड़कन में स्वर मिलाकर स्त्री हृदय में काम अपना राग गाने लगता है अर्थात् स्त्री हृदय की उस प्रेम की धड़कन में उसकी कामैषणा भी निहित होती है। और वही काम का संगीत सुन्दरता की एक रंग-बिरंगी—अनुरागमयी—तरंग बनकर, युवतियों के मुख पर लज्जा और स्वास्थ्य की लाली के रूप में खिल उठता है अर्थात् वही कामना उनके सौन्दर्य में विलक्षणता उत्पन्न करती हुई स्त्रियों के मुख पर लज्जा और स्वास्थ्य की लालिमा बन जाती है (अपनी हार्दिक प्रेमैषणा के सम्बन्ध से युवती जनों के मुख पर लालिमा दौड़ जाती है, जो उनकी लज्जा और

स्वास्थ्य की सूचिका है। क्योंकि लज्जा के साथ-साथ जबतक स्वास्थ्य नहीं होगा, तब तक लालिमा नहीं आ सकती, उसके लिए शरीर में रक्त होना आवश्यक है। अतः युवती मुख की लालिमा लज्जा एवं स्वास्थ्य दोनों को सूचक है। उस लालिमा से उनके सौन्दर्य को और भी चार चांद लग जाते हैं, वह और भी मादक हो जाता है।)

अ—कमल फूलों का राजा है। सरस्वती की महानता, लक्ष्मी की विशालता, उसके पराग और केसर में कहीं अदृष्ट रूप से निहित है। वह विष्णु की नाभि से निकला और अनन्त समय के उपरान्त वहीं वापस जायगा। वह हिंदुस्तान की प्रकृति का, संस्कृति का, मृदुल, मंजुल और पावन प्रतीक है, उसका रंग हल्का लाल है, वह बिल्कुल रक्त नहीं है, हिन्दुस्तान में होने वाली क्रान्ति खूनी जरूर थी, परन्तु उसी खूनी क्रान्ति के गर्भ में मंजुलता और पावनता गढ़ी हुई थी। क्रान्ति करेंगे—मानवीयता की रक्षा के लिए क्रान्ति होगी—मानवीयता लिये हुए!

उत्तर—प्रस्तुत सन्दर्भ "झांसी की रानी", परिच्छेद ४८ पृ० २४१ से उद्धृत है। झांसी की रानी, नाना साहब, तांत्या आदि इस महान् क्रान्ति के प्रमुख संचालकों ने, अपने अथक अनवरत प्रयत्नों से, गुप्त चालों से, सेना में विद्रोही भावनाएं प्रबल कर दी थीं। कारण झूठे सच्चे अनेक बना दिये गए थे असन्तोष के। फलस्वरूप अधिकांश भारतीय सिपाही कुछ करने के लिए अधीर हो रहे थे। भय था कि कहीं पर असमय में विस्फोट होकर सारा भण्डा फोड न हो जाय। अतः आवश्यक समझा गया था कि क्रान्ति सर्वत्र एक ही दिन एवं एक ही समय हो। किन्तु पहले से तारीख बता देने से, भण्डा फूट जाने का भय था, अतः वह गुप्त रखी गई कुछ ही विशेष-विशेष व्यक्तियों तक। "समय आ गया है" इसकी सूचना देने के लिए कमल पुष्प का संकेत निश्चित किया गया। मई की ११ तारीख निश्चित की गई थी, जो प्रमुख अफसरों को ज्ञात थी। तय किया गया था कि आम सैनिकों को वह तारीख उस दिन बताई जाय जब कि उनकी छावनी में कमल पुष्प पहुँचे, उससे पहले नहीं। कमल गर्मियों के प्रारम्भ में वैशाख में ही खिलता है, अतएव उसका खिलने का प्राकृतिक समय ही तैयारी के लिए निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त कमल पुष्प का संकेत निश्चित करने के और कारण

भी थे। उनका वर्णन प्रश्नगत सन्दर्भ में किया गया है कि कमल ही क्यों निश्चित हुआ।

व्याख्या—कमल फूलों में सबसे सुन्दर एवं उनका राजा है। उसमें वहीं पर लक्ष्मी और सरस्वती की महानता एवं पवित्रता व्याप्त है (लक्ष्मी एव सरस्वती का निवास-स्थान होने के कारण कमल में लक्ष्मी की महानता एवं सरस्वती की पवित्रता अभिव्याप्त हो गई है।)। वह सृष्टि के आदि में विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ है और प्रलय काल में वहीं लीन हो जायगा (पुराण-प्रसिद्धि है)। कमल वस्तुतः हिन्दुस्तान की सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति का कोमल सुन्दर एवं मंगल रूप चिन्ह है—भारतीय सभ्यता और संस्कृति में कमल को बहुत आदर, सम्मान दिया गया है, इसे माङ्गलिक वस्तुओं में गिना जाता है। यहां की प्रकृति का भी कमल चिन्ह है—कमलों की अधिकता भारतीय प्रकृति की विशेषता है। साथ ही, वह भारत की इस स्वतंत्रता-क्रान्ति का भी उपयुक्त प्रतीक है। उसका रङ्ग रूप आदि भारतीय क्रान्ति के वास्तविक रूप को सूचित करते हैं। उसका रङ्ग हल्का लाल होता है—बिल्कुल रक्त नहीं, उसमें महानता एवं पवित्रता भी निहित है। भारतीय क्रांति का भी यही रूप था। वह बिल्कुल रक्त—खूनी—नहीं थी, उसमें उच्छृङ्खल या अनावश्यक रक्त नहीं बहाया गया किसी का, उसका जो उद्देश्य था उसके लिए आवश्यक रक्त पात किया गया। अंग्रेज स्त्री बच्चों को कहीं मारा भी गया, तो वह बदले की भावना से अन्धे होकर और वह भी मुखियाओं की इच्छा के विरुद्ध। उसका उद्देश्य महान् था, अन्याय का उन्मूलन। दूसरों के देश को परतन्त्र बनाकर अत्याचार करना अंग्रेजों का अमानवीय अन्याय था, जिसका प्रतिकार क्रान्ति का उद्देश्य था। क्रान्तिकारियों का नारा था कि क्रान्ति करेंगे मानवीयता की रक्षा के लिए—क्रान्ति होगी, मानवीयता को हाथ से न छोड़ते हुए। ऐसी ही महान् उदात्त, पवित्र एवं सत् भावनाएँ भारतीय क्रान्ति का आधार थीं। अतएव उसके इन्हीं गुणों के अभिव्यंजन करने के लिए, कमल जैसे, महान, गुलाबी रङ्ग के पवित्र एवं मांगलिक पुष्प को उसका प्रतीक निश्चित किया गया।